३·६
॥ ओ३म् ॥
यजुर्वेदभाष्यम्
पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार का जीवन परिचय

श्री हरिशरण जी का जन्म 2 नवरी 1901 को कमालिया नगर अब पाकिस्तान में) के एक सम्पन्न हस्थ मास्टर लक्ष्मणदास के यहां हुआ। ता की आठ सन्तानों –शान्तिस्वरूप, रिशरण, हरिप्रेम, वेदकुमारी, जकुमारी, हरिश्चन्द्र, हरिप्रकाश व रिमोहन–में से वह दूसरे थे। उनकी ता सद्दांबाई अत्यन्त धर्मपरायणा व शल गृहणी थीं। श्री लक्ष्मणदास ने छ समय जालन्धर में अध्यापक के रूप कार्य किया। बाद में उन्होंने कोयले के पार में हाथ डाला और उसमें खूब फलता प्राप्त की। वहीं पर आप स्वामी द्धानन्द (पूर्व महात्मा मुंशीराम) के पर्क में आए और महर्षि दयानन्द की दिक विचारधारा से प्रभावित हुए।

श्री लक्ष्मणदास अत्यन्त दृढ़व्रती, स्वी एवं स्वाध्यायप्रेमी धार्मिक व्यक्ति बालक हरिशरण को भी ये गुण रासत में अपने पिता से प्राप्त हुए। की आरम्भिक शिक्षा दीक्षा गुरुकुल तान में हुई। वहां दसवीं कक्षा तक पढ़ाई पूरी करके आगे विद्याध्ययन लिए वह गुरुकुल कांगडी आए। यहां होंने तीन वर्ष तक आयुर्वेद का ध्ययन किया परन्तु स्नातक परीक्षा वेद षय में उत्तीर्ण की।

हरिशरण जी अत्यन्त परिश्रमी व भावी छात्र थे। पहली कक्षा से स्नातक ने तक सदैव अपनी कक्षा में प्रथम ान पाते रहे। संस्कृत व्याकरण के तिरिक्त दर्शन व साहित्य पर भी का पूरा अधिकार था। आंग्ल भाषा गत, भूगोल व विज्ञान में भी उन्होंने शेष योग्यता अर्जित की थी।
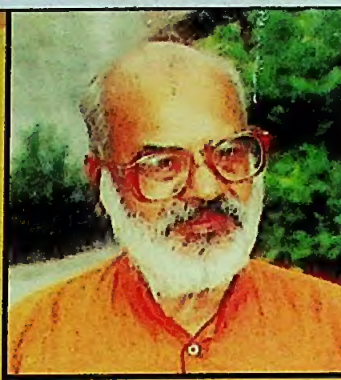
स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती, नई दिल्ली

आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी होशंगाबाद (म०प्र०)

श्री मित्रावसु मॉडल टाउन, दिल्ली

[illegible]

श्रीमती सावित्री देवी–डॉ० बलवन्त सिंह आर्य बीकानेर (राज०)
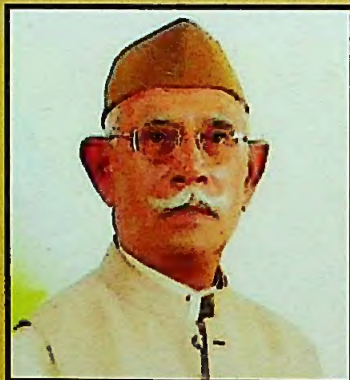
राव श्री हरिश्चन्द्रजी आर्य नागपुर (महा०)
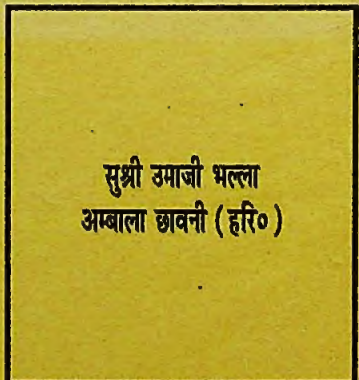
सुश्री उमाजी भल्ला
अम्बाला छावनी (हरि०)

ह्लादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

श्री हरिश्चन्द्र साहित्यानी
दाहोद, (गुजरात)

प्रिय गीतेश, आपकी स्मृति में–
श्रीमती गरिमा गोयल-श्री गणेशदास गोयल

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी
आगरा (उ०प्र०)

श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल

श्रीमती रक्षा चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)

श्री गोपालचन्द्र
बरमिंघम (यू०के०)

श्री राधेश्याम, दिल्ली
(श्री मनोहर विद्यालंकार)

स्वामी श्री श्रद्धानन्द सरस्वती
अलीगढ़ (उ०प्र०)

श्रीमती कंचनलतादेवी–श्री सरस्वतीप्रसादजी गोयल
सवाई माधोपुर (राज०)

श्रीमती सुवीराजी अव्येसंगे
उद्गीर, जिला लातूर, महाराष्ट्र

डॉ० रामावतार सिंघल
मेरठ (उ०प्र०)

श्री अशोकजी-गजेन्द्रजी गौतम
जीन्द (हरि०)

श्रीमती प्रशान्दी देवी–श्री रामेश्वरदयालजी गुप्ता
नई दिल्ली

स्मृतिशेष-श्री मूलचन्दजी गर्ग
स्मृति में-ओमप्रकाश अग्रवाल, उज्जैन (म.प्र.)
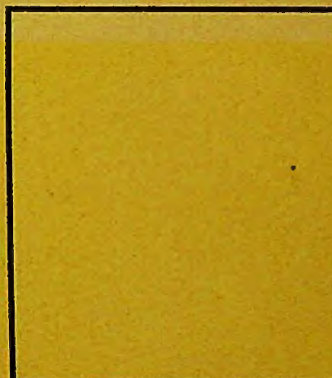
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

ओ३म्

यजुर्वेदभाष्यम्

(प्रथमो भागः)

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक :

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)

प्रकाशक	:	**श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास** 'अभ्युदय' भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग, स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०) ३२२ २३० दूरभाष : ०९३५२६७०४४८ चलभाष : ०९४१४०३४०७२, ०९८८७४५२९५९
संस्करण	:	सन् २०१०
मूल्य	:	३००.०० रुपये
प्राप्ति स्थान	:	१. **हरिकिशन ओम्प्रकाश,** ३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-६, चलभाष : ०९३५०९९३४५५ २. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी, बरेली (उ०प्र०) चल० : ०९८९७८८०९३० ३. **गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि निवास, नया बाजार दिल्ली-६, चल० : ०९८९९७५९००२
मुद्रक	:	**राधा प्रेस** कैलाश नगर, दिल्ली-११००३१

भूमिका

वेद परमपिता परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान है। यह ज्ञान सृष्टि के आदि में दिया गया था। वेद सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। वे वैदिक संस्कृति के मूलाधार हैं और मानवमात्र की सम्पत्ति हैं। स्वयं वेद का उद्घोष है—

सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा। —यजुः० ७।१४

वैदिक संस्कृति संसार की सर्वप्रथम संस्कृति है और सारे संसार द्वारा वरणीय संस्कृति है।

वेद चार हैं—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व।

ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है तो यजुर्वेद कर्मकाण्ड है। ऋग्वेद मस्तिष्क का वेद है तो यजुर्वेद होथों का वेद है, कर्मवेद है। यजुर्वेद के आरम्भ में ही कहा है—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। —यजुः० १।१

सवितादेव तुम्हें [मनुष्यों को] श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित करे।

मध्य में कहा है—

सं मा भद्रेण पृङ्क्त। —यजुः० १९।११

हे प्रभो! मुझे भद्र=कल्याण के साथ जोड़िए। मैं सदा उत्तम कर्म ही करूँ, खोटे कर्मों और पाप से बचूँ।

अन्त में कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्मणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। —यजुः० ४०।२

मनुष्य सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करे।

सर्वश्रेष्ठ कर्म है—यज्ञ। यजुर्वेद में यज्ञों का वर्णन है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त—सभी यज्ञों का विवेचन है। मानवमात्र के लिए प्रतिदिन करणीय ब्रह्मयज्ञादि पञ्च यज्ञों का विधान है। यज्ञ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—

तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः। —यजुः० १५।५०

हे विद्वानो! हम पत्नी, पुत्र, भाई और धन के सहित यज्ञों का अनुष्ठान करें।

यज्ञ शब्द बहुत विस्तृत अर्थों का वाचक है। यज्ञ से जहाँ अग्निहोत्र का ग्रहण है वहाँ परोपकार के समस्त कर्म भी यज्ञ की परिधि में आते हैं। महर्षि दयानन्द की दृष्टि में तो कला-कौशल, उद्योगधन्धे भी यज्ञ हैं।

यज्ञ शब्द का अर्थ है—देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान। देवों के देव—महादेव [शिवलिङ्ग नहीं, स्त्रियों को तो इसका देखना भी पाप है और इसपर चढ़ाये गये पदार्थों के खाने का भी निषेध है] परमपिता की उपासना, बड़े—माता-पिता, आचार्यों का सम्मान करना यज्ञ है। बराबरवालों के साथ स्नेह का व्यवहार करके उनके साथ उठना-बैठना और अपने से छोटों को देना भी यज्ञ है।

यहाँ एक बात का स्मरण रक्खें—वेद में कहीं भी यज्ञ में पशुओं की बलि देने का विधान नहीं है। वेद में तो पशुओं के पालने और उनकी रक्षा करने, उन्हें न मारने का विधान है। वेद में कहा है—

गां मा हिंसीः। —यजुः० १३।४३

गाय को मत मारो। इसी प्रकार भेड़, बकरी, एक खुरवाले प्राणी [घोड़ा, गधादि], दो खुरवाले प्राणी [भेड़, बकरी, गाय-भैंस] आदि के मारने का निषेध है। यज्ञ का एक नाम अध्वर [अ+ध्वर=नहीं है हिंसा जिसमें] भी है, फिर यज्ञों में पशुबलि का विधान कैसे हो सकता है? यह सब तो वाममार्गियों की लीला थी।

यज्ञों के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार का ज्ञान और विज्ञान इस वेद में भरा हुआ है। इसका इकतीसवाँ, बत्तीसवाँ, छत्तीसवाँ और चालीसवाँ अध्याय तो बेजोड़ हैं। चालीसवाँ अध्याय तो ईशोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है, जिसपर सारा संसार मोहित है। इकतीसवाँ अध्याय पुरुषसूक्त है, जिसमें ईश्वर के स्वरूप का वर्णन, उसकी प्राप्ति के उपाय और सृष्टि उत्पत्ति का विवेचन है।

बत्तीसवें अध्याय का आरम्भ ईश्वर के विविध नामों से होता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

—यजुः० ३२।१

उस परमात्मा का ही नाम अग्नि है, उसी ब्रह्म का नाम सूर्य है, उसी को वायु कहते हैं, उसी का नाम चन्द्रमा है। उसी का नाम शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति है।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणः। —यजुः० २२।२२

मन्त्र में आदर्श राष्ट्र का जो वर्णन है, वह एक पुस्तक में भी नहीं समा सकता।

तेइसवें अध्याय के अन्त में प्रश्नोत्तरों के रूप में जो ज्ञान दिया गया है वह अनूठा है और शैली भी अनूठी है। जितना बड़ा प्रश्न, उतने ही शब्दों में उत्तर और वह भी परिपूर्ण।

इस प्रकार इसमें रत्न भरे हुए हैं। डुबकी लगाइए और रत्न पाइए।

वेद पर अनेक भाष्य हुए हैं। पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार का भाष्य अपने-आपमें अनेक विशेषताएँ लिये हुए है। यह भाष्य अत्यन्त सरल और रोचक है। प्रत्येक मन्त्र को जीवन के साथ जोड़ा है। व्याख्या करते हुए वेद के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। एक बार आरम्भ करके छोड़ने की इच्छा नहीं होती।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् **पं० मनोहर विद्यालङ्कार** ने **गुरुदक्षिणारूप में एक लाख रुपये** प्रदान किये हैं, तदर्थ उनका हार्दिक धन्यवाद। पण्डितजी के सात्त्विक दान से प्रेरणा लेकर कुछ अन्य दानी भी अपनी थैलियों का मुँह खोल दें तो चारों वेदों का भाष्य शीघ्र छप सकता है।

श्री रामपालजी, सरिताविहार, नई दिल्ली ने ईक्ष्यवाचन [प्रूफ़-रीडिंग] में जो सहयोग दिया है, तदर्थ उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

वेद-मन्दिर
इब्राहिमपुर, दिल्ली-११० ०३६
दूरभाष-७२०२२४९
१४.१०.२००१

विदुषामनुचरः
—जगदीश्वरानन्द

ओ३म्

यजुर्वेदभाष्यम्

प्रथमोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—स्वराड्बृहती [क], ब्राह्म्युष्णिक् [र]।
स्वरः—मध्यमः [क], ऋषभः [र]॥

प्रभु की प्रेरणा का स्वरूप

॥ ओ३म् ॥ [क] इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं [र] प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा वं स्तेनऽईशत माघशंसो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥ १॥

जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि मैं **त्वा**=आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ, **इषे**=प्रेरणा प्राप्त करने के लिए (इष प्रेरणे, Impel, urge, incite, animate), न केवल प्रेरणा प्राप्त करने के लिए, अपितु **त्वा**=आपके चरणों में आया हूँ **ऊर्जे**=शक्ति और उत्साह के लिए। आप मुझे उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराइए, उस प्रेरित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए शक्ति दीजिए और शक्ति के साथ उत्साह भी दीजिए कि मैं उस लक्ष्य तक पहुँचने में कभी ढीला न पड़ जाऊँ। 'प्रेरणा, शक्ति व उत्साह'—तीनों से युक्त जीवन ही तो वास्तविक जीवन है। हे प्रभो! मुझे तो आप बस, यही जीवन प्राप्त करने के योग्य कीजिए।

इस उपासक जीव को प्रभु प्रेरणा देना आरम्भ करते हैं और कहते हैं कि—

१. वायवः स्थ=(वा गतौ) हे जीवो! तुम गतिशील हो—अकर्मण्यता तुम्हें छू भी नहीं गई। 'आत्मा' शब्द का अर्थ ही सतत गतिशील है। अकर्मण्यता यदि जीर्ण और शीर्ण कर देती है तो क्रियाशीलता विकास व प्रादुर्भाव का कारण बनती है। वस्तुतः क्रियाशीलता ही जीवन है।

२. सविता देवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु=बस, तुम कुछ ऐसी अनुकूलता पैदा करो कि सुप्रेरक विद्वान् तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म में प्रेरित करें। (प्रार्थनायां लोट्)।

३. आप्यायध्वम्=इस प्रकार तुम दिन प्रतिदिन बढ़ो। बढ़ने का मार्ग यही है कि मनुष्य क्रियाशील हो और फिर वह क्रियाशीलता श्रेष्ठतम कर्मों की ओर झुकाववाली हो।

४. अघ्न्याः (अ+हन्+य)=तुम हिंसा न करनेवालों में उत्तम बनना। तुम्हारा प्रत्येक कार्य ऐसा हो जो निर्माण व हित के उद्देश्य से चल रहा हो, किसी भी कार्य में ध्वंस व विनाश न हो।

५. इन्द्राय भागम्=तुम परमैश्वर्यशाली मुझ प्रभु के लिए सेवनीय अंशों को ही अपनानेवाले बनो (भज सेवायाम्)। तुममें प्रकृति का आधिक्य न होकर प्रभु का आधिक्य हो, अर्थात् प्रेय के पीछे न मरकर तुम श्रेय को अपनानेवाले बनो। अपने जीवनों को ऐसा

बनाकर तुम–

६. **प्रजावतीः**=उत्तम सन्तानवाले बनो। तुम्हारे जीवन में यह एक महती असफलता होगी यदि तुम्हारी सन्तान ठीक न हुई।

७. **अनमीवाः**=इस जीवनयात्रा में ऐसे ढंग से चलना कि तुम रोगाक्रान्त न हो जाओ। तुम्हारा यह शरीररूप रथ टूट न जाए। ऐसा हुआ तो यात्रा कैसे पूरी होगी? पाँचवें संकेत 'इन्द्राय भागम्' का ध्यान करोगे तो नीरोग रहोगे ही। प्रभुभक्त अस्वस्थ नहीं होता, प्रकृति में आसक्त ही रोगी हुआ करता है।

८. **अयक्ष्माः**=तुम्हें यक्ष्मा न घेर ले, तुम इस राजरोग के चक्कर में न आ जाओ। प्रकृति का ठीक प्रयोग करने से रोग आएँगे ही क्यों?

९. **मा वः स्तेनः ईशत**=स्तेन तुम्हारा ईश न बन जाए। बिना श्रम के धन–प्राप्ति की इच्छा ही 'स्तेन' है। यह Horse races, lotteries, crossword puzzles, तथा विविध प्रकार के सट्टों (speculations) के रूप में प्रकट होती है। इससे सदा दूर रहना। यह मनुष्य को कामचोर बनाकर आरामपसन्द बना देती है और इस प्रकार बीमारियों व व्यसनों की शिकार कर देती है।

१०. **मा अघशंसः** (ईशत)=पाप को अच्छे रूप में चित्रित करनेवाला कोई व्यक्ति तुम्हारे विचारों पर शासन करनेवाला न बन जाए।

११. **ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात**=इस गोपति में तुम ध्रुव होकर रहना। 'गावः इन्द्रियाणि'–गौवें इन्द्रियाँ हैं, इनका रक्षक प्रभु है। गौ का अर्थ वेदवाणी करें तो उन वेदवाणियों का पति प्रभु है ही। इस प्रभु में तुम ध्रुव होकर रहना। जो प्रभु से दूर हुआ वही इस द्वन्द्वात्मक जगत् (दुनिया) की चक्की के दो पाटों में आकर पिस गया। प्रभु ही विश्वचक्र के केन्द्र की कीली हैं–उन्हीं में तू स्थिरता से निवास करना।

१२. **बह्वीः**=बहुत होना। संसार में आत्मकेन्द्रित–सा होकर स्वार्थरत व्यक्ति न बन जाना। अधिक–से–अधिक प्राणियों से अपना तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करना, औरों से 'अयुत' होना। **'एकोऽहं बहु स्याम'** मैं एक से बहुत हो जाऊँ, इस बात का ध्यान रखना, औरों के दुःख को भी अनुभव करना।

१३. और अन्त में **यजमानस्य**=इस सृष्टि–यज्ञ को चलानेवाले मुझ प्रभु के **पशून्** (कामः पशुः, क्रोधः पशुः)=काम–क्रोधादि पशुओं को **पाहि**=बड़ा सुरक्षित रखना। ग्लुकोज़ को बड़ी सावधानी से रखने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु आर्सनिक को तो अलमारी में बन्द रखना आवश्यक है ही। चिड़ियाघर में मृग को बहुत बन्धन में रखना आवश्यक नहीं होता, परन्तु शेर को दृढ़ पिंजरे में रखना कितना आवश्यक है? इसी प्रकार इन काम–क्रोध को भी रखना तो है, परन्तु पूर्ण नियमन में। प्रार्थना भी तो 'नियंसत्' है, न कि 'नष्ट कर दे' यह है। काम संसार का मूल है–प्रजननात्मक काम पवित्र है, आवश्यक है, परन्तु यही अनियन्त्रित होकर शक्ति का विनाश करके क्षयकारक हो जाता है। क्रोध भी आवश्यक है, परन्तु स्वयं अनियन्त्रित होने पर अनर्थों का मूल हो जाता है।

जीव ने प्रभु से 'प्ररेणा' देने की याचना की थी–प्रभु ने इन तेरह वाक्यों में जीव को प्रेरणा दी है। ये तेरह वाक्य ही **'सत्याकारास्त्रयोदश'**–सत्य के तेरह स्वरूप हैं। इस प्रेरणा को अपनानेवाला जीव उन्नति–पथ पर आगे बढ़ता हुआ एक दिन 'परमेष्ठी'–परम

स्थान में स्थित होता है। यह प्रजा की रक्षा करने से प्रजापति कहलता है। इस प्रकार यह इस मन्त्र का ऋषि 'परमेष्ठी प्रजापतिः' होता है।

भावार्थ—जीव प्रभु से प्रेरणा माँगता है। प्रभु उसे तेरह वाक्यों में बड़ी सुन्दर प्रेरणा देते हैं। इस प्रेरणा को अपनाने से ही जीव 'परमेष्ठी' बन सकता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञिय-जीवन

**वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाऽअसि।
परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्॥ २॥**

शतपथ (१। ७। १। ९, १४) में **'यज्ञो वै वसुः'** इन शब्दों में वसु का अर्थ यज्ञ किया है। 'वासयति' इस व्युत्पत्ति से यह ठीक भी है, क्योंकि यज्ञ ही बसाता है। यज्ञ के अभाव में नाश-ही-नाश है। **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'** यज्ञहीन का न यह लोक है, न परलोक। इस यज्ञ के द्वारा मनुष्य के जीवन का सुन्दर निर्माण होता है, अतः प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

१. **वसोः**=यज्ञ से **पवित्रम् असि**=तू पवित्र-ही-पवित्र बना है। हमारे जीवनों में जितना-जितना यज्ञ का अंश आता जाता है, उतना-उतना ही हमारा जीवन पवित्र बनता जाता है। यज्ञ परार्थ व परोपकार है। वह पुण्य के लिए होता है। अयज्ञ स्वार्थ है, परापकार है, परपीड़न है और पाप का कारण है। २. इस यज्ञ से ही तू **द्यौः असि**=प्रकाशमय जीवनवाला है। तेरा मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान-सूर्य से चमकता है। यज्ञ में प्रथम स्थान देवपूजा का है। यह देवपूजा तेरे मस्तिष्क को अधिक और अधिक ज्योतिर्मय करती चलती है। ३. **पृथिवी असि**=‘प्रथ विस्तारे’, इस यज्ञ से तू अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला है। यज्ञमय जीवन विलासमय जीवन का प्रतिरूप=उलटा है, अतः यह शक्तियों के विस्तार का कारण बनता है। ४. **मातरिश्वनः घर्मः असि**=इस यज्ञमय जीवन के कारण ही तू वायु=प्राण की उष्णतावाला है, अर्थात् तेरी प्राणशक्ति की वृद्धि हुई है। ५. इस बढ़ी हुई शक्ति से ही तू **विश्वधाः असि**=सबका धारण करनेवाला बनता है। तेरी शक्ति सदा औरों के रक्षण का कारण बनती है। ६. यह औरों की रक्षा करनेवाली शक्ति ही तो उत्कृष्ट शक्ति है। निकृष्ट तेज औरों का नाश करता है, मध्यम तेज अपने ही धारण में विनियुक्त होता है, परन्तु उत्कृष्ट तेज सभी के धारण का कारण बनता है। इस **परमेण धाम्ना**=उत्कृष्ट तेज से **दृंहस्व**=तू अपने को दृढ़ बना और सबका धारण करता हुआ 'विश्वधा' बन।

७. **मा ह्वाः**=अपने जीवन में तू कभी कुटिल गतिवाला मत बन, सदा सरल मार्ग को अपनानेवाला बन। यज्ञ के साथ कुटिलता का सम्बन्ध है ही नहीं। ८. ते=तेरे विषय में **यज्ञपतिः**=इस सृष्टि-यज्ञ का रक्षक प्रभु **मा ह्वार्षीत्**=कठोर नीति का अवलम्बन न करे। प्रभु ने कहा और तूने किया। प्रभु के इस 'साम'—शान्त उपदेश को तू सदा सुन। तेरे विषय में प्रभु को 'दान, भेद व दण्ड' के प्रयोग की आवश्यकता ही न हो। आर्जव=सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करके ही यह 'परमेष्ठी'=परम स्थान में स्थित होगा और यज्ञ की भावना को अपनानेवाला 'प्रजापति' बनेगा।

भावार्थ—यज्ञ से मैं पवित्र, ज्योतिर्मय, विकसित शक्तियोंवाला, प्राणशक्ति से पूर्ण और लोकहित करनेवाला बनूँ। अपने को शक्तियों से दृढ़ बनाऊँ, कुटिल नीति को अपनाकर

कभी दण्ड का भागी न बनूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।।

पवित्रता

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्त्रधारम्।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः।। ३।।

१. वही प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं—**वसोः**=यज्ञ से **पवित्रम् असि**=तूने अपने को पवित्र बनाया है। यहाँ 'शतधारम्' शब्द क्रियाविशेषण के रूप में है। 'शतं धारा यस्मिन्', (धारा इति वाङ्नाम)। जिस यज्ञ द्वारा पवित्रीकरण की क्रिया में शतशः वेदवाणियों का उच्चारण किया गया है। सैकड़ों ही क्या **सहस्त्रधारम्**=सहस्त्रों वेदवाणियों का उच्चारण हुआ है। ऐसी **वसोः**=यज्ञ की प्रक्रिया से **पवित्रम् असि**=तूने अपने को पवित्र बनाया है। वैदिक संस्कृति में मनुष्य यज्ञमय जीवन बिताता है। इस यज्ञमय जीवन की प्रेरणा उसे शतशः, सहस्त्रशः उच्चारण की गई वेदवाणियों से प्राप्त होती है, जिन्हें वह अपने इस यज्ञिय-जीवन में समय-समय पर प्रयुक्त करता है।

२. (क) **सविता देवः**=सबको प्रेरणा देनेवाला, दिव्य गुणों का पुञ्ज वह प्रभु **त्वा**=तुझे **पुनातु**=पवित्र करे। जो मनुष्य प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में उपस्थित होता है उसका जीवन पवित्र बनता ही है। उपासना के समान पवित्र करनेवाला अन्य कुछ नहीं है। (ख) **सविता देवः**=उदय होकर सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाला प्रकाशमय सूर्य **त्वा पुनातु**=तुझे पवित्र करे। रोगकृमियों के संहार द्वारा सूर्य पवित्रता और नीरोगता प्रदान करता है।

३. **वसोः**=यज्ञ से **पवित्रेण**=अपने को पवित्र बनानेवाले **शतधारेण**=शतशः वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाले पुरुष के साथ, अर्थात् उसके सम्पर्क में आने के द्वारा **सुप्वा**=तू अपने को उत्तम प्रकार से (सु) पवित्र करनेवाला (पू) हुआ है। मनुष्य यज्ञशील, ज्ञानी पुरुषों के सम्पर्क से उन-जैसा ही बनता हुआ अपने उत्थान को सिद्ध करता है। सत्सङ्ग—**'पापान्निवारयति योजयते हिताय'** पाप से हटाकर हित में जोड़ता है। वेद में कहा है—हे प्रभो! ऐसी कृपा कीजिए कि—**'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्'** हमारे सभी जन सत्सङ्ग से उत्तम मनोंवाले हों। एवं, पवित्र बनने के तीन उपाय हैं—१. यज्ञमय जीवन बिताना, यज्ञों में लगे रहना, २. प्रभु की उपासना करना, ३. यज्ञशील ज्ञानियों के सम्पर्क में रहना। इन उपायों को क्रिया में लानेवाले व्यक्ति से प्रभु कहते हैं कि वस्तुतः **काम्**=उस अवर्णनीय आनन्द देनेवाली वेदवाणी को तो तूने ही **अधुक्षः**=दूहा है। इसका दोहन करने के कारण यह अपने जीवन में ऊँचा उठता हुआ 'परमेष्ठी' बना है। यह यज्ञशील बनकर सभी का पालन करने से 'प्रजापति' है।

भावार्थ—हम यज्ञ, उपासना व सत्सङ्ग से अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

वेदवाणी

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳसोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳरक्ष।। ४।।

१. जिस वेदवाणी के दोहन का पिछले मन्त्र में वर्णन है **सा**=वह वेदवाणी

विश्वायुः='विश्वम् आयुः यस्याः'=सम्पूर्ण जीवन का वर्णन करनेवाली है, जीवन के किसी भी पहलू को उसमें छोड़ा नहीं गया। ब्राह्मण आदि वर्ण और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के कर्त्तव्यों का इस वाणी में उल्लेख है, पति-पत्नी, भाई-भाई, भाई-बहिन, पिता-पुत्र, आचार्य-शिष्य, ग्राहक-दुकानदार, राजा-प्रजा सभी के कर्त्तव्यों का वर्णन वहाँ मिलता है। २. **सा विश्वकर्मा**=यह वेदवाणी सभी के कर्मों का वर्णन करती है। अधिकारों पर यह बल नहीं देती। वस्तुतः जीवन को सुन्दर बनाने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पर बल दे और अधिकार की चर्चा न करे। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि-'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता)। तुम्हारा अधिकार कर्म का ही है, फल का नहीं।

३. इस कर्त्तव्यभावना को जागरित करने के लिए **सा विश्वधायाः**=यह वेदवाणी सम्पूर्ण ज्ञान-दुग्ध को पिलानेवाली है (विश्व+धेट् पाने)। इसमें सब सत्यविद्याओं का ज्ञान दिया गया है। यह व्यापक ज्ञान देनेवाली है। वेदवाणी का नाम 'गौ' भी है, ज्ञान इसका दूध है। अपने ज्ञान-दुग्ध से यह सबका पालन व धारण करती है। वेदवाणी का वर्णन करके प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रस्य भागम् त्वा**=परमैश्वर्यशाली मुझ प्रभु के ही अंश=छोटेरूप तुझे **सोमेन**=सोम के द्वारा **आतनच्मि**=(तंच्) टंच बना देता हूँ—बिल्कुल ठीक-ठाक कर देता हूँ। आहार का अन्तिम सार ही यह वीर्य है। इसके द्वारा प्रभु हमारे शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। सोमरक्षा से हमारे मनों में ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न नहीं होता। सोमरूप ज्ञानाग्नि के ईंधन को पाकर हमारा मस्तिष्क दीप्त हो उठता है। एवं, सोम से मनुष्य का शरीर, मन व मस्तिष्क सभी कुछ ठीक-ठीक हो जाता है।

४. उल्लिखित त्रिविध उन्नति करनेवाला यह त्रिविक्रम 'विष्णु' बनता है। इस विष्णु से प्रभु कहते हैं कि हे **विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! **हव्यम् रक्ष**=तू अपने जीवन में सदा यज्ञ की रक्षा करना, अपने जीवन से कभी यज्ञ को विलुप्त न होने देना। '**पुरुषो वाव यज्ञः**' पुरुष है ही यज्ञरूप। यज्ञ से ही तू उस यज्ञरूप प्रभु की उपासना कर पाएगा।

भावार्थ—वेदवाणी सम्पूर्ण जीवन का विचार करती है, कर्मों पर बल देती है, ज्ञान-दुग्ध का पान कराती है। सोम से हम पूर्ण स्वस्थ बनकर प्रभु के ही छोटे रूप बनते हैं। व्यापक उन्नति करते हुए हम हव्य की रक्षा करें, अर्थात् हमारा जीवन सदा यज्ञमय हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्चीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अनृत से सत्य की ओर

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ ५॥

१. गत मन्त्र में वेदवाणी का वर्णन करते हुए कहा था कि वह हमारे सभी कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करती है। प्रस्तुत मन्त्र में उन सब कर्त्तव्यों के अन्दर ओत-प्रोत एक सूत्र का वर्णन करते हैं कि हमारे सब कर्म 'सत्य' पर आश्रित हों, इसलिए प्रार्थना करते हैं—**अग्ने**=हे संसार के सञ्चालक प्रभो! **व्रतपते**=सब व्रतों के रक्षक प्रभो! **व्रतम् चरिष्यामि**=मैं भी व्रत धारण करूँगा। **तत् शकेयम्**=उस व्रत का मैं पालन कर सकूँ, **तत् मे राध्यताम्**=मेरा वह व्रत सिद्ध हो। **अहम्**=मैं **अनृतात्**=अनृत को छोड़कर **इदम्**=इस **सत्यम्** [सत्सु तायते]=सज्जनों में विस्तृत होनेवाले सत्य को **उपैमि**=समीपता से प्राप्त होता हूँ।

२. व्रत का स्वरूप संक्षेप में यह है कि—'अनृत को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना'।

३. प्रभु व्रतपति हैं। हमें इस सत्य-व्रत का पालन करना है। प्रभु का उपासन हमें शक्ति देगा और हम अपने व्रत का पालन कर सकेंगे। सत्य से उत्तरोत्तर तेज बढ़ता है तो अनृत से उत्तरोत्तर तेज क्षीण होता जाता है।

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य को सत्य का व्रत लेना चाहिए। उसका पालन करने से ही वह देवत्व को प्राप्त करता है और प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—आर्चीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

आदेशक कौन?

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति।
कर्मणे वां वेषाय वाम्॥ ६॥

गत मन्त्र में सत्य के व्रत लेने का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि प्रभु ही सदा सत्य बोलने की प्रेरणा दे रहे हैं। १. **कः**=वे सुखस्वरूप प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=सत्य बोलने के लिए प्रेरित करते हैं, क्योंकि सत्य ही मानव जीवन को स्वर्गमय बनाता है। **सः**=वे सदा से प्रसिद्ध प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=इस सत्य के लिए प्रेरित कर रहे हैं। २. **कस्मै**=सुख-प्रप्ति के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=कर्मों में व्यापृत करते हैं, **तस्मै**=उस उत्कृष्ट लोक की प्राप्ति के लिए वे **त्वा**=तुझे **युनक्ति**=सत्य में प्रेरित करते हैं। सत्य से 'प्रेय व श्रेय' दोनों की ही साधना होती है। वैशेषिक दर्शन के शब्दों में सत्य ही 'अभ्युदय व निःश्रेयस' को सिद्ध करता है, अतः सत्य ही धर्म है।

३. **वाम्**=हे पति व पत्नी! आप दोनों को वे प्रभु **कर्मणे**=कर्म के लिए प्रेरित कर रहे हैं। निरन्तर कर्म में लगे रहना ही 'सत्य' है, आलस्य व अकर्मण्यता 'असत्य' है। आत्मा का अर्थ 'अत सातत्यगमने'=निरन्तर गमन है। क्रिया ही आत्मा का अध्यात्म व स्वभाव है। क्रिया गई और आत्मत्व नष्ट हुआ।

४. **वेषाय**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्याप्ति के लिए, व्यापक बनने के लिए, उदार मनोवृत्ति को धारण करने के लिए वे प्रभु **वाम्**=आपको प्रेरणा देते हैं। संकुचित मनोवृत्ति में असत्य का समावेश हो जाता है, विशालता में ही पवित्रता व सत्य की स्थिति है।

एवं, मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कहा है कि (क) सुखस्वरूप, सदा से प्रसिद्ध, स्वयम्भू, सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य ही प्रेरणा दे रहे हैं तथा (ख) वे प्रभु सत्य की प्रेरणा इस लोक को सुखमय बनाने तथा परलोक को सिद्ध करने के लिए दे रहे हैं। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा है कि इस सत्य की प्रतिष्ठा के लिए क्रियाशीलता व उदारता को अपनाना आवश्यक है।

भावार्थ—(क) प्रभु सत्य की प्रेरणा दे रहे हैं (ख) इसी से दोनों लोकों का कल्याण सिद्ध होता है, (ग) सत्य की प्रतिष्ठा के लिए हम क्रियाशील व उदार बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—प्राजापत्याजगती। स्वरः—निषादः॥

रक्षो-दहन

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः।
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥ ७॥

उपासक प्रभु से प्रार्थना करता है—१. **रक्षः**=मेरे न चाहते हुए भी मुझमें घुस आनेवाली ये राक्षस वृत्तियाँ **प्रत्युष्टम्**=(प्रति+उष् दाहे) एक-एक करके दग्ध हो जाएँ। 'रक्षः=र+क्ष'=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाली भावनाएँ मुझमें उत्पन्न ही न हों। मैं अपने आनन्द के लिए औरों की हानि करनेवाला न होऊँ। २. **अरातयः**=(रा दाने) न देने की वृत्तियाँ **प्रत्युष्टाः**=एक-एक करके दग्ध हो जाएँ। मैं सब-कुछ अपने भोग-विलास में ही व्यय न कर दूँ। मैं सदा त्यागपूर्वक भोगवाला बनूँ, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होऊँ, लोकहित के लिए देकर बचे हुए को खानेवाला बनूँ। ३. **रक्षः**=ये राक्षसी वृत्तियाँ **निष्टप्तम्**=निश्चय से तप के द्वारा दूर कर दी जाएँ और इसी प्रकार **अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ **निष्टप्ता**=निश्चय से तप के द्वारा दग्ध हो जाएँ। तपस्या से जीवन की भूमि यज्ञ व दान के लिए अत्यन्त उर्वरा हो जाती है। भोग ही समाप्त हो गया तो औरों के क्षय का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ४. यह तपोमय जीवनवाला व्यक्ति निश्चय करता है कि **उरु**=विशाल **अन्तरिक्षम्**=हृदयाकाश को **अन्वेमि**=प्राप्त होता हूँ। मेरी कोई भी क्रिया संकुचित हृदयता से नहीं होती। वस्तुतः विशालता ही हृदय को पवित्र रखती है और उस हृदय में भोगवाद की अपवित्र भावनाएँ जन्म नहीं ले-पातीं। हृदय की विशालता से हम देव बनते हैं न कि राक्षस।

भावार्थ—मेरी राक्षसी वृत्तियाँ दूर हों। मेरी अदान की वृत्तियाँ नष्ट हों। तपोमय जीवन के द्वारा मैं इन्हें दग्ध कर दूँ और विशाल-हृदय बनूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः॥

हिंसकों का संहार

धूर॑सि॒ धूर्व॒ धूर्व॑न्तं॒ धूर्व॒ तं यो॒ऽस्मान् धूर्व॑ति॒ तं धू॒र्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः। दे॒वाना॑मसि॒ वह्नि॑तम॒ꣳ सस्नि॑तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं देव॒हूत॑मम्॥ ८॥

१. **धूः असि**=हे प्रभो! वस्तुतः आप ही सब राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाले हैं, **धूर्वन्तम्**=हमारा संहार करनेवाली इन राक्षसी वृत्तियों का आप **धूर्व**=हिंसन करें। **यः**=जो अदान की वृत्ति भोगासक्त करके **अस्मान्**=हमें **धूर्वति**=हिंसित करती है **तम् धूर्व**=उसे आप समाप्त कर दीजिए। **यम्**=जिस राक्षसी व अदान की वृत्ति को **वयं धूर्वामः**=हम हिंसित करने का प्रयत्न करते हैं **तम् धूर्व**=उसे आप हिंसित कीजिए, ये वृत्तियाँ तो हमारी हिंसा पर तुली हुई हैं। आपकी कृपा से ही हम इन्हें पराजित करके अपनी रक्षा कर सकेंगे। भोगवाद की समाप्ति ही दिव्य जीवन का आरम्भ करती है।

२. हे प्रभो! आप ही **देवानाम्**=सब दिव्य गुणों के **वह्नितमम्**=सर्वाधिक प्राप्त करानेवाले हैं। अन्य मन्त्र में स्पष्ट कहा है—'**यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्**'=प्रभु-कृपा से ही मनुष्य उग्र, उदात्त (noble), ज्ञानी, तत्त्वद्रष्टा=(ऋषि) व सुबुद्धि बना करता है। ३. **सस्नितमम्**=(ष्णा शौचे) आप हमारे जीवनों को अधिक-से-अधिक शुद्ध व पवित्र बनाते हैं। आपके चरणों में उपस्थित होने पर सब मलिनताएँ दग्ध हो जाती हैं। आपके उपासना-जल में हमारा जीवन धुल-सा जाता है। ४. **पप्रितमम्**=(प्रा पूरणे), हमारे जीवन-क्षेत्र को शुद्ध करके आप उसे दिव्य गुणों के बीजों से भर देते हैं। यहाँ दिव्य गुणों के अंकुर उपजते हैं और हमारा क्षेत्र दैवीसम्पत्तिरूपी शस्य से परिपूर्ण हो जाता है।

५. **जुष्टतमम्**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) हे प्रभो! आप समझदार व्यक्तियों से प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हो। **देवहूतमम्**=देवताओं से अधिक-से-अधिक पुकारे जाते हो। देव तो

देव बन ही इसीलिए पाते हैं कि वे आपका उपासन करते हैं। आपके उपासन से उनके अन्दर घुसे हुए 'काम' का दहन हो जाता है। इस कामरूप वृत्र (ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले) के विनाश से उन उपासकों का हृदय ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठता है और इस ज्ञान-दीपन से वे देव (देवो दीपनात्) बन जाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम नाशक वृत्तियों का ध्वंस करके अपने को सुरक्षित कर सकें। आपकी कृपा से ही हमारा हृदय दैवी वृत्तियोंवाला बन पाएगा। आपका उपासन ही हमें पवित्र करेगा।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पाँच का नियमन

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳरक्षो यच्छन्तां पञ्च॥ ९॥

प्रभु उपासक को प्रेरणा देते हैं कि—१. **अह्रुतम् असि**=तू कुटिलता से रहित है। **'सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्'**—सब प्रकार की कुटिलता मृत्यु का मार्ग है, सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। यहाँ **'अह्रुतम्'** आदि पदों में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग इसलिए है कि ये बातें 'पति-पत्नी' दोनों के लिए हैं। केवल पति के लिए निर्देश होने पर पुल्लिङ्ग का प्रयोग मिलता है, केवल पत्नी के लिए निर्देश होने पर स्त्रीलिङ्ग होगा, सामान्य निर्देश में नपुंसक दिखेगा। २. **हविर्धानम्**=तू हवि का आधान करनेवाला है, यज्ञशील है। यज्ञ करके बचे हुए हव्य पदार्थों का ही तू सेवन करनेवाला है। तू सदा यज्ञशेष='अमृत' का ही ग्रहण करता है। ३. **दृंहस्व**=इस अमृत-सेवन से तू दृढ़ बन। पवित्र भोजन तुझे दृढ़ शरीरवाला ही नहीं, दृढ़ मनवाला भी बनाएगा। ४. **मा ह्वाः**=तू कभी कुटिलता न कर। ५. **ते**=तेरे विषय में **यज्ञपतिः**=सब यज्ञों का रक्षक वह प्रभु **मा ह्वार्षीत्**=प्रेरणारूप सरल उपाय को छोड़कर अन्य उपाय का अवलम्बन न करे। 'साम' की असफलता में ही 'दान-भेद-दण्ड' आवश्यक हुआ करते हैं।

६. **विष्णुः**=तेरे हृदय में स्थित सर्वव्यापक प्रभु **त्वा क्रमताम्**=तुझे सञ्चालित करे। वस्तुतः हृद्देश में स्थित हुआ-हुआ प्रभु ही सबका सञ्चालन कर रहा है। ७. **उरु वाताय**=(वा गतिगन्धनयोः) तेरा जीवन विशाल क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों के गन्धन=हिंसन के लिए हो। ८. **रक्षः अपहतम्**=सब राक्षसी वृत्तियाँ नष्ट कर दी जाएँ, और ९. **पञ्च**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँचों प्राण **यच्छन्ताम्**=वश में किये जाएँ। वस्तुतः प्राण-निरोध इन्द्रियों के मलों का दहन करके उन्हें पवित्र व दीप्त करनेवाला होता है। इस प्रकार प्राण-निरोध इन्द्रिय-निरोध का साधन हो जाता है।

भावार्थ—हम कुटिलता से दूर हों। इसके लिए प्राण-निरोध द्वारा इन्द्रिय-नैर्मल्य को सिद्ध करें और हमारा जीवन अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा से सञ्चालित हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु की प्रेरणा में

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि॥ १०॥

यह संसार सर्वज्ञ एवं दयालु प्रभु का बनाया हुआ है, अतः न तो यहाँ अपूर्णता है और न ही कोई वस्तु हमारे लिए दुःखद है, परन्तु जब अल्पज्ञता व व्यसनासक्ति से हम वस्तुओं का ठीक प्रयोग नहीं करते तब ये वस्तुएँ हमारे लिए दुःखद हो जाती हैं, इसलिए प्रभु-भक्त निश्चय करता है कि १. मैं **त्वा**=तुझे—संसार के प्रत्येक पदार्थ को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में, अर्थात् मैं प्रत्येक पदार्थ का सेवन प्रभु के निर्देशानुसार करता हूँ। प्रभु का आदेश है—'न अतियोग करना, न अयोग करना, प्रत्येक वस्तु का 'यथायोग' करना। गीता के शब्दों में 'युक्त आहार-विहारवाला होना'—सदा मध्यमार्ग में चलना। २. **अश्विनोः**=प्राणापान की **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से मैं प्रत्येक पदार्थ का ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से कमाकर ही मैं किसी वस्तु को लेने की इच्छा करता हूँ। ३. **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं किसी वस्तु का ग्रहण करता हूँ, अर्थात् किसी भी वस्तु को स्वाद व सौन्दर्य के लिए न लेकर मैं पोषण के दृष्टिकोण से ही उसे ग्रहण करता हूँ। ४. **अग्नये**=अग्नि के लिए **जुष्टम्**=सेवन की गई वस्तु को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को यज्ञ में विनियुक्त करके मैं यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बनता हूँ। यज्ञशेष ही 'अमृत' है।

५. **अग्निषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि**=मैं उस वस्तु को ग्रहण करता हूँ जो अग्नि व सोम के लिए सेवित होती है। हमारे जीवनों में दो मुख्य तत्त्व हैं—अग्नि और सोम। आयुर्वेद में इसी कारण से सब भोजन 'आग्नेय' और 'सौम्य'—इन्हीं दो भागों में बाँटे गये हैं। आग्नेय अंश शक्ति देता है तो सौम्य अंश शान्ति व दीर्घ जीवन का कारण बनता है। मैं उस भोजन का ग्रहण करता हूँ जिसमें ये दोनों ही तत्त्व उचित मात्रा में विद्यमान होते हैं। ऐसे भोजन के ग्रहण से मेरा जीवन रसमय बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु की आज्ञा में, प्रयत्नपूर्वक, पोषण के दृष्टिकोण से, मैं पदार्थों का ग्रहण करता हूँ, यज्ञशिष्ट को ही ग्रहण करता हूँ और शान्ति व शक्ति के लिए ही ग्रहण करता हूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

प्राणिमात्र के लिए

भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृꣳहन्तां दुर्याः पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षमन्वेमि पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्याऽउपस्थेऽग्ने हव्यꣳरक्ष॥ ११॥

पिछले मन्त्र की भावना 'यज्ञशिष्ट' को ग्रहण करता हूँ' का ही विस्तार इस मन्त्र में है—१. मैं **त्वा**=तुझे **भूताय**=प्राणिमात्र के हित के लिए ग्रहण करता हूँ, **अरातये न**=न देने के लिए नहीं। मैं किसी भी वस्तु को यज्ञार्थ ही ग्रहण करता हूँ, भोगार्थ नहीं। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**—त्यागभाव से भोगो—इस आदेश को मैं भूलता नहीं। २. इस यज्ञमय जीवन का ही परिणाम है कि मैं **स्वः**=स्वर्ग को ही **अभिविख्येषम्**=अपने चारों ओर देखता हूँ। यज्ञ से उभयलोक का कल्याण होता ही है। एक-दूसरे को खिलाने से देवताओं का पोषण अति सुन्दरता से होता है, इसके विपरीत सदा अपने ही मुख में आहुति देनेवाले असुर भूखे ही रहते हैं। ३. इस यज्ञ से **दुर्याः**=हमारे घर **दृंहन्ताम्**=दृढ़ बनें। यज्ञ भोगवृत्ति का प्रतिबन्धक है। भोगवृत्ति के प्रतिबन्ध से ही हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क दृढ़ बनते हैं। घर की दृढ़ता भी यज्ञिय वृत्ति पर ही निर्भर है। इस वृत्ति के न रहने पर परस्पर लड़ाई-झगड़े होकर घर

समाप्त ही हो जाता है। ४. अतः **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में—उस शरीर में जिसमें प्रत्येक शक्ति का विस्तार (प्रथ विस्तारे) किया गया है, मैं उस **अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **अनुएमि**=इस यज्ञवृत्ति की अनुकूलता से प्राप्त होता हूँ। यज्ञिय वृत्ति मेरे हृदय को विशाल बनाती है। ५. इस यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः**=पृथिवी की **नाभौ**=नाभि में **सादयामि**=बिठाता हूँ। **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'**—यह यज्ञ ही भुवन की नाभि है, केन्द्र है, अतः प्रभु ने हमें यज्ञ में स्थापित किया है। गीता के शब्दों में प्रभु ने हमें 'यज्ञसहित उत्पन्न करके कहा है कि इस यज्ञ से तुम फूलो-फलो। यह यज्ञ तुम्हारी सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो। ६. प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे **अदित्याः**=अदिति की **उपस्थे**=गोद में स्थापित करता हूँ। यह अदिति 'अदीना-देवमाता' है। प्रभु मुझे (जीव को) इसके लिए अर्पित करते हैं। इसकी गोद में मैं अदीन व दिव्य गुण-सम्पन्न बनता हूँ। जहाँ मैं हीन भावनावाला नहीं होता वहाँ दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करके घमण्डी भी नहीं हो जाता। मुझमें 'अदीनता व नातिमानिता (विनीतता)' का सुन्दर समन्वय होता है। ७. अन्त में प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! **हव्यम् रक्ष**=तू अपने जीवन में सदा हव्य की रक्षा करना। तेरा जीवन यज्ञिय हो। **'पुरुषो वाव यज्ञः'**—यह तेरा आदर्श वाक्य हो और तू यज्ञों से कभी पृथक् न हो।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा हम जीवन को स्वर्गमय बना लें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अप्सवितारौ। छन्दः—भुरिगत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः॥

'वायु, सूर्य, जल' द्वारा पवित्रीकरण

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवोऽग्रऽइममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्॥ १२॥

प्रभु पति-पत्नी को सम्बोधित करके कहते हैं कि १. **पवित्रे स्थः**=तुम दोनों पवित्र जीवनवाले हो। २. **वैष्णव्यौ**=विष्णु के उपासकों में तुम उत्तम हो। विष्णु के उपासक वे हैं जो ['विष्लृ व्याप्तौ'] व्यापक=उदार मनोवृत्तिवाले बने हैं। अथवा जिन्होंने **'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः (गोपा अदाभ्यः)**—इस मन्त्र के अनुसार तीन पग रक्खे हैं, अतः विष्णु कहलाये हैं। तीन पग 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' उन्नति के ही प्रतीक हैं। एवं, तुम दोनों ने शरीर को स्वस्थ बनाया है, मन को निर्मल और बुद्धि को बड़ा उज्ज्वल व तीव्र बनाने का प्रयत्न किया है। ३. **सवितुः**=उस उत्पादक प्रभु के **प्रसवे**=इस उत्पन्न जगत् में **वः**=तुम सबको **उत्पुनामि**=मैं पवित्र करके उन्नति-पथ पर ले-चलता हूँ।

'किन-किनसे पवित्र करता हूँ'? (क) सबसे पहले तो **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=इस छिद्र व अवकाश से रहित वायु से। **'पवित्रं वै वायुः'** (तै० १।२।५।११) के अनुसार वायु पवित्र है। यह अच्छिद्र है, क्योंकि इसने सारे अवकाश को भरा हुआ है। वायु स्थान को रिक्त नहीं रहने देती। यह हमारे रुधिर को आक्सीजन प्राप्त कराके शुद्ध करती है और इस प्रकार स्वास्थ्य की साधक होती है। (ख) **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों से मैं तुझे पवित्र करता हूँ। सूर्य की किरणें छाती पर पड़ती हैं और रोग-कृमियों का संहार करती हैं। इस प्रकार ये रोगरूप मलों को दूर करके शरीर को शुद्ध बनाती हैं (ग) इन दोनों से बढ़कर **देवीः आपः**=दिव्य गुणोंवाले जल हैं जोकि **अग्रेगुवः**=निरन्तर समुद्र की ओर आगे

और आगे चलते जाते हैं, **अग्रेपुवः**=सबसे अधिक पवित्र करनेवाले हैं, क्योंकि **'आपः सर्वस्य भेषजीः'**—ये जल रोगमात्र के औषध हैं। हे जलो! आप **अद्य**=आज **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **अग्रे नयत**=हमारे जीवनों में आगे ले-चलो, अर्थात् हमारे जीवनों में यज्ञ की भावना बढ़े। **यज्ञपतिम्**=यज्ञ के पालक—निरन्तर यज्ञ करनेवाले को **अग्रे नयत**=उन्नत करो। यह यज्ञ उसके अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक बने। ये यज्ञ उसे **सुधातुम्**=उत्तम धातुओंवाला बनाएँ। उसके शरीरस्थ सब धातु निर्दोष हों। वस्तुतः इस प्रकार धातुओं की निर्दोषता से ही यह यज्ञ मनुष्य को अज्ञात व ज्ञात सभी रोगों से मुक्त करता है। हे जलो! तुम इस **यज्ञपतिम्**=यज्ञपति को **देवयुवम्**=दिव्य गुणों से संयुक्त करनेवाले होओ।

भावार्थ—वायु, सूर्य व जल हमारे जीवन में पवित्रता का सञ्चार करें। इस पवित्रता के परिणामस्वरूप हममें यज्ञियवृत्ति बढ़े। हम उत्तम रस, रुधिर आदि धातुओंवाले होकर स्वस्थ शरीरवाले और दिव्य गुणों की वृद्धि करके उत्तम मनवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—इन्द्रः[उ], अग्निः[क], यज्ञः[र]। छन्दः—निचृदुष्णिक्[उ], भुरिगार्चीगायत्री[क] भुरिगुष्णिक्[र]। स्वरः—ऋषभः[उ,र], षड्जः[क]॥

वृत्रतूर्य में इन्द्र-वरण अथवा शोधन

[उ]युष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ। [क]अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। [र]दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि॥ १३॥

१. इस संसार में जीव का मुख्य उद्देश्य काम आदि शत्रुओं का पराजय है। ये काम आदि शत्रु ज्ञान को आवृत करने के कारण 'वृत्र' हैं। इनके साथ किया जानेवाला संग्राम 'तूर्य' है। इन काम आदि का संहार 'वृत्रतूर्य' है। इस **वृत्रतूर्ये**=काम-संहाररूप यज्ञ के निमित्त **युष्माः**=तुम्हें **इन्द्रः**=उस प्रभु ने **अवृणीत**=वरा है, चुना है। जिन लोगों की जीवन-स्थिति बहुत ही निकृष्ट थी उन्हें तो प्रभु ने भोगयोनियों में भेज दिया। मध्यम स्थितिवालों को मानव-जीवन अवश्य मिला, परन्तु वे काम आदि से प्रतारित होनेवाले 'इ-तर' जन ही रहे (common man काम से (इ) प्रतारित होनेवाले इतर), परन्तु जिन लोगों ने गत मन्त्र की भावना के अनुसार अपने को पवित्र करने का प्रयत्न किया, उन्हें प्रभु ने उस सात्त्विक श्रेणी में रक्खा है जो काम आदि के पराजय में लगे रहते हैं। २. **यूयम्**=तुम भी **वृत्रतूर्ये**=इस काम-संहाररूप संग्राम में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवृणीध्वम्**=वरो। उसके साहाय्य के बिना इन प्रबल शत्रुओं का विनाश न हो सकेगा। कामदेव को तो महादेव ही भस्म करेंगे। **'त्वया स्विद् युजा वयम्'**—तुझ साथी के साथ मिलकर ही हम इन शत्रुओं को पराजित कर पाएँगे। ३. उस प्रभु को वरने पर **प्रोक्षिताः स्थ**=तुम प्रकर्षेण (उक्ष सेचने) सिक्त हो जाते हो। यह जल छिड़कना शुद्धि का प्रतीक है, अतः तुम शुद्ध हो जाते हो। अथवा प्रभु के वरण से तुम शक्ति से भर जाते हो—तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग में शक्तिरस का सञ्चार हो जाता है। ४. तुम भी यह निश्चय करो कि **अग्नये जुष्टम्**=अग्नि के लिए सेवित **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=अपने में सिक्त करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को यज्ञ में विनियुक्त करने के बाद ही मैं यज्ञशिष्ट का अपने लिए प्रयोग करता हूँ और **त्वा**=तुझे, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **अग्नीषोमाभ्याम्**=अग्नि और सोम के लिए **जुष्टम्**=सेवित को **प्रोक्षामि**=अपने में सिक्त करता हूँ। शक्ति (अग्नि) और शान्ति (सोम) की वृद्धि के लिए ही प्रत्येक पदार्थ

का प्रयोग करता हूँ। भोजन भी मेरे लिए यज्ञ का रूप धारण कर लेता है और उसका लक्ष्य होता है 'शक्ति और शान्ति की प्राप्ति'। ५. प्रभु कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ के प्रयोग में उक्त भावना को रखकर तुम **दैव्याय कर्मणे**=दैव्य कर्मों के लिए—आत्मा के लिए हितकर कर्मों के लिए **शुन्धध्वम्**=अपने को शुद्ध कर डालो जिससे **देवयज्यायै**=उस महान् देव से तुम्हारा यजन=सङ्गतीकरण हो सके। **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयाः'**—जनक आदि ने ऐसे ही कर्मों से सिद्धि प्राप्त की थी। तुम भी इन दैव्य कार्यों से उस देव के सान्निध्य को प्राप्त कर सकोगे। ६. इन दिव्य कर्मों में लगने के द्वारा तुममें **यत् वः**=जो कुछ **अशुद्धाः**=मालिन्य हैं, दोष हैं, वे **पराजघ्नुः**=सुदूर विनष्ट हों। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'**—योगी लोग आत्मशुद्धि के लिए सदा कर्म किया करते हैं। ७. इस प्रकार **वः**=तुम्हारे **इदं तत्**=इस प्रसिद्ध शोधन कर्म को **शुन्धामि**=शुद्ध कर डालता हूँ, अर्थात् इस प्रकार यह शोधन की प्रक्रिया ठीक रूप से सम्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु के साहाय्य से हम काम आदि दोषों के संहार में समर्थ हों। दिव्य कर्मों में लगे रहने के द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ। जो-जो मलिनता है उसे दूर करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

अदिति के सम्पर्क में

शर्मास्यवधूतꣳरक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु।
अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु॥ १४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सब अशुद्धता को दूर करनेवाला तू **शर्म असि**=आनन्द-ही-आनन्द है, अर्थात् तेरा जीवन सचमुच आनन्दमय बना है। २. **रक्षः**=राक्षसी वृत्तियाँ **अवधूतम्**=तुझसे सुदूर कम्पित हुई हैं, अर्थात् नष्ट हो गई हैं, साथ ही **अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ भी **अवधूताः**=कम्पित होकर नष्ट हो गई हैं। मेरे जीवन में न भोग-विलासवाली राक्षसी वृत्तियाँ हैं और न ही अदान की वृत्ति है। भोगमय जीवन ही हमें कृपण बनाता है। ३. **अदित्याः त्वक् असि**=अदिति का तू संस्पर्श (त्वच्=Touch) करनेवाला है। अदीना देवमाता के साथ तेरा सम्पर्क है और **अदितिः**=यह अदीना देवमाता भी **त्वा**=तुझे **प्रतिवेत्तु**=सम्यक्तया जाने। तू अदिति से परिचित हो, अदिति तुझसे। इस प्रकार अदिति से तेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो। प्रभु ने अदिति की गोद में ही तो तुझे बिठाया है (मन्त्र ११)। संक्षेप में तू अदीन, अकृपण, हीनता की भावना से रहित 'बहुलाभिमानः'=आत्म-सम्मान की भावनावाला हो और अपने अन्दर दिव्य गुणों का विकास करनेवाला हो।

४. इन्हीं दिव्य गुणों के विकास के कारण तू **अद्रिः**=न विदारण के योग्य—धर्म-पथ से विचलित न होने योग्य **असि**=है (न दृ), तथा आदरणीय (आ+दृ) बना है। ५. **वानस्पत्यः**=तेरा यह सारा क्षेत्र (अन्नमय आदि कोश) वनस्पति का ही विकार है, अर्थात् तूने वनस्पति भोजन को ही स्वीकार किया है। शाकाहारी होने से ही तुझमें राक्षसी वृत्तियाँ नहीं पनपीं। ६. **ग्रावा असि**=तू (गृ) वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला है (ग्रह् वन् आदन्तादेशः) अथवा ज्ञान-विज्ञानों का ग्रहण करनेवाला है। ७. **पृथुबुध्नः**=तू विशाल मूलवाला है। तूने अपनी उन्नति की नींव व्यापक बनाई है। तू शरीर, मन व मस्तिष्क सभी का ध्यान करके चला है। बस, अन्त में यही कहना है कि **त्वा**=तुझे **अदित्याः त्वक्**=अदिति का सम्पर्क

प्रतिवेत्तु=प्राप्त हो। तू सदा अदीन देवमाता के सम्पर्क में निवास कर।

भावार्थ—अदिति के सम्पर्क में रहने से हमारा जीवन सुन्दर व शिव हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृज्जगती[क], याजुषीपंक्तिः[र]।
स्वरः—निषादः[क], पञ्चमः[र]॥

समाजसेवी का स्वरूप

[क]अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि वा॒चो वि॒सर्ज॑नं दे॒ववी॑तये त्वा गृह्णामि बृ॒हद् ग्रा॑वासि वान॑स्प॒त्यः स॒ऽइ॒दं दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः श॑मीष्व सु॒शमि॑ शमीष्व। [र]हवि॑ष्कृ॒देहि॒ हवि॑ष्कृ॒देहि॑॥ १५॥

अदिति के सम्पर्क में रहकर अपने जीवन को सुन्दर बनानेवाला व्यक्ति अपना ठीक परिपाक करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है। इसे प्रभु निम्नरूप से प्रेरणा देते हैं—

१. **अग्नेः**=अग्नि का **तनूः असि**=तू विस्तारक है। तूने अपने जीवन में शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाकर उत्साह से परिपूर्ण किया है। 'अग्नि' उत्साह का प्रतीक है। आलसी को 'अनुष्णकः' कहते हैं। प्रभु का सच्चा स्तोता शारीरिक स्वास्थ्य के कारण अग्नि की भाँति चमकता है। २. **वाचो विसर्जनम्**=तू मेरी इस वेदवाणी का चारों ओर (वि) दान करनेवाला है (सर्जन=दान)। सर्वत्र विचरता हुआ तू इस वेदवाणी का प्रचार करता है। ३. **देववीतये**=दिव्य गुणों के प्रजनन—उत्पन्न करने के लिए मैं **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् जैसे एक राष्ट्रपति भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए मन्त्रियों का ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रभु इस यज्ञमय जीवनवाले व्यक्ति का ग्रहण इसलिए करते हैं कि यह लोक में दिव्य गुणों का प्रचार करनेवाला बने। ४. **बृहद् ग्रावा असि**=तू विशाल हृदयवाला और वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला है (गृ)। उपदेष्टा को सदा विशाल हृदय होना चाहिए। संकुचित हृदयवाला होने पर वह शास्त्रों की व्याख्या भी ठीक नहीं करता, वह तो उनका प्रतारण ही करता है।

५. **वानस्पत्यः**=तू वनस्पति का ही प्रयोग करनेवाला है, मांस पर अपना पालन-पोषण करनेवाला नहीं है। ६. **सः**=वह तू **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **इदं हविः**=इस हविरूप भोजन को ही **शमीष्व**=शान्ति देनेवाला बना, अर्थात् तेरा भोजन यज्ञशेष रूप तो हो ही साथ ही वह भोजन सौम्य हो, जो तेरे स्वभाव को शान्त बनाता हुआ तुझमें दिव्य गुणों की वृद्धि का कारण बने। **सुशमि (हविः)**=इस उत्तम शान्ति देनेवाले सौम्य भोजन को **शमीष्व**=शान्ति देनेवाला बना। तेरा भोजन 'हविः' हविरूप तो हो ही **सुशमि**=उत्तम शान्ति देनेवाला भी हो। ७. **हविष्कृत्**=इस प्रकार अपने जीवन को हवि का रूप देनेवाले! तू एहि=मेरे समीप आ। **हविष्कृत्**=हविरूप भोजन करनेवाले जीव! तू एहि=मेरे समीप आ। प्रभु का सामीप्य उसे ही प्राप्त होता है जो अपने जीवन को लोकहित के लिए अर्पित कर देता है और इस लोकहित—परार्थ की वृत्ति को सिद्ध करने के लिए भोजन का हविरूप होना आवश्यक है। भोजन की पवित्रता से ही मन की पवित्रता सिद्ध होती है।

भावार्थ—हम यज्ञशिष्ट तथा सौम्य भोजनों के द्वारा अपने में दिव्य गुणों की वृद्धि करें और लोकहित के कार्यों में व्यापृत होते हुए वेदवाणी का प्रसार करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—वायुः[क], सविता[र]। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], विराड्गायत्री[र]। स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

प्रभु की प्रेरणा

[क]कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वऽइषमूर्जमावद त्वया वयःसङ्घातःसङ्घातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतःरक्षः परापूता अरातयोऽपहतःरक्षो वायुर्वो विविनक्तु [र]देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना॥ १६॥

प्रभु कह रहे हैं—१. **कुक्कुटः**=(कुकं पर-द्रव्यादानं कुटति हिनस्ति) तू पर-द्रव्य के आदान की वृत्ति को अपने से दूर करनेवाला **असि**=है। तुझमें कभी भी पर-द्रव्य को लेने की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। **'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'**—पर-द्रव्यों को तू मिट्टी के ढेले के समान देखता है, उनके लिए कभी लालायित नहीं होता। २. **मधुजिह्वः**=तू माधुर्य से पूर्ण जिह्वावाला है। तू ज्ञान का प्रसार बड़ी मधुर व श्लक्ष्ण वाणी से करता है। यह तुझे भूलता नहीं कि **'जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्'**=मेरी वाणी के अग्रभाग व मूल में माधुर्य-ही-माधुर्य है। ३. **इषम्**=प्रेरणा को व **ऊर्जम्**=शक्ति को **आवद**=तू चारों ओर लोगों के जीवनों में फूँकने का ध्यान कर।

श्रोतृवृन्द इस उपदेष्टा से कहता है कि—४. **त्वया वयम्**=आपके साथ हम संघातं **संघातम्** =प्रत्येक वासना-संग्राम को **जेष्म**=जीतनेवाले बनें। आपकी प्रेरणा हममें उस उत्साह व शक्ति को भर दे कि हम इन वासनाओं को कुचलने में समर्थ हों। ५. **वर्षवृद्धं असि**= वर्षों के दृष्टिकोण से भी आप बढ़े हुए हो, अतः क्या ज्ञान और क्या अनुभव—दोनों के दृष्टिकोण से परिपक्व हो। आपके पीछे चलकर हमारा कल्याण ही होगा। **वर्षवृद्धं त्वा**= वर्षवृद्ध आपको **प्रतिवेत्तु**=प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सके—जान सके, अर्थात् आप लोगों के लिए अगम्य न हों। ६. आपकी कृपा से—आपके इस ज्ञानोपदेश से **परापूतं रक्षः**=(पूतं=washed away) हमारी सब राक्षसी वृत्तियाँ धुल जाएँ। ये वृत्तियाँ हमसे दूर हो जाएँ। **परापूताः अरातयः**=न देने की वृत्तियाँ सुदूर विनष्ट हो जाएँ। हम जहाँ अपने रमण के लिए औरों का क्षय न करें वहाँ हम सदा दान की वृत्तिवाले बने रहें। **रक्षः अपहतम्**=हमारे राक्षसी भाव तो नष्ट ही हो जाएँ।

७. प्रभु उपदेष्टा व श्रोता दोनों से कहते हैं—**वायुः**=अपनी गतिशीलता से सब बुराइयों का हिंसन करता हुआ यह वायुदेव **वः**=तुम्हें **विविनक्तु**=विवेकयुक्त करे। प्रातः शुद्ध वायु का सेवन तुम्हारे मस्तिष्कों को उन्नत व पवित्र करे। **'मेधामिन्द्रश्च वायुश्च'**—इस मन्त्रभाग में वायु का मेधा-प्रदातृत्व स्पष्ट है। ८. यह **सविता देवः**=सब प्राणदायी तत्त्वों को जन्म देनेवाला (सू=जन्म देना) और सब दिव्यताओं का कोशभूत सूर्य जो **हिरण्यपाणिः**= स्वर्ण को हाथ में लिये हुए है—जिसके किरणरूप हाथ हमारे अन्दर स्वर्ण का प्रवेश करते हैं, मानो हमें स्वर्ण (gold) के इञ्जैक्शंज दे रहे हों। यह सूर्य **अच्छिद्रेण पाणिना**=अपने निर्दोष किरणरूप हाथों से **वः प्रतिगृभ्णातु**=तुम्हें ग्रहण करे, अर्थात् प्रातःकाल ही उस सूर्य की किरणें तुम्हें प्राप्त हों जो तुम्हें प्राण, शक्ति और दिव्यता देता है और तुम्हारे लिए अत्यन्त हितकर व रमणीय (हिरण्य) है।

भावार्थ—हम अस्तेय धर्म का पूर्णतया पालन करें, मधुर शब्द ही बोलें। प्रातःकालीन वायु व सूर्य के सम्पर्क में आकर स्वस्थ व विवेकयुक्त बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीपंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः।।

भ्रातृव्य वध, आमाद, क्रव्याद अग्नि का दूरीकरण

धृष्टिरस्यपाऽग्नेऽअग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादंसेधा देवयजं वह। ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय।। १७।।

१. हे जीव! **धृष्टिः असि**=तू शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है, क्योंकि तू शरीर में रोगों और मन में काम-क्रोध आदि को नहीं आने देता, इसीलिए तू अग्नि बना है—आगे बढ़नेवाला—निरन्तर उन्नति करनेवाला। २. हे **अग्ने**=उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले जीव! **आमादम्**=कच्ची वस्तु को खानेवाली (आम+अद्) **अग्निम्**=अग्नि को **अपजहि**=अपने से दूर कर। कच्चापन दो प्रकार का होता है—(क) अग्नि पर रोटी आदि को पकाया गया, परन्तु उनका ठीक परिपाक नहीं हुआ। वह कच्ची रह गई रोटी व दाल आदि पेटदर्द व अन्य कष्टों का कारण होंगी ही। (ख) वृक्षों पर फल अभी कच्चे हों और उन्हें खाया जाए तो वे भी कष्टकर होंगे, अतः हमें 'आमाद अग्नि' को अपने से दूर रखना है। हमारी जाठराग्नि को इस प्रकार की अपरिपक्व वस्तुएँ न खानी पड़ें। ३. उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले इस जीव से प्रभु कहते हैं कि **क्रव्यादम्**=मांस खानेवाली अग्नि को तो **निःसेध**=निश्चय से निषिद्ध कर दे, अर्थात् मांस आदि खाने का विचार ही नहीं करना। मांसाहारी का स्वभाव निश्चय से क्रूर हो जाता है और वह मानवधर्म को ठीक प्रकार से नहीं पाल सकता।

४. **देवयजं वह**=तू अपने जीवन में देवयज्ञ को धारण करनेवाला हो। आमाद अग्नि को दूर करके हम शरीर को नीरोग बनाते हैं और क्रव्याद अग्नि को दूर करके मानस क्रूरता से ऊपर उठते हैं, इस प्रकार हम देवयज्ञ के योग्य हो जाते हैं। इस देवयज्ञ की मौलिक भावना 'केवल अपने-आप न खाना'—केवलादी न बनना है। ५. **ध्रुवम् असि**=तू अपने नियमों पर दृढ़ है। इस व्यवस्थित जीवन से तू **पृथिवीम्**=अपने शरीर को दृंह=दृढ़ बना। शरीर का स्वास्थ्य नियमित जीवन पर ही निर्भर है। विशेषकर 'कालभोजी'=समय पर खानेवाला बीमार नहीं पड़ता। ६. शरीर के स्वस्थ होने पर वह अपने ज्ञान को निरन्तर स्वाध्याय से बढ़ाता है। स्वस्थ शरीर में बल की वृद्धि हो जाती है। स्वस्थ व्यक्ति ज्ञान और बल को बढ़ाकर सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होनेवाला होता है। प्रभु इससे कहते हैं कि **ब्रह्मवनि त्वा**=ज्ञान का सेवन करनेवाले तुझे, **क्षत्रवनि त्वा**=बल का सेवन करनेवाले तुझे और **सजातवनि**=(**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा।**) तेरे जन्म के साथ ही उत्पन्न किये गये यज्ञ का सेवन करनेवाले तुझे **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे **भ्रातृव्यस्य**=(भ्रातुर्व्यन् सपत्ने) शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए तू समर्थ हो सके। जब मनुष्य स्वस्थ होकर ज्ञान और बल का सम्पादन करके यज्ञशील बनता है तब वह प्रभु के उपासन के योग्य बनता है। यह प्रभु का उपासन इसे वह शक्ति प्राप्त कराता है कि यह काम आदि शुत्रओं का शिकार न होकर उनका विध्वंस करनेवाला होता है।

भावार्थ—कच्ची वस्तुओं और मांस आदि को त्यागकर हम रोगों व वासनाओं से ऊपर उठें। नियमित जीवन बिताकर शरीर को दृढ़ बनाएँ। ज्ञान, बल व यज्ञ का सेवन करते हुए प्रभु के उपासक बनें और काम आदि शत्रुओं का वध करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्[उ], आर्चीत्रिष्टुप्[क], आर्चीपंक्तिः[र]।
स्वरः—ऋषभः[उ], धैवतः[क], पञ्चमः[र]॥

ज्ञान, बल व यज्ञ

[उ]अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [क]धर्त्रमसि दिवं दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। [र]विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यऽउपदधामि चित स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्॥ १८॥

१. हे **अग्ने**=उन्नतिशील जीव! तू **ब्रह्म**=ज्ञान का **गृभ्णीष्व**=ग्रहण कर। ज्ञान ही सब उन्नतियों का मूल है। २. **धरुणमसि**=तू अत्यन्त धैर्य-वृत्तिवाला है, अतः **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयरूप अन्तरिक्ष को **दृंह**=दृढ़ बना। अन्तःकरण का सर्वमहान् गुण धृति ही है। वस्तुतः यह धृति ही धर्म के अन्य सब अङ्गों की नींव है। इसी दृष्टिकोण से महर्षि मनु ने धृति को धर्म का सर्वप्रथम लक्षण कहा है। ३. धृति के द्वारा अन्तःकरण के स्वास्थ्य का सम्पादन करनेवाले **ब्रह्मवनि त्वा**=तुझ ज्ञान का सेवन करनेवाले को, **क्षत्रवनि**=बल का सेवन करनेवाले तथा **सजातवनि**=सह-उत्पन्न यज्ञ का सेवन करनेवाले तुझे मैं **उपदधामि**=अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे तू **भ्रातृव्यस्य**=शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए समर्थ हो। ४. **धर्त्रम् असि**=तू धारक शक्ति से युक्त है—तेरी स्मृतिशक्ति प्रबल है (तू retentive memory वाला है), **दिवम् दृंह**=तू अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को दृढ़ बना। स्मृतिशक्ति से धारण किया हुआ ज्ञान मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएगा। **ब्रह्मवनि त्वा**=ज्ञान का सेवन करनेवाले तुझे **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ, जिससे तू **भ्रातृव्यस्य**=कामादि शत्रुओं के **वधाय**=वध के लिए समर्थ हो सके। ५. वस्तुतः जब मनुष्य शरीर, हृदय और मस्तिष्क—सभी को दृढ़ बना लेता है तब प्रभु-उपासन के लिए पूर्णरूप से तैयार हो चुकता है। **त्वा**=इस तुझे **विश्वाभ्यः आशाभ्यः**=सब दिशाओं से **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ। यह व्यक्ति विविध दिशाओं में भटकनेवाली इन्द्रियवृत्तियों को केन्द्रित करके प्रभु में एकाग्र होने का प्रयत्न करता है। ६. हे जीव! **चितः स्थ**=तुम चेतन हो। चेतन ही नहीं **ऊर्ध्व चितः**=उत्कृष्ट चेतनावाले हो, अतः अपने हित को समझते हुए **भृगूणाम्**=ज्ञान-परिपक्व (उत्कृष्ट ज्ञानवाले) लोगों के तथा **अङ्गिरसाम्**=जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग लोच-लचकवाले हैं, उनके **तपसा**=तप से **तप्यध्वम्**=तप करनेवाले बनो। भृगुओं का तप 'स्वाध्याय' है तथा अङ्गिरा लोगों का तप 'ऋत' है। तुम अपने जीवन को नैत्यिक स्वाध्यायवाला बनाओ तथा तुम्हारा प्रत्येक कार्य ठीक समय व स्थान पर हो, जिससे तुम भृगुओं की भाँति ज्ञानी तथा अङ्गिरसों की भाँति स्वास्थ्य की दीप्तिवाले बन सको। ज्ञान की दृष्टि से तुम 'ऋषि' बनो तो बल के दृष्टिकोण से एक 'मल्ल' बनो। यही तो आदर्श पुरुष है। 'ऋषि+मल्ल'—(sage+athlete)।

भावार्थ—यदि हम अपने स्वरूप व उद्देश्य को न भूलें तो स्वाध्याय व नियमित जीवन को अवश्य अपनाएँगे।

सूचना—सत्रहवें और अठारहवें मन्त्र में 'ध्रुव, धरुण व धर्त्र' शब्दों का प्रयोग हुआ है। शरीर के लिए जीवन की क्रियाओं में हमें ध्रुवता से चलना है, मानस स्वास्थ्य के लिए धरुण=धृति-सम्पन्न बनना है तथा मस्तिष्क की उज्ज्वलता के लिए प्राप्त ज्ञान को धारण करनेवाले 'धर्त्र' होना है।

मस्तिष्क के लिए 'ब्रह्मवनि'=ज्ञान का सेवन करनेवाला बनना है तो शरीर के लिए 'क्षत्रवनि' बल का सेवन करनेवाले तथा हृदय के लिए 'सजातवनि' यज्ञ आदि उत्तम भावनाओं का सेवन करनेवाला।

ज्ञान, बल और यज्ञ के होने पर व्यक्ति प्रभु का सच्चा उपासक बनता है और शत्रुओं का संहार कर पाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पर्वती बुद्धि—महादेव की पार्वती

शर्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु। धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिव स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु॥ १९॥

जब व्यक्ति ज्ञान, बल व यज्ञ को अपनाता है तब उसका जीवन सुखमय हो जाता है। १. **शर्म असि**=तू आनन्दमय है, क्योंकि **रक्षः**=तूने राक्षसी भावनाओं को **अवधूतम्**=कम्पित करके अपने से दूर किया है, **अवधूताःअरातयः**=न देने की भावना को दूर भागा दिया है। तू **अदित्याः त्वक् असि**=अदीना देवमाता का संस्पर्श करनेवाला है। **त्वा**=तुझे **अदितिः**=यह अदीना देवमाता **प्रतिवेत्तु**=जाने। तू अदिति के सम्पर्क में हो, अदिति तेरे सम्पर्क में हो, अर्थात् तेरा सारा वातावरण ही अदीनता व दिव्य गुणोंवाला हो। संसार में मनुष्य को असभ्य (blunt) तो नहीं बनना, परन्तु गिड़गिड़ाना भी तो नहीं। यथासम्भव दिव्य गुणों का अपने में विकास करना है। इस दैवी सम्पति का आरम्भ 'अभय' से ही होता है। जीव की इस उन्नति में 'बुद्धि' उसकी सहायिका है। आत्मा रथी है तो बुद्धि उसका सारथि है। आत्मा राजा है तो बुद्धि मन्त्रिणी है। आत्मा पति है तो बुद्धि पत्नी है। आत्मा महादेव है तो उसकी पार्वती यह बुद्धि ही है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **धिषणा असि**=तू धारण करनेवाली 'बुद्धि' है। **पर्वती** तू पूरण करनेवाली है (पर्व पूरणे), सब न्यूनताओं को दूर करनेवाली है। **त्वा**=तुझे **अदित्याः त्वक् प्रतिवेत्तु**=अदिति का सम्पर्क सदा प्राप्त रहे ३. तू **दिवः** =प्रकाश की **स्कम्भनीः असि**=धारण करनेवाली है। जैसे 'स्कम्भ' मकान की छत को सदा सहारा देता है, उसी प्रकार जीवन में यह बुद्धि प्रकाश का स्कम्भ है। सारे प्रकाश का साधन यह बुद्धि ही है। यह विकृत हुई और प्रकाश गया। हे **धिषणा**=बुद्धि! तू **पार्वतेयी**=(स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है) पर्वती=पूरण करनेवाली है। **त्वा**=तुझे **पर्वती**=यह पूरण करने की प्रक्रिया **प्रतिवेत्तु**=पूर्ण रूप से जाने, अर्थात् इस बुद्धि में हमारे जीवन को न्यूनताओं से ऊपर उठाकर पूर्ण बनाने की शक्ति सदा बनी रहे। उलटे मार्ग पर जाकर यह हमारे विनाश का कारण न बन जाए। प्रभुकृपा से हमारी यह बुद्धि **पर्वती**=पूरण करनेवाली बनी रहे।

भावार्थ—हमारी बुद्धि पर्वती हो—पूरण करनेवाली हो। यह हमें विनाश के मार्ग पर न ले-जाए।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

शुद्ध बुद्धि का वर्धक 'धान्य' व सूर्यकिरणें

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि॥ २०॥

गत मन्त्र में प्रकाश की आधारभूत, जीवन में सद्गुणों का पूरण करनेवाली बुद्धि का उल्लेख था। इस बुद्धि का निर्माण सात्त्विक आहार से होता है, उस सात्त्विक आहार का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है—

१. **धान्यम् असि**=तू धान्य है। **'धाने पोषणे साध्विति धान्यम्'**—पोषण में उत्तम है। तू मानव-शरीर का उत्तमता से पोषण करता है। स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व तीव्र बुद्धि को तू जन्म देता है। तू (क) **देवान् धिनुहि**=हमारे जीवन में दिव्य गुणों को प्रीणित कर। तेरे द्वारा सत्त्व की शुद्धि से हममें सात्त्विक गुणों का विकास हो (ख) हम **त्वा**=तुझे **प्राणाय**=प्राण के विकास के लिए स्वीकार करते हैं, तेरे द्वारा हमारी प्राणशक्ति बढ़े। **त्वा**=तुझे **उदानाय**=उदानवायु के ठीक कार्य करने के लिए स्वीकार करते हैं। **'उदानः कण्ठदेशे स्यात्'**—कण्ठदेश—गले के स्थान में कार्य करनेवाला उदानवायु ठीक हो। इसका कार्य ठीक होने पर ही दीर्घ जीवन होना सम्भव है। हम **त्वा**=तुझे **व्यानाय**=सर्वशरीर-व्यापी व्यानवायु के लिए ग्रहण करते हैं। धान्य के प्रयोग से सारा नाड़ी-संस्थान ठीक प्रकार से कार्य करता है और मनुष्य का मस्तिष्क ठीक बना रहता है।

२. **दीर्घाम्**=अत्यन्त विस्तृत शतवर्षगामिनी **प्रसितिम्**=(षिञ् बन्धने) कर्मतन्तु सन्तति का **अनु**=लक्ष्य करके (अनुर्लक्षणे) और इस प्रकार **आयुषे**=उत्तम कर्ममय जीवन के लिए (इ गतौ) हे धान्य! **धाम्** =मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। इस धान्य के प्रयोग से मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त हो और इस दीर्घ जीवन में मेरा कर्म-तन्तु कभी विच्छिन्न न हो। मैं सदा कर्म करता रहूँ। वानस्पतिक भोजन जहाँ दीर्घजीवन का हेतु बनता है, वहाँ क्रियाशील (active) जीवन को भी जन्म देता है।

३. इस धान्य के प्रयोग के साथ हम सूर्य के साथ अपना सम्पर्क बढ़ाएँ। धान्य में भी वस्तुतः सारी प्राण-शक्ति सूर्यकिरणों द्वारा ही स्थापित होती है। इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सविता देवः**=सब प्राणशक्ति का उत्पादक यह सूर्यदेव जो **हिरण्यपाणिः**=अपने किरणरूपी हाथों में हिरण्य='हितरमणीय प्राणशक्तिप्रद' तत्त्वों को लिये हुए है, वह सूर्य **वः** तुम्हें **अच्छिद्रेण**=अपने निर्दोष (छिद्र=दोष) **पाणिना**=किरणरूप हाथों से **प्रतिगृभ्णातु**=ग्रहण करे, अर्थात् हम प्रातः सूर्याभिमुख होकर प्रभु का ध्यान करें और यह सूर्यदेव अपने हाथों से हमारे शरीर में हितरमणीय तत्त्वों का प्रवेश करे। उदय होते हुए सूर्य की किरणें सब रोगकृमियों का संहार करती हैं। ४. हे सूर्यदेव! मैं **त्वा**=तुझे **चक्षुषे**=दृष्टिशक्ति की वृद्धि के लिए ग्रहण करता हूँ। **'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्'** वस्तुतः सूर्य ही चक्षु के रूप में आँखों में रह रहा है। मैं सूर्याभिमुख बैठता हूँ तो सूर्यकिरणें मेरी आँखों में दृष्टिशक्ति का प्रवेश कराती हैं। आँखों की सब निर्बलताएँ व रोग सूर्यकिरणों के ठीक सेवन से अवश्य दूर हो जाते हैं। ५. हे सूर्य! तू **महीनाम्**=अन्य सब महनीय=पूजनीय—उत्तम-मनुष्य को महान् बनानेवाली शक्तियों का **पयः**=आप्यायन—वर्धन करनेवाला है। सूर्यकिरणों के ठीक सम्पर्क से हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्तियाँ बढ़ती हैं।

भावार्थ—दिव्य गुणों के वर्धन के लिए बुद्धि का सात्त्विक होना आवश्यक है। बुद्धि की सात्त्विकता के लिए वानस्पतिक भोजन (धान्य) ही ठीक है, साथ ही सूर्यकिरणों का सम्पर्क भी अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—गायत्री क, निचृत्पङ्क्तिः र। स्वरः—षड्जः क, पञ्चमः र॥

ओषधियों का प्रयोग मात्रा में

कदेवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सं वपामि रसमापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन। सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्॥ २१॥

गत मन्त्र में धान्य के प्रयोग का उल्लेख है, परन्तु 'वह प्रयोग कैसे हो' इसका प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में है—१. **त्वा**=तेरा—तुझ धान्य का **सवितुः देवस्य**=सबके प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=प्रसव में, अर्थात् प्रभु की अनुज्ञा में प्रयोग करता हूँ। प्रभु की अनुज्ञा में इस धान्य का न अतियोग करता हूँ, न अयोग करता हूँ अपितु यथायोग करता हूँ, **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ और **अश्विनोः**=प्राणापानों के **बाहुभ्याम्**=हाथों से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करता हूँ। २. जिन धान्य आदि ओषधियों का प्रयोग करता हूँ उन्हें **संवपामि**=बड़े उत्तम ढंग से बोता हूँ। **ओषधीभिः**=इन ओषिधियों के साथ **आपः**=जल **सम्**=उत्तमता से सङ्गत हों। ओषधियों का सेचन उत्तम जल से हो। वृष्टिजल से सिक्त ओषधियाँ सात्त्विक गुणोंवाली होती हैं, अमेध्य—गन्दे जल से उत्पन्न ओषधियाँ तामस गुणों को जन्म देती हैं। इन उत्तम जलों के सेचन से **ओषधयः**=ओषधियाँ **रसेन**=रस से **सम्**=सङ्गत हों और ये **रेवतीः**=रयिवतीः—शक्तिरूप धन से पूर्ण ओषधियाँ **जगतीभिः**=गतिशील प्राणियों के साथ **सम् पृच्यन्ताम्**=संयुक्त हों, अर्थात् इन ओषधियों का सेवन व्यक्ति को पुरुषार्थी बनाए। **मधुमतीः**=मधुर रस से परिपूर्ण ये ओषधियाँ **मधुमतीभिः**=परस्पर मधुर व्यवहारवाली प्रजाओं से **संपृच्यन्ताम्**=संयुक्त हों, अर्थात् उन्हें मधुर बनाएँ।

संक्षेप में जिन धान्यों का हमें प्रयोग करना है, उन्हें हम उत्तमता से बोएँ। उनका सेचन भी सदा शुद्ध जल से करें। इससे उनमें सात्त्विक रस की उत्पत्ति होगी। अमेध्य—प्रभव ओषधियाँ शास्त्रों में अभक्ष्य मानी गई हैं। उनसे बुद्धि भी तामस् बनती है। उत्तम जल से सिक्त ओषधियों का सेवन करनेवाले गतिशील तथा मधुर स्वभाववाले होंगे। 'जगतीभिः' विशेषण क्रियाशीलता व निरालस्यता का संकेत करता है तो 'मधुमतीभिः' विशेषण माधुर्य का प्रतिपादक है। एवं, सात्त्विक ओषधियाँ हमें क्रियामय व मधुर स्वभाववाला बनाती हैं।

भावार्थ—शुद्ध जलों से जिनमें रस का सञ्चार हुआ है, उन ओषधियों के प्रयोग से हम अपने शरीर व मानस मलों को दूर करके अत्यन्त क्रियाशील व मधुर जीवनवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः क, अग्निसवितारौ र। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् क, गायत्री र।
स्वरः—धैवतः क, षड्जः र॥

वर्षिष्ठ अधिनाक में, सर्वोत्तम स्वर्ग में

कजनयत्यै त्वा सँयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके॥ २२॥

हम अपने गृहस्थ को स्वर्ग कैसे बना सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देखिए—पत्नी पति से कहती है—१. **त्वा जनयत्यै संयौमि**=एक उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए मैं आपके साथ मेल करती हूँ, 'जनयती' बनने के लिए। वस्तुतः गृहस्थ में

प्रवेश का मुख्य प्रयोजन उत्तम सन्तान का निर्माण है। पति-पत्नी परस्पर विलास के लिए एकत्र नहीं होते। २. इस मेल का परिणाम जो (अपत्यम्) सन्तान है **इदम्**=यह **अग्नेः**=अग्नि नामक प्रभु का ही है, वह हमारा नहीं है। पति-पत्नी को इस पवित्र भावना से चलना और सन्तान को प्रभु का ही समझना चाहिए। ३. **इदम्**=यह सन्तान **अग्नीषोमयोः**= अग्नि और सोमतत्त्व का है। इसमें 'अग्नि' तत्त्व भी है और 'सोम' तत्त्व भी। पिता से इसने अग्नितत्त्व प्राप्त किया है तो माता से सोमतत्त्व। जीवन का रस इन दोनों तत्त्वों के मेल पर ही निर्भर है। ४. **इषे त्वा**=अन्न-प्राप्ति के लिए मैं आपका ध्यान करती हूँ। अन्न के बिना घर के किसी भी कार्य का चलना सम्भव नहीं है। ५. **घर्मः असि**=इस उत्तम अन्न के सेवन से तू प्राणशक्ति को प्राप्त हुआ है (घर्मः सोमः), तू शक्ति का पुञ्ज बना है। ६. **विश्वायुः**=तू पूर्ण आयुवाला है—व्यापक जीवनवाला है। तूने अपने जीवन में शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों की उन्नति का सम्पादन किया है।

७. **उरुप्रथाः**=तू खूब विस्तारवाला बना है (प्रथ विस्तारे), **उरु प्रथस्व**=तू खूब विस्तार को प्राप्त हो। तू जहाँ अपनी सब शक्तियों का विस्तार करे वहाँ तेरा हृदय भी विशाल हो। ८. **यज्ञपतिः**=सब यज्ञों का रक्षक प्रभु **ते**=तेरी सब शक्तियों को **उरु प्रथताम्**=खूब विस्तृत करे, अर्थात् तेरा जीवन भी यज्ञमय हो, यज्ञ के द्वारा ही शक्तियों का विस्तार होता है। ९. इन सबसे बढ़कर बात यह है कि **अग्निः**= वह परमात्मा **ते त्वचम्**=तेरे सम्पर्क को **मा हिंसीत्**=नष्ट न करे, अर्थात् प्रभु के साथ तेरा सम्पर्क सदा बना रहे। इस प्रभु-सम्पर्क ने ही उपर्युक्त सब बातों को हमारे जीवन में लाना है। १०. **सविता देवः**= सबका प्रेरक देव **त्वा**=तुझे **श्रपयतु**=परिपक्व बनाए। तेरी शारीरिक, मानस व बौद्धिक शक्तियों का ठीक विकास हो। इनके ठीक परिपाक के द्वारा वे प्रभु तुझे **वर्षिष्ठे अधिनाके**=सर्वोत्तम स्वर्ग में स्थापित करे।

घर को स्वर्ग बनाने के लिए निम्न बातें अत्यन्त आवश्यक हैं—१. गृहस्थ को सन्तान-निर्माण का आश्रम समझा जाए। २. सन्तानों को हम प्रभु की धरोहर समझें। ३. सन्तानों में शक्ति (अग्नि) व शान्ति (सोम) के विकास का प्रयत्न करें। ४. घर में अन्न की कमी न होने दें। ५. अपनी शक्तियों को क्षीण न होने दें। ६. शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों का ठीक विकास करें। ७. 'विस्तार' हमारा आदर्श शब्द हो—हम हृदय को विशाल बनाएँ। ८. यज्ञों को हम शक्ति-विस्तार का साधन समझें। ९. प्रभु-सम्पर्क से हम कभी अलग न हों। १०. प्रभुकृपा से हमारा ठीक परिपाक हो।

भावार्थ—हम अपने घरों को स्वर्ग बनाने के लिए मन्त्रोक्त दस बातों को अपने जीवन में ढालें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अभय, अनुद्वेग

मा भेर्मा संविक्था॒ऽअत॑मेरुर्य॒ज्ञो॒ऽत॑मेरु॒र्यज॑मानस्य प्र॒जा भू॑यात् त्रि॒ताय॑ त्वा द्वि॒ताय॑ त्वैक॒ताय॑ त्वा॥ २३॥

पिछले मन्त्र में वर्णित वह व्यक्ति जिसका सवितादेव के द्वारा ठीक परिपाक होता है, सदा निर्भय होता है। उसमें दैवी सम्पत्ति का विकास होता है, जिसका प्रारम्भ 'अभयम्' से होता है, अतः कहते हैं कि १. **मा भेः** =तू डर मत। वस्तुतः जो प्रभु का भय रखता

है, वह संसार में अभय होकर विचरता है। प्रभु से न डरनेवाला सभी से डरता है और प्रभु से डरनेवाला निडर रहता है। **मा संविक्था:**=(विज् भय-चलन) तू उद्वेग से कम्पित मत हो। ठीक मार्ग पर चलनेवाले को किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता। २. **यज्ञ:**=तेरा यज्ञ **अतमेरु:**=कभी श्रान्त होनेवाला न हो, अर्थात् तेरी यज्ञीय भावना सदा क्रियामय बनी रहे। ३. उस **यजमानस्य**=सृष्टि-यज्ञ को रचनेवाले प्रभु की **प्रजा**=सन्तान **अतमेरु: भूयात्**=उत्तम कर्मों के करने में थक न जाए। जो व्यक्ति प्रभु के बने रहते हैं, वे थकते नहीं। प्रकृति के उपासक थक जाते हैं। वह विलासमय जीवन के कारण क्षीणशक्ति हो जाते हैं।

प्रभु कहते हैं कि मैं **त्वा**=तुझे **त्रिताय**=(त्रीन् तनोति) ज्ञान, कर्म व भक्ति के विस्तार के लिए प्रेरित करता हूँ और क्योंकि ज्ञानपूर्वक कर्म करने को ही भक्ति कहते हैं, अत: **द्विताय त्वा**=तुझे इन ज्ञान और कर्म का ही विस्तार करने के लिए कहता हूँ। आवश्यक कर्मों की प्रेरणा का आधार ज्ञान ही है, अत: **एकताय त्वा**=मैं तुझे ज्ञान के विस्तार के लिए प्रेरणा देता हूँ। **क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ:**=ब्रह्मज्ञानियों में क्रियावान् ही श्रेष्ठ होता है।

भावार्थ—हम अभय व निरुद्वेग हों। हमारा यज्ञ विश्रान्त न हो। हम आलसी न बनें। हम ज्ञान-कर्म व भक्ति तीनों के विस्तारक बनें। ज्ञानपूर्वक कर्म को ही भक्ति मानें। ज्ञान वही है जो हमें क्रियावान् बनाए।

ऋषि:—परमेष्ठी प्रजापति:। देवता—द्योविद्युतौ। छन्द:—स्वराड्ब्राह्मीपंक्ति:। स्वर:—पञ्चम:॥

प्रभु का दाँया हाथ

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यऽइन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः॥ २४॥

१. (क) मैं **त्वा**=तुझे (प्रत्येक पदार्थ को) **सवितु: देवस्य**=उस प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु की आज्ञा यही है कि 'माप-तोलकर' भोग कर। न अतियोग, न अयोग, अपितु यथायोग सेवन कर। (ख) **अश्विनो: बाहुभ्याम्**=प्राणापानों के प्रयत्न से, अर्थात् मैं प्रत्येक वस्तु को अपने पुरुषार्थ से कमाकर ग्रहण करता हूँ, किसी वस्तु को सेंतमेंत (बिना मूल्य) लेने की कामना नहीं करता। (ग) **पूष्णो: हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं किसी भी वस्तु का प्रयोग करता हूँ। (घ) **देवेभ्य: अध्वरकृतम्**=देवताओं के लिए यज्ञ में अर्पित की गई वस्तु के यज्ञशेष को ही मैं ग्रहण करता हूँ। **तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव स:।** जो देवताओं से दी गई वस्तुओं को बिना देवों को दिये खाता है, वह चोर ही है। सारे पदार्थ 'सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु' आदि देवों की कृपा से हमें प्राप्त होते हैं। इन देवप्रदत्त पदार्थों को यज्ञ द्वारा देवार्पण करके ही बचे हुए को खाना चाहिए। **'त्यक्त्येन भुञ्जीथा:'** की भावना यही तो है। २. जो व्यक्ति उल्लिखित चार बातों का ध्यान रखते हुए सांसारिक पदार्थों को स्वीकार करता है, वह **इन्द्रस्य**=शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभु का **दक्षिण: बाहु:**=दाँया हाथ **असि**=बनता है, अर्थात् प्रभु उसे निमित्त बनाकर उत्तमोत्तम कार्य किया करते हैं। ये व्यक्ति अत्यन्त महान् कार्यों को करते हुए दीखते हैं, हमें ये सामान्य पुरुष न लगकर महामानव प्रतीत होने लगते हैं।

३. **सहस्त्रभृष्टिः**=यह व्यक्ति कार्यों में उपस्थित होनेवाले सहस्त्रों विघ्नों को नष्ट करनेवाला होता है—उन्हें भून डालनेवाला होता है। ४. **शततेजाः**=इसका जीवन सौ–के–सौ वर्ष तेजस्वी बना रहता है। भोग–मार्ग को न अपनाने से यह कभी क्षीणशक्तिवाला नहीं होता। ५. **वायुः असि**=यह वायु की भाँति निरन्तर क्रियाशील होता है 'वा गतिगन्धनयोः'। यह अपनी क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला होता है। ६. **तिग्मतेजाः**=यह प्रखर–तीव्र तेज का धारण करनेवाला होता है, इस तेजस्विता के कारण ही तो यह सब विघ्नरूप अन्धकारों को नष्ट करता हुआ अपने मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है। इस तेजस्विता से ही यह ७. **द्विषतो वधः**=शत्रु का वध करनेवाला होता है। द्वेषरूप शत्रु ही सर्वमहान् शत्रु है और तेजस्विता के साथ इसका समानाधिकरण्य (एक स्थान पर रहना) कभी नहीं होता। जहाँ तेजस्विता है वहाँ द्वेष नहीं, जैसे जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं। इसलिए 'शत–तेजाः' व 'तिग्मतेजाः' यह द्वेष को अपने से दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करके वस्तुओं का ठीक प्रयोग करें, और 'प्रभु का दाहिना हाथ' बनने का प्रयत्न करें, परिणामतः हममें वह तेज आएगा जिसमें द्वेष आदि का सब कूड़ा–करकट भस्म हो जाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सत्सङ्ग का माहात्म्य

पृथिविं देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ २५॥

१. संसार की वस्तुओं का प्रयोग स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर करना ही श्रेयस्कर है। इस स्थिति में पर–मांस से स्वमांस के संवर्धन का प्रश्न ही नहीं उठता और वनस्पतियों में भी जीव है, अतः उनके 'पत्रम्, पुष्पम्, फलम्' का प्रयोग हो सकता है, क्योंकि ये हमारे नख–लोमों की भाँति वनस्पतियों के मल हैं। उनके मूल की हिंसा तो हिंसा ही हो जाएगी, अतः भक्त प्रार्थना करता है—हे **देवयजनि पृथिवि**=देवताओं के यज्ञ करने की आधारभूत पृथिवि! मैं **ते**=तेरी **ओषध्याः**=इन ओषधियों के भी **मूलम्**=मूल को **मा हिंसिषम्**=हिंसित न करूँ। हाँ, जिस प्रकार मृत पशु के चमड़े आदि का प्रयोग निषिद्ध नहीं है, उसी प्रकार मृत वनस्पतियों के भी जड़–त्वगादि का ओषधियों में प्रयोग हो सकता है। २. 'इस ऊँचे दर्जे की अहिंसा की भावना हममें उत्पन्न हो सके' इसके लिए कहते हैं कि (क) **व्रजम्=(व्रजन्ति जानन्ति जना येन तम् सत्सङ्गम्)** जिससे मनुष्यों के ज्ञान का वर्धन होता है, उस सत्सङ्ग को **गच्छ**=तुम प्राप्त करो। उस सत्सङ्ग को जो **गोष्ठानम्**=(गौर्वाणी तिष्ठति यस्मिन्) वेदवाणी का प्रतिष्ठा स्थान है, जिसमें सदा ज्ञान की वाणियों का प्रचार होता है, (ख) इन सत्सङ्गों में **द्यौः**=विद्या का प्रकाश **ते**=तेरे लिए वर्षतु (शब्दविद्याया वृष्टिं करोतु) ज्ञान की वर्षा करे। हम सत्सङ्गों में जाएँ और इस ज्ञान की वर्षा से आध्यात्मिक सन्ताप को दूर करके शान्ति का लाभ करें।

३. अब प्रार्थना करते हैं कि (क) हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें इस **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की आधारभूत उत्कृष्ट भूमि में—पृथिवी के प्रदेश में **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से **बधान**=बाँधने की कृपा कीजिए।

हमारी सत्सङ्ग की रुचि बनी ही रहे। हमारी परिस्थिति ऐसी हो कि न चाहते हुए भी हमें सत्सङ्ग में जाना ही पड़े। 'माता-पिता की आज्ञा, अपने अध्यक्ष का आदेश, प्रधान या मन्त्री आदि पदों का बन्धन' और इसी प्रकार की शतशः बातें हमें सत्सङ्ग में पहुँचने के लिए कारण बनती रहें। हे प्रभो! बस, आप ऐसी ही व्यवस्था कीजिए कि **'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्'** जिससे हमारे सभी लोग उत्तम सत्संगति से सदा उत्तम मनोंवाले बने रहें। (ख) हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो एक व्यक्ति हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और परिणामतः **यं वयं द्विष्मः**=जिसे हम अप्रिय समझते हैं **तम्**=उसे भी **अतः**=इस उपदेश से **मा मौक्**=रहित मत कीजिए। वह भी सत्सङ्गों में होनेवाले इन उपदेशों से वञ्चित न हो। सत्सङ्गों से वह भी पवित्र मनवाला होकर द्वेषादि मलों से रहित हो जाए।

भावार्थ—हम इस पृथिवी को यज्ञ करने का स्थान समझें। हम वनस्पति की भी हिंसा करनेवाले न हों। सत्सङ्ग हमपर ज्ञान की वर्षा करे। हमें सत्सङ्ग में अवश्य जाएँ, इनसे तो हमारा शत्रु भी वञ्चित न हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीपंक्तिः[क], भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिः[र]।
स्वरः—पञ्चमः॥

अदानवृत्ति का दूरीकरण

[क]अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳪ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्। [र]अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳪ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ २६॥

१. सब यज्ञ दानशीलता से चलते हैं, अतः हम अदानशीलता को दूर करते हैं। सत्सङ्गति से जहाँ सुमनस्त्व की प्राप्ति की प्रार्थना है, वहाँ साथ ही **'दानकामश्च नो भुवत्'**, अथर्ववेद के इन शब्दों में यही कहा गया है कि हमारे सब व्यक्ति देने की इच्छावाले—इच्छापूर्वक दान देनेवाले हों। यजुर्वेद के शब्दों में **'आशीर्दा'** खूब उत्साह से, इच्छापूर्वक, दिल खोलकर देनेवाले हों और **अररुम्**=न देनेवाले को, कृपण मनोवृत्तिवाले को **पृथिव्यै**=इस पृथिवी पर (पृथिव्यां, ङि=ङे) होनेवाले **देवयजनात्**=देवों द्वारा किये जानेवाले यज्ञकर्मों से—सब भद्र पुरुषों के सामाजिक उत्सवों से **अपवध्यासम्**=दूर करता हूँ (हन् गति)। एक प्रकार से इनका सामाजिक बहिष्कार (Social boycott) करता हूँ। यह सामाजिक बहिष्कार सम्भवतः इनकी इस अदानवृत्ति को दूर करने में सहायक हो। सामाजिक बहिष्कार से भयभीत हुआ वह **व्रजं गच्छ**=सत्सङ्ग में जाए, जो सत्सङ्ग **गोष्ठानम्**=वेदवाणियों के प्रचार का स्थान बनता है। वहाँ सत्सङ्ग में **ते**=तेरे लिए **द्यौः**=ज्ञान का प्रकाश **वर्षतु**=ज्ञान की वर्षा करे। **देव सवितः**=हे प्रेरक देव! **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से आप इस **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की उत्कृष्ट भूमि में **बधान**=हमें बाँध दीजिए। हमें ही क्या, इस अदानशील पुरुष को भी **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो हमसे प्रीति नहीं करता और परिणामतः **यम्**=जिसे **वयम् द्विष्मः**=हम भी नहीं चाहते **तम्**=उस कृपण को भी **अतः**=इस ज्ञानोपदेश से **मा मौक्**=दूर मत कीजिए।

२. **अररुः**=न देनेवाला **दिवम्**=स्वर्ग को **मा पप्तः**=(पत् गतौ) प्राप्त न हो। अदानशील को स्वर्ग कभी नहीं मिलता। इसका इहलोह नरक ही बना रहता है। दान ही यज्ञ की चरम सीमा है। यह दानरूप यज्ञ हमारे इस लोक को भी सुखी बनाता है और परलोक को भी। जो व्यक्ति दानशील बना रहता है, वह भोगप्रवण नहीं होता। भोगप्रवण न होने से उसके शरीर में सोमकण (द्रप्सः=drops of soma) सुरक्षित रहते हैं। ये सुरक्षित सोमकण इसकी ज्ञानाग्नि के ईंधन बनते हैं। इसका ज्ञान-सरोवर इन सोम-कणों की सुरक्षा से सूखता नहीं। बस, इस बात का ध्यान करते हुए सदा दिल खोलकर देनेवाला बनना। तेरी वृत्ति भोगवृत्ति न हो जाए और **द्रप्सः**=ये सुरक्षित सोमकण **ते**=तेरे **द्याम्**=इस मस्तिष्करूप द्युलोक को **मा स्कन्**=(स्कन्दिर्=गतिशोषणयोः) सूखने न दें। तेरा ज्ञान-समुद्र सदा ज्ञान-जल से परिपूर्ण रहे। इसके लिए तू **व्रजं गच्छ**=सत्सङ्ग को प्राप्त कर, उस सत्सङ्ग को जोकि **गोष्ठानम्**=वेदवाणियों का स्थान है। यहाँ **द्यौः**=यह विद्याप्रकाश **ते**=तेरे लिए **वर्षतु**=ज्ञान की वर्षा करे। तेरी प्रार्थना यह हो कि हे **सवितः देव**=प्रेरक प्रभो! हमें **शतेन पाशैः**=सैकड़ों बन्धनों से **परमस्यां पृथिव्याम्**=सत्सङ्ग की इस उत्कृष्ट स्थली में **बधान**=बाँधिए। हमें ही क्या, **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमसे द्वेष करता है **च**=और **यं वयं द्विष्मः**=जो हमारा अप्रिय बन गया है **तम्**=उसे भी **अतः**=इन सत्सङ्गों में होनेवाले उपदेशों से **मा मौक्**=मत वञ्चित कीजिए। हमारे शत्रुओं को भी इन सत्सङ्गों का सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे वे वहाँ बरसनेवाले ज्ञान-जल से निर्मल होकर शत्रु ही न रहें और वे यज्ञों के महत्त्व को समझकर दानशील बन जाएँ।

भावार्थ—कृपण का सामाजिक बहिष्कार करके उसकी अदानवृत्ति को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे यह समझाना चाहिए कि अदानवृत्ति का परिणाम नरक है, स्वर्ग तो यज्ञिय वृत्ति से ही बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

घर को स्वर्ग बनाना

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च॥ २७॥

'हम इस संसार में किसी भी वस्तु को स्वीकार करें तो किस दृष्टिकोण से'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं १. हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा के दृष्टिकोण से, प्राणों की रक्षा की इच्छा से (छन्दः=अभिप्रायः) **परिगृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। (क) हम घर ऐसा बनाएँ जो प्राणशक्ति की वृद्धि के विचार से उत्तम हो, जिसमें सूर्य की किरणों का प्रवेश खूब होता हो, जहाँ वायु का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता हो। (ख) घर में उन्हीं खाद्य पदार्थों को जुटाएँ जो प्राणशक्ति के पोषक हों। (ग) उन्हीं क्रियाओं को करें जो प्राणशक्ति का ह्रास करनेवाली न हों। (घ) घरों में इस प्रकार से सत्सङ्ग आदि की व्यवस्था करें, जिससे सबकी मनोवृत्तियाँ उत्तम बनें और सभी लोग प्राणशक्ति-सम्पन्न बने रहें। २. **त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा परिगृह्णामि**=हे पदार्थ! मैं तुझे त्रैष्टुभ छन्द से ग्रहण करता हूँ। इस इच्छा (छन्द) से ग्रहण करता हूँ कि मेरे त्रिविध तापों—आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति (स्तुभ =to stop) हो।

अथवा मैं इस इच्छा से तेरा ग्रहण करता हूँ कि मेरे घर में त्रि=तीनों—प्रकृति, जीव व परमात्मा का **स्तुभ**=स्तवन चले, प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का विचार ठीक प्रकार से हो।

३. **त्वा जागतेन छन्दसा परिगृह्णामि**=हे पदार्थ! मैं तुझे जगती के हित की इच्छा से ग्रहण करता हूँ। प्रत्येक पदार्थ के ग्रहण में यह दृष्टिकोण बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि इस पदार्थ के ग्रहण से मैं लोकहित के लिए अधिक क्षम=समर्थ बन पाऊँ। भोजन ऐसा हो जो मुझे पूर्ण स्वस्थ बनाए, जिससे मैं दीर्घजीवी बनकर देर तक लोकसंग्रहात्मक कर्मों में लगा रहूँ। ४. जब मेरा दृष्टिकोण 'गायत्र, त्रैष्टुभ व जागत' होगा तब मैं अपनी शाला=घर के विषय में कह सकूँगा कि (क) **सु-क्ष्मा च असि**=तू उत्तम निवास के योग्य है (क्षि निवास)। (ख) **शिवा चासि**=तू कल्याणरूप है, (ग) **स्योना च असि**=सुख देनेवाली है, (घ) **सुषदा च असि**=(सु+सद् =बैठना) सब लोगों के लिए उत्तमता से बैठने के योग्य है, (ङ) **ऊर्जस्वती च असि**=बल व प्राणशक्ति से सम्पन्न है (ऊर्ज बलप्राणनयोः), (च) **पयस्वती च**=(ओप्यायी वृद्धौ) तू सब प्रकार से आप्यायन व वर्धन करनेवाली है।

भावार्थ—संसार में प्रत्येक क्रिया में हमारा दृष्टिकोण 'प्राणशक्ति की रक्षा, त्रिविधताप-निवृत्ति व लोकहित' हो। ऐसा होगा तो हमारे घर उत्तम निवास योग्य, मङ्गलमय, सुखद, लोगों से बैठने योग्य, बल-प्राणशक्ति-सम्पन्न व सब प्रकार से वर्धन के कारण होंगे।

सूचना—ऊर्क् का अर्थ रस लें और 'पयस्' का अर्थ दूध करें तो अर्थ होगा कि हमारे घर अन्न-रसों व दूध से भरपूर हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीपंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रोक्षणी का आसादन—पृथिवी की चन्द्र में स्थिति, युद्धों से विरक्ति

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्। यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्ते। प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि॥ २८॥

हमें अपना जीवन इसलिए यज्ञमय बनाना चाहिए कि युद्ध दूर हो सकें। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि १. **क्रूरस्य**=(कृन्तति अङ्गानि) जिसमें अङ्गों का छेदन-भेदन होता है, उस क्रूरता से पूर्ण युद्ध के **विसृपः**=(वि+सृप्) विशेषरूप से फैल जाने से **पुरा**=पहले ही हे **विरप्शिन्**=(वि+रप्) विशेषरूप से ज्ञान का उपदेश करनेवाले (विरप्शिन् इति महत् नाम—निघ० ३।३) विशाल हृदय पुरुष! **अयम्**=यह तू इस **जीवदानुम्**=जीवन के लिए आवश्यक सब पदार्थों को देनेवाली **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत् आदाय**=इस युद्ध से ऊपर उठाकर, अर्थात् युद्ध में न फँसने देकर **यामैः**=अपने प्रयत्नों से—विविध चेष्टाओं से **स्वधाभिः**=(स्वधा इति अन्ननाम—निघ० २।७) अन्नों की भरपूरता के द्वारा **चन्द्रमसि**=(चदि आह्लादे) प्रसन्नता में स्थापित कर। (चन्द्र=हिमांशु, सुधाकर, ओषधीश—Peace, pleasure and plenty)। चन्द्रमा शान्ति, सुख और भरपूरता का प्रतीक है। ज्ञान के उपदेष्टा को चाहिए कि वह इस पृथिवी को युद्धों में न फँसने देकर पूर्ण प्रयत्नों से शान्ति, सुख व भरपूरता में स्थापित करे। पृथिवी तो वस्तुतः अपने अन्नों से जीवन के लिए आवश्यक सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाली है। युद्धों के कारण स्थिति विषम हो जाती है और मँहगाई बढ़कर लोगों की परेशानी का कारण हो जाती है। २. इसलिए **धीरासः**=धीर, विद्वान् पुरुष **उ**=निश्चय से **ताम्** =शान्ति, सुख व समृद्धि-(peace, pleasure and plenty)-वाली पृथिवी को **अनुदिश्य**=लक्ष्य बनाकर **यजन्ते**=अपने जीवनों को यज्ञशील बनाते हैं। ये धीर पुरुष लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते

हैं। ये लोगों को ज्ञान के प्रकाश से प्रेम का पाठ पढ़ाकर उन्हें युद्धों से दूर रखते हैं। ३. वेद कहता है कि हे धीर पुरुष! तू **प्रोक्षणीः**=प्रकर्षेण ज्ञान का सेवन करनेवाली क्रियाओं को **आसादय**=ग्रहण कर। यज्ञिय चम्मच को तू पकड़। चम्मच से जैसे अग्नि में घी डाला जाता है, उसी प्रकार तू लोगों में ज्ञान की दीप्ति (घृत) का सेचन करनेवाला बन। तू **द्विषतः**=शत्रुओं का **वधः असि**=समाप्त करनेवाला है, द्वेष की भावनाओं को दूर करनेवाला है। तू अपनी ज्ञान की वर्षा से द्वेष की अग्नि को बुझाकर लोगों को प्रेम का पाठ पढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञानी लोग अपने जीवनों को यज्ञिय बनाकर लोगों को युद्धों से दूर रक्खें, उन्हें प्रेम का पाठ पढ़ाएँ, तभी यह पृथिवी चन्द्र में स्थित होगी—सुख, शान्ति व समृद्धि से पूर्ण होगी।

सूचना—'यामैरयँश्चन्द्रमसि' का सन्धि-छेद 'याम् ऐरयन् चन्द्रमसि' यह भी हो सकता है और तब अर्थ इस प्रकार होगा—**याम्** जिस पृथिवी को **चन्द्रमसि**=सुख, शान्ति व समृद्धि में **ऐरयन्**=प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'ऐरयन्' क्रिया का अध्याहार नहीं करना पड़ता।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—त्रिष्टुप्[क],[र]। स्वरः—धैवतः॥

'सपत्नक्षित्' पति-पत्नी

[क] प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः।
अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि।
[र] प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः।
अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि॥ २९॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में **सपत्नक्षित्**=सपत्नों (शत्रुओं) का नाश करनेवाले पति-पत्नी का उल्लेख है। जब एक पुरुष की कई पत्नियाँ हों तो वे परस्पर सपत्नियाँ कहलाती हैं। कोई भी पत्नी सपत्नी को नहीं चाहती। इसी प्रकार यदि पत्नी एक से अधिक पतियों को करने लगे तो वे परस्पर 'सपत्न' होंगे और कोई भी पति इन सपत्नों को नहीं सह सकता। पत्नी को चाहिए कि सपत्नों को न होने दे और पति को चाहिए कि वह सपत्नियों को न होने दे। दोनों के लिए यहाँ समान शब्द प्रयुक्त हुआ है कि वे 'सपत्नक्षित्' बनें। २. पति के लिए कहते हैं कि (क) प्रयत्न करो कि **रक्षः**=राक्षसी वृत्तियाँ **प्रत्युष्टम्**=एक-एक करके दग्ध हो जाएँ, (ख) **अरातयः प्रत्युष्टाः**=अदान वृत्तियाँ एक-एक करके भस्म हो जाएँ, (ग) **रक्षः**=ये राक्षसी वृत्तियाँ **निः-तप्तम्**=तपोमय जीवन के द्वारा निश्चय से दूर कर दी जाएँ, (घ) **अरातयः**=ये अदान की वृत्तियाँ भी **निःतप्ताः**=निश्चय से तप के द्वारा सन्तप्त करके नष्ट कर दी जाएँ, (ङ) **अनिशितः असि**=अपने व्यावहारिक जीवन में कभी तेज़ (निशित) नहीं होना। क्रोध के वशीभूत हो कभी तैश में नहीं आ जाना, पत्नी के साथ माधुर्य का ही व्यवहार रखना है। (च) **सपत्नक्षित्**=क्रोध व कटुता में आकर एक पत्नीव्रत का उल्लंघन नहीं करना। घर में सपत्नियों का प्रवेश न होने देना। (ज) **वाजिनं त्वा**=इस प्रकार संयत जीवन के द्वारा शक्तिशाली बने हुए तुझे **वाजेध्यायै**=शक्ति की दीप्ति के लिए **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध कर डालता हूँ। एक पत्नीव्रत से शक्ति का दीपन होता है।

३. इस प्रकार पति के लिए कहकर यही सारी बात पत्नी के लिए कहते हैं कि (क) **प्रत्युष्टं रक्षः**=तेरे राक्षसी भाव एक-एक करके दग्ध हो जाएँ, (ख) **अरातयः**=अदान की वृत्तियाँ भी **प्रत्युष्टाः**=एक-एक करके नष्ट हों। (ग) **रक्षः**=राक्षसी भाव **निष्टप्तम्**=तप के द्वारा दूर कर दिये जाएँ, (घ) **अरातयः**=अदान वृत्तियाँ भी **निःतप्ताः**=निश्चय से सन्तप्त करके दूर कर दी जाएँ, (ङ) **अनिशिता असि**=तू कभी तेज़ नहीं होती, क्रोध में नहीं आ जाती, (च) **सपत्नक्षित्**=तू पतिव्रतधर्म का पालन करते हुए पति के अतिरिक्त पुरुष को उसका सपत्न नहीं बनाती, (छ) **वाजिनीं त्वा**=एक पतिव्रतधर्म के पालन से संयमी जीवन के कारण शक्तिशलिनी तुझे **वाजेध्यायै**=शक्ति की दीप्ति के लिए **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध करता हूँ, तेरे जीवन को वासनाओं से रहित करता हूँ। वासनाशून्य जीवन ही तो शक्तिशाली होने से जीवन है। वासनाओं का शिकार हो जाना मृत्यु है।

भावार्थ—पति-पत्नी दोनों ही सपत्नक्षित् बनें, कभी तैश में न आएँ तभी घर स्वर्ग बनेगा।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

मे भव—मेरे बनो

अदि॑त्यै रास्ना॑सि॒ विष्णो॑र्वे॒ष्पो॑स्यू॒र्जे त्वाऽद॑ब्धेन॒ त्वा॒ चक्षु॒षाव॑पश्यामि। अ॒ग्नेर्जि॒ह्वासि॑ सु॒हूर्दे॒वेभ्यो॒ धाम्ने॑धाम्ने मे भ॒व यजु॑षेयजुषे॥ ३०॥

१. हे उन्नतिशील जीव! **अदित्यै**=अदिति के लिए—अखण्डन की देवता के लिए तू **रास्ना**=मेखला **असि**=है। 'अदिति' अखण्डन की देवता है, किसी भी अङ्ग व शक्ति का खण्डित न होना, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ होना। स्वास्थ्य के लिए मनुष्य का कटिबद्ध होना आवश्यक है। इस स्वास्थ्य पर ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये सब पुरुषार्थ निर्भर हैं। यास्काचार्य ने 'अदिति' का अर्थ 'अदीना देवमाता' किया है, अतः तू अदीनता व दिव्य गुणों के निर्माण के लिए कटिबद्ध है। तू निश्चय करता है कि (क) मैं स्वस्थ बनूँगा, (ख) अदीन बनूँगा, (ग) अपने में दिव्य गुणों के निर्माण का प्रयत्न करूँगा। २. अब स्वस्थ, अदीन व दिव्य जीवनवाला बनकर तू **विष्णवे**=यज्ञ का (यज्ञो वै विष्णुः) **वेष्पः**=अपने में व्यापन करनेवाला **असि**=बना है। तूने अपने में यज्ञिय भावना का पोषण किया है। इस यज्ञ के द्वारा ही तो तुझे यज्ञात्मक प्रभु का उपासन करना है। ३. **ऊर्जे त्वा**=मैं तुझे बल और शक्ति के लिए प्राप्त करता हूँ। ४. **अदब्धेन त्वा चक्षुषा अवपश्यामि**=मैं अहिंसित आँख से तुझे देखता हूँ (नक्ष् to look after)। मैं निरन्तर तेरा ध्यान करता हूँ। वस्तुतः जो भी व्यक्ति अध्यात्म उन्नति के मार्ग पर चलता हुआ लोकहित में प्रवृत्त होता है, प्रभु उसका ध्यान करते हैं **'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'**। ५. तू **अग्नेः**=उस सम्पूर्ण प्रकाश के अधिपति प्रभु की **जिह्वा असि**=जिह्वा=वाणी बना है। प्रभु के सन्देश को सर्वत्र फैलाना तेरा ध्येय है। **सु-हूः**=इस कार्य में तू अपनी उत्तम आहुति देनेवाला हुआ है, अर्थात् तू बड़ी मधुरता से प्रजाओं में प्रभु के सन्देश को पहुँचाने के कार्य में लगा है।

यह प्रभु का सन्देशवाहक अब प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **मे भव**=आप मेरे हो जाइए, अर्थात् मैं सदा आपका बनकर रहूँ, मैं प्रकृति में न फँस जाऊँ। **धाम्ने-धाम्ने**=मैं एक-एक शक्ति को प्राप्त करने में समर्थ बनूँ। **यजुषे-यजुषे**=मैं प्रत्येक कर्म को यज्ञात्मक बना पाऊँ—मेरा प्रत्येक कर्म यज्ञरूप हो। मैं यज्ञ ही बन जाऊँ। **देवेभ्यः**=दिव्य

गुणों की प्राप्ति के लिए मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरे हों—मैं सदा आपका बना रहूँ। प्रभु को अपनाने से जहाँ हमारी शक्तियों में वृद्धि होती है वहाँ प्रत्येक कर्म यज्ञिय व पवित्र बनता है। प्रभु से दूर होने का परिणाम इससे विपरीत होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि प्रभु को अपना सकें। इससे हमारी शक्तियों की वृद्धि होगी और हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञमय बनेगा। हम अन्याय से अर्थ-सञ्चय की ओर नहीं झुकेंगे।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—जगती[क], अनुष्टुप्[र]। स्वरः—निषादः[क], गान्धारः[र]।।

अनाधृष्ट देवयजन—हवा-धूप

[क]सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। [र]तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि॥ ३१॥

१. **सवितुः**=उस उत्पादक प्रभु के **प्रसवे**=इस उत्पन्न जगत् में **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छिद्ररहित (gap से शून्य) अथवा निर्दोष वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों से **त्वा**=तुझे **उत्पुनामि**=सब मलों व रोगों से ऊपर उठाकर (उत्=out) पवित्र करता हूँ। 'खुली हवा' और 'सूर्य की किरणें'—ये स्वास्थ्य के मूलमन्त्र हैं। २. तुझे ही क्यों? **वः**=तुम सबको **सवितुः प्रसवे**=उस उत्पादक प्रभु के इस जगत् में **उत्पुनामि** =सब मलों से ऊपर उठाकर पवित्र करता हूँ। (क) **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=इस निर्दोष वायु से और (ख) **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों द्वारा।

व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए समुदाय का स्वास्थ्य आवश्यक है। यदि मेरे चारों ओर के व्यक्ति अस्वस्थ होंगे तो उनके रोग-कृमियों का मुझपर भी आक्रमण होगा। मैं रोगों से बचा न रह सकूँगा। मैं स्वस्थ होऊँ, सब स्वस्थ हों, सारा वातावरण स्वास्थ्यमय हो।

३. इस स्वस्थ पुरुष को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **तेजो असि**=तू तेजस्वी है। स्वास्थ्य मनुष्य की तेजस्विता का कारण बनता ही है। ४. **शुक्रम् असि**=तू वीर्यवान् है। अथवा (शुक् गतौ) तू क्रियाशील है। ५. **अमृतम् असि**=तू अमृत है। तू रोगरूप मृत्युओं का शिकार नहीं होता। ६. **धाम असि**=तू तेज का पुञ्ज है, परन्तु साथ ही **नाम**=विनम्र स्वभाव है, तेरी शक्ति विनय से सुभूषित है। ७. इस प्रकार **देवानां प्रियम्**=देवताओं का प्रिय है। दिव्य गुणों का तू निवास-स्थान है। ८. **अनाधृष्टम्**=धर्षित न होनेवाला **देवयजनम् असि**=तू देवों के यज्ञ को करनेवाला है, अर्थात् तू निरन्तर देवयज्ञ करता है, तेरा अग्निहोत्र अविच्छिन्न रहता है। 'सब पदार्थों को ये देव ही तो तुझे प्राप्त कराते हैं' इस भावना को न भूलते हुए तू इन सब पदार्थों को देवों के लिए देकर सदा यज्ञशेष को ही खानेवाला बनता है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'अनाधृष्ट, देवयजन'—निरन्तर चलनेवाले अग्निहोत्रवाला हो। हम यह न भूलें कि 'देवऋण' से अनृण होने के लिए यह अग्निहोत्र एक जरामर्य सत्र है। इससे हम अत्यन्त वार्धक्य व मृत्यु होने पर ही मुक्त होंगे।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्नि-बर्हि-स्रुक्

कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ १॥

१. **कृष्णः असि**=तू आकर्षक जीवनवाला है। पिछले अध्याय में कहा था कि 'तू खुली वायु और धूप' के सेवन से पूर्ण स्वस्थ है। तेजस्वी, क्रियाशील, नीरोग, शक्तिशाली परन्तु नम्र, देवताओं का प्रिय और अविच्छिन्न अग्निहोत्री है। वस्तुतः ऐसा जीवन ही जीवन है। ऐसे जीवनवाला सबको अपनी ओर आकृष्ट करेगा ही। २. **आखरेष्ठः**=(आ+ख+र+स्थ) समन्तात् विद्यमान—आकाश में गति व प्राप्तिवाले प्रभु में तू स्थित है। वस्तुतः सर्वव्यापक प्रभु में स्थित होने से ही इसका जीवन सुन्दर बनता है। ३. **अग्नये जुष्टम्**=अग्नि का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले—प्रभु का तन्मयता से उपासन करनेवाले **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=(प्र+उक्षामि) आनन्द से सिक्त करता हूँ। प्रभु के उपासक का जीवन आनन्दमय होता है। प्रभु में स्थिति के विषय में गीता में कहा है—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिँस्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।** जिसे प्राप्त करके उससे अधिक कोई लाभ प्रतीत नहीं होता और जिसमें स्थित हुआ-हुआ बड़े-से-बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता। ४. प्रभु की प्राप्ति से इसे सब-कुछ प्राप्त हो जाता है (सर्वं विन्दति)। सब-कुछ प्राप्त कर लेने से तू **वेदिः**=(विद् लाभे) लब्धा **असि**=है। ५. इस प्रभु-प्राप्ति के लिए ही **बर्हिषे**=वासना-शून्य हृदय के लिए (उद् बृह्=उखाड़ देना) जिस हृदय में से सब वासनाएँ नष्ट कर दी गई हैं, उस हृदय को **जुष्टाम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=आनन्दसिक्त करता हूँ। जो व्यक्ति हृदय को पवित्र बनाने में लगा है, वह उस हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखने से एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। ६. निरन्तर पवित्रता के प्रयत्न में लगा हुआ तू **बर्हिः**=वासना-शून्य हृदयवाला **असि**=बना है और अब जैसे चम्मच से अग्नि में घृत अर्पित किया जाता है, उसी प्रकार तू प्रजाओं में अपनी वाणी से ज्ञान का स्रवण करनेवाला बना है। इन **स्रुग्भ्यः**=ज्ञान प्रस्रवण की क्रियाओं में **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक लगे हुए **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं आनन्दसिक्त करता हूँ।

भावार्थ—हमारा जीवन तीन बातों में व्यतीत हो—हमारे मुख्य ध्येय ये तीन हों—१. **अग्नये**—प्रकाशमय अग्निनामक प्रभु की उपासना, २. हृदय में से वासनाओं को उखाड़ फेंकना (बर्हिषि) और ३. ज्ञान का प्रसार करना—प्रजारूप अग्नि में ज्ञानरूप घृत का प्रस्रवण करनेवाले चम्मच बनना। ये तीन बातें हमारे जीवन को आनन्द से सिक्त करनेवाली होंगी।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति

अदित्यै व्युन्दनमसि विष्णो स्तुपोऽस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यो भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानां पतये स्वाहा॥ २॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्रुग्भ्यः जुष्टम्' प्रजारूप अग्नि में ज्ञानस्रवण के कार्य में प्रीतिपूर्वक लगे हुए व्यक्ति के उल्लेख के साथ हुई है। 'यह व्यक्ति इस ज्ञानस्रवण=ज्ञान-प्रसार के कार्य में क्यों लगा है?' इस प्रश्न के उत्तर से प्रस्तुत मन्त्र का आरम्भ होता है। २. **अदित्यै**='स्वास्थ्य' के लिए अथवा 'अदीना देवमाता' के लिए, अर्थात् लोगों को 'स्वस्थ, अदीन व दिव्य गुण-सम्पन्न बनाने के लिए **व्युन्दनम्**=तू विशेषरूप से ज्ञान-जल से क्लिन्न (गीला) करनेवाला **असि**=है। तेरे ज्ञान-प्रसार के परिणामस्वरूप लोगों के जीवन स्वस्थ बनते हैं, उनके मनों में अदीनता की भावना उत्पन्न होती है और उनके जीवनों में दैवी सम्पत्ति का आप्यायन होता है। ३. तू **विष्णोः**=यज्ञ का **स्तुपः**=शिखर **असि**=है। यज्ञमय जीवनवालों का तू मूर्धन्य है। तेरा जीवन निरन्तर लोकहित में लगा है। ४. **ऊर्णम्रदसम्**=औरों के दोषों का आच्छादन नकि उद्घोषणा करनेवाले (ऊर्ण्=आच्छादने) अत्यन्त मृदु स्वभाव-वाले, परिणामतः मधुर शब्द ही बोलनेवाले **त्वा**=तुझे मैं **स्तृणामि** =आच्छादित करता हूँ। जैसे छत सर्दी-गर्मी, वर्षा व ओलों से बचाती है, इसी प्रकार मैं तुझे आसुर आक्रमणों से सुरक्षित करता हूँ। प्रचारक को औरों के दोषों की उद्घोषणा न करते रहना चाहिए। उसे अत्यन्त मृदुता व मधुरता से ही अपना प्रचार-कार्य करना चाहिए। इस प्रचारक की रक्षा प्रभु करते हैं। ५. इस प्रकार **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्वासस्थाम्**=(सु+आस उपवेशन स्था) उत्तम आश्रय का स्थान तुझे बनाता हूँ। तुझमें दिव्य गुणों का आधान करता हूँ।

६. **भुवपतये**=(भुवो अवकल्कने, अवकल्कनं चिन्तनम्) चिन्तन व विचार के पतिभूत तेरे लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्दों का उच्चारण किया जाता है (सु+आह)। **भुवनपतये**=भुवनों-लोकपदार्थों के पतिभूत तेरे लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं। तू चिन्तन व विचार के द्वारा शास्त्रीय ज्ञान का पति तो है ही, साथ ही तू ज्ञान के विषयभूत पदार्थों का भी पति है। तेरा ज्ञान केवल शास्त्रीय ज्ञान न होकर क्रियात्मक भी है। आगम व प्रयोग दोनों में निपुण होने से ही तेरी ज्ञान की वाणी लोगों पर विशेष प्रभाव रखती है। इस प्रकार **भूतानां पतये**=भूतों-प्राणियों की रक्षा करनेवाले तेरे लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्दों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—लोकहित के लिए ज्ञान का प्रसार आवश्यक है। हम भुवपति=शास्त्र-ज्ञान-निपुण तथा भुवनपति=पदार्थ-प्रयोग-ज्ञान-निपुण बनकर भूतपति=प्राणियों के रक्षक बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्चीत्रिष्टुप्[३], भुरिगार्चीपङ्क्तिः[क], पंङ्क्तिः[र]।
स्वरः—धैवतः[३], पञ्चमः[क,र]॥

यजमानस्य परिधिः (प्रभुरूप केन्द्रवाला)

[३]गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [क]इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [र]मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः॥ ३॥

१. पिछला मन्त्र 'भूतानां पतये' शब्द पर समाप्त हुआ था। मनुष्यों को अपने जीवन का लक्ष्य 'प्राणियों का रक्षक व पालक बनना', रखना चाहिए। जो व्यक्ति जीवन का यह ध्येय बनाता है, प्रभु उसकी रक्षा करते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि वह **गन्धर्वः**=(गां वेदवाचं धारयति) वेदवाणी का धारक **विश्वावसुः**=सबको निवास देनेवाला प्रभु **त्वा**=तेरा **परिदधातु**=

धारण करे। जो लोगों का धारण करता है, प्रभु उसका धारण करते हैं। प्रभु इसका धारण इसलिए करते हैं कि **विश्वस्य अरिष्ट्यै**=सबकी अहिंसा के लिए यह प्रवृत्त हुआ है। लोककल्याण में प्रवृत्त मनुष्य की रक्षा के द्वारा प्रभु लोककल्याण करते हैं। यह यज्ञमय जीवनवाला व्यक्ति **यजमानस्य**=सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक प्रभु की **परिधिः असि**=परिधि (circumference) होता है, अर्थात् प्रभु इसके जीवन का केन्द्र होते हैं। इसकी सारी क्रियाएँ प्रभु के चारों ओर घूमती हैं। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते यह प्रभु को कभी भूलता नहीं। ३. **अग्निः**=प्रभु को केन्द्र बनाकर चलने से यह निरन्तर आगे बढ़ता चलता है। इस अग्रगति के कारण यह 'अग्नि' है। ४. **इडः**=(इडा अस्य अस्ति) यह वेद-ज्ञानवाला होता है (इडा=A law) अथवा यह जीवन में एक नियमवाला होता है। इसका जीवन नियमित बन जाता है। ५. **ईडितः**=इसी कारण यह (ईड स्तुतौ) लोगों के द्वारा स्तुत होता है अथवा (ईडितमस्यास्तीति) यह अपने जीवन में प्रभु-स्तवनवाला होता है। ६. **इन्द्रस्य**= उस प्रभु का **दक्षिणः बाहुः असि**=यह दाहिना हाथ है, **विश्वस्य अरिष्ट्यै**=लोक की अहिंसा के लिए प्रभु से की जानेवाली क्रियाओं में यह उन क्रियाओं का माध्यम बनता है। **यजमानस्य**= सृष्टियज्ञ के प्रवर्तक प्रभु की यह **परिधिः असि**=परिधि है, अर्थात् तेरी सब क्रियाओं के केन्द्र प्रभु होते हैं। **अग्निः**=यह आगे बढ़नेवाला है, **इडः**=वेदवाणीवाला है, अथवा जीवन में एक नियमवाला है। **ईडितः**=तू स्तुत्य होता है अथवा तू निरन्तर प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। ७. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान अथवा स्नेह की देवता मित्र और द्वेष-निवारण की देवता वरुण **त्वा**=तुझे **उत्तरतः परिधत्ताम्**=उत्कृष्ट स्थिति में स्थापित करें। ये तेरी उन्नति का कारण बनें। तू **ध्रुवेण**=स्तुति-निन्दा से, जीवन व मरण से न विचलित होनेवाले **धर्मणा**=धर्म से **विश्वस्य**=लोक की **अरिष्ट्यै**=अहिंसा के लिए हो, अर्थात् तेरे स्थिर धारणात्मक कर्म लोक का कल्याण करनेवाले हों। ८. **यजमानस्य परिधिः असि**=उस प्रभु की तू परिधि बन, अर्थात् प्रभु तेरे केन्द्र हों। **अग्निः**=तू आगे बढ़नेवाला बन। **इडः**=नियमित जीवनवाला बन अथवा वेदज्ञान को अपनानेवाला हो, **ईडितः**=इस प्रकार तू स्तुतिवाला बन।

९. प्रस्तुत मन्त्र में 'विश्वस्यारिष्ट्यै' आदि मन्त्रभाग तीन बार आया है। इसका भाव यह है कि हमारे शरीर, मन व बुद्धि की सब क्रियाएँ लेकिहित के लिए हों। सभी क्रियाओं में हम प्रभु को केन्द्र जानकर चलें। हमारी 'जाग्रत्', स्वप्न व सुषुप्ति' अवस्था की स्थूल, सूक्ष्म व कारण-शरीरों से चलनेवाली क्रियाएँ लोकहित की साधक हों। हमारा ज्ञान और हमारी क्रिया व श्रद्धा सब लोकहित का साधन बनें।

भावार्थ—मैं इस योग्य बनूँ कि प्रभु मेरा धारण करें। मैं प्रभु का दाहिना हाथ बनूँ और प्राणापान अथवा प्रेम व अद्वेष मेरे उत्थान का कारण बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-स्तवन

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳसमिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे॥ ४॥

गत मन्त्र की समाप्ति 'ईडितः' शब्द पर है, जिसका अर्थ है स्तुतिवाला। वही स्तुति प्रस्तुत मन्त्र में चलती है—हे **कवे**=(कौति सर्वा विद्याः, कु शब्दे) सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले, **अग्ने**=सबकी उन्नति के साधक प्रभो! हम **अध्वरे**=अपने इस हिंसा व कुटिलताशून्य जीवन में (ध्वरः हिंसा व कुटिलता) **त्वा**=आपको **समिधीमहि**=दीप्त करने का प्रयत्न करते

हैं, जो आप (क) **वीतिहोत्रम्**=(वीति=प्रकाश, होत्रा=वाक्) प्रकाशमय वाणीवाले हैं। आपकी यह वेदवाणी हमारे जीवन के अन्धकार को नष्ट करके उन्हें प्रकाशमय बनाती है, (ख) **द्युमन्तम्**= ज्योतिर्मय हैं। 'आदित्यवर्णम्' सूर्य के समान आपका वर्ण है। इस सूर्य के समान ही क्या? **दिवि सूर्यसहस्रस्य**=हज़ारों सूर्यों की समुदित ज्योति के समान आपकी ज्योति है। वस्तुतः आपकी ज्योति से ही तो यह सब पिण्ड ज्योतिर्मय हो रहे हैं। **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**, (ग) **बृहन्तम्**=आप बृहत् हैं (बृहि वृद्धौ), सदा वर्धमान है। आप विशाल-से-विशाल हैं। सारे प्राणियों के आप निवास-स्थान हैं। सर्वत्र समरूप से आप अवस्थित हैं।

इस प्रकार आपका स्तवन करता हुआ मैं भी प्रकाशमय वाणीवाला (वीतिहोत्र) बनूँ। मेरी वाणी सदा लोगों के ज्ञान की वृद्धि का हेतु बने। मेरा जीवन प्रकाशमय हो (द्युमान्), मेरा हृदय विशाल हो। आपकी वेदवाणी का प्रसार करता हुआ मैं भी कवि बनूँ। निरन्तर उन्नति-पथ पर चलता हुआ और औरों को आगे ले-चलता हुआ मैं भी आपकी भाँति अग्नि बनूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमारे सामने इस ऊँचे लक्ष्य को रक्खे कि हम 'प्रकाशमय वाणीवाले, ज्योतिर्मय जीवनवाले और विशाल हृदय' बनें। हम आगे बढ़नेवाले 'अग्नि' हों और विद्या का प्रकाश करनेवाले 'कवि' हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

देव-सदन

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै।
सवितुर्बाहू स्थऽऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यऽआ
त्वा वसवो रुद्राऽआदित्याः सदन्तु॥ ५॥

१. गत मन्त्र में स्तोता ने प्रभु का स्तवन किया था कि हे प्रभो! आप द्युमान् हो। इस स्तोता ने इस द्युमान् प्रभु को अपने में समिद्ध करने का प्रयत्न किया था। उसी प्रयत्न के परिणामस्वरूप यह स्वयं दीप्त हो उठा है। मन्त्र में कहते हैं कि **समित् असि**=हे स्तोतः! तू उस प्रभु को समिद्ध करता हुआ स्वयं समिद्ध हो उठा है—तू चमकनेवाला—दीप्त हो गया है। प्रभु-ध्यान के समय **पुरस्तात् सूर्यः**=सामने वर्त्तमान सूर्य **त्वा**=तुझे **कस्याश्चित्**= किसी भी **अभिशस्त्यै**=हिंसा से **पातु**=बचाए। हम प्रभु का ध्यान कर रहे हों और सामने उदित होता हुआ यह 'हिरण्यपाणि सवितादेव' अपनी किरणों से हमारे शरीरों में स्वर्ण के इञ्जैक्शन लगाता हुआ रोगकृमियों का संहार करे। २. इस प्रकार प्रभु का ध्यान करनेवाले पति-पत्नी से कहते हैं कि आप दोनों **सवितुः**=इस ब्रह्माण्ड के उत्पादक प्रभु के **बाहू स्थः**=बाहु हो, अर्थात् पति-पत्नी दोनों को प्रभु से की जानेवाली क्रियाओं का माध्यम बनना चाहिए। यही समझना चाहिए कि सब क्रियाएँ प्रभु ही कर रहे हैं, हम तो निमित्तमात्र हैं।

३. अब पति-पत्नी में पति के लिए कहते हैं कि **ऊर्णम्रदसम्**=(ऊर्ण आच्छादने) दूसरों के दोषों का आच्छादन करनेवाले नकि उद्घोषणा करनेवाले, अत्यन्त कोमल स्वभाववाले **त्वा**=तुझे **स्तृणामि**=दिव्य गुणों से आच्छादित करता हूँ, जो व्यक्ति पापों की चर्चा न करके शुभ की चर्चा करता है, वह स्वयं भी दिव्य गुणोंवाला बनता है। ४. **देवेभ्यः स्वासस्थम्**=दिव्य गुणों के लिए उत्तम आश्रयस्थल (सु+आस+स्थ) **त्वा**=तुझे **वसवः, रुद्राः आदित्याः**=वसु,

रुद्र और आदित्य सदन्तु=अपने बैठने का स्थान बनाएँ, अर्थात् तू सब देवों का निवास-स्थान बन। जो व्यक्ति औरों के अवगुणों को देखता रहता है वह देवों का आश्रयस्थान न बन सब अशुभों का आगार बन जाता है। गुणों को देखनेवाला गुणों की खान बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान करते हुए हम दीप्तिमय बनते हैं। दोषों को न देखते हुए हम गुणों के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], निचृत्त्रिष्टुप्[र]। स्वरः—धैवतः॥

घृताची अथवा जुहू, उपभृत्, ध्रुवा

[क] घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद [र] प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद। ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम्॥ ६॥

पिछले मन्त्र के अन्त में पति के जीवन का चित्रण था। प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी के जीवन का उल्लेख है—१. **घृताची असि**=तू घृताची है। घृत शब्द के दो अर्थ हैं—मल का क्षरण और दीप्ति। अञ्च के भी दो अर्थ हैं 'गति और पूजन'। मलावरोध से गति रुकती है। पत्नी घर में सब मलों को दूर करके सामान्य कार्यक्रम को चलाये रखती है, साथ ही ज्ञान की दीप्ति से प्रभु का पूजन करनेवाली होती है। ज्ञानी ही प्रभु का आत्मतुल्य प्रिय भक्त होता है, अतः पत्नी ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। २. **नाम्ना जुहूः**=तू नाम से 'जुहू' है। 'हु दानादानयोः' दान व आदान करनेवाली है। घर में पति को कमाना है और सब लेन-देन, संग्रह व व्यय पत्नी को ही करना होता है। **अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्** (मनु०)। दूसरे शब्दों में घर की अर्थसचिव पत्नी होती है। हु धातु का अर्थ 'दानादनयोः' भी मिलता है। तब 'जुहू' शब्द की भावना यह होती है कि जो सबको देकर—खिलाकर पश्चात् यज्ञशिष्ट को खाती है। ३. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=तृप्ति देनेवाले तेज के साथ **इदं प्रियं सदः**=इस प्रेम के वातावरणवाले घर में **आसीद**=आसीन हो। पत्नी को तेजस्वी होना है। उसका यह तेज उसे उग्र स्वभाव का न बना दे। उसे अपनी तेजस्विता से घर के सारे वातावरण को अत्यन्त कान्त बनाना है। घर एक प्रिय घर हो। घर में किसी प्रकार के कलह का वातावरण न हो।

४. **घृताची असि**=तू मलों व विघ्नों को दूर करके सामान्य कार्यक्रम को चलानेवाली है और ज्ञान-यज्ञ से प्रभु का उपासन करनेवाली है। ५. **नाम्ना उपभृत्**=उपभृत् नामवाली है। सबको पालित व पोषित करनेवाली है। ६. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=प्रिय तेज से युक्त हुई-हुई **इदं प्रियं सदः**=इस प्रेमपूर्ण घर में **आसीद**=आसीन हो। ७. **घृताची असि**=तू मलों को दूर करके क्रिया-प्रवाह को चलानेवाली है और ज्ञान के द्वारा प्रभु का पूजन करनेवाली है। ८. **नाम्ना ध्रुवा**=तू ध्रुवा नामवाली है। अन्तरिक्ष में ध्रुव तारे के समान तू पतिगृह में ध्रुव होकर रहनेवाली है, पतिगृह से डिगनेवाली नहीं है। वस्तुतः पत्नी को पिता के घर से आकर फिर पितृगृह में जाने का विचार ही नहीं करना चाहिए। उसे पतिगृह को ही अपना घर समझना चाहिए। उसे ही तो इस घर को बनाना है। ८. **सा**=वह तू **प्रियेण धाम्ना**=प्रिय तेज से **इदं प्रियं सदः**=इस प्रिय लगनेवाले घर में **आसीद**=विराज। निश्चय से **प्रियेण धाम्ना**=अपने इस प्रिय तेज से **प्रियं सदः आसीद**=इस प्यारे घर में ही विराजमान

हो। दो बार कथन दृढ़ता प्रकट करने के लिए है।

१०. इस प्रकार पत्नी को 'शरीर, मन व बुद्धि' से घृताची बनना है। उसे त्रिविध तेज को प्राप्त करके घर की बड़ी उत्तम व्यवस्था करनी है। घर के सारे वातावरण को सुन्दर बनाना बहुत कुछ पत्नी का ही कर्त्तव्य है। उसे घर की व्यवस्था को प्रेम व तेज से ऐसा सुन्दर बनाना है कि घर में सब कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान में हों। यह घर **ऋतस्य**=सत्य का घर बन जाए। इसमें सब बातें ठीक (ऋत=right) ही हों। इस **ऋतस्य योनौ**=सुव्यवस्थित घर में घर के सब व्यक्ति **ध्रुवा असदन्**=ध्रुव होकर रहें।

११. इस उत्तम पत्नी को पाकर पति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **ताः पाहि**=आप इस 'ऋतयोनि' में निवास करनेवाली प्रजाओं की रक्षा कीजिए। यह रक्षा किया गया सत्य इनकी रक्षा करनेवाला हो। **पाहि यज्ञम्**=आप ऐसी कृपा कीजिए कि इस घर में यज्ञ सदा सुरक्षित हो, यज्ञ का इस घर में विच्छेद न हो। **पाहि यज्ञपतिम्**=यज्ञ की रक्षा करनेवाले की आप रक्षा कीजिए। **'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'** से बना पत्नी शब्द सुव्यक्तरूप से कह रहा है कि यज्ञ की रक्षा का उत्तरदायित्व बहुत कुछ पत्नी पर ही है। उस यज्ञ की रक्षिका (यज्ञ-पति) की आप रक्षा कीजिए और **माम्**=मुझ **यज्ञन्यम्**=सब द्रव्यों को जुटाने के द्वारा यज्ञ को आगे चलानेवाले को भी **पाहि**=सुरक्षित कीजिए।

भावार्थ—पत्नी को विघ्नों को दूर करके क्रिया-प्रवाह को चलानेवाली बनना है, ज्ञान-दीप्ति से ज्ञानधन प्रभु की उपासना करनी है। दान और आदान की क्रिया को ठीक रखना है। सबको खिलाकर खाना है। सबकी आवश्यकताओं को जानकर सभी का पालन करना है। घर में ध्रुव होकर रहना है। तेज को धारण करना है, परन्तु उग्र नहीं बनना। घर को प्रेम के वातावरण से पूर्ण करना है। घर में सब कार्य व्यवस्थित रूप से हों, ऐसी व्यवस्था करनी है और यज्ञ को विच्छिन्न नहीं होने देना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

नमः+स्वधा

अग्ने॑ वाजजि॒द् वाजं॑ त्वा सरि॒ष्यन्तं॑ वाज॒जित॒ꣳ सम्मा॑र्ज्मि।
नमो॑ दे॒वेभ्यः॑ स्व॒धा पि॒तृभ्यः॑ सु॒यमे॑ मे भूयास्तम्॥ ७॥

गृहपति को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **अग्ने**=हे घर की उन्नति के साधक! **वाजजित्**=सब शक्तियों व धनों को जीतनेवाले **वाजं सरिष्यन्तम्**=शक्ति व धन की ओर निरन्तर बढ़नेवाले (सृ गतौ) और इस प्रकार **वाजजितम्**=शक्तियों और धनों के विजेता **त्वा**=तुझे **सम्मार्ज्मि**=मैं अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूँ। तेरे कारण घर की सदा उन्नति हो। घर में निर्बलता व निर्धनता का स्थान न हो। तू निरन्तर शक्ति व धन की ओर बढ़नेवाला हो तथा इन्हें प्राप्त करनेवाला हो। इस उद्देश्य से मैं तेरे जीवन को पवित्र करता हूँ। जीवन में वासनाओं के मल का प्रवेश होते ही सब उन्नति समाप्त हो जाती है, निर्बलता व निर्धनता का प्रवेश होने लगाता है। धीरे-धीरे शक्ति का ह्रास होकर जीवन विनष्ट हो जाता है।

यह विलास से बचनेवाला गृहपति प्रभु से प्रार्थना करता है कि २. **मे**=मेरे इस **सु-यमे**=उत्तम नियम-मर्यादा व आत्म-संयमवाले घर में (क) **देवेभ्यः नमः**=देवों के लिए नमन और (ख) **पितृभ्यः**=पितरों के लिए-वृद्ध माता-पिता आदि के लिए **स्वधा**=अन्न **भूयास्तम्**=सदा बने रहें। जिस घर में लोगों का जीवन विलासमय न होकर शक्ति का

सम्पादन करनेवाला होता है, वह घर 'सु-यम'=उत्तम आत्मसंयमवाला होता है। इस घर के दो लक्षण हैं। एक तो इस घर में देवपूजा सदा बनी रहती है। सर्वमहान् देव प्रभु का उपासन होता है, वायु आदि देवों की पूजा के लिए 'देवयज्ञ' चलता है और घर का नियम यह होता है कि माता, पिता, आचार्य व अतिथियों को देव समझकर उनका उचित आदर सदा बना रहता है। इस घर का दूसरा प्रमुख गुण यह होता है कि इसमें वृद्ध माता-पिता के लिए प्रेमपूर्वक अन्न प्राप्त कराया जाता है। ठीक बात तो यह है कि उन्हें अन्न प्राप्त कराके दूसरे लोग उनके पश्चात् ही खाते हैं। वस्तुतः इस पितृसेवा से छोटी सन्तानों को सुन्दर शिक्षण प्राप्त होता है और इस प्रकार इन बड़ों की सेवा से हम अपना ही धारण करते हैं। 'स्व-धा' शब्द की यही भावना है।

भावार्थ—हमारे घर 'सु-यम' हों। उनमें देवों को नमन और पितरों को स्वधा प्राप्त हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु की शरण में

अस्कन्नमद्य देवेभ्यऽआज्यꣳ संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीतऽइन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वरऽआस्थात्॥ ८॥

पिछले मन्त्र में प्रार्थना थी कि हमारे व्यवस्थित घर में 'नमः देवेभ्यः' तथा 'स्वधा पितृभ्यः'—ये दो कार्य सदा चलते रहें। 'देवेभ्यः नमः' ही सामान्य भाषा में 'देवयज्ञ' कहलाता है। उस देवयज्ञ का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है। गृहस्थ की प्रार्थना है—१. मैं **अद्य**=आज ही, आज से ही **देवेभ्यः** वायु आदि देवों के लिए **आज्यम्**=घृत को **अंघ्रिणा**=(पादः पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्) अपनी गति व पुरुषार्थ से **अस्कन्नम्**=अविच्छिन्न रूप से **सम्भ्रियासम्**=प्राप्त कराऊँ। 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' धातु से बना हुआ 'अस्कन्नम्' क्रियाविशेषण यह सूचित करता है कि अग्नि आदि देवों के लिए मेरा घृत प्राप्त कराने का कार्य शुष्क न हो जाए—बीच में ही समाप्त न हो जाए। मैं यह समझ लूँ कि इस कार्य से मेरी मुक्ति मृत्यु के साथ ही होनी है। यह अग्निहोत्र 'जरामर्य' सत्र है। २. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! मैं **त्वा**=तेरा **मा अवक्रमिषम्**=कभी उल्लंघन न करूँ। मैं सदा आपकी आज्ञा का पालन करनेवाला बनूँ। हे **अग्ने**=मुझे निरन्तर आगे ले-चलनेवाले प्रभो! मैं **ते**=तेरी **वसुमतीम्**=उत्तम निवास देनेवाली **छायाम्**=शरण में **उपस्थेषम्**=स्थित होऊँ। वास्तविकता यह है कि **विष्णो**=हे सर्वव्यापक प्रभो! **स्थानम् असि**=ठहरने का स्थान तो आप ही हो। सचमुच जीव को आपका ही आधार है। प्रकृति का आधार तो अत्यन्त अविश्वसनीय ही है, सांसारिक बन्धुओं का आधार भी बहुत कुछ स्वार्थमय है।

३. **इतः**=यहाँ से ही—इस प्रभुरूप आधार से ही **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **वीर्यम्**=शक्ति को **अकृणोत्**=सम्पादित करता है। जीव जितना-जितना प्रभु के सम्पर्क में आता है, उतना-उतना ही शक्तिशाली बनता है। सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत प्रभु ही हैं। ४. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि हमारे जीवनों में **अध्वरः**=अहिंसा व अकुटिलता से युक्त यज्ञ **ऊर्ध्वः**=सबसे ऊपर **आस्थात्**=स्थित हो, अर्थात् हम यज्ञ को अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान दें। यह हमारा प्रथम (first and foremost) कर्त्तव्य हो। हम शक्ति प्राप्त करें और उसका विनियोग यज्ञों में करें।

भावार्थ—हमारा जीवन एक अविच्छिन्न यज्ञ हो। हम प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न करें। हम प्रभु की शरण में स्थित हों, शक्ति प्राप्त करें और उस शक्ति का यज्ञात्मक कर्मों में विनियोग करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

होत्रं, दूत्यम् (देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ)

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्युमवतां त्वां द्यावापृथिवीऽअव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद् देवेभ्यऽइन्द्रऽआज्येन हुविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः॥ ९॥

प्रभु अपने उपासक से कहते हैं कि १. **अग्ने**=हे उन्नति-पथ पर चलनेवाले जीव! **होत्रम्**=अग्निहोत्र को—देवयज्ञ को—देवताओं को देकर यज्ञशेष के खाने की वृत्ति को तू **वेः**=अपने अन्दर प्रेरित कर (वी=गति, वीर गतौ)। तू सदा यज्ञ करनेवाला बन। २. **दूत्यम्**=दूत कर्म को तू **वेः**=अपने में प्रेरित कर। जैसे दूत सन्देश-वहन का काम करता है, उसी प्रकार तू प्रभु के सन्देश-वहन के कार्य को करनेवाला बन। प्रभु की दी हुई इस वेदवाणी को पढ़ता हुआ तू इसका सन्देश औरों को सुनानेवाला बन। वस्तुतः ब्रह्मयज्ञ तो यही है। ३. इन यज्ञों को ठीक से चलाने के लिए **द्यावापृथिवी**=(मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) मस्तिष्क व शरीर **त्वा**=तेरा **अवताम्**=रक्षण करें। **त्वम्**=तू भी **द्यावापृथिवी**=इन मस्तिष्क व शरीर का **अव**=रक्षण कर। तू इनका ध्यान कर, ये तेरा ध्यान करें। स्वस्थ मस्तिष्क व शरीर मनुष्य की सब क्रियाओं के साधक होते हैं, अतः मनुष्य को भी इनका पूरा ध्यान रखना है।

४. मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखनेवाला **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **देवेभ्यः**=अग्नि, वायु आदि देवों के लिए **आज्येन**=घृत से तथा **हविषा**=हविर्द्रव्यों से, सामग्री आदि से **स्विष्टकृत्**=(सु+इष्ट+कृत्) उत्तम यज्ञों को करनेवाला **भूत्**=हो। मस्तिष्क व शरीर के स्वास्थ्य का रहस्य 'इन्द्र' शब्द से व्यक्त हो रहा है। 'इन्द्रः' का अर्थ है जितेन्द्रिय। जितेन्द्रियता ही स्वास्थ्य का मूल-मन्त्र है। यह जितेन्द्रिय पुरुष कभी स्वादवश न खाएगा और न रोगी होगा। **'रसमूला हि व्याधयः'**—स्वाद ही बीमारियों का मूल है। **स्वाहा**=यह 'स्व' स्वार्थ का 'हा'=त्याग तो उसमें सदा बना ही रहे। ५. हे इन्द्र! तू **ज्योतिषा** =ज्योति के द्वारा **ज्योतिः सम्** (गच्छस्व)=ज्योति को प्राप्त करनेवाला बन। सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर तू अपने ज्ञान को बढ़ा और ज्ञानवृद्ध होकर इस ज्ञान के सन्देश को दूसरों तक पहुँचानेवाला बन। इस प्रकार तेरा जीवन 'होत्र व दूत्य' से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—हम स्वस्थ शरीरवाले बनकर यज्ञ आदि कर्मों में निरत रहें और स्वस्थ मस्तिष्कवाले बनकर प्रभु की ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करने व करानेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

शक्ति+धन+इच्छा

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषऽउपहूता पृथिवी
मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा॥ १०॥

१. गत मन्त्र के होत्र व दूत्य तभी ठीक चल सकते हैं, जब शरीर में शक्ति हो।

शक्ति के साथ धन भी आवश्यक है। धनाभाव में द्रव्यसाध्य ये यज्ञ कैसे चल सकते हैं? द्रव्य भी हो, परन्तु इच्छा न हो तो भी यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रवर्तन नहीं होता, अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'शक्ति, धन व सदिच्छा' की प्रार्थना की गई है। २. **इन्द्रः**=सर्वशक्ति-सम्पन्न, परमैश्वर्यवान् प्रभु **मयि** =मुझमें **इदं इन्द्रियम्**=इस शक्ति को **दधातु**=स्थापित करे। मेरी एक-एक इन्द्रिय पूर्ण आयुष्यपर्यन्त शक्ति-सम्पन्न बनी रहे, जिससे मैं उत्तम कर्मों के करने में सक्षम बना रहूँ। ३. उन यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए आवश्यक **रायः**=धन **अस्मान्**=हमें **सचन्ताम्**=प्राप्त हों, परन्तु ये धन **मघवानः**=(मा अघ) पाप के लवलेश से भी शून्य हों। हमारे धन पवित्र हों और यज्ञादि पवित्र कार्यों के वे साधन बनें। ४. शक्ति और धन के होने पर **अस्माकं आशिषः सन्तु**=हममें विविध कार्यों के लिए इच्छाएँ हों। इन इच्छाओं के अभाव में वे धन किसी भी कार्य में विनियुक्त न होकर हमारे कोशों में ही बन्द रहेंगे। कृपण का धन सदा धन ही बना रहता है, वह उत्तम कार्यों में विनियुक्त होकर उसे 'धन्य' कहलाने योग्य नहीं बनता, अतः हममें इच्छाएँ हों, परन्तु **नः**=हमारी ये **आशिषः**=इच्छाएँ **सत्याः सन्तु**=सत्य हों। अशुभ इच्छाएँ हमारे धनों का विनियोग अशुभ कार्यों में करवाकर हमारे विनाश का कारण ही बनेंगी।

४. **पृथिवी माता**=यह भूमिरूप माता **उपहूता**=मेरे द्वारा पुकारी जाए और **माम्**=मुझे **पृथिवी माता**=यह भूमि माता **उप**=समीप **ह्वयताम्**=पुकारे। मैं पृथिवी को माता समझूँ और पृथिवी मुझे पुत्र-तुल्य प्रेम करे। अध्यात्म में 'पृथिवी' शरीर है। इस शरीर को मैं माता समझूँ। माता के समान यह शरीर मेरे लिए आदरणीय हो। मैं इसकी कभी उपेक्षा न करूँ। शरीर को जितना हम पृथिवी के सम्पर्क में रखेंगे, उतना ही यह स्वस्थ रहेगा। 'शरीर पर भस्म रमाना, अखाड़े की शुद्ध मिटी में लोट-पोट होना, भूमि पर सोना, नङ्गे पाँव चलना'—ये सब बातें शरीर के स्वास्थ्य का कारण बनती हैं। हाँ, इन सब बातों को बुद्धिपूर्वक करना चाहिए। पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जैसे माता बच्चे का अपने दूध से पोषण करती है, उसी प्रकार यह पृथिवी माता अपने ओषधिरसों से हमारा पालन करती है। ५. 'आग्नीध्र' शब्द द्यावापृथिवी के लिए प्रयुक्त होता है। **'द्यावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रः'**—शत० १।८।१।४१। इस **आग्नीध्रात्**=अग्नि के आधारभूत पृथिवी से **अग्निः**=पृथिवी का यह मुख्य देव अग्नि **स्वाहा**=मुझमें सुहुत हो (सु+हा)। पृथिवीस्थ देवों का मुख्य देवता अग्नि है। इस शरीर में भी मुख्यता इस अग्निदेव की ही है। जब तक यह है तभी तक जीवन है। यह शान्त हुआ और जीवन भी समाप्त हो जाता है। मुझमें यह अग्नि बना रहे और मैं शक्ति, धन तथा सदिच्छाओं का सम्पादन करता हुआ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगा रहूँ।

भावार्थ—मुझमें शक्ति हो, सुपथ से अर्जित धन हो। मेरा धन शुभ इच्छाओं से पूर्ण हो। मैं इस पृथिवी माता का प्रिय बनूँ। मुझमें अग्नि अर्थात् जीवन हो, जिससे मेरे द्वारा यज्ञादि कार्य सम्पन्न हो सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—द्यावापृथिवी। छन्दः—ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

स्वस्थ मस्तिष्क

उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि॥ ११॥

१. गत मन्त्र 'पृथिवी माता' के उपाह्वान के साथ समाप्त हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र द्यौष्पिता के आह्वान से आरम्भ होता है। **द्यौः पिता**=पितृस्थानीय यह द्युलोक **उपहूतः**=मेरे द्वारा समीप पुकारा जाता है। यह **द्यौःपिता**=पितृस्थानीय द्युलोक **माम्**=मुझे **उपह्वयताम्**=अपने समीप पुकारे। मैं द्युलोक के समीप होऊँ और द्युलोक मेरे समीप हो। अध्यात्म में यह 'द्युलोक' मस्तिष्क है। मैं मस्तिष्क के समीप, मस्तिष्क मेरे समीप, अर्थात् मेरा मस्तिष्क सदा स्व-स्थ हो। मेरी बुद्धि मुझमें ही रहे, कहीं घास चरने न चली जाए। **आग्नीध्रात्**=सूर्यरूप अग्नि के आधार-स्थान इस द्युलोक से **अग्निः**=सूर्य के समान ज्ञान का प्रकाश **स्वाहा**=मुझमें सुहुत हो। मैं स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनूँ और मेरे ज्ञान का प्रकाश सूर्य के प्रकाश के समान चमकनेवाला हो।

२. स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनकर मैं **त्वा**=प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **प्रतिगृह्णामि**=ग्रहण करूँ। प्रभु के आदेशानुसार प्रत्येक पदार्थ का माप-तोलकर सेवन करूँ। मेरा प्रयोग मात्रा में हो, जिससे वे पदार्थ मेरी बल-वृद्धि का कारण बनें। ३. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=मैं प्रत्येक पदार्थ को प्राणापान के प्रयत्न से लूँ। बिना प्रयत्न के प्राप्त पदार्थ मेरे ह्रास का ही कारण बनेगा। ४. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=मैं प्रत्येक पदार्थ को पूषा के हाथों से लूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से उसका प्रयोग करूँ। स्वाद या सौन्दर्य मेरे मापक न हों, उपयोगिता ही मेरी कसौटी हो। ५. अन्तिम बात यह कि **त्वा**=तुझे **अग्नेः आस्येन**=अग्नि के मुख से **प्राश्नामि**=खाता हूँ। पहले तुझे अग्नि को खिलाता हूँ, फिर अवशिष्ट का ही ग्रहण करता हूँ, अर्थात् मैं यज्ञशेष का ही सेवन करता हूँ।

भावार्थ—स्वस्थ मस्तिष्कवाला व्यक्ति संसार में प्रत्येक पदार्थ का प्रयोग (क) प्रभु के आदेशानुसार मात्रा में करता है, (ख) प्रयत्नपूर्वक अर्जित पदार्थ का ही सेवन करने की कामना करता है, (ग) उसका मापक पोषण होता है, न कि स्वाद और (घ) अन्त में वह यज्ञशेष को ही खानेवाला होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

सृष्टि-यज्ञ का उद्देश्य

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे।
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव॥ १२॥

हे **सवितः**=सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेवाले—सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक! **देव**=सब साधनों को देनेवाले, ज्ञान की ज्योति से दीप्त तथा उपासकों को ज्ञान-ज्योति से द्योतित करनेवाले (देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा द्योतनाद्वा) प्रभो! **ते**=आपके **एतम् यज्ञम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को **बृहस्पतये**=(बृहतः पतिः) विशाल हृदय के पति के लिए और **ब्रह्मणे**=उत्कृष्ट सात्त्विक गतिवालों में भी सर्वप्रथम ब्रह्मा के लिए **प्राहुः**=कहते हैं, अर्थात् आपने इस सृष्टिरूप यज्ञ का प्रवर्तन इसलिए किया है कि (क) इसमें जीव उन्नति करते-करते अपने हृदय को अत्यन्त विशाल बनाये। असुर स्वार्थी हैं, देव दानवृत्तिवाले हैं। उन देवों का यह बृहस्पति पुरो-हित है, model है, आदर्श है। हमें इस सृष्टि में बृहस्पति बनना है। यह अपनी ही रक्षा में नहीं लगा रहता, यह इन बड़े-बड़े सभी लोकों का पालन करनेवाला होता है। २. इस सृष्टि-यज्ञ का दूसरा उद्देश्य यह है कि जीव ब्रह्मा बन सके। तमोगुण से ऊपर उठकर रजोगुण में, रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में और सत्त्वगुण में भी यह आगे बढ़कर

उत्कृष्ट सात्त्विक जीवनवाला बने। इनमें भी सर्वप्रथम स्थान में 'ब्रह्मा' बने।

हे प्रभो! आप **तेन**=इसी उद्देश्य से कि मैं बृहस्पति व ब्रह्मा बन सकूँ **यज्ञं अव**=मुझमें यज्ञ की भावना को सुरक्षित कीजिए। **तेन**=इसी उद्देश्य से **यज्ञपतिम्**=यज्ञ का पालन करनेवाले मेरी रक्षा कीजिए। **तेन**=इसी उद्देश्य से **मां अव**=मेरा पालन कीजिए, अर्थात् यदि मुझमें 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनने की भावना न हो तब तो मेरा यह जीवन व्यर्थ ही है, उस जीवन की रक्षा के लिए मैं क्या प्रार्थना करूँ? हे प्रभो! मैं आपकी कृपा से आपसे किये जानेवाले इस सृष्टि-यज्ञ के उद्देश्य को समझूँ और इसमें विशाल हृदय व उत्तम सात्त्विक व्यक्ति की श्रेणी में सर्वप्रथम बनने का प्रयत्न करूँ। **'सत्त्वस्य लक्षणं ज्ञानम्'**—सत्त्व का लक्षण ज्ञान है, अतः मैं ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला 'चतुर्वेदवेत्ता ब्रह्मा' बन पाऊँ। मैं चारों विद्याओं का ज्ञाता होऊँ—प्रकृति विद्या और जीवविद्या (natural and social sciences) में निपुण बनने के साथ मैं आध्यात्मिक विद्या में (Metaphysics) तो निपुण बनूँ ही, इनके अतिरिक्त आयुर्वेद (Medical science) और युद्ध-विद्या (Science of war) में भी नैपुण्य प्राप्त करूँ। ऋग्वेद 'प्रकृति-विद्या' का वेद है, यजुर्वेद 'जीवविद्या' का, साम 'अध्यात्मविद्या' का प्रतिपादक है और अथर्व 'आयुर्वेद व युद्धविद्या' का उल्लेख करता है। मैं इन चारों का वेत्ता (ब्रह्मा) बन पाऊँ। यही तो इस जीवन की सार्थकता है।

भावार्थ—हम सृष्टि-यज्ञ के उद्देश्य को समझें और विशाल हृदय तथा ज्ञान-सम्पन्न बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

ओम् का प्रतिष्ठापन

मनो॑ जू॒तिर्जु॑षता॒माज्य॑स्य॒ बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमि॒मं त॑नो॒त्वरि॑ष्टं य॒ज्ञꣳस॒मि॒मं द॑धातु।
विश्वे॑ दे॒वास॑ऽइ॒ह मा॑दयन्ता॒मो३म्प्रति॑ष्ठ॥ १३॥

१. इस सृष्टि-यज्ञ में हमें बृहस्पति और ब्रह्मा बनना है। **मनः**=मेरा मन **जूतिः**=वेग का **जुषताम्**=सेवन करे। मेरा मन संकल्परूप क्रिया से शून्य न हो। वेगशून्य मन से मैं इस जीवन-यात्रा को क्या पूरा कर पाऊँगा, क्या बृहस्पति और ब्रह्मा बनूँगा? २. मेरा मन **आज्यस्य**=घृत-ज्ञान-दीप्ति का **जुषताम्**=सेवन करे। ३. **बृहस्पतिः**=विशाल हृदय का पति बनकर मनुष्य **इमम्**=इस **अरिष्टम्**=हिंसा से बचानेवाले **यज्ञम्**=यज्ञ को **तनोतु**=विस्तृत करे। जब मनुष्य अपने हृदय को विशाल बनाता है और प्राणिमात्र को अपनी 'मैं' में सम्मिलित कर लेता है तब उसकी वृत्ति यज्ञिय बनती है। यह यज्ञिय वृत्ति मनुष्य को अहिंसित रखती है। यज्ञ से विपरीत भोग या विलास की वृत्ति उसे विनाश की ओर ले-जाती है। इसलिए इस विशाल हृदय मनुष्य को चाहिए कि **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ की भावना को **सन्दधातु**=सम्यक्तया धारण करे।

४. **इह**=इस यज्ञिय वृत्तिवाले मनुष्य के अन्दर **विश्वे देवासः**=सब देव **मादयन्ताम्**=हर्षपूर्वक निवास करें, अर्थात् इस व्यक्ति के जीवनोद्यान में दिव्य गुणरूप पुष्प सदा खिले हुए हों। जितना-जितना इस व्यक्ति में दिव्य गुणों का विकास होगा, उतना-उतना ही यह व्यक्ति प्रभु के आतिथ्य के लिए तैयार हो जाएगा। अब दिव्य गुणों के विकास के पश्चात् कहते हैं कि ५. **ओ३म्**=हे सर्वरक्षक प्रभो! **प्रतिष्ठ**=आप अब इस व्यक्ति के हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित हो जाइए। जिस प्रकार किसी महान् व्यक्ति को आना हो तो उससे पूर्व उसके

निचले व्यक्ति आ जाते हैं और उसके आने के लिए उसके सारे वातावरण को तैयार कर देते हैं। इसी प्रकार यहाँ देव उपस्थित होकर उस महादेव के आने के लिए सब सम्भारों को जुटा देते हैं। हृदय-मन्दिर में ब्रह्म का स्थापन करनेवाला ही ब्रह्मा है।

भावार्थ—मेरा मन क्रियाशून्य न हो, प्रतिक्षण ज्ञान का अर्जन करे। मैं बृहस्पति=विशाल हृदय बनकर अहिंसक यज्ञ का सेवन करूँ। मेरे जीवन में सब दिव्य गुणों का विकास हो जिससे मेरा हृदय प्रभु की प्रतिष्ठा के योग्य बन जाए। मेरे हृदय-मन्दिर में प्रभु की प्रतिष्ठा हो और मैं ब्रह्मा नामवाला बनूँ। यही तो उत्तम सात्त्विक गुणों में भी सर्वप्रथम स्थान में स्थित होना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—अनुष्टुप्[क], भुरिगार्चीगायत्री[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], षड्जः[र]॥

दीप्ति (The greatest light)

[क] एषा तेऽअग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि।
[र] अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा ससृवाꣳसं वाजजितꣳसम्मार्ज्मि॥ १४॥

१. पिछले मन्त्र में 'बृहस्पति और ब्रह्मा' बनने का उल्लेख था। अपने मन में वेग व ज्ञान-दीप्ति को धारण करके वह याज्ञिक वृत्तिवाला 'बृहस्पति' बना था और धीरे-धीरे दिव्य गुणों का विकास करके उसने अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु को प्रतिष्ठित किया था। उसका हृदय-मन्दिर सहस्र सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म से चमक उठा था। इस मन्त्र का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि हे **अग्ने**=जीवन-यात्रा में आगे बढ़नेवाले जीव **एषा**=यही **ते**=तेरी **समित्**=(इन्धी दीप्ति) दीप्ति है। **तया**=इस दीप्ति से तू **वर्धस्व**=बढ़, च=और **आप्यायस्व**= पूर्णरूप से अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वृद्धिवाला हो। जिस दिन हममें प्रभु की ज्योति जागती है, उस दिन सब प्रकार की मलिनताओं की समाप्ति हो जाती है। किसी बड़े व्यक्ति को आना हो तो जिस प्रकार उसके आगमन-स्थान को स्वच्छ कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रभु के आने के प्रसङ्ग में मेरा शरीर निर्मल होकर खूब फूला-फला लगता है।

२. हे प्रभो! हमारी यही आराधना है कि **वयम्**=हम **वर्धिषीमहि**=निरन्तर बढ़ें **च**= और **आप्यासिषीमहि**=हमारे एक-एक अङ्ग का आप्यायन हो। वास्तविक आप्यायन और वर्धन प्रभु के प्रतिष्ठान के अनुपात में ही होता है। ३. उल्लिखित प्रार्थना करनेवाले साधक से प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे उन्नतिशील जीव! **वाजजित्**=सब शक्तियों व धनों के विजेता! **वाजं ससृवांसम्**=शक्ति की ओर चलने में सफल **वाजजितम्** =सब शक्तियों व धनों के विजेता **त्वा**=तुझे मैं **सम्मार्ज्मि**=सम्यक्तया शुद्ध कर देता हूँ।

४. सातवें मन्त्र में 'वाजं त्वा सरिष्यन्तम्' कहा था, यहाँ 'वाजं त्वा ससृवांसम्' कहा गया है। 'सरिष्यन्तं' इस भविष्यत् का स्थान 'ससृवांसम्' इस भूतकाल ने ले-लिया है, मानो आरम्भ हुई बात यहाँ पूर्ण हो गई है। वस्तुतः 'प्रभु प्रतिष्ठापन' के अतिरिक्त और पूर्णता होनी ही क्या है? प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी शक्ति से साधक भी शक्तिमान् होता है।

भावार्थ—प्रभु को अपने में प्रतिष्ठित करना ही आराधक की सर्वमहती दीप्ति है। यह आराधक प्रभु की शक्ति से शक्तिमान् बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्नीषोमौ क, इन्द्राग्नी र। छन्दः—ब्राह्मीबृहती क, निचृदतिजगती र। स्वरः—मध्यमः क, निषादः र॥

प्रभु का प्रतिष्ठापन कैसे हुआ ?

क अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि। र इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि। इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि॥ १५॥

१. **अग्नीषोमयोः**=अग्नि व सोमतत्त्व की **उज्जितिम्**=उत्कृष्ट विजय के **अनु**=पश्चात् मैंने **उज्जेषम्**=इस प्रभु–प्रतिष्ठापनरूप विजय को पाया। अग्नितत्त्व 'ज्ञान' का प्रतीक है और सोम 'सौम्यता व नम्रता' का। जब मैंने अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित किया और मेरे व्यवहार में सौम्यता व नम्रता ने स्थान लिया तभी मैं जहाँ अपने जीवन को रसमय बना पाया, वहाँ अपने हृदय–मन्दिर में प्रभु का प्रतिष्ठापन करनेवाला बना। 'अनु' पद का महत्त्व स्पष्ट है—'पश्चात्'। इस विद्या और विनय (अग्नि व सोम) की विजय के पश्चात् ही प्रभु–प्रतिष्ठापनरूप महान् विजय हुआ करती है। विद्याविनीत को ही प्रभुदर्शन होता है, अतः मैं २. **वाजस्य प्रसवेन**=(वाग्वै वाजस्य प्रसवः—तै० २।३।२।५) वेदवाणी के द्वारा **मा**=अपने को **प्रोहामि**=परिवर्तित (to change, to modify) करता हूँ—अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाता हूँ। 'वाज' का अर्थ है 'शक्ति और ज्ञान'। वेदवाणी ज्ञान को तो उत्पन्न करती ही है, यह मनुष्य की वृत्ति को सुन्दर बनाकर उसे काम–क्रोध से बचाकर शक्तिशाली भी बनाती है। इस प्रकार शक्ति और ज्ञान की उत्पादिका होने से वेदवाणी को यहाँ 'वाजस्य प्रसव' कहा गया है। मेरे ये **अग्नीषोमौ**=अग्नि और सोम—विद्या और विनय **तम्**=उस व्यक्ति को **अपनुदताम्**=दूर करें **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ अप्रीति करता है **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। **एनम्**=इस समाजहित–द्वेषी को **वाजस्य प्रसवेन**=ज्ञान व शक्ति की उत्पादिका इस वेदवाणी से **अप+ऊहामि**=मैं दूर करता हूँ (to remove)।

४. **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि की **उज्जितिम्**=उत्कृष्ट विजय के **अनु**=पीछे **उज्जेषम्**=मैंने प्रभु–प्रतिष्ठापनरूप महान् विजय की है। अग्नि 'ज्ञान व प्रकाश' का प्रतीक है तो इन्द्र 'बल' का (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य—नि०) बल के सब कार्य इन्द्र के द्वारा ही किये जाते हैं। इन्द्र ने ही सब असुरों का संहार किया है। शक्ति और ज्ञान की विजय हमें ब्रह्मविजय के योग्य बनाती है। मैं इस शक्ति और ज्ञान की प्राप्ति के लिए **वाजस्य प्रसवेन**=इस वेदवाणी से **मा**=अपने को **प्रोहामि**=उत्कृष्ट जीवनवाला बनाता हूँ। **इन्द्राग्नी**=ये इन्द्र और अग्नि—शक्ति और ज्ञान **तम्**=उसको **अपनुदताम्**=दूर करें **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। **एनम्**=इस समाजद्वेषी व्यक्ति को **वाजस्य प्रसवेन**=वेदवाणी के द्वारा अर्थात् शक्ति और ज्ञान के उत्पादन के द्वारा **अप ऊहामि**=दूर करता हूँ। वस्तुतः यदि वह समाज–द्वेषी व्यक्ति इस वेदवाणी का अध्ययन करने लगता है तब उसका जीवन परिवर्तित होकर वह द्वेषी रहता ही नहीं और हम अपनी शक्ति व ज्ञान की वृद्धि कर लेने पर द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठ जाते हैं और उस द्वेषी के साथ इस प्रकार वर्तते हैं कि वह

समाज की हानि का कारण नहीं बन पाता।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में 'अग्नि और सोम'—विद्या और विनय का सम्पादन करें। हम 'इन्द्र और अग्नि'—शक्ति व ज्ञान का—क्षत्र व ब्रह्म का विकास करनेवाले बनें जिससे ब्रह्म का विजय कर सकें, अर्थात् अपने हृदयों में ब्रह्म का प्रतिष्ठापन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च[क], अग्निः[र]। छन्दः—भुरिगार्चीपङ्क्तिः[क], भुरिक्त्रिष्टुप्[र]। स्वरः—पञ्चमः[क], धैवतः[र]॥

पति-पत्नी की परस्पर प्रेरणा

[क]वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। [र]व्यन्तु वयोक्तꣳरिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पाऽअग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि॥ १६॥

१. प्रभु के प्रतिष्ठापन का प्रकरण चल रहा है। प्रभु का प्रतिष्ठापन तो तभी होगा जब हमारे जीवनों में सभी देवों का निवास होगा, अतः पत्नी कहती है कि—**वसुभ्यः त्वा**=मैं आपको वसुओं के लिए सौंपती हूँ, **रुद्रेभ्यः त्वा**=आपको रुद्रों के लिए सौंपती हूँ और **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं आपको आदित्यों के लिए सौंपती हूँ, अर्थात् मेरी इच्छा है कि आपका उठना-बैठना वसुओं, रुद्रों और आदित्यों के साथ हो। स्वास्थ्य को उत्तम बनानेवाले 'वसु' हैं, मानस को निर्मल बनानेवाले 'रुद्र' हैं तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनानेवाले 'आदित्य' हैं। पत्नी की प्रथम कामना है कि उसके जीवन-सखा का मेल-जोल स्वस्थ, निर्मल व उज्ज्वल पुरुषों के ही साथ हो। ऐसा होने पर ही व्यक्ति में देवों का निवास हुआ करता है। २. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **संजानाथाम्**=आपमें समता से निवास करनेवाले (to live in harmony with) हों। शरीर व मस्तिष्क दोनों स्वस्थ हों। शरीर सशक्त हो तो मस्तिष्क उज्ज्वल। ३. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान अथवा 'मित्र'=स्नेह की देवता और 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता **त्वा**=आपको **वृष्ट्या**=आनन्द की वर्षा से **आवताम्**=(अव to give pleasure) आनन्दित करें। आपमें स्नेह हो, किसी के प्रति द्वेष न हो और इस प्रकार आपका जीवन आनन्दमय हो।

अब पति पत्नी से कहता है—४. **वयः**=(पक्षिरूपापन्नानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि—महीधर) मनुष्य को ऊँची उड़ान करानेवाले—उसके जीवन को उच्च बनानेवाले गायत्री आदि छन्द **अक्तम्**=स्पष्टरूप से **रिहाणाः**=(आस्वादयन्तः) तुम्हें आनन्दित करते हुए **व्यन्तु**=प्राप्त हों, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन में तुम्हें अनुपम आनन्द का अनुभव हो, तुम्हारा अवकाश का सारा समय वेदाध्ययन में बीते। ५. **मरुताम्**=वायुओं की **पृषती**=घोड़ियों को **गच्छ**=तुम प्राप्त होओ। 'मरुत्' प्राण हैं। इनकी सवारियों का अभिप्राय इनपर आरुढ़ होना है—प्राणसाधना के द्वारा प्राणों को वश में करना है। तुम प्राणायाम करनेवाले बनो। आचार्य ने लिखा है कि यह-प्राणायामरूप योगसाधन पत्नी भी अवश्य करे। ६. **वशा**=प्राणसाधना के द्वारा तू 'वशा' चित्तवृत्तियों को वश में करनेवाली बन। 'योग' चित्तवृत्तिनिरोध ही है। प्रतिदिन के प्राणायाम के अभ्यास से तेरा चित्त तेरे वश में हो। ७. **पृश्निः**=(संस्पृष्टा भासं ज्योतिषाम्) तू चित्तवृत्तिनिरोध के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि होकर ज्ञान-दीप्तियों का स्पर्श करनेवाली बन। ८. तू पृश्नि **भूत्वा**=होकर **दिवम् गच्छ**=प्रकाश को प्राप्त कर—दिव्यता का साधन कर और **ततः**=तब **नः**=हमारे लिए **वृष्टिं आवह**=आनन्द की वृष्टि लानेवाली हो। घर में पति तो

खूब ज्ञान-सम्पन्न हो, परन्तु पत्नी ज्ञान-शून्य हो तो घर में आनन्द नहीं आता, अतः पति कहता है कि पत्नी भी ज्ञान-सम्पन्न व संयत जीवनवाली हो और घर को सदा प्रकाशमय रक्खे।

९. अब पति-पत्नी दोनों मिलकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **चक्षुष्पाः असि**=आप हमारे चक्षु=ज्ञान के रक्षक हैं, **चक्षुः मे पाहि**=आप मेरे ज्ञान की रक्षा कीजिए—मेरे दृष्टिकोण को ठीक बनाये रखिए। वस्तुतः संसार का अच्छा व बुरापन हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। हमारा दृष्टिकोण ठीक है तो संसार ठीक है, जब हमारा दृष्टिकोण दूषित होता है तो संसार भी विकृत हो जाता है। ठीक दृष्टिकोणवाले संसार में आने का उद्देश्य 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनना—विशाल हृदय व ज्ञानी बनना समझते हैं नकि मौज या भोग-विलास करना। जब हमारा दृष्टिकोण ठीक होगा तो संसार पुण्यमय बनेगा, अन्यथा पापमय।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी दोनों ज्ञान-सम्पन्न व स्वस्थ हों। उनका दृष्टिकोण ठीक हो।

ऋषिः—देवलः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

अ-विस्मरण

यं प॑रि॒धिं प॒र्यध॑त्था॒ऽअग्ने॑ देवप॒णिभि॒र्गुह्य॑मानः।

तं त॑ऽए॒तमनु॒ जोषं॑ भराम्ये॒ष नेत्त्वद॑पचे॒तया॑ताऽअ॒ग्नेः प्रि॒यं पाथोऽपी॑तम्॥ १७॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार जब मनुष्य का संसार में रहने का दृष्टिकोण ठीक होता है तब वह 'बृहस्पति व ब्रह्मा' बनने के मार्ग पर चलता है, नकि मौज के मार्ग पर। यह प्रार्थना करता है—**अग्ने** =हे प्रकाशमय प्रभो! **देवपणिभिः**=दिव्य गुणोंवाले स्तोताओं से (पण्=स्तुति) **गुह्यमानः**=(गुह=Hug, to emberace) आलिङ्गन किये जाते हुए आप **यं परिधिम्**=जिस मर्यादा को **पर्यधत्थाः**=धारण करते हो, **ते**=आपकी **तं एतम्**=उस प्रसिद्ध मर्यादा को **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **अनुभरामि**=मैं अपने अन्दर भरता हूँ, अर्थात् आपने जिन मर्यादाओं को उपदिष्ट किया है मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ, उन मर्यादाओं का बड़े प्रेम से पालन करता हूँ। २. **एषः**=यह मैं **त्वत्**=आपसे **न अपचेतयाता**=विस्मरण के कारण दूर नहीं होता। **इत्**=निश्चय से मैं यह संकल्प करता हूँ कि संसार में आने के अपने उद्देश्य को मैं भूलूँगा नहीं। आपका स्मरण करता हुआ मैं सदा मर्यादाओं का पालन करूँगा और अपने इस मानव-जीवन में आगे और आगे बढ़ता हुआ उत्तम सात्त्विक गतिवाला ब्रह्मा व बृहस्पति (महान्) बनकर रहूँगा।

'मैं ऐसा बन सकूँ' इसके लिए प्रार्थना करता हूँ कि **अग्नेः**=संसार के अग्रणी प्रभु का **प्रियं पाथः** =प्रीति देनेवाला रक्षण **अपीतम्**=(अपि-इतम्) मुझे अवश्य प्राप्त हो। प्रभु के रक्षण के बिना मैं इस उच्च स्थिति में क्या पहुँच पाऊँगा? 'पाथः' शब्द का अर्थ अन्न भी है, अतः मुझे **प्रियम्**=प्रीतिकर, अर्थात् सात्त्विक **पाथः**=अन्न प्राप्त हो। सात्त्विक अन्न के सेवन से मेरी बुद्धि सात्त्विक बनी रहेगी और मैं मार्ग से विचलित न होऊँगा।

भावार्थ—मैं प्रभु द्वारा स्थापित मर्यादा का पालन करूँ। मुझे प्रभु का कभी विस्मरण न हो और मैं प्रभु का रक्षण प्राप्त करूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वेद का सन्देश

सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः।
इमां वाचमभि विश्वे गृणन्तऽआसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वꣳस्वाहा वाट्॥ १८॥

१. गत मन्त्र में उपासक ने प्रार्थना की थी कि 'मैं प्रभु को न भूलूँ'। इस भक्त से प्रभु कहते हैं कि **सं-स्रव-भागाः स्थ**=(स्रु गतौ, भज् सेवायाम्) उत्तम गतिवाले तथा उत्तम सेवन-पूजनवाले बनो। तुम्हारे कर्म उत्तम हों—तुम्हारा प्रभु-भजन उत्तम हो। कई बार प्रभु-भजन विकृत हो जाता है और हमें परस्पर द्वेष करनेवाला बनाता है। तुम्हारा प्रभु-पूजन तुम्हें 'सर्वभूतहिते रतः' बनाये। २. **इषा**=(इष प्रेरणे) प्रेरणा के द्वारा **बृहन्तः**=तुम अपना वर्धन करनेवाले बनो। मेरी प्रेरणा को सुनो और आगे बढ़ो। ३. **प्रस्तरेष्ठाः**=(प्र स्तृ+स्थ) प्रकृष्ट आच्छादन में तुम स्थित होओ, औरों के दोषों का उद्घोषण करते हुए तुम निन्दक न बन जाओ। इससे तुम्हारा अपना ही जीवन निकृष्ट बनेगा। 'प्रस्तर' का अर्थ पत्थर भी है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि तुम पत्थर पर स्थित होओ, अर्थात् पत्थर के समान अविचल होने की भावना को धारण करो। तुम्हें नीति-मार्ग से किसी प्रकार की स्तुति-निन्दा, सम्पत्ति का लोभ व मृत्यु का भय विचलित करनेवाला न हो। ४. **परिधेयाः**=तुम परिधि में चलनेवालों में उत्तम बनो। तुम्हारा जीवन उत्तम एवं मर्यादित हो। ५. **च** =और **देवाः**=(दिव् क्रीडायाम्) क्रीड़ा की भावनावाले बनो। संसार में जय-पराजय, हानि-लाभ व जीवन-मरण को क्रीड़ा के रूप में देखो। तुममें sportsman like spirit हो। यह खिलाड़ी पुरुष की भावना तुम्हें हर्ष-शोक के द्वन्द्व से ऊपर उठा दे।

६. बस, **इमां वाचम्**=इस वाणी को—इस उल्लिखित वेद-सन्देश को **विश्वे**=तुम सब **अभिगृणन्तः**=सोते-जागते उच्चारण करते हुए, अर्थात् सदा स्मरण करते हुए **अस्मिन्**= इस **बर्हिषि**=वासना-शून्य पवित्र हृदय में **आसद्य**=आसीन होकर **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। हम उल्लिखित वेद-सन्देश का जप तो करें ही, उस वाणी में स्थित भी हों, अर्थात् उसके अनुसार आचरण भी करें तभी हमारे हृदय वासनाशून्य बनेंगे। ७. जब हम इस वाणी का उच्चारण करते हुए इसके अनुकूल आचरण करेंगे तब **स्वाहा** =(स्व-हा) हम अपने स्वार्थ का त्याग और **वाट्**=(वहन्ति क्रियया सुखम्) औरों के लिए सुखों का वहन करनेवाले बनेंगे। धर्म का सार यही है कि **'परोपकारः पुण्याय'** हम परोपकारी बनें। हमारे जीवन में 'स्वाहा' और वाट्—स्वार्थत्याग और पर-सुख-प्रापण की वृत्ति हो।

भावार्थ—उत्तम कर्म, उत्तम उपासना, वेद की प्रेरणा के अनुसार शक्तिवर्धन, धर्म में स्थिरता, निन्दा-त्याग, मर्यादा का पालन और क्रीड़ा की भावना—यह वेद-सन्देश है। इस वाणी का जप और आचरण करके हम शुद्ध हृदय में आनन्द का अनुभव करें। हममें स्वार्थत्याग और परोपकार की भावना हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निवायू। छन्दः—भुरिक्पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञ और नमस्

घृताची स्थो धुर्यौ पातꣳ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्।
यज्ञ नमश्च तऽउप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व॥ १९॥

घृताची शब्द नपुंसकलिङ्ग का द्विवचन है। जहाँ पति-पत्नी दोनों के लिए कुछ कहना होता है, वहाँ नपुंसकलिङ्ग के व्यवहार की शैली है। प्रभु पति-पत्नी से कहते हैं—१. **घृताची स्थः**=तुम दोनों मलों के क्षरण से क्रिया के सञ्चालक हो (घृ=दीप्ति, अञ्चू पूजन)। २. **धुर्यौ**=गृहस्थ की गाड़ी को उत्तमता से खींचनेवाले हो। ३. **सुम्ने**=(सुम्न=A sacrifice) यज्ञशील बनकर **पात**=अपनी रक्षा करो। यज्ञ मनुष्य को विलास और परिणामतः विनाश से बचाता है। ४. तुम दोनों सदा **सुम्ने**=(A hymn, Joy) स्तुति तथा आनन्द में **स्थः**=स्थित होते हो। प्रभु-स्तवन में तुम्हें आनन्द का अनुभव होता है। ५. **मा** =मुझे **धत्तम्** =अपने में धारण करो। प्रभु को धारण करना ही मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। **यज्ञः नमः च**=यज्ञ और नमन **ते**=तेरे **उप**=सदा समीप हों। तू यज्ञ करे और नम्रतापूर्वक उन यज्ञों को प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाला बन। यही तो '**कुरु कर्म त्यजेति च**' है—करना और छोड़ना। करना तो सही, परन्तु उन कर्मों का अहंकार न करना। **च**=और तू **यज्ञस्य**=यज्ञ के **शिवे**=कल्याणकर मार्ग में **सन्तिष्ठस्व**=सम्यक्तया स्थित हो, अर्थात् तू यज्ञों से कभी दूर न हो। ७. **स्विष्टे**=(सु+इष्टे) मेरे अत्यन्त प्रिय (इष्ट, इच्छ+क्त) इन उत्तम यज्ञों (इष्ट, यज्+क्त) में स्थित होकर **मे सन्तिष्ठस्व**=मुझमें स्थित हो। यज्ञों के द्वारा हमें प्रभु में स्थिति प्राप्त होती है। इसी 'ब्राह्मी स्थिति' को प्राप्त करना जीवन-यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है।

भावार्थ—हमारा जीवन उत्तम यज्ञों से परिपूर्ण हो। उन यज्ञों को प्रभु-चरणों में अर्पित कर हम प्रभु में स्थित होनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता—अग्निसरस्वत्यौ। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विद्याभ्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्

अग्ने॑ऽदब्धायोऽशीतम पा॒हि मा॑ दि॒द्योः पा॒हि प्रसि॑त्यै पा॒हि दुरि॑ष्ट्यै पा॒हि दुर॑द्म॒न्याऽअ॑वि॒षं नः॒ पि॒तुं कृ॑णु सु॒षदा॒ योनौ॒ स्वाहा॒ वाड॒ग्नये॑ संवे॒शप॑तये॒ स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै यशोभ॒गिन्यै॒ स्वाहा॑॥ २०॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि यज्ञ में स्थित होकर तू मुझमें स्थित हो। प्रस्तुत मन्त्र का विषय यह है कि यज्ञ में स्थिति कैसे हो? हमारा जीवन यज्ञमय हो, अतः हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं—१. **अग्ने** =हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो! **अदब्धायो**=(अ+दब्ध+आयु=मनुष्य) जिसके आश्रय में मनुष्यों का नाश नहीं होता अथवा (इ गतौ से आयु) अहिंसित गतिवाले! **अशीतम**=(अश् व्याप्तौ) सर्वाधिक व्याप्त सर्वव्यापक प्रभो! **मा**=मुझे **दिद्योः**=द्यूतरूप घातक वृत्ति से **पाहि**=बचाइए। मुझमें जुए की भावना उत्पन्न न हो। मैं सदा श्रम से ही धनार्जन की वृत्तिवाला बनूँ। '**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**'—पाशों से मत खेल, कृषि ही कर—वेद में दिये गये आपके इस उपदेश को मैं कभी न भूलूँ। २. इस प्रकार पुरुषार्थ से धन कमाने की वृत्तिवाला बनाकर आप मुझे **प्रसित्यै**—प्रसित्याः=विषयों के बन्धन से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। मैं किसी विषय-बन्धन में न पड़ जाऊँ। मुझे सांसारिक विषयों का चस्का न लग जाए। ३. **दुरिष्ट्यै**—दुरिष्ट्याः=मुझे अशुभ इच्छाओं से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। 'मुझमें अशुभ कामनाएँ उत्पन्न ही न हों'। इसके लिए **दुरद्मन्याः**=अशुभ भोजन से **पाहि** =बचाइए। आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण भी शुद्ध रहता है और अशुभ इच्छाओं के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं रहता। वस्तुतः यहाँ 'दिद्यु, प्रसिति, दुरिष्टि तथा दुरद्मनी' में एक विशेष कार्यकारण सम्बन्ध है। अशुद्ध भोजन न होने पर अशुभ इच्छाएँ नहीं

होतीं, अशुभ इच्छाओं के न होने पर मनुष्य विषयों की ओर नहीं झुकता और विषयासक्ति न होने पर मनुष्य द्यूतवृत्ति से धन कमाने की ओर नहीं झुकता।

हे प्रभो! **नः**=हमारे **पितुम्**=अन्न को **अविषम्**=विषरहित **कृणु**=कीजिए। हमारे भोजनों में किसी प्रकार के मद-जनक व स्वास्थ्य-विघातक अंश न हों। ६. इस प्रकार शुद्ध भोजन से शुद्ध मन व शरीरवाला होकर तू **योनौ**=इस गृह में **सु-षदा** =उत्तम प्रकार से आसीन हो। ७. **स्वाहा**=तू (स्व+हा) स्वार्थत्याग की वृत्तिवाला बन और **वाट्**=सभी को सुख प्राप्त करानेवाला हो (वह प्रापणे) ८. **अग्नये**=सब उन्नतियों के साधक **संवेशपतये**=निद्रा के द्वारा रक्षण करनेवाले प्रभु के लिए **स्वाहा**=तू अपना समर्पण कर। प्रभु ने हमारी उन्नति के लिए ही इस 'निद्रा' का निर्माण किया है। इसमें कुछ देर के लिए हम सब कष्टों को भूल जाते हैं, शरीर की सब टूट-फूट ठीक हो जाती है, उत्पन्न हुए कुछ मल दूर हो जाते हैं और हम अगले दिन के कार्यक्रम के लिए उद्यत हो जाते हैं। रात्रि में सोते समय हम प्रभु का ध्यान करते हुए सो जाएँ तो सारी रात प्रभु से हमारा सम्पर्क बना रहता है और हम अद्भुत आनन्द का अनुभव करते हैं। ९. **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती के लिए जोकि **यशोभगिन्यै**=यश की भगिनी—सेवन करनेवाली है, उस ज्ञानाधिदेवता के लिए **स्वाहा**=तू अपने को समर्पित कर। रात्रि में निरन्तर तेरा प्रभु-स्मरण व प्रभु-सम्पर्क चले तो तेरा दिन ज्ञान की उपासना में बीते। इस प्रकार दिन में तेरे दो ही व्यसन हों—प्रभु-पाद-सेवन तथा सरस्वती का आराधन—'**विद्याभ्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्**'।

भावार्थ—हमारा भोजन उत्तम हो, इच्छाएँ उत्तम हों, हम विषय-बन्धन में न बँधें, द्यूतवृत्ति से ऊपर उठें। रात्रि में प्रभु का स्मरण करते हुए सो जाएँ, निद्रा में हम प्रभु का ही स्वप्न लें और हमारा दिन ज्ञान-प्राप्ति में व्यतीत हो। यह ज्ञान हमें यशस्वी बनाये।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु द्वारा अपने मानस पुत्र का किया जानेवाला 'जातकर्मसंस्कार'

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।
मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳस्वाहा वाते धाः॥ २१॥

१. प्रभु अपने पुत्र से कहते हैं—**वेदः असि**=तू ज्ञानी है। यही सर्वमहान् प्रेरणा है, जो प्रभु के द्वारा जीव को दी जाती है। तुझे संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं करना जो ज्ञानी को शोभा नहीं देता। २. **येन**=क्योंकि **देव**=हे ज्ञान-ज्योति से जगमगानेवाले जीव! **त्वम्**=तू **देवेभ्यः**=विद्वानों से **वेद**=ज्ञान को प्राप्त करता है **तेन**=इसलिए **वेदः**=ज्ञानी **अभवः**=हुआ है। '**उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान् निबोधत**'—उठो, जागो, श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञानी बनो—यह उपनिषदों का उपदेश है। स्वाध्याय-प्रवचन को तुझे कभी नहीं छोड़ना, सब उत्तम कार्यों को करते हुए तुझे इन्हें सदा अपनाये रखना है। स्वाध्याय ही परम तप है। ३. **मह्यम्**=मेरी प्राप्ति के लिए तू **वेद**=ज्ञान का पुञ्ज **भूयाः**=बनना। ज्ञानी बनकर ही तू मुझे प्राप्त करेगा। ४. **देवाः** =ज्ञान-ज्योति से दीप्त होनेवाले ज्ञानी लोग **गातुविदः**=मार्ग को जाननेवाले होते हैं। ज्ञानी पुरुष को अपना कर्त्तव्यमार्ग सुस्पष्ट दीखता है। ५. तुम **गातुं वित्त्वा**=मार्ग को जानकर **गातुं इत**=मार्ग पर चलनेवाले बनो। मनुष्य मार्ग से विचलित तब हुआ करता है, जब वह अपने मन का पति नहीं होता। अपने मन को वश में न कर सकनेवाला व्यक्ति

कह उठता है—**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः**—मुझे धर्म का ज्ञान तो है, परन्तु मैं उधर चल नहीं पाता। **जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः**=मैं अधर्म को भी जानता हूँ, परन्तु उससे हट नहीं सकता। प्रभु कहते हैं—**मनसस्पते**=हे मन के पति जीव! तू अपने मन को वश में कर और **देवः**=दिव्य गुणोंवाला बना हुआ तू **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ का लक्ष्य करके **स्वाहा**=आत्मत्याग करनेवाला बन और ७. **वाते**=इस संसार-शकट के चलानेवाले वायु नामक प्रभु में **धाः**=अपने को स्थापित कर (वा गतौ, **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः**) वे प्रभु ही वायु व वात=गति देनेवाले हैं। तू अपने द्वारा किये जानेवाले इन यज्ञों को भी प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होता हुआ समझना। तू अपने यज्ञों को उसी में समर्पित करना।

भावार्थ—तू ज्ञानी बन। मार्ग को जानकर उसी पर चल। मन का पति बनकर यज्ञ के लिए त्याग कर। यज्ञों को उस प्रभु में अर्पित कर।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जीवन का अलङ्करण

सं ब॒र्हिर॑ङ्क्ता॒ᳪ॒ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समा॑दि॒त्यैर्वसु॑भि॒ः सम्म॒रुद्भि॑ः।
समिन्द्रो॑ वि॒श्वदे॑वेभिरङ्क्तां दि॒व्यं नभो॑ गच्छतु॒ यत् स्वाहा॑॥ २२॥

१. अपने जीवन में काम, क्रोध, लोभादि वासनाओं का उद्बर्हण (eradication) करनेवाला व्यक्ति 'बर्हिः' कहलाता है। यह **बर्हिः**=अपने जीवन को निर्व्यसन करनेवाला वीर पुरुष **हविषा**=हवि के द्वारा—दानपूर्वक अदन के द्वारा (हु=दान, अदन) अर्थात् त्याग के द्वारा और **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञान-दीप्ति से **सं अंक्ताम्**=अपने को सम्यक्तया अलंकृत करे। जीवन के सच्चे आभूषण 'त्याग, निर्मलता व ज्ञान-दीप्ति' ही हैं। २. **आदित्यैः, वसुभिः, मरुद्भिः सं अंक्ताम्**=आदित्यों, वसुओं व मरुतों के साथ सम्पर्क में आकर यह अपने जीवन को सुशोभित करे। सङ्ग का प्रभाव सर्वमान्य है। जैसों का साथ होता है, वैसा ही मनुष्य बन जाता है। ज्ञान का निरन्तर आदान करनेवाले आदित्यों का सम्पर्क हमें ज्ञान की रुचिवाला बनाएगा। स्वास्थ्य के नियमों का पालन करनेवाले और जीवन में उत्तम निवासवाले वसुओं का सम्पर्क हमें स्वास्थ्य का ध्यान करनेवाला बनाएगा। 'मरुतः प्राणाः'=प्राणों की साधना करनेवाले अथवा 'मितराविणः' कम बोलनेवाले मरुतों का सम्पर्क हमें भी प्राणसाधक व मितभाषी बनाएगा। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष इस इन्द्रियजय के द्वारा **विश्वदेवेभिः**=सब दिव्य गुणों से **सं अंक्ताम्**=अपने जीवन को सुशोभित करे। 'जितेन्द्रियता' साधन है और 'दिव्य गुण-लाभ' उसका साध्य। ४. इस प्रकार पुरुष **दिव्यं नभः** =स्वर्गलोक के आधारभूत आकाश को **गच्छतु**=प्राप्त हो। '**दिवो नाकस्य पृष्ठात्**' इस मन्त्रांश में द्युलोक स्वर्ग का पृष्ठ है। जब मनुष्य सब दिव्य गुणों से अलंकृत होता है—सब देवों का निवास-स्थान बनता है तब उसका अगला जन्म इस मर्त्यलोक में न होकर स्वर्गलोक में होता है। बस, शर्त यह है कि **यत्**=यदि **स्वाहा**=(स्व+हा) उसके जीवन में स्वार्थ-त्याग हो। 'स्व' का—स्वार्थ का छोड़ना दिव्यता प्राप्ति का प्रमुख कारण है। देव का मौलिक गुण ही 'देवो दानात्' दान करना, देना, स्वार्थ को छोड़ना है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को दानपूर्वक अदन, निर्मलता, ज्ञान-दीप्ति, सत्सङ्ग-रुचि व दिव्य गुणों से अलंकृत करके अपने को स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकारी बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

विमोचन

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षसां भागोऽसि॥ २३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्वाहा'—स्वार्थत्याग पर थी। इस स्वार्थ की भावना से वस्तुतः वे प्रभु ही मुक्त करते हैं। प्रभु का स्मरण करके—प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़कर मैं स्वार्थ से ऊपर उठता हूँ। प्रभु-स्मरण से मुझमें विश्व-बन्धुत्व की भावना उत्पन्न होती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं—**कः**=वह आनन्दमय प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=स्वार्थ की भावनाओं से छुड़ाते हैं। **सः**=वह प्रसिद्ध प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति** =स्वार्थभावना से मुक्त करते हैं। २. स्वार्थभावना से ऊपर उठने पर मनुष्य का ऐहिक जीवन सुखमय होता है और आमुष्मिक जीवन का कल्याण भी सिद्ध होता है। **कस्मै**=आनन्द की प्राप्ति (कं=सुखम्) के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=वासनाओं से मुक्त करते हैं, **तस्मै**=उस परत्र कल्याण के लिए वे प्रभु **त्वा**=तुझे **विमुञ्चति**=मुक्त करते हैं। ३. इस प्रकार स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठ जाने पर **पोषाय**=तू अपने वास्तविक पोषण में समर्थ होता है। यह स्वार्थ असुरों का मुख्य गुण है। उसे नष्ट करके तू **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तियों का **भागः**=भगानेवाला (put to flight) **असि**=है, राक्षसी वृत्तियों को तू अपने से दूर कर देता है।

भावार्थ—स्वार्थ-भावना के छूटने पर ही ऐहिक और आमुष्मिक कल्याण निर्भर करता है। इस स्वार्थ के समाप्त होते ही दिव्य गुणों का पोषण होता है और राक्षसी वृत्तियाँ दूर भागती हैं।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अनुमार्जन

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥ २४॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार राक्षसी वृत्तियों को दूर भगाने पर मनुष्य यह प्रार्थना कर सकता है कि हम **वर्चसा**=रोग-कृमियों के साथ सफलता से संघर्ष कर सकनेवाली वर्चस् शक्ति से **समगन्महि**=सङ्गत हों। हमारे अन्दर प्राणशक्ति हो। २. **पयसा**=एक-एक अङ्ग की शक्ति के आप्यायन से हम सङ्गत हों (ओप्यायी वृद्धौ)। ३. **तनूभिः**=(तन् विस्तारे) शक्तियों के विस्तारवाले शरीरों से **समगन्महि**=हम युक्त हों, और ४. इन सबसे बढ़कर **शिवेन मनसा**=शिव सङ्कल्पवाले मन से **सम्**=सङ्गत हों। राक्षसी वृत्तियों के दूर करने से प्राणशक्ति की रक्षा होकर सब अङ्गों का आप्यायन होता है, सब अङ्गों का विस्तार होकर शरीर सचमुच 'तनू' इस सार्थक नामवाला होता है और मन शिवसंकल्पों से युक्त हो जाता है। ५. **त्वष्टा**=हम सबके रूपों को सुन्दर बनानेवाला (त्वष्टा रूपाणि पिंशतु—ऋ १०।१८४।१) देवशिल्पी **सु-द-त्रः**=उत्तमोत्तम साधन व शक्तियाँ प्राप्त कराके हमारा त्राण करनेवाला प्रभु हमें **रायः**=(रा दाने) दान दिये जानेवाले धनों को **विदधातु** =दे। हमें वे धन प्राप्त हों, जिनसे हम 'कु-बेर' (कुत्सित शरीरवाले) न बन जाएँ। हमें वे धन प्राप्त हों जिन्हें प्राप्त करके हम विलासमग्न होकर निधन=मृत्यु की ओर न चले जाएँ। प्रभु सुदत्र हैं, वे निकृष्ट धन क्यों देंगे? ६. वे प्रभु कृपा करके **तन्वः**=हमारे शरीरों की **यत्**=जो भी **विलिष्टम्**=विशेष

अल्पता–न्यूनता है (लिश् अल्पीभावे) उसे **अनुमार्ष्टु**=दूर करें, उसका शोधन कर डालें। न्यूनताओं से दूर होकर हमारे शरीर सुन्दर–ही–सुन्दर हों।

भावार्थ–हम वर्चस्, आप्यायन, शक्ति–विस्तार व शिव मन से सङ्गत हों। धन का दान देनेवाले हों और अपनी न्यूनताओं का शोधन करें।

ऋषि:–वामदेव:। देवता–विष्णु:। छन्द:–निचृदार्चीपंक्ति:[द], आर्चीपंक्ति:[क], भुरिग्जगती[र]।
स्वर:–पञ्चम:[द, क], निषाद:[र]॥

तीन पग

[द] दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो[क]ऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः [र]पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽअगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम॥ २५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो जीव अपनी न्यूनताओं का शोधन करता हुआ 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की उन्नति को सिद्ध करता है, वह 'विष्णु'–व्यापक उन्नतिवाला कहलाता है। यह **विष्णु:**=उन्नतिशील पुरुष **दिवि**=(मूर्ध्नो द्यौ:) मस्तिष्क के विषय में **व्यक्रंस्त**=विशेष पग रखता है, मस्तिष्क को ज्ञान–ज्योति से उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करता है। **जागतेन छन्दसा**= जगती के हित की इच्छा से–अधिक–से–अधिक लोकहित की इच्छा से कर्म करता है। **तत:**= इससे, इस ज्ञान की दीप्ति से, **य:**=जो कोई **अस्मान्**=हम सबसे द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्म:**=अप्रीतिकर समझते हैं, वह व्यक्ति **निर्भक्त:**=दूर भगा दिया जाता है (is put to flight)। इस ज्ञान के कारण ऐसे पुरुष से हम इस प्रकार वर्त्तते हैं कि वह द्वेष करना छोड़ देता है, अथवा उसका द्वेष समाज को उतनी हानि नहीं पहुँचा पाता। २. **विष्णु:**=वह चहुँमुखी उन्नति करनेवाला पुरुष **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष के विषय में **व्यक्रंस्त**= विशेषरूप से पग रखता है। **छन्दसा**=इस इच्छा से कि **त्रैष्टुभेन**= (त्रि+स्तुभ्) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोक सके। यह विष्णु प्रयत्न करता है कि इसके हृदय में काम, क्रोध व लोभ का प्रवेश न हो। इन्हें नरक का द्वार जानकर वह इनका अन्त करनेवाला होता है। **तत:**=उस राग–द्वेषातीत हृदय से **निर्भक्त:**=वह व्यक्ति दूर कर दिया जाता है, **य:**=जो **अस्मान्**= हम सबसे द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्म:**=अप्रीति के योग्य समझते हैं। पवित्र हृदयवाला मनुष्य दूसरे की अपवित्रता को दूर करने में बहुत कुछ समर्थ होता है। **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:'**–इस योगदर्शन के सूत्र में यही कहा है कि मेरे हृदय में अहिंसा प्रतिष्ठित होगी तो मेरे समीप दूसरा व्यक्ति भी अपने वैर को समाप्त कर देगा। ३. अब यह **विष्णु:**=व्यापक उन्नतिशील पुरुष **पृथिव्याम्**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर के विषय में **व्यक्रंस्त**=विशेषरूप से पग रखता है जिससे **गायत्रेण छन्दसा**=(गया: प्राणा:, तान् तत्रे) प्राणशक्ति की सम्यक् रक्षा कर सके। शरीर को स्वस्थ व सबल रखना ही अन्य सब उन्नतियों का मूल है, अत: इस विषय में विशेष प्रयत्न अपेक्षित है। **तत:**=इसी उद्देश्य से **निर्भक्त:**=उस व्यक्ति को हम अलग रखते हैं, **य:**= जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और परिणामत: **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्म:**=अप्रीति के योग्य समझते हैं। द्वेष शरीर के स्वास्थ्य पर बड़ा घातक प्रभाव डालता है, अत: इससे बचना आवश्यक है। ४. 'समाज–द्वेषी से कैसे वर्त्ता जाए'–इसका उत्तर यहाँ इस प्रकार दिया गया है कि यह

अस्मात् अन्नात्=इस अन्न से **निर्भक्तः**=अलग किया जाए। समाज में कभी-कभी मिलकर जो प्रीतिभोज (feasts) चलते हैं, उनमें इसे आमन्त्रित न किया जाए। आजकल की भाषा में उसका 'हुक्का-पानी' बन्द कर दिया जाए। उसका यह सामाजिक बहिष्कार उसके जीवन के सुधार के लिए एक सत्याग्रह के समान है। इसका उसपर कोई प्रभाव न पड़े, ऐसा नहीं हो सकता। **अस्यै प्रतिष्ठायाः**=उसे प्रतिष्ठा के पदों से अलग कर दिया जाए। समाज के सङ्गठनों में उसे प्रमुख स्थान न दिये जाएँ। इस प्रकार उसपर सामाजिक दबाव डालकर उसकी वृत्ति को सुधारने का यत्न किया जाए। ५. उल्लिखित प्रकार से जीवन बिताने पर हम **स्वः**=स्वर्ग को **अगन्म**=प्राप्त होंगे और **ज्योतिषा सम् अभूम**=सदा अपनी ज्ञान-ज्योति के साथ होनेवाले होंगे, अर्थात् हमारा जीवन प्रकाशमय होगा, यह शुक्ल-मार्ग से चलता रहेगा।

भावार्थ—हम 'मस्तिष्क, मन व शरीर' की त्रिविध उन्नति करके 'विष्णु' कहलाएँ तथा द्वेष से दूर रहकर अपने जीवन को सुखी व प्रकाशमय बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

'विष्णु' की प्रार्थना व आराधना

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २६॥

गत मन्त्र का विष्णु प्रभु का आराधन निम्न शब्दों में करता है—१. **स्वयम्भूः असि**=आप स्वयं होनेवाले हो। 'आप किसी और पर आश्रित हों'—ऐसी बात नहीं है। आप आत्म-निर्भर हैं। आपकी कोई भी आवश्यकता नहीं है, तभी तो आप **श्रेष्ठः**=श्रेष्ठता के दृष्टिकोण से परमेष्ठी=परम स्थान में स्थित हैं। मैं भी आत्म-निर्भर बनकर श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करूँ। २. आप ज्ञान-किरणों के पुञ्ज हो अथवा आप इस सारे ब्रह्माण्ड का नियमन करनेवाले हो (रश्मि=लगाम)। मैं भी आपका उपासक बनकर **रश्मिः**=ज्ञान-किरणोंवाला बनूँ, अपने जीवन पर पूर्ण नियन्त्रणवाला होऊँ। मनरूप लगाम को काबू करके मैं अपने जीवन को बड़ा संयत बना पाऊँ। ३. **वर्चोदा असि**=हे प्रभो! आप अपने उपासकों को वर्चस् देनेवाले हैं, **मे**=मुझे भी **वर्चः**=शक्ति **देहि**=दीजिए। वस्तुतः 'संयत जीवन' का ही परिणाम 'शक्ति की प्राप्ति' है। जैसे आत्म-निर्भरता—बाह्य वस्तुओं पर निर्भर न रहना 'श्रेष्ठता' का साधन है (स्वयम्भू=श्रेष्ठ), उसी प्रकार ज्ञान व संयत जीवन 'वर्चस्' के उपाय हैं। ४. इस वर्चस् की प्राप्ति के लिए मैं **सूर्यस्य**=सूर्य के **आवृतम् अनु**=आवर्तन के अनुसार **आवर्ते**=अपने दैनिक कार्यक्रम का आवर्तन करता हूँ। जैसे सूर्य अपनी क्रियाओं में बड़ा नियमित है, उसी प्रकार मेरा कार्यक्रम भी सूर्य की भाँति चलता है। यह प्रकाशमय नियमित जीवन ही सम्पूर्ण शक्ति का कारण है।

भावार्थ—हम आत्म-निर्भर बनकर श्रेष्ठ बनें, नियमित जीवनवाले होकर शक्तिशाली हों और सूर्य की भाँति अपनी क्रियाओं में लगे रहें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पंक्तिः[क], गायत्री[र]। स्वरः—पञ्चमः[क], षड्जः[र]॥

सु-गृहपतिः

[क]अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासꣳसुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः। [र]अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳहिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते॥ २७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार (क) जब हमारी आवश्कताएँ कम होंगी,

(ख) हम प्रकाशमय नियमित जीवनवाले होंगे, (ग) सशक्त होंगे (घ) सूर्य की भाँति दैनिक आवर्तन को पूरा करेंगे तब हम प्रस्तुत मन्त्र के 'सु-गृहपति' बन जाएँगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि २. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो ! **गृहपते**=हमारे घरों के रक्षक! **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **त्वया सुगृहपतिना**=सुगृहपति आपके साथ सदा अपना सम्पर्क रखता हुआ मैं **सु-गृहपतिः**=उत्तम गृहपति **भूयासम्**=बन जाऊँ। आपकी आँख से ओझल न होने पर मैं कभी-मार्ग-भ्रष्ट न होऊँगा। अपने गृहस्थ के कर्त्तव्यों को, आपसे शक्ति प्राप्त करके मैं उत्तमता से निभानेवाला बनूँगा। ३. **अग्ने**=उन्नतिसाधक प्रभो ! **मया गृहपतिना**=मुझ गृहपति से **त्वम्**=आप **सुगृहपतिः**=उत्तम गृहपतिवाले **भूयाः**=होओ। जैसे अच्छे शिष्यों से आचार्य 'उत्तम शिष्योंवाला' कहलाता है, इसी प्रकार मुझ आपके उपासक के द्वारा आप 'उत्तम गृहपति' कहे जाएँ। मैं आपको यशस्वी व स्तुत्य करने के लिए 'सुगृहपति' बनूँ।

४. हे प्रभो:! पति-पत्नी हम दोनों के **गार्हपत्यानि**=गृहपति के कर्त्तव्य **अस्थूरि सन्तु**=एक बैलवाली गाड़ी के समान न हो जाएँ। (स्थूरि=जिसका एक बैल रह गया हो ऐसी गाड़ी), अर्थात् अपने इस गृहस्थ-शकट को हम दोनों पति-पत्नी मिलकर बड़ी अच्छी प्रकार वहन करनेवाले बनें। हमारा साथ बना रहे—अपमृत्यु से हममें से किसी एक को ही यह गाड़ी न खेंचनी पड़े। ५. मैं **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त **सूर्यस्य**=सूर्य के **आवृतम्**=आवर्तन के अनुसार **आवर्ते**=अपने दैनिक कार्यक्रम के आवर्तन को चलानेवाला बनूँ। वस्तुतः यह 'नियमित आवर्तन' ही सुगृहपति बनने का सर्वोत्तम साधन है।

भावार्थ—प्रभु को कभी न भुलाता हुआ मनुष्य सुगृहपति बने, पति-पत्नी मिलकर गृहस्थ की गाड़ी को खेंचनेवाले और सदा सूर्य की भाँति नियमित जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

जो वस्तुतः हूँ, वही हूँ,—'पूर्ण स्वस्थ'

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तम॑चारिषं॒ तद॑शकं॒ तन्मे॑ऽराधी॒दम॒हं य॑ऽए॒वा ऽस्मि॒ सो॒ऽस्मि॥ २८॥

सदा सूर्य की भाँति नियमित रूप से चलने का व्रत पिछले मन्त्र में लिया गया है। 'उसी व्रत को मैंने यथाशक्ति पाला है' इस बात को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **व्रतपते**=हमारे व्रतों के रक्षक हे प्रभो! **व्रतम्**=व्रत का **अचारिषम्**=मैंने आचरण किया है, **तत् अशकम्**=उस व्रत के पालन में मैं समर्थ हुआ हूँ। **तत् मे**=वह मेरा व्रत **अराधि**=सिद्ध हुआ है। प्रथम अध्याय के पाँचवे मन्त्र में मैंने निश्चय किया था कि (चरिष्यामि) मैं व्रत का पालन करूँगा और आपकी कृपा से (शकेयम्) उस व्रत का पालन कर सकूँ। आज इस द्वितीय अध्याय के अठाइसवें मन्त्र तक पहुँचकर मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने उस व्रत का बहुत कुछ पालन किया है, उसे पूर्ण करने में आपकी कृपा से मैं बहुत कुछ समर्थ हुआ हूँ, वह मेरा व्रत सिद्ध हुआ है। २. और इसका परिणाम है कि **इदम् अहम्**=यह मैं स्त्री वा पुरुष जो भी हूँ **यः एव अस्मि**=जो कुछ मैं वास्तव में हूँ, **'सः अस्मि'**=मैं वही हूँ, अर्थात् अब मैं भूल से इस पञ्चभौतिक शरीर में 'मैं' बुद्धि नहीं करता। इससे में ऊपर उठ गया हूँ। अब मैं आत्मा को पहचानने लगा हूँ। ३. मन्त्र छब्बीस में 'रश्मि'=लगाम का उल्लेख था। यह लगाम ही 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' है। इस चित्त निरोध से मैं स्वरूप में स्थित हो गया हूँ और जो वस्तुतः हूँ, वही हो गया हूँ।

भावार्थ—हम व्रत का पालन करें और जो हैं, वही हो जाएँ। अपने आत्म-स्वरूप

को पहचानें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षी अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

पितृयज्ञ

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा।
अपहताऽअसुरा रक्षाᳯंसि वेदिषदः॥ २९॥

१. राक्षसी वृत्तियों का उद्गम—प्रारम्भ कहाँ से है? यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि कोई युवक व युवति जब अपने माता-पिता की सेवा में न लगकर अपना आराम देखने लगते हैं तब इस आसुरी वृत्ति का आरम्भ होता है। 'माता-पिता को जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुएँ भी प्राप्त नहीं और ये युवक दम्पती सिनेमा जा रहे हैं' इस रूप में इस आसुरी वृत्ति का तमाशा होने लगता है। माता-पिता मर रहे हैं, उनका औषधोपचार भी ठीक नहीं हो रहा और ये युवक-युवति फ्रूट-क्रीम का आनन्द ले रहे हैं। यह राक्षसी वृत्ति का खुला नाच होने लगता है। इनके लिए किसी भी मुख से शुभ शब्द कैसे उच्चरित हो सकते हैं? अतः मन्त्र में कहते हैं कि—२. **अग्नये**= प्रगतिशील दम्पती के लिए **कव्यवाहनाय**=माता-पिता को अन्न प्राप्त करानेवाले के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) उत्तम शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इनके लिए माता-पिता के मुख से शुभ शब्दों का ही प्रकाश होता है, लोग भी इनकी प्रशंसा करते हैं। **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले नम्र युवक के लिए **पितृमते**=उत्तम माता-पितावाले के लिए—जिसके माता-पिता सुखपूर्वक हैं, उस युवक के लिए **स्वाहा**=शुभ शब्दों का उच्चारण होता है।

देवों के लिए दिया जानेवाला अन्न 'हव्य' कहलाता है और पितरों के लिए दिया जानेवाला 'कव्य'। जो नवदम्पती अपने वृद्ध माता-पिता को खिलाकर स्वयं खाते हैं, उनकी संसार में कीर्ति होती है। जो माता-पिता के प्रति सदा नम्र होते हैं और माता-पिता को सुखमय स्थिति में रखते हैं, वे ही प्रशंसनीय होते हैं।

यह पृथिवी 'वेदि' है। अध्यात्म में यह शरीर वेदि है। यज्ञवेदि में आसीन होनेवाले की—यज्ञशील की **वेदिषदः**=इस शरीर में आ जानेवाली **असुराः**=आसुरी वृत्तियाँ और **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए माता-पिता का भी क्षय करनेवाली वृत्तियाँ **अपहताः**=सुदूर नष्ट कर दी गई हैं। माता-पितारूप देवों का पूजन करनेवाला, उनके प्रति विनीत व्यवहार करनेवाला ही प्रशंसनीय होता है और उसी के जीवन में अशुभ वृत्तियों का उदय नहीं होता।

भावार्थ—हम वृद्ध माता-पिता को श्रद्धापूर्वक खिलाकर भोजन करें—यही उन्नति का मार्ग है। हम माता-पिता के प्रति विनीत हों। उनकी स्थिति को सदा उत्तम बनाने का प्रयत्न करें, तभी हम लोक में प्रशंसनीय होंगे।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।।

आसुर जीवन

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाऽअसुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्॥ ३०॥

'गत मन्त्र' में वर्णित पितृयज्ञ को जो युवक अपने जीवन में कोई स्थान नहीं देते

उनका जीवन क्या विचित्र बन जाता है'—यह वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है—

१. **ये**=जो **रूपाणि**=सुन्दर आकृतियों को **प्रतिमुञ्चमानाः**=धारण करते हुए, अर्थात् सुन्दर वेष-भूषाओं में अपने को सजाते हुए **चरन्ति**=सर्वत्र विचरते हैं (बाज़ारों, क्लबों और सिनेमागृहों में घूमते हैं)। २. **असुराः सन्तः**=(असुषु रमन्ते) जो अपने ही प्राणों में रमण करते हुए; जीवन का आनन्द लूटते हुए **चरन्ति** =मौज से घूमते हैं, अपने आदरणीय पुरुषों के आराम का तनिक भी ध्यान नहीं करते ३. जो **स्वधया** =(स्वधा=अन्न) अन्न के हेतु से ही **चरन्ति**=अपने इस जीवन में चलते हैं, अर्थात् उनका जीवनोद्देश्य 'खाना-पीना' ही रह जाता है। वे खाने-पीने के लिए ही जीते हैं। ४. **परापुरः**=(परागतानि स्वसुखार्थानि अधर्मकार्याणि पिपुरति—द०) संसार से उलटे, अर्थात् लोक-विद्विष्ट अपने ही सुखकारी अधर्मकार्यों को सिद्ध करते हैं। **निपुरः**=(निकृष्टान् दुष्टस्वभावान् पिपुरति) दुष्ट-स्वभावों को परिपूर्ण करनेवाले **ये**=जो लोग **भरन्ति**=अन्याय से औरों के पदार्थों को धारण करते हैं (अन्यायेनार्थसंचयान्—गीता)। ५. **अग्निः**=वह संसार का सञ्चालक प्रभु **तान्**=उल्लिखित वृत्तिवाले असुर लोगों को **अस्मात्**=इस **लोकात्**=लोक से **प्रणुदाति**=दूर करता है।

आसुर वृत्तिवाले लोग समाज के लिए बड़े अवाञ्छनीय होते हैं। राजा को चाहिए कि ऐसे लोगों को राष्ट्र से निर्वासित कर दे। या मनुष्य प्रभु से प्रार्थना करता है कि प्रभो! इनको आप अपने पास ही बुला लीजिए, इनसे हमारा पीछा छुड़ाइए।

भावार्थ—आसुर जीवन के लक्षण हैं—१. छैल-छबीले बनकर घूमना (रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः), २. अपनी ही मौज को महत्त्व देना (असुरः), ३. जीवन का उद्देश्य भोग समझना (स्वधया), ४. पराये माल से अपने को पुर करना (परापुरः), ५. निकृष्ट साधनों से अपने खजाने को भरना (निपुरः)। हम ऐसे बनकर प्रभु के क्रोध के पात्र न बनें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—पितरः। छन्दः—बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

मादयध्वं, आवृषायध्वम्

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभा॒गमावृ॑षायध्वम्।
अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत॥ ३१॥

जो युवक व युवति आसुर वृत्ति के नहीं होते वे अपने माता-पिता से यही प्रार्थना करते हैं कि **पितरः**=उचित पथ-प्रदर्शन द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले पितरो! **अत्र**=आप यहाँ ही—घर में ही **मादयध्वम्**=हर्षपूर्वक निवास करो। **गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः**=घर में रहते हुए भी पाँचों इन्द्रियों का निग्रहरूप तप किया जा सकता है, उसके लिए वनस्थ होने की क्या आवश्यकता? घर की सब उलझनों को हमारे कन्धों पर डालकर आप यहाँ अपने जीवन को आनन्दयुक्त कीजिए। प्रभु-भजन की मस्ती का आनन्द आप यहाँ भी ले-सकते हैं। यहाँ रहते हुए आप **यथाभागम्**=भाग के अनुसार, अर्थात् समय-समय पर सेवन के योग्य **आवृषायध्वम्**=विद्या और धर्म की शिक्षा की वर्षा करनेवाले होओ। आज से पहले भी **पितरः**=पितर लोग **अमीमदन्त**=घर पर ही आनन्द से रहनेवाले हुए हैं और उन्होंने **यथाभागम्**=यथासमय **आवृषायिषत**=स्थूल व सूक्ष्म विद्या तथा धर्म के उपदेश की वर्षा की है—धर्मज्ञान से हम सन्तानों को सिक्त किया है। हम किसी अभूतपूर्व बात के लिए आपसे प्रार्थना नहीं कर रहे हैं। आपके ज्ञानोपदेश से हमारा मार्ग भी सदा प्रकाशमय बना रहेगा।

भावार्थ—'हे मान्या माता व पिताजी! आप घर पर ही सानन्द रहिए व समय-समय

पर हमें सुसम्मति देते रहिए' यह है पितृभक्त सन्तानों की प्रार्थना। ऐसी सन्तान ही सच्चा पितृयज्ञ करनेवाली होती है।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—पितरः। छन्दः—ब्राह्मीबृहती [क], निचृद्बृहती [र]। स्वरः—मध्यमः॥

आचार्य

[क]नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो जी॒वाय॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो घो॒राय॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ [र]नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो॒ नमो॑ वो गृहान्नः॑ पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो देष्मै॒तद्वः॑ पितरो॒ वासः॥ ३२॥

ज्ञान-प्रदाता आचार्य भी पिता है। जिस प्रकार छह ऋतुओं का क्रम चलता है और उनमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं या गुणों का प्राधान्य होता है, उसी प्रकार आचार्य विद्यार्थी में उन गुणों को पैदा करने का प्रयत्न करता है। १. इनमें सर्वप्रथम वसन्त है जिसमें सब फूल व फलों में रस का सञ्चार होता है। आचार्य भी विद्यार्थी के जीवन में 'अप+ज्योति' अर्थात् जल व अग्नितत्त्व का समन्वय करके—शान्ति तथा शक्ति उत्पन्न करके रस का सञ्चार करता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपके **रसाय**=इस 'रस' के लिए **नमः**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। २. वसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु आती है। इसका मुख्य गुण 'शोषण' है, यह सबको सुखा देती है। संस्कृत में शत्रुओं के शोषक बल को कहते ही 'शुष्म' हैं। आचार्य विद्यार्थी में भी इस काम-क्रोध आदि के शोषक बल को उत्पन्न करता है और विद्यार्थी कहता है—**पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=तुम्हारे **शोषाय**=इस शत्रु-शोषक बल के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। ३. अब वर्षा ऋतु का प्रारम्भ होता है। इसमें ग्रीष्म से सन्तप्त प्राणी फिर से जीवित हो उठते हैं, अतः जीवन-तत्त्व को देनेवाली इस वर्षा ऋतु के समान हे **पितरः**=आचार्यो! आपके इस **जीवाय**=जीवन तत्त्व के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। ४. अब अन्नों से परिपूर्ण शरद् ऋतु आती है। अन्न को स्वधा कहते हैं। **'स्वधा वै शरत्'** इन शब्दों में शरत् को भी स्वधा कहा है। इस अन्न से 'स्व'=अपने को 'धा'=धारण करने की शक्ति उत्पन्न होती है। आचार्य भी विद्यार्थी में इस स्वधा=स्वधारण-शक्ति को उत्पन्न करता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपकी **स्वधायै**=इस स्वधारण-शक्ति के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ५. शरद् के पश्चात् शीत के प्राचुर्यवाली विषम व घोर हेमन्त ऋतु आती है। आचार्य भी विद्यार्थी को शत्रुओं के लिए 'घोर' बनाता है। विद्यार्थी कहते हैं—**पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपकी इस **घोराय**=शत्रु-भयंकरता के लिए **नमः**=नमस्कार है। ६. अन्त में शिशिर ऋतु आती है। यह शीत की मन्दता तथा उष्णता के अभाव के कारण ज्ञान-प्राप्ति के लिए अत्यन्त अनुकूल है। आचार्य भी विद्यार्थी को अनुकूल वातावरण पैदा करके खूब ज्ञानी बनाता है। विद्यार्थी कहते हैं कि **पितरः**=हे आचार्यो! **वः**=आपके **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **नमः**=हम विनीतता से आपके समीप उपस्थित होते हैं। **नमो वः पितरः**=हे आचार्यो! आपके लिए नमन है, **पितरः नमः वः**=हे आचार्यो! फिर भी आपके लिए नमन है। **पितरः**=हे आचार्यो! आप **नः**=हमें **गृहान्**=घरों को **दत्त**=दीजिए।

प्राचीन काल में आचार्य ही छात्र व छात्राओं को उचित प्रकार से शिक्षित करके, उनके गुण-कर्म-स्वभाव से खूब परिचित होने के कारण उनके सम्बन्धों को निर्धारित करके उनके माता-पिता के अनुमोदन से उन्हें गृहस्थ बना दिया करते थे। आचार्यों द्वारा

किये गये ये सम्बन्ध प्रायेण अनुकूल ही प्रमाणित हुआ करते थे। ८. हम भी **पितरः**=हे आचार्यो! **सतः वः**=विद्यमान आपको **देष्म**=सदा आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराते रहें ('सतः' यह द्वितीया का प्रयोग चतुर्थी के लिए है)। **सतः**=विद्यमान आपके लिए, नकि आपके चले जाने के बाद। यहाँ जीवित श्राद्ध का संकेत स्पष्ट है। ९. **पितरः**=हे आचार्यो! **एतत् वासः**=यह निवास-स्थान व वस्त्र आदि **वः**=आपका ही तो है। आपने ही इसके अर्जन की शक्ति हमें प्राप्त कराई है। आपने ही हमें इनके निर्माण के योग्य बनाया है। (निवास अर्थ में 'वासः' का प्रयोग कम मिलता है, परन्तु धात्वीय अर्थ के विचार से वह ठीक ही है। घर भी हमारा आच्छादन करता है, सर्दी-गर्मी व ओलों से हमें बचाता है)।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थी के जीवन में 'रस, शत्रु-शोषकशक्ति, जीवनतत्त्व, स्वधारण-शक्ति, शत्रु के प्रति भयंकरता व ज्ञान' को उत्पन्न करे और तत्पश्चात् उसके उचित जीवन-सखा को ढूँढने में सहायक हो। विद्यार्थी भी सदा आचार्य के प्रति विनीत बनें और गुरुदक्षिणा के रूप में आजीवन उन्हें कुछ-न-कुछ देते रहें। ये न भूलें कि आचार्य ने ही उन्हें घर-निर्माण के योग्य बनाया है।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—पितरः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

कुमार पुष्करस्रक्

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥ ३३॥

१. गत मन्त्र में वर्णित आचार्यों से प्रभु कहते हैं—**पितरः**=ज्ञान-प्रदाता आचार्यो! **गर्भं आधत्त**=विद्यार्थी को अपने गर्भ में धारण करो। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में यही भावना इन शब्दों में कही गई है कि **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'**—आचार्य विद्यार्थी को अपने समीप लाता हुआ उसे गर्भ में धारण करता है। जैसे माता गर्भस्थ बालक की सुरक्षा करती है, उसी प्रकार आचार्य विद्यार्थी को गर्भस्थ बालक की भाँति ही संसार के अवाञ्छनीय वातावरण से बचाने का प्रयत्न करता है। २. इसे **कुमारम्**=(कु+मारम्) सब बुराइयों को मारनेवाला, राग-द्वेष आदि सब मलों को दूर भगानेवाला **आधत्त**=(सम्पादयत) बनाना है। ३. **पुष्कर-स्रजम्**=(पुष्कर=सूर्य, सृज्=उत्पन्न करना) इसे अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य को उदय करनेवाला **आधत्त**=बनाइए।

आचार्य ने विद्यार्थी को हृदय के दृष्टिकोण से कुमार=सब बुराइयों को मार भगानेवाला बनाना है तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से पुष्करस्रज्=ज्ञान-सूर्य का उदय करनेवाला बनाना है। ४. इसे 'कुमार व पुष्करस्रज्' इसलिए बनाओ **यथा**=जिससे यह **इह**= मानव-जीवन में **पुरुषः**=पौरुष करनेवाला **असत्**=हो। 'कु-मारता' के अभाव में मन में विलास की वृत्तियाँ जागती हैं और मनुष्य पौरुष से बचना चाहता है तथा आराम पसन्द हो जाता है। 'पुष्कर-स्रक्त्व' न होने पर मनुष्य की प्रवृत्तियाँ पशुओं-जैसी हो जाती हैं और वह 'मनुष्य' न रहकर 'पशु' ही बन जाता है। पुरुष के दो मुख्य गुण हैं 'कु-मारत्व और पुष्कर-स्रक्त्व'—हृदय का नैर्मल्य और मस्तिष्क की दीप्ति। इन दोनों गुणों को उत्पन्न करके आचार्य विद्यार्थी को दूसरा जन्म देता है और विद्यार्थी द्विज बनता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को गर्भ में धारण करे। उसे पवित्र हृदय व उज्ज्वल मस्तिष्क बनाने का प्रयत्न करे, जिससे वह राष्ट्र में एक उत्तम नागरिक बने।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—आपः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

गुरु-दक्षिणा

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।

स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ ३४॥

'आचार्य विद्यार्थी को कैसा बनाये' यह गत मन्त्र में वर्णित है। प्रस्तुत मन्त्र में विद्यार्थी गुरु-दक्षिणा में क्या दे—यह कहते हैं। 'आचार्यकुल में खान-पान की कभी कमी न हो' इस बात का ध्यान आचार्य से अध्यापित विद्यार्थियों को ही करना है। विद्यार्थी को यह ध्यान रहे कि **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को तथा **अमृतम्**=रोग आदि से अपमृत्यु के अभावरूप अमरत्व को **वहन्तीः**=प्राप्त कराती हुई जो **स्वधाः**=स्वधाएँ अर्थात् अन्न **स्थ**=हैं, वे **मे**=मेरे **पितॄन्**=आचार्यों को **तर्पयत**=सदा तृप्त करें, अर्थात् आचार्यकुल में बल, प्राणशक्ति व नीरोगता देनेवाले अन्नों की कभी कमी न हो। वे अन्न निम्न हैं—(क) **घृतम्**=घी। सामान्यतः 'घृतम्' का अभिप्राय गोघृत से ही होता है। यह प्राणियों के आयुष्य को बढ़ानेवाला है, इसलिए 'घृतमायुः' घी तो आयु ही है, यह बात प्रसिद्ध है। यह मलों का क्षरण करके बल की दीप्ति प्राप्त कराता है। (ख) **पयः**=दूध। यह हमारे सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाला है। ताज़ा दूध तो 'पीयूषम्' अमृत ही कहा गया है। (ग) **कीलालम्**=अन्न। कील का अर्थ है बन्धन और 'अल' वारण=बाधक है। यह अन्न वृद्धि के प्रतिबन्धनभूत सब तत्त्वों का निवर्तक है (सर्वबन्धनिवर्तकम्—महीधर)। (घ) **परिस्रुतम्**=फलों के निचोड़ने से टपका हुआ रस। यह तो वस्तुतः शरीर में जीवन-रस ही सञ्चार कर देता है। इस प्रकार मुख्य स्वधा=अन्न ये चार ही हैं—'घी, दूध, अन्न और रस'। मनुष्य को चाहिए कि इनका प्रयोग करे और अपने जीवन में 'बल, प्राण व अमरत्व' को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—गुरु-दक्षिणा यही है कि उस-उस शिक्षाणालय के विद्यार्थी आचार्यकुलों में जीवन के आधारभूत पदार्थों—'घी, दूध, अन्न व रस' की कमी न होने दें। यही पितृश्राद्ध भी है।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

तृतीयोऽध्यायः

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान, नैर्मल्य, अर्पण

सुमिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयुतातिथिम्। आस्मिन् हुव्या जुहोतन॥१॥

१. गत अध्याय की समाप्ति पर आचार्य के गर्भ में रहकर एक कुमार के मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य के उदय होने का उल्लेख हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में ज्ञानसूर्य की दीप्तिवाला यह कुमार अपनी ज्ञानदीप्ति से प्रभु की परिचर्या करता है। २. **समिधा**=(सम्+इन्ध्=दीप्ति) ज्ञानदीप्ति से **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु की **दुवस्यत**=परिचर्या करो। प्रभु को यह ज्ञानीभक्त ही तो आत्मतुल्य प्रिय है। ३. **घृतैः**=मलों के क्षरण—दूरीकरण से (घृ—क्षरण) **अतिथिम्**=(अत सातत्यगमने, गमन=प्राप्ति) सतत दीप्त उस प्रभु को—सदा से हृदय में निवास करनेवाले अन्तर्यामी को—**बोधयत**=उद्बुद्ध करो। प्रभु की ज्योति मल के आवरण से अदृष्ट हो रही है, मलावरण के हटते ही वह उद्बुद्ध-सी हो जाती है। ४. **अस्मिन्**=इस उद्बुद्ध प्रभु—ज्योति में **हव्या**=अपनी सब हवियों को—अपने सब उत्तम कर्मों को—**आजुहोतन**=आहुत कर दो। अपने सब यज्ञादि कर्मों को प्रभु—चरणों में अर्पित करनेवाले बनो। ५. सामान्य अग्निहोत्र में भी क्रम यही होता है कि समिधाओं से अग्नि को दीप्त करते हैं—घृत से उसे उद्बुद्ध करते हैं और फिर उसमें हव्यों को डालते हैं। यहाँ अध्यात्म यज्ञ का क्रम भी यही है कि ज्ञानदीप्ति से प्रभु की उपासना करें—इस ज्ञानदीप्ति में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों का ज्ञान ही तीन समिधाएँ कहलाती हैं। उसके बाद यहाँ वासनात्मक मलों के क्षरणरूप 'घृत' से अपने अन्दर विद्यमान उस प्रभु का उद्बोधन होता है और इस प्रभु के चरणों में यह ज्ञानीभक्त अपने सब यज्ञात्मक कर्मों को अर्पित करता है। ६. इस प्रकार ज्ञानदीप्त, निर्मलान्तःकरण, प्रभु—चरणों में अपना अर्पण करनेवाला यह व्यक्ति विशिष्ट ही रूपवाला हो जाता है, अतः 'विरूप' कहलाता है और अङ्ग—प्रत्यङ्ग में रस के सञ्चार के कारण यह 'आङ्गिरस' कहलाता है।

भावार्थ—हम ज्ञानार्जन करें, हृदय को निर्मल करें और अपने सब कर्मों को प्रभु में अर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—वसुश्रुतः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

तीव्र घृताहुति

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे॥२॥

उस प्रभु के लिए **तीव्रम्**=(सर्वदोषाणां निवारणे पटुतरम्) दोष—निवारण में समर्थ **घृतम्**=ज्ञान की दीप्ति को **जुहोतन**=(हु=आदान) अपने में ग्रहण करो, जो प्रभु १. **सुसमिद्धाय**=पूर्ण रूप से समिद्ध हैं—ज्ञान से दीप्त हैं। प्रभु का ज्ञान निरतिशय है। **'स एष पूर्वेषमापि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**=वे प्रभु गुरुओं के भी गुरु हैं। काल से अवच्छिन्न न होने से—अनादि होने से—वे सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में वेदज्ञान दिया करते हैं। २. **शोचिषे**=वे प्रभु दीप्तिमान् हैं—अत्यन्त तेजस्वी हैं, पूर्ण पवित्र हैं। ३. **अग्नये**=सबको आगे

ले-चलनेवाले हैं ४. **जातवेदसे**=(जाते जाते विद्यते) प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान हैं, सर्वव्यापक हैं।

प्रभु को अपने हृदय में ग्रहण करनेवाला व्यक्ति भी (क) **सुसमिद्ध**=ज्ञानदीप्त बनता है। (ख) **शोचिः**=शुचितावाला होता है। (ग) **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ता है, तथा (घ) **जातवेदस्**=अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के जीवन में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। उनके सुख-दुःख में सुखी व दुःखी होता है। औरों के दुःखों को अपनाकर उसे दूर करने में ही शान्ति अनुभव करता है।

प्रभु में निवास करनेवाला यह प्रभु का उपासक सचमुच **'वसुः**=उत्तम निवासवाला है-इसीलिए भी यह वसु है कि यह औरों को बसाने का कारण बनता है (वासयति)। उत्तम ज्ञानवाला होने से 'श्रुत' है। इस प्रकार इसका नाम 'वसुश्रुत' हो गया है।

भावार्थ-मलों को तीव्रता से दूर करके हम पवित्र बनें-अपने में प्रभु की ज्योति को जगाएँ और सभी को प्रभु-पुत्र जानते हुए सभी के दुःखों को अपना दुःख जानें। उस दुःख को दूर करने में हमें शान्ति प्राप्त हो। यही वास्तविक 'यज्ञ' है। इस यज्ञ को ज्ञानपूर्वक करनेवाले हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'वसुश्रुत' बनें।

ऋषिः-भरद्वाजः। देवता-अग्निः। छन्दः-गायत्री। स्वरः-षड्जः॥

प्रभु का वर्धन

तं त्वा॑ स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्द्धयामसि। बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य॥३॥

हे **अङ्गिरः**=हमारे अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **समिद्भिः**=ज्ञानदीप्तियों से और **घृतेन**=मल के क्षरण से **वर्धयामसि**=हम निरन्तर बढ़ाते हैं। वस्तुतः जो वस्तु जितनी दूर होती है, वह उतनी छोटी दिखती है। हम उसके समीप पहुँचते जाते हैं तो वस्तु का स्वरूप बड़ा होता जाता है और यदि यह दूरी शून्य हो जाए तब तो वह वस्तु व्यापक-सी हो जाती है। उपासक की प्रभु से दूरी भी ज्यों-ज्यों कम होती जाती है, त्यों-त्यों प्रभु उसके लिए बड़े होते जाते हैं-दूरी के शून्य होने पर तो वे प्रभु उसके लिए सर्वव्यापक हो जाते हैं-वह सर्वत्र उस प्रभु का दर्शन करता है। इस प्रभु-दर्शन के लिए ही ज्ञानदीप्ति (समिध्) तथा मलों का क्षरण (घृत) साधन हैं। पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ व द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान ही तीन समिधाएँ-ज्ञान-दीप्तियाँ हैं जो हमें प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन कराती हैं। उस समय एक-एक पुष्प में से हमें प्रभु-सत्ता की गन्ध आने लगती है-एक-एक पत्ते में प्रभु की कृति-कुशलता दिखने लगती है।

मलों के हट जाने पर हमें प्रत्येक प्राणी के साथ एक बन्धुत्व का अनुभव होने लगता है। सब भेदभाव नष्ट हो जाता है-सबके अन्दर प्रभु का वास दिखता है। इन समदर्शियों को न शोक रहता है न मोह **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'**। इस उपासक की यही कामना होती है कि हे प्रभो! **बृहत्**=खूब ही **शोच**=मुझमें चमकिए। मैं अपने मलों को दूर करके अधिकाधिक आपकी दीप्ति को देखनेवाला बनूँ। **यविष्ठ्य** =हे प्रभो! (यु मिश्रण-अमिश्रण) आप ही मुझे दुरितों से दूर तथा यज्ञ से सङ्गत करनेवालों में सर्वोत्तम हैं। आपकी कृपा से मैं सब बुराइयों से ऊपर उठकर सब 'वाजों'-शक्तियों को अपने में भरनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बनता हूँ।

भावार्थ—हम अपने ज्ञान व नैर्मल्य से प्रभु की महिमा को बढ़ानेवाले बनें, बुराइयों से दूर तथा अच्छाइयों के समीप होकर अपने में शक्तियों को भरनेवाले 'भरद्वाज' हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान का परिणाम—'पवित्रता व त्याग'

उप॑ त्वाग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताचीर्यन्तु हर्यत। जुषस्व॑ स॒मिधो॒ मम॑॥४॥

हे अग्ने=मेरी उन्नति के साधक प्रभो! **हर्यत**=(हर्य गतिकान्त्योः) मेरी सब क्रियाओं के स्रोत व चाहने योग्य प्रभो! **मम**=मेरी **समिधः**=ज्ञानदीप्तियाँ **त्वा उपयन्तु**=आपके समीप प्राप्त हों। ज्ञान मुझे निरन्तर आपके समीप प्राप्त करानेवाला हो। 'मेरी ये ज्ञानदीप्तियाँ कैसी हैं? १. **हविष्मतीः**=ये उत्तम हविवाली हैं—त्यागपूर्वक अदनवाली हैं। ज्ञान का पहला परिणाम मेरे जीवन पर यह होता है कि मेरी अकेले खाने की वृत्ति प्रायः समाप्त हो जाती है—मैं औरों के साथ मिलकर खाता हूँ। मैं अपनी सम्पत्ति का पाँचों यज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष को खानेवाला बनता हूँ। यह यज्ञशेष ही तो अमृत है—अतः मेरा भोजन 'अमृतसेवन' हो जाता है। २. **घृताचीः**=(घृत अञ्च्) मल के क्षरण से युक्त है। ज्ञान का परिणाम मल का दूर करना है। ज्ञान 'पवित्र' है—'**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**'। एवं, ज्ञान के मेरे जीवन में दो परिणाम होते हैं—पवित्रता और त्याग।

हे प्रभो! मेरी इन ज्ञानदीप्तियों को **जुषस्व**=आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए—ये आपको प्रसन्न करनेवाली हों। जैसे पिता पुत्र के ऊँचे ज्ञान से प्रसन्न होता है—उसके प्रथम स्थान में उत्तीर्ण होने से प्रीति का अनुभव करता है, उसी प्रकार मेरा ज्ञान आपको प्रसन्न करे।

मेरा ज्ञान मेरे जीवन में पवित्रता व त्याग उत्पन्न करता है। पवित्र व यज्ञिय जीवनवाला बनकर मैं सब प्रजाओं के हित में प्रवृत्त होता हूँ और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' बनता हूँ।

भावार्थ—मुझे अनासक्त व पवित्र बनानेवाली मेरी ज्ञानदीप्तियाँ मुझे प्रभु के समीप पहुँचानेवाली हों—ये मुझे प्रभु का प्रिय बनाएँ। लोकहित में प्रवृत्त होकर मैं 'प्रजापति' बनूँ।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निवायुसूर्याः। छन्दः—दैवीबृहती^क, निचृद्बृहती^र। स्वरः—मध्यमः॥

अग्निहोत्र

^क भूर्भुव॒: स्व॒र् ^र द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा।
तस्या॑स्ते पृथिवि देवयजनि पृ॒ष्ठे॒ऽग्निम॑न्ना॒दम॒न्नाद्या॒याद॑धे॥५॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' लोकहित के उद्देश्य से 'प्राजापत्य यज्ञ' करने का निश्चय करता है। अग्निहोत्र के द्वारा वह अकेले खाने की वृत्ति से ऊपर उठता है। देवताओं से दिये गये अन्नों को देवों के लिए देकर ही वह खाता है, वायु आदि देवों की शुद्धि से समय पर वृष्टि के द्वारा अन्नोत्पादन का कारण बनता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस यज्ञियवृत्ति के परिणामस्वरूप उसका जीवन विलासमय नहीं बनता और परिणामतः वह '**भूः**'=स्वस्थ बना रहता है। भू=होना=बने रहना=अस्वस्थ न हो जाना। स्वस्थ शरीर में उसका मस्तिष्क भी स्वस्थ रहता है और **भुवः**=वह ज्ञान प्राप्त करता है। (भुवोऽवकल्कने, अवकल्कणं चिन्तनम्)। स्वस्थ व ज्ञानी बनकर वह **स्वः**=(स्वयं राजते) स्वयं राजमान व जितेन्द्रिय बनता है। यह इन्द्रियों का दास नहीं होता। वस्तुतः यज्ञियवृत्ति

के मूल में ही इन्द्रियों की दासता समाप्त हो जाती है। यह व्यक्ति विलास से ऊपर उठकर—केवल अपने लिए न जीता हुआ सभी के लिए जीता है। यह **भूम्ना**=बहुत्व के दृष्टिकोण से **द्यौः इव**=द्युलोक के समान हो जाता है। जैसे द्युलोक अनन्त नक्षत्रों को अपने में समाये हुए है उसी प्रकार यह भी सारे प्राणियों को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करने का प्रयत्न करता है। यह **वरिम्णा**=विशालता के दृष्टिकोण से **पृथिवी इव**=इस विस्तृत पृथिवी के समान होता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**=सभी वसुधा को यह अपना कुटुम्ब बना लेता है।

२. यह निश्चय करता है कि हे पृथिवी मातः=भूमे! **देवयजनि**=जो तू देवताओं के यज्ञ करने का स्थान है **तस्याः**=उस **ते**=तेरे **पृष्ठे**=पृष्ठ पर मैं **अग्निम्**=इस अग्नि को **आदधे**=अग्निकुण्ड में अवहित करता हूँ, जो अग्नि **अन्नादम्**=अन्न को खानेवाली है। इस अग्नि में उत्तमोत्तम हव्य अन्नों की आहुति देता हूँ। यह अग्नि उन्हें सूक्ष्मतम कणों में विभक्त करके सारे वायुमण्डल में फैला देता है। यह सूक्ष्मकण श्वासवायु के साथ कितने ही प्राणियों से अपने अन्दर ग्रहण किये जाते हैं। अग्निहोत्र हमें **अन्नाद्याय**=खानेयोग्य अन्न प्राप्त कराता है। इस 'अन्नाद्याय' खाद्य अन्न के लिए ही मैं अग्नि का आधान करता हूँ और इस आद्य अन्न की उत्पत्ति में कारण बनकर अपने 'प्रजापति' नाम को चरितार्थ करता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र के लाभ निम्न हैं—(क) स्वास्थ्य (भूः) (ख) ज्ञान (भुवः), (ग) जितेन्द्रियता (स्वः), (घ) विशालता (द्यौः इव, पृथिवी इव) (ङ) आद्य अन्न की प्राप्ति—इन लाभों का ध्यान करते हुए हमें अग्निहोत्र करना चाहिए।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

माता-पिता, सर्पराज्ञी कद्रूः

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥६॥

१. 'प्रजापति' ने गत मन्त्र में अपने जीवन को यज्ञमय बनाया। यज्ञादि उत्तम कर्मों में सदा लगे रहने से यह **'सर्प'**=गतिशील (सृप् गतौ) कहलाया। क्रियाशीलता से चमकने के कारण यह 'राज्ञी' (राज् दीप्तौ) कहलाता है। इस प्रकार यह क्रियाशील व देदीप्यमान जीवनवाला बनकर 'कं प्रति द्रवति' उस आनन्दस्वरूप प्रभु की ओर निरन्तर बढ़ रहा है। अतः 'कद्रूः' है। 'सर्पराज्ञी कद्रूः' यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग इसलिए है कि जीव मानो पत्नी है, जोकि अपने प्रभुरूप पति का वरण करने के लिए सन्नद्ध है।

२. **आयम्**=यह जीव **गौः**=गतिशील है (गच्छति), निरन्तर क्रिया में लगा हुआ है। **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासां) ज्योतियों को यह स्पर्श करनेवाला है। इसकी क्रिया के साथ ज्ञान जुड़ा हुआ है, वस्तुतः इसकी प्रत्येक क्रिया ज्ञानपूर्वक ही होती है। **अक्रमीत्**=यह निरन्तर उन्नति-पथ पर पग रख रहा है, आगे और आगे बढ़ रहा है। **पुरः**=सबसे पहले यह **मातरम्**=वेदमाता को (स्तुता मया वरदा वेदमाता०) **असदत्**=प्राप्त होता है। इसका सर्वप्रथम कार्य वेदज्ञान को प्राप्त करना है। इसे यह सर्वप्रधान कर्त्तव्य समझता है। इसी से तो वह कण-कण में प्रभु का दर्शन करता है। **स्वः**=उस स्वयंप्रकाश **पितरम्**=पिता की ओर **प्रयन्**=जाने के हेतु से वह ऐसा करता है। वस्तुतः प्रभु का दर्शन तभी होता है जब मनुष्य इस वेदज्ञान से अपने 'ब्रह्मवर्चस्' को बढ़ाता है।

भावार्थ—हम वेदमाता को अपनाएँ, जिससे उस देदीप्यमान पिता—प्रभु का दर्शन कर सकें।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान का प्रकाश

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒नास्य प्रा॒णाद॑पान॒ती। व्य॑ख्यन् महि॒षो दिव॑म्॥७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार वेदमाता को अपनाने पर अ॒स्य=इस 'वेदमातृभक्त' के **अन्तः**=अन्दर—अन्तःकरण में **रोचना**=ज्ञान की दीप्ति **चरति**=प्रसृत होती है, अर्थात् इसका अन्तःकरण ज्ञानज्योति से जगमगा उठता है। २. यह **रोचना**=ज्ञानदीप्ति विषयों के सात्त्विक रूप का दर्शन कराकर इसे विषयासक्ति से बचाती है। विषयासक्तियों से बचाव इसकी प्राणशक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। **प्राणात्**=प्राणशक्ति के द्वारा यह रोचना इसके जीवन में से **अपानती**=सब दोषों को दूर करती है। इसका जीवन निर्मल हो उठता है। केवल शरीर ही नहीं, इसके मन व मस्तिष्क भी स्वस्थ हो जाते हैं। ३. सब मलों से दूर हुआ यह **महिषः**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पुजारी **दिवम्**=उस हृदयस्थ देदीप्यमान ज्योति को **व्यख्यन्**=विशेषरूप से देखता है। मल के आवरण ने उस ज्योति को इससे छिपाया हुआ था। आवरण हटा और ज्योति का प्रकाश हुआ।

भावार्थ—हम वेदमाता को अपनाते हैं, तो अन्तःकरण प्रकाशित हो उठता है। प्राणशक्ति की वृद्धि से सब मल दूर हो जाते हैं और उपासक अन्तर्ज्योति—प्रभु को देखता है।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

निरन्तर 'जप'

त्रि॒ꣳशद्धाम॒ वि रा॑जति॒ वाक् प॑त॒ङ्गाय॑ धीयते। प्रति॒ वस्तो॒रह॒ द्युभिः॥८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब यह उपासक उस प्रभु का दर्शन करता है तब त्रिंशत् **धाम**=तीसों मुहूर्त **विराजति**=इसका अन्तःकरण प्रभु-ज्योति से चमकता है। इसका हृदय सदा प्रकाशमय रहता है। २. **वाक्**=इसकी वाणी **पतङ्गाय**=उस (पतति गच्छति प्राप्नोति) प्राप्त होनेवाले प्रभु के लिए **धीयते**=धारण की जाती है। यह निरन्तर उस प्रभु सूर्य-समप्रभ का ही जप करता है, उसके नाम का ही चिन्तन करता है। सदा प्रभु का स्मरण करने से इसका जीवन पवित्र बना रहता है। ३. **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन इसका जप चलता ही है (वस्तोः=दिन), **अह**=और निश्चय से **द्युभिः**=(द्यु=दिन) अधिक प्रकाश व खुशी—प्रसन्नता के दिनों में भी यह प्रभु-नाम-स्मरण करता है। उत्सव के दिनों में यह प्रभु-स्मरण हमारी प्रसन्नता को उच्छृङ्खल नहीं होने देता। प्रसन्नता में भी मर्यादा बनी रहती है।

भावार्थ—तीसों मुहूर्त प्रभु का दर्शन चले, निरन्तर उसके नाम का स्मरण हो। प्रसन्नता के अवसरों पर हम विशेषतः प्रभु को न भूलें, इसी में जीवन की सार्थकता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निसूर्यौ। छन्दः—पङ्क्तिः[क], याजुषीपङ्क्तिः[र]। स्वरः—पञ्चमः॥

गति=शक्ति+ज्ञान

[क]अ॒ग्निर्ज्योति॒र्ज्योति॑र॒ग्निः स्वाहा॒ सूर्यो॒ ज्योति॒र्ज्योति॒ः सूर्य॒ः स्वाहा॑।

अ॒ग्निर्वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्च॒ः स्वाहा॒ सूर्यो॒ वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्च॒ः स्वाहा॑।

[र]ज्योति॒ः सूर्य॒ः सूर्यो॒ ज्योति॒ः स्वाहा॑॥९॥

जो व्यक्ति गत मन्त्र की भावना के अनुसार सदा प्रभु का स्मरण करता है उसका जीवन निम्न सूत्रों को लेकर चलता है—१. **अग्निः ज्योतिः**=गति 'ज्ञान' है। वस्तुतः गति व क्रियाशीलता ज्ञान-प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। 'आलस्य' विद्यार्थी का प्रधान दोष है। **'सुखार्थिनः कुतो विद्या'**=आरामपसन्द को विद्या प्राप्त नहीं होती। 'Be diligent' यही तो विद्यार्थी को मूलभूत उपदेश कार्लाइल ने दिया है। यजुर्वेद का प्रारम्भ 'वायवः स्थ'='तुम क्रियाशील हो' इन शब्दों से होता है और समाप्ति भी 'कुर्वन्नेव'='करते हुए ही' इन शब्दों पर होती है। एवं, गति ही जीवन का सार है—यही ज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख साधन है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च'=गति के तीन अर्थ हैं—प्रथम अर्थ ज्ञान ही है। २. **ज्योतिः अग्निः**=ज्ञान गति है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य खूब क्रियावान् हो जाता है। **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ यह क्रियावान् होता है। ज्ञानी पुरुष आत्मशुद्धि के लिए निरन्तर कर्म करता है। एवं, 'गति ज्ञान है, ज्ञान गति है' यह **स्वाहा**=(सु+आह) कितना सुन्दर कथन है। ३. **अग्निः**=(अगि गतौ) यह गति **वर्चः**=शक्ति है। जिस अङ्ग में गति रहती है वह शक्तिशाली रहता है, गति गई—शक्ति गई। बायें हाथ से कम काम करते हैं, इसी कारण वह दायें हाथ की तुलना में निर्बल होता है। आलसी हुआ और मनुष्य 'अ+लस' हो जाता है—उसकी चमक चली जाती है (लस कान्तौ)। ४. **ज्योतिः वर्चः**=ज्ञान 'शक्ति' है। अंग्रेज़ी में 'knowledge is power', 'ज्ञान ही शक्ति है' यह कहावत है। संसार में ज्ञान का ही शासन है। अध्यात्मक्षेत्र में यही काम का विध्वंस करता है। **स्वाहा**=यह बात भी कितनी सुन्दर है!

५. सायंकाल सूर्य के अभाव में अग्नि को देखकर ये मन्त्र बोले जाते हैं तो प्रातः यही बात सूर्य के स्मरण से कही जाती है। **सूर्यो ज्योतिः**=यह सूर्य 'प्रकाश' है। सूर्य और अग्नि में कितना अन्तर है—'अग्नि' में 'अगि गतौ' धातु है तो सूर्य में 'सृ गतौ' धातु है। मौलिक भावना तो गति की ही है। गति ज्ञान है, और **ज्योतिः सूर्यः**=ज्ञान गति है तथा **सूर्यः वर्चः**=गति शक्ति है और **ज्योतिः वर्चः**=ज्ञान 'शक्ति' है। ये बातें **स्वाहा** =कितनी सुन्दरता से कही गई हैं! ६. इसी बात को एक बार फिर से इस प्रकार कहते हैं कि **ज्योतिः सूर्यः**=ज्ञान 'सूर्य' है, ज्ञान गति है और **सूर्यः ज्योतिः**=गति ज्ञान है। **स्वाहा**=यह बात सुन्दर है। हमें इस बात को अपनाने के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करना होगा।

७. इस मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गति (अग्नि व सूर्य) भौतिक क्षेत्र में यदि वर्चस् (शक्ति) को उत्पन्न करती है तो अध्यात्मक्षेत्र में यह ज्योति ज्ञान को जन्म देती है। एवं, गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान की उत्पत्ति ही प्रस्तुत मन्त्र का मुख्य विषय है। इस गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान को उत्पन्न करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त हुआ 'प्रजापति' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

८. यह भी ध्यान करना चाहिए कि सूर्य के साथ सम्बद्ध यहाँ तीन मन्त्र हैं और अग्नि के साथ दो, अतः तीसरे मन्त्र से आचार्य ने मौन रहकर आहुति देने के लिए लिखा है। तीसरा मन्त्र वेद में नहीं है।

भावार्थ—हम सायंकाल अग्नि से और प्रातः सूर्य से गति की प्रेरणा लें। इस गति से अपने में शक्ति व ज्ञान की वृद्धि करें।

सूचना—यहाँ अग्नि पहले है, सूर्य पीछे। रात्रि पहले है, दिन बाद में। प्रलय थी, सृष्टि हुई।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निः[क], सूर्यः[र]। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।।

इन्द्रवती रात्रि व उषा

[क]सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा।

[र]सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥१०॥

गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान का विकास करनेवाला यह प्रजापति अपनी जीवन-यात्रा में निम्न प्रकार से चलता है—१. **सवित्रा देवेन**=सबके प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से **सजूः**=मित्रतावाला, अर्थात् इस जीवन-यात्रा में प्रभु उसके साथ होते हैं। यह सदा प्रभु का स्मरण करते हुए अपनी जीवन-क्रियाओं को करता है। २. **इन्द्रवत्या रात्र्या**=इन्द्रवाली रात्रि के **सजूः**=साथ, अर्थात् यह प्रतिदिन रात्रि के आरम्भ में प्रभु-स्मरण करते हुए ही सोता है। सारी रात उस प्रभु के साथ ही इसका सम्बन्ध बना रहता है। यदि हम विषयों का चिन्तन करते हुए सोएँगे तो रात में भी उन विषयों के सेवन में ही लगे रहेंगे और इस प्रकार रात्रि 'इन्द्रियों' वाली हो जाएगी। ३. एवं, दिन में सदा प्रभु का स्मरण करते हुए रात में भी प्रभु का स्वप्न लेते हुए हम **जुषाणः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले बनें। प्रभु कहते हैं कि यह प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाला **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति ही **वेतु**=(वी गतौ) मुझे प्राप्त हो। **स्वाहा**=इस प्रीतिपूर्वक बर्त्ताव के लिए वह 'स्व' का 'हा' त्याग करना सीखे। ४. **देवेन सवित्रा सजूः**=उस प्रेरक देव से मित्रतावाला—अर्थात् प्रभु को ही सच्चा मित्र जाननेवाला **इन्द्रवत्या उषसा सजूः**=इन्द्रवाले उषःकाल के साथ, अर्थात् उषःकाल में उठकर सर्वप्रथम प्रभु का ही ध्यान करनेवाला **जुषाणः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तता हुआ अथवा स्वधर्म का प्रीति से सेवन करता हुआ **सूर्यः**=यह निरन्तर क्रियाशील, सूर्य के समान प्रकाशवाला व्यक्ति **वेतु**=प्रभु को प्राप्त हो। इसके लिए वह **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना को अपने में उद्बुद्ध करे।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—१. हमारी जीवन-यात्रा में वे सवितादेव हमारे साथी हों। २. हमारी रात्रि व उषाःकाल प्रभु-स्मरण में बीते और ३. हमारा सारा बर्त्ताव प्रीतिपूर्वक हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।।

हाथों में 'अध्वर', वाणी में 'मन्त्र'

उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरेऽअस्मे च शृण्वते ॥११॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए गत मन्त्र में तीसरी बात कही थी **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ। 'किन बातों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ?' यह विषय प्रस्तुत मन्त्र का है। १. **अध्वरम्**=(अ+ध्वर—कुटिलता व हिंसा) इस जीवन-यात्रा में कुटिलता व हिंसा से रहित यज्ञों के **उपप्रयन्तः**=समीप जाते हुए **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के लिए **मन्त्रं वोचेम**=मन्त्रों का उच्चारण करें। प्रभु-प्राप्ति के दो साधन हैं—(क) हमारे हाथ अध्वरों में व्याप्त हों और हमारी वाणी ज्ञान की बातों का उच्चारण करे। कर्मेन्द्रियाँ अहिंसात्मक व कुटिलताशून्य कर्मों में लगी हों और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करने में व्याप्त हों। ऐसा होने पर ही हम उस प्रभु को प्राप्त होंगे जो 'अग्नि' हैं—हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं। वे प्रभु **आरे**=दूर और **अस्मे**=(अस्माकं समीपे इतिशेषः=महीधर) समीप **शृण्वते**=हमारे वचन को सुनते हैं। हमारी प्रार्थना उस प्रभु से सुनी जाती है, जो प्रभु

हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं।

प्रभु-प्राप्ति के लिए सदा मन्त्रों का पाठ करते हुए यह उत्तम ज्ञानवाला 'गोतम' बनता है और अध्वरों में लगा हुआ यह कुटिलता व हिंसा का त्याग करनेवाला (रह-त्यागे) त्यागियों में गिनने के योग्य 'राहूगण' होता है। यह 'गोतम राहूगण' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ-हमारे हाथ अध्वरों (यज्ञों) में व्याप्त हों और हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन्त्रों में। इस प्रकार उत्तम कर्मों व ज्ञान के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी हों।

ऋषिः-विरूपः। देवता-अग्निः। छन्दः-निचृद्गायत्री। स्वरः-षड्जः॥

शिखर पर

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति ॥१२॥

गत मन्त्र के 'अध्वर व मन्त्र हमें कैसा बनाएँगे?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देखिए-१. **अग्निः मूर्द्धा**=यह निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है, अतः उन्नत होते हुए सर्वोच्च स्थान में पहुँचता है। २. **ककुत् दिवः**=यह ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। प्रतिदिन मन्त्रों का उच्चारण व दर्शन करनेवाला व्यक्ति ज्ञानी तो बनेगा ही। ३. **अयम्**=यह **पृथिव्याः**=इस शरीर का **पतिः**=स्वामी होता है। यह शरीररूप रथ पूर्णरूप से इसके वश में होता है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का ठीक विकास होने से इसका शरीर 'पृथिवी' इस अन्वर्थक नामवाला ही होता है (प्रथ विस्तारे)।

४. यह आगे बढ़ा (अग्नि), शिखर तक पहुँचा (मूर्द्धा), ज्ञानी बना (दिवः ककुत्), सुन्दर शरीरवाला बना (पतिः पृथिव्या अयम्)। इन सब बातों का रहस्य इसमें है कि **अपाम्**=जल-सम्बन्धी जो **रेतांसि**=रेतस् 'शक्तियाँ' हैं-वीर्यकण हैं, उनको यह **जिन्वति**=अपने अन्दर बढ़ाता (promote करता) है। वीर्यकणों का अपने अन्दर वर्धन करता है, अपने शरीर में ही उनकी ऊर्ध्वगति करता है। यह ऊर्ध्वगति ही इनकी वृद्धि है। इनकी रक्षा से 'अध्वरम्' की भावना बढ़ती है और मन्त्रों का तत्त्वार्थ दर्शन भी होता है।

५. इस प्रकार वीर्य की ऊर्ध्वगति से अत्यन्त तेजस्वी बना हुआ यह 'वि-रूप'=विशिष्ट रूपवाला होता है। सामान्य मनुष्यों में यह ऐसे चमकता है जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा।

भावार्थ-हम आगे बढ़ते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँचने का निश्चय करें। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करें। शरीर को पूर्ण नीरोग रक्खें। इन सब बातों के लिए संयमी बन ऊर्ध्वरेतस् हों।

ऋषिः-भरद्वाजः। देवता-इन्द्राग्नी। छन्दः-स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः-धैवतः॥

पति-पत्नी के मौलिक गुण

उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्याऽउभा राधसः सह मादयध्यै।
उभा दातारविषाꣳरयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम्॥१३॥

गत मन्त्र की भावनावाले व्यक्ति जब 'पति-पत्नी' बनते हैं तब उनके अन्दर जो बातें विशेषरूप से दिखती हैं, वे ये हैं-१. पति इन्द्रियों का अधिष्ठाता-जितेन्द्रिय होने से बल-सम्पन्न होकर 'इन्द्र' नामवाला होता है। घर की उन्नति का कारण होने से पत्नी को यहाँ

'अग्नि' कहा गया है। पति 'बल' का प्रतीक है तो पत्नी 'प्रकाश' की। **इन्द्राग्नी**=हे पति-पत्नी! **वाम् उभा**=आप दोनों **आहुवध्या**=प्रभु को पुकारनेवाले (भवतम्) होते हो। उत्तम जीवनवाले पति-पत्नी मिलकर प्रभु की उपासना करते हैं। यह प्रभुभक्ति ही इनके सारे जीवन-सौन्दर्य का कारण है। २. **उभा** =दोनों ही **राधसः**=सफलता व सम्पत्ति का **सह**=मिलकर **मादयध्यै**=आनन्द लेनेवाले (भवतम्) होते हो। घर में होनेवाली सफलताओं व सम्पत्तियों को इनमें से कोई एक अपनी महिमा की सूचक नहीं मानता। 'इनको प्राप्त करने में दोनों का भाग है', ऐसा वे समझते हैं। यह समझना ही उन्हें परस्पर प्रेमवाला बनाये रखता है और वे एक-दूसरे को छोटा नहीं समझते। ३. **उभा** =दोनों **इषाम्**=अन्नों के व **रयीणाम्**=धनों के **दातारौ**=देनेवाले होते हैं। इनके घर से कोई याचक कभी निराश नहीं लौटता। ४. इस प्रकार (क) प्रभु के पुजारी (ख) मिलकर धन-सम्पत्ति का आनन्द उठानेवाले (ग) अन्नों व धनों के देनेवाले ये पति-पत्नी **उभा**=दोनों **वाजस्य**=शक्ति की **सातये**=प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इनका जीवन विषय-वासनाओंवाला न होने से इनकी शक्ति स्थिर रहती है। विषय ही इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण करते हैं। अपने अन्दर शक्ति को भरनेवाले ये सचमुच 'भरद्वाज' बनते हैं, प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि होते हैं।

५. इस प्रकार पति-पत्नी के चार मुख्य गुण हैं—'प्रभु-भजन', 'सम्पत्ति का सम्पादन', 'दान' तथा 'शक्तिसम्पन्न बने रहना'। इन गुणोंवाले पति-पत्नी का जीवन सचमुच सुन्दर होता है। मन्त्र का ऋषि कहता है कि **वाम् हुवे**=आप दोनों की मैं स्पर्धा करता हूँ (ह्वेञ्=स्पर्धायाम्)। मैं भी अपने जीवन को ऐसा बनाने का प्रयत्न करता हूँ, प्रभु से ऐसे ही जीवन के लिए प्रार्थना करता हूँ।

भावार्थ—पति-पत्नी के जीवन 'प्रभु-पूजन, धन-सम्पादन, दानशीलता व शक्ति' वाले हों। ऐसे ही जीवन अनुकरणीय व आकांक्षणीय हैं।

ऋषिः—देववातभरतौ। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

घर=प्रभु कीर्तन का केन्द्र

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्द्धया रयिम्॥१४॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी निम्न प्रकार से प्रभु-पूजन करते हैं—१. हे प्रभो! **अयम्**=यह **योनिः**=घर **ते**=तेरा ही है। इसमें आपका ही उपासन चलता है। **ऋत्वियः**= (ऋतौ ऋतौ प्राप्तः—काले काले भवति) इसमें आपका ही उपासन समय-समय पर होता है। यह वह घर है, **यतः**=जहाँ से **जातः** =प्रादुर्भूत हुए आप **अरोचथाः**=चमकते हो, अर्थात् इस घर में होनेवाला आपका स्तवन चारों ओर आपके यश को फैलानेवाला होता है। चारों ओर के वातावरण में भी आपके गुण-कीर्तन की वृत्ति परिपूर्ण हो उठती है। हमारा घर आपके गुण-कीर्तन का केन्द्र बनता है। २. **तम्**=उस हमारे घर को **जानन्**=जानते हुए, अर्थात् इस घर पर अपनी कृपादृष्टि रखते हुए **अग्ने**=हे उन्नतिसाधक प्रभो! इसे **आरोह**=(उन्नतिं गमय—द०) उन्नति को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से यह घर सदा उन्नत होता चले। इसमें सम्पत्ति की कमी न हो। इस घर में दान-प्रवाह सदा चलता रहे और इस घर के लोग क्षीणशक्ति न हो जाएँ। **अथ**=अब **नः रयिम्**=हमारी सम्पत्ति को **वर्धय**=बढ़ाइए।

३. इस घर में सदा देवताओं के श्रव=यश का कीर्तन होता है, अतः ये लोग

'देवश्रव' कहलाते हैं, देवताओं से ही अपने जीवन-मार्ग में प्रेरणा प्राप्त करने के कारण ये 'देववात' हैं। दानादि द्वारा औरों का भरण करनेवाले ये 'भरतौ' हैं।

भावार्थ—हमारे घर में प्रभु-पूजन इस रूप में चले कि यह घर ही प्रभु का लगे। हम प्रभु के कृपापात्र हों, जिससे यह घर उन्नत हो तथा इसकी सम्पत्ति बढ़े।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।।

प्रजा का धाता ही प्रभु का धाता बनता है

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे।।१५।।

१. **अयम्**=यह प्रभु **प्रथमः**=सर्वश्रेष्ठ है—या अधिक-से-अधिक विस्तारवाला है (प्रथ विस्तारे)। **इह** =इस हृदयान्तरिक्ष में **धातृभिः**=धारण-पोषण करनेवाले लोगों से **धायि**=स्थापित किया जाता है। वस्तुतः प्रभु का धारण वही करते हैं जो अपने ही पालन में फँस जानेवाले असुर न बनकर औरों का भी धारण करनेवाले 'धाता' बनते हैं। सर्वभूतहित में लगे हुए व्यक्ति ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। २. वे प्रभु **होता**=सब पदार्थों के देनेवाले हैं (हु=दान)। **यजिष्ठः**=वे प्रभु अधिक-से-अधिक सङ्गतीकरणवाले हैं, हमारा वास्तविक सम्बन्ध प्रभु से ही है—ये ही पिता हैं, माता हैं, बन्धु हैं। **अध्वरेषु ईड्यः**=ये प्रभु ही कुटिलता व हिंसारहित कर्मों में उपासना के योग्य हैं। प्रभु की उपासना अध्वरों द्वारा ही होती है। निश्छल परार्थसाधक कर्मों के होने पर प्रभु-उपासन स्वतः ही चलता है। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिसको **अप्नवानः**=उत्तम कर्मोंवाले (अप्न इति कर्मनाम—नि० २।१), (**अप्नं करोति इति णिजन्तात् वनिप्**)। **भृगवः** =ज्ञानीलोग (भ्रस्ज पाके), ज्ञान-अग्नि से अपना परिपाक करनेवाले तपस्वी लोग **विरुरुचुः**=(विदीपयन्ति—द०) अपने जीवन को ज्ञान से दीप्त करते हैं। प्रभु का प्रकाश उन्हीं में होता है, जिनके हाथों में अध्वर व अप्न हैं और जिनकी वाणी में मन्त्र हैं। हाथों में अध्वरोंवाले ही 'अप्नवान्' हैं, वाणी में मन्त्रोंवाले ही 'भृगु' हैं। ४. ये प्रभु **वनेषु**=उपासकों में (वन संभक्तौ) अथवा अपने धन का यज्ञों द्वारा औरों में विभाग करनेवालों में **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान देनेवाले हैं, और ५. **विशेविशे**=प्रत्येक प्रजा में **विभ्वम्**=(व्यापनशीलम्) व्याप्त हो रहे हैं। ६. इस प्रकार प्रभु का उपासन करते हुए ये अप्नवान् और भृगु सुन्दर=उत्तम गुणों को धारण करते हैं। इन सुन्दर (वाम) गुणों (देव) को धारण करने से ये 'वामदेव' नामवाले होते हैं।

भावार्थ—वामदेव प्रभु का धारण करने के लिए 'धाता बनता है, होता बनता है, अधिक-से-अधिक प्राणियों से मेलवाला होता है, उत्तम कर्मोंवाला व ज्ञानाग्नि से अपना परिपाक करनेवाला होता है, यह अपने धनों का बाँटनेवाला बनता है और प्रभु का भजन करता है।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।।

अमर वेदवाणी का दोहन

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳशुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्।।१६।।

पिछले मन्त्र में प्रभु के धारण का उल्लेख था। उस प्रभु का धारण करनेवाले व्यक्ति प्रभु के धारण के द्वारा उस प्रभु की ज्ञान-ज्योति को भी अपने में धारण करते हैं। प्रस्तुत

मन्त्र में कहते हैं कि **अस्य**=इस हृदय-मन्दिर में स्थापित किये गये प्रभु की **प्रत्नाम्**=सनातन **द्युतम्**=ज्योति के **अनु**=अनुसार **अह्वयः**=(अह व्याप्तौ+क्तिन्, ये सर्वा विद्या व्याप्नुवन्ति—द०) अपने में सब विद्याओं का व्यापन करनेवाले ज्ञानी लोग **दुदुह्रे**=अपने में ज्ञान का दोहन करते हैं। किस ज्ञान का? जो ज्ञान १. **शुक्रम्**=(शुच्) मानव जीवन को पवित्र व उज्ज्वल बनानेवाला है **'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** २. **पयः**=जो हमारा आप्यायन व वर्धन करनेवाला है। इस ज्ञान को प्राप्त करके उसके अनुसार चलते हुए हम अपनी सब शक्तियों का वर्धन करनेवाले बनते हैं। ३. **सहस्रसाम्**=(सहस्र+सन्+संभक्ति आप्ति) यह ज्ञान हमें शतशः शक्तियों का प्राप्त करानेवाला है। वेदज्ञान हमें विलासमय जीवन से ऊपर उठाकर शक्तिसम्पन्न बनाता है। ४. **ऋषिम्**=(ऋष गतौ) और अन्ततः यह ज्ञान हमें प्रभु की ओर ले-जाता है—हमें प्रभु को प्राप्त करने के योग्य बनाता है।

उल्लिखित मन्त्रार्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. यह वेदज्ञान सनातन है। प्रभु अनादि हैं, अतः उनका ज्ञान भी अनादि है। २. अपने में सब विद्याओं का व्यापन करनेवाले इसका दोहन करते हैं। दूसरे शब्दों में यह वेदज्ञान सब सत्य विद्याओं का मूल है। इनमें सब सत्य विद्याओं का बीज निहित है।

मन्त्रार्थ से यह बात भी स्पष्ट है कि ज्ञान के चार परिणाम हैं—१. पवित्रता, २. सब अङ्गों का आप्यायन, ३. शतशः शक्तियों का लाभ तथा ४. प्रभु-प्राप्ति।

इस ज्ञान को प्राप्त वही व्यक्ति करता है जो शरीर में अन्न के सारभूत सारे सोमकणों को सुरक्षित रखता है। सार को सुरक्षित रखने से ही यह 'अवत्सार' कहलाता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी का दोहन करके अपने जीवनों को 'उज्ज्वल, आप्यायित, शक्तिसम्पन्न व प्रभु-प्राप्ति का साधन' बनाएँ।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अवत्सार की प्रार्थना

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण ॥१७॥

'अवत्सार' प्रभु से प्रार्थना करता है—१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **तनूपा असि**=आप हमारे शरीरों के रक्षक हो, अतः **मे**=मेरे **तन्वम्**=शरीर को **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। आपके दिये गये वेदज्ञान से मैं अपने शरीर को रोगों से बचा सकूँगा। २. **आयुर्दा असि**=आप दीर्घजीवन देनेवाले हैं। **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **मे**=मुझे **आयुः**=दीर्घजीवन **देहि**=दीजिए। आपका यह वेदज्ञान मुझे उस मार्ग पर ले-चले जिससे मैं दीर्घकाल तक जीनेवाला बनूँ। ३. हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! **वर्चोदा असि**=आप वर्चस् के देनेवाले हैं, **मे**=मुझे **वर्चः**=वर्चस् **देहि**=दीजिए। इस नीरोग दीर्घजीवन में मैं ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करके आपके समीप पहुँचनेवाला बनूँ। ४. हे **अग्ने**=मुझे आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **यत्**=जो भी **मे**=मेरे **तन्वा ऊनम्**=शरीर की न्यूनता है **मे**=मेरी **तत्**=उस न्यूनता को **आपृण**=दूर कर दीजिए (समन्तात् प्रपूरण—द०)।

भावार्थ—हम अपनी वीर्यशक्ति के द्वारा शरीर की सब न्यूनताओं को दूर करनेवाले हों। सब कमियों को दूर करके प्रभु को प्राप्त करने में क्षम हों।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।।

चित्रावसु

इन्धानास्त्वा शतꣳहिमा द्युमन्तꣳसमिधीमहि। वयस्वन्तो वयस्कृतꣳसहस्वन्तः सहस्कृतम्। अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽअदाभ्यम्। चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय॥१८॥

१. हे प्रभो! **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय आपको—ज्ञानस्वरूप 'विशुद्धाचित्' आपको **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त **इन्धानाः**=अपने हृदय-मन्दिर में दीप्त करते हुए **समिधीमहि**=इस जीवन में हम खूब दीप्त हों। २. **वयस्वन्तः**=उत्तम आयुष्यवाले हम **वयस्कृते**=उत्तम आयुष्य के कारणभूत आपको अपने में दीप्त करें। हम अपने जीवन को उज्ज्वल बनाएँ, परन्तु हमें यह सदा स्पष्ट हो कि हमारे जीवन की उज्ज्वलता का कारण आप ही हैं। ३. **सहस्वन्तः**= उत्तम सहस् (बल+सहनशक्ति)-वाले होते हुए **सहस्कृतम्**=इस सहस् को उत्पन्न करनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करें। 'सहोऽसि' इन शब्दों के अनुसार हम यह न भूल जाएँ कि सारे सहस् के उद्गमस्थान आप ही हैं। ४. **हे अग्ने**=हमारी अग्रगति के साधक प्रभो! **सपत्नदम्भनम्**=हमारे 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर' आदि सब सपत्नों—शत्रुओं के नष्ट करनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करते हैं। परिणामतः **'अदब्धासः'**=दबनेवाले न होते हुए **अदाभ्यम्**=दबाये न जा सकनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करते हैं। वस्तुतः आपके कारण ही तो हम इन शत्रुओं से हिंसित नहीं होते। ५. **चित्रावसो** =(चित्+र+वस्) उत्तम ज्ञान देकर हमें उत्तमता से बसानेवाले हे प्रभो! **स्वस्ति**=आपके दिये इस वेदज्ञान से हमारा जीवन उत्तम हो। वस्तुतः देवता जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करा देते हैं। नाश का उपाय बुद्धि को छीन लेना है और जीवन का उपाय बुद्धि का प्रापण।

६. हे प्रभो! मैं **ते**=आपके दिये इस वेदज्ञान के सहारे **पारम्**=इस भवसागर के पार को **अशीय** =प्राप्त करूँ। यह ज्ञान ही मुझे सब वासनाओं को जीतने में समर्थ बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें उत्तम जीवन, सहनशक्ति, शत्रुओं के नाशन की शक्ति तथा वह ज्ञान प्राप्त होता है जिससे हम कुशलता से इस भवसागर को तैर पाते हैं।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।।

प्रिय-धाम

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाꣳस्तुतेन।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सꣳरायस्पोषेण ग्मिषीय॥१९॥

१. **हे अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **सूर्यस्य वर्चसा**=सूर्य के तेज के साथ **सम् आगथाः**=हमें सम्यक् प्राप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से निरन्तर क्रियाशील रहता हुआ मैं सूर्य के समान चमकूँ। २. **ऋषीणाम्** =तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों के **स्तुतेन**=प्रशस्त ज्ञान के साथ आप हमें प्राप्त होओ (समागथाः)। ३. **प्रियेण धाम्ना सम्**=आप हमें प्रिय तेज के साथ प्राप्त होओ। हम तेजस्वी हों, परन्तु हमारा तेज औरों की प्रीति का कारण बने। हमारा तेज नाशक न होकर निर्माण-विनियुक्त हो। ४. हे प्रभो! आपकी कृपा से **अहम्**=मैं **आयुषा**=उत्तम आयुष्य से **सम्**=सङ्गत होऊँ। मेरा जीवन उत्तम हो। ५. **वर्चसा सम्**=मैं वर्चस् से सङ्गत होऊँ। अपने जीवन में मैं निर्बल न होऊँ। ६. **प्रजया सम्**=परिणामतः मेरा उत्तम व वर्चस्वी जीवन मेरी प्रजा को भी उत्तम बनाये। मैं उत्तम सन्तानों से संयुक्त होऊँ। ७. हे प्रभो! इन

सन्तानों के जीवनों को भी उत्तम बनाने के लिए **रायस्पोषेण**=धन के साथ शरीर की पुष्टि से **संग्मिषीय**=सङ्गत होऊँ। मैं धनी होऊँ, जिससे मेरी यह संसार-यात्रा ठीक से चले, परन्तु इस धन को प्राप्त करके मैं कुबेर=कुत्सित शरीरवाला व नलकुबेर न बन जाऊँ। मेरा शरीर पुष्ट हो।

भावार्थ—मैं वर्चस्वी बनूँ, ज्ञानी बनूँ। मेरा तेज लोकहितकारी हो। उत्तम जीवनवाला बनकर मैं उत्तम सन्तान का निर्माण करूँ। धनी होऊँ पर पुष्ट, निर्बल नहीं।

ऋषिः—याज्ञवल्क्यः। देवता—आपः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

रायस्पोष

अन्ध॒ स्थान्धो॑ वो भक्षीय॒ मह॑ स्थ॒ महो॑ वो भक्षी॒योर्ज॒ स्थोर्जं॑ वो भक्षीय रा॒यस्पोषं॑ स्थ रा॒यस्पोषं॑ वो भक्षीय॥२०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'मैं रायस्पोष से सङ्गत होऊँ' शब्दों के साथ हुई थी। प्रस्तुत मन्त्र में इस रायस्पोष की साधनभूत गौवों का उल्लेख करते हैं। धन का संग्रह करनेवाले वैश्य लोग 'कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य' से धनार्जन करते हैं। इनके इन तीनों कार्यों का केन्द्र 'गोरक्षा' है। प्राचीनकाल में गोधन ही वास्तविक धन था। Pecuniary शब्द में प्रारम्भिक 'Pecu' यह शब्दांश अब तक पशुधन के धनत्व को पुष्ट कर रहा है। २. इस गौ के लिए कहते हैं कि तुम **अन्धः स्थ**=अन्न हो (क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वात् अन्नत्वोपचारः—म०), क्षीर, आज्य (घृत) आदि अन्न की जनक हो। मैं **वः**=आपके **अन्धः**= क्षीराज्यादिरूप इस अन्न का **भक्षीय**=सेवन करूँ। ३. **महःस्थ**='मह' शब्दवाच्य दस शक्तिजनक पदार्थों को पैदा करने से तुम 'मह' हो। वे दस वीर्यजनक पदार्थ निम्न हैं—(क) प्रतिधक्=तत्काल दूहा=ताज़ा दूध, (ख) शृतम्=गरम किया हुआ दूध, (ग) शरः=दुग्धमण्ड (घ) दधि, (ङ) मस्तु=दधिरस (च) आतञ्च=दधिपिण्ड (छ) नवनीत=मक्खन (ज) घृतम्, (झ) आमिक्षा=स्फुटित दुग्ध (ञ) वाजिनम्=आमिक्षा जल। मैं **वः**=आपके **महः**=वीर्यजनक इन दस पदार्थों का **भक्षीय**=सेवन करूँ। ४. **ऊर्जः स्थ**=बलहेतु क्षीर की जनक होने से तुम बलरूप हो। मैं **वः**=तुम्हारे **ऊर्जम्**=बलजनक दुग्धादि का **भक्षीय**=सेवन करूँ।

५. **रायस्पोष स्थ**=तुम रायस्पोष हो। वैश्य लोग आपके ही क्षीर-घृतादि के विक्रय से धन का पोषण करते हैं। मैं **वः**=आपके इस **रायस्पोषम्**=रायस्पोष का **भक्षीय**=सेवन करनेवाला बनूँ। ६. इस प्रकार आपके दूध आदि के प्रयोग से जहाँ वीर्यवान्, बलवान् व धनवान् बनूँगा, वहाँ उत्तम मनोवृत्तिवाला बनकर यज्ञादि उत्तम कार्यों में व्याप्त होनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'याज्ञवल्क्य' बनूँगा। यज्ञ के संवरणवाला (वल्क-संवरण)। याज्ञवल्क्य वह है जिसके दिन का प्रारम्भ भी यज्ञ से होता है और समाप्ति भी यज्ञ से। एवं, इसका जीवन यज्ञ का ही सम्पुट बना रहता है।

भावार्थ—गौवें 'अन्ध, मह, ऊर्ज व रायस्पोष' हैं। अन्नदात्री, वीर्यदात्री, बल व प्राणदात्री तथा धन का पोषण करनेवाली हैं।

ऋषिः—याज्ञवल्क्यः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

याज्ञवल्क्य की 'गो-प्रार्थना'

रेव॑ती॒ रम॑ध्वम॒स्मिन्योना॑व॒स्मिन् गो॒ष्ठेऽस्मिँल्लो॒केऽस्मिन् क्षये॑। इ॒हैव स्त॒ माप॑गात॥२१॥

१. ऋषि याज्ञवल्क्य गौवों को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना करते हैं **रेवतीः**=(रयिर्विद्यते यासाम्) धन का हेतु होने से हे धनवती गौवो! **अस्मिन् योनौ**=अपने इस (गोयूथसम्बन्धी प्रजननी) उत्पत्तिस्थान में ही **रमध्वम्**=तुम रमण करो। यहाँ स्पष्ट है कि गौवें इस घर में ही उत्पन्न होती है, यहाँ ही रहती हैं। एवं, उनका विक्रय यथासम्भव नहीं होता। कृषिमय जीवन में यह बात पूर्णतया सम्भव है। २. **अस्मिन् गोष्ठे**=इस गोष्ठ में (गोष्ठशब्देन गृहाद् बहिर्विश्राम्मेण सञ्चारप्रदेशः) गोसञ्चार प्रदेश में रमण करो। ३. **अस्मिन् लोके**=इस यजमान के दृष्टि-विषय में (लोकृ दर्शने) रमण करो, अर्थात् गृहपति की दृष्टि तुमपर सदा बनी रहे—उसकी आँख से तुम ओझल न हो जाओ। ४. **अस्मिन् क्षये**=(क्षि निवासे) इस यजमान के निवासस्थानभूत घर में तुम आनन्द से रहो। **इह एव स्त**=यहाँ ही होओ। **मा अपगात**=यहाँ से दूर मत जाओ। इस घर की 'नीरोगता, पवित्रता व वृद्धि की भास्वरता' सब-कुछ तुमपर ही तो आश्रित है, अतः तुम यहीं निवास करो।

भावार्थ—गौ ही घर का वास्तविक धन है। उसके न रहने पर घर 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी दृष्टिकोणों से निर्धन बन जाता है। शरीर रोगी हो जाता है, मन मलिन हो जाता है और बुद्धि मन्द।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगासुरीगायत्री[क], गायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः।।

वेदवाणी व गौपत्य

[क]सुꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन।

[र]उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्तऽएमसि ॥२२॥

पिछले मन्त्र में गोष्ठों का उल्लेख है। 'गो' शब्द का अर्थ वेदवाणी भी है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में वेदवाणी का उल्लेख करते हैं। गोदुग्ध पान से निर्मल मन व तीव्र बुद्धि बनकर यह वेदवाणी के अध्ययन के योग्य बनता है और कहता है कि—१. **संहिता असि**=तू सृष्टि के आरम्भ में ही प्रभु द्वारा 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि ऋषियों के हृदयों में **सम्**=सम्यक्तया **हिता**=स्थापित हुई है। यहाँ 'सम्' की भावना 'इकट्ठी' लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने यह धारणा कर ली कि ये विभिन्न ऋषियों की वाणियों का संग्रह (collection) होने से 'संहिता' नामवाली हुई हैं। 'सम्' का अर्थ 'सम्यक्तया' लेने पर यह भ्रम दूर हो जाता है। २. यह वेदवाणी **विश्वरूपी**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाली है। इसी से यह सब सत्य विद्याओं का आदिमूल कहलाई है। ३. इस वेदवाणी के ओजस्वी सन्देश को सुनकर मनुष्य उत्साह से परिपूर्ण हो जाता है। यह पाठक को बल व प्राणशक्ति से व्याप्त कर देती है, अतः कहते हैं कि **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के साथ तू **मा आविश**=मुझमें प्रविष्ट हो। ४. **गौपत्येन**=(गावः इन्द्रियाणि) मैं वेदवाणी का अध्ययन करके इन इन्द्रियों का स्वामी बनूँ। यह वेदवाणी 'गौपत्य' से मुझमें प्रविष्ट हो, अर्थात् ज्ञानप्रवण बनाकर यह मुझे जितेन्द्रिय बनानेवाली हो।

५. इन्द्रियों का निरोध करके हम वेदवाणी के स्थापक प्रभु का स्मरण करते हैं और कहते हैं—**दोषावस्तः**=सब दोषों का छादन=अपवारण (वस्+आच्छादन=अपवारण) करनेवाले **अग्ने**=मेरी उन्नति के साधक हे प्रभो! आपकी इस वेदवाणी के प्रवेश से बल व जितेन्द्रियता का साधन करनेवाले हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **धिया**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से **नमः**=पूजन को **भरन्तः**=प्राप्त कराते हुए **त्वा उप एमसि**=आपके समीप प्राप्त होते हैं।

यहाँ मन्त्रार्थ में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. वेदवाणी पवित्र हृदयों में प्रभु द्वारा स्थापित होती है। २. यह व्यक्ति में प्राणशक्ति का सञ्चार करती है और उसे जितेन्द्रियता के मार्ग पर ले-चलती है। ३. जितेन्द्रिय पुरुष उस प्रभु का सदा स्मरण करता है, जिसके स्मरण से हमारा जीवन निर्दोष बना रहता है। ४. प्रभु का सच्चा उपासन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों से होता है, बशर्ते कि हम उन कर्मों का गर्व न करके नम्र बने रहें।

इन्हीं बातों की इच्छा करनेवाला व्यक्ति 'मधुच्छन्दाः'=मधुर इच्छाओंवाला है। यह चाहता है कि 'मैं पवित्र हृदय बनूँ, मेरे हृदय में प्रभु-वाणी स्थापित हो, यह वेदवाणी मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार करे, मैं जितेन्द्रिय बनूँ, मेरा जीवन निर्दोष बने, ज्ञानपूर्वक कर्मों से मैं प्रभु का उपासन करूँ, और सदा नम्र बना रहूँ'। यह मधुच्छन्दा 'वैश्वामित्र' है—सबके साथ स्नेह करनेवाला है।

भावार्थ—हम वेदवाणी के द्वारा उत्साहमय व जितेन्द्रिय बनकर प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का उपासन

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्द्धमानꣳस्वे दमे॥२३॥

हम उस प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं जो १. **राजन्तम्**=(राजृ दीप्तौ) संसार के प्रत्येक 'विभूतिवाले, श्रीवाले या बलवाले' पदार्थ में दीप्त हो रहे हैं। वस्तुतः उस पदार्थ की 'विभूति-श्री-दीप्ति' प्रभु के कारण ही तो श्रीमत् है। उपनिषद् स्पष्ट कह रही है कि **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। २. वे प्रभु **अध्वराणां गोपाम्**=सब यज्ञों के रक्षक हैं। हिंसा व कुटिलता से रहित कर्मों के वे पालक हैं। ३. **ऋतस्य**=सत्य के **दीदिविम्**=प्रकाशक (दीपयिता) हैं, वेदवाणी के द्वारा सब सत्य विद्याओं के प्रकाशक हैं। ४. वे प्रभु **स्वे दमे**=अपने स्वरूप में **वर्धमानम्**=सदा वर्धमान हैं। वे क्षीणता व जीर्णता से रहित हैं। उनका स्वरूप 'प्रकाशमय' है—वे ज्ञानस्वरूप हैं। यह ज्ञान सदा पूर्ण रहता है—इसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती।

४. इस प्रकार उपासना करनेवाले मधुच्छन्दा की कामना यह है कि—(क)मैं भी प्रभु-ज्योति से देदीप्यमान होऊँ (ख) अपने जीवन में यज्ञिय कर्मों की रक्षा करनेवाला बनूँ (ग) मुझमें सत्य का प्रकाश हो (घ) मेरा ज्ञान सदा बढ़ता रहे।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु-जैसे ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पुत्र के लिए पिता के समान

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥२४॥

'मधुच्छन्दा' प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे प्रभो! हमारी उन्नति के साधक **सः**=आप **सूनवे पिता इव**=जैसे पुत्र के लिए पिता सुगमता से प्राप्त होने योग्य होता है उसी प्रकार **नः**=हमारे लिए **सूपायनः भव**=सरलता से प्राप्य होओ। सुमार्ग पर चलनेवाला सदाचारी, सुशील, विज्ञ सन्तान जैसे पिता को प्रिय होता है, उसी प्रकार मैं मधुच्छन्दा भी हे प्रभो! आपका प्रिय होऊँ। और आप **नः**=हमें **स्वस्तये**=उत्तम जीवन के लिए **सचस्व**=समवेत कीजिए। उत्तम जीवन से हमारा सम्बन्ध अविच्छिन्न हो। वस्तुतः प्रभु-कृपा का ही परिणाम

होता है कि कदम-कदम पर प्रलोभनों से भरे इस संसार में हम मार्ग से विचलित नहीं होते। पिता की आँख से ओझल न होनेवाला सन्तान कुसङ्ग से बचा रहता है और बुराइयों में नहीं फँसता। इसी प्रकार प्रभु का उपासक **स्वस्ति**=उत्तम जीवन-सम्पन्न बना रहता है। 'पिता' का शब्दार्थ ही रक्षक है, पिता पुत्र को बुराइयों से बचाता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के समीप रहें, जिससे मलिन इच्छाएँ हममें उत्पन्न ही न हों।

ऋषिः—सुबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सुबन्धु-स्तवन

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳरयिं दाः॥२५॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु को पिता के रूप में स्मरण किया था। उसी को अब उत्तम बन्धु के रूप में स्मरण करते हैं। प्रभु को इस रूप में स्मरण करने के कारण ही मन्त्र का ऋषि 'सु-बन्धु' है=उत्तम बन्धुवाला। हम जैसों को बन्धु बनाते हैं वैसे ही बन जाते हैं, अतः सुबन्धु तो प्रभु के बन्धुत्व में ही रहने का प्रयत्न करता है। २. यह प्रभु का स्तवन इस रूप में करता है—**अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! अथवा मेरी सम्पूर्ण उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=अन्तिकतम मित्र हैं Intimate friend हैं। अथवा अनिति जीवयति अतिशयेन=आप ही मेरे प्राण हैं—जीवन हैं। २. **उत**=और, अन्तिकतम व प्राणप्रद बन्धु के रूप में आप मेरे **त्राता**=रक्षक हैं। आपकी कृपा से ही मैं काम-क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित रहता हूँ। ३. **शिवः**=कामादि शत्रुओं से सुरक्षित करके आप मेरा कल्याण करते हैं। ४. आप **वरूथ्यः भव**=मेरे लिए उत्तम आवरण होओ, (वृ=संवरण)। वस्तुतः आप ही मेरे अमृतरूप उपस्तरण व अपिधान हैं। अथवा **वरूथ**=Wealth धन, आप ही हमारे उत्तम धन हैं, हमें उत्तम धन देनेवाले हैं। ५. **वसुः**=इस उत्तम धन के द्वारा आप हमें उत्तम निवास देनेवाले हैं 'वासयतीति वसुः'। ६. **अग्निः**=उत्तम निवास देकर हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। ७. **वसुश्रवाः**=आप निवासक ज्ञान देनेवाले हैं। ८. **अच्छा नक्षि**=हे प्रभो! आप हमें आभिमुख्येन प्राप्त होओ (अच्छ=ओर, नक्ष् गतौ), और ९. **द्युमत्तमम्**=अधिक-से-अधिक ज्योतिवाला **रयिम्**=धन **दाः**=दीजिए। मुझे धन प्राप्त हो, परन्तु धन पाकर मैं प्रमत्त न हो जाऊँ। धन मेरी ज्योति के वर्धन का कारण बने नकि ह्रास का।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना बन्धु बनाकर वासनाओं को तैर जाएँ और प्रकाशमय धन को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—सुबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

पापकथा से बचाइए

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णोऽअघायतः समस्मात्॥२६॥

१. सुबन्धु प्रार्थना करता है—हे **शोचिष्ठ**=गत मन्त्र में वर्णित 'द्युमत्तमं रयिम्' को देकर हमारे जीवनों को शुचि बनानेवाले! **दीदिवः**=देदीप्यमान प्रभो! **तं त्वा**=उस आपसे **नूनम्**=निश्चय से **सुम्नाय**=सुख के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। साथ ही **सखिभ्यः**=ऐसे

साथियों के लिए जोकि मिलकर ज्ञान की ही चर्चा करनेवाले हों, उन सखाओं के लिए याचना करते हैं। ऐसे साथियों के सम्पर्क से ही हम इस संसार-यात्रा में आगे बढ़ेंगे। २. **सः**=आप **नः**=हमें **बोधि**=बोध से युक्त कीजिए। ज्ञानप्रवण मित्रों के सम्पर्क में रहकर हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले। हे प्रभो! **हवम्**=हमारी इस पुकार को आप **श्रुधी**=अवश्य सुनिए और **नः**=हमें **अघायतः**=अघ-बुराई व पाप को चाहनेवाले **समस्मात्**=सब लोगों से **उरुष्य** =बचाइए। पाप की चर्चा करनेवालों के सम्पर्क में हम न आएँ। यह चर्चा अकल्याण का ही कारण बनती है।

भावार्थ—हम ज्ञान-रुचिवाले मित्रों के सम्पर्क में आकर अधिक और अधिक बोधवाले हों। अशुभ चर्चाओं में रुचिवाले मित्रों से हम सदा बचे रहें।

ऋषिः—श्रुतबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वेदवाणी का 'काम-धरण'

इडऽएह्यदितऽएहि काम्याऽएत। मयि वः कामधरणं भूयात्॥२७॥

गत मन्त्र का सुबन्धु ज्ञानी मित्रों के सम्पर्क में रहकर खूब ज्ञानी बनता है। वह वेदवाणी को अपनाता है। इस वेदवाणी के अपनाने से यह 'श्रुतबन्धु'=ज्ञानरूप मित्रवाला हो जाता है। यह वेदवाणी से ही कहता है—१. **इडे**=हे वेदवाणी! **एहि**=तू मुझे प्राप्त हो। तू इडा=A Law (इ+डा=ला Law) मेरे जीवन का नियम है। वस्तुतः प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में इसे एक कानून के रूप में ही हमें दिया है। २. **अदिते**=हे अखण्डित रहनेवाली वेदवाणी! तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। इस वेदवाणी से हमारे स्वास्थ्य आदि अखण्डित रहते हैं। यह वेदवाणी स्वयं भी उस अनादि-अनन्त प्रभु का ज्ञान होने से 'अखण्डित-अविनश्वर' है। ३. **काम्याः**=इस वेदवाणी की सव 'ऋचाएँ-यजु व साम' कामना के योग्य हैं—चाहने योग्य हैं। हे कमनीय वेदवाणियो! **एत**=हमें प्राप्त होओ। **वः**=आपका **मयि**=मुझमें **कामधरणम्**=इच्छापूर्वक धारण **भूयात्**=हो। **'काम्यो हि वेदाधिगमः'**, इन मनु के शब्दों के अनुसार मैं वेदज्ञान की कामनावाला होऊँ। इसमें निहित ज्ञान को मैं अपना बन्धु बनाऊँ और 'श्रुतबन्धु' नामवाला होऊँ।

भावार्थ—वेदवाणी जीवन का नियम है। यह अखण्डन व स्वास्थ्य को प्राप्त करानेवाली है, चाहने योग्य है। मैं इच्छा से इसका धारण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—विप्रबन्धुः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

'सोम-स्वरण-कक्षीवान्-उशिक्'

सोमानꣳस्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं यऽऔशिजः॥२८॥

१. पिछले मन्त्र का 'श्रुतबन्धु' वेदज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानी मित्रों के सम्पर्क में आकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विप्रबन्धु' बनता है। 'वि+प्र' वह है जो वेदवाणी को विशेष रूप से अपने में पूरण करता है। यह विप्र 'ब्रह्मणस्पति' है—ज्ञान का—वेद का पति है। वस्तुतः ऐसे ब्रह्मणस्पति आचार्यों के मिलने पर ही हमारा जीवन सुन्दर बनता है। सबसे बड़े 'ब्रह्मणस्पति' तो प्रभु ही हैं—गुरुओं के भी वे गुरु हैं। **ब्रह्मणस्पते**=वेदज्ञान के पति हे आचार्य! आप मुझे **सोमानं स्वरणं कक्षीवन्तं कृणुहि**=सोम, स्वरण व कक्षीवान् बनाइए। २. मैं आपके दिये वेदज्ञान के परिणामरूप सोम=सौम्य स्वभाववाला बनूँ। **ब्रह्मणा अर्वाङ्**

विपश्यति'=मनुष्य वेदज्ञान से नीचे देखनेवाला अर्थात् विनीत बनता है। **'विद्या ददाति विनयम्'**=विद्या विनय देती है। ३. मैं स्वरण=(सु+ऋ) उत्तम गतिवाला बनूँ। वेदज्ञान को प्राप्त करके जहाँ मैं सौम्य बनूँ वहाँ सदा उस वेद के नियमों के अनुसार चलनेवाला बनकर सदा उत्तम गतिवाला होऊँ। ४. मैं इस जीवन में कक्षीवान्– दृढ़निश्चयी बनकर चलूँ। कक्ष्य=कमर को कसकर मैं ज्ञान प्राप्ति में जुट जाऊँ। ५. मुझे आप ऐसा बनाइए **यः**=जो **औशिजः**=(उशिक्=मेधावी) अत्यन्त मेधावी है। निरन्तर मेधा की ओर चलता हुआ मैं 'मेधातिथि' बनूँ।

भावार्थ—हे ब्रह्मणस्पते! आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करके मैं 'सौम्य, सुकर्मा, दृढ़निश्चयी व मेधावी बनूँ।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः।।

पुष्टि-वर्धन

यो रे॒वान् यो॑ऽअमीव॒हा व॑सु॒वित्पु॑ष्टि॒वर्द्ध॑नः। स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः ॥२९॥

१. **नः**=हमें **सः**=वह **सिषक्तु**=प्राप्त हो **यः**=जो **रेवान्**=ज्ञानरूप धनवाला है, **यः**=जो **अमीवहा**=रोगों को नष्ट करनेवाला है, **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है। **पुष्टिवर्धनः**=वस्तुओं को प्राप्त कराके हमारी पुष्टि को बढ़ानेवाला है और **यः**=जो **तुरः**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला—निरालस्य है अथवा काम-क्रोधादि का संहार करनेवाला है। २. इस मन्त्र में गत मन्त्र के ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञानी आचार्य की विशेषताओं का उल्लेख है। (क) वह ज्ञान का धनी होना चाहिए। कम ज्ञानवाला अध्यापक कभी विद्यार्थी के आदर का पात्र नहीं बन पाता। (ख) वह रोगों को नष्ट करनेवाला हो, नीरोग हो। बीमार आचार्य भी विद्यार्थी को प्रभावित नहीं कर पाता। (ग) सब वसुओं को स्वयं प्राप्त करनेवाला ही विद्यार्थी को इन वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। (घ) आचार्य विद्यार्थी की पुष्टि का वर्धन करनेवाला हो। (ङ) और अन्त में वह क्रियाशील व कामादि शत्रुओं का संहारक हो। ३. ऐसे आचार्य को प्राप्त करके विद्यार्थी निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' बनता है। इसकी बुद्धि निरन्तर बढ़ती चलती है।

भावार्थ—आचार्यों में ये विशेष गुण होने चाहिएँ—वह १. ज्ञानधनी हो, २. नीरोग हो, ३. निवास के लिए सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाला, ४. पुष्टिवर्धन तथा ५. शीघ्रकारी व कामादि का संहारक हो।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। देवता—ब्रह्मणस्पतिः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।।

सत्यधृति वारुणि 'अदान व हिंसा से ऊपर'

मा न॒ः शꣳसो॒ऽअर॑रुषो धू॒र्तिः प्रण॒ङ् मर्त्य॑स्य। रक्षा॑ णो ब्रह्मणस्पते ॥३०॥

१. गत मन्त्र का मेधातिथि आचार्य से निरन्तर ज्ञान प्राप्त करके अपने धर्म में स्थिर होता है। यह धर्म में स्थिरता से ठहरना ही इसे 'सत्यधृति' बना देता है, इसका जीवन उत्तम व निर्दोष होने से यह 'वारुणि' कहलाता है। अपने 'मनः, प्राणेन्द्रिय क्रियाओं' को सात्त्विक धैर्य से धारण करता है। २. यह ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञान के अधिपति प्रभु से प्रार्थना करता है कि—**ब्रह्मणस्पते**=हे ज्ञान के पति आचार्य! अथवा परमात्मन्! **नः**=हमें **अररुषः**=न देने की वृत्तिवाले कृपण पुरुष की **शंसः**=शंसन या बातें **मा**=मत **प्रणङ्**=नष्ट करनेवाली हों। अथवा

इसकी बातें हमें (नशेर्व्याप्त्यर्थस्य एतद् रूपम्—उव्वट) व्याप्त करनेवाली न हों। हमारे मनों पर इनकी बातों का प्रभाव न हो जाए। इनकी बातों का स्वरूप यही तो होता है कि 'व्यक्ति को तो इसलिए नहीं देना कि उसमें पर-पिण्ड जीवन की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, महन्तों का जीवन कितना विलासमय हो जाता है। संस्थाओं में भी रुपये को किस निर्दयता से व्यर्थ व्यय किया जाता है—वहाँ लोग काम कम करते है, रुपये अधिक लेते हैं, रुपयों का ग़बन होता रहता है। सरकार के कार्यों में तो अन्धेर खाता है ही, वहाँ तो करोड़ों का भी कुछ पता नहीं लगता, अतः देने का लाभ कुछ नहीं।' प्रभु-कृपा से हमें ये बातें 'अररिवान्' (अदाता+कृपण) न बना दें। ३. और हे आचार्य (परमात्मन्)! ऐसी कृपा कीजिए कि **मर्त्यस्य**=मरने-मारने के स्वभाववाले, अथवा किसी सांसारिक वस्तु के पीछे मरनेवाले मनुष्य की **धूर्तिः**=हिंसा **नः**=हमें **मा**=मत **प्रणङ्**=नष्ट करे या व्याप्त हो। हम इन लोगों से की जानेवाली हिंसाओं का शिकार न हों और इस प्रकार की हिंसाओं के करने की हमारी वृत्ति न बन जाए। ४. हे ब्रह्मणस्पते=ज्ञान के पते! इस प्रकार अदान व हिंसा की वृत्ति से बचाकर **नः**=हमें **रक्ष**=इस भवसागर में ही गोते खाते रहने से बचाइए।

भावार्थ—ज्ञानी आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके हम अपनी मनोवृत्ति को ऐसा बना लें कि हममें 'अदान व हिंसा' की वृत्ति न जाग सके।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। देवता—आदित्यः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

महि-द्युक्ष-दुराधर्ष

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य॥३१॥

१. सत्यधृति वारुणि ने गत मन्त्र में 'अदान व हिंसा' से ऊपर उठने का निश्चय किया तो प्रस्तुत मन्त्र में वह 'मित्रता, जितेन्द्रियता व अद्वेष' की भावना को धारण करने का निश्चय करता है। वह कहता है कि **त्रीणाम्**=तीन का **मित्रस्य अर्यम्णः वरुणस्य**=मित्र, अर्यमा व वरुण का **अवः**=रक्षण **अस्तु**=हमें प्राप्त हो। २. 'मित्र, अर्यमा और वरुण' ये तीन देवता क्रमशः (क) (ञिमिदा स्नेहने, मीतेः त्रायते) सबके साथ स्नेह करना, पाप से अपने को बचाना, (ख) (अरीन् गच्छति) काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतकर जितेन्द्रिय बनना, तथा (ग) (वारयति) द्वेषादि का निवारण करना' इन भावनाओं के प्रतीक हैं। 'सत्यधृति' निश्चय करता है कि वह सबके साथ स्नेह करेगा, जितेन्द्रिय बनेगा और द्वेष से अपने को अवश्य बचाएगा। ३. मन्त्रक्रम में यह भी स्पष्ट है कि इन देवों का रक्षण क्रमशः **'महि, द्युक्षं, दुराधर्षम्'** है। मित्र का रक्षण 'महि' महनीय है, आदर के योग्य है। यह मनुष्य को महान् बनाता है। सबसे स्नेह से वर्तनेवाला व्यक्ति सबका महनीय होता है। ४. अर्यमा का रक्षण 'द्युक्षम्' है। जितेन्द्रिय बनने से हम **द्यु**=ज्योति में **क्ष**=निवास करनेवाले होते हैं। जितेन्द्रियता से हमारी बुद्धि व ज्ञान का विकास होता है। अजितेन्द्रिय पुरुष का ज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसेकि कच्चे घड़े से पानी चू जाता है। ५. वरुण का रक्षण 'दुराधर्ष' है। द्वेष का निवारण करनेवाला व्यक्ति औरों के लिए अधर्षणीय हो जाता है—कोई भी इसका पराभव नहीं कर पाता।

भावार्थ—हम सबके साथ स्नेह से वर्तते हुए महनीय बनें, जितेन्द्रिय बनकर ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले हों और द्वेष से ऊपर उठकर अपराजेय बन जाएँ।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। देवता—आदित्यः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अघशंस के सङ्ग से बचें

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः॥३२॥

१. **तेषाम्**=गत मन्त्र के 'मित्र, अर्यमा व वरुण' के उपासकों को **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला **रिपुः**=शत्रु **अमा चन**=घर में भी **नहि ईशे**=ईश नहीं बनता। **अध्वसु**=मार्गों में भी न (ईशे)=वह अघशंस इनका ईश नहीं बनता **अरणेषु वा**=(अ+रण=शब्द) अथवा निःशब्द एकान्त स्थानों में भी वह इनका ईश नहीं बनता।

२. अघशंस व्यक्ति वह है जो पाप का अच्छे रूप में शंसन करता है। पाप को उजले रूप में दिखाकर हमें उन पापों में फँसानेवाला होता है, इसी से वह हमारा 'रिपु' है—शत्रु है। भयंकर शत्रु वही है जो ऊपर से मीठा है—हृदय में हमारे लिए अशुभ भावना रखता है। न घरों में, न मार्गों में और ना ही एकान्त स्थानों में ये हमारे ईश बन जाएँ। हम इनकी बातों में आकर पाप की ओर प्रवृत्त न हो जाएँ। जिन व्यक्तियों के ध्येय व उपास्य 'मित्र, अर्यमा व वरुण' होते हैं, वे सदा शुभमार्ग पर ही चलते हैं। ये अघशंसों की बातों में नहीं आते।

३. अघशंस लोग घर में भोजनादि पर आमन्त्रित करके बड़े आपातरम्य मधुर ढङ्ग से साथी बनकर हमें फुसला लेते हैं। यात्रा में साथी बनकर छोटी-छोटी सहायताओं से हमें अपना बनाकर बहका लेते हैं और कभी-कभी अकेले में वे अनुकूल अवसर पाकर हमें मार्गभ्रष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—सत्यधृतिवाला पुरुष अघशंस पुरुषों के सङ्ग से बचता है। वस्तुतः तभी तो अपने को पाप के मार्ग से बचा पाता है।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। देवता—आदित्यः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अजस्र ज्योति का दान

ते हि पुत्रासोऽअदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्॥३३॥

१. ३० से ३२ तक के मन्त्रों में 'सत्यधृति वारुणि' का चित्रण है। **ते**=ये 'सत्यधृति वारुणि' **हि**=निश्चय से **अदितेः पुत्रासः**=अदिति के पुत्र होते हैं, अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारी बनते हैं। 'अदितिः—अखण्डन (दो अवखण्डने) न इनका शरीर खण्डित व हिंसित होता है, न ही इनका मन द्वेषादि की भावनाओं से खण्डित हुआ करता है। इनका ज्ञानयज्ञ तो कभी खण्डित होता ही नहीं। इसी से इन्हें 'अदिति के पुत्र' कहा गया है। २. ये **मर्त्याय**=विषयों के पीछे मरनेवाले सामान्य मनुष्यों के लिए **अजस्रम्**=निरन्तर **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **यच्छन्ति**=देते हैं। ये आदित्य निरन्तर ज्ञान की ज्योति देकर हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाते हैं और **प्रजीवसे**=हमारे प्रकृष्ट जीवन का कारण बनते हैं। अघशंसों का अघशंसन हमारे जीवन के पतन का कारण बनता है और आदित्य ब्रह्मचारियों का ज्योतिर्दान जीवन के उत्थान का कारण होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन में हमारा सङ्ग अघशंसों के साथ न हो। अदिति-पुत्रों का सङ्ग प्राप्त करके हम उच्च जीवनवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पथ्याबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।

उपोपेन्नु मघवन् भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥३४॥

१. गत मन्त्र के अदिति-पुत्रों से निरन्तर ज्ञानज्योति प्राप्त करके हम प्रभु के अधिकाधिक समीप पहुँचते हैं। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ज्ञानज्योति से पवित्र होकर मधुर इच्छाओंवाला बनता है, अतः 'मधुच्छन्दाः' कहलाता है और यह सबके साथ स्नेह करके 'वैश्वामित्र' नामवाला होता है। २. यह प्रभु से कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=हिंसा करनेवाले **न असि**=नहीं हैं। जो भी व्यक्ति प्रभु का मित्र बनता है प्रभु उसकी हिंसा नहीं होने देते। हम प्रभु से दूर होते हैं और प्राकृतिक शक्तियों से हिंसित होने लगते हैं। प्रभु से दूर हुए और विषयों का शिकार हुए। ३. हे इन्द्र! आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए **सश्चसि** =प्राप्त होते हो, आप उसे अपना ऐश्वर्य प्राप्त कराते हो। हे **मघवन्**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **देवस्य**=दिव्य गुणयुक्त **ते**=आपका **दानम्**=दान **भूय इत् नु**=अब निश्चय से उतना ही अधिक **पृच्यते**=मेरे साथ संपृक्त होता है जितना-जितना **उप उप इत् नु**=मैं आपके समीप प्राप्त होता हूँ। हम जितना-जितना प्रभु के समीप पहुँचते हैं उतना-उतना प्रभु के दान के पात्र बनते हैं। प्रभु से दूर और प्रभु के दान से दूर। ५. 'मैं प्रभु के समीप पहुँचूँगा। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके हिंसा से बचूँगा। प्रभु के दान का पात्र बनूँगा' इन उत्तम इच्छाओं का करनेवाला यह जीव सचमुच 'मधुच्छन्दाः' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें हिंसा से बचाते हैं, उत्तम दान प्राप्त कराते हैं यदि हम उनके समीप पहुँचते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—सविताः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

भर्ग का धारण

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥३५॥

१. **तत् सवितुः**=उस विस्तृत, सर्वव्यापक, उत्पादक प्रभु के **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के अधिष्ठाता प्रभु के **वरेण्यम्**=वरणीय **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=हम ध्यान करते हैं व उसे धारण करते हैं। 'स चासौ सविता च' इस विग्रह से वह परमात्मा जहाँ सर्वव्यापक है वहाँ सर्वोत्पादक है। दिव्य गुणों के तो वे पुञ्ज हैं ही। इन प्रभु के तेज को ही 'विश्वामित्र' ऋषि अपना लक्ष्य बनाते हैं। इसी तेज को धारण करने का प्रयत्न करते हैं। 'प्रभु के तेज को धारण करने' से अधिक उच्च मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। २. वह निश्चय करता है कि मैं उस प्रभु के तेज को धारण करूँगा **यः**=जो **नः धियः**=हमारी बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=उत्कृष्ट प्रेरणा देता है। ऊँचा लक्ष्य बनाने पर यह निरन्तर उन्नति-पथ पर आरूढ़ होता चलता है। यही मानव-जीवन की सफलता है।

भावार्थ—हम प्रभु के तेज को धारण करनेवाले बनें। इस लक्ष्य के कारण हमें सदा सद्बुद्धि प्राप्त हो।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञानरूप रथ

परि ते दूडभो रथोऽस्माँ२॥ऽअश्नोतु विश्वतः। येन रक्षसि दाशुषः॥३६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु के तेज को धारण करनेवाला व्यक्ति प्राणिमात्र का मित्र बनता है तो 'विश्वामित्र' कहलाता है। इस स्नेह की भावना से सब दिव्य गुणों का विकास होता है और यह 'वामदेव' बन जाता है। यह वामदेव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ते**=आपका **दूडभः**=(दुःखेन दम्भितुं हिंसितुं योग्यः) न नष्ट करने योग्य **रथः**=विज्ञानरूप रथ (रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठति, रपतेर्वा रसतेर्वा—नि० ९।११) **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परि अश्नोतु**=व्याप्त करे। 'ज्ञान का परिणाम गति व क्रिया होती है'—'**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**', ज्ञानी पुरुष स्थिर मनोवृत्ति का बनता है, ज्ञान में मनुष्य अन्ततः अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है, यह ऋषियों के हृदयों में प्रभु से व्यक्त रूप में उच्चारण किया जाता है। यह जीवन को रसमय बनाता है। इन कारणों से ज्ञान यहाँ 'रथ' शब्द से कहा गया है। २. हे प्रभो! आपका यह ज्ञान हमें सर्वतः व्याप्त करे। **येन**=जिस ज्ञान से **दाशुषः**=दाश्वान् की—आत्मसमर्पण करनेवाले की **रक्षसि**=आप रक्षा करते हो। वस्तुतः देव ज्ञान देकर की मनुष्य की रक्षा करते हैं। जो व्यक्ति प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है—प्रभु उसे यह ज्ञानरूप रथ देते हैं जिससे वह इस दुर्गम भवकान्तार को पार क़र जाता है।

भावार्थ—ज्ञान प्रभु का न हिंसित होनेवाला रथ है। यह हमें प्राप्त हो। इस ज्ञान से ही हम अपनी रक्षा कर पाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

भूः, भुवः, स्वः

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शꣳस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि॥३७॥

१. गत मन्त्र के 'दूडभ रथ'=न हिंसित होनेवाले ज्ञान के द्वारा हम **भूः**=सदा स्वस्थ बने रहें। **भुवः** =ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हों (भुव अवकल्कने=चिन्तने)। **स्वः**=हम स्वयं राजमान व जितेन्द्रिय बनें, इन्द्रियों के दास न हो जाएँ। २. यह ठीक है कि यह शरीर अवश्य जाना है परन्तु प्रजाओं के द्वारा हम अमर बने रह सकते हैं (**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम**—अथर्व०), अतः वामदेव प्रार्थना करता है कि **प्रजाभिः**=उत्तम सन्तानों से हम **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले **स्याम्** =हों। इन प्रजाओं द्वारा हम सदा बने रहें। यह प्रजातन्तु कभी बीच में विच्छिन्न न हो जाए। ३. ज्ञान के द्वारा **वीरैः**=वीरता की भावनाओं से—(वि+ईर) काम-क्रोधादि शत्रुओं को कम्पित करने की भावना से मैं **सुवीरः**=उत्तम वीर बनूँ। एकमात्र ज्ञान ही कामादि शत्रुओं को कम्पित करता है। ज्ञानाग्नि ही मनुष्य के मलों को भस्म करके उन्हें पवित्र बनाती है। इन कामादि शत्रुओं का विजेता ही सच्चा वीर है। ४. अब जितेन्द्रिय बनकर मैं **पोषैः**=पोषणों के द्वारा **सुपोषः**=उत्तम पोषणवाला होऊँ। पोषण के लिए 'चरक' का सूत्र है 'हिताशी स्यात्, मिताशी स्यात्, कालभोजी जितेन्द्रियः' हितकर भोजन खाए, मापकर खाए (मात्रा में), समय पर और सबसे बड़ी बात यह कि जितेन्द्रिय हो। जितेन्द्रियता के बिना पोषण सम्भव ही नहीं। एवं,

'भूः भुवः स्वः' का क्रमशः 'प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीरः, पोषैः सुपोषः' के साथ सम्बन्ध है। प्रजाएँ हमें सदा बनाये रखती हैं, ज्ञान हमें वीर बनाता है और जितेन्द्रियता से हमारा पोषण होता है। ५. हे **नर्य**=नरहित करनेवाले प्रभो! **मे**=मेरी **प्रजाम्**= प्रजा को **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः जो व्यक्ति नरहित के कार्यों में रुचि लेते हैं, उनके सन्तान प्रभु-कृपा से अच्छे बनते हैं। ६. **शंस्य**=हे शंसन करनेवालों में उत्तम प्रभो! **मे**=मेरे **पशून्**= इन काम-क्रोधादि पशुओं को **पाहि**=सुरक्षित रखिए। इन्हें खुला न छोड़ दिया जाए। प्रभु अपने भक्तों में ज्ञान का शंसन करते हैं और उस ज्ञान से ये कामादि पशु सुनियन्त्रित रहते हैं। ७. **अथर्य**=(न थर्वति) विषयों से आन्दोलित न होनेवाले प्रभो! **मे**=मेरे **पितुं पाहि**=अन्न की आप रक्षा करिए।

भावार्थ—मैं नरहित के कार्यों में लगकर, उत्तम प्रजावाला होकर सदा बना रहूँ। उत्तम बातों का शंसन करता हुआ ज्ञानी बनकर कामादि का ध्वंस करनेवाला 'वीर' बनूँ। विषयों से अनान्दोलित अथर्य बनकर पोषक अन्न को ही खाता हुआ 'सुपोष' बनूँ।

टिप्पणी—मन्त्रार्थ का चित्रण—

भूः	भुवः	स्वः
सुप्रजाः	सुवीरः	सुपोषः
नर्य	शंस्य	अथर्य
प्रजा की रक्षा	**कामादि पशुओं का नियमन**	**उत्तम अन्न-भक्षण**

ऋषिः—आसुरिः। देवता—अग्निः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अग्नि व सम्राट्

आर्गन्म विश्ववेदसमुस्मभ्यं वसुवित्तमम्।

अग्ने सम्राडुभि द्युम्नमुभि सहुऽआर्यच्छस्व॥३८॥

१. पिछले मन्त्र का ऋषि 'वामदेव' दिव्य गुणों को धारण करके अपने प्राणों का वास्तविक पोषण करने से 'आसुरि' बन जाता है। यह आसुरि प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **अग्ने**=ज्ञान के प्रकाशवाले **सम्राट्**=शक्ति से (सम्+राज्) सम्यग् देदीप्यमान प्रभो! आपकी कृपा से हम **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वसुवित्तम्** =निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को उत्तमता से प्राप्त करानेवाले **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धन को **आगन्म**=प्राप्त हों। प्रभु अग्नि हैं, सम्राट् हैं। मैं भी ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके अग्नि बनूँ, और शरीर के सम्यक् पोषण व शक्ति की रक्षा से दीप्त शरीरवाला सम्राट् बनूँ।

२. हे प्रभो! आप कृपा करके मुझे **द्युम्नम् अभि**=ज्योति की ओर तथा **सहः अभि**= सहनशक्ति से परिपूर्ण बल की ओर, उसकी प्राप्ति के लिए **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्योग-(उद्यम)-वाला कीजिए, अर्थात् हमारा सारा पुरुषार्थ 'ज्ञान और बल' को प्राप्त करने के लिए हो। हमारा ध्येय 'ज्ञान+बल' ही हो। यही हमारी प्रार्थना हो कि **'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'**। हमें जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला धन इसलिए प्राप्त हो कि हमारी सारी शक्ति 'ज्ञान और बल' के सम्पादन में लगे। ३. इस प्रकार ज्ञान और बल का सम्पादन करके यह सचमुच अपना पोषण करने वाला 'आसुरि' बनता है।

भावार्थ—हम अग्नि हों, हम सम्राट् हों। द्युम्न-ज्योति को प्राप्त करके हम 'अग्नि' बनें और बल का सम्पादन करके सम्राट् हों।

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

द्युम्न+सहः

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।

अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥३९॥

१. गत मन्त्र का आसुरि ही प्रार्थना करता है कि **अयम्**=यह **अग्निः**=प्रकाश की अधिदेवता प्रभु **गृहपतिः**=मेरे इस शरीररूप घर का रक्षक है। ये प्रभु ही **प्रजायाः**=प्रकृष्ट विकास के हेतु से **वसुवित्तमः** =अतिशयेन वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। सब आवश्यक वसुओं को देकर वे प्रभु हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम अपना सब प्रकार से विकास कर सकें। २. हे **अग्ने**=प्रकाश की अधिदेवता प्रभो! **गृहपते**=हमारे शरीररूपी गृहों के रक्षक प्रभो! आप हमें **द्युम्नम् अभि**=ज्ञान-ज्योति की ओर तथा **सहः अभि**=शक्ति की ओर **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्यमवाला कीजिए। ज्ञान और बल का सम्पादन करके ही मैं इस शरीररूप घर की रक्षा करनेवाला 'गृहपति' बनता हूँ। गृहपति ही 'आसुरि' होता है। प्राणों का वास्तविक पोषण करनेवाला होता है।

भावार्थ—मैं ज्ञान व बल का विकास करके शरीर की सभी शक्तियों का विकास करूँ और सचमुच गृह-पति बनूँ।

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पुरीष्य अग्नि

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः।

अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥४०॥

१. 'आसुरि' की ही प्रार्थना थोड़े से शब्दों के परिवर्तन के साथ प्रस्तुत मन्त्र में भी है—**अयम्**=इस संसार के प्रत्येक परिवर्तन में जिसका हाथ दिखता है, वह **अग्निः**=सबको उन्नत करनेवाला प्रभु **पुरीष्यः**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम है। प्रभु ने हमारे पालन के लिए सब आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न किया है। **रयिमान्**=वे प्रभु रयिवाले हैं, उत्तम धनवाले हैं। जीवन के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराके वे हमारा पालन करते हैं। **पुष्टिवर्धनः**=आवश्यक वसुओं व धनों को प्राप्त कराके वे प्रभु हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। २. **हे अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **पुरीष्य**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम प्रभो! आप हमें **द्युम्नम् अभि**=ज्ञान-ज्योति की ओर और **सहः अभि**=बल की ओर **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्यमवाला कीजिए।

३. वास्तविक पोषण तभी होता है जब हम ज्ञान और बल का सम्पादन करते हैं। ज्ञान और बल का सम्पादन करनेवाला यह वस्तुतः 'आसुरि' है, अपने जीवन का ठीक पोषण करनेवाला है।

भावार्थ—वह सबका पालक प्रभु हमें ज्ञान और बल की ओर ले-चले।

ऋषिः—शंयुः। देवता—वास्तुरग्निः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

घर व घरवाले, अ-भय, गृहपति के लक्षण

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि।

ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥४१॥

१. गत मन्त्रों की भावना के अनुसार 'द्युम्न और सह'=ज्योति और शक्ति का सम्पादन करके अपने जीवन के आकाश में बृहस्पति (ज्ञान) व शुक्र (वीर्य) नक्षत्रों का उदय करके जब यह 'आसुरि' प्राणशक्ति को सम्पन्न करनेवाला गृहस्थ बनता है तब कहता है कि **गृहाः**=हे घरो! **मा बिभीत**=भय को छोड़ दो। **मा वेपध्वम्**=कम्पित मत होओ। दूसरे शब्दों में घरों में साँप आदि का व रोगकृमियों का भय न हो, और साथ ही ये घर सील की अधिकता से रोगादि के कारण शरीर में कम्प पैदा करनेवाले न हों। **ऊर्जं बिभ्रतः**=अन्न को धारण करते हुए तुम्हें **आ-इमसि**=अन्न के साथ ही हम प्राप्त होते हैं, अर्थात् घर अन्न से पूरिपूर्ण हों।

२. इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्ध में घर की इन विशेषताओं का उल्लेख है कि (क) उनमें साँप व रोगादि का भय न हो। (ख) वहाँ सील के कारण ज्वरादि से कम्प न हो, (ग) वे अन्न से परिपूर्ण हों। अब मन्त्र के उत्तरार्ध में **घर में रहनेवालों की विशेषताओं** का प्रतिपादन करते हैं कि (क) **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ मैं (ख) **सुमनाः**=उत्तम मनवाला—जिस मन के अन्दर किसी प्रकार की अशुभ इच्छा उत्पन्न नहीं होती उस मन को धारण करता हुआ, (ग) **सुमेधाः**=उत्तम मेधावाला (घ) **मनसा मोदमानः**=सदा प्रसन्न मनवाला **वः गृहान्**=तुम घरों को **एमि**=प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—हमारे घर रोगादि के भय से रहित, ज्वरजनित कम्प से शून्य व अन्न-रस से पूरिपूर्ण हों। इन घरों में रहनेवाले शक्तिशाली, उत्तम मनवाले, शोभन-प्रज्ञ व प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हों।

ऋषिः—शंयुः। देवता—वास्तुपतिरग्निः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उत्तम घर

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।

गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः॥४२॥

पिछले मन्त्र में घर का उल्लेख करते हुए कहा था कि वहाँ रोग का भय नहीं, ज्वर का कम्प नहीं, अभाव के कारण रोना-धोना नहीं और घरवाले व्यक्तियों के विषय में कहा था कि वे शक्तिसम्पन्न, उत्तम इच्छाओंवाले, समझदार व प्रसन्न मन हों। ऐसे घर का प्रवास में स्मरण आना स्वाभाविक है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **गृहान्**=उन घरों को **उपह्वयामहे**=पुकारते हैं, अर्थात् ऐसे घरों की प्राप्ति के लिए हम प्रार्थना करते हैं, **येषाम्**=जिनका **प्रवसन्**=प्रवास में रहता हुआ मनुष्य **अध्येति**=स्मरण करता है। घर में भार्या कर्कश स्वभाव की हो तब तो सम्भवतः पुरुष प्रवास को अच्छा ही समझे। पति कर्कश हों तो पितृगृह में गई हुई पत्नी शायद कुछ आराम अनुभव करे और पतिगृह में लौटने को एक मुसीबत माने। २. हम उन घरों को पुकारते हैं **येषु**=जिनमें **बहुः**=बहुत ही **सौमनसः**=सुमनस्कता है, जिनमें रहनेवाले लोगों के मन अच्छे हैं, द्वेष व जलन आदि से भरे हुए नहीं हैं। ऐसे

ही घरों की तो प्रवास में याद आती है। ३. **ते**=वे घर **जानतः**=उपकाराभिज्ञ (अकृतघ्न) **नः**=हम लोगों को **जानन्तु**=जानें, अर्थात् घर में पति पत्नी के तथा पत्नी पति के उपकार को समझे। भाई भाई की भलाई को भूल न जाए। पुत्र युवा होने पर माता-पिता के ऋण को भूल न जाए और घर के सब व्यक्ति उस परमपिता प्रभु की कृपाओं को विस्मृत न कर दें। इस प्रकार इस घर में कृतघ्नता का प्रवेश न हो।

भावार्थ—उत्तम घर वे हैं जिनमें रहनेवाले लोग 'सुमनस्कता' वाले हैं, कृतज्ञ हैं और इस कारण जिन घरों की प्रवास में याद आती है।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः। **देवता**—वास्तुपतिः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

घर में क्या-क्या हो

उप॑हूता॒ऽइ॒ह गाव॒ऽउप॑हूताऽअजा॒वयः॑।
अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः।
क्षेमा॑य व॒ः शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳश॒ग्मꣳशं॒योः शं॒योः॥४३॥

१. **इह**=इस घर में **गावः उपहूताः**=गौवें पुकारी गई हैं, अर्थात् हमारी पहली कामना यह है कि घर में गौवों की कमी न हो। २. **इह**=घर में **अजा अवयः**=बकरियाँ व भेड़ें **उपहूताः**=पुकारी गई हैं, अर्थात् हमारे घरों में बकरियाँ व भेड़ें हों। बकरियों का दूध क्षयरोग को दूर रखता है तो भेड़ों की ऊन हमें सर्दी के लिए उत्तम वस्त्र प्राप्त कराती है। ३. **अथ उ**=और अब **नः गृहेषु**=हमारे घरों में **अन्नस्य**=अन्न का **कीलालः**=रस **उपहूतः**=पुकारा गया है। हमारे घरों में अन्न-रस की कमी न हो। यहाँ मांस-रस का प्रवेश न हो। ४. हे घरो! **वः**=तुम्हें **क्षेमाय**=योगक्षेम के लिए, सुन्दर जीवन-निर्वाह के लिए प्राप्त होता हूँ। **शान्त्यै**=शान्ति के लिए प्राप्त होता हूँ। मनुष्य घर का निर्माण इसीलिए करता है कि वहाँ उसको क्षेम व शान्ति प्राप्त हो। ५. **शिवं शग्मम्**=हमें इन घरों में ऐहिक सुख प्राप्त हो तो आमुष्मिक सुख को भी हम प्राप्त करनेवाले बनें, अर्थात् हमारे घर 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करनेवाले हों। इनमें खान-पान की कमी न हो, पर खान-पान की आसक्ति भी न हो। ६. इस घर में **शंयोः**=शान्ति चाहनेवाले के **शंयोः** =(शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्—नि० ८।२१) रोगों का शमन हो और सब प्रकार के भयों का यावन—दूरीकरण हो।

भावार्थ—'शंयु' (शान्ति चाहनेवाले) के घर में—(क) गौवें, (ख) बकरी व भेड़ें होती हैं, (ग) इसके घर में अन्न का रस होता है, (घ) योगक्षेम की कमी नहीं होती, (ङ) शान्ति का विस्तार होता है, (च) ऐहिक सुख के साथ आमुष्मिक कल्याण भी होता है और (छ) रोगों का शमन व भयों का दूरीकरण होता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ऋषियों का आना

प्र॒घा॒सिनो॑ हवामहे म॒रुत॑श्च रि॒शाद॑सः। क॒र॒म्भेण॑ स॒जोष॑सः॥४४॥

१. ऊपर ४१-४३ के मन्त्रों में वर्णित घरों में शान्तिपूर्वक रहनेवाले 'शंयु' लोग उत्तम प्रजाओं का निर्माण करनेवाले होते हैं, अतः वे प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' बन जाते हैं। ये प्रजापति समय-समय पर उत्तम ऋषियों को घरों पर आमन्त्रित करते रहते हैं, जिससे उनके उपदेशों से सन्तान पर उत्तम प्रभाव पड़े। यही विषय 'प्रस्तुत मन्त्र' का है।

२. **मरुतः**=(ऋत्विङ्नाम—नि० ३।१८) हम ऋषियों को **हवामहे**=पुकारते हैं, समय-समय पर ऋषियों को अपने घरों पर बुलाते हैं, जिससे इनके द्वारा विधिवत् किये जानेवाले यज्ञों का व इनसे दिये जानेवाले उपदेशों का सन्तान पर सुन्दर प्रभाव पड़े।

३. कैसे ऋषियों को? (क) **प्रघासिनः**=प्रकृष्ट घासवाले (घस्लृ अदने)। उत्तम वानस्पतिक भोजनवाले, अर्थात् जो ऋत्विज् मांस भोजनों से सदा दूर रहते हैं, जिनका भोजन हविर्मय है। (ख) **रिशादसः**=(रिशां दस्यन्ति) जो हिंसा को समाप्त कर देते हैं। जिनका मन हिंसा की वृत्ति से सदा दूर रहता है, (ग) **करम्भेण**=दधिमिश्रित सत्तुओं का **सजोषसः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं। महीधर लिखते हैं कि यवमय हविर्विशेष 'करम्भ' कहलाती है। उसका ये प्रीतिपूर्वक प्रयोग करते हैं। आचार्य दयानन्द इस शब्द का निर्माण 'कृ हिंसायाम्' से करके यह अर्थ करते हैं कि (अविद्या हिंसनेन समानप्रीतिसेविनः) अविद्या के हिंसन का जो प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, अर्थात् जिन्हें अविद्या के दूर करने में आनन्द का अनुभव होता है।

४. ऐसे ऋषि जिन घरों में आते रहेंगे वहाँ लोग अवश्य 'प्रजापति' बनेंगे, उत्तम सन्तानों का निर्माण कर पाएँगे। 'इनके जीवन पापशून्य होंगे' इस बात का वर्णन अगले मन्त्र में करेंगे।

भावार्थ—हमारे घरों में प्रकृष्ट शाकाहारी, हिंसा से पराङ्मुख, दधि-यवादि पवित्र वस्तुओं का सेवन करनेवाले ऋषिजन समय-समय पर आते रहें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—मरुतः। छन्दः—स्वराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पाप का अवयजन

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥४५॥

प्रजापति प्रार्थना करता है कि—१. **यत्**=जो **एनः**=पाप **ग्रामे**=ग्राम के विषय में **वयम्**=हम **चकृम**=कर बैठे हैं **इदम्**=इस **तत् एनः**=उस पाप को **अवयजामहे**=यज्ञों के द्वारा दूर करते हैं। ग्राम में निवास करनेवाले को उत्तम नागरिक बनना चाहिए। उसे कभी उत्तम नागरिक के कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। 'मार्गों को मलिन करना, मार्गों पर चलने आदि के नियमों का पालन न करना, पड़ोसियों के आराम आदि का ध्यान न करके शोर करते रहना, शराब आदि के नशे में उपद्रवादि करना'—ये सब ग्रामविषयक पाप हैं। हमें इनसे बचने का यत्न करना चाहिए। ऋषियों के समय-समय पर आते रहने से हममें यज्ञिय भावना जागरित रहेगी और हम ऐसे पाप न करेंगे। २. **यत् अरण्ये**=जो पाप हम वन के विषय में करते हैं, उसे भी यज्ञ से दूर करते हैं। 'वृक्षों को काटते रहना और नयों का न लगाना, निषिद्ध प्राणियों का शिकार करना अथवा वनों में वर्त्तमान आश्रमों को उजाड़ना' ये सब अरण्यविषयक पाप हैं। इनसे भी हम बचें। ३. **यत् सभायाम्**=जो पाप हम सभा में करते हैं, उसका भी हम अवयजन (दूर) करनेवाले हों। 'सभा की शान्ति को भङ्ग करना, वहाँ उपदेश न सुन ऊँघते रहना, परस्पर बातें करना, शिष्ट रीति से न बैठना' आदि सभा-विषयक पाप हैं। इन्हें भी हमें दूर करना हैं। ४. **यत् इन्द्रिये**=जो इन्द्रियों के विषय में हमसे पाप हुए हैं उसे भी हम यज्ञ से दूर करते हैं। अतिभोजन, अशुभ दर्शन, निन्दाश्रवण, निन्दाकथन व असंयम आदि इन्द्रियों के दोषों को भी हम यज्ञ से दूर करनेवाले हों। ५. **स्वाहा**=(स्वं

प्रति आह) यही बात हमें सदा अपने से कहते रहना चाहिए। निरन्तर इस प्रकार आत्मप्रेरणा देने से हमारा जीवन इन सब पापों से ऊपर उठेगा, वह पवित्र होगा और हम पवित्र सन्तानों के निर्माण करनेवाले 'प्रजापति' बन पाएँगे।

भावार्थ—यज्ञादि से हमारी पापवृत्तियाँ दूर होती जाएँ। हम ग्राम, अरण्य, सभा व इन्द्रियविषयक सब पापों से ऊपर उठें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रमारुतौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।।

हाथों में कर्म, वाणी में स्तवन

मो षू णऽइन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः।।४६।।

१. पिछले मन्त्र में पापों को दूर करने का उल्लेख है। यह पापों को दूर करनेवाला 'अगस्त्य' कहलाता है। 'अग'=पापपर्वत का 'स्त्य'=संहार करनेवाला। यह अगस्त्य प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् सर्वैश्वर्यवन् प्रभो! **अत्र**=यहाँ—इस मानव-जीवन में **पृत्सु**=संग्रामों में **नः**=हमारा **मा**=मत **उ**=ही मन्थन (नाश) हो (विनाशयतीति शेषः—म०)। (सुशब्दो विनाशभावस्य सौष्ठवं ब्रूते—म०) **सु**=थोड़ा-सा भी नाश मत हो। हे प्रभो! आपकी कृपा से हम इन काम-क्रोधादि से संघर्ष में तनिक भी पराजित न हों। २. हे **शुष्मिन्**=शत्रुओं के शोषक बलवाले प्रभो! **देवैः**=देववृत्तिवालों द्वारा **ते**=तेरा **अवयाः**=(अवयुतो भागः) पृथक् भाग **अस्ति हि ष्म**=निश्चय से है ही, अर्थात् देव प्रातः-सायं संसार से अलग होकर कुछ देर के लिए प्रभु का ध्यान अवश्य करते हैं। वह प्रभु-चिन्तन ही वस्तुतः उन्हें देव बनाता है। ३. **हविष्मतः**=उस प्रशस्त हविवाले, अर्थात् सब उत्तम पदार्थों को देनेवाले **मीढुषः**=(मिह सेचने) सब सुखों की वर्षा करनेवाले **यस्य**=प्रभु की **यव्या**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अपने जीवन को दोषों से पृथक् करना और गुणों से संयुक्त करना **चित्**=ही **महः**=पूजा है। हम बुराइयों को छोड़ें और अच्छाइयों को लें, यही प्रभु-पूजा है। ४. **मरुतः**=इस यव्या—दोषत्याग एवं गुणसंग्रह के द्वारा प्रभु-पूजा करनेवाले मरुत् (मनुष्य की) **गीः**=वाणी **वन्दते**= प्रभु का स्तवन करती है। 'मरुत' मितरावी है, कम बोलता है। अपने अन्दर अच्छाइयों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। अपने कार्यों में लगा हुआ प्रभु-स्तवन करता है। हाथ काम में लगे हैं तो वाणी प्रभु का गुणगान करती है।

भावार्थ—अवगुणों को दूर करना व गुणों को धारण करना ही 'प्रभु-स्तवन' है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

वापस घर चलो

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः।।४७।।

पिछले मन्त्र के प्रसङ्ग को ही प्रस्तुत मन्त्र में आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि—१. **कर्मकृतः**=कर्मों को करनेवाले **कर्म**=कर्म ही **अक्रन्**=करते हैं। ये अपना जीवन यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगाये रखते हैं और कर्मों को करते हुए **मयोभुवा**=कल्याण को जन्म देनेवाली **वाचा सह**=वाणी के साथ ये इन कर्मों को करते हैं। ये हाथों से कर्म करते हैं और वेदवाणी के द्वारा प्रभु का गुणगान करते हैं। यह वाणी मयोभूः=कल्याण का भावन करनेवाली है। २. **देवेभ्यः**=इस प्रकार दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **कर्म कृत्वा**=कर्म

करके **अस्तम्**=घर को **प्रेत**=वापस चलो। आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते रहना नितान्त आवश्यक है। आलस्य आया और अवगुणों ने घेरा। ३. इन कर्मों को करते हुए यदि हम **सचाभुवः**='साथ होनेवाले'=मिलकर चलनेवाले बनते हैं तो अपने घर में वापस पहुँचने के योग्य होते हैं। ब्रह्मलोक जीव का वास्तविक घर है। जीव यहाँ तो यात्रा पर आया हुआ है। यहाँ हमें 'सचाभुवः' बनना है, मिलकर चलना है। जीओ और जीने दो 'Live and let live' का पाठ सीखना है। प्रभु-प्राप्ति का यही मार्ग है। यही यज्ञियवृत्ति कहलाती है। देवताओं का जीवन ऐसा ही होता है।

भावार्थ—हमारे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगें, वाणी कल्याणी वेदवाणी का उच्चारण करती हो। क्रियाशीलता से हम अपने में दिव्य गुणों को जन्म दें, संसार में मिलकर रहना सीखें, तभी हम वापस अपने घर 'ब्रह्मलोक' में पहुँचेंगे।

ऋषिः—और्णवाभः। देवता—यज्ञः। छन्दः—ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अवभृथ-निचुम्पुण

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।

अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि॥४८॥

१. गत मन्त्र में अगस्त्य यज्ञादि उत्तम कर्मों के जाल को तनता है, परन्तु खूबी यह कि उस जाल में फँसता नहीं, अतः यह उस मकड़ी की भाँति होता है जो जाले को तनती तो है पर उसमें उलझती नहीं। एवं, इसका नाम 'और्णवाभ' पड़ जाता है। २. निरन्तर यज्ञों में लगे रहने से इसको ही सम्बोधित करते हैं। **अवभृथ**=हे यज्ञ के पुतले! (**अवभृथ**=Sacrifice in general) **निचुम्पुण**=(चोपति मन्दं गच्छति) निश्चय से शान्तिपूर्वक अपने जीवन-मार्ग पर चलनेवाले अथवा (नीचैः क्वणनः) यज्ञों को करते हुए व्यर्थ में उनका ढिंढोरा न पीटनेवाले, बहुत शोर न करनेवाले तू **निचेरुः असि**=(नितरां चरणशील) क्रियाशील है। तेरा जीवन क्रियामय है, परन्तु तू यह ध्यान रखना कि **निचुम्पुणः**=शान्तिपूर्वक चलना, व्यर्थ का शोर न करना। ३. **देवकृतं एनः**=देवताओं के विषय में किये गये पापों को **देवैः**=दिव्य गुणों के उत्पादन के द्वारा **अव अयासिषम्**=मैं दूर करूँ। शरीर में सब इन्द्रियाँ देवांश हैं—सूर्य चक्षुरूप से है तो अग्नि वाणीरूप से, चन्द्रमा मनरूप से है तो दिशाएँ श्रोत्ररूप से। इन देवों के विषय में पाप यही है कि हम इनका ठीक प्रयोग नहीं करते। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगें, कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कर्मों में और मन शिवसंकल्प में। यही मार्ग है देवकृत पापों को दूर करने का, यही मार्ग है दिव्य गुणों की प्राप्ति का। ४. **मर्त्यकृतम्** (**एनः**)=मनुष्यों के विषय में किये गये पाप को मैं **मर्त्यैः**=(मरणधर्मैः शरीरैः—द०) मरणधर्म शरीरों से **अव अयासिषम्**=दूर करूँ, अर्थात् मनुष्यों के हित के लिए अपने शारीरिक सुखों का त्याग करके और अन्ततः अपने शरीर का भी बलिदान करके हम मर्त्यकृत पाप का प्रायश्चित्त कर पाते हैं। ५. **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें **पुरुराव्णः** (रु शब्दे रावयति)=बहुतों को रुलानेवाली **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=बचाइए। हमारे कर्म हिंसा करके पीड़न के द्वारा रुलानेवाले न हों। हमारे कर्म सत्य हों, सत्य कर्म वही हैं जो अधिक-से-अधिक हित करनेवाले हैं **'यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा'**।

भावार्थ—हम यज्ञमय जीवनवाले हों, परन्तु बिना शोर के शान्तभाव से इन यज्ञों में लगे रहें। हमारे यज्ञ महान् हों, नकि उनका आडम्बर महान् हो।

ऋषिः—और्णवाभः। देवता—यज्ञः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पूर्णा–सुपूर्णा

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत।
वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्ज्जं शतक्रतो॥४९॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार 'और्णवाभ' अपने जीवन में यज्ञों का जाल तन देता है। उन यज्ञों में उसे लाभ-ही-लाभ दिखता है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी ये यज्ञ घाटे का सौदा नहीं होते। यह और्णवाभ कहता है कि १. हे **दर्वि**=हवि से पूर्ण कड़छी! तू **पूर्णा**=भरी हुई **परापत**=इन्द्र के प्रति जा। मनु के शब्दों के अनुसार अग्नि में डाली हुई आहुति (**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**) सूर्य=(इन्द्र) तक पहुँचती है। अग्नि में डाला हुआ यह हविर्द्रव्य नष्ट नहीं होता, क्योंकि **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः'** इन यज्ञों से बादल बनते हैं और बादल से फिर अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार हे कड़छी! तू **सुपूर्णा**=अन्नादि से खूब भरी हुई **पुनः आपत**=फिर से हमें प्राप्त होजा। वर्षा होती है, तो किसान भी समझता है और कहता है कि पानी नहीं, सोना बरस रहा है। एवं, कड़छी जाती तो 'पूर्णा' है, पर लौटती है 'सु-पूर्णा'। एवं ये यज्ञ घाटे की वस्तु थोड़े ही हैं? २. इन यज्ञों से तो हम उस प्रभु के साथ **वस्ना इव** =मानों मूल्य देकर **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व बल-प्राणशक्ति का **विक्रीणावहै**=क्रय-विक्रय करते हैं। ३. हे **शतक्रतो**=अनन्त क्रतुओंवाले प्रभो! मैं भी आपकी कृपा से शतक्रतु बनूँ। मेरे जीवन के सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय बीतें।

भावार्थ—'यज्ञ' हमारे जीवन का सर्वोत्तम क्रय-विक्रय है।

ऋषिः—और्णवाभः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

दान–प्रतिदान

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥५०॥

प्रभु और्णवाभ से कहते हैं कि तुझसे किये जानेवाले ये यज्ञ तो निश्चित रूप से तेरे लाभ के लिए ही हैं। यदि अत्यन्त स्थूल (concrete) भाषा में कहा जाए तो यह कह सकते हैं कि **देहि मे**=हे और्णवाभ तू मुझे दे, **ददामि ते**=और मैं तुझे देता हूँ। तू यज्ञों से मेरे लिए अन्न प्राप्त कराता है तो मैं वृष्टि द्वारा तुझे सहस्रगुणा अन्न प्राप्त कराता हूँ। **मे निधेहि**=तू मेरे लिए अपनी निधि को स्थापित कर, **ते निदधे**=मैं तेरे लिए निधि को स्थापित करता हूँ। **च**=और तू **मे**=मेरे लिए **निहारम्**=मूल्य को **हरासि**=प्राप्त कराता है तो मैं भी **ते**=तेरे लिए **निहारम्**=(मूल्येन क्रेतव्यं पदार्थम्—म०) पदार्थों को **निहराणि**=निश्चय से देता हूँ। **स्वाहा**=यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है।

एवं, ये यज्ञ आदान-प्रदान रूप हैं। और्णवाभ इस आदान-प्रदान की प्रक्रिया में आनन्द का अनुभव करता है—उसके लिए यह क्रिया सहज हो जाती है। वह फल की कामना से ऊपर उठने के कारण इस क्रिया को करता हुआ भी इसमें उलझता नहीं। वह इस सबको प्रभु का दिया हुआ जानता है। इसे प्रभु को देते हुए कुछ बोझ नहीं लगता। उसने दिया, पर वह कितना ही गुणा होकर फिर उसे ही मिल गया।

भावार्थ—हम यज्ञों को प्रभु के साथ आदान-प्रदान का एक व्यवहार समझें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

'गोतम' बनना

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽअधूषत।

अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी॥५१॥

१. गत मन्त्र का 'और्णवाभ' यज्ञों के जाल को तनता हुआ 'गोतम' बन जाता है। 'अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला' (गावः इन्द्रियाणि, तम=अतिशये)। ये उत्तम इन्द्रियोंवाले लोग **अक्षन्**=(घस् अदने) उत्तम वानस्पतिक भोजन करते हैं। 'अक्षन्' शब्द में 'घस्' धातु घास व वनस्पति भोजन का संकेत करती है। २. ये **अमीमदन्त**=एकदम सादा भोजन करते हुए उसी में आनन्द का अनुभव करते हैं। ३. **हि**=निश्चय से **प्रियाः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले ये लोग **अव अधूषत**=सब वासनाओं को कम्पित करके अपने से दूर रखते हैं। इनका जीवन वासनामय नहीं होता। वानस्पतिक भोजन व प्रसन्न मनोवृत्ति ये दोनों बातें वासनाओं से बचने में सहायक होती हैं। ४. वासनाओं को दूर रखने के उद्देश्य से ही ये **अस्तोषत्**=प्रभु का स्तवन करते हैं। ५. इस प्रभु-स्तवन के कारण इनके जीवन में एक दिन वह आता है जब ये **स्वभानवः**=आत्मा की दीप्तिवाले होते हैं। इन्हें आत्मप्रकाश दिखता है। ६. **विप्राः**=(वि+प्रा) ये अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले होते हैं। ७. **नविष्ठया**=(नु स्तुतौ) अत्यन्त स्तुत्य अथवा प्रभु-स्तवन की उत्तम भावना से युक्त **मती**=(मत्या) बुद्धि से ये युक्त होते हैं। इनका प्रभु-स्तवन यान्त्रिक-सा (mechanical) न होकर बुद्धिपूर्वक होता है। ८. प्रभु से ये यही आराधना करते हैं कि हे **इन्द्र**=सब इन्द्रियों के वास्तविक अधिष्ठाता प्रभो! **ते**=आपके **हरी**=इन कर्मेन्द्रियपञ्चक व ज्ञानेन्द्रियपञ्चक रूप घोड़ों को **योज नु**=निश्चय से हमारे साथ संयुक्त कीजिए या इन्हें कार्य में लगाये रखिए। जैसे घोड़े को रथ में जोतते हैं, इसी प्रकार मेरे इन इन्द्रियरूप घोड़ों को आप ज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञ में जोते रखिए। इन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहने पर पवित्र बनती हैं, अन्यथा इनमें अपवित्रता आ जाती है। एवं, इन घोड़ों को जोते रखना ही 'गोतम' बनने का उपाय है।

भावार्थ—हमारा भोजन सादा हो, हम सदा प्रसन्न रहें, वासनाओं से बचें, प्रभुस्तवन को महत्त्व दें और इन्द्रियों को ज्ञान व यज्ञों में लगाये रक्खें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

गोतम का प्रभुस्तवन

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि।

प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२॥ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरी॥५२॥

१. पिछले मन्त्र के शब्दों के अनुसार जब गोतम प्रभु का स्तवन करता है तब कहता है कि हे **मघवन्**=(मघ=मख) इस सृष्टिरूप यज्ञ के रचनेवाले प्रभो! **सुसन्दृशम्**=अत्यन्त सुन्दर दर्शनवाले **त्वा**=आपकी **वयम्**=हम **वन्दिषीमहि**=वन्दना करते हैं। प्रभु इस सृष्टि के रचयिता तो हैं ही, यह सृष्टि इस यज्ञरूप प्रभु का एक यज्ञ भी है। प्रभु ने इसे प्रकृति से बनाया और जीव की उन्नति के लिए बनाया, परन्तु जब हम उस प्रभु को प्रकृति व जीव से अलग सोचने का प्रयत्न करते हैं तो इतना ही कह सकते हैं कि वे अत्यन्त सुन्दर हैं, 'सुसन्दृश' हैं। प्रभु का दर्शन अत्यन्त रमणीय है, आसेचनक है, वहाँ पहुँचकर मन ऊबता

नहीं। २. हे **पूर्णबन्धुर**=पूर्ण है लोक-लोकान्तरों का बन्धन जिसका ऐसे प्रभो! आप **स्तुतः**=स्तुति किये जाने पर **वशान् अनुयासि**=अपने मन को वश में करनेवालों को अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हम अपने मन को वश में करते हैं, उतना- उतना हम आपको प्राप्त करने के पात्र बनते जाते हैं। आप पूर्णबन्धुर है। वृष्टि की क्रिया में ही किस प्रकार तीनों लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। द्युलोक के सूर्य से पृथिवीलोक का जल वाष्पीभूत होता है और उन वाष्पों से अन्तरिक्षलोक में मेघों का निर्माण होता है। ३. इस पूर्णबन्धुर प्रभु से गोतम कहता है कि हे **इन्द्र**=मेरी इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभो! आप इन **ते हरी**=अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को **योज नु**=निश्चय से ज्ञानयज्ञों में जोते रखिए। ये मेरी इन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहेंगी तभी तो 'पवित्र' बनी रहेंगी।

भावार्थ—हम अपने में अत्यन्त सुन्दर प्रभु की स्तुति करते हैं। वे प्रभु पूर्णबन्धुर हैं। इस सृष्टि के लोकों को परस्पर बाँधनेवाले हैं, वे स्तोता को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—अतिपादनिचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्तोम व मन्म=स्तुति व ज्ञान

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन। पितॄणां च मन्मभिः॥५३॥

१. पिछले मन्त्र का ऋषि 'गोतम'='प्रशस्त इन्द्रियोंवाला' इन्द्रियों को प्रशस्त रखने के लिए ही मनरूपी लगाम से उनको वश में रखता है—विषयों में जाने से रोकता है और उत्तम कार्यों में बाँधता है। ऐसा बन्धन करनेवाला यह अब 'बन्धु' बन जाता है। ये बन्धु प्रार्थना करते हैं कि **मनः**=मन को **नु**=अब **आह्वामहे** =पुकारते हैं, अर्थात् ऐसे मन के लिए प्रार्थना करते हैं जो (क) **नाराशंसेन**='नार'—नरसमूह को 'आशंस' =सर्वतः प्रशंसनीय बनानेवाले **स्तोमेन**=स्तुतिसमूह से युक्त है और **पितॄणाम्**=ज्ञानदाता आचार्यों के **मन्मभिः** =मननीय ज्ञानों से सम्पन्न है। मन वही ठीक है जो या तो प्रभु के स्तवन में लगा हुआ है या ज्ञानप्राप्ति में। मन के दो ही व्यसन उत्तम हैं—'हरिपादसेवनम्, विद्याभ्यसनम्'। ऐसे मन को प्राप्त करके हम इन्द्रियरूप घोड़ों को पूर्णरूप से बाँधनेवाले व वश में करनेवाले होंगे। २. **स्तोम**=स्तुति 'नाराशंस' है। नरसमूह के जीवन को सब दृष्टिकोणों से सुन्दर बनानेवाली है। स्तुति से मनुष्य के सामने एक उच्च लक्ष्य-दृष्टि पैदा होती है और उस लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ वह सुन्दर जीवनवाला होता है। ३. **मन्म**=मननीय ज्ञान **पितॄणाम्** =पितरों का है, रक्षकों का है। ज्ञान का सर्वप्रथम लाभ यही है कि यह हमारी रक्षा करता है। हमें ठीक भोजन की प्रवृत्तिवाला बनाकर यह स्वस्थ बनाता है तो वासनाओं को नष्ट करके यह हमें मानस-स्वास्थ्य भी देता है।

भावार्थ—प्रभो! हमें वह मन दीजिए जो स्तवन व विद्याध्ययन में लगा हो।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

क्रतु व दक्ष=संकल्प व उत्साह (कर्म व उत्साह)

आ नऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥५४॥

'बन्धु' ही प्रार्थना करते हैं कि **नः**=हमें **पुनः**=फिर **मनः**=मन **आएतु**=सर्वथा प्राप्त हो। किसलिए? १. **क्रत्वे**=कर्मसंकल्प के लिए। जिस मन में उत्तमोत्तम कर्मों का सदा संकल्प हो। कर्मसंकल्पशून्य मन वेगशून्य घोड़े के समान है या दूध से रहित गौ के सदृश

है या वह मन तो नक्षत्रविहीन गगन है। २. **दक्षाय**=उत्साह के लिए। मेरे मन में उत्साह हो। निराशा से भरा हुआ मन मनुष्य को कभी उन्नत नहीं कर सकता। ३. **जीवसे**=प्राणशक्ति के धारण के लिए (जीव प्राणधारणे) प्राणशक्ति से रहित मन मृत-सा होता है। ४. **च**=और **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य के दर्शन के लिए। जिस समय मन में कर्मसंकल्प, उत्साह व जीवनीशक्ति की कमी होती है, उस समय मनुष्य दीर्घकाल तक जीवन-धारण नहीं कर पाता। ऐसा निर्बल मन इन्द्रियों को वश में क्या करेगा?

भावार्थ—हमारे मन कर्मसंकल्प, उत्साह व जीवटवाले हों।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

व्रतमय जीवन

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातꣳसचेमहि॥५५॥

१. मन के विषय में बन्धु की प्रार्थना आगे इस प्रकार होती है कि **पितरः**=आचार्य व **दैव्यः जनः**=सब दिव्य वृत्तियोंवाले लोग **नः**=हमें **पुनः**=फिर **मनः**=मन को **ददातु**=दें। यह हमारा मन सांसारिक विषयों में भटककर 'हमारा' न रह गया था। आचार्यों से व दिव्य वृत्तिवाले जनों से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करके हम अपने मन को विषय-व्यावृत्त करके फिर से प्राप्त करनेवाले बनें। २. इस मन को विषयों से लौटाकर हम **व्रातम्**=(व्रतसमूहसमन्वितम्) व्रतों से युक्त **जीवम्**=जीवन को **सचेमहि**=प्राप्त करें। हमारा मन व्रतों की रुचिवाला हो। ये व्रत ही हमारे जीवन को सुन्दर बनाते हैं। व्रत ही मन को दृढ़ करते हैं और तब वह दृढ़ मनरूपी लगाम ही इन्द्रियरूप घोड़ों को सुसारथि की भाँति वश में कर सकेगी।

भावार्थ—हमारा मन दिव्य वृत्तिवाला हो और उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति में लगा हो।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

सोम का व्रत (ब्रह्मचर्य)

वयꣳसोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि॥५६॥

पिछले मन्त्र में 'व्रतमय जीवन' की चर्चा थी। इस व्रत को प्रस्तुत मन्त्र में 'सोम का व्रत' कहा है। सोम के दो अर्थ हैं—(क) वीर्यशक्ति (ख) परमात्मा। वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके ही हमें सूक्ष्म बुद्धि से उस प्रभु का दर्शन करना है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**। हे **सोम**=शान्त प्रभो! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में स्थित हुए, अर्थात् तेरी प्राप्ति के लिए सोम=वीर्य की रक्षा का पूर्ण ध्यान करते हुए **मनः**=अपने मन को **तनूषु**=शरीरों में ही **बिभ्रतः**=धारण करते हुए, अर्थात् मनों को इधर-उधर न भटकने देते हुए, भटकना तो क्या उसे शरीरों की शक्तियों के विस्तार (तत्) में लगाते हुए **प्रजावन्तः**=उत्तम प्रजाओंवाले अथवा उत्तम विकासवाले हम **सचेमहि**=आपका उपासन करते हैं। प्रभु के उपासन का क्रम यही है कि—१. हम सोम का व्रत धारण करें। 'हमें प्रभु को पाना है', ऐसा निश्चय करें और शरीर में सोम=वीर्य की रक्षा करें। २. मन को शरीर में ही धारण करें, इधर-उधर भटकने न दें। वह स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीर की शक्तियों के विकास में ही लगा रहे। ३. हम उत्तम प्रजावाले बनें। साथ ही हम प्रजा अर्थात् उत्कृष्ट विकासवाले हों। हम अपने में सात्त्विक शक्तियों का विकास करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारा मन सोम के व्रत में स्थित हो। यह इधर-उधर भटके नहीं। हम प्रकृष्ट विकासवाले हों।

ऋषिः—बन्धुः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

आखुस्ते पशुः

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व

स्वाहैष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः ॥५७॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित मनोनिरोध के लिए प्राणसाधना मौलिक उपाय है। प्राणायाम से 'चित्तवृत्तिनिरोध' होकर मन का वशीकरण होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र को प्राणसाधना से प्रारम्भ किया गया है। हे **रुद्र**=प्राण! (रुद्राः प्राणाः) **एषः**=ये प्रभु **ते**=तेरा **भागः**=भाग हैं—सेवनीय हैं। तूने प्रभु की ही उपासना करनी है। २. प्राणों के द्वारा प्रभु का उपासन यही है कि प्राणसाधना से मनोनिरोध होता है और मनोनिरोध से प्रभु-साक्षात्कार। ३. **तम्**=उस प्रभु को **स्वस्रा**=(सु+अस्) उत्तमता से सब दोषों को परे फेंकनेवाली **अम्बिकया सह**=(अवि शब्दे) इस शब्दविद्या=वेदवाणी के साथ **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। ज्ञानयज्ञ से प्रभु का उपासन सर्वोत्तम उपासन है। **स्वाहा**=(सु+आह) यह बात बहुत ही सुन्दर कही गई है। ४. हे **रुद्र**=प्राण! **एष**=यह प्रभु ही **ते**=तेरा **भागः**=उपासनीय—भजनीय है। यह **ते**= तेरा **आखु**=(आखमति =अवदारयति) सब दोषों का सुदूर विदीर्ण करनेवाला है। **ते पशुः** (पश्यति)=यह तेरा द्रष्टा है। तेरे दोषों का देखनेवाला और उनका नाश करनेवाला है। तू अपने दोषों को देख पाये या न, परन्तु प्रभु तो तेरे दोषों को देखते ही हैं। उनसे तेरा कोई दोष छिपा नहीं। वे तेरे इन सब दोषों को उखाड़ फेंकेंगे—भस्म कर देंगे।

भावार्थ—प्रभु ही सेवनीय हैं, ज्ञान-प्राप्ति से उनका उपासन होता है। वे प्रभु ही हमारे दोषों के द्रष्टा व नाशक हैं।

ऋषिः—बन्धुः। देवता—रुद्रः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

त्र्यम्बकोपासन

अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम्।

यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥५८॥

१. 'बन्धु' कहता है कि **रुद्रम्**=(रुत् र) हृदयस्थरूप से उपदेश देनेवाले उस प्रभु से **अवअदीमहि** (दीङ् क्षये, अवक्षाययेम—द०) हम अपने दोषों का नाश कराते हैं। पिछले मन्त्र में प्रभु को 'आखु'=दोषों का खनन—अवदारण करनेवाला कहा था। वे प्रभु हमारे दोषों को 'पशु' देखते हैं और उन्हें नष्ट करते हैं, अतः उपासना द्वारा हम उस प्रभु से अपने दोषों का क्षय कराते हैं। २. **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज **त्रयम्बकम्**=(त्रि+अम्बक, अवि शब्दे) 'ज्ञान+कर्म+भक्ति' रूप तीन शब्दों के उच्चारण करनेवाले उस प्रभु से **अव**=हम अपने दोषों को दूर कराते हैं। वे प्रभु देव हैं—उनकी उपासना हमें भी देव बनाती है। वे प्रभु त्र्यम्बक हैं, उनका उपदेश यह है कि ज्ञानपूर्वक **कर्म** करो, यही मेरी **भक्ति** है। वस्तुतः इस सूत्र को अपनाने पर दोषों का तो प्रश्न ही नहीं रह जाता। ३. प्रभु के उपासन से हम अपने को निर्दोष बनाने का प्रयत्न इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे **नः**=हमें **वस्यसः करत्**=वे प्रभु उत्तम जीवनवाला करें, **यथा**=जिससे **नः**=हमें **श्रेयसः**=कल्याण प्राप्तिवाला **करत्**=करें। **यथा**=जिससे **नः**=हमें **व्यवसाययात्**=निश्चयपूर्वक कर्मों के अन्त तक पहुँचनेवाला करें (षो अन्तकर्मणि), अर्थात् हमारे कार्यों में हमें सफलता प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु उपासन के परिणाम निम्न हैं—(क) निर्दोषता (ख) उत्तम जीवन (ग) कल्याण व मोक्ष की प्राप्ति (घ) किये जानेवाले कार्यों में सफलता।

ऋषिः—बन्धुः। देवता—रुद्रः। छन्दः—स्वराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

भेषज

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै॥५९॥

१. गत मन्त्र में वर्णन है कि प्रभु के द्वारा हम अपने सब दोषों का क्षय कराते हैं। एवं, प्रभु की उपासना 'दोषराशिनाशनी' है। दूसरे शब्दों में वह 'भेषज' है। इसी भावना से प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ होता है। हे प्रभो! आप **भेषजम् असि**=औषध हो। 'भेषं रोगं जयति' हमारे सब रोगों को विजय करनेवाले हो। रोगों को समाप्त करके आप हमें नीरोग बनाते हो। २. हमें ही क्या! **भेषजं गवे**=हमारे घर की गौवों को भी नीरोग बनाते हो। इन नीरोग गायों के दुग्धसेवन से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ (गावः) भी उत्तम बनती हैं, वे निर्दोष होती हैं। ३. (भेषजम्) **अश्वाय**=हमारे घोड़ों के लिए भी आप भेषज हो। इन नीरोग व सबल घोड़ों पर आरुढ़ होकर भ्रमण के लिए जाते हुए हम अपनी सब कर्मेन्द्रियों को सबल बना पाते हैं। (अथवा कर्मेन्द्रियाणि अश्नुवते कर्मसु)। ४. **पुरुषाय भेषजम्**=हे प्रभो! आप पुरुष के लिए 'भेषज' हो। जो पौरुषवाला होता है उसके भय को आप दूर करते हो (भेषृ भये)। ५. हे प्रभो! आप **भेषजं मेषाय मेष्यै**=भेड़ व भेड़ी के लिए भी सुख देनेवाले हो। स्वस्थ भेड़ों से हमें अपने शीत-निवारण के लिए ऊन के वस्त्र प्राप्त होते हैं। ६. यहाँ कपास-वस्त्रों का संकेत नहीं है, क्योंकि वे कपड़े पशुओं से प्राप्त नहीं होते। यहाँ पशुओं का क्रम होने से कपास का उल्लेख नहीं है। वैदिक संस्कृति में कपास के वस्त्रों का उल्लेख है ही कम। ७. यहाँ बन्धु की प्रार्थना समाप्त होती है। यह 'बन्धु' सब इन्द्रियों को मन द्वारा और मन को प्राणसाधना द्वारा बाँधकर उस प्रभु में बाँधता है। इस बाँधने से ही यह 'बन्धु' कहलाता था। अब पूर्ण रूप से बाँधकर वह वसिष्ठ=वशियों में श्रेष्ठ' बन जाता है और वसिष्ठ ही अगले मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना करता है।

भावार्थ—प्रभो! आप भेषज हैं। आप हमें और हमारे गौ, घोड़े, भेड़, बकरी आदि पशुओं को नीरोग बनाइए।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—रुद्रः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मृत्युञ्जय मन्त्र, वसिष्ठ का निश्चय

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥६०॥

१. **त्र्यम्बकम्**='ऋग्यजुःसाम' मन्त्रों के द्वारा ज्ञान-कर्म व भक्ति का उपदेश देनेवाले प्रभु का **यजामहे**=हम पूजन करते हैं अथवा प्रभु को अपने साथ सङ्गत करते हैं (यज् सङ्गतीकरण) २. वस्तुतः **सुगन्धिम्**=वे प्रभु ही हमारे साथ उत्तम गन्ध=सम्बन्धवाले हैं। संसार के अन्य सब व्यक्तियों के सम्बन्ध में कुछ स्वार्थ है, प्रभु का सम्बन्ध स्वार्थ के लेश से भी शून्य है। ३. जितना-जितना प्रभु के साथ हमारा सम्बन्ध बढ़ता है उतना-उतना ही ये प्रभु **पुष्टिवर्धनम्**=हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। ४. वसिष्ठ इस प्रभु से प्रार्थना करता है कि प्रभु के सम्पर्क से पुष्टि को प्राप्त होता हुआ मैं पूर्णतः परिपक्व होकर

मृत्योः=इस मरणधर्मा शरीर से **मुक्षीय**=इस प्रकार मुक्त हो जाऊँ **इव**=जैसे पूर्ण परिपक्व हुआ–हुआ **उर्वारुकम्**=खीरा **बन्धनात्**=बन्धन से मुक्त हो जाता है। (वृन्तं प्रसवबन्धनम्) जैसे पूर्ण परिपक्व हुआ कोई भी फल या फूल उसे शाखा से बाँधनेवाले वृक्ष से अलग हो जाता है, उसी प्रकार मैं पूर्ण पुष्टि को प्राप्त हुआ, मृत्यु से दूर हो जाऊँ और अमरता का लाभ करूँ। ५. **मा अमृतात्**=मैं मोक्ष से छूटनेवाला न होऊँ। इसी प्रार्थना को वसिष्ठ पुनः दुहराता है कि–

१. **त्र्यम्बकम्**=ज्ञान–कर्म व भक्ति के उपदेष्टा प्रभु की **यजामहे**=हम उपासना करते हैं। २. वे प्रभु ही **सुगन्धिम्**=हमारे उत्कृष्ट सम्बन्धवाले हैं। ३. ये प्रभु ही **पतिवेदनम्**=मुझे सच्चे पति–रक्षक को (विद् लाभे) प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः ये प्रभु ही मेरे सच्चे पति हैं। जीवात्मा पत्नी है, प्रभु पति हैं। पत्नी ने पति को प्राप्त करना है। उपासना ही उस प्राप्ति का उपाय है। ४. परन्तु यह उपासन व पतिवेदन इस संसार को छोड़कर ही होगा। कन्या भी पूर्वगृह को छोड़कर 'पतिगृह' को प्राप्त करती है, अतः वसिष्ठ प्रार्थना करता है कि जैसे एक कन्या **बन्धनात्**=नाना प्रकार के आकर्षणों व बन्धनों से बाँधनेवाले पितृगृह से इस प्रकार शान्ति से जाती है **इव**=जैसे कि **उर्वारुकं बन्धनात्**=एक परिपक्व फल अपने शाखा–बन्धन से अलग हो जाता है। इसी प्रकार मैं **इतः**=इस संसार–बन्धन से **मुक्षीय**=छूट जाऊँ। ५. **मा अमुतः**=इस संसार से परे उस प्रभु के सम्बन्ध से मैं कभी पृथक् न होऊँ। मैं अपने वास्तविक सम्बन्ध को पहचानूँ और उसे ही अपनाऊँ।

भावार्थ–प्रभु हमें 'ज्ञान–कर्म–भक्ति' का उपदेश देते हैं। वही हमारे सच्चे सम्बन्धी हैं । वे ही हमें पुष्ट करनेवाले या हमारे रक्षक हैं। मैं इस संसार–बन्धन से छूटकर प्रभु को ही प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः–वसिष्ठः। देवता–रुद्रः। छन्दः–पङ्क्तिः। स्वरः–पञ्चमः।।

अन्न व वस्त्र

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि।

अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाऽअहिंसन्नः शिवोऽतीहि॥६१॥

१. हे **रुद्र**=हृदयस्थरूप से ज्ञान देनेवाले प्रभो! (रुत्+र) **एतत्**=यह आपसे दिया गया ज्ञान ही **ते**=आपका **अवसम्**=रक्षण है, रक्षा का साधन है। ज्ञान देकर ही तो आप उपासकों का रक्षण करते हैं। २. **तेन**=उस ज्ञान से **परः**=(**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**) सर्वोत्कृष्ट आप–ज्ञानियों को भी ज्ञान देनेवाले आप **मूजवतः**=(मुज मार्जने) पवित्रतावालों को **अति+इहि**=अतिशयेन प्राप्त होओ। प्रभु पूर्व–गुरुओं के भी गुरु हैं, क्योंकि वे सबसे 'पर' हैं, सबसे पहले विद्यमान हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु का यह ज्ञान पवित्र हृदयवालों को प्राप्त होता है। ३. **अवततधन्वा**=वे प्रभु अवततधन्वा हैं। **अव**=यहाँ–पृथिवी पर **तत**=विस्तृत किया है **धन्वा**=ओंकाररूप धनुष जिसने, ऐसे हैं। सब वेदों का सार यह 'ओम्' है, यह ऐसा धनुष है जो हमारे सब शत्रुओं को समाप्त कर देता है (प्रणवो धनुः, प्रणव=ओंकार)। ४. **पिनाकावसः**=(प्रतिपिनष्टि अनेन इति पिनाकम्=धनुः, अवस=रक्षण) प्रणवरूप धनुष से रक्षण करनेवाले वे प्रभु हैं। हम 'ओम्' का उच्चारण करते हैं और वासना विनष्ट हो जाती है। ओम् का स्मरण हमें पवित्र बनाता है। ५. **कृत्तिवासाः**=(कृत्तिः कृन्तन्तेर्वा यशः वा अन्नं वा) आप ही तो वस्तुतः अन्न व वस्त्र

देनेवाले हैं। आप अन्न और वस्त्र देकर **नः**=हमें **अहिंसन्**=न हिंसित करते हुए **शिवः**=कल्याणकर आप **अति इहि**=अतिशयेन प्राप्त होओ।

भावार्थ—'ज्ञान' रक्षण का सर्वप्रथम साधन है। वे परम प्रभु पवित्र हृदयवालों को प्राप्त होते हैं। 'प्रणव' रूप धनुष से हम वासनाओं के आक्रमण को विफल कर देते हैं। वे प्रभु 'अन्न और वस्त्र' प्राप्त कराकर हमारी हिंसा नहीं होने देते। वे कल्याणकर प्रभु हमें प्राप्त हों।

टिप्पणी—'अहिंसन्नः' का सन्धिच्छेद 'अहिं+सन्नः' करके 'साँप पर आसीन' होता है। इसी कारण विष्णु भगवान् सचमुच साँप पर शयन करनेवाले बन गये।

ऋषिः—नारायणः। देवता—रुद्रः। छन्दः—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

त्रिगुण जीवन

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्॥६२॥

१. गत मन्त्र का 'वसिष्ठ' प्रणवरूप धनुष से अपना पूर्ण रक्षण करके अपने को पवित्र बनाता है और अब यह अपने 'शरीर–मानस व बौद्ध' तीनों जीवनों को बड़ा सुन्दर बनाकर लोकहित में प्रवृत्त होता है। लोकहित में प्रवृत्त होने से यह 'नारायण'=दुःखी नरसमूह का शरणस्थान बनता है। एवं, वसिष्ठ 'नारायण' बन जाता है और प्रार्थना करता है कि **'जमदग्नेः'**=जमदग्नि का **त्र्यायुषम्**=जो त्रिगुणित जीवन है, **कश्य-पस्य**=कश्यप का जो **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन है **यत्**=जो **देवेषु**=देवों में **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन है **तत्**=वह **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन **नः**=हमारा **अस्तु**=हो।

२. यदि मनुष्य शरीर के दृष्टिकोण से पूर्ण स्वस्थ है तो यह जीवन एकगुण है। इसके साथ मानस स्वास्थ्य के जुड़ जाने पर यह जीवन द्विगुण हो जाता है। इसमें बौद्धिक तीव्रता को जोड़कर इसे हम त्रिगुणित कर लेते हैं। तमोगुण का अविकृत रूप स्वास्थ्य का साधक है तो रजोगुण का अविकृत रूप मानस प्रेम की उत्पत्ति का सेतु बनता है और सत्त्वगुण बौद्धिक स्वास्थ्य को जन्म देता है। जिस जीवन में 'सत्त्व–रज व तम' तीनों ठीक रूप में हैं, वही जीवन 'त्र्यायुष' है।

३. इस त्र्यायुष का साधन करनेवाले 'जमदग्नि, कश्यप व देव' हैं। (क) जमदग्नि वह है जिसकी अग्नि=जाठराग्नि (वैश्वानराग्नि) जमत्=जीमनेवाली—खानेवाली अर्थात् खूब प्रज्वलित है। जिसकी जाठराग्नि कभी मन्द नहीं होती, वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता। (ख) 'कश्यप' पश्यक है, द्रष्टा है। प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखता है, विषयों की आपातरमणीयता से उनमें उलझता नहीं। इस न उलझने से ही वह कष्टों से बचा रहता है। (ग) 'देव' दिव्य गुणों को धारण करता है। मन में द्वेषादि मलों को नहीं उत्पन्न होने देता। 'जमदग्नि' यदि नीरोग शरीरवाला है तो 'कश्यप' उज्ज्वल मस्तिष्कवाला है और 'देव' दिव्य निर्मल मनवाला है। मनुष्य इस त्रिविध उन्नति को करके 'नारायण' बन पाता है। ये ही 'त्रिविक्रम' के तीन पग हैं। इन पगों को रखकर ही मनुष्य 'त्र्यायुष' बनता है और सच्चा लोकहित कर पाता है। त्र्यायुष शब्द में ३०० वर्ष तक जीने का भी संकेत हैं।

भावार्थ—हम 'जमदग्नि, कश्यप व देव' बनकर त्र्यायुष को प्राप्त करें।

ऋषिः—नारायणः। देवता—रुद्रः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः॥

प्रभु का क्रियात्मक चिन्तन (वर्तन)

शिवो नामा॑सि स्वधि॑तिस्ते पि॒ता नम॑स्तेऽअस्तु मा मा॑ हिꣳसीः।

निर्व॑र्त्तया॒म्यायु॑षे॒ऽन्नाद्या॑य प्र॒जन॑नाय रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य ॥६३॥

गत मन्त्र का नारायण ही प्रार्थना करता है—१. **शिवो नाम असि**=आप शिव नामवाले हैं, सभी का कल्याण करनेवाले हैं। २. **ते**=आपका **स्वधितिः**=अपना धारण स्वयं है। आपका धारण करनेवाला कोई और नहीं है। ३. **पिता**=आप हम सबके पिता=पालन करनेवाले हैं। **नमः ते अस्तु**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। ४. **मा मा हिंसीः**=आप मुझे हिंसित मत करें। मैं कभी आपके क्रोध का पात्र न होऊँ। अपने उत्तम आचरणों से आपकी कृपादृष्टि ही प्राप्त करूँ। ५. **निवर्तयामि**=निश्चय से मैं प्रत्येक कार्य में आपको वर्त्तता हूँ। 'मेरे जीवन में आप अनावश्यक हों' यह बात नहीं। मेरा तो प्रत्येक कार्य आपके स्मरण के साथ होता है। क्यों? (क) **आयुषे**=उत्तम आयुष्य के लिए। आपके स्मरण से मेरा जीवन उत्तम बनता है। (ख) **अन्नाद्याय** =आद्य अन्न के लिए। मैं सात्त्विक अन्न का ही सेवन करता हूँ। आपका स्मरण करते हुए मांसादि भोजनों का प्रसङ्ग नहीं हो सकता। (ग) **प्रजननाय**=प्रकृष्ट विकास के लिए। आपके स्मरण से अवनति की ओर न जाकर मैं उन्नति की ओर ही चलता हूँ। (घ) **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए। प्रभु-स्मरण से हम सुपथ से उत्तम धन कमानेवाले बनते हैं। (ङ) **सुप्रजास्त्वाय**=उत्तम सन्तान के लिए। प्रभु को न भूलनेवाले पति-पत्नी सदा उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं। (च) **सुवीर्याय**=उत्तम वीर्य के लिए। प्रभु-स्मरण वासना को दूर भगाता है और मनुष्य वासना से ऊपर उठने के कारण वीर्यरक्षा करने में समर्थ हो पाता है। इसके वीर्य में वासनाग्नि उबाल नहीं लाती। ६. यह सुवीर्य नारायण ही वस्तुतः नारायण बनता है, लोगों का शरणस्थान बनने के योग्य होता है।

भावार्थ—'नारायण' प्रभु का स्मरण करता है और लोकहित के कार्यों में लगा रहता है। यह लोकहित का कार्य ही 'सर्वमहान् यज्ञ' है।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

चतुर्थोऽध्यायः

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अबोषध्यौ। छन्दः—विराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः॥

सादा खाना, पानी पीना

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे।
ऋक्सामाभ्याᳪं सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम।
इमाऽआपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳪंहिᳪंसीः॥१॥

१. तृतीय अध्याय की समाप्ति पर 'नारायण' यज्ञात्मक कर्मों में लगा था। यह नारायण ही 'प्रजापति'=प्रजा का रक्षक बनता है और प्रार्थना करता है—१. हम **पृथिव्याः**=पृथिवी के **इदं देवयजनम्**=इस देवताओं के यज्ञ करने के भाव को (भावे ल्युट्) **आ अगन्म**= सर्वथा प्राप्त हों। प्रभु ने पृथिवी को देवयजनी बनाया है। हम इस पृथिवी पर आकर यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें, जिससे अपने देवत्व को न खो बैठें। २. **यत्र** =यह पृथिवी वह स्थान है जहाँ कि **विश्वे देवासः**=सब देववृत्ति के लोग **अजुषन्त**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) परस्पर प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करते हैं। अथवा बड़े प्रेम से प्रभु का उपासन करते हैं। ३. यहाँ हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों को **ऋक्सामाभ्याम्**=ऋचा व साम के द्वारा—विद्या व श्रद्धा से—**सन्तरन्तः**=तैरते=करते हुए, पार कर जाएँ, अर्थात् अपने प्रत्येक कार्य को सफल बनानेवाले हों। **'यदेव श्रद्धया क्रियते विद्यया तदेव वीर्यवत्तरं भवति'** उपनिषद् यही कहती है कि जो काम श्रद्धा व विद्या से किया जाता है वही वीर्यवत्तर, शक्तिशाली होता है। ४. **यजुर्भिः**=यजुओं से—यजुर्वेद में वर्णित यज्ञिय उत्तम कर्मों से ही **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से हम **संमदेम**=सम्यक् आनन्द का अनुभव करें। उत्तम मार्ग से धन कमाने का निश्चय होते ही संसार सुन्दर बन जाता है। ५. हम धनी बनकर भी **इषा**=अन्न से ही **मदेम**=आनन्दित हों। हम स्वाद को प्रधानता न दें। **उ**=और **इमाः आपः**=ये जल **मे**=मेरे लिए **शं सन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **देवीः**=ये तो दिव्य गुणों से परिपूर्ण हैं, अर्थात् मेरा खान-पान सादा हो। सच्ची बात यह है कि उत्तम जीवन का आधार यह खान-पान की सादगी ही है। ६. **ओषधे**=हे दोषों को दूर करने की शक्ति से परिपूर्ण ओषधे! **त्रायस्व**=तू मेरी रक्षा कर। **स्वधिते**=हे अपनी धारणशक्ति से युक्त ओषधे! **एनं मा हिंसी**=इस मुझे हिंसित मत कर। यह ओषधि-वनस्पतियों का सेवन हमारा रक्षण करे, केवल शरीर से नहीं, यह मन व मस्तिष्क को भी स्वस्थ बनाये।

भावार्थ—१. पृथिवी को हम यज्ञभूमि समझें। २. देव बनकर अपना कर्त्तव्य प्रेम से पूर्ण करें। ३. हमारे सब कार्य ज्ञान व श्रद्धा से किये जाएँ। ४. श्रेष्ठतम कर्मों से ही हम धन कमाएँ। ५. 'सादा खाना और पानी पीना' ही हमारे आनन्द का कारण बने। ओषधियाँ धारणशक्ति से युक्त हों, इनसे हम हिंसित न हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—आपः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जल 'मुस्कराहट'

आपोऽअस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वꣳहि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूतऽएमि।
दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवाꣳशग्मां परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन्॥२॥

प्रजापति ने गत मन्त्र में 'अन्न व जल' में ही आनन्द लेने का निश्चय किया। उनमें जल के महत्त्व को व्यक्त करते हुए प्रभु प्रजापति से प्रार्थना कराते हैं कि—१. **मातरः आपः**=हे मातृस्थानापन्न जल! माता के समान हित करनेवाले जल, हमारी प्राणशक्ति का निर्माण करनेवाले जल! (आपोमयाः प्राणाः) **अस्मान्**=हमें **शुन्धयन्तु**=शुद्ध कर डालें। २. ये **घृतप्वः**=(घृत+पू, घृ=क्षरण) मलों के क्षरण द्वारा पवित्र करनेवाले जल **नः**=हमें **घृतेन**=अपनी मलक्षरण शक्ति से **पुनन्तु**=पवित्र करनेवाले हों। प्रातःकाल पिया हुआ जल मलक्षरण में अद्‌भुत क्षमता रखता है। इसी से आयुर्वेद में प्रातः जलपान का अत्यधिक महत्त्व है। ३. **हि**=निश्चय से **देवीः**=ये दिव्य गुणोंवाले जल **विश्वं रिप्रम्**=सम्पूर्ण मल को **प्रवहन्ति**=बहाकर ले-जाते हैं। इसीलिए **आभ्यः**=इन जलों के द्वारा **शुचिरा**=बाहर से पवित्र हुआ और **आपूतः**=अन्दर से समन्तात् पवित्र हुआ **इत्**=निश्चय से **उत् एमि**=ऊपर उठता हूँ। ४. अब अन्दर-बाहर से पवित्र होकर मैं कह सकता हूँ कि **दीक्षातपसोः**=व्रत-संग्रहण व तप का **तनूः असि**=शरीर तू है, अर्थात् यह शरीर व्रत-संग्रहण और तप के लिए मिला है। **'व्रातं जीवं सचेमहि'** में यही तो प्रार्थना थी कि हमारा जीवन व्रतमय हो। हम व्रती व तपस्वी हों। तप ही सब उत्थान का मूल है। तप का विलोम पतन है। ५. दीक्षा से—व्रत-ग्रहण से यह शरीर नीरोग होकर हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर होता है और तप हमें अध्यात्म-दृष्टि से उच्च भूमि में ले-जाकर **शग्म**=शान्ति प्राप्त कराता है, जिस शान्ति की चरम सीमा निर्वाण व मोक्ष है **'शान्तिं निर्वाणपरमाम्'**, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **तां त्वा**=उस तुझ तनू (शरीर) को जोकि **शिवां शग्माम्**=ऐहिक व आमुष्मिक सुख से युक्त है **परिदधे**=मैं धारण करता हूँ। ६. इस शरीर में न रोग हैं न अशान्ति। यहाँ स्वास्थ्य है और शान्ति है। वह स्वास्थ्य और शान्ति ही इस उपासक के चेहरे पर 'स्मित' (smile) के रूप में प्रकट होते हैं और मन्त्र का ऋषि प्रजापति कहता है कि मैं सदा **भद्रं वर्णं पुष्यन्**=भद्र वर्ण का पोषण किये रहता हूँ। मेरे चेहरे पर सदा एक मुस्कराहट होती है जो अन्दर के मनःप्रसाद को व्यक्त करती है।

भावार्थ—जल दिव्य गुणयुक्त हैं, इनका ठीक प्रयोग शरीर व मन को स्वस्थ बनाता है, परिणामतः हमारे चेहरे पर सदा एक मुस्कराहट होती है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—मेघः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मेघ=मेघस्थ जल

महीनां पयोऽसि वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहि॥३॥

१. पिछले मन्त्र में जल का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में सर्वोत्तम जल अर्थात् मेघस्थ जल का उल्लेख करते हैं। यह मेघ क्या है। **महीनाम्**=इन पृथिवियों का (पृथिवी-भागों

का) **पयः असि**=जल है। यह पृथिवीस्थ जल ही सूर्य किरणों व अन्य भौतिक कारणों से वाष्पीभूत होकर ऊपर चला गया है। एवं, यह distilled water ही है। अत्यन्त शुद्ध व अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद। इसे देवताओं के मद्य के रूप में कहा गया है—'पिबेदमरवारुणीम्'। यह जल क्या है? यह तो **महीनां पयः असि**=गौवों का दूध है। इसमें इतनी शक्ति है जितनी गोदुग्ध में। **वर्चोदा**=यह वर्चस् को देनेवाला है। **वर्चो मे देहि**=हे मेघजल! तू मुझे वर्चस् दे। 'वर्चस्' वह शक्ति है जो रोगों का मुक़ाबला करती है। रोगकृमियों के नाश के द्वारा यह मनुष्य को स्वस्थ बनाती है। २. **'वृत्र'** शब्द आवरण का वाचक है। मेघ भी वृत्र है, क्योंकि सूर्य पर एक आवरण के रूप में आ जाता है। काम भी वृत्र है, क्योंकि वह ज्ञान का आवरक बनता है। इसी प्रकार आँख पर परदे के रूप में आ जानेवाला 'मोतियाबिन्द' (Catarect) भी वृत्र कहलाता है। ये मेघजल इस **वृत्रस्य**=आँख पर अँधेरे के रूप में आ जानेवाले मोतियाबिन्द को **कनीनकः असि**=फिर से चमका देनेवाला है (कन् to shine)। 'मेघजल का प्रयोग किस प्रकार कैटेरेक्ट को दूर करता है?' यह प्रश्न वैद्य से सम्मति लेकर सुलझाना चाहिए, परन्तु यह बात निश्चित है कि पीने के लिए मेघजल का ही प्रयोग करने पर इस रोग की आशंका ही न रहेगी। ३. हे मेघ ! तू मोतियाबिन्द को हटाकर **मे**=मुझे **चक्षुः**=फिर से दृष्टिशक्ति **देहि**=दे।

भावार्थ—मेघजल या distilled water के प्रयोग से निम्न लाभ होते हैं—१. यह गोदुग्ध के समान शक्ति को देनेवाला है। २. मोतियाबिन्द को नहीं होने देता। ३. दृष्टिशक्ति को बढ़ानेवाला है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—परमात्मा। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

कामनापूरक प्रभु

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम्॥४॥

१. तृतीय मन्त्र में शरीर को पवित्र करके अब चतुर्थ मन्त्र में मानस पवित्रता के लिए प्रजापति ही प्रार्थना करते हैं कि **चित्पतिः**=ज्ञान के पति प्रभु **मा**=मुझे **पुनातु**=पवित्र करें। वस्तुतः ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला कुछ नहीं है। २. **वाक्पतिः**=वेदवाणी का पति **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करे। प्रभु वेदवाणी के रूप में ही ज्ञान देते हैं। वेदवाणी का नियमित स्वाध्याय हमारे जीवनों को पवित्र कर देता है। ३. **मा** =मुझे **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छिद्ररहित पवित्रीकरण के साधनभूत वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्यकिरणों से **पुनातु**=पवित्र करें। स्वच्छ वायु और सूर्यकिरणें शरीर व मानस स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। ४. वे प्रभु पवित्रीकरण के साधनभूत सब पदार्थों के स्वामी हैं। चाहे वह ज्ञान है चाहे वायु व सूर्यकिरणें—सभी के स्वामी प्रभु हैं। हे **पवित्रपते**=सब पवित्र करनेवाले पदार्थों के स्वामिन्! **तस्य ते**=उन आपके **पवित्रपूतस्य**= पवित्रीकरण-साधनों से पवित्र करनेवाले आपके प्रति **यत्कामः**=जिस कामनावाला होकर **पुने**=मैं अपने को पवित्र बनाता हूँ, **तत् शकेयम्**=उस कामना को प्राप्त करने में समर्थ होऊँ।

भावार्थ—मैं ज्ञान प्राप्त करूँ, वेदवाणी का स्वाध्याय करूँ। स्वच्छ वायु व सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहूँ। पवित्रीकरण के सब साधनों से अपने को पवित्र बनाकर मैं जो कामना

करूँ, मेरी वह कामना अवश्य पूर्ण हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञिय आशीः=पवित्र कामना

आ वो देवासऽईमहे वामं प्रयत्यध्वरे।

आ वो देवासऽआशिषो यज्ञियासो हवामहे॥५॥

गत मन्त्र में शब्द था 'यत्कामः'=जिस कामनावाला। प्रस्तुत मन्त्र में उसी कामना को स्पष्ट करते हैं। हमारी कामनाएँ अच्छी ही हों। १. हे **देवासः**=देवो! हम **वः**=आपकी **ईमहे**=कामना करते हैं। हमारी कामना यह है कि हमें देवों की प्राप्ति हो। हमारा यह शरीर देवों का निवासस्थान बने। २. **प्रयति अध्वरे**=इस चलते हुए जीवन-यज्ञ में (प्र+इ=गतौ) हम **वामम्**=सौन्दर्य को ही **ईमहे**=चाहते हैं। हमारे मन सुन्दर और दिव्य गुणों की ही कामना करनेवाले हों। ३. **देवासः**=हे देवो! हम **वः**=आपसे **यज्ञियासः आशिषः**=पवित्र, यज्ञिय-श्रेष्ठ इच्छाओं की **आ हवामहे**=प्रार्थना करते हैं। यज्ञिय इच्छाएँ वही हैं जिनमें मनुष्य बड़ों का आदर करता है, सबके साथ मिलकर चलता है और लोकहित के लिए दान अवश्य देता है। जब हम अपने जीवनों को पवित्र बनाते हैं तब हमारी ये इच्छाएँ अवश्य ही पूर्ण होती हैं।

भावार्थ—हमारी इच्छाएँ ये हों—१. हम देवताओं के निवासस्थान बनें। २. हम अपने इस जीवन को अध्वर=अहिंसात्मक यज्ञ का रूप दें और इस जीवनयज्ञ में सुन्दर-ही-सुन्दर गुणों को धारण करनेवाले बनें। ३. हम यज्ञिय इच्छाओंवाले हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञ क्यों?

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात्।

स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬस्वाहा वातादारभे स्वाहा॥६॥

गत मन्त्र में 'यज्ञिय इच्छाओं' का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में यज्ञ के लाभों का उल्लेख करते हैं। १. **स्वाहा**=(स्व+हा=त्याग) स्वार्थ-त्यागरूप **यज्ञम्**=यज्ञ को **मनसः**=मन के हेतु से **आरभे**=मैं आरम्भ करता हूँ। 'यज्ञ से मन पवित्र बनता है', इसलिए मैं यज्ञ करता हूँ। मन की मैल स्वार्थ (selfishness) ही तो है। यज्ञ से हमारे मन में केवल अपने-आप खाने की वृत्ति का अन्त हो जाता है। २. **स्वाहा** (यज्ञम्) (सु+हा)=उत्तम औषध द्रव्यों की जिसमें आहुति दी जाती है, ऐसे इस यज्ञ को **उरोः अन्तरिक्षात्**=इस विशाल अन्तरिक्ष के हेतु से **आरभे**=मैं प्रारम्भ करता हूँ। यज्ञ में डाले गये औषधद्रव्य व घृत छोटे-छोटे कणों में विभक्त होकर सारे अन्तरिक्ष में फैल जाते हैं, और यह सारा अन्तरिक्ष बड़ा पवित्र व सुगन्धमय हो जाता है। ३. **स्वाहा** (यज्ञम्)=इस उत्तम आहुतियोंवाले यज्ञ को **द्यावा-पृथिवीभ्याम्**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक के सभी प्राणियों के हित के दृष्टिकोण से **आरभे**=मैं प्रारम्भ करता हूँ। अन्तरिक्ष में फैले हुए औषधद्रव्यों व धूल के कणों को श्वासवायु के साथ सभी प्राणी अपने अन्दर लेते हैं और सभी को नीरोगता व शक्ति का लाभ होता है। एवं, सम्पूर्ण द्यावापृथिवी का इस यज्ञ से हित होता है। ४. **स्वाहा** (यज्ञम्)=इस उत्तम आहुतियोंवाले यज्ञ को **वातात्**=वायु के उद्देश्य से **आरभे**=आरम्भ करता हूँ। इस यज्ञ

को करने में मेरा उद्देश्य यह है कि सारी वायु शुद्ध हो जाए। एवं, इस यज्ञ के करने में प्रजापति का उद्देश्य यह है कि जहाँ उसका मन स्वार्थ से ऊपर उठेगा वहाँ सारा अन्तरिक्ष औषधगुणों व घृतकणों से भर जाएगा। सारे प्राणियों का हित होगा और वायुशुद्धि होकर रोगों का भय न होगा।

भावार्थ—हमारे मनों को, इस विशाल अन्तरिक्ष को, द्युलोक से लेकर पृथिवी तक रहनेवाले सभी प्राणियों को व वायु को शुद्ध करनेवाला यह यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्न्यब्बृहस्पतयः। छन्दः—पङ्क्तिः[क], आर्षीबृहती[र]। स्वरः—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

उन्नति के अष्टस्तम्भ

[क]आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा। [र]आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽ उरोऽअन्तरिक्ष। बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा॥७॥

पिछले मन्त्र में 'यज्ञात्मक उत्तम इच्छा' का वर्णन हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं उत्तम इच्छाओं के करनेवाले प्रगतिशील (अग्नि) जीव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—१. **आकूत्यै**=सङ्कल्पात्मा **प्रयुजे**=सङ्कल्पों को क्रियारूप में परिणित करनेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील जीव के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। प्रशंसनीय जीवन उसी का है जिसका जीवन सङ्कल्पमय है। 'यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः' सब उत्तम कर्म सङ्कल्पों का ही परिणाम हैं, परन्तु उन सङ्कल्पों को क्रियारूप में परिणत करनेवाला 'प्रयुक्' ही प्रशस्त है। 'सङ्कल्प करना और उसे क्रियान्वित करना' ही प्रशंसनीय है। ३. **मेधायै**=धारणावती बुद्धि के पुञ्जभूत (embodiment) **मनसे**=मननशील **अग्नये**=प्रगतिशील जीव के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। प्रशंसनीय वही है जो धारणावती बुद्धिवाला है और इस धारणावती बुद्धि के विकास के लिए मननशील बनता है। 'मनन' मेधा का जनक है। ३. **दीक्षायै**=व्रत-संग्रह के लिए और **तपसे**=तप के लिए, दीक्षा और तप के द्वारा **अग्नये**=आगे बढ़नेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसा के शब्द कहे जाते हैं। जो व्यक्ति उन्नत होना चाहता है उसे दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। व्रती जीवन ही जीवन है। व्रतपूर्ति के लिए तप की आवश्यकता है। तप की न्यूनता हमारे व्रतों के भङ्ग का कारण बनती है और व्रतभङ्ग का अभिप्राय है उन्नति का न होना। ४. **सरस्वत्यै**=ज्ञान के अधिदेवता के लिए और साथ ही **पूष्णे**=पोषण के देवता के लिए और इस प्रकार ज्ञान और पोषण की देवताओं का आराधन करके **अग्नये**=आगे बढ़नेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसा के शब्द प्रस्तुत होते हैं। उत्तम जीवन वही है जिसमें ज्ञान और शरीर की दृढ़ता व शक्ति का समन्वय हुआ है। ५. एवं, **अग्नि**=प्रगतिशील जीव में आठ बातें हैं जोकि दो-दो ग्रुप में होकर ऊपर चार वाक्यों में कही गई हैं। (क) सङ्कल्प तथा सङ्कल्प को क्रियान्वित करना, (ख) धारणावती बुद्धि का सम्पादन और उसके लिए मनन, (ग) व्रतग्रहण और व्रतपूर्ति के लिए तप (घ) विद्या व शक्ति का समन्वय। इन आठ बातों के होने पर ही व्यक्ति 'अग्नि' बन पाता है।

६. यह अग्नि (जीव) कहता है कि **आपः**=जल **देवीः**=दिव्य गुणोंवाले हैं **बृहतीः**=हमारी वृद्धि के कारणभूत हैं **विश्वशंभुवः**=सब रोगों को शान्त करनेवाले हैं और इन जलों के अतिरिक्त **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, **उरो अन्तरिक्ष**=विशाल अन्तरिक्षलोक के अधिष्ठाता **बृहस्पतये**=(बृहतामाकाशदीनां पतिः) बृहस्पति नाम से प्रसिद्ध प्रभु के लिए

हम **हविषा**=हवि के द्वारा **विधेम**=पूजा करते हैं। **स्वाहा**=यह अत्यन्त सुन्दर वेदवाणी है। सब लोकों की पवित्रता के लिए अग्निहोत्रादि यज्ञों में विविध हविर्द्रव्यों का प्रक्षेप होता है। प्रभु की पूजा भी हवि से ही होती है—(हु दानादनयोः) 'दानपूर्वक अदन' यही प्रभु का आदेश है **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**, इस आदेश का पालन ही प्रभु-पूजन हो जाता है। यह औरों के हित के द्वारा प्रभु-पूजन करनेवाला ही सच्चा 'प्रजापति' है। यही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—उन्नति के लिए हम सङ्कल्पादि आठों साधनों की साधना करें। हवि द्वारा सब लोकों को पवित्र करें और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—आत्रेयः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

स्रष्टा व सृष्टि, God *vs* Mammon

विश्वो॑ देवस्य॑ नेतुर्मर्तो॑ वुरीत सुख्यम्।

विश्वो॑ रायऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा॑॥८॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रजापति' का उल्लेख है। प्रजापति वही बन सकता है जो संसार के प्रलोभनों में न फँसकर प्रभु का वरण करता है। यह प्रभु का वरण करनेवाला 'आत्रेय' होता है। यह काम-क्रोध-लोभ तीनों से रहित होता है। इन आत्रेयों से प्रभु कहते हैं कि २. **विश्वः मर्तः**=संसार में प्रविष्ट प्रत्येक मनुष्य **नेतुः** =संसार-चक्र के सञ्चालक **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरण करे, चाहे। प्रभु की इस मित्रता ने ही उसे इस प्रलोभनमय संसार में फँसने से बचाना है। प्रभु की मित्रता ही उसे वह शक्ति प्राप्त कराती है जो उसे 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों का संहार करने में समर्थ करती है। एवं, प्रभु की मित्रता उसे 'आत्रेय' बनाती है। ३. सामान्यतः संसार की स्थिति इससे भिन्न है। **विश्वः**=सब कोई **रायः**=धनों को **इषुध्यति**=माँगता है, चाहता है। धन की उपासना अधिक है प्रभु की कम। वस्तुतः **'हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'**=इस स्वर्णमय संसार के पदार्थों से सत्यस्वरूप परमात्मा का रूप ढका हुआ है। धन अधिक आकर्षक है। संसार में धन की ही महिमा दिखती है, अतः धन की ओर झुकाव स्वाभाविक है, परन्तु इसकी ओर झुककर मनुष्य अन्ततः इसका दास बन जाता है। धन का दास बना और फिर मनुष्य निधन=मृत्यु की ओर ही बढ़ता है, अतः हमें प्रभु का ही वरण करना चाहिए, धन का नहीं। ४. परन्तु धन के बिना खाना-पीना भी सम्भव नहीं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **द्युम्नम्**=(Wealth) धन का **वृणीत**=वरण करो, परन्तु **पुष्यसे**=उतने ही धन का जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। इतना धन तो हाथ-पैर हिलानेवाले को प्रभुकृपा से प्राप्त हो ही जाता है। एवं, प्रभु का वरण ही ठीक है। धन का वरण मनुष्य को विलासी बना देता है। दूसरी ओर स्रष्टा के वरण में जहाँ मोक्ष मिलता है वहाँ जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सृष्टि का अंश भी मिलता है।

भावार्थ—हम धन का वरण न करके प्रभु का वरण करें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—विद्वान्। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

'ऋक्साम के शिल्पी'

ऋक्सामयोः शिल्पे॑ स्थस्ते वामारभे ते मा॑ पातमास्य यज्ञस्योदृचः॑।

शर्मा॑सि शर्म॑ मे यच्छ नम॑स्तेऽअस्तु मा मा॑ हिꣳसीः॥९॥

१. पिछले मन्त्र के 'आत्रेय' जब गृहस्थ में प्रवेश करते हैं तो आसक्तिवाला जीवन न होने के कारण वे **'आङ्गिरस'**=शक्तिशाली बने रहते हैं। प्रभु इनसे कहते हैं कि तुम **ऋक्सामयोः**=विज्ञान व उपासना दोनों के **शिल्पे**=(शिल्पं कर्म—नि० २।१) निर्माण करनेवाले हो। तुम्हारा जीवन विज्ञान व उपासना से परिपूर्ण होता है। ये पति-पत्नी अलग-अलग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **ते वाम्**=उन दोनों को **आरभे**=मैं अपने जीवन में ग्रहण करना आरम्भ करता हूँ, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के लिए मैं स्वाध्याय को अपनाता हूँ और उपासना के लिए ध्यान को—सन्ध्या को। **ते**=वे विज्ञान और उपासना **मा**=मेरे **अस्य यज्ञस्य**=इस यज्ञ की **उदृचः**=अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् जीवन-पथ के अन्त तक (up to the end of life) **पातम्**=रक्षा करें, अर्थात् ये विज्ञान और उपासना जीवन के अन्तिम दिन तक मुझे वासनाओं का शिकार होने से बचाएँ। २. इस प्रकार जीवन-पथ में वासना से बचकर यह सचमुच 'आङ्गिरस' बन जाता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **शर्म असि**=आप अत्यन्त आनन्दमय हो, आनन्दरूप हो। **शर्म मे यच्छ**=अपने उपासक मुझे भी आनन्द प्राप्त कराइए। **नमः ते अस्तु**=मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ। **मा मा हिंसीः**= आप मुझे नष्ट मत कीजिए। विलास में फँसने से बचाकर मुझे हिंसित होने से बचाइए।

भावार्थ—मेरा जीवन ऋक्साममय हो। मेरा जीवन विद्या व श्रद्धा पर आधारित हो। मैं आनन्दमय प्रभु का उपासक बनूँ और सचमुच आनन्द का भागी होऊँ।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्षीजगती[क], साम्नीत्रिष्टुप्[र]।
स्वरः—निषादः[क], धैवतः[र]॥

ज्ञान व श्रद्धापूर्वक क्रियमाण यज्ञ

[क]ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदाऽऊर्जं मयि धेहि। सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि शर्म यजमानस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि। [र]उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्ध्वो मा पाह्यꣳहसऽआस्य यज्ञस्योदृचः॥१०॥

१. पिछले मन्त्र में ऋक् और साम के—विज्ञान व श्रद्धा के शिल्पी बनने का उल्लेख था। विज्ञान व श्रद्धा से की जानेवाली यज्ञरूप क्रिया का प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन है। विज्ञान व श्रद्धा का सम्पादन करके यह यज्ञ में प्रवृत्त होता है और कहता है कि हे यज्ञ! तू **ऊर्क् असि**=मेरे जीवन में बल व प्राण का सञ्चार करनेवाला है। यज्ञियवृत्ति विलास की विरोधिनी वृत्ति है और मनुष्य को विलास से ऊपर उठाकर बल व प्राणशक्ति से परिपूर्ण करती है। **आङ्गिरसी**=तू मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रसमय कर डालती है। **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्णु आच्छादने, मृद् to crush) तू मुझे असुरों के आक्रमण से सुरक्षित करनेवाली है और मेरे काम-क्रोधादि शत्रुओं को कुचल डालनेवाली है। **ऊर्जं मयि धेहि**=तू मुझमें बल व शक्ति का आधान कर। २. हे यज्ञ! तू **सोमस्य**=सोम की **नीविः**=ग्रन्थि **असि**=है, सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित रखनेवाली है। यज्ञ की भावना के साथ विलास की भावनाएँ रहती ही नहीं, अतः मनुष्य की यज्ञ की भावना शरीर में इन सोमकणों के बन्धन का कारण बनती है और **विष्णोः शर्म असि**=तू उस व्यापक परमात्मा के आनन्द को देनेवाली है। यज्ञिय पुरुष का स्नेह व्यापक हो जाता है। इसे सबमें प्रभु का दर्शन होता है और यह उस व्यापक प्रभु की प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करता है। सोम=वीर्य की रक्षा इस सोम=प्रभु के दर्शन का कारण है ही। ३. **यजमानस्य शर्म**=यजमान के सुख का हेतु यह यज्ञ **इन्द्रस्य**

योनिः असि=परमात्मा की योनि है, उत्पत्ति-स्थान है, अर्थात् इन यज्ञों में ही प्रभु का दर्शन होता है। ४. यह यज्ञ जहाँ प्रभु का दर्शन करानेवाला होता है वहाँ **सुसस्याः**=उत्तम अन्नोंवाली **कृषीः**=खेतियों को **कृधि**=करता है। यज्ञों से सूक्ष्मकणों में विभक्त हुए-हुए घृत व औषधद्रव्य होनेवाली वृष्टि की बूँदों के कण बनते हैं और इनसे उत्पन्न सस्य के एक-एक कण के केन्द्र में घृत होता है। ५. हे **वनस्पते**=(वन सम्भक्तौ) सम्भजनीय-सेवनीय उत्तम अन्नादि के रक्षक यज्ञ! तू **उच्छ्रयस्व**=मेरे जीवन में उन्नत स्थान में स्थित हो। **ऊर्ध्वः**=उच्च स्थान में स्थित हुआ तू **मा**=मुझे **अंहसः**=पापों व कष्टों से **पाहि**=बचा। **अस्य यज्ञस्य**=इस जीवन-यज्ञ की **उदृचः**=(उत् out) अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् जीवन-यज्ञ की समाप्ति तक प्रभुकृपा से मेरा जीवन यज्ञमय बना रहे। मेरे जीवन में यज्ञ को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हो।

भावार्थ—'यज्ञिय भावना' आसुर भावनाओं को नष्ट करके हमारे जीवन को शक्तिशाली बनाती है, सोमकणों की रक्षा के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाती है, हमारी कृषियों को उत्तम अन्नवाला भी ये यज्ञ ही बनाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

दिव्य-धी-मनन (दिव्य बुद्धि की याचना)

[क]व्रतं कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳसुतीर्था नोऽअसद्वशे। [र]ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥११॥

१. हे मनुष्यो! **व्रतं कृणुत**=गत मन्त्र में वर्णित यज्ञ का तुम व्रत लो। **व्रतं कृणुत**=अवश्य व्रत लो। **ब्रह्म अग्निः**= प्रभु तुम्हें आगे ले-चलनेवाले हैं। प्रभु की उपासना मनुष्य की उन्नति का कारण होती है। **अग्निः यज्ञः**=यह यज्ञ अग्रेणी है, हमारी उन्नति का कारण है। प्रभु की उपासना 'ब्रह्मयज्ञ' है। अग्नि के अन्दर घृतादि पदार्थों की आहुति देना 'देवयज्ञ' है। २. इन यज्ञों की वृत्ति को अपने अन्दर जगाने के लिए यह आवश्यक है कि हम ध्यान रक्खें कि **वनस्पतिः**=वनस्पति ही **यज्ञियः**=यज्ञ के योग्य बनानेवाली है। मांसभोजन से अयज्ञिय वृत्ति उत्पन्न होती है। हम सात्त्विक भोजनों के द्वारा **दैवीं धियम्**=दैवी सम्पत्ति का वर्धन करनेवाली बुद्धि को **मनामहे**=माँगते हैं (मनामहे=याचामहे-द०) जो 'दैवी धी' **सुमृडीकाम्**=उत्तम सुखों को देनेवाली है। **अभिष्टये**=यह 'दैवी धी' ही सब इष्टों की प्राप्ति के लिए है। देव यज्ञशील हैं, यह यज्ञ 'इष्टकामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं का पूरण करनेवाला है। **वर्चोधाम्**=यह 'दैवी धी' हमें अपवित्र भोगमार्ग से बचाती है और हममें वर्चस् का, शक्ति का स्थापन करती है। **यज्ञवाहसम्**='दैवी धी' यज्ञों को प्राप्त करानेवाली है और इस प्रकार यह **सुतीर्था**=उत्तम तीर्थ है। बड़ी उत्तमता से भवसागर से तरानेवाली है। यह 'दैवी धी' ही **नः**=हमारी **वशे**=इच्छा में **असत्**=रहे, अर्थात् हम सदा इस दिव्य बुद्धि की कामना करें। ३. इस दिव्य बुद्धि की प्राप्ति के लिए **ये**=जो **देवाः**=देव **मनोजाताः**=(मनसा विज्ञाने च जायन्ते-द०) ज्ञान से विकास को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् स्वयं विकसित ज्ञानवाले हैं और **मनोयुजः**=(विज्ञाने योजयन्ति-द०) औरों को भी ज्ञान से युक्त करते हैं, **दक्षक्रतवः**=शरीर व आत्मा के बल (दक्ष) तथा प्रज्ञा व यज्ञ (क्रतु) से युक्त हैं **ते**=वे देव **नः**=हमें **अवन्तु**=रक्षित करें। हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाएँ। **ते नः**

पान्तु=वे हमें रोगों से भी बचाएँ। अपने 'क्रतु' द्वारा यदि वे हमें वासनाओं से बचाते हैं तो 'दक्ष' द्वारा वे हमें रोगों से सुरक्षित करते हैं। **तेभ्यः स्वाहा**=इन देवों के लिए हम अपना समर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञ का व्रत धारण करें। यह दिव्य बुद्धि हमें भवसागर से तराएगी। देवता हमें शरीर के रोगों से बचाते हैं तो मानस मलों को भी दूर करते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—आपः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

जल व स्वास्थ्य

श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।

ताऽअस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः॥१२॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति शरीर व मन के स्वास्थ्य पर हुई है। शरीर में रोग न हों तो मन में क्रोधादि न हों। इस सारे कार्य में जलों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः जलों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **आपः**=जलो! **यूयम्**=तुम **पीताः**=पिये हुए **श्वात्राः**=(श्वि, त्रा) वृद्धि व रक्षा का कारण होओ। **अस्माकम्**=हमारे **उदरे अन्तः**=उदरों के अन्दर **सुशेवाः**=उत्तम सुखदायक व कल्याणकारी होओ। शरीर पञ्चभौतिक है, अतः पाँचों भूतों की अनुकूलता आवश्यक है, परन्तु 'आकाश, अग्नि व पृथिवी' का सर्वत्र विशेष अन्तर न होने से कहते यही हैं कि 'यहाँ का जल-वायु मेरे अनुकूल नहीं।' जल और वायु में भी जल का महत्त्व स्पष्ट है, क्योंकि कहने का प्रकार यह होता है कि 'यहाँ का तो पानी ही ऐसा है'। एवं, पेयजल ठीक प्रकार से उपयुक्त होकर हमारी वृद्धि व रोग से रक्षा का कारण बनें। २. **ताः**=वे जल **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अयक्ष्माः**=किसी प्रकार के यक्ष्मादि रोगों के कृमियोंवाले होकर यक्ष्म-जनक न हों। **अनमीवाः**=अन्य सब प्रकार के रोगकृमियों से रहित हों। **अनागसः**=ये हमारे चित्तों को शान्त करके हमें अगस्—पापों से शून्य बनाएँ। क्रुद्ध मनुष्य को इसीलिए ठण्डा जल पिलाने की परिपाटी है। जलों का ठीक प्रयोग हमें 'शान्तमनस्क' करता है। ३. हे प्रभो! आपकी ऐसी कृपा हो कि **'स्वदन्तु'**=ये जल हमारे लिए स्वादवाले व रुचिकर हों। **देवीः**=ये जल दिव्य गुणोंवाले हैं, **अमृताः**=ये हमें रोगों से बचाकर असमय की मृत्यु से बचानेवाले हैं। **ऋतावृधः**=ये हमारे अन्दर ऋत का वर्धन करनेवाले हैं। (ऋतस्य=यज्ञस्य—नि० ४।१९)। ये जल हमारे मनों को भी पवित्र करके उनमें यज्ञिय भावना को जगानेवाले हैं।

भावार्थ—जलों का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये शरीर को नीरोग करते हैं और मन में यज्ञिय भावना को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—आपः। छन्दः—भुरिगार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

वीर्यरक्षा='ब्रह्मचर्य'

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम्।

अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव॥१३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर है कि ये जल हममें यज्ञिय भावना की वृद्धि करनेवाले होते हैं। इस यज्ञिय भावनावाले आङ्गिरस से प्रभु स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि **इयम्**=यह **ते तनूः**=तेरा शरीर **यज्ञिया**=यज्ञिय है। तू इसे अयज्ञिय=अपवित्र, भोगभावना

प्रधान न बना देना। तू निश्चय कर कि मैं **अपः**=शरीर से मलों को दूर करनेवाले जलों को लघुशंका द्वारा **मुञ्चामि**=छोड़ता हूँ, **न प्रजाम्**=सन्तान के साधनभूत वीर्य को नहीं छोड़ता, क्षणिक आनन्द के लिए उसका नाश नहीं होने देता। २. ये वीर्यकण तो **अंहोमुचः**=सब प्रकार के पापों व कष्टों से बचानेवाले हैं। इनके शरीर में सुरक्षित होने पर न पापवृत्ति उद्बुद्ध होती है और न ही रोगादि का कष्ट होता है। **स्वाहाकृताः**=ये यज्ञ के उद्देश्य से ही उत्पन्न किये गये हैं। 'स्वाहा अग्नि की पत्नी है, यज्ञशक्ति है (created for the sacrifice)। इनकी रक्षा में ही यज्ञियवृत्ति की रक्षा है। ३. इसलिए हे जीव! तू ऐसा निश्चय कर कि तूने इन सोमकणों की अवश्य रक्षा करनी है। तू इन्हें सम्बोधन करके कह कि **पृथिवीम् आविशत**=तुम इस शरीर में प्रवेश करो। इसी में तुम्हारा व्यापन हो। हाँ, **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर से निकलकर हे सोम! तू **सम्भव**=सन्तान को जन्म देनेवाला हो।

भावार्थ—आङ्गिरस ऋषि वीर्य के दो प्रयोजन समझता है। (क) शरीर में व्याप्त होकर उसे शारीरिक व मानस रोगों से बचाना तथा (ख) उचित योनि में निक्षिप्त होकर सन्तान को जन्म देना।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

मैं सानन्द सोऊँ—प्रभु जागें

अग्ने त्वꣳ सु जागृहि वयꣳ सु मन्दिषीमहि।
रक्षा णोऽअप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥१४॥

१. गत मन्त्र में आङ्गिरस ने निश्चय किया कि 'पृथिवीम् आविशत' हे सोमकणो! तुम मेरे शरीर में ही व्याप्त होओ। दिन में तो यह आङ्गिरस अपने निश्चय को अपने संकल्पबल व प्रयत्न से कार्यरूप में ले-आता है। रात्रि में भी वह अपनी शक्ति की रक्षा कर सके, अतः वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि २. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वं सुजागृहि**=आप उत्तमता से खूब जागरित रहिए। **वयम्**=हम आपकी बनाई हुई इस शरीर की व्यवस्था के अनुसार, **सुमन्दिषीमहि**=दिनभर के श्रम के बाद आनन्दपूर्वक (सु) सोते हैं। हम जब इस रमयित्री रात्रि में निन्द्रा का आनन्द लें, उस समय आप जागरित हों, अर्थात् सोते समय भी मेरी प्रसुप्त चेतना में आपकी भावना जागरित रहे। हे प्रभो! **अप्रयुच्छन्**=सब प्रकार के प्रमाद से रहित होकर **नः रक्ष**=आप हमारी रक्षा कीजिए, अर्थात् हमारी निद्रा का भी कोई क्षण इस प्रकार के प्रमादवाला न हो जाए कि हम अपनी शक्ति को नष्ट कर बैठें। ३. निद्रा की समाप्ति पर आप **नः**=हमें **पुनः**=फिर **प्रबुधे**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **कृधि**=कीजिए। रात्रि में स्वप्न में भी हम आपका ही स्मरण व दर्शन करें और दिन तो हमारा ज्ञानवृद्धि में बीते ही।

भावार्थ—रात्रि में हम प्रभु का स्मरण करनेवाले हों, स्वप्न में भी हमें प्रभु-दर्शन ही हो। हम दिन को ज्ञानप्राप्ति में विनियुक्त करें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

जागने पर

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन्पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥१५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार सारी रात्रि प्रभु-रक्षण में आनन्दपूर्वक सोकर आङ्गिरस जागता है और प्रार्थना करता है कि मुझे **पुनः**=फिर **मनः**=विज्ञानसाधक मन प्राप्त हो। **पुनः**=फिर **मे**=मुझे **आयुः**=क्रियामय जीवन (इ गतौ) **आगन्**=प्राप्त हो। २. **पुनः**=फिर से **प्राणः**=शरीर-शक्ति प्राप्त हो और इस प्राण के द्वारा **पुनः**=फिर से **मे**=मुझे **आत्मा**=(सर्वत्र अतति) सर्वान्तर्यामी परमात्मा **आगन्**=प्राप्त हो। प्राण तो आत्मा को प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा हमें 'स्वरूप' में स्थित करती है। ३. **पुनः चक्षुः**=फिर से मुझे दृष्टिशक्ति प्राप्त हो और **पुनः**=फिर **मे**=मुझे **श्रोत्रम्**=श्रवणशक्ति **आगन्**=प्राप्त हो। ४. मेरी सब-की-सब इन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली बनें इसके लिए आवश्यक है कि **वैश्वानरः**=सबके शरीरों का नेता जाठराग्नि—शरीरों को स्वस्थ रखनेवाली पाचनशक्ति **अदब्धः**=अहिंसित होती हुई **तनूपाः**=शरीर की रक्षा करनेवाली **अग्निः**=जाठराग्नि **नः**=हमें **दुरितात्**=दुर्गति से तथा **अवद्यात्**=पापों से **पातु**=बचाए। (अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते—श० १४।८।१०।१) जाठराग्नि के ठीक होने पर जहाँ शरीर में रोग नहीं आते वहाँ मनों में खिझ व क्रोध आदि भी उत्पन्न नहीं होते। मन्दाग्निवाला पुरुष मन्द प्रेमवाला व तीव्र द्वेष व क्रोधवाला होता है। इस प्रकार यह वैश्वानर अग्नि हमें शरीर व मन दोनों दृष्टिकोणों से स्वस्थ बनाती है। प्रभु भी 'वैश्वानर' हैं। प्रभु का स्मरण भी हमें दुरितों व अघों से बचानेवाला है।

भावार्थ—आङ्गिरस प्रतिदिन जीवन को सुन्दर बनाने का संकल्प करता है। प्रतिदिन का नया निश्चय उसे दुरितों व पापों में फँसने से बचानेवाला होता है। यह अपनी वैश्वानर अग्नि को ठीक रखता है और शरीर व मन के स्वास्थ्य को प्राप्त करता है।

नोट—आङ्गिरस 'इन बातों को कहता ही हो' ऐसा नहीं। वह इन्हें क्रियारूप में लाने का प्रयत्न भी करता है। उसका जीवन भी इन बातों को कहता है—इस कहने के कारण ही (वदति इति वत्सः) वह 'वत्स' ऋषि हो जाता है और प्रभु का प्रिय बनता है। अगले मन्त्रों का ऋषि यह वत्स ही है। अब वत्स की प्रार्थना देखिए—

ऋषिः—वत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

व्रत-पा

त्वमग्ने व्रतपाऽअसि देवऽआ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः।

रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्॥१६॥

१. 'वत्स' अपने व्रतों का पालन करता है, परन्तु उन व्रतों के पालन की सफलता का गर्व नहीं करता। वह कहता है—हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप ही **व्रतपा असि**=मेरे व्रतों के पालन करनेवाले हो। मेरी शक्ति से तो इन व्रतों की पूर्ति सम्भव नहीं है। २. **आ**=चारों ओर **मर्त्येषु**=मनुष्यों के जीवनों में **आ देवः**=(आ=अभितः) सांसारिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों में आप ही प्रकाशक हैं। सूर्यादि के द्वारा आप बहिःप्रकाश को प्राप्त कराते हैं तो वेदज्ञान द्वारा आप अन्दर का प्रकाश देनेवाले हैं। ३. इन प्रकाशों को प्राप्त करके मनुष्य शतशः यज्ञों का करनेवाला होता है, परन्तु **यज्ञेषु**=उन यज्ञों में भी तो **त्वम्**=आप ही **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हो। ४. हे प्रभो! **इयत् रास्व**=आप हमें इतना धन दीजिए कि हम इन यज्ञों को अच्छी प्रकार करने में समर्थ हों और साथ ही **सोम**=हे ऐश्वर्यप्रद प्रभो! **भूयः**=अधिक धन भी **आभर**=सभी ओर से दीजिए। उन अधिक धनों से ही तो हम

विविध यज्ञों को कर सकेंगे। ५. वस्तुतः यह **सविता देवः**=प्रेरक देव ही **नः**=हमें **वसोः**=यज्ञ का—यज्ञिय भावना का **दाता**=देनेवाला है और उसी ने **वसु**=धन **अदात्**=दिया है। इस धन से हम उन यज्ञों को कर पाएँगे। (यहाँ 'वसु' पुल्लिङ्ग में यज्ञ का वाचक है और नपुंसक में धन का)। प्रभु यज्ञिय भावना भी देते हैं और उन्हें कार्यरूप में लाने के लिए आवश्यक धन भी। ६. प्रभु से दिये गये धनों को यज्ञों में विनियुक्त करके यह प्रभु का प्रिय बनता है, अतः 'वत्स' कहलाता है।

भावार्थ—हमारे सब व्रतों व यज्ञों को सिद्ध करनेवाले प्रभु ही हैं। वही यज्ञिय भावना को जागरित करते हैं और यज्ञपूर्ति के लिए आवश्यक धन देते हैं।

ऋषिः—वत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्चीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

शरीर क्यों? प्रभु-प्राप्ति के लिए

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजङ्गच्छ।

जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे॥१७॥

१. प्रभु वत्स को सम्बोधित करते हैं कि हे **शुक्र**=दीप्त ज्ञानवाले (शुच् दीप्तौ), शुचि मनवाले अथवा (शुक् गतौ) क्रियाशील जीव! **एषा**=यह **ते**=तेरे लिए **तनूः**=शरीर है (तन् विस्तारे) सब विस्तृत शक्तियों से सम्पन्न यह शरीर तुझे दिया गया है। इस शरीर में **एतत् वर्चः**=यह शक्ति है—'सोम'—वीर्यशक्ति तुझे प्राप्त कराई गई है। **तया**=इस शक्ति से **सम्भव**=तुझे उत्तम सन्तान को जन्म देना है और **भ्राजं गच्छ**=ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करना है। सोमशक्ति के मुख्यरूप से दो ही प्रयोजन हैं—सन्तान-निर्माण तथा ज्ञानाग्नि का दीपन अथवा बुद्धि को तीव्र करना। २. **जूः असि**=तू 'जव'=वेगवाला है। स्फूर्ति के साथ सब कार्यों को करनेवाला है। तूने उस-उस समय पर उस-उस कार्यभार के जुए (yoke) को **मनसा धृता**=मन से धारण किया है। तूने कर्त्तव्य समझकर उन सब कर्मों को किया है, तुझे ये बोझरूप नहीं लगे। तूने इस कार्यभार का **विष्णवे जुष्टा**=व्यापक उन्नति के लिए ही सेवन किया है। कर्त्तव्यबुद्धि से इन नियत श्रेष्ठतम कर्मों को करने से तेरा शरीर, मन व बुद्धि सभी उन्नत हुए हैं, सभी सबल बने हैं। ३. वस्तुतः शरीर में वर्चस् की रक्षा करने पर ये परिणाम स्वाभाविक हैं कि मनुष्य स्वस्थ शरीर हो, निर्मल मनवाला बने और तीव्र बुद्धिवाला हो।

भावार्थ—हम वीर्य की रक्षा के द्वारा विविध प्रकार की उन्नति करें और इस प्रकार व्यापक उन्नति करनेवाले 'विष्णु' बनें। विष्णु बनकर ही हम उस 'विष्णु' को प्राप्त करेंगे (विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्।)

ऋषिः—वत्सः। देवता—वाग्विद्युत्। छन्दः—स्वराडार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

शरीर-नियन्त्रण

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा।

शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि॥१८॥

१. 'वत्स' गत मन्त्र में वर्णित प्रभु-प्रेरणा को सुनता है और कहता है कि **सत्यसवसः**=सत्य-प्रेरणा देनेवाले **ते**=तेरी **तस्याः**=उस वेदवाणी की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **तन्वः**=शरीर

के **यन्त्रम्**=नियन्त्रण को **अशीय**=मैं प्राप्त करूँ। **स्वाहा**=वस्तुतः यह कितनी सुन्दर बात कही गई है। हम वेदवाणी के आदेश के अनुसार चलें और अपने इस शरीर को पूर्णतया अपने वश में रक्खें। हमारी प्रत्येक क्रिया नियन्त्रित व नपी-तुली हो। हमारा खाना-पीना, सोना-जागना सभी नियमबद्ध हो। २. वत्स की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि ऐसा करने पर-वेदवाणी के अनुकूल नियन्त्रित जीवन बिताने पर (क) **शुक्रमसि**=तू 'शुक्र' होता है-दीप्त ज्ञानवाला (शुच दीप्तौ), शुचि मनवाला व क्रियाशील जीवनवाला (शुक् गतौ) होता है, (ख) इस प्रकार का जीवन बनाकर तू इस सुख-दुःखादि द्वन्द्वात्मक संसार में सदा **चन्द्रम् असि** (चदि आह्लादे)=आह्लादमय जीवन बितानेवाला होता है। तू दुःखों व विघ्नों से खिझ नहीं उठता। (ग) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होकर **अमृतम् असि**=असमय में रोगों से मरता नहीं। (घ) दीर्घजीवनवाला बनकर तू **वैश्वदेवम् असि**= सब दिव्य गुणों को लिये हुए हितकर जीवनवाला होता है। तेरा जीवन सब दिव्य गुणों से परिपूर्ण होता है। ब्रह्मचारी को यदि 'शुक्र'-वीर्यवान् बनना है तो गृहस्थ को 'चन्द्र' सदा आह्लादमय रहने का प्रयत्न करना है। वानप्रस्थ ने किन्हीं भी विषयों के पीछे न मरनेवाला 'अमृत' बनना है और संन्यासी ने सब दिव्य गुणोंवाला 'वैश्वदेव' बन जाना है। वैश्वदेव बनकर ही यह महादेव को प्राप्त करेगा।

भावार्थ-मनुष्य वेदवाणी के अनुसार अपने शरीर का नियन्त्रण करे। वह ज्ञानवान्, सदा प्रसन्न, रोगों से अनाक्रान्त और दिव्य गुणोंवाला बने।

ऋषिः-वत्सः। देवता-वाग्विद्युत्। छन्दः-निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः-पञ्चमः॥

वेदवाणी किधर? [Leads to God]

चिद॑सि म॒नासि॒ धीर॑सि॒ दक्षि॑णासि क्ष॒त्रिया॑सि य॒ज्ञिया॒स्यदि॑तिरस्युभय॒तः शी॒र्ष्णी। सा न॒ः सुप्रा॑ची॒ सुप्र॑तीच्येधि मि॒त्रस्त्वा॑ प॒दि ब॑ध्नीतां पू॒षाऽध्व॑नस्पा॒त्विन्द्रा॒याध्य॑क्षाय॥१९॥

१. गत मन्त्र में कहा था कि हे प्रभो! आपकी वेदवाणी की अनुज्ञा में मैं शरीर का नियमन करता हूँ। प्रस्तुत मन्त्र में उस वेदवाणी के विषय में कहते हैं कि २. **चित् असि**=तू संज्ञानवाली है। मनुष्यों को उस ज्ञान को देनेवाली है जिससे कि लोग मिलकर रहना सीखते हैं। ३. **मना असि**=मनन (मनु अवबोधे) अवबोध देनेवाली है। तू मनुष्यों को समझदार बनानेवाली है। ४. **धीः असि**=तू बुद्धि व कर्म है। स्वाध्यायशील लोगों की बुद्धि के विकास का कारण होती है और उन्हें उनके कर्त्तव्यों का उपदेश देती है। ५. **दक्षिणा असि**=लोगों को कर्मों में दक्ष बनानेवाली है। ६. **क्षत्रिया असि**=क्षत से बचानेवाली है। कर्मकुशल व्यक्ति कर्मबन्धन में नहीं फँसता। एवं, वेदवाणी मनुष्य को कर्मबन्धन से तो बचाती ही है, यह उसकी वृत्ति को दृढ़ बनाकर इसे असुरों के आक्रमण से भी सुरक्षित रखती है। वेदवाणी का स्वाध्याय करनेवाला आसुर वृत्तियों का शिकार नहीं होता। ७. **यज्ञिया असि**=यह वेदवाणी यज्ञों में विनियुक्त होती है। मानव-जीवन को यज्ञिय बनाती है। ८. **अदितिः असि**=यज्ञिय बनाकर विलासों का शिकार नहीं होने देती और इस प्रकार जीव को अखण्डित रखती है (दो अवखण्डने)। ९. **उभयतः शीर्ष्णी**=यह इहलोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचानेवाली है। यह इहलोक का अभ्युदय देती है तो परलोक का निःश्रेयस। एवं, यह वेदवाणी पूर्णधर्म का प्रतिपादन करनेवाली है।

१०. **सा**=वह उल्लिखित गुणों से विशिष्ट वेदवाणी **नः**=हमें **सुप्राची**=सुन्दरता से

आगे ले-चलनेवाली हो (सु प्र-अञ्च), हमारी उन्नति का कारण हो। हम आगे बढ़ें परन्तु हे वेदवाणि! तू ११. **सुप्रतीची एधि**=हमें सुन्दरता से वापस लानेवाली हो, अर्थात् हमें वह प्रत्याहार का पाठ भी पढ़ाए। इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति के लिए विषयों में जाएँ, परन्तु उन्हीं में उलझ न जाएँ। १२. **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) अपने को पापों से बचानेवाला व्यक्ति **त्वा**=हे वेदवाणि! तुझे **पदि**=(पद गतौ) क्रिया में **बध्नीताम्**=बाँधे, अर्थात् तेरी प्रेरणाओं को क्रियान्वित करें (वेद की पुस्तक को पाँवों में नहीं बाँधना)। १३. **पूषा**=अपना सच्चा पोषण करनेवाला **अध्वनः**=मार्ग के दृष्टिकोणों से **पातु**=तुझे अपने पास सुरक्षित रक्खे। तुझसे ही वह अपने जीवन-मार्ग का निर्माण कर पाएगा। तेरी प्रेरणा के अनुसार ही जीवन-पथ बनेगा। १४. यह जीवन-पथ **अध्यक्षाय**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अध्यक्ष **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु इन्द्र की ओर ले-जाने के लिए होगा। (The vedic path (मार्ग) will lead us to God)।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अनुसार अपना जीवन-पथ बनाएँ। यह पथ हमें प्रभु की ओर ले-चलेगा।

ऋषिः—वत्सः। देवता—वाग्विद्युत्। छन्दः—साम्नीजगती*, साम्न्युष्णिक्[२]। स्वरः—निषादः*, ऋषभः॥

सोमसखा का समावर्त्तन

***अनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः।**
[२]सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमꣳरुद्रस्त्वावर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि॥२०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित वेदवाणी के अध्ययन के लिए जब विद्यार्थी आचार्यकुल में जाता है तब कहीं माता-पिता आदि का मोह उसके मार्ग में प्रतिबन्धक न हो जाए, अतः कहते हैं कि २. वेदवाणी के अध्ययन के लिए जाते हुए **त्वा**=तुझे **माता**=माता **अनुमन्यताम्**=अनुमति दे। **पिता अनुमन्यताम्**=पिता भी अनुमति दें। **सगर्भ्यः भ्राता**=सहोदर भाई **अनुमन्यताम्**=अनुकूल मति दे। **सयूथ्यः सखा**=समान यूथ में रहनेवाला, एक ही पार्टी में रहनेवाला साथी भी **अनुमन्यताम्**=वेदाध्ययन के लिए जाने की स्वीकृति दे, अर्थात् उसे आचार्यकुल में शिक्षा प्राप्ति के लिए जाने की सभी स्वीकृति दें। सारा वातावरण उसके अनुकूल हो। ३. सबकी अनुमति से आचार्यकुल में जाकर यह वेदाध्ययन करता है और वेदवाणी को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे **देवि**=ज्ञान का प्रकाश देनवाली वेदवाणि! **सा**=वह तू **देवम् अच्छ**=उस प्रभु की ओर **इहि**=(गमय) हमें प्राप्त करा। तेरे ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त करके हम प्रभु का ज्ञान व दर्शन करनेवाले बन सकें। **इन्द्राय**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोम को, वीर्यशक्ति को **इहि**=(गमय) प्राप्त करा, क्योंकि इस सोम की रक्षा के बिना हम वेदवाणी को समझ न पाएँगे। ज्ञानाग्नि का ईंधन यह सोम ही है। ४. हे वेदवाणि! **रुद्रः**=(रुत् र) ज्ञानोपेदश को देनेवाला आचार्य **त्वा**=तेरा **आवर्तयतु**=आवर्तन कराए। आचार्य से कराया गया आवर्तन ही हमें वेदवाणी का आधिपत्य प्राप्त कराता है। इस आवर्तन के बिना हम वेद को समझ नहीं सकते। **स्वस्ति**=इस अध्ययन से हमारा कल्याण हो, हमारा जीवन उत्तम बने। ५. प्रभु इस वेदाध्ययन करनेवाले 'वत्स' से कहते हैं कि **सोमसखा**=सोम का मित्र बनकर, वीर्यशक्ति का रक्षक बनकर **पुनः एहि**=तू फिर अपने घर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर। अथवा माता-पिता आदि ही वेदाध्ययन के लिए जाने की अनुमति देते हुए कहते हैं कि सोमसखा बनकर तूने फिर आना। वस्तुतः यही लौटना तो वैदिक संस्कृति में 'समावर्त्तन' है। सोमसखा ही ब्रह्मचारी है। वह आचार्यकुल

से लौटकर अपने ज्ञान व आचरण से सबका प्रिय बनता है और इस प्रकार सचमुच 'वत्स' नामवाला होता है।

भावार्थ—हम माता-पितादि की स्वीकृति से आचार्यकुल में जाएँ। वहाँ वेदाध्ययन करके अपने जीवन को उत्तम बनाकर पुनः वापस आएँ।

ऋषिः—वत्सः। देवता—वाग्विद्युत्। छन्दः—विराडार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

रुद्र वसुओं के साथ (आचार्य शिष्यों के साथ)

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥२१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्यकुल में आये हुए विद्यार्थियों को आचार्य वेदज्ञान प्राप्त कराता है। वेदज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी अनुभव करता है और कहता है कि हे वेदवाणि! तू **वस्वी असि**=उत्तम निवास देनेवाली है। जीवन के लिए सब उत्तम साधनों का प्रतिपादन करके तू हमारे जीवन को उत्तम बनाती है। २. **अदितिः असि**=तू हमारा खण्डन न होने देनेवाली है। हमारे स्वास्थ्य की तू साधिका है। ३. **आदित्या असि**=गुणों का आदान करनेवाली है (आदानात् आदित्यः)। तेरे अध्ययन से हममें गुणग्रहण की वृत्ति प्रबल होती है। ४. **रुद्रा असि**=तू संसार के सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली है (रुत्+र)। सब सत्य विद्याओं की खान है। ५. **चन्द्रा असि**=तू हमारी मनोवृत्ति को आनन्दमय बनानेवाली है। इसके अध्ययन से मन निर्मल व द्वेषशून्य हो जाता है। ६. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञान का पति **त्वा**=तुझे **सुम्ने**=प्रभु-स्तवन में **रम्णातु**=(रमयतु) रमण करनेवाला बनाये, अर्थात् वेदज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह इन वेदवाणियों से प्रभु-स्तवन में आनन्द का अनुभव करे। ७. **रुद्रः**=उपदेश देनेवाला आचार्य **वसुभिः**=अपने समीप निवास करनेवाले अन्तेवासी शिष्यों के साथ **आचके**=तेरी ही कामना करे, अर्थात् आचार्य और शिष्य वेदज्ञान में आनन्द का अनुभव करें। (यहाँ विद्यार्थी को 'वसु' कहा है, क्योंकि वह आचार्य के समीप निवास करता है, वसति इति)।

भावार्थ—आचार्य व शिष्य वेदवाणी के पढ़ने में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—वत्सः। देवता—वाग्विद्युत्। छन्दः—ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

ज्ञानपूर्वक कर्म

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने पृथिव्याऽइडायास्पदमसि घृतवत् स्वाहा। अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयः रायस्पोषेण वियौष्म तोतो रायः॥२२॥

१. आचार्य विद्यार्थी को वेदज्ञान देकर कहता है कि **अदित्याः**=इस अखण्डन की कारणभूत वेदवाणी के **मूर्धन्**=शिखर पर **त्वा**=तुझे **आजिघर्मि**=सब प्रकार से दीप्त करता हूँ, अर्थात् तुझे उच्च वेदज्ञान प्राप्त कराता हूँ और साथ ही **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं से किये जानेवाले यज्ञों में **आजिघर्मि**=दीप्त करता हूँ। तू जहाँ ज्ञान से चमकता है वहाँ यज्ञों के द्वारा विख्यात होता है। २. **इडायाः** =वेदवाणी का तू **पदम् असि**=आधार, आश्रय है। वेदवाणी तुझमें स्थित हुई है। **घृतवत्**=इसीलिए तू मलों के क्षरण

से ज्ञान की दीप्तिवाला बना है। (घृ=क्षरण तथा दीप्ति)। **स्वाहा**=तेरी चारों ओर प्रशंसा-ही-प्रशंसा है (सु आह)। ३. हमारी यही प्रार्थना हो कि हे वेदवाणि! तू **अस्मे**=हममें **रमस्व**=रमण कर। **अस्मे**=हममें **ते**=तेरा **बन्धुः**=बन्धुत्व हो। **त्वे रायः**=तेरी सम्पत्तियाँ ही **मे रायः**=मेरी सम्पत्तियाँ हों। ४. **वयम्**=हम ज्ञानरूप सम्पत्ति को प्राप्त करके इस सांसारिक **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से **मा**=मत **वियौष्म**=पृथक् हों। हमारी **रायः**=सम्पत्तियाँ **तोतो** (तु गतिवृद्धि-हिंसासु)=(क) हमें क्रियाशील बनाये रक्खें, इन्हें प्राप्त करके हम अकर्मण्य न हो जाएँ। (ख) ये सम्पत्तियाँ हमारे वर्धन का कारण हों। इनके कारण वैषयिक वृत्तिवाले होकर हम ह्रास की ओर न चले जाएँ। (ग) ये धन हमारी सब दुर्गतियों की हिंसा करनेवाले हों।

'तोतो' शब्द महीधर के अनुसार कलत्र (स्त्री) के अर्थ में निपात है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि हमारी सम्पत्तियाँ कलत्र में स्थित हों, अर्थात् हमारे घरों में सम्पत्तियों के संग्रह व व्यय का कार्य स्त्रियों के अधीन हो। 'पुरुष कमाये स्त्री व्यय करे, जोड़े' यही तो गृहस्थ का सुन्दर नियम है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान के शिखर पर पहुँचें तो साथ ही यज्ञशील भी बनें। हम धन कमाएँ, परन्तु वह धन हमारे ह्रास का कारण न बने।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—वाग्विद्युत्। **छन्दः**—आस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेदवाणी के सन्दर्शन में

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा।

मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि॥२३॥

१. पिछले मन्त्र में आचार्य से वेदवाणी के पढ़ने का उल्लेख था। वेदवाणी का पढ़नेवाला यह 'वत्स' कहता है कि मैं **सम् अख्ये**=(सं चक्ष्) इस वेदवाणी का दर्शन करता हूँ, (क) **देव्या धिया**=प्रकाशमय बुद्धि के दृष्टिकोण से। मैं इसलिए वेदवाणी को पढ़ता हूँ कि मेरी बुद्धि प्रकाशमय हो, मेरा ज्ञान उज्ज्वल हो। (ख) **सम् (अख्ये)**=मैं इस वेदवाणी का दर्शन करता हूँ, **दक्षिणया** (धिया)=दक्षिण क्रिया के हेतु से (धी=कर्म), इसलिए वेदवाणी को पढ़ता हूँ कि मेरे कर्म कुशलता से, दक्षिणता से किये जाएँ। कुशलता से किये जाकर वे कर्म मेरे लिए बन्धनशील न हों। (ग) **उरुचक्षसा** (धिया)=विशाल दृष्टि के ध्यान से (धी=ध्यान)। मैं वेदवाणी का अध्ययन इसलिए करता हूँ कि मेरा प्रत्येक कर्म विशाल दृष्टिकोण से प्रेरित होकर हो, मैं केवल अपना हित देखकर कर्म करनेवाला न बन जाऊँ। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि यह वेदवाणी हमारी बुद्धि को उज्ज्वल बनाती है, हमें कुशलता से कार्य करनेवाला करती है और हमारे दृष्टिकोण को विशाल बनाती है। २. वत्स इस वेदवाणी से प्रार्थना करता है कि **मे**=मेरे **आयुः**=जीवन को **मा**=मत **प्रमोषीः**=चुराना, लुप्त करना। वेदवाणी के द्वारा मैं सुन्दर दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ। **मा उ**=और न ही **अहम्**=मैं **तव**=तेरा प्रमोषण करूँ, अर्थात् मेरे जीवन में वेदवाणी का सतत अध्ययन होता ही रहे। हे **देवि**=मेरे जीवन को प्रकाशमय करनेवाली वाणि! मैं **तव सन्दृशि**=तेरे सन्दर्शन में ही अपने सम्पूर्ण जीवन का यापन करूँ। कभी तेरी आँख से ओझल न होऊँ। तेरी प्रेरणा के अनुसार ही मेरे सारे कार्य हों। मैं इस **वीरं विदेय**=शत्रुओं के कम्पित करनेवाले ज्ञान को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—वेदवाणी के अध्ययन से हमारी प्रज्ञा (धी) उज्ज्वल हो, हमारे कर्म कुशलता से किये जाएँ और कर्मों के करते समय हमारा दृष्टिकोण विशाल हो।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती[क], याजुषीपङ्क्तिः[र]। **स्वरः**—निषादः[क], पञ्चमः[र]॥

ज्ञान-पुष्प विचयन

[क]एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳ साम्राज्यङ्गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माकोऽसि शुक्रस्ते [र]ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु॥ २४॥

१. विद्यार्थी आचार्य से कहता है कि **एषः**=यह **ते**=आपका **गायत्रः**=गायत्रीछन्द-सम्बन्धी **भागः**=सेवन है। आपने गायत्रीछन्द के मन्त्रों का खूब अध्ययन किया है, उन्हें अपने जीवन का भाग (part and parcel) बनाया है, **इति**=इस कारण **मे**=मुझ **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=इसका उपदेश कीजिए। २. **एषः**=यह **ते**=आपका **त्रैष्टुभः**=त्रिष्टुप् छन्द-सम्बन्धी **भागः**=सेवन है। आपने त्रिष्टुप्छन्द के मन्त्रों द्वारा 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों का स्तवन किया है, अर्थात् तीनों का ही ज्ञान प्राप्त किया है। अथवा इन तीनों का ज्ञान प्राप्त करके 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' तीनों ही कष्टों को समाप्त किया है अथवा 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों शत्रुओं को अन्दर घुसने से रोका है (त्रि-स्तुप् to stop)। एवं, ये मन्त्र आपके जीवन का भाग बन गये हैं, **इति**=इस कारण **मे सोमाय**=मुझ सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=आप इनका उपदेश कीजिए। ३. हे प्रभो! **एषः**=यह **ते**=तेरा **जागतः**=जगतीछन्द-सम्बन्धी मन्त्रों का **भागः**=सेवन है। आपने जगती छन्द के मन्त्रों का अध्ययन करके उन्हें अपने जीवन का भाग बना लिया है और परिणामतः आप सर्वभूतहित में रत हुए हैं, **इति**=इस कारण **मे सोमाय**=मुझ सौम्य के लिए **ब्रूतात्**=इनका उपदेश कीजिए।

४. आप **छन्दोनामानाम्**=उष्णिक् आदि छन्द नामवाले मन्त्रों के **साम्राज्यं गच्छ**=साम्राज्य को प्राप्त हुए हैं (अगच्छाः=गच्छ) अर्थात् उनके अधिपति बने हैं, **इति**=अतः **मे सोमाय**=मुझ सौम्य स्वभाववाले के लिए **ब्रूतात्**=उनका उपदेश कीजिए। ५. **आस्माकः असि**=(अस्माकमयत् इति) आप हमारे उपदेष्टा हैं। आप हमारा हित चाहनेवाले हैं। ६. **शुक्रः**=आप (शुच् दीप्तौ) दीप्त ज्ञानवाले हैं (शुचि पवित्र) पवित्र मनवाले हैं (शुक् गतौ) निरन्तर क्रियाशील (ब्रह्मज्ञानी) हैं (**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**) ७. **ते**=आपकी यह वेदवाणी **ग्रह्यः**=हमारे ग्रहण के योग्य है। अथवा आपका यह वेदज्ञान औरों से ग्रहण के योग्य है। आप इस वेदज्ञान को देने के लिए सदैव उद्यत हैं। ८. **विचितः**=विशेष रूप से या **वि**=एक- एक करके इन ज्ञानपुष्पों का चयन करनेवाले ब्रह्मचारी **त्वा विचिन्वन्तु**=आपसे इन ज्ञानपुष्पों का चयन करें। (चि धातु, द्विकर्मक है 'वृक्षम् अवचिनोति फलानि) जैसे एक पुजारी बाग में आकर वृक्षों से फूलों का अवचयन करता है इसी प्रकार एक सौम्य शिष्य आचार्यरूप वृक्ष से ज्ञानरूप पुष्पों का चयन करता है। यही विद्यार्थी आचार्य का 'वत्स'=प्रिय होता है।

भावार्थ—आचार्य ज्ञानी हो, विद्यार्थी का भला चाहे। विद्यार्थी सौम्य हो, उसमें ज्ञान-प्राप्ति की प्रबल कामना हो। ज्ञानपुष्पों का चयन ही उसका ध्येय हो।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक्शक्वरी:। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानपुष्पों से प्रभु का अर्चन

अभि त्यं देवः सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवः रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि॥ २५॥

१. गत मन्त्र में ज्ञानपुष्पों के चयन का उल्लेख था। उन ज्ञानपुष्पों का चयन करके प्रस्तुत मन्त्र में उन पुष्पों द्वारा प्रभु के अर्चन का उल्लेख करते हैं। इन ज्ञानपुष्पों का अवचयन करके मैं **त्यम्**=उस **देवम्**=ज्ञान की दीप्तिवाले **सवितारम्**=सबके प्रेरक परमात्मा की **अभि**=ओर जाता हूँ और **ओण्योः**=द्यावापृथिवी के इस (ओणृ अपनयने, द्यौष्पिता पृथिवी माता, ये द्युलोकरूपी माता-पिता हमारे कष्टों का अपनयन करते हैं) **कविक्रतुम्**=ज्ञानी निर्माता (creator) को **अर्चामि**=पूजता हूँ। वे प्रभु इस संसार का निर्माण करनेवाले हैं और इसके निर्माण में एक-एक पिण्ड में प्रभु की प्रज्ञा का प्रकाश हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ की रचना अपने में पूर्ण है **'पूर्णमदः, पूर्णमिदम्'**। इस संसार का निर्माण प्रभु की सर्वज्ञता का प्रमाण है। २. मैं उस प्रभु की अर्चना करता हूँ जोकि **सत्यसवम्**=सदा सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं। **रत्नधाम्**=हममें उत्तमोत्तम रत्नों=रमणीय रुधिर आदि धातुओं का धारण करनेवाले हैं, **अभिप्रियम्**=सबके प्रति प्रेमवाले हैं। **मतिम्**=सर्वज्ञ हैं **कविम्**=क्रान्तदर्शी हैं व सृष्टि-आरम्भ में सब विद्याओं का ज्ञान देनेवाले हैं (कौति सर्वा विद्याः) ३. **यस्य**=जिस प्रभु की **अमतिः**=न मापनें योग्य (Immeasureable) **भा**=दीप्ति **ऊर्ध्वा**=सर्वोत्कृष्ट होती हुई **अदिद्युतत्**=दीप्त हो रही है। संसार में एक-से-एक बढ़कर ज्ञानी विद्यमान हैं, यह ज्ञान का तारतम्य प्रभु में आकर विश्रान्त हो जाता है, उनसे अधिक ज्ञान का सम्भव ही नहीं, अतः वह ऊर्ध्वा=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति सर्वत्र द्योतित हो रही है।

४. **सवीमनि**=इस उत्पन्न जगत् में **हिरण्यपाणिः**=(हिरण्यं वीर्यम्) शक्तिशाली हाथोंवाला वह **सुक्रतुः** =सर्वोत्तम कर्त्ता (creator) **कृपा**=अपने सामर्थ्य से अथवा प्राणिमात्र पर दया से **स्वः**=इस देदीप्यमान सूर्य का **अमिमीत**=निर्माण करता है। **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**=यह सूर्य प्रजाओं का प्राण ही तो है। ५. प्रभु इस सूर्य से कहते हैं कि **प्रजाभ्यः त्वा**=इन प्रजाओं के हित के लिए मैंने तुझे बनाया है। **प्रजाः**=सब प्रजाएँ **त्वा अनुप्राणन्तु**=तेरी अनुकूलता में प्राणशक्ति को धारण करें। **त्वम्**=तू **प्रजाः अनुप्राणिहि**=प्रजाओं को प्राणशक्ति से सञ्चरित कर दे। तू उनमें प्राणशक्ति फूँक दे। संसार में यह सूर्य प्रभु की अद्भुत रचना है। ३३ देवों का यही मुखिया है। इसकी रचना का अध्ययन हमें प्रभु की विभूति का दर्शन कराता है। हम इस विभूति-दर्शन से प्रभु का दर्शन करने में समर्थ होते हैं और प्रभु के प्रिय बन पाते हैं—'वत्स' हो जाते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान-प्राप्ति द्वारा प्रभु की उपासना करें।

ऋषिः—वत्सः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

शुक्र-चन्द्र-अमृत

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन। सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम्॥ २६॥

१. पिछले मन्त्र में 'अभि त्यम्'=उस प्रभु की ओर चलने का वर्णन है। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **शुक्रं त्वा**=ज्ञान से दीप्त आपको **शुक्रेण**=ज्ञान की दीप्ति से **क्रीणामि**=खरीदता हूँ, प्राप्त करता हूँ। **चन्द्रम्**=(चदि आह्लादे) आह्लादमय आपको **चन्द्रेण**=आह्लादमयता से प्राप्त करता हूँ। **अमृतम्**=अमृत आपको **अमृतेन**=अमृतत्व से, नीरोगता से प्राप्त करता हूँ। वस्तुतः प्रभु की उपासना व प्राप्ति का प्रकार यही है कि हम प्रभु-जैसे बनें। प्रभु सर्वज्ञ हैं, आनन्दमय हैं, अमर हैं। उपासक को भी चाहिए कि नैत्यिक स्वाध्याय से अपने मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करके 'शुक्र' बने, मन को राग-द्वेषादि मलों से रहित करके मनःप्रसाद को सिद्ध करके 'चन्द्र' बने और पथ्य का मात्रा में सेवन करते हुए नीरोग व 'अमृत' बने। प्रभु-प्राप्ति का यही सूत्र है—'शुक्र-चन्द्र-अमृत'। २. **सग्मे**=यजमान में **ते**=तेरी **गौ**=वेदवाणी स्थापित होती है। जितना-जितना मनुष्य यज्ञशील बनता है उतना-उतना वेदवाणी का आधार बनता है। (सग्मे ते गौरिति यजमाने ते गौरिति—श० ३।२।६।७)। यजमान बनने का पहला पग 'देवपूजा' है। देवों की पूजा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। ३. **अस्मे**=हमारे लिए **ते**=तेरी **चन्द्राणि**=आह्लादवृत्तियाँ हों। हम सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाले बनें। वस्तुतः जितना-जितना ज्ञान अधिक होता है उतना-उतना ही आनन्द अधिक होता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'यजमान' बनना, देवपूजा की वृत्तिवाला बनना आवश्यक है। ४. **तपसः तनूः असि**=हे प्रभो! आप तो शरीरबद्ध तप हैं, तप के कारण ही तो आप अपने उच्च स्थान में स्थित हैं। **प्रजापतेः वर्णः**=आप अक्षरशः प्रजापति हैं। जो जितना-जितना तपस्वी होता है वह उतना-उतना ही लोकहित कर पाता है। वह उपासक भी आपका सच्चा उपासक है जो तपस्वी बनकर प्रजापति बनता है।

५. हे प्रभो! आप **परमेण पशुना**=उत्कृष्ट जीव से **क्रीयसे**=खरीदे जाते है—प्राप्त किये जाते हैं। परम अर्थात् पूर्ण वही है जिसने स्वास्थ्य साधन से अमृतता को सिद्ध किया है, तपस्या के द्वारा मनःप्रसाद को सिद्ध करके जो चन्द्र बना है और जो ज्ञान को दीप्त करके शुक्र बना है। जिसने शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों के ही स्वास्थ्य का साधन किया है, वही 'परम-पशु' है। ५. इन्हीं साधनाओं को निर्विघ्नता से कर सकने के लिए मैं **सहस्रपोषम्**=उतने धन को जो हज़ारों का पोषण करनेवाला है **पुषेयम्**=प्राप्त करनेवाला बनूँ। मैं धन के दृष्टिकोण से निश्चिन्त होऊँ, परन्तु धन का ही दास न बन जाऊँ। मेरा धन शतशः लोगों का पोषण करनेवाला हो।

भावार्थ—मैं 'शुक्र-चन्द्र-अमृत' बनूँ। तपस्वी व लोकहित करनेवाला बनूँ। सहस्रों का पोषण करनेवाले धन को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—वत्सः। देवता—विद्वान्। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सात बातें (Seven Points)

मि॒त्रो न॑ऽ एहि॒ सुमि॑त्रध॒ऽ इन्द्र॑स्यो॒रुमावि॑श॒ दक्षि॒णमु॒शन्नु॒शन्त॑ꣳस्यो॒नः स्यो॒नम्। स्वान॒ भ्राजाङ्घा॑रे॒ बम्भा॑रे॒ हस्त॒ सुह॑स्त॒ कृशा॑नवे॒ते वः॑ सोम॒क्रय॑णा॒स्तान्र॑क्षध्वं॒ मा वो॑ दभन्॥२७॥

१. उपासक की ही प्रार्थना का प्रसङ्ग चल रहा है। उपासक कहता है कि हे **सुमित्रध** (सु-मित्र-ध)=उत्तम स्नेह करनेवालों के धारक प्रभो! **मित्रः**=सब पापों से बचानेवाले आप (प्रमीतेः त्रायते) **नः**=हमें **एहि**=प्राप्त होओ। वस्तुतः संसार में पापों के मूल में स्नेह का न होना और द्वेष का होना ही है। मनुष्य द्वेषवृत्ति से ऊपर उठता है तो पाप से भी ऊपर

उठ जाता है, परन्तु यह सब प्रभुकृपा से ही होता है। २. हे प्रभो! आप **उशन्**=सबका भला चाहनेवाले हैं, **स्योनः**=सुखस्वरूप हैं। आप **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठता जितेन्द्रिय पुरुष के **उरुम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष में, जोकि **दक्षिणम्**=(दक्षतेः उत्साहकर्मणः) उत्साह से परिपूर्ण है, **उशन्तम्**=सभी का भला चाहनेवाला है, **स्योनम्**=आनन्दमय है, जो सब प्रकार के विषादों से ऊपर उठ चुका है, उस हृदय में **आविश**=प्रवेश कीजिए। यदि हम प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं तो हम हृदय में (क) उत्साह को धारण करें (ख) सब का भला चाहें (ग) और मनःप्रसादरूप तप को सिद्ध करें।

उपासक की प्रार्थना का उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि ३. (क) **स्वान** (सु+आन)= उत्तम प्राणशक्ति को धारण करनेवाले (अन प्राणने), (ख) **भ्राज**=ज्ञान से दीप्त (भ्राजृ दीप्तौ), (ग) **अङ्घारे**=पाप के शत्रु, अर्थात् नाशक (घ) **बम्भारे** (बन्धानां सुविचारनिरोधकानां शत्रुः—द०) ज्ञान के प्रतिबन्धक आलस्यादि दोषों को दूर करनेवाले (ङ) **हस्त**=(हस्) सदा हास्ययुक्त मुखवाले (Smiling face) (च) **सुहस्त**=सधे हुए हाथोंवाले, अर्थात् कार्यों को कुशलता से करनेवाले—प्रत्येक क्रिया को कलापूर्ण ढङ्ग से करनेवाले (छ) **कृशानो**=(कृशान् आनयति) दुर्बलों के अन्दर प्राणों का सञ्चार करनेवाले अथवा (दुष्टान् कृशति—द०) दुष्टों को कृश करनेवाले **वः**=तुम्हारी **एते**=ये सात बातें **सोमक्रयणाः**=सर्वज्ञ प्रभु को खरीदनेवाली हैं। इन सात बातों को अपने जीवन में लाकर ही तुम प्रभु को अपना सकते हो। इन्हीं सात बातों को सात रत्न समझना। ये सात बातें ही तुम्हें सप्तर्षि बनानेवाली होंगी। बस, **तान् रक्षध्वम्**=इनकी रक्षा करना, जिससे संसार के प्रलोभन **वः** =तुम्हें **मा**=मत **दभन्**=हिंसित करनेवाले हों। तुम इन बातों को अपनाओगे तो संसार के प्रलोभनों के विजेता बनोगे। इस विजय को वही करता है जो 'स्वान-भ्राज-अङ्घारि-बम्भारि-हस्त-सुहस्त व कृशानु' बनता है।

भावार्थ—हम 'उत्तम प्राणशक्तिवाले, ज्ञानदीप्त, पाप-शत्रु, ज्ञानप्रतिबन्धनिवर्तक, प्रसन्न, सिद्धहस्त व निर्बलों को उत्साहित करनेवाले और दुष्टों को कृश करनेवाले बनें।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—साम्नीबृहती [क], साम्न्युष्णिक् [र]। **स्वरः**—मध्यमः [क], ऋषभः॥

उदायुः-स्वायुः

[क]परि॑ माग्ने दु॒श्चरि॑ताद् बाध॒स्वा मा॒ सुच॑रिते भज।

[र]उदायु॑षा स्वा॒युषोद॑स्थाम॒मृताँ॒२॥ऽअनु॥ २८॥

१. पिछले मन्त्र में कही गई सात बातों को सुनकर उपासक प्रभु से कहता है कि यह सब आपकी कृपा से ही होगा। हे **अग्ने**=मेरे सारे पापों का दहन करनेवाले प्रभो! आप अग्निरूप हैं। अग्नि में पड़कर जैसे सब मलों के भस्म हो जाने से सोना शुद्ध होकर चमक उठता है, इसी प्रकार आपमें पड़कर ही तो मैं निष्पाप बनकर चमक सकूँगा। आप **मा**=मुझे **दुश्चरितात्**=सब दुराचारों व दुर्वृत्तियों से **परिबाधस्व**=रोकिए। ये दुर्वृत्तियाँ मुझसे दूर रहें। आप **मा**=मुझे **सुचरिते**=उत्तम चरित्र में **आभज**=भागी बनाइए। आपकी कृपा से मैं उत्तम बातों का ही सेवन करनेवाला बनूँ—दुराचार से दूर, सदाचार के समीप। २. **उदायुषा** =(उत्=out उद् इ=outlive) सब रोगों को पार करते हुए दीर्घजीवन से तथा **स्वायुषा**=उत्तम दिव्य (सु) जीवन से मैं **उद् अस्थाम्**=इन दीर्घ व दिव्य जीवनवालों की श्रेणी में ऊपर ठहरूँ। दुराचार से दूर व सदाचार के समीप होकर मनुष्य दीर्घ व दिव्य जीवन को प्राप्त करता

है। मन्त्र में शब्दक्रम के द्वारा यह कार्यकारणभाव स्पष्ट है। निष्पापता से ही दीर्घजीवन मिलता है। ३. **अमृतान् अनु**=मैं सांसारिक प्रलोभनों के पीछे न मरनेवाले देवों के पीछे ही चलनेवाला होऊँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरा जीवन दुराचार से दूर व सदाचार के समीप होकर दीर्घ व दिव्य बने।

ऋषिः—वत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

रास्ता=द्वेष-त्याग

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्।

येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥२९॥

पिछले मन्त्र की प्रार्थना थी कि हम 'दुराचार से दूर और सदाचार के समीप हों'। वही प्रार्थना शब्द परिवर्तन के साथ पुनः की जाती है कि **पन्थाम्**=सन्मार्ग को **प्रति अपद्महि**=प्राप्त हों। सदा मार्ग पर ही चलें, मार्ग से कभी भटकें नहीं। स्तुति-निन्दा, लाभ-हानि व जीवन-मरण भी हमें मार्ग से भटकानेवाले न हों। २. हम उस मार्ग को प्राप्त हों जो **स्वस्तिगाम्**=कल्याण की ओर ले-जानेवाला है, हमारे जीवन की स्थिति को उत्तम करनेवाला है (सु+अस्ति)और **अनेहसम्**=एहस् 'पाप' से शून्य है। वस्तुतः कल्याण का मार्ग वही है जो पापशून्य है। दूसरा मार्ग तो थोड़ी-सी देर के लिए चमककर फिर अन्धकारमय हो जानेवाला है। ३. पापशून्य मार्ग वह है **येन**=जिससे जीव **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को (द्वेषणं द्विट्) **परिवृणक्ति**=छोड़ देता है और **वसु**=निवास के लिए उत्तम धनों को **विन्दते**=प्राप्त करता है। द्वेष से शरीर में कुछ ऐसे विष पैदा हो जाते हैं जिनसे दीर्घ जीवन की प्राप्ति सम्भव नहीं रहती। द्वेष मन को सदा मलिन किये रहता है, उससे मन में प्रसाद व उल्लास का अभाव हो जाता है जो आयुष्य के लिए बड़ा घातक होता है।

भावार्थ—हम निर्द्वेषता व प्रेम के कल्याणकर, पापशून्य मार्ग पर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—वत्सः। देवता—वरुणः। छन्दः—स्वराड्याजुषीत्रिष्टुप्[क], आर्षीत्रिष्टुप्[र]। स्वरः—धैवतः॥

वरुण के व्रत

[क]अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सदऽआसीद।

[र]अस्तभ्नाद् द्यां वृषभोऽअन्तरिक्षममिमीत वरिमाणम्पृथिव्याः।

आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥३०॥

१. गत मन्त्र का निर्द्वेषता व प्रेम के मार्ग पर चलनेवाला 'वत्स' सचमुच वसुओं को प्राप्त करता है। प्रभु उससे कहते हैं कि तू तो **अदित्याः**=अखण्डन की देवता=दिव्य गुणों की निर्मात्री अदिति का **त्वक् असि**=स्पर्श करनेवाला है या उसके संवरणवाला है, अर्थात् तूने अदिति को प्राप्त किया है। यह अदिति अखण्डन की देवता है, तेरा शरीर जहाँ रोगों से खण्डित नहीं होता वहाँ तेरा मन वासनाओं से दूषित नहीं होता। **अदित्यै**=इस अदीना देवमाता के लिए **सदः**=आसन (seat) बनकर **आसीद**=तू ठहर, विराजमान हो। तुझमें अदिति का प्रतिष्ठापन हो। तू अदिति का आधार हो। २. इस अदिति के प्रतिष्ठापन से तूने **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अस्तभ्नात्**=थामा है। यह अदिति तेरे द्युलोक को थामे। तू

वृषभः=पुरुषों में श्रेष्ठ हो। वृषभ बनकर **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **अस्तभ्नात्**=थाम तथा **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर की **वरिमाणम्**=विशालता को **अमिमीत**=निर्मित कर, अर्थात् इस अदिति के द्वारा तेरा मस्तिष्क, हृदयान्तरिक्ष व शरीर सभी उत्तम बनें, तभी तो तू 'वृषभ'=श्रेष्ठ बनेगा। ३. इस प्रकार श्रेष्ठ बनकर तू **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **सम्राट्**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त करता हुआ **आसीदत्**=ठहर। अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट न होकर तू सब लोकों के हित में प्रवृत्त हो और सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करने का प्रयत्न कर। ४. **विश्व इत् तानि**=बस, ये सभी सचमुच **वरुणस्य व्रतानि**=वरुण के व्रत हैं। इन व्रतों के पालन से ही मनुष्य वरुण=श्रेष्ठ बनकर उस वरुण=परमात्मा को पानेवाला बनता है।

भावार्थ—१. हम अदिति के अधिष्ठान बनें, २. मस्तिष्क, हृदय व शरीर को स्वस्थ बनाएँ। ३. सब लोकों में ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनें। ४. यही मार्ग है वरुण बनने का व प्रभु को प्राप्त करने का।

ऋषिः—वत्सः। देवता—वरुणः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वरुण की महिमा

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयऽउस्त्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ॥३१॥

१. वरुण प्रभु ने **वनेषु**=वनों में **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष का **विततान**=विशेषरूप से विस्तार किया है। नगरों व ग्रामों में क्षितिज छोटा हो जाता है, क्योंकि वहाँ मकान आदि दृष्टि की रुकावट के कारण बन जाते हैं। २. उसी वरुण ने **अर्वत्सु**=घोड़ों में **वाजम्**=शक्ति को विस्तृत किया है। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है। 'Horse power' यह शब्द ही घोड़े के साथ शक्ति के सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। वह घोड़ा घोड़ा क्या जो मरियल-सा हो। ३. वरुण ने **उस्त्रियासु**=गौवों में **पयः**=दूध को **वि अदधात्**=विशेषरूप से रक्खा है। दूध न देनेवाली गौ गौ ही नहीं। ४. इस वरुण ने **हृत्सु**=हृदयों में **क्रतुम्**=कर्मसंकल्प की स्थापना की है। कर्मसंकल्पशून्य हृदय ऐसा ही है जैसाकि शक्तिशून्य घोड़ा अथवा दूध से रहित गौ। ५. उस **वरुणः**=वरुण ने **विक्षु**=प्रजाओं में **अग्निम्**=मलों को दूर करने की साधनभूत अग्नि की स्थापना की है। प्रजाओं को चाहिए कि इस यज्ञाग्नि को वे अपने घरों में कभी बुझने न दें। ६. **दिवि सूर्यम् अदधात्**=उस वरुण ने द्युलोक में सूर्य को स्थापित किया है और **अद्रौ**=पर्वत पर **सोमम्**=सोम को। ओषधियों का राजा सोम है। सूर्य से इन ओषधियों में प्राणशक्ति की स्थापना होती है।

भावार्थ—हमें अपने हृदयों में कर्मसंकल्प धारण करना चाहिए। कर्मसंकल्प-शून्य हृदय ऐसा ही है जैसाकि संकुचित अन्तरिक्षवाला वन, शक्तिशून्य घोड़ा अथवा दूधरहित गाय, यज्ञाग्नि से रहित गृहस्थ, सूर्यशून्य द्युलोक और ओषधियों से शून्य पर्वत।

ऋषिः—वत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सूर्यादि के प्रकाशक

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता॥३२॥

प्रभु सूर्यादि सब देवों के प्रकाशक हैं। **सूर्यस्य**=सूर्य के **चक्षुः**=प्रकाशक प्रभु को, **अग्नेः (चक्षुः)**=इस पृथिवीस्थ देव अग्नि के भी प्रकाशक उस प्रभु को तथा जो **अक्ष्णः**=आँख की **कनीनकम्**=पुतली के स्थानापन्न हैं, उस प्रभु को **आरोह**=तू प्राप्त हो। जैसे योगारुढ़ बनने का अभिप्राय है योगमार्ग को प्राप्त करना, इसी प्रकार प्रभु को आरुढ़ होने का अभिप्राय है कि तू प्रभु को प्राप्त हो। मानव-जीवन का यही लक्ष्य है कि हम इस प्राकृतिक संसार में प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभु तक पहुँचने का प्रयत्न करें। वे प्रभु ही सूर्य को प्रकाश दे रहे हैं—अग्नि में उन्होंने ही दाहक शक्ति को रक्खा है और आँख को भी रोशनी देनेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रकाशमय पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

पिछले मन्त्र में 'हृदय में कर्मसङ्कल्प के धारण' का उल्लेख था। हमारे हृदयों में प्रभु-प्राप्ति का सङ्कल्प हो। प्रस्तुत मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि हमारा हृदय वह है **यत्र**=जहाँ **भ्राजमानः**=देदीप्यमान वे प्रभु विराजते हैं और **विपश्चिता**=(वि पश् चित्) इन सूर्यादि पिण्डों को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाले पुरुष से **एतशेभिः** =इन इन्द्रियरूप घोड़ों के द्वारा **ईयसे**=आप प्राप्त किये जाते हो। हम अपने हृदयों में प्रभु का दर्शन करें। यह दर्शन तभी होगा जब हम सूर्यादि पिण्डों में उस प्रभु की महिमा को देखनेवाले बनेंगे। इस सृष्टि-रचना को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाला पुरुष हृदयस्थ प्रभु का अवश्य दर्शन करता है। वे प्रभु भ्राजमान हैं, उनकी भ्राजमानता ही इन सूर्यादि देवों को भी भ्राजमान कर रही है। **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'** उस प्रभु से ही ये सब देव देवत्व को प्राप्त होते हैं। मैं भी प्रभु के सम्पर्क में आकर देव बनूँगा।

भावार्थ—वे प्रभु सूर्यादि देवों के प्रकाशक हैं। सूक्ष्म दृष्टिवाला पुरुष प्रत्येक पिण्ड में प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—सूर्यविद्वांसौ। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री [क], याजुषीजगती [र]। **स्वरः**—षड्जः [क], निषादः [र]॥

यजमान का घर

[क]उस्त्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रूऽअवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ।

[र]स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम्॥ ३३॥

प्रभु की उपासना करनेवाले पति-पत्नी कैसे बनते हैं—

१. **उस्त्रौ**=(उस्त्रा=रश्मि—नि० १।५) ये ज्ञान की रश्मियोंवाले होते हैं। नैत्यिक स्वाध्याय के कारण इनकी ज्ञानाग्नि सदा प्रकाशित रहती है। २. **धूर्षाहौ**=(धुरं सहेते) गृहस्थ के बोझ को उठाने में ये सदा समर्थ होते हैं। प्रभु की उपासना इन्हें शक्ति देती है और ये गृहस्थ के कार्यभार का सुन्दरता से वहन करते हुए घर को स्वर्ग बनाने का यत्न करते हैं। २. **अनश्रू**=(अश्रुरहितौ सोत्साहौ) ये संसार-यात्रा में आनेवाले विघ्नों से घबरा नहीं जाते। कितने भी विघ्न आएँ ये रोने-धोने नहीं लगते, अपितु अपने उत्साह को स्थिर रखते हुए ये आगे और आगे बढ़ते हैं। भाग्य का रोना रोने नहीं बैठ जाते। ४. **अवीरहणौ**=अपने घर में वे यज्ञाग्नि को कभी बुझने नहीं देते। यज्ञाग्नि को बुझने देनेवाला 'वीरहा' है। ये दोनों अवीरहा बनते हैं। ५. **ब्रह्मचोदनौ** (ब्रह्म=वेद)=ये वेद से प्रेरणा लेनेवाले बनते हैं। श्रुति को परम प्रमाण मानते हुए ये अपनी जीवन-यात्रा के लिए वहीं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

६. ऐसे तुम दोनों **एतम्**=इस गृहस्थ-शकट में **युज्येथाम्**=जुत जाओ। इन गुणों से

युक्त पति-पत्नी गृहस्थ में प्रवेश करेंगे तो **स्वस्ति**=उनका कल्याण अवश्य होगा ही। **यजमानस्य**=यज्ञशील के **गृहान् गच्छतम्**=घर को तुम प्राप्त होओ, अर्थात् तुम्हारा घर ऐसा बने जहाँ यज्ञ करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वाभाविक बन गया हो। यज्ञ के बिना उस घर के लोग रह ही न सकते हों।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञानरश्मियोंवाले, कार्यभार को उठाने में सक्षम, न रोनेवाले, यज्ञाग्नि को न बुझने दनेवाले तथा श्रुति से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले हों। उनका घर 'यजमान=यज्ञशील' का घर हो।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—भुरिगार्चीगायत्री[क], भुरिगार्चीबृहती[र] विराडार्च्यनुष्टुप्[३]। **स्वरः**—षड्जः[क], मध्यमः[र], गान्धारः[३]॥

संस्कृत-घर

[क]भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि।
[र]मा त्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो विदन्मा त्वा वृकाऽअघायवो विदन्।
[३]श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सँस्कृतम्॥३४॥

पति-पत्नी अलग-अलग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि—१. **भद्रः मे असि**=मेरे लिए आप कल्याण व सुख को देनेवाले हैं। इहलौकिक दृष्टिकोण से आप मेरे जीवन को सुखी बनाते हैं तो पारलौकिक दृष्टिकोण से आप ही मेरा कल्याण करते हैं। २. हे **भुवस्पते**=हे सब भुवनों व भूतों के रक्षक अथवा ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **विश्वानि धामानि**=सब तेजों को **मा अभि प्रच्यवस्व**=मेरे प्रति प्राप्त कराइए (धाम Light, lustre, power, strength)। आपकी कृपा से मैं ज्ञान की दीप्तियों को प्राप्त करूँ तथा शक्तिशाली बनूँ। ३. हे प्रभो! **त्वा**=आपको (क) **परिपरिणः**=इधर-उधर घूमकर लूटनेवाले लोग (सर्वतः सञ्चरन्तस्तस्कर-विशेषाः)। **मा विदन्**=मत प्राप्त करें और इसी प्रकार (ख) **परिपन्थिनः**=(यागादीनां प्रतिषेधकाः शत्रवः) यागादि उत्तम कर्मों में विघ्न डालनेवाले लोग **त्वा**=आपको **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। (ग) **वृकाः**=(वृक आदाने) लेने ही लेनेवाले, जिन्होंने देना सीखा ही नहीं, ऐसे लोभी लोग तथा (घ) **अघायवः**=(परस्याघं कर्तुमिच्छन्ति) दूसरे का सदा बुरा करने की कामनावाले लोग **त्वा**=आपको **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। दूसरे शब्दों में मैं 'परिपरी-परिपन्थी-वृक व अघायु' न बनूँ। इन सब वृत्तियों से ऊपर उठकर मैं आपको पानेवाला बनूँ। ४. हे प्रभो! आप तो **श्येनो भूत्वा**=श्येनवत् शीघ्रगामी होकर **परापत**=सुदूर स्थान से भी मुझे प्राप्त होओ। मैं आपसे कितना भी दूर होऊँ, अब तो मेरी यही कामना है कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र आपको प्राप्त करनेवाला बनूँ। वस्तुतः मैं स्वयं **श्येन**=क्रियाशील बनूँगा तभी आपको प्राप्त कर पाऊँगा। ५. हे प्रभो! **यजमानस्य गृहान् गच्छ**=मुझ यज्ञशील के घर को प्राप्त होओ। 'मैं गतिशील बना हूँ—मेरी गति यज्ञों में परिणत हुई है।' इस यजुर्वेद के प्रारम्भ में आपने यही प्रेरणा दी थी कि तुम गतिशील हो और सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित होते रहो। **तत्**=वह **नौ**=हमारा घर **संस्कृतम्**=संस्कृत हुआ है, शुद्ध बनाया गया है। हमने इसे इसीलिए तो पवित्र बनाने का प्रयत्न किया है कि हम आपको प्राप्त कर सकें। इस घर में हम आपका आतिथ्य कर पाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु से सब ज्ञानदीप्तियों व शक्तियों को प्राप्त करके 'परिपरी-परिपन्थी-वृक व अघायु' बनने से बचें। क्रियाशील व यजमान बनकर प्रभु के स्वागत के लिए अपने

घर को संस्कृत कर लें।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः।।

सूर्य का शंसन

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तꣳ स॑पर्यत।
दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शꣳसत।।३५।।

१. प्रभु की उपासना करते हुए कहते हैं कि **मित्रस्य**=दिन के अभिमानी देव सूर्य के तथा **वरुणस्य**=रात्रि के अभिमानी देव चन्द्र के **चक्षसे**=प्रकाशक प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। २. **तत्**=उस **महोदेवाय**=महान् देव के लिए **ऋतम्**=ऋत की **सपर्यत**=पूजा करो, अर्थात् उस प्रभु के उपासन के लिए आवश्यक है कि हम ऋत का पालन करें। ऋत का पालन ही देवों का व्रत है। यही व्रत हमें उस ऋत—अपने तीव्र तप से ऋत को जन्म देनेवाले प्रभु के समीप प्राप्त कराएगा। ३. ऋत का पालन करते हुए उस प्रभु के लिए **शंसत**=स्तुतिवचन कहो, जो (क) **दूरेदृशे**=दूर-से-दूर देखनेवाले हैं। उन प्रभु से भागकर कभी कोई अदृष्ट नहीं हो सकता। (ख) **देवजाताय**=(**देवः जातः यस्मात्**) सब देवों को वे प्रभु जन्म देनेवाले हैं। देवों का देवत्व उस प्रभु के ही कारण है **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**। (ग) **केतवे**=(विज्ञानघनानन्दस्वभावाय) प्रज्ञाधन और अतएव आनन्दस्वभाव हैं। (घ) **दिवस्पुत्राय**=(दिवः पुरुत्रायते—म०) ज्ञान के द्वारा खूब रक्षण करनेवाले हैं। ज्ञान के द्वारा वे हमें (पुनाति त्रायते) पवित्र करते और हमारा रक्षण करते हैं। (ङ) **सूर्याय**=सारे संसार को कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं। इस प्रकार प्रभु के शंसन का अभिप्राय यही है कि हम भी 'दूर-दृष्टि बनें, अपने में दिव्य गुणों का विकास करें, प्रकाशमय जीवनवाले हों, ज्ञान के द्वारा पवित्र बन आसुरवृत्तियों से अपना रक्षण करें और निरन्तर कर्मशील हों'।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम नमनवाले हों (नमः), ऋत का पालन करें तथा प्रभु के गुणों का शंसन करें, जिससे हमारा ध्येय उन गुणों को प्राप्त करना हो।

ऋषिः—वत्सः। देवता—सूर्यः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः।।

ऋत का सदन

वरु॑णस्यो॒त्तम्भ॑नमसि॒ वरु॑णस्य स्कम्भ॒सर्ज॑नी स्थो॒ वरु॑णस्यऽऋत॒सद॑न्यसि॒ वरु॑णस्यऽऋत॒सद॑नमसि॒ वरु॑णस्यऽऋत॒सद॑न॒मासी॑द।।३६।।

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू **वरुणस्य**=वरुण को **उत्तम्भनम् असि**=सबसे ऊपर थामनेवाला है। तू अपने जीवन में सबसे प्रमुख स्थान प्रभु को देता है। प्रभु ही तेरे 'परायण' हैं। २. हे पति-पत्नि! आप दोनों अपने जीवन में **वरुणस्य**=उस वरुण के **स्कम्भसर्जनी स्थः**=स्कम्भ को बनानेवाले हो। आपके जीवन-भवन का स्कम्भ (खम्बा) प्रभु ही है, अर्थात् प्रभु के आश्रय में ही आपका जीवन चलता है। ३. हे पत्नि! तू **वरुणस्य**=उस वरुण के **ऋतसदनी असि**=ऋत के सदनवाली है, अर्थात् तेरा जीवन वरुण का घर बनता है। तू ऋत का पालन करती है। **'ऋतं तपः'**=यह ऋत ही सर्वप्रथम तप है। तेरे जीवन में प्रत्येक कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान पर होता है। ४. हे गृहपते! तू भी **वरुणस्य**=वरुण के **ऋतसदनम् असि**=ऋत

का सदन है। तेरे जीवन में प्रत्येक कर्म ठीक होता है। तेरे सब कार्य बड़ी नियमितता से चलते हैं। ५. हे जीव! तुझे चाहिए यही कि तू **वरुणस्य**=वरुण के **ऋतसदनम्**=ऋत के सदन में ही **आसीद**=बैठे। तेरा निवास उसी घर में हो जिसमें कि ऋत का निवास है, अर्थात् जिस घर में सब क्रियाएँ बड़ी व्यवस्था से चलती हैं। यह ऋतसदन में आसीन होनेवाला जीव ही प्रभु का 'वत्स' होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन का सर्वोपरि आधार प्रभु है। हम उस प्रभु से प्रतिपादित ऋत का पालन करनेवाले हों। हम युक्तचेष्ट बनें, युक्तचेष्ट के लिए ही योग 'दुःखहा' होता है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञशीलता व सोम की रक्षा—दीप्ति व शक्ति

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान्॥३७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार 'ऋत का पालक' प्रभु का 'वत्स'=प्रिय होता है। इस ऋत के पालन से ही यह अपनी सब इन्द्रियों को बड़ा प्रशस्त बना पाता है और 'गोतम' कहलाता है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' कहता है कि—हे प्रभो! **ते**=तेरी **या**=जिन **धामानि**=दीप्तियों (Lustre) व शक्तियों (power) को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं (यज्=सङ्गतीकरण) **ता**=उन **ते**=तेरी **विश्वा**=सब दीप्तियों व शक्तियों को **यज्ञम्**=मेरे ये श्रेष्ठतम कर्म **परिभूः अस्तु**=व्याप्त करनेवाले हों, अर्थात् मैं यज्ञमय जीवन बिताता हुआ आपकी शक्तियों व दीप्तियों को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

२. इन्हीं दीप्तियों व शक्तियों को प्राप्त करने के लिए यह 'गोतम' सोम से प्रार्थना करता है कि—(क) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **गयस्फानः**=(गयाः प्राणाः, स्फाय् वृद्धौ) हमारी प्राणशक्ति की वृद्धि करनेवाली है। (ख) **प्रतरणः**=तेरे सुरक्षित होने पर हम सब रोगादि आपदाओं को तैरनेवाले होते हैं। (ग) **सुवीरः**=तेरा रक्षक उत्तम वीर बनता है। (घ) **अवीरहा**=हे सोम! तू वीरों को नष्ट न होने देनेवाला है। तू वीरों का परिपालक है। वीर तेरी रक्षा करते हैं तू वीरों की। ३. हे सोम! तू **दुर्यान्**=हमारे घरों में **प्रचर**=प्रकर्षेण प्राप्त होनेवाला हो। हम सोमशक्ति-सम्पन्न हों। सोमशक्ति की रक्षा से हम प्राणशक्ति की वृद्धि करनेवाले, विघ्नों को तैरनेवाले व वीर बनेंगे। वीर बनकर हम 'अवीरहा'=यज्ञाग्नि को नष्ट न होने देनेवाले होंगे। (वीरहा=यज्ञाग्नि को नष्ट करनेवाला)। यज्ञशील बनकर हम यज्ञरूप प्रभु के सच्चे उपासक होंगे। उस समय उस प्रभु की दिव्यता का हममें भी अवतरण होगा और हम प्रभु की दीप्ति व शक्ति से चमकेंगे।

भावार्थ—हम यज्ञों से प्रभु के धाम को प्राप्त करें। यज्ञशील हम सोम की रक्षा करके बनेंगे।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

पञ्चमोऽध्यायः

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

गोतम का समर्पण

अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वाऽतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वाऽग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा॥१॥

'गोतम' चतुर्थ अध्याय के अन्तिम मन्त्र का ऋषि था। प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भिक १४ मन्त्रों का ऋषि भी यही है। यह प्रभु से कहता है कि १. हे प्रभो! आप **अग्नेः**=अग्नि के **तनूः**=विस्तार करनेवाले **असि**=हैं। मेरे जीवन में अग्नि=उत्साह का सञ्चार करनेवाले आप ही हैं। इसीलिए **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। २. **सोमस्य तनूः असि**=मुझमें सोमशक्ति का विस्तार करनेवाले आप हैं, अतः **विष्णवे त्वा**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ३. **अतिथेः**=आपकी ओर निरन्तर चलनेवाले उपासक के **आतिथ्यम् असि**=आप शरीरबद्ध आतिथ्य हैं। आप स्वयं ही उसे प्राप्त हो जाते हैं, अतः **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ४. **श्येनाय त्वा**=तुझ (श्यैङ् गतौ) गतिवाले के लिए, **त्वा सोमभृते**=निरन्तर गतिशीलता के द्वारा सोम का भरण करनेवाले तेरे लिए और **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक प्रभु के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ५. **अग्नये त्वा**=(अगि गतौ) सबको अग्रगति देनेवाले और इस अग्रगति के साधनरूप में ही **रायस्पोषदे**=धन का पोषण प्राप्त करानेवाले **त्वा विष्णवे**=तुझ व्यापक परमात्मा के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ। ६. ऊपर मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि हृदय में भी व्याप्त उस प्रभु के प्रति आत्मार्पण करने से ही हमारा जीवन (क) अग्नितत्त्वप्रधान=उत्साहमय (ख) सोम=वीर्यशक्ति का विस्तार करनेवाला (ग) प्रभु के प्रति निरन्तर चलनेवाला (घ) गतिशील (ङ) शक्तिमय और अन्त में सांसारिक उन्नति के लिए आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला होगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम उत्साहमय, शक्तिशाली, प्रभुप्रवण, कर्मनिष्ठ व श्रीसम्पन्न हों।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुर्यज्ञः। छन्दः—आर्षीगायत्री[क], आर्चीत्रिष्टुप्[र]। स्वरः—षडजः[क], धैवतः[र]॥

प्रभु की गोतम को प्रेरणा

[क]अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थऽउर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवाऽअसि।
[र]गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि
जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि॥२॥

१. प्रभु आत्मार्पण करनेवाले गोतम को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **अग्नेः जनित्रम् असि**=तू अपने में अग्नि का उत्पन्न करनेवाला है—अर्थात् तेरा जीवन उत्साहमय और अतएव अग्रगतिवाला है। २. घर में पति-पत्नी तुम दोनों ही **वृषणौ स्थः**=शक्तिशाली होओ। पिछले मन्त्र में 'अग्नेः तनूः असि' के बाद 'सोमस्य तनूः असि' यह क्रम था। प्रस्तुत मन्त्र में भी अग्नि के बाद शक्ति का उल्लेख हुआ है। सोम की रक्षा करके ही ये वृषन्=

शक्तिशाली बनते हैं। ३. हे पत्नि! तू **उर्वशी असि**=(उरुवशी) अपने पर खूब ही नियन्त्रण रखनेवाली है। **आयुः असि**=मन को वश में रखने के लिए ही (इ=गतौ) निरन्तर गतिशील है और **पुरुरवा असि**=खूब ही प्रभु के गुणों का गान (रु शब्दे) करनेवाली है, अथवा (पृ पालनपूरणयोः) उस प्रभु का गुणगान करनेवाली है जो पालन व पूरण करनेवाला है, जिस गुणगान से जीवन में वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और न्यूनताओं का सदा दूरीकरण होता रहता है। ४. **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=गायत्र छन्द से (गयाः प्राणाः, त्र=रक्षण, छन्द=इच्छा) प्राणशक्ति के रक्षण की इच्छा से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरा हृदय-सरोवर इस प्राणशक्ति के रक्षण की इच्छा से आलोडित हो उठता है, अर्थात् मैं तेरे हृदय में प्राणशक्ति-रक्षण की प्रबल भावना को पैदा करता हूँ। ५. **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=त्रैष्टुभ छन्द से (त्रि स्तुभ) काम-क्रोध व लोभ को रोकने की भावना से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरे हृदय में इन तीनों को रोकने की प्रबल भावना को जन्म देता हूँ। ६. **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=जागत छन्द से **मन्थामि**=आलोडित करता हूँ। तेरे अन्दर जगती के हित की प्रबल भावना को उत्पन्न करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने को उत्साहमय व शक्तिशाली बनाएँ। प्राणशक्ति की वृद्धि करें, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठें और लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—गोतमः। देवता—यज्ञः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

पति-पत्नी कैसे बनें?

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।

मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥३॥

१. प्रभु कहते हैं कि **नः**=मेरी प्राप्ति के लिए **समनसौ**=समान मनवाले **भवतम्**=होओ। जो पति-पत्नी परस्पर विरुद्ध मनवाले होते हैं उनके जीवन में प्रतिक्षण अशान्ति चलती है, और इस अशान्त अवस्था में उन्होंने प्रभु को क्या प्राप्त करना? २. **सचेतसौ**=तुम समान संज्ञानवाले बनो। प्रभु को प्राप्त करने के इच्छुक पति-पत्नी को चाहिए कि वे नैत्यिक स्वाध्याय से अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त रक्खें और संज्ञानवाले हों। दोनों समान मनवाले हों—दोनों की इच्छा ज्ञान-प्राप्ति की हो। ज्ञान प्राप्त करके ३. **अरेपसौ**=आप दोनों निर्दोष **भवतम्**=होओ। (रेपस्=Sin) ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला कुछ है ही नहीं। यह ज्ञान तुम्हारे सब दोषों को भस्म करनेवाला हो। इस प्रकार निर्दोष बनकर ४. **यज्ञं मा हिंसिष्टम्**=अपने जीवन में यज्ञ को हिंसित मत होने दो। आपका जीवन निरन्तर यज्ञमय हो। सौ-के-सौ वर्ष क्रतु (यज्ञ)-मय बिताकर 'शतक्रतु' बनने का प्रयत्न करो। ५. इस निरन्तर यज्ञशीलता से **यज्ञपतिम्**=उस यज्ञों के पति (रक्षक) प्रभु को **मा हिंसिष्टम्**=मत हिंसित करो। उसे भूल न जाओ। उसे भूलकर तो तुम अपने को ही 'यज्ञपति' समझने लगोगे। तुम्हें इन यज्ञों के कर्त्तव्य का गर्व हो जाएगा, और यह गर्व उन यज्ञों को आसुर यज्ञ बना देगा। ६. इन यज्ञों के लिए तुम **जातवेदसौ**=(वेदस्=Wealth) उत्पन्न धनवाले बनो, अर्थात् यज्ञों के निष्पादन के लिए आवश्यक सम्पत्ति का सम्पादन करनेवाले बनो। ७. उस सम्पत्ति से तुम **शिवौ**=सबका कल्याण करनेवाले बनो। तुम्हारा यह धन भूखे को रोटी देनेवाला व प्यासे को पानी पिलानेवाला हो। यह धन यज्ञों में विनियुक्त होकर सभी का हित-साधन करे। इस प्रकार के बनकर **अद्य**=आज ही **नः भवतम्**=तुम हमारे हो जाओ। प्रभु-गृह्य बन जाओ।

भावार्थ—प्रभुप्रवण लोग 'समान मनवाले, संज्ञानवाले, निर्दोष, यज्ञशील, यज्ञों का गर्व न करनेवाले, धनसम्पादक व कल्याणकर' होते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अग्नि-प्रवेश

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳसदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा॥४॥

पिछले मन्त्र में 'नः भवतम्' शब्दों में 'प्रभु का बनने' का उल्लेख था। यह प्रभु का बननेवाला व्यक्ति १. **अग्नौ प्रविष्टः**=उस अग्रेणी प्रकाशमय प्रभु में प्रविष्ट हुआ-हुआ **अग्निः**=स्वयं भी अग्नि-सा बना हुआ **चरति**=अपनी क्रियाओं को करता है। प्रभु 'अग्नि' हैं। यह भक्त भी प्रभु में प्रविष्ठ होकर अग्नि ही बन जाता है। अग्नि बनकर यह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता चलता है। २. यह तो अब **ऋषीणां पुत्रः**=(ऋषिर्वेदः) वेदों का पुत्र होता है। वेदमन्त्रों में दिये गये ज्ञान से अपने को पवित्र करता है (पुनाति) और रोगों व वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता है (त्रायते)। ३. **अभिशस्तिपावा**=यह सब प्रकार की हिंसाओं से अपने को सुरक्षित रखता है। अहिंसा ही यम-नियमों में सर्वप्रथम है, सब यम-नियमों का यह केन्द्र है। ४. प्रभु कहते हैं कि **सः नः**=वह तू हमारा बना हुआ, प्रकृति के भोगों में न फँसकर प्रभुप्रवण बना हुआ **स्योनः** =सबको सुख देनेवाला **सुयजाः**=उत्तम यज्ञोंवाला **इह**=इस जीवन में **यज**=यज्ञशील बन। तुझमें 'देवपूजा, सङ्गतीकरण व दान' की वृत्ति हो। ५. **देवेभ्यः**=देवों के लिए **सदम्** =सदा **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करता हुआ **हव्यं स्वाहा**=सुहुत हवि को देनेवाला हो। गीता के शब्दों में **'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'**—देवताओं से प्राप्त इन सब भोग्य पदार्थों को देवों के लिए न देकर स्वयं ही खा जानेवाला चोर है, अतः नैत्यिक अग्निहोत्र के द्वारा 'देवयज्ञ' करके ही खाना उचित है।

भावार्थ—प्रभुभक्त अग्निरूप प्रभु में प्रवेश करके अग्नि-सा ही बन जाता है—'शुद्ध'। अब इसकी सब क्रियाएँ पवित्र यज्ञात्मक होती हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विद्युत्। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्[क], भुरिगार्षीपङ्क्तिः[र]। स्वरः—ऋषभः[क], पञ्चमः[र]॥

अहिंसा-सत्य-स्थित

[क]आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वनऽओजिष्ठाय। [र]अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपाऽअनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषꣳस्विते मा धाः॥५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार निरन्तर देवयज्ञ करनेवाला भक्त कहता है कि **आपतये**=सर्वत्र गतिवाले **परिपतये**=सर्वत्र व्याप्तिवाले **त्वा**=आपके लिए मैं इस देवयजन को **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। 'आपति व परिपति' आपको प्राप्त कर सकूँ, इस उद्देश्य से ही मैं देवयज्ञ में प्रवृत्त होता हूँ। २. आपको प्राप्त करने के लिए जो आप **तनू-नप्त्रे**=मेरे शरीर को न गिरने देनेवाले हैं। प्रभुप्रवण व्यक्ति भोगासक्त नहीं होता और परिणामतः भोगों का शिकार भी नहीं होता अथच पतित नहीं होता। ३. **शाक्वराय**=(शक्वरी=बहु, बाहु

प्रयत्ने) मैं उस प्रभु को प्राप्त करता हूँ जो शक्तिशाली हैं, सर्वत्र शक्तिशाली कर्म करनेवाले हैं **शक्वने**=सर्वशक्तिमान् हैं **ओजिष्ठाय**=अतिशयेन ओजस्वी हैं। प्रभुभक्त बनने पर मेरे कर्म भी शक्तिशाली होते हैं, मैं ओजस्वी बनता हूँ।

४. **अनाधृष्टम् असि**=हे प्रभो! आप कभी धर्षित होनेवाले नहीं—आप सदा अपराजित रहते हो। आपके उपासक **देवानाम्**=देवों का **ओजः**=बल भी **अनाधृष्टम्**=कभी हिंसित न होनेवाला और साथ ही **अनभिशस्ति**=हिंसा न करनेवाला होता है। देव शक्तिशाली होते हैं। शक्ति के कारण वे पराजित नहीं होते, परन्तु वे औरों की हिंसा भी नहीं करते। ५. हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं **सत्यम्**=सत्य को **उपगेषम्**=प्राप्त होऊँ। उस सत्य को, जो **अनभिशस्तेन्यम्**=सब हिंसाओं से रहित है तथा **अञ्जसा**=कौटिल्यशून्य है, अर्थात् मैं सदा सरलभाव से सत्य को अपनानेवाला बनूँ—मेरा वह सत्य किसी की हिंसा का कारण न हो। ६. हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **स्विते**=(सु इते) उत्तम आचरण में स्थापित करें। मेरे दुरित दूर हों—दुरितों से विपरीत स्वितों (दुर्+इत, सु+इत) को मैं अपनानेवाला बनूँ। यह ओज **अभिशस्तिपा**=हिंसा से रक्षा करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक सत्यभाषण करता है—उसका सत्य किसी की हिंसा नहीं करता। यह सदा स्वित=उत्तम मार्ग पर चलता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्रत-पालन

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा॒ या तव॑ त॒नूरि॒यꣳसा मयि॒ यो मम॑ त॒नूरे॒षा सा त्वयि॑
स॒ह नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒र्मन्य॑ता॒मनु॒ तप॒स्तप॑स्पतिः॥६॥

१. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **व्रतपाः**=आप व्रतों के पालन करनेवाले हो। **त्वे**=तेरे उपासक भी **व्रतपाः**=व्रतों के पालने करनेवाले होते हैं, अर्थात् वे भी आपकी भाँति अपने व्रतों पर दृढ़ रहते हैं। वस्तुतः 'व्रतपा' बनकर ही ये 'व्रतपा' आपको प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. उस समय 'उपासक भी व्रतपा आप भी व्रतपा' इस प्रकार दोनों एक-से हो जाते हो। **या तव तनूः**=जो तेरा स्वरूप है **इयं सा मयि**=वह मुझमें होता है **उ**=और **या**=जो (यो=या+उ) **मम तनूः**=मेरा शरीर है **सा त्वयि**=वह आपमें स्थित होता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि 'मैं-तू और तू-मैं' हो जाता हूँ (**यदि वा घा स्याहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्**) इस प्रकार हमारा अभेद हो जाता है। ३. अब हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **नौ**=हम दोनों के **व्रतानि सह**=व्रत साथ-साथ हों, अर्थात् मेरे व्रत वही हों जो आपके व्रत हैं। आपकी भाँति ही मैं 'मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा' आदि वृत्तियों से युक्त होऊँ। ४. **दीक्षापतिः**=व्रत-संग्रहणों के रक्षक प्रभु **मे दीक्षाम्**=मुझे व्रतसंग्रहण के लिए **अनुमन्यताम्**=अनुमति दें, अर्थात् मेरा जीवन सदा व्रतसंग्रहणवाला हो और इन व्रतों के पालन के लिए **तपस्पतिः**=वे तप के पति प्रभु मुझे **तपः**=तप की **अनुमन्यताम्**=अनुमति दें, अर्थात् मेरा जीवन तपस्वी हो, जिससे मैं अपने व्रतों का पालने करनेवाला बनूँ। तपस्या का अभाव ही व्रतभङ्ग का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु 'व्रतपा' हैं। मैं भी 'व्रतपा' बनूँ। व्रतपा बनकर ही मैं प्रभु का अभिन्न मित्र बनता हूँ। व्रतों के पालन के लिए मेरा जीवन तपस्वी हो।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सोमः। छन्दः—आर्षीबृहती[क], आर्षीजगती[र]। स्वरः—मध्यमः[क], निषाद[र]।।

धन-मेधा-शक्ति

[क]**अ॒ꣳशुरꣳशुष्टे देव सो॒माप्या॑यता॒मिन्द्रा॑यैकधन॒विदे॑। आ तुभ्य॒मिन्द्रः॒ प्याय॑ता॒मा त्वमिन्द्रा॑य प्यायस्व। [र]आप्या॑यया॒स्मान्त्सखी॑न्त्स॒न्न्या मे॒धया॑ स्व॒स्ति ते॑ देव सोम सु॒त्याम॑शीय। एष्टा॒ राय॒ः प्रेषे भगा॑यऽऋ॒तमृ॑तवा॒दिभ्यो॒ नमो॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म्।।७।।**

गत मन्त्र के व्रतपालन व तपस्या का आधार 'शरीर में सोम की रक्षा' है, अतः कहते हैं कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों के उत्पन्न करनेवाले सोम (वीर्यशक्ते)! **ते अंशुःअंशुः**=तेरा एक-एक कण **एकधनविदे**=ज्ञान-रूप मुख्य (एक) धन को प्राप्त करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आप्यायताम्**=वर्धन का कारण बने (ओप्यायी वृद्धौ)। हे सोम! **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तुभ्यं प्यायताम्**=तेरे लिए वृद्धि का कारण हो, **त्वम्**=तू **इन्द्राय प्यायस्व**=उस जितेन्द्रिय पुरुष की वृद्धि का कारण बन। रक्षा किया हुआ सोम रक्षा करनेवाले की वृद्धि का कारण बनता है। यह सोम हमें उस सोम=शान्त ब्रह्म का सखा बनाता है। इस सोम के द्वारा हम उस सोम को प्राप्त करते हैं।

२. हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! **अस्मान् सखीन्**=हम मित्रों को **सन्न्या**=संभजनीय (सेवनीय) धन की प्राप्ति से **मेधया**=बुद्धि से **आप्यायय**=बढ़ाइए, जिससे **स्वस्ति**=हमारे जीवन की स्थिति उत्तम हो। इसी उत्तमता के लिए हे **देव सोम**=दिव्य गुणों के उत्पादक सोम! **ते सुत्याम्**=तेरे सवन को **अशीय**=मैं प्राप्त करूँ, अर्थात् मैं सोम को अपने में उत्पन्न करूँ (सुत्याम्) और उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करूँ (अशीय)।

३. **आ इष्टा रायः**=हमें इष्ट धन सर्वथा प्राप्त हों। **प्र इषे**=हम अन्न-प्राप्ति के लिए आगे बढ़ें। **भगाय** =हम ज्ञानादि ऐश्वर्यों के लिए निरन्तर बढ़ें। ४. **ऋतवादिभ्यः**=जो अपने जीवन से ऋत का कथन करते हैं, अर्थात् जिनका जीवन बड़ा नियमित है, उनसे **ऋतम्**=हम ऋत का ग्रहण करें। उनका अनुकरण करते हुए ऋत का पालन करनेवाले बनें।

५. **द्यावापृथिवीभ्यां नमः**=हम द्युलोक से पृथिवीलोक तक सभी के लिए नमस्कार करते हैं। सज्जनों को ही नहीं दुर्जनों को भी 'नमः' कहते हैं। **'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्'** इस सूक्ति को हम भूलते नहीं। दुर्जन को विरोधी बनाना व्यर्थ की अशान्ति मोल लेना है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करते हैं, परिणामतः धन, शक्ति व मेधा को प्राप्त करते हैं। हमारा जीवन ऋत का पालन करनेवाला होता है। हम किसी के भी साथ व्यर्थ विवाद के झगड़े में नहीं पड़ते।

ऋषिः—गोतमः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीबृहती[क], निचृदार्षीबृहती[र]। स्वरः—मध्यमः[क], निषादः[र]।।

'अयःशया-रजःशया-हरिशया तनूः'

[क]**या ते॑ऽअग्नेऽयःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त् स्वाहा॑। [र]या ते॑ऽअग्ने रजःश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त् स्वाहा॑। [ग]या ते॑ऽअग्ने हरिश॒या त॒नूर्वर्षि॑ष्ठा गह्वरे॒ष्ठा। उ॒ग्रं वचो॒ऽअपा॑वधीत्त्वे॒षं वचो॒ऽअपा॑वधी॒त् स्वाहा॑।।८।।**

१. गत मन्त्र में सोम=वीर्यशक्ति का उल्लेख था। यही वीर्य शरीर को 'पत्थर (अश्मा) व वज्र-(steel अयः)'-तुल्य बनाता है, मन को उत्साह-सम्पन्न करके नाना प्रकार के कर्मसंकल्पों से भरता है और मस्तिष्क को दुःखों का हरण करनेवाले ज्ञान से भरता है। शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से उन्नत होकर यह सोम के आप्यायनवाला व्यक्ति बड़ी मधुर व विनम्र वाणी बोलता है। इसकी वाणी में उग्रता व अहंकार की झलक नहीं होती। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=(वीर्यं वा अग्निः—तै० १।७।२।२) सब उन्नतियों के साधक सोम (वीर्य)! **या**=जो **ते**=तेरा **अयःशया**=इस वज्रतुल्य शरीर में रहनेवाला **तनूः**=रूप है **वर्षिष्ठा**=जो सब सुखों की वर्षा करनेवाला है और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित होनेवाला है, वह **उग्रं वचः**=उग्र वचन को हमसे दूर करे और **त्वेषं वचः**=चमकते हुए गर्वपूर्ण वचनों को **अपावधीत्**=सुदूर नष्ट करे। **स्वाहा**=(सु आह) यह बात सचमुच सुन्दर है। सोम की रक्षा से शरीर दृढ़ बनता है, नीरोगता का आनन्द प्राप्त होता है, साथ ही मन में उथलापन—खिझ आदि उत्पन्न नहीं होते। यह पूर्ण स्वस्थ पुरुष न तो कटु (उग्रम्) शब्द बोलता है और न ही वह घमण्ड करता (त्वेषम्) है। २. हे **अग्ने**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरा **रजःशया**=हृदयान्तरिक्ष (रजः) में रहनेवाला **तनूः**=रूप है, वह **वर्षिष्ठा**=सुखों की वर्षा करनेवाला और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित तेरा रूप **उग्रं वचः अपावधीत्**=उग्र वचनों को मुझसे दूर करे, **त्वेषं वचः अपावधीत्**=अहंकार से दीप्त वचनों को हमसे दूर करे। सोम की रक्षा से हृदय सदा उत्तम कर्मों की भावना से भरा रहता है। उस हृदय में किसी प्रकार की कटुता व किसी प्रकार का गर्व नहीं होता। ३. हे **अग्ने**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरा **तनूः**=रूप **हरिशया**=सर्वदुःखहर ज्ञान में निवास करता है, जो **वर्षिष्ठा**=सुखों की वर्षा करनेवाला है और **गह्वरेष्ठा**=गम्भीरता में स्थित है, वह **उग्रं वचः अपावधीत्**=कटुवचनों को दूर करे तथा **त्वेषं वचः अपावधीत्**=अहंकार-दीप्त वचन को दूर करे। वस्तुतः सोम वर्षिष्ठ होकर हमारे मनों को आनन्दमय बनाता है और हमसे कटुवचनों को दूर करता है। यह सोम गह्वरेष्ठ होकर हमें गम्भीर बनाता है और हमें अभिमानपूर्ण वचनों से दूर करता है।

भावार्थ—सोम से हमारा शरीर वज्रतुल्य बने, मन शिवसंकल्पवाला हो और मस्तिष्क दुःखहर ज्ञान से परिपूर्ण हो। हम न कटु वचन बोलें न ही अभिमानपूर्ण बातें करें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री[1], भुरिग्ब्राह्मीबृहती[2], निचृद्ब्राह्मीजगती[3], याजुष्यनुष्टुप्[4]। स्वरः—षड्जः[1], मध्यमः[2], निषादः[3], गान्धारः[4]॥

प्रथम-द्वितीय-तृतीय पृथिवी में

[1]तप्तायनी मेऽसि वित्तायनी मेऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात्। [2]विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना [3]नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे। [4]अनु त्वा देववीतये॥९॥

१. गत मन्त्र में सोम को अग्नि शब्द से स्मरण करके उसके तीन तनुओं का उल्लेख किया था। उसी तनू को सम्बोधित करके कहते हैं कि तू **मे**=मेरी **तप्तायनी**=तप्तों को शरण देनीवाली **असि**=है (तप् भाव में क्त प्रत्यय)। जब कोई भी रोग मुझपर आक्रमण

करता है उस समय तू ही मेरी रक्षा करती है। तू **मे**=मुझे **वित्तायनी**=सब वित्तों को प्राप्त करानेवाली है। तू मुझे सब आवश्यक धन प्राप्त करने योग्य बनाती है। तू **मा**=मुझे **नाथितात्**=तापों से **अवतात्**=बचा, **मा**=मुझे **व्यथितात्**=अभावजनित पीड़ाओं से **अवतात्**=बचा। वस्तुतः यह 'तनू' तप्तायनी होने से मुझे नाथितों=उपतापों से बचाती है और 'वित्तायनी' होने से व्यथित नहीं होने देती। २. इस प्रकार यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=(नभ हिंसायाम्) सब रोगों व बुराइयों के संहार को तथा **नाम**=नम्रता व विनीतता को **विदेत्**=हमें प्राप्त कराए। हे **अग्ने!** वीर्यशक्ते! **अङ्गिरः** =अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाली! तू **आयुना**=दीर्घजीवन से तथा **नाम्ना**=नम्रता व विनीतता से **इहि**=हमें प्राप्त हो। तुझे प्राप्त करके हम दीर्घजीवन प्राप्त करें और नम्र बनें। हे **अग्ने**=वीर्य! **यः** =जो तू **अस्यां पृथिव्याम् असि**=इस शरीर में है और **यत् ते**=जो तेरा **अनाधृष्टम्**=न धर्षण के योग्य-न पराजित होनेवाला **नाम**=नम्रता का साधक, **यज्ञियम्**=पवित्र करनेवाला स्वरूप है **तेन**=उस कारण से ही **त्वा दधे**=मैं तेरा धारण करता हूँ। हम सोम को शरीर में धारण करें, जिससे हमारा शरीर रोगों से न दबे, हमें अभिमान न हो और हम पवित्र बने रहें।

३. यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=सब मलिनताओं की हिंसा को तथा **नाम**=नम्रता को **विदेत्**=प्राप्त कराए। हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक **अङ्गिरः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले वीर्य! तू **आयुना** =दीर्घजीवन से व **नाम्ना**=नम्रता व यश से **इहि**=हमें प्राप्त हो। **यः**=जो तू **द्वितीयस्यां पृथिव्याम् असि** =इस द्वितीय शरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर में स्थित है अथवा मुख्यरूप से हृदयान्तरिक्ष में स्थित है, **यत् ते**=जो तेरा **अनाधृष्टम्**=न धर्षित होनेवाला **नाम**=नम्रतावाला **यज्ञियम्**=पवित्रीकरणवाला स्वरूप है **तेन**=उसी के कारण मैं **त्वा दधे**=तुझे धारण करता हूँ। ४. यह **अग्निः**=वीर्य **नभः**=सब कुविचारों की हिंसा को तथा **नाम**=नम्रता को **विदेत्**=प्राप्त कराए। हे **अग्ने**=सब प्रकाशों को प्राप्त करानेवाले सोम! **अङ्गिरः**=अङ्ग-रस के साधक सोम! **आयुना**=उत्तम जीवन से तथा **नाम्ना**=नम्रता से **इहि**= प्राप्त हो। **यः** =जो तू **तृतीयस्यां**=तीसरी **पृथिव्यां असि**=पृथिवी में हैं-तृतीय कारणशरीर में है अथवा आनन्दमय कोश में है, **यत्**=जो **ते**=तेरा तेज **अनाधृष्टम्**=न पराजित होनेवाला **नाम**=नम्रता का साधक **यज्ञियम्** =पवित्र है **तेन**=उसी के कारण से **त्वा दधे**=मैं तुझे धारण करता हूँ। एवं, सोम की रक्षा से 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' तीनों ही शरीर बड़े स्वस्थ रहते हैं। ये क्रमशः रोगों, कुविचारों व अज्ञान अथवा मन्दबुद्धियों से आक्रान्त नहीं होते। सोमरक्षा करनेवाले का शरीर नीरोग रहता है, बुद्धि सुविचारमय होती है और यह भेद-भावनाओं से ऊपर उठकर सदा आनन्दमय बना रहता है, इसीलिए यह 'गोतम' कहता है कि **त्वा अनु**=मैं तेरे पीछे चलनेवाला बनता हूँ। 'यह सब मैं इसलिए करता हूँ कि **देववीतये**=दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकूँ।

भावार्थ—सोम हमें उपतापों व पीड़ाओं से बचाता है। यह 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीरों में अपराजित रूप से रहकर हमें नम्र व पवित्र बनाता है। इसकी रक्षा के अनुपात में ही हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—वाक्। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

सिंही-सपत्नसाही

सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ कल्पस्व सि॒ꣳह्य॑सि
सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुन्धस्व सि॒ꣳह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुम्भस्व॥१०॥

१. गत मन्त्र में सोम (अग्नि) के द्वारा शरीरों से सब मलों को दूर करके दिव्य गुणों की प्राप्ति का उल्लेख था। इस सोम की रक्षा करनेवाला अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके वेदवाणी का अध्ययन करता है और उस वेदवाणी से कहता है कि तू **सिंही असि**=सब बुराइयों की हिंसा करनेवाली है (हिनस्ति दोषान्) और सब ज्ञानों का सेवन करनेवाली है (सिञ्चति–द०)। **सपत्नसाही**=इस ज्ञान–सेचन के द्वारा काम–क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाली है। इस प्रकार सिंही और सपत्नसाही बनकर तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए **कल्पस्व**=सामर्थ्य देनेवाली हो। २. तू **सिंही असि**=बुराइयों की हिंसा करनेवाली, ज्ञान का सेचन करनेवाली व **सपत्नसाही**=कामादि का पराभव करनेवाली है तू **देवेभ्यः**=देवों के लिए **शुन्धस्व**=शोधन करनेवाली हो। ३. तू **सिंही असि सपत्नसाही**=बुराइयों को नष्ट करनेवाली, ज्ञान का सेचन करनेवाली तथा कामादि का पराभव करनेवाली है **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **शुम्भस्व**=जीवन को सुशोभित व अलंकृत करनेवाली हो।

भावार्थ—वेदवाणी बुराइयों को नष्ट करती है, ज्ञान का सेचन करती है, कामादि का पराभव करती है। बुराइयों को नष्ट करके यह हमें सबल बनाती है, ज्ञान–सेचन से यह हमारा शोधन करती है। कामादि के पराभव से यह हमारे जीवन को अलंकृत करती है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—वाक्। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आचार्यकुल 'आचार्य, विद्यार्थी व शिक्षा'

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि॥११॥

१. गत मन्त्र में वेदवाणी का उल्लेख है। उसी के लिए कहते हैं कि **इन्द्रघोषः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **वसुभिः**=वसुओं के साथ **पुरस्तात्**=सामने से **पातु**=रक्षित करे। **प्रचेताः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **रुद्रैः**=रुद्रों के साथ **पश्चात्**=पीछे से **पातु**=रक्षित करे। **मनोजवाः**=आचार्य **त्वा**=तुझे **पितृभिः**=पितरों के साथ **दक्षिणतः**=दक्षिण से **पातु**=रक्षा दे, **विश्वकर्मा**=आचार्य **त्वा**=तुझे **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **उत्तरतः**=उत्तर से **पातु**=रक्षित करे। २. यहाँ मन्त्रार्थ में आचार्य का, जिसने विद्यार्थियों के साथ ज्ञानयज्ञ करना है, चार नामों से स्मरण हुआ है 'इन्द्रघोष, प्रचेताः, मनोजवाः, विश्वकर्मा'। आचार्य की पहली विशेषता यह है कि **'इन्द्र इति घोषो यस्य'**=जितेन्द्रियता के कारण उसकी प्रसिद्धि है। **'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'**=आचार्य स्वयं जितेन्द्रिय बनकर ही ब्रह्मचारी को जितेन्द्रिय बना पाता है।

आचार्य की दूसरी विशेषता यह है कि वह **'प्रचेताः'**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। अगाध ज्ञानवाला आचार्य ही विद्यार्थी से आदर पा सकता है। आचार्य की तीसरी खूबी **'मनोजवाः'** है—उसका मन बड़ा स्फूर्तिमय होना चाहिए। वह विद्यार्थियों के प्रश्नों का झट उत्तर दे सके, अन्यथा वह विद्यार्थियों की दृष्टि में गिर जाएगा। अन्त में आचार्य **'विश्वकर्मा'** हो—क्रियात्मक ज्ञान में भी निपुण हो। दूसरे शब्दों में आगम के साथ उसमें प्रयोग का भी नैपुण्य हो। प्रयोग न जानने पर आचार्य का ज्ञान एकाङ्गी–सा लगता है। ३. आचार्य की भाँति विद्यार्थी के लिए भी मन्त्र में चार शब्द आये हैं—'वसु–रुद्र–पितृ व आदित्य'। विद्यार्थी को इस शरीर में उत्तम निवासवाला होना चाहिए। वह अपने शरीर को सदा नीरोग

रक्खे। पढ़ाई बहुत कुछ स्वास्थ्य पर निर्भर है। विद्यार्थी-काल में उसे 'रुद्र' बनना, औरों को भी (रुत्+र) ज्ञान देनेवाला बनना चाहिए। जितना औरों को पढ़ाएगा उतना उसका अपना पाठ परिपक्व होगा। यह विद्यार्थी 'पितृ' बने (पा रक्षणे) कामादि वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला बने और आदित्य बने—जहाँ से भी ज्ञान व उत्तमता प्राप्त होती है उसे लेने में सदा उद्यत रहे (आदानात् आदित्यः)। ४. मन्त्र में शिक्षा के उद्देश्यों को भी स्पष्ट करने के लिए चार शब्दों का प्रयोग हुआ है 'पुरस्तात्, पश्चात्, दक्षिणतः, उत्तरतः'। शिक्षा हमें **पुरस्तात्**=आगे ले चलनेवाली हो, **पश्चात्**=यह हमें 'प्रत्याहार' का पाठ पढ़ाए। विषयों में गई हुई इन्द्रियों को हम वापस लाना सीखें, अर्थात् शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो हमें विषयासक्त होने से बचाए। यह हमें **दक्षिणतः**=कुशलता से कर्म करनेवाला बनाए। **उत्तरतः**=यह हमें उन्नति की ओर ले-चले और अन्ततः इस भवसागर से तैरानीवाली हो।

५. आचार्य कैसे हों? विद्यार्थी किन गुणों से युक्त हों? शिक्षा का क्या उद्देश्य हो? यह सब विचार हो चुका। अब ये सब बातें जिसपर निर्भर है उस बात का उल्लेख करते हैं कि **इदं तप्तं वाः**=इस तपे जल को **यज्ञात्**=यज्ञ से **बहिर्धा**=बाहर करके **निःसृजामि**=रखता हूँ। बाहर जो पानी है वही शरीर में 'रेतस्' है। इस रेतस् में वासनाओं के कारण एक उबाल उत्पन्न होता है। उस समय यह 'तप्तं वाः' हो जाता है। ज्ञानयज्ञ से इसे बाहर ही रखना है। आचार्यकुल का सारा वातावरण ऐसा हो जिससे वासनाओं के कारण इस रेतस् में उबाल न आये। इसी रेतस् को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है। विद्यार्थी ने सदा सौम्य भोजन करते हुए इस सोम की रक्षा करनी है। आचार्यकुल का सारा वातावरण ब्रह्मचर्याश्रम के अनुकूल होना चाहिए।

भावार्थ—आचार्य जितेन्द्रिय, ज्ञानी, मेधावी, सूझवाले व प्रयोगात्मक ज्ञान में निपुण हों। ब्रह्मचारी 'स्वस्थ, एक-दूसरे को ज्ञान देनेवाले, अपने को वासनाओं से बचानेवाले तथा अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाले हों। शिक्षा हमें आगे ले-चले, विषयासक्ति से बचाए, कर्मकुशल बनाए और उन्नत करके संसार से तराये।

ऋषिः—गोतमः। देवता—वाक्। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

वेद व आश्रम चतुष्टय

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा॥१२॥

१. गत मन्त्र में वर्णित आचार्यकुल में पढ़ाई जानेवाली वेदवाणी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **सिंही असि**=तू सब दोषों की हिंसा करनेवाली है और ज्ञान से सींचनेवाली है। **स्वाहा**=यह बात सचमुच ठीक कही गई है। तू **सिंही असि**=दोषों की हिंसा व ज्ञान का सेचन करनेवाली है और इस प्रकार **आदित्यवनिः**=प्रकाश का सेवन करानेवाली है। सब सद्गुणों का आदान करानेवाली है (आदानात्) **स्वाहा**=यह बात ठीक कही गई है। २. हे वेदवाणि! तू ब्रह्मचर्याश्रम में **सिंही**=दोषहिंसक, ज्ञानसेचक होकर **ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः**=ज्ञान का सेवन करानेवाली व बल को देनेवाली **असि**=है। **स्वाहा**=यह बात ठीक कही गई है। ज्ञान को तो यह देती ही है, व्यसनों से बचाकर शक्ति भी प्राप्त कराती है। ३. अब गृहस्थ में यह वेदवाणी **सिंही असि**=दोषहिंसक, ज्ञानसेचक होती हुई **सुप्रजावनिः**=उत्तम प्रजा को

प्राप्त करानेवाली और **रायस्पोषवनिः**=धन का पोषण प्राप्त करानेवाली है। **स्वाहा**=यह बात ठीक ही कही गई है। ज्ञान से मनुष्य सद्गृहस्थ बनता है, सुन्दर सन्तान का निर्माण कर पाता है तथा यह ज्ञान उसे धन कमाने की योग्यता भी देता है।

४. अब जीवन के तृतीयाश्रम में इस वेदवाणी से कहते हैं कि तू **सिंही असि**=दोषनाशक, ज्ञानसेचक है। तू **देवान्**=त्यागमय, ज्ञानप्रधान जीवन बितानेवाले वनस्थों को **यजमानाय**=इस सृष्टि-यज्ञ के प्रवर्तक प्रभु के लिए **आवह**=ले-चल। ये वनस्थ लोग वेदवाणी का सदा अध्ययन करते हुए (**स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्**) प्रभु के समीप पहुँचने का प्रयत्न करें। **स्वाहा**=कितनी सुन्दर यह बात है! ५. इस प्रभु के उपासक वनस्थ को अब संन्यासी बनना है और वह कहता है कि हे वेदवाणि! अब मैं **त्वा**=तुझे **भूतेभ्यः**=सब प्राणियों के हित के लिए उन्हें प्राप्त कराता हूँ। मैं तेरे ही प्रचार में जीवनयापन करता हूँ।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करके हम प्रथमाश्रम में विज्ञान व बल का, दूसरे में सुसन्तान व धन का, तीसरे में प्रभु-प्राप्ति व चौथे में लोकहित का साधन करें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

संन्यासी 'ध्रुव-ध्रुवक्षित्-अच्युतक्षित्'

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'भूतेभ्यस्त्वा' शब्दों से हुई थी। एक परिव्राजक अपने जीवन का ध्येय बनाता है कि वह वेदवाणी का ज्ञान सब मनुष्यों को प्राप्त कराएगा और प्राणिमात्र के हित में प्रवृत्त रहेगा। उसी संन्यासी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि २. **ध्रुवः असि**=तू ध्रुव है। लोग स्तुति करें, निन्दा करें, धन आये या जाये, मृत्यु हो या जीवन, परन्तु ये न्यायमार्ग से कभी विचलित नहीं होते। ३. हे परिव्राजक! तू **पृथिवीं**=अपने इस शरीर को **दृंह**=दृढ़ बना। बीमार हो गया तो यह प्रचार क्या करेगा? ४. **ध्रुवक्षित् असि**=हे संन्यासिन्! तू (ध्रुव=मर्यादा क्षि=गति) मर्यादा में गति करनेवाला है, कभी मर्यादा को तोड़ता नहीं। ५. तू **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **दृंह**=दृढ़ कर। यह कभी तुझे मर्यादा को तोड़ने न दे। 'अन्तरिक्ष'=मध्यमार्ग से चलना ही सबसे बड़ी मर्यादा है, अति का वर्जन करना है। ६. **अच्युतक्षित् असि**=तू उस अच्युत प्रभु में निवास करनेवाला है। उस प्रभु में जो कभी भी डिगनेवाला नहीं। इस प्रभु में निवास करके तू **दिवं**=अपनी ज्ञान-ज्योति को **दृंह**=पुष्ट कर। प्रभु में स्थित व्यक्ति को अन्दर से वह ज्ञान प्राप्त होता है जो उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ठीक ज्ञान देता है। ३. इस प्रकार शरीर, मन व मस्तिष्क को दृढ़ बनाकर तू **अग्नेः**=उस अग्नि नामक प्रभु का **पुरीषम्**=अपने में पूरण करनेवाला—भरनेवाला है। इस प्रकार तू प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है।

भावार्थ—एक संन्यासी को 'ध्रुव, ध्रुवक्षित् व अच्युतक्षित्' बनना चाहिए।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सविता। छन्दः—स्वराडार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

प्रभु में मन का (योग) लगाना

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा॥१४॥

१. गत मन्त्र में 'ध्रुव, ध्रुवक्षित् व अच्युतक्षित्' बनने के लिए मन्त्र का ऋषि 'गोतम' **मनः**=मन को **युञ्जते**=उस प्रभु में लगाते हैं **उत**=और **विप्रस्य**=विशेषरूप से पूर्ण, **बृहतः**= वर्धमान **विपश्चितः**=ज्ञानी उस प्रभु की **धियः**=बुद्धियों को **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले ये लोग **युञ्जते**=अपने साथ जोड़ते हैं। 'मन को प्रभु में केन्द्रित करना और उस हृदयस्थ प्रभु की ज्ञानवाणियों को सुनकर अपने ज्ञान को बढ़ाना', 'विप्र' बनने का यही मार्ग है। इससे भिन्न मार्ग से हम अपना पूरण नहीं कर सकते। यदि इस ज्ञान से हम अपने को युक्त करेंगे तो हम भी 'विप्र, बृहत् व विपश्चित' बनेंगे। २. हम उस प्रभु में अपने मनों को केन्द्रित करते हैं और **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाले (वयुनं प्रज्ञानं—नि० ३।९) **एकः इत्**=वह एक प्रभु ही **होत्राः**=सब वेदवाणियों को (होत्रा वाङ्नाम—नि० १।११) **विदधे**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। ३. **सवितुः देवस्य**=उस सबके उत्पादक देव की **परिष्टुतिः**=संसार में चारों ओर विद्यमान स्तुति **मही**=महान् है। सूर्य, चन्द्र, तारे, बादल, विद्युत्, भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हुई नदियाँ, पर्वत, समुद्र, वन व रेगिस्तान—सभी उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। **स्वाहा**=यह कितनी सुन्दर बात है! हमें उस प्रभु की प्राप्ति के लिए 'स्व' का 'हा' करनेवाला बनना है, अर्थात् स्वार्थत्याग (सु+आह) करना है।

भावार्थ—हम मन को कन्द्रित करें, प्रभु की वाणी को सुनें और ज्ञानी बनकर सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन करें, स्वार्थमुक्त जीवन-यापन करें।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

मेधातिथि

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पाᳪसुरे स्वाहा॥१५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर उस सविता देव की महान् स्तुति का उल्लेख था। उसी स्तुति को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **विष्णुः**=वह व्यापक परमात्मा **इदम्**=इस ब्रह्माण्ड को **विचक्रमे**=विशेष क्रमपूर्वक बनाता है। संसार को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो संसार में एक विशेष क्रम दीखता है। 'विमानः' शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा है कि परमेश्वर ने इस ब्रह्माण्ड के पिण्डों को विशेष मानपूर्वक बनाया है। २. **त्रेधा** =तीन प्रकार के **पदम्**=पगों को **निदधे**=उस प्रभु ने रक्खा है। 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक' ये ही तीन पग हैं। ३. ये जितने भी पिण्ड हैं वे सब-के-सब मूल में परमाणुरूप थे। परमाणुओं को ही वह-वह आकृति प्राप्त हो गई—'किस प्रकार कणों से सुन्दर कान्तिमय पिण्डों का निर्माण हो गया?' इस बात को सोचते हैं तो आश्चर्य ही होता है कि **पांसुरे**=धूलिकणमय प्रकृति-समुद्र में इन लोक-लोकान्तरों का **समूढम्**=सम्यक् प्रापण—निर्माण **अस्य**=इस परमात्मा का ही कर्म वैचित्र्य है। (वह प्रापणे, सम्=उत्तमता से)। प्रभु ने इन परमाणुओं से क्या विचित्र सृष्टि का निर्माण कर दिया। यही प्रभु की महिमा है। एक-एक अणु की रचना अद्भुत है, एक-एक पिण्ड आश्चर्य से परिपूर्ण है। एक-एक फल की रचना कितनी विस्मयकारक प्रतीत होती है? उपनिषद् के शब्दों में यह सारा संसार सचमुच प्रभु का व्याख्यान कर रहा है '**इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्**'। यह सारा संसार **स्वाहा**=सुन्दरता से उस प्रभु का प्रतिपादन कर रहा है।

भावार्थ—यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादक है। प्रभु ने तीन लोकों में विभक्त करके इस सृष्टि की रचना की है। ये तीन लोक ही प्रभु के तीन पग हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इरावती-धेनुमती (अन्न, दूध)

इरावती धेनुमती हि भूतꣳसूयवसिनी मनवे दशस्या।
व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्त्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा॥१६॥

१. गत मन्त्र में विष्णु द्वारा संसार के निर्माण का उल्लेख है। इस संसार में मनुष्य को वसिष्ठ=वशियों में श्रेष्ठ व उत्तम निवासवाला बनना है। यह वसिष्ठ निम्नरूप में आराधन करता है—हे **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! तुम दोनों **इरावती**=(इरा=अन्न—नि० २।७) प्रशस्त अन्नवाले होओ तथा **हि**=साथ ही **धेनुमती**=प्रशस्त दुधारू गौवोंवाले **भूतम्**=होओ। **सूयवसिनी**=उन गौ इत्यादि पशुओं के लिए उत्तम यवस-(=चरी)-वाले होओ। **मनवे**=मननशील ज्ञानी के लिए **दशस्या**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले होओ।

२. हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! आप **एते**=इन **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **व्यस्कभ्ना**=विशेषरूप से अलग-अलग थामे हुए हो और **पृथिवीम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को (नि० १।३) **अभितः**=सब ओर **मयूखैः**=किरणों से **दाधर्थ** =आप ही धारण व पोषणवाला करते हो। इस विशाल अन्तरिक्ष में किरणों के द्वारा सारे वायुमण्डल में प्राणदायी तत्त्वों का समावेश होता है, जिससे सब प्राणी जीवनीशक्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मनुष्य इस सृष्टि में सब वस्तुओं का विचारपूर्वक प्रयोग करे। अन्न व दूध ही उसके भोजन हैं। अधिक-से-अधिक खुले में रहने का प्रयत्न करे। यह अन्तरिक्ष प्राणशक्ति से भरा हुआ है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ का ऊर्ध्वनयन

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्। स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्येऽआयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः॥१७॥

'गत मन्त्र के अनुसार 'अन्न-दूध' का ही मननपूर्वक प्रयोग करनेवाले पति-पत्नी कैसे बनते हैं' यह विषय प्रस्तुत मन्त्र में है—१. **देवश्रुतौ**=(दिव्यविद्याश्रुतौ—द०) सृष्टि के ३३ देवों के ज्ञान का श्रवण करनेवाले तुम हो। जिन देवों के सम्पर्क में हमें सदा रहना है और वस्तुतः जिन देवों से हमारा शरीर बना है, उनका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक ही है। २. **देवेषु**=विद्वानों के चरणों में (**विद्वाꣳसो हि देवाः**) **आघोषतम्**=तुम इन ज्ञान की वाणियों का उच्चरण करो। विद्वानों से ३३ देवों का ज्ञान प्राप्त करो। ३. **प्राची प्रेतम्** =(प्र अञ्च्) इस प्रकार सदा आगे बढ़ते हुए चलते चलो। हम उन्नतिशील हों, क्रियाशील हों, अकर्मण्य न हो जाएँ। ४. हम सदा **अध्वरं कल्पयन्ती**=हिंसारहित यज्ञों को करनेवाले हों। **यज्ञम्**=यज्ञ को **ऊर्ध्वम्**=ऊपर **नयतम्**=ले-चलो। हमारे यज्ञों में किसी प्रकार का विकार न आ जाए। ५. **मा जिह्वरतम्**=किसी तरह की कुटिलता न करो। हमारा जीवन सरल हो।

६. (क) **स्वं गोष्ठम्**=अपने गोष्ठ को **आवदतम्**=चारों ओर प्रख्यात करो। अपने घर की गौशाला को ऐसा सुन्दर बनाओ कि तुम्हारी गौवों की चारों ओर चर्चा हो। (ख) अथवा **स्वम्**=अपने को **गोष्ठम्**=वेदवाणियों का निवासस्थान और परिणामतः देवों का

निवासस्थान **आवदतम्**=प्रसिद्ध करो। लोगों में तुम्हारे ज्ञान व श्रेष्ठता की ही चर्चा हो। ७. **देवी**=तुम दिव्य गुणोंवाले बनो और इस प्रकार **दुर्ये**=घर को उत्तम बनानेवाले होओ। ८. **आयुः**=अपने जीवन को **मा**=मत **निर्वादिष्टम्**=(निर्=निन्दायाम्) निन्दितरूप में उच्चारित कराओ, अर्थात् आपके जीवन की निन्दा न हो। **प्रजाम्**=अपनी सन्तान का भी **मा**=मत **निर्वादिष्टम्**=निन्दित रूप में उच्चारण कराओ, अर्थात् तुम्हारी सन्तान की चारों ओर निन्दा न हो। ९. इस प्रकार प्रशस्त जीवन व प्रशस्त सन्तानवाले बनकर **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वर्ष्मन्**=शरीरभूत देवयजन के स्थान में **रमेथाम्**=आनन्द का अनुभव करो, अर्थात् तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। तुम यज्ञस्थान को ही पृथिवी का शरीर समझो। अथवा (वर्ष्मन्=handsome form) पृथिवी के सुन्दर रूप में **रमेथाम्**=आनन्द का अनुभव करो, पृथिवी=शरीर। तुम दोनों के शरीर बड़े सुन्दर हों। पृथिवी के देवयजन में स्थित होकर ये प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम देवश्रुत बनें, जीवन में यज्ञ को ऊँचा स्थान दें, कुटिलता से दूर रहें, इस प्रकार अपने जीवन व प्रजा को सुन्दर बनाएँ और अपने सुन्दर शरीरों में आनन्द का अनुभव करें अथवा इस पृथिवी के देवयजनों में ही आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विष्णु-स्तवन

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांꣳसि।
योऽअस्कभायदुत्तरꣳसधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा॥१८॥

१. मैं **विष्णोः**=व्यापक परमात्मा के **वीर्याणि**=पराक्रमयुक्त कर्मों को **नु कं**=शीघ्र ही **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ। **यः**=जो विष्णु **पार्थिवानि**=(अन्तरिक्षे विदितानि—द०) अन्तरिक्ष में होनेवाले **रजांसि**=लोकों को **विममे**=विविधता से निर्माण करता है। प्रत्येक लोक में थोड़ा-थोड़ा भेद है। २. **यः**=जो सर्वाधार प्रभु त्रिधा गति करते हुए **उत्तरम्**=इस उत्कृष्ट **सधस्थम्**=सब लोकों के (सह) एकत्र स्थित होने के स्थान इस अन्तरिक्ष को **अस्कभायत्**=थामे हुए हैं। **विचक्रमाणः त्रेधा**=वे प्रभु तीन प्रकार से गति कर रहे हैं। द्युलोक में सूर्यरूप से, अन्तरिक्षलोक में वायुरूप से और पृथिवीलोक में अग्निरूप से प्रभु की गति हो रही है। **उरुगायः**=आप विशाल गतिवाले हैं या सब पदार्थों का वेद द्वारा गायन, उपदेश करनेवाले हैं। ३. **विष्णवे त्वा**=सर्वत्र व्यापक तुझ प्रभु को पाने के लिए ही मैं प्रयत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—वे प्रभु अत्यन्त शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले हैं। उरुगाय हैं। मैं उन्हीं की शरण में जाता हूँ।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

दोनों हाथों से

दिवो वा विष्णऽउत वा पृथिव्या महो वा विष्णऽउरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा॥१९॥

१. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **दिवः वा**=चाहे द्युलोक से **उत वा पृथिव्याः**=या पृथिवी से **महः उरो अन्तरिक्षात् वा**=इस महनीय विशाल अन्तरिक्ष से **उभा हि हस्ता**=निश्चय

से दोनों हाथों को **वसुना**=धन से **पृणस्व**=भर दीजिए। **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **दक्षिणात्**=दाहिने हाथ से **उत**=और **सव्यात्**=बायें हाथ से **आप्रयच्छ**=हमें सब ओर से धन दीजिए। **विष्णवे त्वा**=तुझ विष्णु को पाने के लिए ही मैं प्रयत्नशील होता हूँ। २. उल्लिखित मन्त्रार्थ में प्रभु से द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक के वसु की याचना है। द्युलोक का वसु 'ज्ञान' है, पृथिवीलोक का वसु 'स्वास्थ्य' है और अन्तरिक्षलोक का वसु 'नैर्मल्य' है। एवं, भक्त, ज्ञान, स्वास्थ्य व हृदय की निर्मलता व सत्य की प्रभु से याचना करते हैं। वे प्रभु इन वसुओं के साथ हमें सर्वत्र निवास के लिए आवश्यक धन भी प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार आन्तर व बाह्य धनों को प्राप्त करके हम अध्यात्म उन्नति के लिए पूर्ण अवसर पाते हैं। इस अवसर का उचित उपयोग उठाकर हम उस विष्णु को पाने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—अनुकूल वातावरण पाकर हम प्रभु को प्राप्त करने के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—विष्णुः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विष्णु के तीन विक्रमण

प्र तद्विष्णुं स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥२०॥

वह **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु **मृगः**=(मार्ष्टि) हमारे जीवन का शोधन करनेवाले हैं। प्रभु के स्मरण से वासनाओं का विनाश हो जाता है। **न भीमः**=वे प्रभु हमारे लिए भयंकर नहीं हैं, वे तो पुत्रों के लिए पिता के समान हैं। **कुचरः**=(कौ चरति) वे प्रभु सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरण करनेवाले हैं (क्वायं चरतीति)। सर्वव्यापक होते हुए भी न जाने कहाँ हैं। अदृश्य होने से ऐसा ही कहना पड़ता है। **गिरिष्ठाः**=वे प्रभु वेदवाणी में स्थित हैं। **सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति**=सारे वेद उस प्रभु का प्रतिपादन कर रहे हैं। (देहोऽपि गिरिरुच्यते—उ०) वे प्रभु 'इस शरीर में स्थित हैं। आश्चर्य तो यही है कि समीप-से-समीप हमारे ही शरीर में होते हुए दूर-से-दूर हैं—अदृश्य हैं। ये विष्णु वे हैं **यस्य**=जिनके **त्रिषु**=तीन **उरुषु**=विस्तृत **विक्रमणेषु**=विक्रमरूप लोकों में **विश्वानि**=सब **भुवनानि**=(भूतजातानि) प्राणी **अधिक्षियन्ति**=निवास करते हैं। **तत्**=(तस्मात्) अतः वे विष्णु **वीर्येण प्रस्तवते**=अपने वीरतापूर्ण कर्मों के कारण स्तुत किये जाते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे जीवनों को शुद्ध बनाते हैं। क्या भूपृष्ठ पर, क्या पर्वतशिखर पर वे सर्वत्र विद्यमान हैं। ये तीनों लोक प्रभु के ही तीन विक्रमण हैं। इन्हीं में सब प्राणियों का निवास है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगार्चीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

वैष्णव

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि।

वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥२१॥

गत मन्त्र के अनुसार विष्णु का स्मरण करनेवाले पवित्र बनते हैं। विष्णु यज्ञरूप हैं, अतः इनका जीवन यज्ञमय होता है। मन्त्र में कहते हैं कि तू **विष्णोः**=यज्ञ का **रराटम् असि**=ललाट है, मस्तक है। यज्ञ करनेवालों का तू मूर्धन्य बनता है। 'रठ परिभाषणे' धातु

से इस शब्द को बनाएँ तो अर्थ होगा कि तू सदा यज्ञ का ही जप करनेवाला, यज्ञ की ही रट लगानेवाला है। **विष्णोः**=यज्ञ के **श्नप्त्रे**=(सृक्किणी) तुम ओष्ठप्रान्त हो। तुम्हारे जीवन का आदि-अन्त यह यज्ञ ही है। तू **विष्णोः**=यज्ञ को **स्यूः असि**=अपने जीवन के साथ सी लेनेवाला है। यज्ञ तेरे जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ गया है। **विष्णोः**=यज्ञ का तू **ध्रुवः असि**=ध्रुव है। निश्चित स्थान है। तू यज्ञ से अलग नहीं होता, यज्ञ तुझसे अलग नहीं होता। तू तो इस यज्ञ का भक्त बनकर **वैष्णवम् असि** =वैष्णव ही हो गया है। **विष्णवे त्वा**=तूने अपने को विष्णु के लिए अर्पित कर दिया है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को यज्ञमय बनाकर 'वैष्णव' बन जाएँ।

सूचना—यज्ञ विष्णु है—विष्लृ व्याप्तौ—व्यापक कर्म है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—साम्नीपङ्क्तिः[क], भुरिगार्षीबृहती[र]। स्वरः—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

बृहती वाक्

[क]देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
[र]आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳरक्ष॑सां ग्री॒वाऽअपि॑ कृन्तामि।
बृ॒हन्न॑सि बृ॒हद्र॑वा बृह॒तीमिन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद॥२२॥

१. गत मन्त्र में जीवन को यज्ञमय बनाने का उल्लेख था। जीवन को यज्ञमय बनानेवाला व्यक्ति संसार में प्रत्येक वस्तु का उपयोग विशेष प्रकार से करता है। वह कहता है कि हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक देव के **प्रसवे**=प्रसव में, अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। न अतियोग करता हूँ, न अयोग; अपितु यथायोग करके मैं तुझसे लाभान्वित होता हूँ। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापानों के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। मैं तुझे बिना प्रयत्न के लेना नहीं चाहता, क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक पदार्थ हानिकर होता है। **पूष्णोः हस्ताभ्याम्**=मैं पूषा के हाथों से तेरा ग्रहण करता हूँ और तेरे उपयोग में मेरा दृष्टिकोण स्वाद व सौन्दर्य न होकर पोषण होता है। २. हे पदार्थ! वस्तुतः इसी प्रकार ग्रहण किया हुआ तू नारी (नराणामियम्) मनुष्यों का हित करनेवाला होता है। अथवा **नारिः असि**=मनुष्यों का (न अरिः) शत्रु नहीं है। जब तक दृष्टिकोण पोषण का बना रहता है, यह मनुष्य का हित-ही-हित करता है। दृष्टिकोण स्वाद का बना और ये सृष्टि के पदार्थ उसके अहित का कारण बन जाते हैं। **'रसमूला हि व्याधयः'**=सब व्याधियाँ इस स्वाद के ही कारण होती हैं। मैं इन पदार्थों का ठीक उपयोग करके इस स्थिति में हो गया हूँ कि **रक्षसां ग्रीवा अपि**=इन रोगकृमियों की ग्रीवा को ही **कृन्तामि**=काट देता हूँ। इन रोगकृमियों का समूलोन्मूलन हो जाता है। ३. हे प्रभो! आप **बृहन् असि**=मेरे इन रोगकृमियों का उद्बर्हण (विनाश) करनेवाले हो। इन राक्षसों की ग्रीवा को मैं नहीं काटता, यह काम आप ही करते हो। **बृहद् रवाः**=आप हृदयस्थरूपेण वृद्धिकारक उपदेश देनेवाले हैं। **इन्द्राय**=मुझ जितेन्द्रिय के लिए इस **बृहतीम्** =वृद्धि की कारणभूत **वाचम्**=वेदवाणी को **वद**=कहिए। आपकी कृपा से मैं इस वेदवाणी को सुनूँ। इसके सुनने से मेरी वासनाओं का उद्बर्हण होता है और यह शरीर, मन व मस्तिष्क—सभी दृष्टिकोणों से मेरी वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—मैं सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करूँ। राक्षसों को जीतूँ। प्रभु की बृहती वाक् को सुनूँ।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—याजुषीबृहती [३], स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप् [ख], स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक् [र]। स्वरः—मध्यमः [३], गान्धारः [ख], ऋषभः [र]।।

कृत्या का उत्कृन्तन (उच्छेद)

[३]रक्षोहणं वलगहनं [क]वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि [ख]यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि [र]यं मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि॥२३॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'बृहतीं वाचं वद' पर थी—बृहती वाक् को बोलिए। उस बृहती वाक् को जो **रक्षोहणम्**=सब राक्षसी वृत्तियों को समाप्त कर देती है। राक्षसी वृत्तियों को ही नहीं यह रोगकृमियों को भी नष्ट करनेवाली है। २. यह वाणी **वलगहनम्**=(वल veil. संवृत रूप में ग=गति करनेवाले) हमारे मनों में छिपेरूप में विचरनेवाले मनसिज (काम) को नष्ट करनेवाली है। यह काम न जाने कब और कहाँ से हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। हम वेदवाणी का अध्ययन करते हैं तो यह उस वासना का विनाश करती है। ३. **वैष्णवीम्**=यह वाणी मुझे वासना से ऊपर उठाकर यज्ञिय मनोवृत्तिवाला बनाती है और विष्णु (परमात्मा) को प्राप्त कराती है। ४. इस वाणी को अपनाकर **इदम्**=(इदानीम्) अब **अहम्**=मैं **तं वलगम्**=अदृश्य रूप से मेरे अन्दर आ जानेवाली उस वासना को **उत्किरामि**= उखाड़कर बाहर फेंक देता हूँ, **यम्**=जिस वासना को **मे**=मुझमें **निष्ट्यः**=बाहर होनेवाले या **यम्**=जिसको **अमात्यः**=मेरे साथ ही होनेवाले किसी व्यक्ति ने **निचखान**=गाड़ दिया है। हममें वासनाएँ सङ्ग से उत्पन्न हो जाती हैं। कई बार इसके उत्पन्न करनेवाले बाहर के व्यक्ति होते हैं। ५. **इदम्**=अब **अहम्**=मैं **तं वलगम्**=उस संवृतरूप से गति करनेवाले काम को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **समानः**=समान आयु का **यम्**=जिसे **असमानः**=बड़ी आयु का मनुष्य **निचखान**=गाड़ देता है। हमउम्र साथियों से यह वासना उत्पन्न कर दी जाती है। कई बार बड़ी आयु के व्यक्ति भी इस बुरी आदत को पैदा करने के कारण बन जाते हैं। ६. **इदम् अहम्**=अब मैं **तं वलगम्**=उस मनसिज (काम) को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **सबन्धुः**=कोई सगोत्र व्यक्ति या **यम्**=जिसे **असबन्धुः**=असगोत्र व्यक्ति **निचखान**=गाड़ देता है। इस वासना की उत्पत्ति में रिश्तेदार भी कारण बन जाते हैं और जो रिश्तेदार नहीं होते वे भी। ७. **इदम् अहम्**=यह मैं **तं वलगम्**=उस वासना को **उत्किरामि**=उखाड़ फेंकता हूँ **यम्**=जिसे **मे**=मुझमें **सजातः**=सगा व्यक्ति, समान स्थान में उत्पन्न हुआ व्यक्ति **यम्**=जिसे **असजातः**=असमान स्थान में उत्पन्न व्यक्ति, दूर का व्यक्ति **निचखान**=गाड़ देता है। **कृत्याम्** (कृती छेदने)=छेदन-भेदन करनेवाली इस वासना को मैं **उत्किरामि** =निश्चय से उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—मानव-जीवन का ध्येय यही होना चाहिए कि 'मैं इस अनन्त कारणों से, न जाने कब उत्पन्न हो जानेवाली अदृश्य वासना को अवश्य ही उखाड़ फेंकूँगा।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—सूर्यविद्वांसौ। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

'स्वराट् से सर्वराट्'

**स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि
रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा॥२४॥**

१. गत मन्त्र के अनुसार वासना का उच्छेद करनेवाला यह 'दीर्घतमा' प्रभु का प्रिय बनता है। प्रभु इससे कहते हैं कि तू अपने इस जीवन के प्रथम प्रयाण में **स्वराट् असि**=स्वराट् है, अपना शासन करनेवाला बना है (स्व=अपना, राज्=regulate) तूने अपने जीवन को बड़ा नियमित बनाया है। **सपत्नहा**=तूने 'काम, क्रोध, लोभ, मोह व मद-मत्सर' इन सब शत्रुओं का हनन किया है। २. जीवन के दूसरे प्रयाण में तू **सत्रराट् असि**=यज्ञों से दीप्त होनेवाला बना है, यज्ञों से तेरी कीर्ति चारों ओर फैली है और **अभिमातिहा**=तूने अभिमानरूप शत्रु का संहार किया है। ३. अब जीवन की तृतीय मंजिल में **जनराट् असि**= तू अपने विकास से चमकनेवाला हुआ है (जनी=प्रादुर्भाव, विकास, evolution) और **रक्षोहा**=सब रोगकृमियों का या राक्षसी वृत्तियों का हनन करनेवाला है। शरीर से भी नीरोग रहता है और मन से भी प्रसादमय रहता है। ४. इस प्रकार **'सर्वराट् असि'**=तू सर्वव्यापक होने से 'सर्व' नामवाले प्रभु से चमकनेवाला बना है। उसको सदा हृदय में धारण करने से तेरा चेहरा ब्रह्मवर्चस् की दीप्ति से चमकता है और तू **अमित्रहा**=अस्नेह की भावना को समाप्त करनेवाला हुआ है। तेरा सबके प्रति प्रेम है। सारी वसुधा तेरा कुटुम्ब बन गई है। सभी तेरी मैं में समाविष्ट हो गये हैं और तू भी अपने उपास्य की तरह 'सर्व' बन गया है।

भावार्थ—हमें क्रमशः 'स्वराट्, सत्रराट् व जनराट्' बनकर सर्वराट् बनना है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—ब्राह्मीबृहती[क], आर्षीपङ्क्तिः[र]। स्वरः—मध्यमः[क], पञ्चमः[र]॥

'प्रोक्षण-अवनयन-अवस्तरण' उपधान-पर्यूहण

[क]रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान्रक्षोहणौ [र]वां वलगहनाऽउपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवा स्थ॥२५॥

१. २३वें मन्त्र में राक्षसी वृत्तियों व काम के विध्वंस का उल्लेख था। उन्हीं के विषय में प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **रक्षोहणः**=इन राक्षसी वृत्तियों का विध्वंस करनेवालों को **वलगहनः**=संवृत (veiled) रूप में गति करनेवाले इस काम का हनन करनेवालों को **प्रोक्षामि**=मैं ज्ञान से सिक्त करता हूँ। जो तुम **वैष्णवान्**=वासना को जीतकर व्यापक मनोवृत्तिवाले बने हो (विष् व्याप्तौ)। २. **वः**=तुममें से **रक्षोहणः** =रोगकृमियों का संहार करनेवालों को तथा **वलगहनः**=काम का हनन करनेवाले राक्षसों को **अवनयामि**=इन बन्धनों से दूर ले-जाता हूँ, क्योंकि तुम **वैष्णवान्**=यज्ञिय जीवनवाले बने हो (विष्णुर्वै यज्ञः) ३. **रक्षोहणः**= अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवालों राक्षसों का हनन करनेवाले **वलगहनः**=वासना को नष्ट करनेवाले **वः**=तुम्हें **अवस्तृणामि**=संसार के कष्टों से दूर आच्छादित करता हूँ, क्योंकि तुम **वैष्णवान्**=विष्णु—व्यापक प्रभु के उपासक बने हो। ४. गृहस्थ में **रक्षोहणौ**= रोगकृमियों का नाश करनेवाले **वाम्**=तुम दोनों **वलगहनौ**=वासना का हनन करनेवाले पति-पत्नी को **उपदधामि**=मैं अपने समीप स्थापित करता हूँ। **वैष्णवी**=वह वेदवाणी इन पति-पत्नी के हृदयों को विशाल बनानेवाली है। **रक्षोहणौ**=राक्षसी भावों का नाश करनेवाले **वाम्**=तुम दोनों **वलगहनौ**=कामघाती पति-पत्नी को **पर्यूहामि**=इस वेदवाणी के द्वारा (परि ऊहामि=परि प्रापयामि) सब सन्देहों के परे पहुँचाता हूँ। आपको आपके मार्ग का निश्चय कराता हूँ। **वैष्णवी**=यह वेदवाणी व्यापक ज्ञानवाली है। **वैष्णवम् असि**=वेद का ज्ञान यज्ञों व विष्णु का ज्ञान है। इनमें परमात्मा व यज्ञों का प्रतिपादन है। **वैष्णवाः स्थ**=तुम सब उस व्यापक

प्रभु के उपासक बनो।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान से अभिषिक्त करते हैं, वासनाओं के बन्धनों से दूर ले-जाते हैं, संसार के कष्टों से सुदूर सुरक्षित करते हैं, अपने समीप स्थापित करते हैं और सब सन्देहों से परे पहुँचाते हैं।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः[क], निचृदार्षीत्रिष्टुप्[र]।
स्वरः—पञ्चमः[क], धैवतः[र]॥

यव

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि। [र]यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥२६॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार ज्ञान से सिक्त व्यक्ति संसार में ठीक प्रकार से चलता है। वह कहता है कि हे पदार्थ! मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रभु ने **'पयः पशूनाम्'**=पशुओं के दूध के प्रयोग का आदेश दिया है तो मैं उनका दूध ही लेता हूँ, उनका मांस नहीं खाता। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व'**=इस उपदेश का ध्यान करता हुआ श्रम को अपने जीवन से दूर नहीं होने देता। **पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। मैं स्वाद के लिए नहीं खाता, सौन्दर्य के लिए नहीं पहनता, परिणमतः तू **नारी असि**=मुझ नर की शक्ति बनता है। विपरीतावस्था में यह उसकी शक्ति का ह्रास करनेवाला उसका (अरिः) शत्रु हो जाता है। २. **इदम्**=अब इस प्रकार शक्तिशाली बनकर **रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि**=मैं राक्षसों की ग्रीवा को भी काट देता हूँ। अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि ही 'रक्षस्' हैं (र+क्ष)। जब मनुष्य प्रत्येक पदार्थ का यथायोग सेवन करता है, प्रयत्न से पदार्थों का उपार्जन करता है और पोषण के दृष्टिकोण से ही वस्तुओं को स्वीकार करता है तब वस्तुतः वह रोगकृमियों का संहार कर पाता है। रोगकृमियों के नाश से शरीर तो सुन्दर बनता ही है, मन भी निर्मल बनता है। सब पदार्थों का ठीक प्रयोग हमारे हृदयों को वासनाओं से हिंसित नहीं होने देता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ३. **यवः असि**=हे प्रभो! आप यव हो। (यु मिश्रणामिश्रणयोः) हमें बुराइयों से पृथक् करके अच्छाइयों से जोड़नेवाले हो, अतः **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **यवय**=पृथक् कीजिए। **अरातीः**=न देने की भावनाओं को **यवय**=पृथक् कीजिए। ४. हे प्रभो! **दिवे त्वा**=मस्तिष्करूप द्युलोक के लिए मैं तुझे प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना से मेरा मस्तिष्क ठीक हो। **अन्तरिक्षाय त्वा**=हृदयान्तरिक्ष के ठीक रखने के लिए मैं आपको प्राप्त होता हूँ। आपकी कृपा से मेरा हृदयान्तरिक्ष वासनाओं के बवण्डर से मलिन न हो। **पृथिव्यै त्वा**=शरीररूप पृथिवी के विस्तार के लिए मैं तुझे प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना से मेरा शरीर शुद्ध बनता है। ५. **लोकाः शुन्धन्ताम्**=मेरे तीनों लोक शुद्ध हों। मस्तिष्करूप द्युलोक, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक सभी मलों से रहित हों। द्युलोक में भ्रमों के बवण्डर न हों, अन्तरिक्ष में वासनाओं के तूफान न हों, पृथिवी पर—शरीर में **मल**=foreign matter का सञ्चय न हो। ६. **पितृषदनाः**=हे प्रभो! हमारे घर ज्ञानियों के निवासस्थान बनें। (पितरः ज्ञानिनः सीदन्तु येषु) अर्थात् हमें सदा ज्ञानियों का सङ्ग प्राप्त रहे। अब मन्त्र की समाप्ति पर अपने को प्रेरणा देता हुआ

दीर्घतमा कहता है कि हे मेरे हृदय **'पितृषदनम् असि'**—तू ज्ञानियों का घर है, अर्थात् मेरे हृदय में सदा ज्ञानियों की चर्चा (विचारणा) रहे।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में रहकर हम अपने जीवनों को शुद्ध कर लें। हमारे हृदयों में न द्वेष हो न अदान की भावना।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

ब्रह्म, क्षत्र, आयु, प्रजा

उद्दिवꣳस्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा। ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह॥२७॥

दीर्घतमा को, जिसने गत मन्त्र में सब लोकों के शोधन की प्रार्थना की है, प्रभु प्रेरणा देते हैं कि—१. **दिवं उत्स्तभान**=तू अपने मस्तिष्क को ऊपर थाम। जैसे पर्वत के मेखलाप्रदेश में ही बादल उमड़ते हैं और उसका शिखर सूर्य के प्रकाश से दीप्त रहता है, उसी प्रकार तेरा मस्तिष्क भी ज्ञान की ज्योति से जगमगाता रहे। वह कभी भ्रमों व सन्देहों से न भर जाए। २. **अन्तरिक्षम्**=तू अपने हृदयान्तरिक्ष को **पृण**=परिपूरण कर। अपने हृदय को वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित कर। ३. **पृथिव्यां दृंहस्व**=इस शरीर में तू दृढ़ बन। शरीर ही पृथिवी है। जैसे पृथिवी दृढ़ है, उसी प्रकार तू दृढ़ शरीरवाला बन। ४. **द्युतानः**=(दिवं तनोति) ज्ञान का विस्तार करनेवाला **मारुतः**=प्राण-साधना करनेवाला विद्वान् **त्वा**=तुझे **मिनोतु**=विषयों से परे फेंके, अर्थात् विषयवासना के संसार में उलझने न दे। ५. **मित्रावरुणौ**=स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता तुझे **ध्रुवेण धर्मणा**=ध्रुव धर्म से युक्त करें, अर्थात् स्नेह व अद्वेष तुझे धर्म के मार्ग पर दृढ़ करें। ६. **ब्रह्मवनि**=ज्ञान का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझे, **क्षत्रवनि**=बल का विजय करनेवाले, **रायस्पोषवनि**=धन के पोषण का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझको **पर्यूहामि**=मैं अपने समीप प्राप्त कराता हूँ। वस्तुतः प्रभु को वही प्राप्त करता है जो ज्ञान के द्वारा अध्यात्म उन्नति का साधन करता है, बल के द्वारा शरीर की उन्नति का साधन करता है और धन से सांसारिक उन्नति को सिद्ध करता है। ज्ञान से **'सत्य'**, बल से **'यश'** तथा धन से **'शक्ति'** साधन करके हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। ७. अतः तू **ब्रह्म दृंह**=अपने ज्ञान को दृढ़ कर, **क्षत्रं दृंह**=बल को दृढ़कर, **आयुः दृंह**=अपनी आयु को दृढ़कर और **प्रजाम्**=प्रजा को **दृंह**=दृढ़ कर। वस्तुतः ज्ञान की दृढ़ता से जीवन की दृढ़ता होती है और बल की दृढ़ता से सन्तान की दृढ़ता सिद्ध होती है। ज्ञान से जीवन, बल से सन्तान उत्तम होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को प्राप्त करने के लिए जहाँ ज्ञान और बल की आवश्यकता है, वहाँ जीवन व सन्तान को सुन्दर बनाना भी नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

छाया

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया॥२८॥

१. गत मन्त्र की प्रेरणा ही प्रस्तुत मन्त्र में चल रही है। प्रभु कहते हैं कि अपने ज्ञान

व बल को दृढ़ करके एक गृहपत्नी **ध्रुवा असि**=ध्रुव बनी है। यह अपने मार्ग से विचलित नहीं होती। २. **अयं यजमानः**=यह यज्ञ के स्वभाववाला पति भी **अस्मिन् आयतने**=इस घर में **ध्रुवः**=स्थिर होकर निवास करनेवाला है। पति-पत्नी दोनों ही ध्रुव हैं। ये अपने मार्ग से विचलित नहीं होते। २. इस ध्रुवता के परिणामस्वरूप यह यजमान **प्रजया पशुभिः**=उत्तम सन्तानों व उत्तम गवादि पशुओं से **भूयात्**=फूले व फले। ३. इसके **द्यावापृथिवी** =मस्तिष्क व शरीर **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से व मलों के क्षरण से **पूर्येथाम्**=पालित व पूरित हों। मस्तिष्क ज्ञानज्योति से पूर्ण हो तो शरीर भी मलों के क्षरण से पूर्ण स्वस्थ हो। ४. तू **इन्द्रस्य छदिः असि**=परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् प्रभु की छतवाला है। जैसे छत सर्दी-गर्मी, ओले-वर्षा से बचाती है इस प्रकार तू प्रभुरूपी छतवाला होता है और सब बुराइयों के आक्रमण से बचा रहता है। ५. उस 'इन्द्र' को छत के रूप में प्राप्त करके तू **विश्वजनस्य**=सब लोगों की **छाया**=शरणस्थल बनता है। प्रभु तेरे रक्षक बनते हैं, तू लोगों को सन्ताप से सुरक्षित करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु मेरे रक्षक हैं। मैं औरों का सन्ताप दूर करनेवाला बनूँ। मेरा मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से पूर्ण हो। मेरा शरीर मैल से रहित होकर स्वस्थ बने।

ऋषिः—औतथ्यो दीर्घतमाः। देवता—ईश्वरसभाध्यक्षौ। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वृद्धिशील-प्रिय (वृद्धयः-जुष्टयः)

परि त्वा गिर्वणो गिरऽइमा भवन्तु विश्वतः।

वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः॥२९॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार यदि हम 'प्रभु के आश्रय' वाले बनना चाहते हैं तो हमारी प्रार्थना का स्वरूप यह होता है—हे **गिर्वणः**=(गीर्भिः स्तोतुमर्हः) वेद-वाणियों से स्तवन के योग्य प्रभो! **इमाः गिरः** =ये मेरी वाणियाँ **विश्वतः**=सब ओर से हटकर **त्वा परिभवन्तु**=आपके चारों ओर हों, अर्थात् मैं अपना ध्यान और सब ओर से हटकर अपनी वाणियों को आपके स्तवन में लगाऊँ। २. यह प्रभु-स्तवन हमें पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कराता है। इससे हमारा मस्तिष्क दीप्त बनता है, मन पवित्र बनता है और शरीर दृढ़ बनता है। यह त्रिविध उन्नति करके—तीन पगों को रखकर—मनुष्य उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है (वृद्धम् आयुर्यस्य) यह उत्कृष्ट जीवनवाला व्यक्ति 'वृद्धायु' कहलाता है। घर में मूलपुरुष के वृद्धायु होने पर आगे आनेवाले सन्तान भी वैसे ही बनते हैं। **वृद्धायुम् अनु**=इन उत्कृष्ट जीवनवाले पितरों का अनुकरण करते हुए **वृद्धयः**=उनके सन्तान भी वृद्धिवाले होते हैं। सन्तान माता-पिता के अनुरूप ही बनते हैं। ये सन्तान **जुष्टयः**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) बड़े प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करनेवाले हों और परिणामतः **जुष्टाः भवन्तु**=बड़े प्रिय हों। अपने माता-पिता के प्यारे बनें। बन्धु-बान्धवों व परिचितों के वे प्रिय हों।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें। इससे हमारे जीवन उत्कृष्ट होंगे, हमारे सन्तानों के जीवन अच्छे बनेंगे और अपना कर्त्तव्य सेवन करनेवाले बनकर सभी के प्रिय होंगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—ईश्वरसभाध्यक्षौ। छन्दः—आर्च्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु के साथ सिल जाना (इन्द्रस्य स्यूः)

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि। ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि॥३०॥

गत मन्त्र में 'दीर्घतमा' ऋषि का प्रभु-स्तवन समाप्त हुआ है। उसकी कामना यही रही है कि मेरी वाणियाँ सब ओर से हटकर प्रभु का ही स्तवन करनेवाली बनें। इससे उत्तम और कामना हो भी क्या सकती है? इस उत्तम कामनावाला यह अब 'मधुच्छन्दाः' बन जाता है—उत्तम इच्छाओंवाला। दूसरे शब्दों में दीर्घतमा=अज्ञान का विदारण करनेवाला मधुच्छन्दा—उत्तम इच्छाओंवाला बनकर अपने से कहता है कि—१. तू **इन्द्रस्य** =परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्यूः**=अपने साथ सी लेनेवाला **असि**=है। तूने उस प्रभु को अपने साथ जोड़ा है। २. **इन्द्रस्य ध्रुवः असि**=तू इन्द्र के ध्रुववाला है, अर्थात् तेरी सारी क्रियाएँ उस इन्द्र के ही चारों ओर घूमती हैं। 'इन्द्र का तू ध्रुव है' यह अर्थ करने पर भी भावना यही है कि तू चारों ओर प्रभु से आवृत है। ३. **ऐन्द्रम् असि**=प्रभु के निरन्तर सम्पर्क के कारण तू भी परमैश्वर्य का अधिकरण बना है और **वैश्वदेवम् असि**=सब दिव्य गुणों का तू अधिकरण हुआ है, अर्थात् 'सतत प्रभु उपासन' का तेरे जीवन पर यह प्रभाव हुआ है कि तू जहाँ परमैश्वर्य का अधिष्ठान बना है वहाँ सब दिव्य गुणों का भी निवासस्थान हुआ है। ऐश्वर्य व दिव्य गुणों को प्राप्त करके तू भी बहुत कुछ उस प्रभु-जैसा हो गया है। उपासना का यह परिणाम होना ही चाहिए था।

भावार्थ—मधुच्छन्दा प्रार्थना करता है कि मैं प्रभु के साथ सिल जाऊँ। उससे अलग हो ही न सकूँ। प्रभु ही मेरे ध्रुव हों—केन्द्रबिन्दु हों। मेरी सारी क्रियाएँ उन्हीं के चारों ओर घूमें जिससे मैं भी परमैश्वर्य व दिव्य गुणों का अधिकरण बनूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मधुच्छन्दा का प्रभु-स्तवन

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः।
श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः॥३१॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के साथ अभिन्न हो जाने की कामनावाला मधुच्छन्दा प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है कि—१. हे प्रभो! **विभूः असि**=(वि-भवति) आप सर्वव्यापक हो, सब वैभवोंवाले हो (विभव=विभूति), **प्रवाहणः**=सारे संसार के संचालक हो। इस संसार को गति देनेवाले आप ही हैं। ये अत्यन्त तीव्र गति में चलते हुए पिण्ड आपसे ही गति पा रहे हैं। २. आप **वह्निः असि**=सारे संसार का वहन व धारण करनेवाले हैं, **हव्यवाहनः**=सब प्राणियों के लिए हव्यों को प्राप्त करानेवाले हैं। हव्य पदार्थ का अभिप्राय 'दानपूर्वक अदन' है। आप हमें उन-उन आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं जिनका त्यागपूर्वक उपभोग करते हुए हम अपने जीवनों का ठीक धारण कर सकें। ३. **श्वात्रः असि**=(शु क्षिप्रम् अतति—म०) आप शीघ्र गतिवाले हैं। आपके कर्मों में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होता। (श्वि=गतिवृद्धि+त्रा) आप गतिशील हैं, सदा वर्धमान हैं और त्राण (रक्षा) करनेवाले हैं। **प्रचेताः**=आप प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं। इस प्रकृष्ट ज्ञान के कारण ही आप की प्रत्येक क्रिया जीव की वृद्धि का कारण है। ४. **तुथः असि**=(to have authority or power) आप ही ईशान हो, (to be strong) आप शक्तिशाली हो, (to get) आप सभी को प्राप्त हुए-हुए हो, (to increase) सदा वर्धमान हो, (to go, move) सम्पूर्ण गति के देनेवाले हो, (to strike) अन्त में सारे संसार का संहार करनेवाले हो और **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण

धनोंवाले आप ही हो।

भावार्थ—प्रभु सब वैभवोंवाले, सर्वसंसारवाहक, शीघ्र गतिवाले व सदा वृद्ध हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ऋतधाम स्वर्ज्योतिः

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः॥३२॥

१. हे प्रभो! आप **उशिक् असि**=(वष्टि) सब जीवों का भला चाहनेवाले हैं, **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) सृष्टि के आरम्भ में ही सम्पूर्ण ज्ञानों के देनेवाले हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही आप कल्याण करते हैं। देवों के रक्षण का प्रकार यह है कि ज़िसका हित चाहते हैं, उसे सद्बुद्धि प्राप्त कराते हैं। २. **अङ्घारिः असि** =(अंहसां अरिः) आप पापों के शत्रु हैं और इस प्रकार **बम्भारिः**=(बिभर्ति विश्वम्) विश्व का पालन करनेवाले हैं। विश्व का सच्चा पालन तो पाप-नाश से ही होता है। किसी व्यक्ति का सच्चा भरण यही है कि उसकी पापवृत्ति को दूर कर दिया जाए। ३. **अवस्यूः असि**=(अवः अन्नमिच्छति, रक्षणं वा) आप सबके लिए अन्न चाहनेवाले हैं। इस अन्न के द्वारा सबका रक्षण चाहते हैं और **दुवस्वान्**=हविष्मान् हैं (दुव इति हविर्नाम)। वस्तुतः जब हम इन देवों से प्राप्त अन्नों को हविरूप बनाकर यज्ञ में आहुति देते हैं तब ये देव उन हवियों से भावित होकर हमें फिर अन्न प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें अन्न प्राप्त कराने के लिए हवि देनेवाला बनाते हैं। ४. **शुन्ध्यूः असि** =(शुद्धः, शुन्धयति) आप पूर्ण शुद्ध हैं, और अतएव **मार्जालीयः**=(मार्ष्टि) शुद्ध करनेवाले हैं। ५. **सम्राट् असि** =(सम्यग्राजते) आप अपनी शक्ति से देदीप्यमान हैं और **कृशानुः**=(शत्रुं कर्शयति) शत्रुओं के क्षीण करनेवाले तथा (कृशम् आनयति) दुर्बलों को प्राणित करनेवाले हैं। शक्ति के दो सुन्दर प्रयोग हैं। (क) शत्रुओं को कृश करना तथा (ख) निर्बलों को प्रोत्साहित करना। ६. **परिषद्यः असि**=(परि सीदन्ति इति, तेषु साधुः) चारों ओर होनेवालों में उत्तम हैं। दिशा-काल-आकाश आदि हमारे चारों ओर होनेवाले पदार्थों में प्रभु उत्तम हैं। ये हमारे चारों ओर होकर हमें मृत्यु से बचाते हैं, **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। जब उपासक अपने को प्रभु में अनुभव करता है तब उसकी पापवृत्ति शान्त हो जाती है।

७. **नभः असि**=(नभ्=to kill, nip) आप सब विघ्नों की हिंसा करनेवाले हैं और **प्रतक्वा**=प्रकृष्ट गतिवाले हैं। प्रभु उपासकों के मार्ग के विघ्नों को हिंसित करके उन्हें उन्नति-पथ पर आगे ले-चलते हैं। ८. **मृष्टो असि**=(मृष् तितिक्षायाम्) अत्यन्त सहनशील हैं और **हव्यसूदनः**=(सूदः+पाचकः) दानपूर्वक अदन के योग्य पदार्थों के पकानेवाले हैं। वस्तुतः हव्य पदार्थों के प्रयोग द्वारा हमें सहनशील बनना है। ८. **ऋतधामा असि**=ऋत के आप धारण करनेवाले हैं और **स्वर्ज्योतिः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति हैं। जो भी ऋत का पालन करता है वह ज्योतिर्मय जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—हे प्रभो! 'उशिग्' आदि शब्दों से आपका स्मरण करता हुआ मैं भी वैसा ही बन पाऊँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

ऋत के दो द्वार

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽअजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्॥३३॥

१. हे प्रभो! आप **समुद्रः असि**=(समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात्—द०) सब भूतों के उत्पत्तिस्थान हैं **विश्वव्यचाः**=(विश्वस्मिन् व्यचो व्याप्तिर्यस्य—द०) आप सर्वत्र व्याप्तिवाले हैं। अथवा (सर्वे देवाः सम्यग् उत्कर्षेण द्रवन्ति अत्र—म०) सब देवता उत्कर्ष से आपमें ही सम्यग् गति करते हैं और (विश्वं यज्ञं व्यचति गच्छति) सब यज्ञों को आप ही प्राप्त होनेवाले हैं अथवा (सह मुद्रया) आप सदा आनन्दसहित हैं, क्योंकि आप सर्वव्यापक हैं। 'जितनी-जितनी व्यापकता उतना-उतना आनन्द' यही नियम है। २. **अजो असि**=हे प्रभो! आप अज हैं (यो न जायते) आप कभी उत्पन्न नहीं होते अथवा (अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाले हैं। **एकपात्**=आप ही मुख्य गति देनेवाले हैं अथवा (एकस्मिन् पादे विश्वं यस्य—द०) आपके एक ही चरण में यह सारा विश्व है। ३. **अहिः असि**=(अह व्याप्तौ) आप समस्त विद्याओं में व्यापनशील हैं, **बुध्न्यः**=और सब संसार के मूल में हैं, अर्थात् सर्वाधार हैं। **वाक् असि**=आप ही वाणी हैं अथवा (वक्ति) सब ज्ञानों का उपदेश देनेवाले हैं। **ऐन्द्रम् असि**=इन्द्र—जीव—का हित करनेवाले हैं **सदः**= सबके अधिष्ठान **असि**=हैं। आपमें अधिष्ठित होकर ही सब चराचर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो कि **ऋतस्य द्वारौ**=ऋत के द्वार **मा**=मुझे **मा सन्ताप्तम्**=सन्तप्त न होने दें। 'विद्या+श्रद्धा' ये दो ऋत के द्वार हैं। अकेली विद्या लङ्ङड़ी है तो अकेली श्रद्धा अन्धी है। ये दोनों अलग-अलग अनृत हैं—मनुष्य के सन्ताप का कारण बनती हैं। दोनों एक दूसरे की पूर्ति करती हुई ये 'ऋत' बन जाती हैं। ये उस 'ऋत' परमात्मा का द्वार हो जाती हैं और मनुष्य को किसी भी प्रकार सन्तप्त नहीं होने देती। **अध्वपते**=हे मार्गों के रक्षक प्रभो! **अध्वनाम्**=(अध्वनां मध्ये वर्त्तमानम्—म०) मार्गों पर चलनेवाले **मा**=मुझे **प्रतिर** =सब विघ्नों से पार कीजिए। **अस्मिन् देवयाने पथि**=इस देवयान मार्ग पर चलते हुए **मे**=मेरा **स्वस्ति**=कल्याण व उत्तम जीवन **भूयात्**=हो।

भावार्थ—मेरा प्रत्येक कार्य श्रद्धा और विद्या से हो। मैं देवयान मार्ग पर चलता हुआ कल्याण प्राप्त करूँ।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

सगर अग्नियाँ (प्रभुभक्त माता-पिता व आचार्य)

मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात माग्नयः पिपृत माग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिꣳसिष्ट॥३४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'यदि हम चाहते हैं कि हमारे जीवन मार्गभ्रष्ट न हों' तो हमारी यही कामना हो कि हमें 'माता-पिता व आचार्य' सब उत्तम मिलें। माता 'दक्षिणाग्नि' है, पिता 'गार्हपत्य' और आचार्य 'आहवनीय'। मनु के शब्दों में ये ही तीन अग्नियाँ उत्तम हैं। ये सब सगराः=(सह गरेण) स्तुतिसहित हों—प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। मधुच्छन्दा

चाहता है कि हे **सगराः अग्नयः**=सदा प्रभु-स्तवन के साथ रहनेवाली अग्नियो! **मा**=मुझे **मित्रस्य**=स्नेह की **चक्षुषा**=आँख से **ईक्षध्वम्**=देखो। **सगराः स्थ**=आप सदा प्रभु-स्तुति के साथ रहनेवाले होओ। प्रभु की ओर झुकाववाले आचार्य निश्चय से हमारे जीवनों को सुन्दर बना पाएँगे। हम सदा इनके प्रिय बने रहें, जिससे वे हमारे जीवनों का ठीक निर्माण कर सकें। २. **सगरेण नाम्ना**=स्तुतियुक्त नम्रता से और **रौद्रणे अनीकेन**=(रुत् र) उपदेश देनेवाले मुख से या=(splendour, brilliance) तेज से हे **अग्नयः**=अग्नियो (माता-पिता, आचार्यो)! **मा पात**=मेरी रक्षा करो। हे अग्नियो ! **मा पिपृत**=मेरा पालन व पूरण करो। **गोपायत मा**=मेरा रक्षण करो। मेरे शरीर को रोगों से, मन को वासनाओं से और मस्तिष्क को कुविचारों से बचाओ। मेरा मन स्तुति व नम्रता से पूर्ण हो (सगरेण नाम्ना), मेरा मस्तिष्क ज्ञान से भरा हो (रौद्रेण) और मेरा शरीर तेजस्वी हो (अनीकेन)। ३. हे अग्नियो! **वः**=आपके लिए **नमः अस्तु**=हमारा मस्तक सदा नत हो। हम सदा 'माता-पिता आचार्य' के प्रति नतमस्तक बने रहें। **मा**=मुझे **मा**=मत **हिंसिष्ट**=हिंसित होने दो। इन अग्नियों की कृपा से मेरे शरीर, मन व मस्तिष्क में सदा अग्नित्व=आगे बढ़ने की वृत्ति बनी रहे। मैं सदा शारीरिक, मानस व मस्तिष्क सम्बन्धी उन्नति करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु के उपासक 'माता-पिता आचार्य' को प्राप्त करूँ। उनके द्वारा मेरे जीवन में स्तुति, नम्रता, ज्ञान व तेजस्विता का सञ्चार हो। मेरा शरीर, मन व मस्तिष्क सभी उन्नत हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

विश्वरूप ज्योति

ज्योति॑रसि वि॒श्वरू॑पं॒ विश्वे॑षां दे॒वाना॒ᳬ समि॑त्। त्वᳬसो॑म तनू॒कृद्भ्यो॒ द्वेषो॑भ्यो॒ऽन्यकृ॑तेभ्यऽउ॒रु य॒न्तासि॒ वरू॑थ॒ᳬस्वाहा॑ जुषा॒णोऽअ॒प्तुराज्य॑स्य वेतु॒ स्वाहा॑॥३५॥

'गत मन्त्र के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य के सम्पर्क में आनेवाला यह 'मधुच्छन्दा' शरीर में 'सोम' की रक्षा के द्वारा कैसा बनता है?' इसका वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। १. हे सोम! तू **विश्वरूपं ज्योतिः असि**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला ज्ञान है। यह सोम की रक्षा करनेवाला सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। २. **विश्वेषां देवानां समित्**=यह सुरक्षित सोम सब दिव्य गुणों को दीप्त करनेवाला होता है। सोम की रक्षा होने पर मन में द्वेषादि बुरी वृत्तियाँ उत्पन्न ही नहीं होतीं और दिव्य गुणों का विकास होता है। ३. हे सोम! **त्वम्**=तू **तनूकृद्भ्यः**=(तनूं कृन्तन्ति) शरीर को छिन्न-भिन्न करनेवाले **अन्यकृतेभ्यः** =दूसरों के विषय में या दूसरों से किये गये (अन्येषु अन्यैः वा कृतेभ्यः) **द्वेषोभ्यः**=द्वेषों से **उरु**=खूब **यन्ता** =रोकनेवाला **असि**=है। सोम का पान करनेवाला द्वेष पर क़ाबू पा लेता है। सोमरक्षा के अभाव में मनुष्य औरों से द्वेष करनेवाला बनता है और अपने ही शरीर को छिन्न-भिन्न कर लेता है। ४. यह सुरक्षित सोम **वरुथम्**=रक्षण (cover) को **उरु**=खूब **यन्ता**=देनेवाला **असि**=है। यह शरीर को रोगों से बचाता है तो मन को मैल से तथा मस्तिष्क को कुण्ठा से बचानेवाला होता है। **स्वाहा**=(सु+आह) यह बात कितनी सुन्दर कही गई है? ५. **जुषाणः**=सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ, अर्थात् बड़े उत्साह से शरीर में सोम को सुरक्षित करता हुआ यह मधुच्छन्दा **अप्तुराज्यस्य**=(अप्तु=सोम, शरीर में व्याप्त होनेवाला, आज्यं=तेजः—तै० १।६।३।४) शरीर में व्याप्त होनेवाले सोम के तेज

को **वेतु**=(वी गति) प्राप्त हो। **स्वाहा**=इस कार्य के लिए वह अधिक-से-अधिक (स्व का हा) आत्मत्याग करे। सब आरामों को छोड़कर तपस्वी बने।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम ज्ञान को बढ़ाता है, दिव्य गुणों को दीप्त करता है, द्वेष से दूर करता है। शरीर, मन व बुद्धि सभी को सुरक्षित करता है। तेजस्वी बनाता है। मधुच्छन्दा की ये ही उत्तम इच्छाएँ हैं। उसकी ये सब इच्छाएँ सोम के अनुग्रह से पूर्ण होती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्चीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कुटिलता व पाप से दूर

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥३६॥

१. गत मन्त्र का मधुच्छन्दा सोमरक्षा द्वारा सब बुराइयों को दूर करके 'अगस्त्य'=पाप का संहार करनेवाला बनता है और प्रभु से आराधना करता है कि—हे **अग्ने**=सर्वनेतः परमात्मन्! **अस्मान्**=हमें **राये**=धनों की प्राप्ति के लिए **सुपथा**=उत्तम मार्ग से नय=ले-चलिए। २. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमारे **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=कर्मों को व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। ज्यों ही कोई अशुभ विचार हममें उत्पन्न हो आप उसे उसी समय हमसे पृथक् करें, जिससे वह कार्य का रूप धारण करे ही नहीं। ३. आप **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता को तथा **एनः**=पाप को **युयोधि**=दूर कीजिए (यु=अमिश्रण)। पाप व कुटिलता हमारे पास फटकें ही नहीं। ४. इसी उद्देश्य से हम **ते**=तेरे लिए **भूयिष्ठाम्**=बहुत ही अधिक **नमः उक्तिम्**=नमस्कार के कथन को **विधेम**=करते हैं (विधेम वदेम—द०) अथवा कहते हैं। आपके लिए किया गया यह सतत नमन व नाम-स्मरण हमें अशुभ मार्गों से रोकनेवाला होगा।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपका सतत स्मरण करें और कभी कुटिलता व पाप से धन न कमाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

संग्राम विजय

अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयःशत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥३७॥

पिछले मन्त्र में धन के लिए उत्तम मार्ग से ले-चलने की प्रार्थना थी। उसी प्रसङ्ग को कुछ विस्तार से कहते हैं कि १. **अयं अग्निः**=सब उन्नतियों का साधक यह प्रभु **नः**=हमारे लिए **वरिवः**=(धनम्—म०, उत्तमं रक्षणम्—द०) धन व उत्तम रक्षण को **कृणोतु**=करे, अर्थात् प्रभुकृपा से हम रक्षण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करें। २. **अयम्**=यह प्रभु **मृधः**=हिंसकों को **प्रभिन्दन्**=विदीर्ण करता हुआ **पुरः एतु**=हमारे आगे चले। वे प्रभु हमारा नेतृत्व करें। प्रभुकृपा से हम शत्रुओं का विदारण करते हुए आगे और आगे बढ़ते चलें। ३. **अयम्**=ये प्रभु **वाजसातौ**=संग्रामों में अथवा शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **वाजान्**=अन्नों का **जयतु**=विजय करें। प्रभुकृपा से हम अन्नों को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न हों। हमारी

निर्धनता अन्नाभाव का कारण बनकर हमारी समाप्ति का कारण न बन जाए। ४. **अयम्**=ये प्रभु ही हमारे लिए **जर्हृषाणः**=अत्यन्त हर्ष का हेतु होते हुए **शत्रून् जयतु**=हमारे शत्रुओं का विजय करें। प्रभुकृपा से हम शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। ५. **स्वाहा**=इन सब बातों के लिए मैं स्व+हा=पूर्णरूपेण अपना त्याग करनेवाला बनूँ। 'स्व' का त्याग ही मुझे प्रभु का प्रिय बनाएगा और प्रभुकृपा से मैं (क) धन प्राप्त करूँगा, (ख) हिंसकों का विदारण कर सकूँगा, (ग) अन्नों का विजय करनेवाला बनूँगा और (घ) शत्रुओं को जीतूँगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हम सब प्रकार की विजय प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

स्वयं कर

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।

घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥३८॥

१. अगस्त्य की इस प्रार्थना को सुनकर कि 'यह अग्नि हमारे लिए धनों व शत्रुओं को जीते' प्रभु कहते हैं कि हे **विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! तू **उरु**=खूब ही **विक्रमस्व**=विक्रम कर, पुरुषार्थ कर। प्रभु का साहाय्य तो तुझे तभी मिलेगा जब तू स्वयं शरीर, मन व मस्तिष्क की त्रिविध उन्नति में प्रवृत्त होगा। २. प्रभु पुनः कहते हैं कि **नः क्षयाय**=हमारे निवास के लिए **उरु कृधि**=हृदय को विशाल बना। विशाल हृदय में ही पवित्रता के कारण प्रभु का निवास होता है। ३. हे **घृतयोने**=घृतरूप योनिवाले जीव! तू **घृतम्**=घृत **पिब**=पी। 'घृत' शब्द में दो भावनाएँ हैं (क) क्षरण=मलों का दूर होना, (ख) दीप्ति। शरीर की उन्नति के लिए मलों का दूर होना आवश्यक है। शरीर में मलों का सञ्चय होने पर ही रोग उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क का विकास ज्ञान की दीप्ति से होता है। एवं, जीव 'घृतयोनि' है—मलों का क्षरण व ज्ञान-दीप्ति ही उसके शरीर व मस्तिष्क की उन्नति के कारण हैं, अतः शारीरिक व बौद्धिक उन्नति के लिए घृत का पान करना आवश्यक है। घृतपान का अभिप्राय यही है कि सदा मलों के क्षरण का ध्यान किया जाए और ज्ञानदीप्ति को प्राप्त किया जाए। ४. इस प्रकार हृदय को विशाल बनाकर, शरीर के मलों का क्षरण करके और बौद्धिक विकास करके हे **विष्णो**=तीन कदमों को रखनेवाले जीव! तू **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के पति प्रभु को **प्रप्रतिर**=अपने अन्दर खूब ही बढ़ा (प्रतिरतिः वर्धनार्थः)।

भावार्थ—हम विष्णु बनें । हृदय को विशाल, शरीर को निर्मल व बुद्धि को दीप्त बनाकर अपने हृदय में उस यज्ञपति प्रभु को आसीन करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—सोमसवितारौ। छन्दः—साम्नीबृहती[क], निचृदार्षीपङ्क्तिः[र]। स्वरः—मध्यमः[क], पञ्चमः[र]॥

लोकसेवा व बन्धनविच्छेद

[क]देव सवितरेष ते सोमस्तꣳरक्षस्व मा त्वा दभन्। [र]एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ऽउपागाऽइदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये॥३९॥

१. गत मन्त्र में दिये गये प्रभु के आदेश को सुनकर अगस्त्य प्रार्थना करता है कि हे **सवितः देव**=सबके उत्पादक व प्रेरक देव! **एषः सोमः**=यह सोम—शरीर में आहार से रस-रुधिरादि के क्रम से उत्पन्न होनेवाली यह शक्ति **ते**=तेरी प्राप्ति के लिए ही है। **तं**

रक्षस्व=कृपा करके उस सोम की आप ही रक्षा कीजिए। ये वासनाएँ मुझे तो दबा लेती हैं और इनसे दबने पर मेरे लिए इस सोम का रक्षण सम्भव नहीं होता। कामदेव को आप ही भस्म करेंगे तभी सोमरक्षा सम्भव होगी। ये वासनाएँ **मा**=मत **त्वा**=आपको **दभन्**=हिंसित करनेवाली हों। २. इस प्रकार प्रभु से सोमरक्षण के लिए प्रार्थना करके अगस्त्य सोम को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले सोम! **एतत्**=यह **त्वम्**=तू ही **देवः**=प्रकाशमय है, ज्योति का कारण है। तू **देवान् उप अगाः**=सब देवों को हमारे समीप प्राप्त करा—हमें सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बना। ३. **इदमहम्**=यह मैं **रायस्पोषेण सह**=धन के पोषण के साथ **मनुष्यान् उपागाः**=मनुष्यों के समीप प्राप्त होता हूँ और **स्वाहा**=उनके कष्टों को दूर करने के लिए अपने **स्व**=धन का **हा**=त्याग करता हूँ। यहाँ मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि लोकसेवा के लिए भी धन की आवश्यकता है। ४. इस प्रकार लोकसेवा करता हुआ मैं **वरुणस्य**=वरुण के **पाशात्**=पाश से **निर्मुच्ये**=निर्मुक्त होता हूँ। वरुण के बन्धनों से छूटता हूँ। बन्धनमुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता हूँ। वस्तुतः लोकसेवा ही मोक्ष का साधन है।

भावार्थ—(क) प्रभुकृपा से मैं सोम की रक्षा करता हूँ। (ख) सोमरक्षा से दैवी सम्पत्ति का वर्धन होता है। (ग) मैं धनार्जन करके मनुष्यों के दुःख-दूरीकरण में धन का विनियोग करता हूँ। (घ) और बन्धनों से मुक्त होकर 'ब्रह्मनिर्वाण' को प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

व्रत-पूरण (पूर्ति)

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा॒ या तव॑ त॒नूर्मय्य॑भू॒दे॒षा सा त्वयि॒ यो मम॑ त॒नूस्त्वय्य॑भू॒दि॒यꣳसा मयि॑। य॒था॒य॒थं नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒रम॒ꣳस्तानु॑ तप॒स्तप॑स्पतिः॥४०॥

१. पिछले मन्त्र में पाशमुक्त होने का उल्लेख है। इस पाशमुक्ति के लिए इसी अध्याय के छठे मन्त्र में व्रत-ग्रहण की अनुमति ली थी। अब उद्देश्य पूरा हो जाने पर ऐसा कहते हैं कि प्रभु ने मुझे व्रत-पालन की अनुमति दी। प्रभु के साहाय्य से मैंने व्रतों का पालन किया और मुझे मोक्ष का लाभ हुआ। २. मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **व्रतपाः**=आप व्रतों का पालन करनेवाले हो। वस्तुतः व्रतों का पालन करनेवाला ही आगे बढ़ा करता है। ३. हे प्रभो! **ते**=आपमें रहनेवाले व्यक्ति ही **व्रतपाः** =व्रतों की रक्षा करनेवाले होते हैं। व्रतों को धारण करने से ही प्रभु के अधिक और अधिक समीप होते जाते हैं। **या तव तनूः**=जो तेरा स्वरूप है **एषा सा त्वयि**=यह तुझमें होनेवाला स्वरूप **मयि**=मुझमें **अभूत्** =होता है। **उ**=और **या मम तनूः** =जो मेरा स्वरूप है **इयं सा मयि**=यह मुझमें रहनेवाला रूप **त्वयि अभूत्** =तुझमें होता है। व्रतों के पालन से मैं इस प्रकार ऊपर उठता हूँ कि तुझसे अभिन्न-सा हो जाता हूँ। मैं 'तूं' और तू 'मैं' की स्थिति हो जाती है। ४. हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **यथायथं नौ व्रतानि**=हमारे व्रत बिल्कुल ठीक-ठीक हों। **दीक्षापतिः**=व्रत ग्रहण के पति प्रभु ने **मे दीक्षाम्**=मेरे व्रत ग्रहण की **अन्वमंस्त**=अनुमति दी। उस **तपस्पतिः**=तप के पति प्रभु ने **तपः अन्वमंस्त**=तप की अनुमति दी। इस तप के द्वारा ही मैं व्रतों को पूरा कर पाया हूँ।

भावार्थ—प्रभु 'व्रतपा' है। उनका उपासक मैं भी व्रतपा बनूँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'त्रिविक्रम बनना'=तीन मुख्य व्रतों का धारण करना

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥४१॥

गत मन्त्र में 'मैं व्रतपा बन सकूँ' इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि १. हे **विष्णो**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव! **उरु विक्रमस्व**=खूब पुरुषार्थ कर। **नः क्षयाय**=हमारे निवास के लिए **उरु कृधि**=अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बना। तेरे विशाल हृदय में ही पवित्रता के कारण मेरा निवास होगा। २. हे **घृतयोने**=क्षरण या दीप्तिरूप योनिवाले जीव! **घृतं पिब**=तू घृत का पान कर। तेरे शरीर का स्वास्थ्य मलों के ठीक क्षरण पर निर्भर करता है और तेरे मस्तिष्क के विकास के लिए ज्ञान की दीप्ति का महत्त्व है। ३. इस प्रकार (क) तू हृदय को विशाल बनाता है, (ख) शरीर को निर्मल व स्वस्थ और (ग) मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त। यह त्रिविध उन्नति करके तू तीन कदमों का रखनेवाला 'त्रिविक्रम' बनता है। ४. त्रिविक्रम बनकर तू **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के रक्षक उस प्रभु को **प्रप्रतिर**=अपने में खूब बढ़ा। **स्वाहा**=इस यज्ञपति को अपने में बढ़ाने के लिए तुझे 'स्व' का हा=त्याग करना है। वस्तुतः स्वार्थ की आहुति दे डालना ही यज्ञपति का वर्धन करना है।

भावार्थ—हम हृदयों को विशाल बनाएँ। शरीर को निर्मल, नीरोग तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त। इस प्रकार विष्णु बनकर, व्यापक उन्नति करके उस विष्णु के सच्चे उपासक बनें। ये तीन ही हमारे मुख्य व्रत हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आगे बढ़ जाना

अत्यन्याँ२॥ऽअगां नान्याँ२॥ऽउपागामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥४२॥

१. गत मन्त्र में तीन व्रतों का संकेत है। उन व्रतों का पालन ही 'तीन पदों का विक्रमण' हैं। इन तीन कदमों का रखनेवाला मैं **अन्यान् अति अगाम्**=औरों को लाँघ जाता हूँ। अव्रती पुरुष को व्रती सदा लाँघ जाता है। इसका जीवन उत्कृष्ट होता है। मैं **अन्यान्**=(अविदुषो विरुद्धान्—द०) व्रत-पराङ्मुख मूर्खजनों को **न उपागाम्**=न प्राप्त होऊँ। **परेभ्यः**=(उत्तमेभ्यः) श्रेष्ठ पुरुषों से **त्वा**=तुझे **अर्वाक्**=अन्दर ही **अविदम्**=मैंने जाना है। श्रेष्ठ पुरुषों से मुझे यह ज्ञान हुआ है कि आपका दर्शन तो अन्दर ही होना है। **अवरेभ्यः**=इन अवर आचार्यों से भी मैंने यही जाना है कि आप **परः**=पर हैं (बुद्धेरात्मा महान् परः—गीता) आप वाणी व मन का विषय नहीं हैं—आप वाङ्मनसातीत हैं। अथवा **त्वा**=आपको मैंने **अवरेभ्यः अर्वाक्**=समीपों से भी समीप और **परेभ्यः परः** (इति)=दूर से भी दूर **अविदम्**=जाना है। २. **ते त्वा**=उस आपको हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **वनस्पते**=भक्तों के रक्षक प्रभो! **जुषामहे**=हम प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। हम प्रेम से आपकी उपासना करते हैं। **देवयज्यायै**=(देवानां सङ्गतये—द०) दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हम उपासना करते हैं। **देवाः**=सब विद्वान् लोग **देवयज्यायै**=दिव्य गुणों की सङ्गति के लिए ही **त्वा जुषन्ताम्**=तेरी

उपासना करें। ३. **विष्णवे त्वा**=हे प्रभो! मैं आपको इसलिए उपासित करता हूँ कि आपकी उपासना से मेरा शरीर स्वस्थ होता है, मन निर्मल तथा बुद्धि दीप्त होती है। इन्हीं तीन कदमों को रखकर ही मैं 'त्रिविक्रम विष्णु' बनता हूँ। ३. **ओषधे**=हे दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! **त्रायस्व**=आप मेरा त्राण कीजिए। **स्वधिते**=(स्व= आत्मीय) हे अपनों का धारण करनेवाले प्रभो! **एनम्**=इस अपने भक्त को **मा**=मत **हिंसीः**=हिंसित होने दीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्दर ही हैं। उनकी उपासना से (क) दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। (ख) व्यापक उन्नति हो पाती है। (ग) आसुर आक्रमणों से हमारी रक्षा होती है और (घ) हम प्रभु के आत्मीय बन जाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—यज्ञः। छन्दः—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सहस्रवल्श विरोहण

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव। अयःहि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय। अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयःरुहेम॥४३॥

पिछले मन्त्र में आगे बढ़ जाने की भावना थी। आगे बढ़ जाने के भाव को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि १. **द्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक का **मा लेखीः**=विदारण मत कीजिए। हमारा मस्तिष्क सदा ठीक बना रहे। इसके सोचने की दिशा ग़लत न हो। २. **अन्तरिक्षं मा हिंसीः**=हमारे हृदयान्तरिक्ष को मत हिंसित कीजिए। यह वासनाओं का शिकार न हो जाए। इस हृदयान्तरिक्ष में वासनाओं की आँधियाँ न उठने लगें। ३. तू **पृथिव्या सम्भव**=इस शरीररूप पृथिवी के साथ उत्तमता से सङ्गत हो, अर्थात् हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारा शरीर स्वस्थ हो और हम इस मानवदेह में आपका दर्शन करनेवाले बनें। ४. अगस्त्य की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि **स्वधितिः**=आत्मीयों का धारण करनेवाला **अयम्**=यह मैं **हि**=निश्चय से **तेतिजानः**=तेरे मस्तिष्क को खूब तीक्ष्ण बनाता हुआ **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **प्रणिनाय**=तुझे प्राप्त कराता हूँ। त्रिविध उन्नति का होना ही सर्वमहान् सौभाग्य है। ३. अगस्त्य फिर प्रभु से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे **देव वनस्पते**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! भक्तों के रक्षक! प्रभो! **त्वम्**=आप **अतः**=इस मेरे शरीरादि से **शतवल्शः**=सैकड़ों शाखाओंवाले होकर **विरोह**=बढ़िए (विविधतया प्रादुर्भव—द०) आपको मैं सैकड़ों रूपों में देखूँ। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आपकी विभूति का अनुभव करूँ और आपकी कृपा से **सहस्रवल्शाः वयं विरुहेम**=सहस्रों शाखाओंवाले होकर हम विशेषरूप से बढ़ें। हम अपने जीवनों में अनन्त शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

भावार्थ—हम अपने में प्रभु का प्रादुर्भाव करें और प्रभुकृपा से हमारी शक्तियों का सहस्रशः प्रादुर्भाव हो।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

षष्ठोऽध्यायः

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—सविता। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः[अ], आसुर्युष्णिक्[क], भुरिगार्ष्युष्णिक्[र]।
स्वरः—पञ्चमः[अ], ऋषभः[क,र]॥

पितृ—सदन

[अ]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि।
[क]यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर् [र]दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय
त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥१॥

१. गत अध्याय की समाप्ति 'अगस्त्य ऋषि' के 'सहस्रवल्शः विरोहण' (Manifold evolution) के साथ हुई थी। इस अध्याय का प्रारम्भ उस विरोहण के रहस्य के प्रतिपादन से होता है। अगस्त्य इस सर्वतोमुखी विकास को इसलिए कर पाये कि उन्होंने संसार की प्रत्येक वस्तु का प्रयोग बड़ा ठीक किया। इस प्रयोग में इनके तीन नियम रहे—(क) हे पदार्थ! **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य प्रसवे**=उत्पादक व प्रेरक देव की प्रेरणा के अनुसार, अर्थात् ऋतरूप में—न अधिक न कम—**आददे**=ग्रहण करता हूँ। (ख) **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से ग्रहण करता हूँ—बिना मूल्य के नहीं लेता। (ग) **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् केवल पोषण के दृष्टिकोण से ग्रहण करता हूँ, इसीलिए हे पदार्थ! तू **नारिः**=मुझ नर का हित करनेवाला **असि**=है। २. इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का ठीक प्रयोग करता हुआ मैं सहस्रवल्शः विरोहण वा अनेकविध विकासवाला बनता हूँ और **इदम् अहम्**=यह मैं **रक्षसाम्**=राक्षसों की ग्रीवा को **अपिकृन्तामि**=काट देता हूँ। सब रोगों व बुरी वृत्तियों को विच्छिन्न कर देता हूँ। ३. हे प्रभो! **यवः असि**=आप सब बुराइयों को हमसे दूर करनेवाले हैं। **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **यवय**= पृथक् कीजिए। हे प्रभो! हम **त्वा**=आपके समीप आते हैं **दिवे**=मस्तिष्करूप द्युलोक के विकास के लिए **त्वा**=आपके समीप आते हैं **अन्तरिक्षाय**=हृदयान्तरिक्ष के नैर्मल्य के लिए **त्वा**=हम आपके पास आते हैं, **पृथिव्यै**=शरीररूप पृथिवी के विस्तार के लिए। ४. आपकी कृपा से **लोकाः**=हमारे लोक (मस्तिष्क=द्यौः, मन=अन्तरिक्ष, शरीर=पृथिवी) **शुन्धन्ताम्**=शुद्ध हों। **पितृषदनाः**=हमारे घर ज्ञानियों के सदन बनें, उनमें ज्ञानी पुरुषों का आना-जाना बना रहे। **पितृषदनम् असि**=हे प्रभो! आप ज्ञानियों में ही निवास करनेवाले हैं। मैं भी ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर ज्ञानी बनूँ और अपने को आपका निवासस्थान बना पाऊँ।

भावार्थ—हम प्रत्येक पदार्थ का प्रयोग ठीक करें जिससे नीरोग व निर्मल बनें। द्वेष व अदान से ऊपर उठें। त्रिविध उन्नति करके, ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञानी बनकर प्रभु का निवासस्थान बनें।

ऋषिः—शाकल्यः। देवता—सविता। छन्दः—निचृद्गायत्री[क], स्वराट्पङ्क्तिः[र]। स्वरः—षड्जः[क], पञ्चमः[र]॥

शकलीकरण

[क]अग्रेणीरसि स्वावेशऽउन्नेतॄणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति [र]देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः। द्यामग्रेणास्पृक्षऽआन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृꣳहीः॥२॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु का निवासस्थान बनने' से हुई है। यह अपने को प्रभु का निवासस्थान बनाकर निरन्तर उन्नति करता है। **अग्रेणीः असि**=तू अपने को आगे ले-चलता है। **स्वावेशः**=(शोभनं धर्ममाविशति) उत्तम धर्म को अपने में स्थापित करता है। **उन्नेतॄणाम्**=उत्कर्ष प्राप्त करानेवालों के **एतस्य वित्तात्**=इस उन्नति के मार्ग को तू जान। उन्नति के मार्ग पर चलने पर **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **त्वा** =तेरा **अधिस्थास्यति**=पथ-प्रदर्शन करेगा। प्रभु तेरे अधिष्ठाता होंगे। वे प्रभु तुझे **मध्वा**=माधुर्य से अलंकृत करेंगे। माधुर्य से अलंकृत करने के लिए वे **त्वा**=तुझे **सुपिप्पलाभ्यः**=उत्तम फलवाली **ओषधीभ्यः**= ओषधि-वनस्पतियों के लिए **अनक्तु**=(अञ्च् गम) प्राप्त कराएँ, अर्थात् तू अपने जीवन में इन वनस्पतियों का ही प्रयोग कर, मांस का प्रयोग तुझे क्रूर स्वभाव का बनाएगा। २. इस प्रकार वनस्पति भोजन करता हुआ तू **अग्रेण**=(पुरस्तात्) सबसे पहले तो **द्याम्**=विद्या के प्रकाश को **अस्पृक्षः**=स्पर्श करनेवाला बन, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त कर। इस ज्ञान की प्राप्ति को ही तू अपना प्रथम कर्त्तव्य समझ। ३. **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष का **मध्येन**=सदा मध्य मार्ग पर चलने से **आप्राः**=समन्तात् पूरण कर। सीमाओं से बचता हुआ, अति का वर्जन करता हुआ तू सदा मध्यमार्ग से चल। यह मध्यमार्ग ही हृदय की कमी को दूर करनेवाला है। **'अति सर्वत्र वर्जयेत्'** यह तेरा नियम हो। ४. **उपरेण** (उत्कृष्ट नियमेन—द०)=उत्कृष्ट नियम से अथवा (उपर nearer) सदा प्रभु के समीप निवास से **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **अदृंहीः**=तूने दृढ़ बनाया है। प्रभु से दूर हुए, नियम भूले और शरीर रोगों का घर बना। शरीर के स्वास्थ्य के लिए **"हिताशी स्यात् मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः"** इस नियम को अपनानेवाला व्यक्ति रोगों को खण्डशः करके नष्ट कर देता है—'शकलयति इति शाकल्यः' टुकड़े-टुकड़े कर देता है, अतः 'शाकल्य' कहलाता है। रोगों को ही नहीं, वासनाओं व अज्ञानों को भी तो यह विदीर्ण करता है, अतः इसका 'शाकल्य' नाम यथार्थ है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, प्रभु के अधिष्ठातृत्व में जीवन को मधुर बनाएँ। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का खण्डन करें, मध्यमार्ग पर चलने से वासनाओं का विनाश कर दें, और उत्कृष्ट नियम से रोगों को भगा दें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—विष्णुः। छन्दः—आर्च्युष्णिक्[उ], भुरिगार्च्युष्णिक्[क], निचृत्प्राजापत्याबृहती[र]।
स्वरः—ऋषभः[उ,क], मध्यमः[र]॥

प्रभु के परमपद का दीपन

[उ]या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाऽअयासः। [क]अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि। [र]ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि। ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह॥३॥

१. पिछले मन्त्र में बुराइयों के शकलीकरण—नष्ट करने का उल्लेख है। उन बुराइयों का विदारण करके 'दीर्घतमा'=तमोगुण का विदारण करनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कहता है कि हे प्रभो! **या ते धामानि**=जो आपके तेज हैं, हम उन्हें **गमध्यै**=प्राप्त करना **उश्मसि**=चाहते हैं, **यत्र**=जिन तेजों में **भूरिशृङ्गाः**=(भूरीणि शृङ्गाणि प्रकशा यासु ताः—द०, शृङ्गाणि इति ज्वलतोनामसु—नि० १।१७) अत्यन्त देदीप्यमान **गावः**=रश्मियाँ **अयासः**=प्राप्त हैं, अर्थात् हम आपके उन तेजों को प्राप्त करना चाहते हैं जो तेज ज्ञान की रश्मियों के साथ निवास करते हैं। २. **अत्र**=जहाँ ज्ञान और तेज का समन्वय होता है उस स्थान में, उस जीव में **अह**=निश्चय से **उरुगायस्य**=विशाल गतिवाले व विशाल यशोगानवाले **विष्णोः**=व्यापक प्रभु का **तत् परमं पदम्**=वह उत्कृष्ट पद **भूरि**=खूब **अवभाति**=चमकता है। प्रभु का दर्शन ज्ञान और तेज का समन्वय होने पर ही होता है। ३. प्रभु दीर्घतमा से कहते हैं कि **ब्रह्मवनि**=ज्ञान का विजय करनेवाले **त्वा**=तुझे, **क्षत्रवनि त्वा**=बल का विजय करनेवाले तुझे और **रायस्पोषवनि त्वा**=धन के पोषण के विजेता तुझे **पर्यूहामि**=मैं अपने समीप प्राप्त कराता हूँ। ४. तू अपने जीवन में **ब्रह्म दृंह**=ज्ञान को दृढ़ कर, **क्षत्रं दृंह**=बल को बढ़ा, **आयुः दृंह**=तू अपने जीवन को दृढ़ बना, **प्रजां दृंह**=तू अपने सन्तानों को भी दृढ़ बना। तेरा ज्ञान, बल तो दृढ़ हो ही, तेरा सारा जीवन भी दृढ़ हो। तू अपने मार्ग से विचलित होनेवाला न हो। तेरी सन्तानें भी दृढ़ता से जीवन-पथ का आक्रमण करनेवाली हों। सन्तानों के कारण तेरा जीवन उन्नति-पथ पर चलने से विहत न हो जाए।

भावार्थ—हमारे जीवन प्रभु के तेजों व ज्ञानों को अपनाकर प्रभु के परम पद को दीप्त करनेवाले हों। हम ज्ञान और बल के साथ धन भी प्राप्त करें। अपने ज्ञान, बल, जीवन व सन्तानों को दृढ़ बनाएँ।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृदार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

युज्यः सखा

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥४॥

१. अपने जीवन के मार्ग को निश्चित करने के लिए गत मन्त्र के 'आयुर्दृंह' आदेश के अनुसार अपने जीवन को दृढ़ बनाने के लिए समझदार व्यक्ति प्रभु के कर्मों का विचार करता है और उन्हीं कर्मों को स्वयं करने का व्रत लेता है। यही व्यक्ति मेधातिथि=(मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला है। यह कहता है कि २. **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **कर्माणि**=कर्मों को **पश्यत**=देखो, **यतः**=जिन कर्मों के देखने से ही यह द्रष्टा **व्रतानि**=अपने जीवन-नियमों को **पस्पशे**=(बध्नाति) अपने में बाँधता है, अर्थात् अपने जीवन को भी उन्हीं कर्मों में लगाने का ध्यान करता है। ३. यह **युज्यः**=(युनक्ति सदाचारेण) प्रभु के कर्मों का ध्यान करके अपने को उन कर्मों से जोड़नेवाला सदाचारी ही **इन्द्रस्य**=उस सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु का **सखा**=मित्र बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के कर्मों को देखें। उन्हीं व्रतों से अपने को बाँधें और व्रतों से अपने को जोड़नेवाले हम प्रभु के मित्र बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृदार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-दर्शन

तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जो अपने को प्रभु के समान न्याय्य कर्मों से जोड़ने का प्रयत्न करता है, वही वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता है। इसी प्रकार प्रभुभक्त वही है जो प्रभु के पथ पर चले। विष्णु-भजन तो विष्णु बनकर ही होता है। ये **सूरयः**=(सूरिः स्तोता-नि० ३।१६) वेदज्ञ स्तोता **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **तत् परम् पदम्**=उस सर्वोत्कृष्ट पद को **सदा**=हमेशा **पश्यन्ति**=उसी प्रकार देखते हैं **इव**=जैसे **दिवि**=द्युलोक में **आततं चक्षुः**=इस फैली हुई (व्याप्तिमत्) सूर्यरूप आँख को सामान्य लोग देखा करते हैं। २. जैसे यह सूर्य सबके लिए दृश्य है, ठीक इसी प्रकार सूरि को-सच्चे स्तोता को-प्रभु भी दृश्य होते हैं। प्रभु-जैसा बनकर ये प्रभु के अत्यन्त समीप हो जाते हैं।

भावार्थ-हम सूरि (वेदवित्), ज्ञानी स्तोता बनें और प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय हों। उस समय हम प्रभु का उतना ही स्पष्ट दर्शन कर रहे होंगे जितना कि सूर्य का।

ऋषिः-दीर्घतमाः। देवता-विद्वांसः। छन्दः-आर्ष्युष्णिक्[क], भुरिक्साम्नीबृहती[र]। स्वरः-ऋषभः[क], मध्यमः[र]।।

प्रभु-द्रष्टा का आश्रम

[क]परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परीमं यजमानꣳरायो मनुष्याणाम्।

[र]दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोकऽआरण्यस्ते पशुः॥६॥

गत मन्त्र के प्रभु-दर्शन करनेवाले व्यक्ति के जीवन का प्रस्तुत मन्त्र में चित्रण करते हुए कहते हैं कि हे दीर्घतमाः=प्रभु-दर्शन से सब तमस् को दूर भगानेवाले उपासक! १. **परिवीः असि**=(परितः सर्वाविद्या व्याप्नोति) तू सम्पूर्ण विद्याओं का अपने में व्यापन करनेवाला है। वस्तुतः ज्ञान को ही तू अपना भोजन बनाता है। तू ब्रह्म (ज्ञान का) चारी (चरण= भक्षण करनेवाला) है। २. **त्वा परि**=तुझे चारों ओर से **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ **व्ययन्ताम्**=प्राप्त हों। तू उत्तम वृत्तिवाले लोगों का केन्द्र बन जाए। तेरा निवासस्थान दिव्य प्रजाओं के आश्रम के रूप में परिवर्तित हो जाए। ३. **इमम् यजमानम्**=इस यज्ञ के स्वभाववाले तुझको **मनुष्याणाम् रायः**=मनुष्यों के धन **व्ययन्ताम्**=प्राप्त हों। यह आश्रम उत्तम यज्ञों का केन्द्रस्थान बने और उन यज्ञों की पूर्ति के लिए लोग उदारता से धन देनेवाले हों। ४. ऐसे यज्ञों के अवसरों पर यह प्रभु का सच्चा स्तोता **दिवः सूनुः असि**=प्रकाश का प्रेरक होता है। वह अपने प्रवचनों से उपस्थित जनता के अन्दर ज्ञान का प्रचार करता है। ५. वह ऐसा प्रेम की वृत्तिवाला होता है कि **एषः पृथिव्यां लोकः**=ये पृथिवी पर विचरनेवाले लोग तो **ते**=तेरे होते ही हैं, **आरण्यः पशुः**=जङ्गल के सिंह आदि पशु भी **ते**=तेरे बन जाते हैं। इस प्रभु-द्रष्टा के आश्रम में सब लोक व प्राणी वैरभाव को छोड़कर प्रेमभाव से रहनेवाले होते हैं।

भावार्थ-हम ज्ञानी बनें, उत्तम लोगों के केन्द्र बन पाएँ, हमारा निवासस्थान यज्ञवेदि बन जाए। हम ज्ञान का प्रसार करनेवाले हों। सब लोकों व हिंस्र-पशुओं को भी अपना प्रेम दे सकें।

ऋषिः-मेधातिथिः। देवता-त्वष्टा। छन्दः-निचृदार्षीबृहती। स्वरः-मध्यमः।।

देव-उशिक्-वह्नि

उपावीरस्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्।

देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम्॥७॥

पिछले मन्त्र का प्रभु-द्रष्टा अपने आश्रम में क्या करता है? इस विषय को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि १. **उपावीः असि**=तू अपने को सदा प्रभु के समीप रखता

हुआ अपना अवन (रक्षण) करनेवाला है। वस्तुतः मनुष्य प्रभु से दूर हुआ और किसी-न-किसी वासना का शिकार बना। वासनाओं से बचने के लिए प्रभु के समीप रहना आवश्यक है। २. इस प्रकार के **देवान्**=दिव्य वृत्तिवाले **उशिजः**=मेधावी **वह्नितमान्**=औरों को भी उच्च स्थान पर प्राप्त करनेवाले लोगों के ही **उप**=समीप **दैवीः विशः**=दिव्य वृत्तिवाली प्रजाएँ **प्रागुः**=प्रकर्षेण प्राप्त होती हैं। जिसे औरों का निर्माण करना है, उसे पहले अपना निर्माण तो अवश्य करना ही चाहिए। स्वयं देव बने बिना वह औरों को देव न बना पाएगा। स्वयं ज्ञानी होगा तभी औरों को ज्ञान देगा। अपने को उच्च स्थान में प्राप्त कराके ही यह दूसरों को उस स्थान पर ले-चल सकता है, अतः इसका 'देव, उशिक् व वह्नि' बनना अत्यन्त आवश्यक है। ३. **देव**=हे दिव्य गुणोंवाले! **त्वष्टः**=देवों का निर्माण करनेवाले (देवशिल्पी) अथवा औरों के दुःखों का छेदन करनेवाले **वसु**=(वसु=वसूनि) निवास के लिए आवश्यक धन में ही तू **रम**=आनन्द ले। अधिक धन पतन का कारण बनता है। ४. **हव्या**=हव्य पदार्थ—यज्ञिय सात्त्विक भोजन **ते**=तुझे **स्वदन्ताम्**=स्वाद देनेवाले हों, रुचिकर हों। इस आहार की शुद्धि पर अन्तःकरण की शुद्धि निर्भर है। ५. आहार को शुद्ध करके तथा धन में आसक्त न होकर तू अपनी बुद्धि को स्वस्थ रख सकेगा और बुद्धि का वर्धन करनेवाला अपने 'मेधातिथि' नाम को सार्थक करेगा।

भावार्थ—जो व्यक्ति औरों का भला करना चाहता है उसे स्वयं 'देव, उशिक् (मेधावी) व वह्नि (अपने को ऊँचे स्थान पर ले-जानेवाला)' बनना चाहिए। वह निवास के लिए आवश्यक धन से अधिक धन न चाहे और सात्त्विक भोजनों को ही करे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], भुरिक्प्राजापत्याबृहती[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], मध्यमः[र]॥

बृहस्पति

[क]रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि।
[र]ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः॥८॥

१. पिछले मन्त्र के आश्रम-प्रकरण को ही कहते हुए प्रार्थना करते हैं कि १. **रेवतीः**=हे गौवो! तुम इस आश्रम में **रमध्वम्**=रमण करो। आश्रम की उत्तमता के लिए वहाँ गौवों का होना नितान्त आवश्यक है। (वाग् वै रेवती—श० ३।८।१।१२) गौवों के होने पर वहाँ ज्ञान की वाणियाँ भी रमण करती हैं। इतना ही नहीं (रेवत्यः सर्वाः देवताः—ऐ० २।१६) गौवों के कारण आश्रम में सब देवों का वास होता है। लोगों की वृत्तियाँ दिव्य बनती हैं। २. हे **बृहस्पते**=ब्रह्मणस्पते=वेदवाणी के पति आचार्य! आप आश्रमवासियों में **वसूनि धारय**=उत्तम निवास के कारणभूत ज्ञानों को धारण कीजिए (वसन्ति सुखेन यत्र तद्विज्ञानम् वसु—द०)। आचार्य को इस प्रकार ज्ञान का प्रसार करना है कि उस ज्ञान के प्रसार से लोगों का ऐहिक जीवन उत्तम बने। वे इस संसार को सचमुच निवास के योग्य बना पाएँ। ३. यह बृहस्पति **देवहविः**=देवताओं के लिए देकर यज्ञशेष को खानेवाला है। प्रभु वेद द्वारा इस बृहस्पति को कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **ऋतस्य पाशेन**=ऋत के पाश से **प्रतिमुञ्चामि**=बाँधता हूँ। तेरा जीवन बहुत ही नियमित हो, ऋत से जकड़ा हुआ हो, क्योंकि आश्रम में सभी ने इसी के अनुकरण में अपना जीवन चलाना है। ४. **धर्षा**=तू वासनाओं का धर्षण करनेवाला बन। कोई भी वासना व प्रलोभन तुझे ऋत के मार्ग से विचलित न करे। ५. **मानुषः**=तू मानवमात्र का हित करनेवाला हो। ६. इस प्रकार यह

बृहस्पति अपने जीवन से तम को दूर भगाकर औरों के तम के भी विदारण में लगा है, अतः 'दीर्घतमाः' इस सार्थक नामवाला है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को ऋत के पाश से प्रतिबद्ध करें। हम वासनाओं का धर्षण करनेवाले हों और हमारा प्रत्येक कर्म मानवहित-साधक हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सविता, अश्विनौ, पूषा। छन्दः—प्राजापत्याबृहती[क], पङ्क्तिः[र] याजुषीत्रिष्टुप्[ग]। स्वरः—मध्यमः[क], पञ्चम[र], धैवतः[ग]॥

ऋत का पाश

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। [र]अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥९॥

१. गत मन्त्र में ऋत के पाश से अपने को बाँधने का उल्लेख है। प्रस्तुत मन्त्र में उस ऋत के पाश का वर्णन है। **देवस्य सवितुः प्रसवे**=सवितादेव की अनुज्ञा में मैं **त्वा**=तुझे ग्रहण करता हूँ। मैं प्रत्येक पदार्थ का स्वीकार प्रभु के आदेश के अनुसार करता हूँ। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं वस्तुओं का ग्रहण करता हूँ। ३. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं प्रत्येक वस्तु को लेता हूँ। ४. इस प्रकार इस ऋत के पाश से अपने को बाँधने पर व्यक्ति में अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों का सुन्दर विकास होता है। उसमें तेजस्विता व उत्साह (अग्नि) होते हैं तो उसका जीवन शान्ति (सोम) से भी अलंकृत होता है। प्रभु कहते हैं कि **अग्नीषोमाभ्याम्**=तेजस्विता व शान्ति से **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित तुझे मैं **नियुनज्मि**=अपने प्रतिनिधि के रूप से नियुक्त करता हूँ। लोकहित के कार्यों को करने में तू मेरा निमित्त बनता है। ५. **अद्भ्यः त्वा ओषधीभ्यः**=मैं तुझे जलों व ओषधियों के लिए नियुक्त करता हूँ, अर्थात् पीने के लिए पानी और खाने के लिए वनस्पतियों का ही तू प्रयोग करता है। ६. इस सात्त्विक मार्ग पर चलने के लिए **त्वा**=तुझे **माता**=माता **अनुमन्यताम्**=अनुमति दे **पिता अनु (मन्यताम्)**=पिता भी अनुमति दे, **सगर्भ्यः भ्राता अनु (मन्यताम्)**=सहोदर भाई अनुमति दे **सयूथ्यः सखा**=इकट्ठे मिल-जुलकर खेलनेवाले अपनी पार्टी के साथी **अनु (मन्यताम्)**=अनुमति दें, अर्थात् इस मार्ग पर चलने में ये सब व्यक्ति तेरे सहायक हों। ७. इस प्रकार अनुकूल वातावरण में **अग्नीषोमाभ्याम्**=तेजस्विता व शान्ति से **जुष्टम्**=सेवित **त्वा**=तुझे **प्रोक्षामि**=मैं ज्ञान से सिक्त करता हूँ अथवा लोकहित के कार्य के लिए अभिषिक्त करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने को ऋत के पाश से बाँधकर तेजस्वी व शान्त बनें। जल व वनस्पति ही हमारे सेव्य पदार्थ हों। हम प्रभु के सन्देशवाहक बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—आपः। छन्दः—प्राजापत्याबृहती[क], विराडार्षीबृहती[र]। स्वरः—मध्यमः॥

अपां पेरु

[क]अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवहविः।
[र]सं ते प्राणो वातेन गच्छतांᳪ समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा॥१०॥

१. पिछले मन्त्र में यह भावना थी कि हम अपने को ऋत के पाश से बाँधते हैं—तेजस्वी व शान्त बनते हैं। ऋत के पाश से अपने को बाँधनेवाला ही प्रस्तुत मन्त्र के

अनुसार **अपां पेरुः असि**=वीर्य का रक्षक है (आपः रेतो भूत्वा०)। 'आपः' शब्द रेतस् का वाचक है। जीवन के व्रती होने पर और भोजन के सात्त्विक होने पर शरीर में सोम का धारण सुगम होता है। यह 'मेधातिथि'=समझदारी से चलनेवाला व्यक्ति सबसे अधिक महत्त्व इसी बात को देता है कि वह 'अपां पेरु'—वीर्य का रक्षक हो। २. इसी उद्देश्य से प्रभु मेधातिथि से कहते हैं कि **आपः देवीः स्वदन्तु**=ये दिव्य गुणवाले जल तेरे लिए स्वादिष्ट हों। **सत्**=उत्तम **देवहविः**=देवों द्वारा खाये जानेवाले हव्य पदार्थ **चित्**=ही **स्वात्तम्**= (आस्वादितम्—म०) तेरे से स्वाद लिये जाएँ, अर्थात् तू सात्त्विक वानस्पतिक भोजनों को ही खानेवाला बन। ३. इस प्रकार जलों व वानस्पतिक भोजनों के सेवन से **ते प्राणः**=तेरा यह प्राण **वातेन**=वायु से **सङ्गच्छताम्**= सङ्गत हो। 'वातः प्राणो भूत्वा०' वायु ही प्राण का रूप धारण करके शरीर में रहती है। तेरे शरीरस्थ प्राणों का इस वायु से सङ्गमन (मेल) हो, विरोध न हो। वायु तेरे अनुकूल हो और यह वायु तुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार कर दे। ४. **अङ्गानि**=तेरे सब अङ्ग **यजत्रैः**=यज्ञों द्वारा त्राण करनेवाले देवों के साथ **सम्** (गच्छन्ताम्)= सङ्गत हों, अर्थात् तेरे सब अङ्गों में दिव्यता का सञ्चार हो। ५. और यह प्राणशक्ति सम्पन्न दिव्यतापूर्ण अङ्गोंवाला **यज्ञपतिः**=यज्ञ का पालक 'मेधातिथि' **सम् आशिषा**=शुभ इच्छाओं से सङ्गत हो, सदा उत्तम इच्छाओंवाला हो।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षा के लिए खान-पान को सात्त्विक बनाएँ। हमारी प्राणशक्ति ठीक हो, हमारे सब अङ्ग दिव्यतापूर्ण हों। हमारी इच्छाएँ उत्तम हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—वातः। छन्दः—भुरिगार्ष्युष्णिक्[क,र], स्वाराडार्च्युष्णिक्[उ]। स्वरः—ऋषभः॥

पति-पत्नी का यज्ञमय जीवन

[क]घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाꣳ रेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश।

[र]उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव।

[उ]वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥११॥

पिछले मन्त्र में 'वीर्यरक्षा' का प्रकरण था। 'उस मन्त्र के अनुसार खान-पान सात्त्विक होने पर पति-पत्नी का जीवन कैसा बनेगा?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है। १. **घृतेन आक्तौ**=तुम दोनों शरीर में मल-क्षरण से और मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति से अलंकृत होते हो। २. **पशून् त्रायेथाम्**=अपने दीप्त मस्तिष्कवाले स्वस्थ शरीरों में तुम काम-क्रोध आदि पशुओं की रक्षा करो—इनको क़ाबू में रक्खो। ठीक उसी प्रकार जैसे चिड़ियाघर में शेर-चीते आदि को बन्धन में रखते हैं। (कामः पशुः, क्रोधः पशुः)। वस्तुतः वीर्यरक्षा का यह स्वाभाविक परिणाम है कि मनुष्य काम-क्रोधादि का शिकार नहीं होता। ३. यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **रेवति यजमाने**=धन-सम्पन्न यज्ञशील व्यक्तियों में **प्रियं धाः**=तृप्ति व शान्ति को स्थापित कीजिए। आप **आविश** =हमारे हृदयों में प्रविष्ट होओ, अर्थात् आपकी कृपा से हम संसार-यात्रा के लिए आवश्यक धन से युक्त हों और यज्ञशील बनें। हम आपके निवासस्थान बन पाएँ। हमारा हृदय आपका मन्दिर हो। ४. **उरोः अन्तरिक्षात्**=इस विशाल हृदयान्तरिक्ष से **त्मना**=स्वयं **यज**=हमें सङ्गत कीजिए। हम अपने हृदय को आपकी कृपा होने पर ही विशाल बना पाएँगे। ५. प्रभु कहते हैं कि **देवेन वातेन**=दिव्य वायु के हेतु से **अस्य हविषः**=इस हव्य पदार्थ का **सजूः**=बड़े प्रेमवाला होकर **यज**=यजन कर। यह यज्ञशीलता जहाँ वायु को शुद्ध करेगी वहाँ तेरे हृदय में प्राणिमात्र के लिए प्रेम की भावना पैदा करेगी। तेरे हृदय को यही विशाल बनाएगी। **अस्य** (हेतोः)=इस यज्ञ के द्वारा ही तू

तन्वा=शरीर से **सम्भव**=फूल-फल। तेरा शरीर सब प्रकार से उन्नत हो। ६. प्रभु के इस आदेश को सुनकर मेधातिथि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **वर्षो**=हे यज्ञिय कर्म से सब सुखों के वर्षक प्रभो! आप मुझ **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक को **वर्षीयसि यज्ञे**=सब सुखों के वर्षक उत्कृष्ट यज्ञ में **धाः**=स्थापित कीजिए। मैं **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **स्वाहा**=उत्तम आहुति देनेवाला होऊँ और **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करनेवाला बनूँ। वस्तुतः यज्ञ से वायु आदि देवताओं की शुद्धि होती है और मनुष्य को दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है, क्योंकि यज्ञ का मूल ही स्वार्थत्याग है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्, भुरिगासुर्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दिव्य गुण

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि।
घृतस्य कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु॥१२॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति दिव्य गुणों को प्राप्त करने की प्रार्थना पर थी। उन्हीं दिव्य गुणों का संकेत प्रस्तुत मन्त्र में दिया गया है। विद्वान् आचार्य मेधातिथि (समझदार) को आदेश देते हैं कि १. **अहिः मा भूः**=तू साँप मत बन। तुझमें सर्पवत् कुटिलता न हो। तू औरों को डसनेवाला, कटु शब्दों से उनके मन, हृदय को विद्ध करनेवाला न हो। २. **मा पृदाकुः**=तू अजगर न हो, औरों को निगल जानेवाला न हो। औरों की सम्पत्ति को तूने हड़प नहीं लेना। ३. **नमः ते**=इस प्रकार उत्तम जीवनवाले तेरे लिए आदर हो। सभी लोगों का तू हृदय से आदरणीय बन। ४. **आतान**=तू अपनी सब शक्तियों का सदा विस्तार कर। ५. परन्तु **अनर्वा**=तू किसी की हिंसा करनेवाला न हो। तेरी शक्तियाँ परि-रक्षण के लिए हों, पर-पीड़न के लिए नहीं। ६. **प्रेहि**=तू निरन्तर आगे बढ़ ७. **घृतस्य कुल्या उप**=ज्ञान की नहरों के समीप पहुँच और ८. **ऋतस्य पथ्या अनु**=ऋत के मार्गों के साथ तू आगे बढ़, अर्थात् आगे बढ़ने व उन्नति का स्वरूप यही है कि मनुष्य ज्ञान की धाराओं के समीप पहुँचता जाए और सूर्य-चन्द्रमा की गति के अनुसार अपने जीवन-मार्ग पर बड़े नियम से चले।

भावार्थ—वेद के दृष्टिकोण में दिव्य जीवन यह है १. कुटिलता का सर्वथा त्याग २. चुभनेवाली बातें न करना, कटु न बोलना ३. औरों की सम्पत्ति को न हड़पना ४. अपना जीवन आदरणीय बनाना ५. हिंसा न करना ६. निरन्तर आगे बढ़ना ७. ज्ञान प्राप्त करना और ८. नियमित जीवन बिताना।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

आचार्य

देवीरापः शुद्धा वोड्ढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु
सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म॥१३॥

दिव्य जीवन बनाने के लिए माता-पिता आचार्यों से प्रार्थना करते हैं कि १. **देवीः**=ज्ञान की ज्योति से चमकनेवाले **आपः**=रेतस् के पुञ्ज (आपः रेतस्) अथवा आप्त **शुद्धाः**=शुद्ध मनोवृत्तिवाले आचार्यो! **वोड्ढ्वम्**=('वह' प्रापणे='नी' उपनयन) आप इन विद्यार्थियों को अपने समीप लाइए, उनका उपनयन कीजिए। वेद के **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं**

कृणुते गर्भमन्तः' इन शब्दों के अनुसार उन्हें अपने गर्भ में धारण कीजिए। माता जैसे गर्भस्थ बालक की रक्षा करती है आप उसी प्रकार इन विद्यार्थियों के सदाचार आदि की रक्षा कीजिए। २. ये विद्यार्थी **सुपरिविष्टाः**=सुपरिविष्ट हों, अर्थात् इन्हें आपके द्वारा ज्ञान का भोजन उत्तमता से परोसा जाए। '**ब्रह्मचर्य**' शब्द में भी ज्ञान के भक्षण की भावना है। ३. **देवेषु**=विद्वान् आचार्यों के समीप **सुपरिविष्टाः**=खूब उत्तमता से परोसे हुए ज्ञान को, अर्थात् आचार्यों के समीप रहकर सब प्राकृतिक देवों से सम्बन्धित ज्ञान को प्राप्त करनेवाले **वयम्**=हम **परिवेष्टारः**=इस ज्ञान के भोजन के परोसनेवाले **भूयास्म**=बनें। ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को औरों तक पहुँचानेवाले बनें।

भावार्थ—राष्ट्र में आचार्य दिव्य ज्योतिवाले, शक्तिसम्पन्न व शुद्ध वृत्तिवाले हों। इनके समीप रहकर विद्यार्थी ज्ञान का भोजन प्राप्त करें और स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान का सर्वत्र प्रसार करनेवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—भुरिगार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

शोधन

वाचं॑ ते शुन्धामि प्रा॒णं ते॑ शुन्धामि॒ चक्षु॑स्ते शुन्धामि॒ श्रोत्रं॑ ते शुन्धामि॒ नाभिं॑ ते शुन्धामि॒ मेढ्रं॑ ते शुन्धामि पा॒युं ते॑ शुन्धामि च॒रित्राँ॑स्ते शुन्धामि॥१४॥

'आचार्य विद्यार्थी के जीवन का किस प्रकार शोधन करता है?' इस विषय को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **ते वाचं शुन्धामि**=(आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि) मैं तेरी वाणी को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू इस वाणी को असत्यभाषण से अपवित्र करनेवाला न हो। तेरी वाणी सत्य से सदा पवित्र बनी रहे। २. **ते प्राणं शुन्धामि**=मैं तेरी घ्राणेन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू घ्राणेन्द्रिय से कृत्रिम गन्धों के प्रति आसक्त न हो जाए। ३. **ते चक्षुः शुन्धामि**=तेरी आँख को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू पवित्र दृष्टि से देखनेवाला बने। स्त्रियों में मातृभावना, परद्रव्यों में लोष्ठभावना, सर्वप्राणियों में आत्मभावना से तू देखनेवाला हो। हिमाच्छादित पर्वतों, समुद्रों, विशाल पृथिवी व आकाश के तारों में तू प्रभु की महिमा को देखे। ४. **ते श्रोत्रं शुन्धामि**=तेरे कान को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू इन कानों से अभद्र बातों को न सुनता रहे। तुझे निन्दा की बातें सुनने में स्वाद न आये। ५. **नाभिं ते शुन्धामि**=मैं तेरी नाभि को पवित्र करता हूँ, जिससे तेरा जीवन संयम के बन्धन में बँधकर चले। ६. **ते मेढ्रं शुन्धामि**=तेरी उपस्थेन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे तू ब्रह्मचर्य का जीवन बिताते हुए मूत्र-सम्बन्धी सब रोगों से बचा रहे। ७. **ते पायुं शुन्धामि**=तेरी मलशोधक इन्द्रिय को शुद्ध करता हूँ, जिससे ठीक मल-शोधन होते रहकर तू रोगों से बचा रहे। ८. **ते चरित्रान् शुन्धामि**=तेरे पाँवों को शुद्ध करता हूँ, जिससे तेरे चरित्र (चाल-ढाल) सदा ठीक बने रहें।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी के जीवन को परिशुद्ध कर डालता है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], आर्षीपंक्तिः[र]। **स्वरः**—धैवतः, पञ्चमः॥

आप्यायन

[क]मन॑स्त॒ऽआप्या॑यतां॒ वाक् त॒ऽआप्या॑यतां प्रा॒णस्त॒ऽआप्या॑यतां॒ चक्षु॑स्त॒ऽआप्या॑यता॒ᳬ श्रोत्रं॑ त॒ऽआप्या॑यताम्। [र]यत्ते॑ क्रू॒रं यदास्थि॑तं॒ तत्त॒ऽआप्या॑यतां॒ निष्ट्या॑यतां॒ तत्ते॑ शुध्यतु॒ शमहो॑भ्यः। ओष॑धे॒ त्राय॑स्व॒ स्वधि॑ते॒ मैनꣳ॑ हिꣳसीः॥१५॥

गत मन्त्र के 'शोधन' के बाद प्रस्तुत मन्त्र में 'आप्यायन' का वर्णन आता है। आचार्य विद्यार्थी से कहता है कि १. **ते मनः आप्यायताम्**=तेरा मन बढ़े। तेरे मन में सदा उत्साह का सञ्चार हो। निराशा तेरे मनःप्रसाद में किसी प्रकार की कमी को न आने दे। २. **ते वाक् आप्यायताम्**=तेरी वाणी आप्यायित हो—यह सदा सत्य बोलने के कारण 'क्रियाफलाश्रित' हो, अर्थात् जैसा तेरी वाणी से निकले वैसा ही हो जाए। ३. **ते प्राणः आप्यायताम्**=तेरे प्राण आप्यायित हों। तेरी घ्राणेन्द्रिय की शक्ति बढ़े। तू सूँघने के द्वारा ही 'सगन्धत्व' को, बन्धुत्व को, पहचाननेवाला हो। ४. **ते चक्षुः आप्यायताम्**=तेरी दृष्टिशक्ति आप्यायित हो। तू दूर तक देख सके, सूक्ष्म वस्तु को भी तेरी आँख देखने में समर्थ हो। ५. **श्रोत्रं ते आप्यायताम्**=तेरी श्रवणशक्ति विकसित हो। तू सूक्ष्म शब्दों को भी सुनने में समर्थ हो। ६. **यत् ते क्रूरम्**=जो कुछ भी तेरा भयंकर कर्म व स्वभाव है **तत् ते**=वह तेरा **निष्ट्यायताम्**=तुझसे दूर हो जाए, **तत् ते शुध्यतु**=वह तेरा शुद्ध हो जाए। तेरे उस स्वभाव का शोधन होकर क्रूरता दूर हो जाए। **यत्**=जो **आस्थितम्**=तेरी स्थिरता व दृढ़ता है, वह **आप्यायताम्** =आप्यायित हो, अर्थात् तुझमें क्रूरता तो न हो, परन्तु मोहमयी मृदुता भी न हो, तेरे स्वभाव में कुछ दृढ़ता बनी रहे। ७. इस क्रूरता के न होने और स्थिरता के होने से **अहोभ्यः शम्**=तेरे दिनों के लिए शान्ति हो, अर्थात् तू शान्तिपूर्वक दिनों को बितानेवाला बन। ८. **ओषधे**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्य! **त्रायस्व**=तू विद्यार्थी की रक्षा कर, उसे किन्हीं भी असदाचरणों में गिरने से बचा। ९. **स्वधिते**=आत्मीयों का धारण करनेवाले तथा आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले! तू **एनम्**=इस अपने शिष्य को **मा हिंसीः**=मत हिंसित होने दे।

भावार्थ—आचार्य-कृपा से विद्यार्थी के सब अङ्गों का आप्यायन हो। उसका स्वभाव उत्तम हो। वह वासनाओं का शिकार न हो जाए।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्[क, र]। स्वरः—ऋषभः॥

रक्षो बाधन

[क]रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳरक्षऽइदमहꣳरक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳरक्षोऽधमं तमो नयामि। [र]घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृतेऽऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्॥१६॥

१. अपने सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों का आप्यायन करके हे मेधातिथि! तू **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तियों का **भागः**=दूर भगानेवाला (भज्=put to flight) **असि**=है। **रक्षः**=सब रोगकृमि **निरस्तम्**=दूर फेंक दिये गये हैं। **इदम्**=यह **अहम्**=मैं **रक्षः**=इन राक्षसी वृत्तियों का **अभितिष्ठामि**=मुक़ाबला करता हूँ। **इदम् अहम्**=यह मैं **रक्षः**=इन रोगकृमियों को **अधमं तमः नयामि**=सबसे निकृष्ट अन्धकारमय स्थान में पहुँचाता हूँ, अपने से दूर अदृश्य स्थान में धकेल देता हूँ। २. इस प्रकार राक्षसी वृत्तियों व रोगकृमियों को दूर करके **द्यावापृथिवी**=(द्यौरहं पृथिवी त्वम्) पति-पत्नी दोनों ही **घृतेन**=मलक्षरण द्वारा शरीर के स्वास्थ्य से और ज्ञान की दीप्ति से **प्रोर्णुवाथाम्**=अपने को आच्छादित करते हैं। ३. हे **वायो**=गति के द्वारा अपनी सब बुराइयों को समाप्त करनेवाले! तू **स्तोकानाम्**=छोटी-छोटी बातों का भी **वेः**=जाननेवाला हो (वेः=विद्धि—द०)। यदि हम छोटी-छोटी ग़लतियों को अपने अन्दर न आने देंगे, तभी वास्तविक उत्थान होगा। ४. **अग्निः**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व्यक्ति **आज्यस्य**=(आज्यं वै तेजः)

तेज को **वेतु**=प्राप्त करें। ५. **स्वाहा**=इन सब बातों के लिए वह स्वार्थत्याग करे। ६. और हे **स्वाहाकृते**=स्वार्थत्याग करनेवाले पति-पत्नियो ! **ऊर्ध्वनभसम्**=उत्कृष्ट हिंसावाले **मारुतम्**=रश्मि-समूह को **गच्छतम्**=प्राप्त होवो। ज्ञान की रश्मियों का समूह वासनाओं का विनाश करता है। यह वासना-विनाश ही उत्कृष्ट हिंसा है। (नभ् हिंसायाम्)।

भावार्थ—हम रोगकृमियों व राक्षसी वृत्तियों को अपने से दूर कर दें। पति-पत्नी दोनों ही स्वस्थ व ज्ञानी बनें। छोटी-छोटी कमियों का ध्यान करके उन्हें दूर करें। स्वार्थत्याग करनेवाले ये पति-पत्नी उस ज्ञान रश्मिसमूह को प्राप्त करें जो उनकी वासनाओं के अन्धकार का विनाश करे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—आपः। छन्दः—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पाप-मोचन

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्। यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपेऽअभीरुणम्। आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु॥१७॥

गत मन्त्र का 'मेधातिथि' ज्ञान-रश्मिसमूह से वासनान्धकार का विदारण करके अब 'दीर्घतमा' बन गया है और प्रार्थना करता है कि—१. **आपः**=(आप्नुवन्ति सर्वा विद्या): हे सब विद्याओं को प्राप्त करानेवाले आप्त पुरुषो! आप **इदम्**=इस **अवद्यं च**=अकथनीय-गर्हणीय पापों को **मलं च**=और मलों को **प्रवहत**=हमसे बहाकर दूर ले-जाओ। आपकी कृपा से मेरे ज्ञानचक्षु इस प्रकार खुलें कि मैं कोई भी बुरा कर्म न करूँ और खान-पान को ठीक रखता हुआ शरीर में किसी प्रकार के मल का सञ्चय न होने दूँ। २. **च**=और **यत्**=जो **अभिदुद्रोह**=मैं किसी का द्रोह (जिघांसा=मारने की इच्छा) करता हूँ, **यत् च**=और जो **अनृतम्**=झूठ-मूठ बातों को बनाता हूँ तथा **अभीरुणम्**=(अनपराधिनं) निष्पाप और निर्भय व्यक्ति से **शेपे**=गाली-गलौच करता हूँ **तस्मात् एनसः**=उस पाप से **आपः**=ज्ञानी लोक तथा **पवमानः च**=अपने को पवित्र करनेवाले सन्त लोग **मुञ्चतु**=अपने ज्ञानोपदेश व मधुर प्रेरणा के द्वारा मुक्त करें।

भावार्थ—सबसे बड़े पाप यही हैं कि (क) किसी से द्रोह करना (ख) अनृत बोलना (ग) निष्पाप को कोसना। ज्ञानी, पवित्रात्मा लोग हमें इन पापों से छुड़ाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], दैवीपङ्क्तिः[र]आर्चीपङ्क्तिः[उ]। स्वरः—गान्धारः[क], पञ्चमः[र,उ]॥

मन व प्राण

[क]सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। [र]रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्याऽऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः॥१८॥

पिछले मन्त्र के अनुसार जब 'दीर्घतमा' पापमुक्त होता है तब प्रभु उससे कहते हैं कि १. **ते**=तेरा **मनः**=मन **मनसा**=मननशक्ति से **सङ्गच्छताम्**=सङ्गत हो और **प्राणः**=जीवन **प्राणेन**=जीवनीशक्ति से **सङ्गच्छताम्** =सङ्गत हो, अर्थात् तुझमें ऋषियों की मननशक्ति हो और मल्लों की जीवनी शक्ति हो। तेरे 'क्षत्र व ब्रह्म' दोनों ही खूब विकसित हों। २. **रेट् असि**=(रिष हिंसायाम्) तू ज्ञान-प्राप्ति में विघ्नभूत कामादि वासनाओं का संहार करनेवाला है और रोगों के कारणभूत स्वादादि को समाप्त करनेवाला है। ३. **अग्निः**=ज्ञानाग्नि **त्वा**

श्रीणातु=तुझे परिपक्व करे, अर्थात् ज्ञानाग्नि के कारण तेरे विचार इतने परिपक्व हों कि वे धर्म के मार्ग से कभी विचलित न हों। ४. **आपः**=विद्याओं को व्याप्त करनेवाले ज्ञानी लोक **त्वा**=तुझे **समरिणन्**=उत्तम गतिवाला करें (रिणतिः गतिकर्मसु)। अथवा जल तेरे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों व ग्रन्थियों को ठीक गतिवाला करें। ५. **त्वा**=तुझे **वातस्य**=वायु की **ध्राज्यै**=तीव्र गति के लिए **ऊष्मणः**=तेज़ी से-क्रोध में आ जाने से **व्यथिषत्**=भयभीत कर दूर भगा दे, अर्थात् क्रोध से तू डरे और इस क्रोध से सदा बचे रहकर वायु की तरह अपने कर्मों में तू लगा रहे। ६. **पूष्णः**=पोषण के देवता सूर्य की **रंह्यै**=गति के लिए, अर्थात् सूर्य के समान नियमित कार्यक्रम में लगे रहने के लिए **द्वेषः**=द्वेष से **प्रयुतम्**=दूर करें (यु=अमिश्रण)। मनुष्य जब द्वेष की भावना से युक्त होता है तब सूर्य के समान निर्लेप नहीं हो पाता। मनुष्य द्वेष से ऊपर उठकर ही न्याय-मार्ग पर चल पाता है।

भावार्थ—मेरे मन व प्राण बलिष्ठ हों। मुझे क्रोध व द्वेष न छूएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

घृत व वसा का पान

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा। दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा॥१९॥

पिछले मन्त्र की भावना को ही शब्दान्तर से कहते हैं कि १. **घृतपावानः**=घृत अर्थात् मल-क्षरण का पान करनेवालो! **घृतं पिबत**=मल-क्षरण का पान करो। शरीर से मल-क्षरण का पूरी तरह से ध्यान करो। शरीर में मलों का सञ्चय न होगा तभी तुम स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकोगे। प्राणशक्ति की वृद्धि का एकमात्र मार्ग यही है। २. **वसापावानः**=(वसा=brain=दिमाग़) दिमाग़ की रक्षा करनेवालो! **वसां पिबत**=मस्तिष्क का पान करो, अर्थात् मस्तिष्क की सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न करो, तभी तो पूरी मननशक्ति से सङ्गत होओगे। ३. तू **अन्तरिक्षस्य**=हृदयान्तरिक्ष का **हविः**=हवि **असि**=है। हवि का अभिप्राय 'दानपूर्वक अदन करना है'। तेरे हृदय में यह भावना सदा बनी रहती है। यही त्यागपूर्वक भोग है—यज्ञशेष 'अमृत' का सेवन है। **स्वाहा**=तू इसके लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। स्वार्थत्याग से ही हविर्मय जीवन बनेगा। ४. तेरा शरीर घृत=मल-क्षरण से स्वास्थ्य की दीप्तिवाला हुआ है, मस्तिष्क वसा=दिमाग़ी ताकत की रक्षा से मनन की शक्ति से परिपूर्ण हुआ है और हृदय त्याग की भावनावाला होकर हविरूप हो गया है। इस प्रकार तूने सर्वतोमुखी उन्नति का साधन किया है। **दिशः-प्रदिशः-आदिशः-विदिशः-उद्दिशः-दिग्भ्यः**=पूर्वादि सब दिशाओं तथा ऊपर-नीचे इस प्रकार छह-की-छह ओर से **स्वाहा**=(सु+आ+हा) सब ओर युद्ध-क्रिया से शत्रुओं का खूब संहार किया है (युद्धानुरूप क्रिया से शत्रुओं को जीता है—द०)। जीव पर छह दिशाओं से छह शत्रु महारथियों का आक्रमण होता है। जीव को इन सब महारथियों का पराजय करके 'विश्वेदेवाः' सब दिव्य गुणों को प्राप्त करना है।

भावार्थ—हम स्वास्थ्य व मस्तिष्क की रक्षा करें। हृदय को त्याग की भावना से परिपूर्ण करें और छह दिशाओं से आक्रमणकारी छह शत्रु महारथियों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) पर विजय प्राप्त करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रतिकूल की अनुकूलता

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः।
देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति।
देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु॥२०॥

पिछले मन्त्र के अनुसार सब शत्रुओं का संहार कर देने से १. **ऐन्द्रः प्राणः**=जीव की प्राणशक्ति **अङ्गे अङ्गे**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में **निदीध्यत्**=चमकती है। **ऐन्द्रः उदानः**=यह जीव-सम्बन्धी उदानशक्ति भी **अङ्गे अङ्गे** =प्रत्येक अङ्ग में **निधीतः**=(निहितः) निहित हुई है। प्राणशक्ति स्वास्थ्य का कारण बनती है तो उदानशक्ति ज्ञानवृद्धि के द्वारा सब प्रकार के उत्थान का कारण होती है। २. हे **देव**=दिव्य गुणसम्पन्न! **त्वष्टः**=शक्ति व ज्ञान के द्वारा सब उत्तमताओं का निर्माण करनेवाले! **ते**=तुझे **भूरि**=(भृ=धारणपोषण) धारणपोषण के सब तत्त्व **सम् सम् एतु**=उत्तमता से प्राप्त हों। **यत्**=जो **विषुरूपम्**=प्रतिकूलता हो वह **सलक्ष्मा**=अनुकूलता में परिणत **भवाति**=हो जाती है। प्राणोदान शक्ति के ठीक होने पर किसी तत्त्व की प्रतिकूलता का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ये प्राणोदान सबको अनुकूल कर लेते हैं। ३. सबको अनुकूल बनाकर **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **देवत्रा यन्तम्**=दिव्य गुणों की ओर जाते हुए **त्वा अनु**=तुझे देखकर **सखायः**=सब सखा व **माता पितरः**=माता-पिता **मदन्तु**=हर्ष का अनुभव करें। तुम्हें उन्नतिपथ पर जाते देखकर सबको प्रसन्नता हो।

भावार्थ—प्राण एवं उदान को सिद्ध करके हम जीवन का निर्माण करें। दिव्य गुणों की ओर बढ़ें। हमारे जीवन को देखकर मित्रों व पिता-माता को प्रसन्नता हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सेनापतिः। छन्दः—साम्नी[क] ब्राह्मी[ख] भुरिगार्षी[ग] आर्ष्युष्णिक[र]। स्वरः—ऋषभः॥

ग्यारह दिव्य गुण

[क]समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा [ख]देवꣳसवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाऽहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा [ग]यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा [र]मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा॥२१॥

पिछले मन्त्र में 'देवत्रा यन्तम्' दिव्य गुणों की ओर जानेवाले का उल्लेख था। वे दिव्य गुण ही प्रस्तुत मन्त्र में प्रतिपादित हो रहे हैं। १. **स्वाहा** (स्वाहा=वाक्—नि० १।११) वेदवाणी के द्वारा **समुद्रं गच्छ**=समुद्र को जा। समुद्र गम्भीरता का प्रतीक है। वेदवाणी व ज्ञान की वाणियों के पढ़ने का जीवन पर पहला परिणाम यह है कि मनुष्य की मनोवृत्ति गम्भीरता को लिये हुए होती है। वह उथला नहीं होता। इस गम्भीरता का अभिप्राय किसी प्रकार भी उदास व मुस्कराहट से शून्य चेहरे से नहीं है। यह व्यक्ति **स-मुद्रः**=सदा प्रसन्न होता है। मनःप्रसाद इसकी दृष्टि में सर्वोच्च तप है। २. **स्वाहा**=इस वेदवाणी के द्वारा **अन्तरिक्षं गच्छ** =अन्तरिक्ष को प्राप्त हो। 'अन्तरिक्ष' मध्यमार्ग का प्रतीक है। अन्तरा क्षि=बीच में चलना। अन्तरिक्ष भी द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच में है। अति में न जाकर सदा

मध्य में रहना। अतिभोजन न करना, उपवास में भी अति न कर जाना। ३. **देवं सवितारं गच्छ स्वाहा**=तू वाणी के द्वारा जीवन को प्रकाश देनेवाले सूर्य को प्राप्त हो। सूर्य को प्राप्त होने का अभिप्राय 'तेजसा सूर्यसंकाशः' इन शब्दों में स्पष्ट है—तू सूर्यदेव के समान तेजस्वी बन। ज्ञान भोगों से हटाता है तो तेजस्वी भी बनाता है। ४. **मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा**=वेदवाणी के द्वारा तू मित्रावरुण को प्राप्त करनेवाला हो। 'मित्र' स्नेह की देवता है तो 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है। ज्ञानी बनकर सब 'प्रभु के ही पुत्र हैं' ऐसा समझनेवाला द्वेष कर ही नहीं सकता। वह सबसे प्रेम करेगा ही। ५. **अहोरात्रे गच्छ स्वाहा**=इन ज्ञान की वाणियों से तू अहन् व रात्रि को प्राप्त हो। अहन् 'दिन' है—यह न हनन करने योग्य है। ज्ञानी पुरुष दिन के एक क्षण को भी अकर्मण्यता में नहीं बिताता। इसी का परिणाम है कि रात्रि इसके लिए रमयित्री होती है। इसमें कार्यों का विराम करके वह वस्तुतः निद्रा में रमण करनेवाला होता है—सुख की नींद सोता है। ६. **स्वाहा**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा तू **छन्दांसि गच्छ**=(छन्दांसि छादनात्) छन्दों को प्राप्त हो—तेरे पापों का छादन हो। ये ज्ञान की वाणियाँ तुझे पापों के आक्रमण से बचानेवाली हों। ७. **स्वाहा**=इस वेदवाणी के द्वारा तू **द्यावापृथिवी गच्छ**=द्यावापृथिवी को प्राप्त कर। तेरा मस्तिष्करूप द्युलोक द्युतिमय हो। तेरा पृथिवीरूप शरीर प्रथन=विस्तारवाला हो। ८. **यज्ञं गच्छ स्वाहा**=तू इस वेदवाणी से यज्ञ को प्राप्त हो। तेरा जीवन यज्ञिय हो। ज्ञान को प्राप्त करके 'मनुष्य स्वार्थी बना रहे' यह नहीं हो सकता। ९. **स्वाहा**=इस ज्ञान की वाणी के अध्ययन से तू **सोमं गच्छ**=सोम को प्राप्त हो। शरीर में वीर्य की रक्षा करनेवाला बन। १०. इस सोमरक्षा से जहाँ तू **स्वाहा**=वेदवाणी का अध्ययन करता हुआ **दिव्यं नभः**=प्रकाशमय द्युलोक को **गच्छ**=प्राप्त हो, वहाँ ११. **स्वाहा**=इस ज्ञान की वाणी के द्वारा **वैश्वानरं अग्निम्**=वैश्वानर अग्नि को, अर्थात् पाचनशक्ति को **गच्छ**=प्राप्त हो। यह ज्ञान तुझे अतिभोजन व असंयमादि दोषों से बचाकर सदा दीप्त अग्निवाला बनाएगा। जब तक तेरी अग्नि दीप्त है तब तक तेरा शरीर सर्वथा स्वस्थ ही रहेगा। १२. इस स्वस्थ शरीर में, प्रभु दीर्घतमा से कहते हैं कि **मे**=मेरे दिये हुए **मनः** =इस मन को **हार्दि**=हृदय (heart) में **यच्छ**=तू नियन्त्रित करनेवाला बन। मन 'हृत् प्रतिष्ठ' है। यह जब कभी स्थिर होगा तो हृदय में ही स्थिर होगा, क्योंकि वहाँ प्रभु का निवास है और इस प्रभु में एक बार उलझा हुआ मन न उसके ओर-छोर को पा सकता है और न फिर वहाँ से निकल सकता है। मन का स्वभाव ही यह है कि किसी भी वस्तु को चारों ओर से देखकर फिर उससे ऊब जाता है और अन्यत्र भागने की करता है। प्रभु को न तो यह पूरी तरह से देख पाता है और न ही फिर वहाँ से निकल पाता है। एवं, यह हृदय में नियन्त्रित हो जाता है। १३. नियन्त्रित मनवाला व्यक्ति ही यज्ञादि उत्तम कर्मों में लग पाता है। प्रभु इससे कहते हैं कि **ते**=तेरा **धूमः**=यज्ञ का धूम **दिवं गच्छतु**=द्युलोक तक पहुँचे, **ज्योतिः**=यह यज्ञाग्नि की ज्योति तेरे **स्वः**=स्वर्ग का कारण बने। यज्ञों से सब रोगादि दूर होकर घर स्वर्ग बन जाता है, अतः तू **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **भस्मना**=यज्ञाग्नि की भस्म से **पृण**=पूरित कर दे। इस पृथिवी पर स्थान-स्थान पर यज्ञ होंगे तो सब ऋतुएँ ठीक समय पर आकर सबके कल्याण का कारण बनेंगी।

भावार्थ—हम जीवन में गाम्भीर्य, मध्यमार्गाक्रमण, तेजस्विता, स्नेह व द्वेषाभाव, कर्मठता व सुखनिद्रा, पाप-निवारण, देदीप्यमान मस्तिष्क व दृढ़ शरीर, यज्ञ, सोमरक्षा, प्रकाशमय अहिंसक वृत्ति तथा तीव्र जाठराग्नि को धारण करें। मन को वशीभूत करके

यज्ञमय जीवन बिताएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—वरुणः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक्[क], त्रिपाद्विराड्गायत्री[र]।
स्वरः—ऋषभः[क], षड्जः[र]।।

जल-ओषधियाँ-गौवें

[क]मापो मौषधीर्हिꣳसीर्धाम्नोधाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च। यदाहुरघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च। [र]सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।।२२।।

पिछले मन्त्र में ११ सद्गुणों का उल्लेख था। 'सब प्रजाओं के अन्दर ये दिव्य गुण आएँ', इसके लिए राजा को यह व्यवस्था करनी है कि सब लोगों को उत्तम जल, उत्तम ओषधियाँ प्राप्त हों। राष्ट्र में वृक्षों की स्थिति ठीक हो। वर्षा बहुत कुछ इन वृक्षों पर ही निर्भर है। राष्ट्र में गो-हिंसा कानूनन बन्द हो, क्योंकि मानव-जीवन की उन्नति इन गौवों पर निर्भर करती है। मन्त्र में कहते हैं कि १. हे **राजन्**=राष्ट्र में सुव्यवस्था (Regulation) लानेवाले! तू **धाम्नः धाम्नः**=प्रत्येक स्थान से **आपः**=जलों की **मा**=मत **हिंसीः**=हिंसा होने दे तथा **मा**=मत **ओषधीः**=ओषधियों की **हिंसीः**=हिंसा होने दे। हे **वरुण**=राष्ट्र को नियमों के पाशों से बाँधनेवाले राजन्! **नः**=हमें **ततः**=इन पापों से **मुञ्च**=मुक्त कीजिए। न तो हम जलों को खराब करनेवाले हों और न ही वनस्पतियों को व्यर्थ में हिंसित करनेवाले हों। प्रत्येक ग्राम व नगर के चारों ओर वृक्षों के उपवन होने चाहिएँ। ये आँधियों से सुरक्षित करते हैं इनसे रेगिस्तान की वृद्धि न होकर वृष्टि अधिक होती है। २. **यत्**=जिसे आप **अघ्न्या**=न मारने योग्य **आहुः**=कहते हैं **वरुण इति**=जिसे आप 'वरणीय'—'स्वीकार करने योग्य' इस प्रकार कहते हैं और हम इन बातों का ध्यान न करके **शपामहे**=उन्हें मारते हैं (शपतिर्वधकर्मा—उ०) **ततः**=उस गौ के मरने के अपराध से हे **वरुण** =नियमों में जकड़नेवाले राजन्! **नः**=हमें **मुञ्च**=छुड़ाइए। हम गो-हत्या आदि के पापों से सदा बचे रहें। ३. इस प्रकार करने पर वे **आपः**=जल और **ओषधयः**=ओषधियाँ **नः**=हमारे लिए **सुमित्रिया**=उत्तम स्नेह करनेवाली **सन्तु**=हों। हाँ, **तस्मै**=उसके लिए ये **दुर्मित्रिया सन्तु**=दुःखद शत्रु के तुल्य हों **यः** =जो **अस्मान्**=हमसे **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको परिणामतः **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति नहीं करते। वस्तुतः यह सबसे द्वेष करनेवाला व्यक्ति खिझकर ही भोज्य पदार्थों को खाएगा तो उनसे उत्तम रुधिरादि पैदा न होकर विष ही उत्पन्न होंगे, अतः इन सर्वद्वेषियों के लिए भोजन भी विष बन जाएगा। भोजन तो प्रसन्नचित्त से ही खाना चाहिए।

भावार्थ—हम जलों व ओषधियों को हिंसित न करें। गो-हिंसा को पाप समझें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अप्-यज्ञः, सूर्यः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

हविष्मान्

हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्माँ२।।ऽआविवासति।
हविष्मान्देवोऽअध्वरो हविष्माँ२।।ऽअस्तु सूर्यः।।२३।।

१. पिछले मन्त्र में वर्णन था कि सब प्रजाएँ जलों, ओषधियों व गौवों की रक्षा करनेवाली हों। अब कहते हैं कि **इमाः**=ये जल, ओषधि व गौवों की हिंसा न करनेवाली

आपः=प्रजाएँ **हविष्मतीः**=हविवाली हों। ये सदा दानपूर्वक अदन करनेवाली हों। वस्तुतः **हविष्मान्**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति ही **आविवासति**=प्रभु की परिचर्या करता है। प्रभु का आदेश है **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**=त्यागपूर्वक भोग करो। बस, जो इस आदेश का पालन करता है, वही प्रभु का सच्चा उपासक है। २. **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला शुद्ध पाप ही खाता है। **'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'** पञ्च यज्ञ न करनेवाला चोर है और वस्तुतः इसके विपरीत **हविष्मान्**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **देवः**=दिव्य गुणोंवाला बनता है। इसके मन में दान की वृत्ति होती है। **अध्वरः**=इसके हाथों से सदा 'अ-हिंसात्मक' उत्तम कर्म होते हैं। २१ वें मन्त्र में यही बात 'दिव्यं नभः' शब्दों से कही गई थी—'प्रकाशमय अहिंसा'। ३. और इन दोनों बातों से बढ़कर बात यह है कि **हविष्मान्**=यह हविवाला—दानपूर्वक अदन करनेवाला **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य **अस्तु**=हो। दूसरे शब्दों में हविष्मान् पुरुष का मन 'देवों' वाला होता है, उनके हाथों में 'अध्वर' होते हैं और इनका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो उठता है। ४. एवं, 'दिर्घतमाः' का यही मार्ग है कि वह 'हविष्मान्' बने।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हविष्मान् बनकर हम आपके सच्चे उपासक बनें और अपने मनों को दिव्य गुणों का कोश बनाएँ। हविष्मान् के हाथों में अध्वर होता है और मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—लिङ्गोक्ताः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्[क], त्रिपाद्गायत्री[र]। स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

बल-प्रकाश-स्नेह व द्वेषाभाव की प्रार्थना तथा कन्या का विवाह कहाँ?

[क]अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। [र]अमूर्याऽउप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ २४॥

१. पिछले मन्त्र में प्रजाओं के हविष्मान् बनने का उल्लेख था। 'हमारी सन्तानें हविष्मान् ही बनी रहें' इस उद्देश्य से प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हम उनके विवाहादि सम्बन्धों को ऐसे घरों में करें जहाँ अग्निहोत्र इत्यादि नियमपूर्वक होते हों। घर का वातावरण यज्ञ के अनुकूल होगा तो सन्तानें भी उसी प्रवृत्तिवाली बनी रहेंगी। कन्या का पिता कन्या से कहता है कि **वः**=तुम्हें **अपन्नगृहस्य**=(न पन्नं पतितं गृहं यस्य) यज्ञादि उत्तम कर्मों के त्याग से पतित नहीं हुआ है जिसका घर, उस **अग्नेः**=प्रगतिशील व्यक्ति के **सदसि**=घर में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। २. तुम इस उत्तम घर में स्थित होकर **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। तुममें इन्द्र और अग्नि दोनों देवों का अंश स्थापित हो। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है तो 'अग्नि' प्रकाश का। तुम बल और प्रकाशवाले होवो। ३. **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। 'मित्र और वरुण' इन दोनों देवों का अंश तुममें स्थापित हो। तुम मित्र के अंश को धारण करके सबके साथ स्नेह करनेवाले बनो और वरुण के अंश को धारण करके तुम द्वेष का निवारण करनेवाले होओ। तुम किसी से भी द्वेष न करो। ४. ठीक-ठीक बात तो यह है कि तुम **विश्वेषाम्**=सब **देवानाम्**=देवों के **भागधेयी स्थ**=भाग को धारण करनेवाले बनो। तुममें सब दिव्य गुणों की वृद्धि हो। यद्यपि इस वाक्य में 'इन्द्र-अग्नि और

मित्र-वरुण' का भी समावेश है तो भी 'ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायातः'– 'ब्राह्मण आ गये, वसिष्ठ भी आ गये' जैसे इस वाक्य में ब्राह्मणों के अन्तर्गत होते हुए भी अधिक आदरणीय होने से वसिष्ठ का अलग उल्लेख है, उसी प्रकार यहाँ 'इन्द्राग्नी और मित्र-वरुण' का अलग उल्लेख हुआ है। ५. **अमूः**=हमारी वे प्रजाएँ—सन्तानें **याः**=जो **उपसूर्ये**=ज्ञान के सूर्य आचार्य के समीप रही हैं **वा**=और **याभिः सह**=जिनके साथ **सूर्यः**= ज्ञान का सूर्य आचार्य रहा है, अर्थात् आचार्य के समीप रहने से जो सचमुच 'अन्तेवासी' इस नाम से कहलाने योग्य थीं और आचार्य ने भी जिन्हें मानो अपने गर्भ में धारण किया हुआ था, **नः**=हमारी **ताः**=वे सन्तानें **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों को **हिन्वन्तु**=(प्रीणन्तु= बढ़ावें–द०) अपने घरों में बढ़ानेवाली (प्रेरित करनेवाली) हों।

भावार्थ—हमारे घरों में यज्ञों का कभी लोप न हो, हमारी सन्तानें सब देवांशों को धारण करनेवाली हों। विशेषतया उनमें 'बल, प्रकाश, स्नेह व द्वेषाभाव' तो अवश्य ही हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।।

पति पत्नी से

हृदे त्वा मन॑से त्वा दि॒वे त्वा॒ सूर्या॑य त्वा।

ऊ॒र्ध्वमि॒मम॑ध्व॒रं दि॒वि दे॒वेषु॒ होत्रा॑ यच्छ॥२५॥

गत मन्त्र में कन्या को ऐसे घर में विवाहित करने का प्रसङ्ग था जहाँ यज्ञादि का लोप न हुआ हो। उस घर में कन्या के पहुँचने पर पति कहता है कि—१. **त्वा**=मैं तुझसे अपना यह सम्बन्ध **हृदे**=हृदय के लिए करता हूँ। मेरे जीवन में तेरे प्रवेश से कुछ रस व कोमलता का सञ्चार होगा, कुछ श्रद्धा की भावना बढ़ेगी। २. **त्वा**=तुझे मैं अपने जीवन का साथी बना रहा हूँ **मनसे**=मन के लिए। मेरे जीवन में कुछ विचार-शक्ति बढ़े। मैं सब कामों को सोच-विचार कर करनेवाला बनूँ। ३. **दिवे त्वा**=मैं तुझे स्वर्ग-निर्माण के लिए अपना रहा हूँ। 'तेरे आने से मेरा घर स्वर्ग बन जाए' ऐसी मेरी कामना है। ४. **सूर्याय त्वा**=तुझे सूर्य के लिए अपना रहा हूँ। तेरे आने से इस घर में प्रकाश की वृद्धि हो और सूर्य के समान निरन्तर क्रियाशीलता हो। ५. **इमं अध्वरम्**=सबका कल्याण करनेवाले इस यज्ञ को तूने **ऊर्ध्वम्**=सबसे ऊपर स्थापित करना, अर्थात् यज्ञ इस घर का मुख्य कर्तव्य हो। **दिवि**=(निमित्त सप्तमी) स्वर्ग के निमित्त तथा **देवेषु**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के निमित्त **होत्राः**=हवियों को **यच्छ**=दे, अर्थात् तू नियमित रूप से यज्ञ करनेवाली हो। वस्तुतः इस यज्ञ से ही घर स्वर्ग बनेगा और घर के सब लोगों में दिव्य गुणों का विकास होगा (होत्राभिः हवनक्रियाभिः ऋ. ७।६०।९–द०)। मन्त्र के अन्तिम भाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि (क) **दिवि**=स्वर्ग के निमित्त **होत्रा यच्छ**=हवियों को दे। **'स्वर्गकामो यजेत'** यह उक्ति प्रसिद्ध ही है। यज्ञों का फल स्वर्ग-प्राप्ति है। यज्ञ को ब्राह्मणग्रन्थों में **'स्वर्ग्या नौः'**=स्वर्ग प्राप्त करनेवाली नाव कहा है। (ख) **देवेषु**=विद्वानों के चरणों में बैठकर **होत्राः**=ज्ञान की वाणियों को **यच्छ**=(निबध्नीहि) अपने में बाँध, अर्थात् विद्वानों के समीप रहकर तू अपने ज्ञान को बढ़ा। इस प्रकार यज्ञों से घर स्वर्ग बनेगा तो ज्ञान से उसमें निरन्तर पवित्रता बनी रहेगी।

भावार्थ—पत्नी-पति के जीवन में 'श्रद्धा, मननशक्ति, प्रकाश व नियमितता' को बढ़ानेवाली हो। वह घर में यज्ञों को प्रमुख स्थान दे। यज्ञों में जहाँ हवियों को डाले वहाँ

विद्वानों से ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—सोमः। छन्दः—भुरिग्गायत्री*, आर्षीत्रिष्टुप्[र]। स्वरः—षड्जः*, धैवतः[र]॥

राजा

*सोम॑ राज॒न्विश्वा॒स्त्वं प्र॒जाऽ उ॒पाव॑रोह॒ विश्वा॒स्त्वां प्र॒जाऽ उ॒पाव॑रोहन्तु।
[र]शृ॒णोत्व॒ग्निः स॒मिधा॒ हवं॑ मे शृ॒ण्वन्त्वापो॑ धि॒षणा॑श्च दे॒वीः।
श्रोता॑ ग्रावाणो वि॒दुषो॒ न य॒ज्ञꣳशृ॒णोतु॑ दे॒वः स॑वि॒ता हवं॑ मे॒ स्वाहा॑॥२६॥

प्रजाओं को उत्तम बनाने में सबसे अधिक भाग राजा का है, अतः 'राजा कैसा हो' इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं कि १. हे **सोम राजन्**=सौम्य निरभिमानिन् राजन्! **त्वम्**=तू **विश्वाः प्रजाः**=सब प्रजाओं के **उप अवरोह**=समीप प्राप्त हो और **विश्वाः प्रजाः**=सब प्रजाएँ **त्वाम् उप अवरोहन्तु**=तेरे समीप प्राप्त हों। राजा प्रजाओं के लिए अधृष्य ही न बन जाए, वह उनके लिए अभिगम्य भी हो। जो राजा प्रजाओं के लिए अभिगम्य न होगा, वह प्रजाओं की स्थिति को कभी ठीक-ठीक न समझ सकेगा। २. राजा प्रार्थना करता है कि राष्ट्र में **अग्निः**=ज्ञान का प्रकाश देनेवाला 'ब्राह्मण' **समिधा**=ज्ञान-दीप्ति के हेतु से **मे हवम्**=मेरी पुकार को **शृणोतु**=सुने, अर्थात् जब-जब मैं इन ब्राह्मणों को आमन्त्रित करूँ तब-तब ये अवश्य मुझे दर्शन देने की कृपा करें और मुझे आवश्यक ज्ञान देकर मेरे अज्ञानान्धकार को दूर करें। ४. **आपः**=राष्ट्र के आप्त पुरुष तथा प्रजाएँ **धिषणाः च**=जो बुद्धि के ही मूर्त्तरूप हैं तथा **देवीः**=दिव्य गुणोंवाले हैं, वे भी **शृण्वन्तु**=मेरे आमन्त्रण को स्वीकार करें। इन व्यक्तियों को जब कभी मैं मन्त्रणा आदि के लिए कहूँ तो वे इसे अस्वीकार न करें। ५. **ग्रावाणः श्रोत**=हे सद्-असद् का विवेक करनेवाले सभासदो! (विद्वांसो हि ग्रावाणः—श० ३।९।३।१४) तुम भी मेरी बात को सुनो। **न**=जैसे **विदुषः**=विद्वान् से **यज्ञम्**=यज्ञ को सुनते हैं इसी प्रकार मैं तुमसे राष्ट्रहित के लिए आवश्यक बातों को सुननेवाला होऊँ। ६. सबसे बड़ी बात तो यह है कि **सविता देवः**=वह सबका प्रेरक देव प्रभु **मे हवम्** =मेरी प्रार्थना को **शृणोतु**=सुने। मैं भी **स्वाहा** =उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—राजा को निरभिमानी होना चाहिए। वह प्रजाओं के लिए अभिगम्य हो। ब्राह्मण उसे ज्ञान दें। आप्त बुद्धिमान् सत्पुरुष उसे राष्ट्रकार्य में सहायता करें। विवेकी पुरुषों से वह उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करे जैसेकि वह विद्वानों से यज्ञ के विषय में सुनता है। प्रभु का यह उपासक हो।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—आपः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कर (tax)

दे॒वी॑रापोऽअपान्नपा॒द्यो व॑ऽऊ॒र्मिर्ह॑वि॒ष्य॒ऽइन्द्रि॒यावा॑न् म॒दिन्त॑मः।
तं दे॒वेभ्यो॑ देव॒त्रा द॑त्त शुक्र॒पेभ्यो॒ येषां॑ भा॒ग स्थ स्वाहा॑॥२७॥

गत मन्त्र में राजा का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में राजदेय कर का उल्लेख करते हैं। १. हे **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली **आपः**=प्रजाओ! **यो वः**=जो तुम्हारा **हविष्यः**=(हविर्भ्यो हितः, हु=दान) कररूप में देने के लिए रक्खा हुआ भाग है **तम्**=उसे **देवेभ्यः**=दिव्य गुणोंवाले-विलासशून्य जीवनोंवाले **शुक्रपेभ्यः**=वीर्य का पान (रक्षण) करनेवाले जितेन्द्रिय राजाओं के लिए **देवत्रा**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के निमित्त **दत्त** =दे डालो, उन राजाओं को

दे डालो **येषाम्**=जिनके तुम **भाग स्थ**=(भाजः) सेवा के योग्य हो, सेवनीय हो। **स्वाहा**= जो राजा तुम्हारी सेवा के लिए अपनी आहुति दे डालता है, अपने स्वार्थों को छोड़कर, अपने आराम को त्यागकर, जो तुम्हारी उन्नति में ही दिन-रात लगा रहता है। तुम सोये हो, तब भी वह 'जागृवि' है।

इस मन्त्रभाग में यह बात स्पष्ट है कि (क) राजा को दिव्य गुणोंवाला, सब विलासों से ऊपर (देव) जितेन्द्रिय (शुक्रप) तथा प्रजा-सेवक (भाग) होना चाहिए। प्रजा की सेवा के लिए वह अपने सभी स्वार्थों को छोड़ दे। (ख) प्रजाओं को भी दिव्य व आप्त (विश्वास के योग्य) बनने का प्रयत्न करना। (ग) प्रजा राजा को कर दे, क्योंकि इस कर-प्राप्त धन से ही राष्ट्र की सब सुव्यवस्था सम्भव होगी और प्रजाओं में शिक्षा के द्वारा ही अधिकाधिक उत्तम गुणों को उपजाया जा सकेगा।

२. यह 'कर' **अपान्नपात्**=प्रजाओं का न पतन होने देनेवाला है। इस प्रकार कर को ठीक प्रकार से देनेवाली प्रजाओं में विलास की वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि उनके पास उन विलासों के लिए अतिरिक्त धन रह ही नहीं जाता। ३. **ऊर्मिः**=यह 'कर' लहर के समान है। लहर समुद्र में उठती है फिर समुद्र में ही जा गिरती है। इसी प्रकार यह कर प्रजा से उठता है और फिर उसी प्रजा में जा गिरता है। प्रजा से प्राप्त करके प्रजाहित के लिए इस धन का व्यय कर दिया जाता है। इस 'कर' से राजा को अपने ही अन्तःपुरों (महलों) की रचना नहीं करनी चाहिए। ४. **इन्द्रियावान्**=इस कर ने प्रजाओं को (इन्द्रियं वै वीर्यम्) शक्तिशाली बनाना है अथवा प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाना है। ५. **मदिन्तमः**=यह कर प्रजाओं को आनन्द देनेवाला है। इस 'कर' के द्वारा सुन्दर वनों, उपवनों, तालाबों और नहरों आदि का निर्माण होकर प्रजा का जीवन सच्चा हर्ष व आनन्द प्राप्त करता है। प्रजाओं के लिए उत्तमोत्तम आमोद-प्रमोद के साधनों को यह 'कर' प्राप्त कराता है।

भावार्थ—कर का उद्देश्य है कि (क) ऐसी व्यवस्था की जाए कि प्रजाओं का पतन न हो। (ख) वह प्रजाहित के लिए ही विनियुक्त हो। (ग) प्रजाओं को प्रशस्तेन्द्रिय व शक्तिशाली बनाये। (घ) प्रजाओं के लिए उत्तम आमोद-प्रमोद के साधनों को भी जुटाये।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—प्रजा। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वैश्यवर्ण व कृषि

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वा क्षित्याऽउन्नयामि।

समापोऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः॥२८॥

राष्ट्र की उन्नति के प्रसङ्ग में वैश्यवर्ण का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः गत मन्त्र में वर्णित 'कर' इन्हें ही देना है। १. **कार्षिः असि**=तू कृषि करानेवाला है। राष्ट्र में **'कृषिगोरक्ष-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'**=कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। वैश्यों ने शूद्रों=अपठित व्यक्तियों के द्वारा इन कृषि आदि कर्मों को कराना है। २. सर्वोत्तम कृषि उस मेघ-जल द्वारा होती है जो मेघ **'यज्ञात् भवति पर्जन्यः'**=यज्ञ से निर्मित होता है। राष्ट्र में यज्ञों की व्यवस्था ठीक होने पर बादल ठीक समय पर वर्षा करनेवाले होते हैं (**निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु**)। इन यज्ञों की व्यवस्था राजा को ही करनी है। यज्ञ न करनेवाले को राजा ने चोर के रूप में दण्ड देना है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **समुद्रस्य**=अन्तरिक्षस्थ मेघ की **क्षित्या**=खेती से **त्वा**=तुझे **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ। भाषा में ऐसा ही बोलने का प्रकार है कि 'यह कूएँ की खेती खड़ी है' अर्थात् कूएँ के जल

से उत्पन्न। इसी प्रकार यहाँ कहा है कि 'समुद्र की खेती से' अर्थात् (समुद्रः=अन्तरिक्षस्थ मेघ) मेघजल से उत्पन्न खेती से। ३. **आपः**=जल **अद्भिः**=जलों से **सम्**=सङ्गत हों और **ओषधीः**=ओषधियाँ **ओषधीभिः**=ओषधियों से **सम्**= सङ्गत हों, अर्थात् अवृष्टि के कारण जलों का विच्छेद न हो जाए और परिणामतः ओषधियों की उत्पत्ति में रुकावट न हो।

भावार्थ—राष्ट्र में वैश्यवर्ण कृषि के कार्य में किसी प्रकार का शैथिल्य न आने दें। यज्ञों के परिणामरूप वृष्टि समय-समय पर होती रहे, जिससे ओषधियों व अन्नों की उत्पत्ति में कमी न आ जाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

युद्ध के समय भी वैश्यवर्ग की कृषि आदि में व्यापृतता

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा॥२९॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति 'समोषधीभिरोषधीः' पर हुई थी कि ओषधियाँ ओषधियों से सङ्गत हों, अर्थात् ओषधियों की कमी न हो जाए। उसी प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि राजा का कर्त्तव्य है कि संग्रामों के समय भी वैश्यवर्ग को पीड़ित न होने दे और ऐसी व्यवस्था करे कि उस समय भी ये अपने कृषि आदि कार्यों में लगे रह सकें। यदि युद्धों के आधिक्य के कारण वैश्य युवकों का भी सेना में प्रवेश वाच्छनीय हुआ तब कृषि आदि कार्य कैसे हो सकेंगे, अतः कहते हैं कि **अग्ने**=राष्ट्र का नेतृत्व करनेवाले राजन्! आप **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य को **पृत्सु**=संग्रामों में **अवाः**=सुरक्षित रखते हो और **यम्**=जिसे **वाजेषु**=(अन्ननिमित्त-क्षेत्रादिषु—द०) अन्न आदि पदार्थों की सिद्धि करने के निमित्त (क्षेत्रादि) में **जुनाः**=(गमयेः—द०) नियुक्त करते हो **सः**=वह **शश्वतीः**=नष्ट न होनेवाले **इषः**=अन्नों को **यन्ता**=प्राप्त करता है, इसप्रकार उस राजा के राष्ट्र में अन्नों की कमी नहीं आती। **स्वाहा**=यह बात (सु+आह) वेद में उत्तमता से कही गई है।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि युद्ध के समय भी खेती आदि कार्य निर्बाधरूप से चलते रहें।

सूचना—अध्यात्म प्रकरण में अर्थ यह होगा—हे **अग्ने**=उन्नति साधक प्रभो! **पृत्सु**=काम-क्रोधादि से संग्रामों में **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य की **अवाः**=आप रक्षा करते हो और **यम्**=जिसको **जुनाः**=प्रेरणा प्राप्त कराते हो **सः**=वह **शश्वतीः**=क्रियामय अथवा सनातन **इषः**=प्रेरणाओं को **यन्ता**=प्राप्त होता है, अर्थात् हृदयस्थ आपकी प्रेरणाओं को सुनता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—सविता। छन्दः—स्वराडार्षीपङ्क्तिः[क], निचृदार्ष्यनुष्टुप्[ग]। स्वरः—पञ्चमः, गान्धारः॥

राज्य की दृढ़ता

[क]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे रावासि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम्। [ग]उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा॥३०॥

राजा प्रजा से कहता है कि १. मैं **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे** =स्वीकार करता हूँ। प्रभु ने वेदवाणी में जिस प्रकार राजा के लिए लिखा है कि '**विशो मे अङ्गानि सर्वतः**'=प्रजाएँ मेरे सब ओर होनेवाले अङ्ग हैं, अतः मुझे प्रजाएँ अपने अङ्गों की भाँति प्रिय हैं। २. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=सूर्य और चन्द्रमा के प्रयत्नों से मैं प्रजाओं का स्वीकार करता हूँ। सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को दूर कर देता है उसी प्रकार

मैं राष्ट्र में शिक्षा की उत्तम व्यवस्था से अविद्यान्धकार को दूर करने का प्रयत्न करता हूँ। जिस प्रकार चन्द्र आह्लाद का कारण होता है (चदि आह्लादे) उसी प्रकार मैं क्रीड़ा व स्नान के लिए तालाब व उद्यानादि की उत्तम व्यवस्थाओं से प्रजा की प्रसन्नता का कारण बनता हूँ। ३. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् प्रत्येक कार्य में मेरा उद्देश्य प्रजा का पोषण ही होता है। ४. **रावा असि**=हे प्रजे! तू मुझे खूब कर देनेवाली है। प्रसन्नतापूर्वक कर देकर तू **इमम्**=इस **अध्वरम्**=राष्ट्रयज्ञ को **गभीरम्**=खूब गहरा **कृधि**=कर दे—इसकी नींवें बड़ी गहरी हों। यह दृढ़ नींव पर स्थित हो। ५. **इन्द्राय**=राष्ट्र के अध्यक्ष के लिए अथवा राष्ट्र की जितेन्द्रिय प्रजाओं के लिए **सुषूतमम्**=(सुष्ठु सूते) राष्ट्र को उत्तमोत्तम पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला बनाओ। ६. **उत्तमेन**=अत्यन्त उत्कृष्ट **पविना**=वज्र से, शस्त्रास्त्रों से **ऊर्जस्वन्तम्**=इस राष्ट्र को सबल बनाओ। **मधुमन्तम्**=यह राष्ट्र माधुर्यवाला हो। बल के साथ ही माधुर्य का निवास होता है, निर्बलता के साथ चिड़चिड़ेपन का। **पयस्वन्तम्**=तुम इस राष्ट्र को पयस्वाला बनाओ। प्रजा के आप्यायन के लिए सब आवश्यक वस्तुएँ इस राष्ट्र में हों। ७. राजा कहता है कि **निग्राभ्याः स्थ**=हे प्रजाओ! तुम नियन्त्रण में रखने योग्य होओ। तुम्हारा जीवन राष्ट्र के नियमों का पालन करने के झुकाववाला हो। **देवश्रुतः**=तुम विद्वानों से उत्तम ज्ञान की चर्चाओं को सुननेवाले बनो। ऐसे बनकर **मा तर्पयत**=मुझे प्रीणित करो। मैं तुम्हारी स्थिति को देखकर अपने में एक आनन्द का अनुभव करूँ। जैसे पिता पुत्र की उत्तम स्थिति को देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार मैं प्रजा की उन्नति से तृप्ति का अनुभव करूँ।

भावार्थ—राजा वेदानुकूल प्रजाओं का शासन करे। प्रजा उचित 'कर' देकर राष्ट्र की नींव को दृढ़ करे। राष्ट्र अन्य उन्नतियों के साथ शत्रु के आक्रमण से सुरक्षा के लिए उत्तम शस्त्रों से सुसज्जित हो। राष्ट्र में माधुर्य हो, आप्यायन हो। प्रजाएँ नियन्त्रित जीवनवाली व ज्ञान की रुचिवाली हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—प्रजासभ्यराजानः। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्*, आर्ष्युणिक्ʳ। **स्वरः**—ऋषभः॥

राजा सभ्यों से

***मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत ʳप्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन्॥ ३१॥**

१. प्रस्तुत मन्त्र में राजा सभ्यों से कहता है कि हे सभा और समिति के सदस्यो! तुम इस प्रकार राष्ट्र का विधान व राष्ट्र की व्यवस्था करो कि **मे मनः तर्पयत**=मेरे मन को तृप्त करो। मैं मन में आनन्द का अनुभव करूँ। **वाचं मे तर्पयत**=मेरी वाणी को तृप्त करो। मेरी वाणी से ऐसे ही शब्द निकलें कि यह विधान ठीक बना है और यह व्यवस्था ठीक हुई है। **प्राणं मे तर्पयत**=मेरे प्राणों को तृप्त करो। मुझे जीवन में सन्तोष का अनुभव हो। **चक्षुर्मे तर्पयत**=राष्ट्र में चतुर्दिक् उन्नति को देखकर मेरी आँखें तृप्ति का अनुभव करें। **श्रोत्रं मे तर्पयत**=देश-विदेश में सर्वत्र राष्ट्र की प्रशंसा सुनकर मेरे कान तृप्त हों। **आत्मानं मे तर्पयत**=इस राष्ट्रोन्नति से मैं अन्दर-ही-अन्दर आत्मा में सन्तोष मानूँ। २. परन्तु इससे भी बढ़कर बात तो यह है कि तुम्हारा विधान व व्यवस्था ऐसी हो कि उससे तुम **मे प्रजां तर्पयत**=मेरी सारी प्रजा को प्रीणित करनेवाले बनो, प्रजा में सन्तोष हो। प्रजा उन्नतिपथ पर आगे बढ़े। ३. **पशून् मे तर्पयत**=राष्ट्र के पशुओं को भी तुम प्रीणित करो। तुम्हारी व्यवस्था से गौ इत्यादि उपकारी पशुओं का भी यहाँ खूब आप्यायन हो। ४. **गणान् मे तर्पयत**=अपनी

व्यवस्था से मेरे सैनिकगणों को भी तृप्त करो। **मे गणाः**=मेरे ये सैन्यगण **मा वितृषन्**=प्यासे ही न रह जाएँ। इनके वेतनादि की व्यवस्था बड़ी ठीक हो। अन्यथा राष्ट्र की रक्षा सम्भव न होगी। इन्हें ही समय पर राष्ट्ररक्षा के लिए अपने प्राण देने हैं।

भावार्थ—राज्य सभाधिकारी जहाँ अपनी व्यवस्था व विधान से राष्ट्रपति को प्रीणित करनेवाले हों, वहाँ उनका ध्येय (क) प्रजा की उन्नति, (ख) पशुओं का विकास व (ग) सैनिकों को भी उन्नत व सन्तुष्ट करना हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—सभापती राजा। छन्दः—पञ्चपाज्ज्योतिष्मतीजगती। स्वरः—निषादः॥

राष्ट्रपति का चुनाव क्यों? अथवा राष्ट्रपति के गुण

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवतऽइन्द्राय त्वादित्यवतऽइन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने।
श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे॥३२॥

प्रजाएँ राजा का वरण क्यों करती हैं? १. **इन्द्राय**=जितेन्द्रियता के लिए हम **त्वा**=(वृणुमः) तेरा वरण करती हैं। **वसुमते**=आप वसुमान् हो, इसलिए आपका वरण करती हैं। आप राष्ट्र में उत्तमोत्तम निवास के साधनों को जुटाते हो। **रुद्रवते**=रुद्रवान् होने के कारण हम आपका चुनाव करती हैं, (रुत्=ज्ञान द =देना) आप राष्ट्र में ज्ञान देनेवाले आचार्यों को नियुक्त करते हो। उनके द्वारा ज्ञान का विस्तार करते हो। २. **इन्द्राय त्वा**=जितेन्द्रियता के लिए हम आपका वरण करती हैं **आदित्यवते**='आप आदित्योंवाले हो' इसलिए हम आपको चुनती हैं। शिक्षणालयों में आपने ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी व गुणों का आदान करनेवाले पुरुषों को नियत किया है, अतः हम आपका वरण करती हैं। ३. **अभिमातिघ्ने**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले **इन्द्राय**=आपके जितेन्द्रिय होने के कारण **त्वा**=हम आपका वरण करती हैं। ४. **श्येनाय**=आप (श्यै गतौ) निरन्तर क्रियाशील हैं, अतः **त्वा**=आपको हम वरती हैं। **सोमभृते**=इस क्रियाशीलता से ही आप अपने में सोम (वीर्य) का भरण करनेवाले हैं। क्रियाशीलता आपको विलास से बचाती है और आप अपने सोम की रक्षा करते हो। ५. **त्वा**=हम आपका वरण इसलिए करती हैं कि **अग्नये**=आप राष्ट्र को आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं और **रायस्पोषदे**=उत्तम व्यवस्था से हमें धनों का पोषण प्राप्त करानेवाले हैं, अर्थात् आपके सु-शासन में राष्ट्र में मार्गादि सुरक्षित हैं और व्यापार की सब सुविधाएँ होने से प्रजाओं की धन-वृद्धि होती है।

भावार्थ—राष्ट्रपति जितेन्द्रिय हो। राष्ट्र में निवास के उत्तम साधनों को जुटाए। योग्य अध्यापक व ऊँचे ज्ञानी पुरुष राष्ट्र में से अविद्यान्धकार को दूर करें। शत्रुओं के आक्रमण से राष्ट्र सुरक्षित हो। राष्ट्रपति क्रियाशील व संयमी हो। वह राष्ट्र को उन्नति-पथ पर ले-चले और राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ाने की व्यवस्था करे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—सोमः। छन्दः—भुरिगार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

राष्ट्रपति क्या करे?

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे।
तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः॥३३॥

१. हे **सोम**=विनीत राजन्! **ते**=तेरे **दिवि**=मस्तिष्क में **यत्**=जो **ज्योतिः**=प्रकाश है **यत्**=जो **पृथिव्याम्**=शरीर में **ज्योतिः**=स्वास्थ्य का प्रकाश है और **यत्**=जो **उरौ**=इस विशाल

अन्तरिक्षे=हृदाकाश में **ज्योतिः**=प्रकाश है **तेन**=उससे अर्थात् मस्तिष्क, हृदय व शरीर (Head, Heart and Hand) तीनों की शक्तियों से—प्राणपण से—**अस्यै**=इस **यजमानाय**=यज्ञ के स्वभाववाले प्रजावर्ग के लिए **राये**=धन-प्राप्ति के लिए **उरु कृधि**=अत्युत्तम व्यवस्था कर। तेरे राष्ट्र में जो आर्यपुरुष हैं—यज्ञादि उत्तम कार्यों को करनेवाले लोग हैं, उनके लिए तू ऐसी व्यवस्था कर कि वे जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक धनों को अवश्य कमा सकें। २. और जो यजमानों से विपरीत घात-पात आदि के कार्यों में लगे हुए हैं उन **दात्रे**=(दाप् लवने) काट-छाँट करनेवालों के लिए **अधिवोचः**=आधिक्येन उपदेश दे। ज्ञानी पुरुष ऐसे लोगों के अन्दर प्रचार-कार्य करके उनके जीवनों को अच्छा बनाने का प्रयत्न करें। अथर्व के मन्त्र **'अग्निः पूर्व आरभताम्'** के अनुसार ब्राह्मण पहले अपने कार्य को प्रारम्भ करें। वे ऐसे लोगों को ज्ञान देने का उपक्रम करें। यदि इस ज्ञान-प्रचार के कार्य का अनुकूल प्रभाव न हो तो विवशता में **'प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्'**=शक्तिशाली इन्द्र को उन्हें दण्ड देना ही है, परन्तु दण्ड से ही प्रारम्भ न कर दिया जाए। पहले ज्ञान-प्रचार का कार्य, पीछे दण्ड। ३. इसप्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्र में दो पुरुष हैं (क) यजमान (ख) दात्र। यजमान ही आर्य है, दात्र ही दस्यु हैं। राजा ने आर्यों के लिए आवश्यक धन-प्राप्ति के साधनों को जुटाना है और दस्युओं को ज्ञान-प्रसार की व्यवस्था से आर्य बनाने का प्रयत्न करना है। विवशता में दण्ड देकर उन्हें घात-पात से रोकना तो होगा ही।

भावार्थ—राष्ट्रपति वा राजा पूर्ण प्रयत्न व सुव्यवस्था से राज्य में लोगों को धन-प्राप्ति के उचित साधन प्राप्त कराए और घात-पात की मनोवृत्तिवाले लोगों की मनोवृत्ति को बदलने के लिए उनमें खूब (अधि) ज्ञान का प्रचार कराए (वोचः)।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराडार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

राजा व राजसभा के सभ्यों की 'पत्नियाँ'

श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्त्ताऽअमृतस्य पत्नीः।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत॥३४॥

सभापति व राजसभा के लोग राष्ट्रहित के कार्यों में तभी अच्छी प्रकार लगे रह सकते हैं यदि उनकी पत्नियाँ उनके लिए अत्यन्त अनुकूलता उत्पन्न करें, अतः उन पत्नियों का वर्णन करते हैं—

१. **श्वात्राः स्थ**=तुम (श्वि गतिवृद्ध्योः, त्रा रक्षणे) क्रियाशीलता के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त करनेवाली हो। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही तुम वासनाओं के आक्रमण से अपना त्राण करनेवाली हो। २. **वृत्रतुरः**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम का तुम विध्वंस करती हो। ३. **राधोगूर्ताः**=(धनवर्धिन्यः—द०) धनों का तुम वर्धन करनेवाली हो (गुरी उद्यमने) तुम धन का अनुचित व्यय न होने देते हुए उसका संग्रह करती हो। ४. **अमृतस्य पत्नीः**=तुम न मरियल पतियों की पत्नी हो। तुम्हारे द्वारा घर में भोजन की व्यवस्था इतनी सुन्दर होती है कि कोई अस्वस्थ होता ही नहीं। तुम घर के उत्तम प्रबन्ध द्वारा पतियों को चिन्ताओं से मुक्त-सा रखती हो। परिणामतः उनका स्वास्थ्य अत्युत्तम रहता है। ५. **ताः देवीः**=वे दिव्य गुणोंवाली तुम **देवत्रा**=देवों में **इमं यज्ञं नयत**=इस यज्ञ को प्राप्त कराओ, अर्थात् सदा यज्ञ करनेवाली बनो। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस 'व्याकरण-सूत्र' से पत्नी का मुख्यकार्य यज्ञ ही प्रतीत होता है। ६. उपहूताः=**'उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्'**

इस अथर्व-वाक्य के अनुसार तुम आचार्यों के समीप उपहूत होनेवाली होओ, अर्थात् आचार्यकुल में रहकर तुमने विद्याध्ययन किया हो और **सोमस्य पिबत**=सोम का पान किया हो, अर्थात् संयमपूर्वक अपनी शक्ति की रक्षा की हो। वस्तुतः पत्नियों के उल्लिखित गुणों से सम्पन्न होने पर ही सभापति व सभादि अपने-अपने कार्यों को निश्चिन्तता से अच्छी प्रकार कर सकते हैं।

भावार्थ—पत्नी अपने उत्तम व्यवहार से पति को प्रसन्न व निश्चिन्त रक्खेंगी तो पति अपने कार्यों को उत्तमता से कर पाएँगे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पति-पत्नी

मा भेर्मा संविक्थाऽऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः॥३५॥

गत मन्त्र में पत्नी का कर्त्तव्य विशेषरूप से कहा गया। अब पति-पत्नी दोनों के लिए कुछ सामान्य बातें कहते हैं। १. **मा भेः**=तुम डरो नहीं। संसार में सबसे निकृष्ट वस्तु डर है। दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ 'अभयम्' से होता है। घर में यदि पत्नी पति से डरती है या पति पत्नी से तब तो उस घर में दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ ही कैसे हो सकता है? दोनों का परस्पर प्रेम हो, भय का वहाँ प्रश्न ही न हो। २. **मा संविक्थाः**=भय के कारण अपने धर्ममार्ग से विचलित न होओ। डर के कारण किसी कर्म को करना या किसी को छोड़ना उचित नहीं। आदर्श यही है कि स्तुति हो, निन्दा हो, सम्पत्ति आये, विपत्ति आये, जीवन हो या मृत्यु हो, हम अपने न्यायमार्ग पर ही चलते चलें, उससे विचलित न हों। ३. **ऊर्जं धत्स्व**=बल और प्राणशक्ति को धारण करो। शारीरिक शक्ति के साथ तुममें आत्मिक शक्ति भी हो। ४. **धिषणे**=(द्यावापृथिव्यौ) तुम द्यावापृथिवी के समान बनो (द्यौरहं पृथिवी त्वम्) पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त हो और पत्नी अपनी शक्तियों के विस्तार से दृढ़ जीवनवाली हो। अथवा (धिषणा=बुद्धि) पति-पत्नी दोनों ही बुद्धि के पुञ्ज बनने का प्रयत्न करें। ५. **वीड्वी सती**=(वीड्वी बल—नि० २।९) खूब बलवाले होते हुए **वीडयेथाम्**= संसार में शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले बनो। ६. यही मार्ग है जिस मार्ग पर चलने से **पाप्मा हतः**=पाप नष्ट होता है **न सोमः**=सोम नष्ट नहीं होता। सौम्य स्वभाववाला व्यक्ति सदा सुरक्षित रहता है। **ऊर्जं दधाथाम्**=इस सबके लिए तुम दोनों बल और प्राणशक्ति को धारण करो। ऊर्ज् के साथ ही पुण्य का निवास है, ऊर्ज् के अभाव में पाप-ही-पाप है।

भावार्थ—हम अभय हों, अविचल हों, बल और प्राणशक्ति को धारण करें। बुद्धिमान् बनें, शक्तिशाली कर्मों को करते हुए पाप को विनष्ट करें और सौम्य स्वभाव को विकसित करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—सोमः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

सर्वतो-धावन (शोधन)

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिशऽआधावन्तु। अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्॥३६॥

१. गत मन्त्र में निर्भयता आदि सद्गुणों के धारण का प्रसङ्ग था। उल्लिखित गुणोंवाले माता-पिता अपने सन्तानों के जीवन को सर्वतः शुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। **प्राक्**=पूर्व से **अपाक्**=पश्चिम से **उदक्**=उत्तर से तथा **अधराक्**=दक्षिण से **सर्वतः**=सब

ओर से, सब दिशाओं से **दिशः**=सदा उत्तम बातों का उपदेश देनेवाले माता-पिता व आचार्यादि **त्वा**=तुझे **आधावन्तु**=सर्वतः शुद्ध बना दें। (धावु गतिशुद्ध्योः) गति के द्वारा वे तेरे जीवन को शुद्ध करनेवाले हों। २. सन्तान व शिष्य माता-पिता व आचार्य से कहती है कि **अम्ब**=(अमति प्रेमभावेन प्राप्नोति) अत्यन्त प्रेम से मुझे प्राप्त होनेवाली हे मातः! **निष्पर**=तू नितरां मेरा पालन कर। मेरी कमियों को दूर करके उनका पूरण करनेवाली हो। **अरीः**=(प्रजा वा अरीः—श० ३।९।४।२१) सब प्रजाएँ (ऋ गतौ) क्रियाशील सन्तानें—**संविदाम्**=(संविदताम्) संज्ञानवाली हों, परस्पर लड़नेवाली न हों। ३. मधुच्छन्दा ऋषि का यह अन्तिम मन्त्र है। उसकी सर्वोत्तम इच्छा यही है कि (क) बड़ों के उपदेशों से हमारे जीवन शुद्ध हों। (ख) प्रेमभाव से प्राप्त होनेवाली माता अपने उपदेशों से बच्चे के जीवन को बड़ा उत्तम बनाये। (ग) सब प्रजाएँ परस्पर मिलकर चलनेवाली—संज्ञानवाली हों।

भावार्थ—माता-पिता अपने सन्तानों का, आचार्य शिष्यों का तथा राजा प्रजा का सर्वतः शोधन करे, उन्हें बुराइयों से दूर करे, जिससे सब सन्तान परस्पर संज्ञानवाली हों।

ऋषिः—गोतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

महान् उपदेष्टा प्रभु

त्वमङ्ग प्रशꣳसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः॥३७॥

१. माता-पिता सन्तानों को उत्तम उपदेश देते हैं। पिछले मन्त्र में इसका वर्णन हुआ है। परन्तु अन्ततः उपदेश देनेवाले तो वे प्रभु ही हैं, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **देवः**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान हो। इस ज्योति से आप औरों को दीप्त करनेवाले हो तथा सभी को आप ही इस ज्ञान को देनेवाले हो। आप **अङ्ग**=(क्षिप्रम्) शीघ्र ही **मर्त्यम्**=इस मृत्युधर्मा मनुष्य को **प्रशंसिषः** =प्रशंससि=प्रकृष्ट ज्ञान देते हैं (शंस् Science=विज्ञान)। २. इस ज्ञान को देकर आप मनुष्य का कल्याण करते हैं। हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य से समृद्ध प्रभो! **त्वदन्यः**=आपसे भिन्न कोई और **मर्डिता** =सुख देनेवाला **न**=नहीं **अस्ति**=है। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! अतः मैं **ते**=तेरे लिए ही **वचः**=वचन **ब्रवीमि** =कहता हूँ, अर्थात् आपसे ही इस उत्कृष्ट ज्ञान को देने की प्रार्थना करता हूँ। ३. आपसे उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके मैं प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' बनूँ=अत्यन्त प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ। उन ज्ञानन्द्रियों से वेदवाणी का ग्रहण करनेवाला होऊँ। इस वाणी ने ही मुझे पवित्र करना है। पवित्र होकर ही मैं आपको प्राप्त कर सकूँगा और आनेवाले मन्त्र (७।१) के 'वाचस्पतये पवस्व' इस उपदेश को अपने जीवन में घटा सकूँगा।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वमहान् उपदेष्टा है। वे ही हमारे जीवनों को सुखी करनेवाले हैं। हमें उन्हीं से ज्ञान-प्राप्ति की प्रार्थना करनी चाहिए।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

सप्तमोऽध्यायः

ऋषिः—गोतमः। देवता—प्राणः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पवित्रता

वाचस्पतये पवस्व वृष्णोऽअंशुभ्यां गभस्तिपूतः।

देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति इन शब्दों पर हुई थी कि 'वे प्रभु जीव को उत्कृष्ट ज्ञान देते हैं—उत्कृष्ट शंसन करते हैं', अतः प्रस्तुत अध्याय का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं कि **वाचस्पतये**=वाणी के पति प्रभु के लिए, उसको हृदयासीन करने के लिए **पवस्व**=तू अपने जीवन को पवित्र बना। प्रभु को अपने हृदय में आसीन करने का प्रकार यही है कि हम अपने हृदय को निर्मल और निर्मलतर बनाते चलें। २. 'हृदय को निर्मल कैसे बनाएँ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **वृष्णः**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले सोम की **अंशुभ्याम्**=(अंश to divide) भेदक शक्तियों से। शरीर में उत्पन्न होनेवाली वीर्यशक्ति 'सोम' है। इस सोम के अन्दर शरीर के रोगों व बुद्धि की मन्दता को दूर करने की क्षमता है। वही इसकी भेदक शक्ति है। इस सोम की भेदक शक्तियों से हमारा जीवन पवित्र हो जाता है और हम प्रभु के निवास के योग्य बनते हैं। ३. **गभस्तिपूतः**=ज्ञान की रश्मियों से पवित्र हुआ-हुआ **देवः**=प्रभु का स्तोता बनकर (दिव्+स्तुति) **देवेभ्यः**=देवों के लिए तू **पवस्व**=अपने को पवित्र कर ले, अर्थात् ज्ञान+भक्ति से पवित्र हुआ तू देवों का निवासस्थान बन, **येषाम्**=जिन देवों का तू **भागः** =सेवनीय **असि**=है। सारे देव तुझमें आकर निवास करते हैं। तू ज्ञान व भक्ति से अपने कर्मों को पवित्र कर डाल, जिससे तू देवों का सेवनीय स्थान बना रहे। ४. मन्त्र का ऋषि गोतम है। यह अपने जीवन को पवित्र करके देवों को अपनाता है। देवों का निवास-स्थान बनकर यह प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है। 'वाचस्पति' प्रभु की प्राप्ति से इसे भी ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं और यह मन्त्र का ऋषि 'गोतम'=अत्यन्त प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाला बनता है।

भावार्थ—अपने जीवन को पवित्र करके तू प्रभु को प्राप्त कर और ज्ञानवाणियों को ग्रहण करके 'गोतम' बन। इस स्थिति में पहुँचने के लिए तू सोम की रक्षा कर। नीरोग व तीव्र बुद्धि बनकर तू देव बन।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

नाम-स्मरण

मधुमतीर्नऽइषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै

ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥२॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु को हृदयासीन करने के लिए गोतम ने अपने जीवन को अधिकाधिक पवित्र करने का प्रयत्न किया। यह गोतम प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सोम**=हृदयस्थ शान्त प्रभो! आप **नः** =हमारे लिए **मधुमतीः इषः**=अत्यन्त माधुर्य से पूर्ण

प्रेरणाओं को **कृधि**=कीजिए। हमारे जीवनों में, हमारे व्यवहारों में ये प्रेरणाएँ माधुर्य भरनेवाली हों। २. हे **सोम**=प्रभो! **यत्**=जो **ते**=तेरा **अदाभ्यम्**=हिंसित न होने देनेवाला **जागृवि**=सदा सावधान, पहरेदार की भाँति रक्षा करनेवाला **नाम**=नाम है, उसे हे सोम! **तस्मै ते सोमाय**=उस तुझ सोम को प्राप्त करने के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) मैं सुन्दरता से उच्चारण करता हूँ। प्रभु-नाम का उच्चारण मुझे एकाग्र करेगा और अपने अन्दर उस शान्तात्मा प्रभु को देखने के योग्य बनाएगा। ३. मैं **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग (स्व+हा) करता हूँ और **अन्तरक्षिं अन्वेमि**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त करता हूँ, स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर हृदय को विशाल बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु का नाम-स्मरण करने से हम वासनाओं व रोगों के शिकार नहीं होते। यह नाम हमारा सदा जागरित रक्षक बन जाता है। हम नाम का सुन्दरता से उच्चारण करें, जिससे उस सोम=शान्तस्वरूप प्रभु को प्राप्त कर सकें। हम स्वार्थ-त्याग करके अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाएँ।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः॥

सोम

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा॥३॥

गत मन्त्र में वर्णित सोम=उस शान्तात्मा प्रभु को पाने के लिए शरीर में सोम (वीर्य) की रक्षा आवश्यक है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी का वर्णन करते हैं—१. **स्वाङ्कृतोऽसि**=तू स्वयंकृत है, अर्थात् प्रभु-निर्मित व्यवस्था के अनुसार हमारे किसी प्रयत्न के बिना तू शरीर में स्वयं उत्पन्न होता है। तू **विश्वेभ्यः इन्द्रियेभ्यः**=इन्द्र की सब शक्तियों के लिए उत्पन्न किया गया है (इन्द्रिय=इन्द्र की शक्ति)। चाहे वे शक्तियाँ **दिव्येभ्यः**=द्युलोक अर्थात् मस्तिष्क-सम्बन्धी हों और चाहे **पार्थिवेभ्यः**=वे शक्तियाँ पृथिवी अर्थात् शरीर-सम्बन्धी हों, अर्थात् इस सोम के द्वारा मस्तिष्क व शरीर दोनों का ही विकास होता है। ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, शरीर स्वस्थ होता है। २. इस सोम की रक्षा से **मनः**=ज्ञान **त्वा**=तुझे **अष्टु**=व्याप्त करे। **स्वाहा**=अतः इस सोम की रक्षा के लिए तू सुन्दरता से उस प्रभु के नाम का उच्चारण कर (सु आह)। ३. हे **सुभव**=उत्तम सात्त्विक अन्नों से उत्पन्न होनेवाले सोम! मैं **सूर्याय**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य के उदय के लिए **त्वा**=तुझे सुरक्षित करता हूँ। **मरीचिपेभ्यः**=ज्ञान की किरणों का पान करने के लिए मैं तुझे अपने में धारण करता हूँ। ४. हे **देव**=सब दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले **अंशो**=शत्रुओं का भेदन करनेवाले सोम! **यस्मै**=जिस उद्देश्य से **त्वा ईडे**=मैं तेरी (प्रशंसा=स्तुति) करता हूँ **तत् सत्यम्**=वह मेरा उद्देश्य सत्य हो, अर्थात् मेरी वह कामना पूर्ण हो। मेरी वह कामना यह है कि तेरे **उपरिप्रुता**=(उपरि प्रवते) ऊर्ध्व गतिवाले **भङ्गेन**=शत्रुमर्दक बल से **असौ**=वह अज्ञानरूप शत्रु **फट्**=झट **हतः**=मारा जाए, अर्थात् सोम की ऊर्ध्वगति से मुझमें वह शक्ति उत्पन्न हो कि मैं ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाली सब वासनाओं को नष्ट कर डालूँ। ५. हे सोम! **प्राणाय**=मैं शरीर में प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए **त्वा**=तुझे स्वीकार करता हूँ। **व्यानाय त्वा**=मैं तुझे व्यानशक्ति की वृद्धि के लिए स्वीकार करता हूँ। प्राणशक्ति की वृद्धि से मैं नीरोग बनूँगा, और

व्यानशक्ति की वृद्धि से मैं शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर काबू पाऊँगा। ऐसा होने पर मैं वस्तुतः 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बनता हूँ।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मेरे मस्तिष्क व शरीर दोनों का विकास होता है, वासना का विनाश होकर प्राण व व्यानशक्ति बढ़ती है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—मघवाः। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

अन्तर्नियमन

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यँच्छ मघवन् पाहि सोमम्। उरुष्य रायऽएषो यजस्व॥४॥

गत मन्त्र में वर्णित सोम की रक्षा के लिए संयम आवश्यक है। संयम ही योग है। इस योग का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में चलता है। १. हे गोतम! तू **उपयाम गृहीतः असि**=(उपयामाः=योगनियमाः) तू योग के नियमों से गृहीत है, अर्थात् तूने योग के नियमों का पालन किया है। इन योग-नियमों के द्वारा तू **अन्तः यच्छ** =इधर-उधर भटकनेवाले मन को अन्दर ही रोक। २. मन के निरोध से ही तेरा जीवन वास्तविक ऐश्वर्य से युक्त होगा। उस ऐश्वर्य से युक्त होकर **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले गोतम! तू **सोमम्**=सोम को **पाहि**=सुरक्षित कर। **उरुष्य**=इन वासनाओं को ख़ूब ही नष्ट कर (षोऽन्तकर्मणि) ३. वासनाओं को नष्ट करके **रायः**=ज्ञान-धनों को तथा **इषः**=प्रभु से दी जानेवाली प्रेरणाओं को तू **आयजस्व**=अपने साथ सङ्गत कर। ४. वस्तुतः योगमार्ग पर चलनेवाले जीवन का क्रम यही होता है कि (क) वह योग-नियमों को स्वीकार करता है (ख) मन का अन्दर ही निरोध करता है (ग) ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करके सोम की रक्षा करता है। (घ) वासनाओं का विनाश करता है। (ङ) और ज्ञान-धनों व प्रभु-प्रेरणाओं के साथ अपने को जोड़ता है। यह अन्तर्नियमन ही योग है। यही कल्याणकर है।

भावार्थ—हम योग-नियमों का पालन कर मनोनिरोध करें। वासनाओं को जीतकर ज्ञान-धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अवर-पर देवमैत्री

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व॥५॥

गत मन्त्र के 'उपयामगृहीत'=योग के नियमों का पालन करनेवाले से प्रभु कहते हैं कि मैं १. **ते अन्तः**=तेरे अन्दर **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **दधामि**=धारण करता हूँ। तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्योतिर्मय बनाता हूँ और तेरे पृथिवीरूप शरीर को बड़ा दृढ़ बनाता हूँ। २. **अन्तः**=तेरे अन्दर **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को धारण करता हूँ। तेरे हृदय को विशाल बनाता हूँ। ३. इस योग-साधना से शरीर में सब देवांश बड़े ठीक ढङ्ग से अपना-अपना कार्य करते हैं। शरीर के मस्तिष्करूप द्युलोक में निवास करनेवाले देव 'पर' हैं तो पाँव आदि में रहनेवाले देव 'अवर' हैं। **अवरै परैः च**=इन अवर व पर **देवेभिः सजूः**=देवों से मित्रतावाला तू **अन्तर्यामे**=योग के द्वारा मन को अन्दर ही नियमन करने पर **मघवन्**=ज्ञानरूप उत्कृष्ट ऐश्वर्यवाला होकर **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर। योग को यहाँ 'अन्तर्याम' शब्द से स्मरण किया गया है, क्योंकि इसके द्वारा मन को

बाह्य विषयों से रोककर अन्दर रोका जाता है और इसके साथ ही प्राणनिरोध के द्वारा सोम का भी शरीर के अन्दर नियमन होता है। एवं, यह योग 'अन्तर्याम' है। इस अन्तर्याम के होने पर मनुष्य का ज्ञानैश्वर्य बढ़ता है और यह 'मघवन्' बन जाता है। इस ज्ञान (ऋतम्भरा प्रज्ञा) के प्राप्त होने पर मनुष्य वास्तविक आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—योग द्वारा मनोनिरोध होने पर 'मस्तिष्क, मन व शरीर' सुन्दर बनते हैं। अवर व पर सब देवों से मित्रता होती है। ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कर हम आनन्द प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—योगी। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

उदान

स्वाङ्कृतो॑ऽसि वि॒श्वेभ्य॑ऽइन्द्रि॒येभ्यो॑ दि॒व्येभ्यः॒ पार्थि॑वेभ्यो॒ मन॑स्त्वाष्टु॒ स्वाहा॑ त्वा सुभव॒ सूर्या॑य दे॒वेभ्य॑स्त्वा मरीचि॒पेभ्य॑ऽउदा॒नाय॑ त्वा॥६॥

पिछले मन्त्र में योग द्वारा मन को अन्दर ही रोकने का उल्लेख था। इस मनोनिरोध के परिणामस्वरूप सोम की रक्षा होती है। इस सोमरक्षा के परिणाम का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में किया गया है। १. **स्वाङ्कृतः असि**=हे सोम! तू स्वयं कृत है, अर्थात् उस प्रभु की व्यवस्था से शरीर में तेरा स्वयं ही उत्पादन होता रहता है। तेरा उत्पादन **विश्वेभ्यः**=सब **इन्द्रियेभ्यः**=इन्द्र (आत्मा) की शक्तियों के लिए हुआ है। सब शक्तियों का मूल यह सोम ही है, चाहे वे शक्तियाँ **दिव्येभ्यः**=मस्तिष्करूप द्युलोक-सम्बन्धी हैं और चाहे **पार्थिवेभ्यः**= शरीररूप पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं। जहाँ यह सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त बनाता है वहाँ यह शरीर को भी दृढ़ बनाता है। २. **मनः**=मनन-शक्ति व ज्ञान **त्वा**=तुझे **अष्टु**=व्याप्त करे, अर्थात् इस सोमरक्षा से हे गोतम! तू सचमुच गोतम बन जाए। तुझे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हो, अतः सोमरक्षा के लिए स्वाहा (सु आह) तू उत्तमता से प्रभु के नाम का उच्चारण कर। ३. **सुभव**=हे उत्तम सात्त्विक पदार्थों से उत्पन्न सोम! मैं **त्वा**=तुझे **सूर्याय**=मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्योदय के लिए सुरक्षित करता हूँ। **त्वा**=तुझे **देवेभ्यः** =दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए सुरक्षित करता हूँ, **मरीचिपेभ्यः**=ज्ञान की किरणों के पान के लिए तुझे सुरक्षित करता हूँ और अन्ततः **उदानाय त्वा**=उदानवायु की ठीक रक्षा के लिए तेरा स्वीकार करता हूँ। इस उदानवायु ने ही अन्ततः मुझे उत्थान की ओर ले-चलना है। प्राणों का संयम करके उदानवायु से ऊर्ध्व गति करता हुआ मैं अन्त में ब्रह्मरन्ध्र से निकलने में समर्थ होऊँगा और प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँगा।

भावार्थ—मैं सोमरक्षा द्वारा उदानवायु को सिद्ध करनेवाला बनूँ और अन्ततः मोक्ष प्राप्त करूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—वायुः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

पूर्व-पेय

आ वा॑यो भूष शुचिपा॒ऽउप॑ नः स॒हस्रं॑ ते नि॒युतो॑ विश्ववार। उपो॑ ते॒ऽअन्धो॒ मद्य॑मयामि॒ यस्य॑ देव दधि॒षे पू॒र्व॒पेयं॑ वा॒यवे॑ त्वा॥७॥

गत मन्त्र में गोतम ने वीर्यरक्षा द्वारा उदानवायु की साधना की थी। इस प्रकार संयमी जीवनवाला यह 'वसिष्ठ' बनता है। प्रभु इस वसिष्ठ से कहते हैं—१. **वायो**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले वसिष्ठ! **आभूष**=तू सब प्रकार से अपने

को सुभूषित कर। तेरा शरीर स्वास्थ्य से, मन नैर्मल्य से और बुद्धि तीव्रता से अलंकृत हो। २. **शुचिपाः**=तू अत्यन्त शुद्धता को पालनेवाला हो। तेरा जीवन पवित्र-ही-पवित्र हो। ३. हे **विश्ववार**=सब गुणों के स्वीकार करनेवाले वसिष्ठ! **नः**=हमारे **सहस्रम्**=हज़ारों **नियुतः**= (नियुज्यन्ते ये तान् निश्चितान् शमादिगुणान्—द०) शम आदि गुणों को **आभूष**=अपने में सजा, अर्थात् इन गुणों के धारण से अपने जीवन को अलंकृत कर और **ते**=तेरे ये गुण तुझे **नः उप**=हमारे समीप लानेवाले हों। ४. अब वसिष्ठ प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! मैं **ते**=तेरे **मद्यम्**=आनन्द देनेवाले **अन्धः**=आध्यायनीय सोमरूप अन्न को **उ उप अयामि**=निश्चय से समीपता से प्राप्त होता हूँ। इस सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता हूँ। उस सोम को **यस्य**=जिसके **पूर्वपेयम्**=पालन व पूरण करनेवाले पान को हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **दधिषे**=आप हमारे लिए धारण करते हैं, अर्थात् जिसका पान व रक्षण हम आपकी कृपा से कर पाते हैं। ५. हे सोम! मैं **वायवे त्वा**=वायु बन सकूँ, इसलिए तेरा स्वीकार करता हूँ कि वायु=गतिशीलता के द्वारा मैं सब बुराइयों का दूर करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा शतशः शमादि गुणों से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रावायू। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], स्वराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्र+वायु

[क]इन्द्र॑वायूऽइ॒मे सु॒ताऽउप॒ प्रयो॑भि॒राग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि वा॒यव॑ऽइन्द्रवा॒युभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनिः॑ स॒जोषो॑भ्यां त्वा॥८॥

सोमरक्षा के विषय को ही प्रस्तुत मन्त्र में इन शब्दों में कहते हैं कि १. **इन्द्रवायू**=हे इन्द्र और वायु! **इमे**=ये सोमकण **सुताः**=तुम्हारे अन्दर उत्पन्न किये गये हैं। **प्रयोभिः**=सात्त्विक भोजनों (food) से तथा आनन्दमयी मनोवृत्ति (delight, pleasure) से तथा त्याग की भावना (sacrifice) से **उप आगतम्**=इन सोमकणों को समीपता से प्राप्त करो। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रियता का संकेत करता है और 'वायु' शब्द क्रियाशीलता का। सोमकण इन्द्र और वायु के लिए उत्पन्न किये गये हैं। जितेन्द्रिय और क्रियाशील पुरुष ही इनकी रक्षा कर पाता है। इनकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि मनुष्य सात्त्विक भोजनों का प्रयोग करे (प्रयस्), सदा प्रसन्नता को धारण करे (प्रयस्) तथा त्याग की भावनावाला हो (प्रयस्)। यह त्याग की भावना ही उसे विलासमय जीवन से बचाएगी। २. हे इन्द्र और वायो! **इन्दवः**=ये शक्ति देनेवाले सोमकण **वाम् उ**=आप दोनों को ही निश्चय से **उशन्ति**=चाहते हैं। सोमकण इन्हीं में सुरक्षित रहते हैं। 'जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता' सोमरक्षा के मुख्य उपाय हैं। ३. **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु के समीप (उप) निवास के द्वारा यम-नियमों से तू गृहीत है, योग के नियमों का तूने पालन किया है। **वायवे**=इस क्रियाशील पुरुष के लिए तू है। प्रभु कहते हैं कि हे सोम! **इन्द्रवायुभ्याम्**=इन्द्र और वायु के लिए ही मैंने **त्वा**=तुझे उत्पन्न किया है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इस शरीर में ही तूने रहना है, इससे दूर नहीं होना। मनुष्य इस सोम की रक्षा के लिए प्रातः-सायं प्रभु चिन्तन करता हुआ यम-नियमों के पालन का प्रयत्न करे। यम-नियमों के पालन से ही मानव-जीवन में क्रियाशीलता और जितेन्द्रियता उत्पन्न होती है। ये क्रियाशील तथा जितेन्द्रिय पुरुष ही सोम की रक्षा करनेवाले होते हैं। ४. हे सोम! **सजोषोभ्यां त्वा**=समानरूप से मिलकर प्रीतिपूर्वक गृहकार्यों का सेवन करनेवाले पति-पत्नी के लिए मैं तुझे उत्पन्न करता हूँ (स=मिलकर

जुष्=प्रीति-सेवन)। जिस गृहस्थ में पति-पत्नी का समन्वय नहीं होता, उसमें दोनों का जीवन अनियन्त्रित-सा हो जाता है। उस अनियन्त्रित जीवन में दोनों का पतन होता है। जब पति-पत्नी मिलकर यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगते हैं तो वे एक-दूसरे को पतन से बचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र=जितेन्द्रिय और वायु=क्रियाशील बनकर सोम की रक्षा करनेवाले बनें। यही मधुरतम कामना है। इस मधुर इच्छावाले हम 'मधुच्छन्दा' बनते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—आर्षीगायत्री[क], आसुरीगायत्री[र]। स्वरः—षड्जः।।

मित्र+वरुण

[क]अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोमऽऋतावृधा। ममेदिह श्रुतꣳहवम्।

[र]उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा।।९।।

१. गत मन्त्र में 'मधुच्छन्दा'=माधुर्य-ही-माधुर्य को अपनानेवाला, सभी का स्नेही (मित्र) तथा किसी से भी द्वेष न करनेवाला (वरुण) बनता है। यही प्रभु का सच्चा स्तवन है। यही जीवन के आनन्द का मूल है। सच्चा स्तवन करनेवाला और आनन्द को प्राप्त करनेवाला यह 'गृत्स-मद' कहलाता है। 'गृणाति+माद्यति'=स्तुति करता है, प्रसन्न रहता है। यही सोम की रक्षा कर पाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—स्नेह करनेवाले व द्वेष का निवारण करनेवाले! इस प्रकार **ऋतावृधा**=अपने में ऋत का वर्धन करनेवाले! **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी के लिए **अयं सोमः**=यह सोम **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। २. **इह**=मानव-जीवन में **इत्**=निश्चय से **मम**=मेरी **हवम्**=पुकार को, प्रेरणा को **श्रुतम्**=तुम सुनो। मुझसे प्रतिपाद्यमान सोम के महत्त्व को सुनो और इसकी रक्षा के लिए नितान्त प्रयत्नशील होओ। ३. **उपयामगृहीतः असि**=हे सोम! तू प्रभु-उपासन के द्वारा और यम-नियमों के द्वारा धारण किया जाता है। **मित्रावरुणाभ्यां त्वा**=मैं तुझे मित्र और वरुण के लिए ही उत्पन्न करता हूँ, अर्थात् इस सोम की रक्षा के लिए मित्र और वरुण बनना आवश्यक है।

भावार्थ—हम सबके साथ स्नेह करनेवाले, द्वेष से सदा दूर रहनेवाले बनकर सच्चे प्रभुभक्त बनें और प्रसन्नचित्त होकर सोमरक्षा में समर्थ हों।

ऋषिः—त्रसदस्युः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः।।

ऋत और आयु

राया वयꣳससवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा।।१०।।

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार जब हम सचमुच मित्र व वरुण बनकर प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं तब प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'त्रसदस्यु' बनते हैं। त्रस=डरते हैं दस्यु=दुष्टभाव जिससे। जिसमें आसुर वृत्तियाँ बिल्कुल नहीं होतीं, ऐसे त्रसदस्यु बनकर **वयम्**=हम **राया**=धन से **ससवांसः**=संभक्त हुए-हुए, अर्थात् संविभागपूर्वक धन को प्राप्त हुए-हुए **मदेम**=इस प्रकार आनन्द अनुभव करें जैसेकि **देवाः**=देव **हव्येन**=हव्य पदार्थों से प्रसन्न होते हैं और **गावः**=गौ आदि पशु **यवसेन**=अपने चारे (fodder) से प्रसन्न होते हैं। अथवा जब हम धन प्राप्त करें तो उस धन में से देवताओं को भी हव्य प्राप्त हो और गौवों

को भी यवस प्राप्त हो। हमारे धन में देवों व गवादि पशुओं का भी भाग हो। यही देवयज्ञ व बलिवैश्वदेव यज्ञ कहलाते हैं। २. प्रभु इन मित्र और वरुण बननेवालों से कहते हैं कि हे **मित्रावरुणा**=स्नेह करनेवाले व द्वेष को दूर भगानेवाले! **युवम्**=तुम **नः तां धेनुम्**=हमारी वेदवाणीरूप गौ को **अनपस्फुरन्तीम्**=मन में फुरती हुई को **विश्वाहा**=सदा **धत्तम्**=धारण करो। तुम्हें वेदवाणी स्पष्ट हो। तुम वेदवाणीरूप धेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाले बनो। ३. इस वाणी के स्फुरण के लिए आवश्यक है कि हम सोम की रक्षा करनेवाले बनें, अतः प्रभु कहते हैं कि हे सोम! **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरी योनि है, उत्पत्ति व निवासस्थान है। इस शरीर में ही तूने रहना है। **त्वा**=तुझे **ऋतायुभ्याम्**=ऋत और आयु के लिए इस शरीर में स्थपित करता हूँ। शरीर में 'सब क्रियाएँ ठीक-ठीक चलें और दीर्घ जीवन प्राप्त हो' इसीलिए सोम का उत्पादन हुआ है। ऋत और आयु शब्द मित्र और वरुण के लिए भी प्रयुक्त होते हैं, अतः मित्र और वरुण के लिए तुझे स्थापित करता हूँ। (मित्राः ऋतं वरुण एव वायुः—श० ४।१।४।१०) अथवा ऋत को चाहनेवाले पति-पत्नी के लिए तुझे स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षा द्वारा हमारा जीवन ऋतमय हो और हम दीर्घायुष्य प्राप्त करें।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

माधुर्यमयी वाणी

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा॥११॥

१. पिछले मन्त्र में 'मित्रावरुणौ' का प्रकरण था—'सबके साथ स्नेह करनेवाले, द्वेष न करनेवाले'। उन्हीं से कहते हैं कि **या**=जो **वाम्**=आप दोनों **अश्विना**=पति-पत्नी की **मधुमती**=माधुर्यवाली तथा **सूनृता-वती**=उत्तमता से दुःखों का परिहाण करनेवाली ऋत, अर्थात् सत्य **कशा**=वाणी है **तया**=उससे **यज्ञम्**=यज्ञ को **मिमिक्षतम्**=खूब सिक्त कर दो। आपका जीवन यज्ञमय हो। यज्ञ के लिए ही आपका संयोग हुआ है। वह यज्ञ बड़ी मधुर वाणी को लिये हुए हो। उस यज्ञ में मधुर शब्दों का ही प्रयोग हो। २. हे सोम! तू **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु के समीप निवास द्वारा धारण किये गये यम-नियम से धारण किया जाता है, अर्थात् तेरी रक्षा के लिए यम-नियमों का पालन आवश्यक है। **अश्विभ्यां त्वा**=तुझे मैंने पति-पत्नी के लिए, अर्थात् उनके कार्यों को सुचारुरूपेण चलाने के लिए स्थापित किया है। ३. **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इसी में तूने व्याप्त होकर रहना है। **माध्वीभ्यां त्वा**=तुझे मैंने शरीर में इसलिए स्थापित किया है कि पति-पत्नी दोनों का जीवन बड़े माधुर्य को लिये हुए हो। सुरक्षित सोम जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करने का कारण बनता है। 'अश्विना' शब्द प्राणापान के लिए भी प्रयुक्त होता है। तब अर्थ होगा कि यह सोम प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के लिए स्थापित हुआ है और प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा यह माधुर्य को जन्म देने के लिए है। वस्तुतः 'मेधातिथि'=(मेधया अतति) समझदार वही है जो सोमरक्षा द्वारा प्राणापान की शक्ति को बढ़ाता है और परिणामतः अपने जीवन व वाणी को माधुर्यमय बनाता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा वाणी को मधुर बनाएँ। हमारे यज्ञ मधुर वाणी से सम्पन्न हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीजगती^क, पङ्क्तिः^र।
स्वरः—निषादः^क, पञ्चमः^र॥

दोहन या वीरता (वीरता-दोहन)

^कतं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदंꣳस्वर्विदम्। प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे। ^रउपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि॥१२॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार पूर्ण मधुर जीवन बनाने के लिए कहते हैं कि **तम्**=उस प्रभु को जोकि **ज्येष्ठतातिम्**=ज्येष्ठता का विस्तार करनेवाले हैं, उपासक के जीवन को अधिकाधिक प्रशस्त बनानेवाले हैं, **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य हृदयाकाश में विराजनेवाले हैं, **स्वर्विदम्**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं, **प्रतीचीनम्**=अविद्यादि दोषों के प्रतिकूल हैं, अर्थात् अविद्यादि से हमें दूर ले-जानेवाले हैं **वृजनम्**=जो बलरूप हैं, अर्थात् जिसकी उपासना से उपासक शक्ति का अनुभव करता है **धुनिम्**=सब दोषों को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं **आशुम्**=शीघ्रता से कार्यसिद्धि देनेवाले हैं **जयन्तम्**=सदा विजयी हैं, अर्थात् हमारे कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, उस प्रभु को **प्रत्नथा**= प्राचीनकाल की भाँति **पूर्वथा**=अपने से पहले होनेवाले योगियों की भाँति **विश्वथा**=अन्य सब देवों की भाँति **ईमथा**=वर्त्तमान काल के योगियों की भाँति **दोहसे**=तू अपने अन्दर दोहन करता है, अर्थात् उस प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरता है। **अनुयासु**=इन दोहन-क्रियाओं के अनुसार ही **वर्धसे**=तू बढ़ता है, जितना-जितना तू अपने में प्रभु का दोहन करता है उतना-उतना तेरा वर्धन होता है, उतना-उतना ही तू वासनाओं को जीतकर आगे बढ़ता चलता है। २. उपासक के हृदयाकाश में आसीन प्रभु शरीर में उत्पादित सोमशक्ति से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना के द्वारा धारण किये गये यम-नियमों से गृहीत होता है। **शण्डाय त्वा**=शमादि गुणयुक्त पुरुष के लिए मैं तुझे शरीर में उत्पन्न करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा निवासस्थान है, तूने शरीर में ही रहना है, शरीर में व्याप्त होकर तू उस पुरुष को शमादि गुणयुक्त करता है। ३. **वीरतां पाहि**=तू इस शान्त पुरुष की वीरता की रक्षा कर। **शण्डः**=यह शमादि गुणयुक्त पुरुष **अपमृष्टः**=सब मलों के दूरीकरण से शुद्ध कर दिया जाए। **शुक्रपाः**=वीर्य की रक्षा करनेवाले **देवाः**=विद्वान् लोग **त्वाम्**=तुझ वीरता को **प्रणयन्तु**=प्रकर्षेण अपने में प्राप्त कराएँ। **अनाधृष्टा असि**=तू वासनाओं से धर्षित नहीं होती। वीरता के साथ सब सद्गुणों का वास है, वीरता ही virtue है। अवीरता के साथ evil आती है। वीर पुरुष कामादि से धर्षित नहीं होता।

भावार्थ—हम योगक्रियाओं द्वारा सोम की रक्षा करें। सुरक्षित सोम से हमारी वीरता बढ़े और हम वासनाओं से धर्षित न हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्^क, प्राजापत्यागायत्री^र।
स्वरः—धैवतः^क, षड्जः^र॥

शमादि गुणयुक्त पुरुष

^कसुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः ^रशुक्रस्याधिष्ठानमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार अपने में वीरता का पूरण करनेवाला **सुवीरः**=उत्तम वीर **वीरान्**=(virtues, उत्कृष्टगुणान्–द०) उत्तम गुणों को **प्रजनयन्**=अपने में विकसित करता हुआ तू **परीहि**=सर्वतः प्राप्त हो। २. **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से तू **यजमानम्**=यज्ञ करनेवाले को, अर्थात् दानादि उत्तम कार्यों के करनेवाले को **अभि**=लक्ष्य करके **परीहि**=प्राप्त हो, अर्थात् तू धन–धान्य से समृद्ध होकर यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाला बन। ३. **दिवा**=देदीप्यमान मस्तिष्क से तथा **पृथिव्या**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर से **संजग्मानः**=सङ्गत हो, अर्थात् तेरा मस्तिष्क ज्ञानज्योति से चमके तो तेरा शरीर सब शक्तियों के विस्तारवाला होता हुआ सचमुच 'पृथिवी' हो। ४. **शुक्रः**=तू वीर्य का पुञ्ज बन। **शुक्रशोचिषा**=पवित्र करनेवाले वीर्य की दीप्ति से तू **निरस्तः**=अपमृष्टः=सब मलिनताओं को दूर करके पूर्ण शुद्ध बन। ४. पूर्ण शुद्ध बना हुआ यह **शण्डः**=शमादि गुणयुक्त पुरुष **शुक्रस्य**=इस जीवन को पवित्र करनेवाले सोम का **अधिष्ठानम्**=आधार **असि**=है। शमादि गुण वीर्यरक्षा में सहायक होते हैं। इसी से शान्त पुरुष वीर्य का अधिष्ठान बनता है। वीर्य शमादि गुणों का जनक है तो शमादि गुण वीर्यरक्षा में सहायक हैं। इसी दृष्टिकोण से ब्रह्मचारी के लिए सौम्य होना आवश्यक है और क्रोध वर्जित है।

भावार्थ—१. वीर्यरक्षा से वीर बनकर मनुष्य अपने में सद्गुणों का पोषण करता है। २. धन की वृद्धि करके यज्ञशील बनता है। ३. देदीप्यमान मस्तिष्क व विस्तृत शक्तिवाले शरीर को प्राप्त करता है। ४. सब मालिन्यों से दूर होता है और ५. शमादि गुणों से युक्त होता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

प्रथमा संस्कृति

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥१४॥

१. गत मन्त्र का शमादि गुणयुक्त पुरुष प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले सोम! हम **ते**=तेरे **अच्छिन्नस्य**=कभी विच्छिन्न न होनेवाले **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीरता से युक्त **रायस्पोषस्य**=धन के पोषण के **ददितारः**=(दधितारः) धारण करनेवाले **स्याम**=हों। हम सोम की रक्षा के द्वारा उत्तम शक्ति को प्राप्त करें, उत्तम धनों को धारण करनेवाले बनें। ३. (क) अविच्छिन्नरूप से हम वीर्य को धारण करनेवाले बनें, (ख) धनों को प्राप्त करके यज्ञादि उत्तम कार्यों के लिए दान करनेवाले हों। **सा**=इन दोनों बातों का पालन करना ही **प्रथमा**=प्रमुख अथवा हमारे जीवनों व शक्तियों का विस्तार करनेवाली **संस्कृतिः**=संस्कृति (culture) है। यह संस्कृति **विश्ववारा**=सबसे वरने के योग्य है। सभी को इस संस्कृति को अपनाना चाहिए, अथवा यह **विश्ववारा**=सब वरणीय वस्तुओंवाली है। इस संस्कृति से हमारे अन्दर सब इष्ट गुणों की उत्पत्ति होती है। ४. **सः**=वह—इस संस्कृति को अपनानेवाला व्यक्ति **प्रथमः**=अपनी सब शक्तियों का विस्तार करता है, अतएव समाज में मुख्य–प्रथम स्थान में स्थित होता है। **वरुणः**=यह सब द्वेषों व अन्य बुराइयों का निवारण करनेवाला होता है और इस प्रकार 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः' श्रेष्ठ जीवनवाला होता है। **मित्रः**=यह सभी के साथ स्नेह करता है 'प्रमीतेः त्रायते' और अपने को पापरूप मृत्युओं से बचाता है, तथा **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—सबसे स्वीकार करनेयोग्य संस्कृति यही है कि १. हम अविच्छिन्न वीर्य

को धारण करनेवाले बनें, शक्ति की रक्षा करें। २. और दान दिये जानेवाले (रा दाने) धन के पोषक हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः ॥

आग्नीत् की मधुर वाणी

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा॑ऽइन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा। तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहायाडग्नीत्॥१५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार संस्कृति को अपनानेवाला **सः**=वह व्यक्ति **प्रथमः**=अपनी सब शक्तियों का विस्तारक होता है। २. यह **बृहस्पतिः**=बृहती वेदवाणी का पालक बनता है—विद्यायुक्त वाणी का अधिष्ठाता होता है। सर्वोच्च ऊर्ध्वा दिशा का यह अधिपति होता है। ३. **चिकित्वान्**=विज्ञानवान् अथवा 'कित निवासे रोगापनयने च'=उत्तम निवासवाला या नीरोग होता है। ४. हे विश्वेदेवा! तुम **तस्मा इन्द्राय**=इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए **सुतम्**=ऐश्वर्य को **आजुहोत**=सर्वथा दो। **स्वाहा**=यही सु+हा=उत्तम त्याग है। देवों का सर्वोत्तम दान यही है कि वे जितेन्द्रिय पुरुष को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। ५. इन इन्द्रवृत्तिवाले लोगों को **होत्राः**=वाणियाँ **तृम्पन्तु**=तृप्त करें, **यत्**=जो वाणियाँ **मध्वाः**=माधुर्य से युक्त हैं और **याः**=जो **स्विष्टाः**=(सु इष्टाः) अत्यन्त वाञ्छनीय हैं **याः**=जो **सुप्रीताः**=(प्रीञ् तर्पणे) उत्तम तृप्ति देनेवाली हैं **सुहुताः**=जिन वाणियों से उत्तम यज्ञादि कर्म किये जाते हैं। ६. **यत्**=क्योंकि **अग्नीत्**=(अग्निमिन्धे) अग्नि को समिद्ध करनेवाला व्यक्ति **स्वाहा**=उत्तम वाणियों के द्वारा (सत्यवाणी से—द०) **अयाट्**=यज्ञों को करता है अथवा सभी को सत्कृत करता है (यज्=देवपूजा)। **अग्नीत्**=अग्नि को समिद्ध करता है, अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों को करता है तथा प्रभुरूप अग्नि को अपने हृदय में देखने का प्रयत्न करता है। सर्वत्र प्रभु को देखनेवाला यह व्यक्ति सभी के साथ मधुर वाणियों का प्रयोग करता है।

भावार्थ—प्रभुरूप अग्नि को समिद्ध करनेवाला सदा मधुर वाणी का प्रयोग करता है, मधुर सत्यवाणी से ही सबका सत्कार करता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], साम्नीगायत्री[र]।
स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

शक्ति व शान्ति का समन्वय

[क]अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाᳬसङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति। [र]उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा॥१६॥

१. **अयम्**=गत मन्त्र में वर्णित मधुर वाणियोंवाला यह व्यक्ति ही **वेनः**=मेधावी है (नि० ३।१५)। यह **पृश्निगर्भाः**=(पृश्निः आदित्यो गर्भे येषाम्) आदित्य के समान ज्योति है गर्भ में जिनके, अर्थात् ज्ञान से परिपूर्ण वाणियों को **चोदयत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् इसकी वाणियाँ सदा ज्ञान के प्रकाशवाली होती हैं। २. यह **रजसो विमाने**=रजोगुण के विशिष्ट रूप से निर्माण के निमित्त **ज्योतिर्जरायुः**=ज्योतिरूप वेष्टन व आच्छादनवाला होता है। यह ज्ञान को अपना आवरण बनाता है और परिणामतः रजोगुण को विशिष्ट परिमाण में अपने अन्दर विकसित होने देता है। ज्ञान के कारण इसका रजोगुण उच्छृंखल न होकर सदा नियन्त्रित होता है। ३. **इमम्**=इस वेन (मेधावी) को **अपाम्**=जलों, **सूर्यस्य**=सूर्य व

तेज का **सङ्गमे**=सङ्गम होने पर, अर्थात् शान्ति (=जल) व शक्ति (=सूर्य-तेज) का समन्वय होने पर **शिशुं न**=शिशु के समान अर्थात् पुत्रवत् प्रेम करते हुए **विप्राः**=ज्ञानी लोग **मतिभिः**=ज्ञानों से **रिहन्ति**=सत्कृत करते हैं (रिहन्तीत्यर्चतिकर्मसु—नि० ३।१४), अर्थात् शान्ति व शक्ति का अपने में समन्वय करनेवाले इस मेधावी को जो **शिशुं न**=एक अबोध बालक के समान निर्दोष है, ज्ञानी लोग प्रेम से ज्ञान देते हैं। आचार्यों का विद्यार्थी को ज्ञान देना ही अर्चन है। ४. **उपयामगृहीतः असि**=हे वेन! तू उपयामगृहीत है, प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से युक्त है। **मर्काय त्वा**=(मर्च गतौ) मैं तुझे गतिशीलता के लिए प्रेरित करता हूँ। यह गतिशीलता ही तुझे पवित्र बनाएगी और तू प्रभु का उपासक बनकर यम-नियमों का पालन करनेवाला हो सकेगा।

भावार्थ—मेधावी पुरुष ज्ञान को अपना आच्छादन बनाता है। यह अपने जीवन में शान्ति व शक्ति का मिश्रण करता है। ज्ञानी इसे प्रेम से ज्ञान प्राप्त कराते हैं और यह गतिशील बनकर प्रभु का उपासक होता हुआ यम-नियमों का पालन करता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मनो विजय

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णोऽअस्याश्रीणीतादिशं गभस्तावेष ते योनिः
प्रजाः पाह्यपमृष्टो मर्को देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि॥१७॥

गत मन्त्र में प्रभु की उपासना के द्वारा वेन अपने जीवन को अत्यन्त सुन्दर बनाने का निश्चय करता है। 'इन प्रभु-उपासनाओं से क्या होता है?' यह बात प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **येषु हवनेषु**=जिन प्रभु के पुकारने के समयों पर अथवा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने के अवसरों पर **विपः**=मेधावी पति-पत्नी **मनः**=अपने मन को, जो मन **न तिग्मम्**=तेज़ नहीं है, अर्थात् जो शान्त है, उसे **शच्या**=प्रज्ञापूर्वक **द्रवन्ता**=गति करते हुए **वनुथः**=जीतते हैं। २. उपासना से मन शान्त होता है, मनुष्य सब क्रियाओं को बुद्धिमत्तापूर्वक करता है, अन्त में मन को पूर्णरूप से जीत लेता है। यह मनोविजेता वह है **यः**=जो **आशर्याभिः**=(शॄ हिंसायाम्) सब बुराइयों की हिंसा के द्वारा **तुविनृम्णः**=महान् बलवाला है। **अस्य**=इसकी **गभस्तौ**=ज्ञान-किरणों में **आदिशम्**=(दिशायाम् दिशायाम्) प्रत्येक दिशा में **आश्रीणीत**=अपने को परिपक्व करो। जिसने स्वयं मन को जीता है, उसके अनुभवों से पूर्ण लाभ लेते हुए अन्य लोग भी अपनी शक्तियों का परिपाक करें। ३. **एषः ते योनिः**=हे सोम! जिस तेरी रक्षा पर ही सब उन्नतियाँ निर्भर करती हैं, उस तेरा यह शरीर ही घर है। इस शरीर में ही व्यापक होकर तूने रहना है। ४. शरीर में रहकर **प्रजाः पाहि**=सब प्रजाओं का तू पालन कर। तेरे निवास से ही यह **मर्कः**=शरीर **अपमृष्टः**=बुराइयों के सुदूर विध्वंस के द्वारा शुद्ध कर दिया जाता है। ५. इसीलिए **मन्थिपाः**=सोम की रक्षा करनेवाले **देवाः**=देव **त्वा**=तुझे **प्रणयन्तु**=शरीर में विशेष रूप से प्राप्त कराएँ। हे शुक्रशक्ते! तू **अनाधृष्ट असि**=अपराजेय है। तेरे होने पर शरीर में किसी रोगादि का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु-उपासना से मन शान्त होता है। जीवन शुद्ध होता है। यह शुक्रशक्ति अपराजेय है। इसकी रक्षा से ही शरीर निर्दोष होता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यागायत्री[र]।
स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[र]॥

सु-प्रजाः

[क]सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्को [र]मन्थिनोऽधिष्ठानमसि॥१८॥

१. गत मन्त्र का मनोविजेता **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाला होता है। यह **प्रजाः**=प्रजाओं को **प्रजनयन्**=विकसित करनेवाला होता है। २. यह **यजमानम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को रचनेवाले प्रभु को **अभिरायस्पोषेण**=आन्तर व बाह्य सम्पत्ति के पोषण से **परीहि**=प्राप्त होता है। प्रभु की प्राप्ति का उपाय यही है कि मनुष्य बाह्य सम्पत्ति, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य का सम्पादन करे और साथ ही आन्तर सम्पत्ति पवित्रता व ज्ञान को सिद्ध करे। 'स्वस्थ, पवित्र व ज्ञानी' पुरुष ही प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी होता है। ३. **दिवा**=ज्ञान की ज्योति से तथा **पृथिव्या**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर से **संजग्मानः**=सङ्गत हुआ-हुआ तू **मन्थी**=शत्रुओं का मथन करनेवाला होता है। ४. **मन्थिशोचिषा**=रोगकृमियों का मथन करनेवाले सोम की दीप्ति से **मर्कः** =यह देह **निरस्तः**=(अपमृष्टः) सब दोषों को दूर फेंकनेवाला होता है (असु क्षेपणे)। ५. हे सुप्रजाः! तू इसी दृष्टिकोण से **मन्थिनः**=सोम का **अधिष्ठानम् असि**=अधिष्ठान बनता है। वस्तुतः 'सुप्रजाः' का 'सुप्रजास्त्व' इस सोम के कारण ही है। १३ वें मन्त्र में इसे ही 'सुवीर' शब्द से स्मरण किया गया था। वहाँ सोम के लिए 'शुक्र' शब्द का प्रयोग था।

भावार्थ—वीर्यरक्षा से मनुष्य 'सुप्रजाः' होता है, स्वस्थ व ज्ञानी बनकर प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है, निर्दोष शरीरवाला बनता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

तेतीस (३३) देव

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥१९॥

गत मन्त्र की भावना को जीवन में अनूदित करके जब मनुष्य अपने जीवन को पवित्र व यज्ञमय बनाता है तब वह इस प्रकार प्रार्थना करने का अधिकारी होता है कि—१. **ये**=जो **दिवि**=द्युलोक में—मस्तिष्क में **एकादश**=ग्यारह **देवासः स्थ**=देव हो और **पृथिव्याम् अधि**=इस पृथिवी पर, स्थूलशरीर में, **एकादश स्थ**=जो ग्यारह देव हो तथा **महिना**=(महिम्ना) अपनी महिमा से **अप्सुक्षितः**=अन्तरिक्ष में, हृदयाकाश में, रहनेवाले **एकादश स्थ**=ग्यारह देव हो, **ते देवासः**=वे सब देव **इमं यज्ञम्**=मेरे इस यज्ञमय जीवन का **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। २. मेरा यह जीवन यज्ञमय हो और इसमें सब देवों का निवास हो। वस्तुतः जब हमारा जीवन देवों का निवासस्थान बनता है तभी यह परमात्मा का भी निवासस्थान बनने के योग्य होता है। उस महादेव के आने के लिए पहले देवों का आना आवश्यक है। देवों का आना महादेव के आने की तैयारी है। ३. द्युलोक के देवों का मुखिया सूर्य है। मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान-सूर्य का उदय हो। अन्तरिक्ष लोक के देवों का मुखिया वायु व विद्युत् हैं। मेरा हृदय भी वायुवत् निरन्तर क्रियाशीलता के संकल्प से भरा हुआ हो तथा सब वासनाओं को विद्युत् की तरह छिन्न-भिन्न करनेवाला हो। पृथिवीलोक में देवों का

मुखिया 'अग्नि' है। मेरा शरीर भी अग्नि की उष्णतावाला हो। एवं, सब देवों से युक्त होकर मैं सचमुच जीवन को यज्ञ का रूप दे डालूँ और यज्ञमय बनकर प्रभु का निवासस्थान बन जाऊँ।

भावार्थ—मेरा जीवन यज्ञरूप हो। यह देवों का आश्रम बने और प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

आग्रयण

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः। पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि॥२०॥

१. गत मन्त्र के तेतीस देवों का अधिष्ठान बननेवाले व्यक्ति के लिए कहते हैं कि तू **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु-उपासना के द्वारा यम-नियमों को धारण करनेवाला बना है। २. **आग्रयणः असि**=(अग्रे अयनं यस्य) तू अग्रगतिवाला है **सु आग्रयणः**=बड़ी उत्तमता से आगे बढ़नेवाला है। ३. तू अपने जीवन में **यज्ञं पाहि**=यज्ञ की रक्षा कर। तेरा जीवन यज्ञमय बना रहे। ४. **यज्ञपतिं पाहि**=तू यज्ञों के पालक प्रभु की रक्षा करनेवाला बन। प्रभु की रक्षा का अभिप्राय यह है कि तू इन यज्ञों को सिद्ध करके प्रभु को भूल न जाए। 'यज्ञपति विष्णु ही हैं' तूने इस बात को भूलना नहीं। ५. नहीं भूलने पर **विष्णुः**=सब यज्ञों के धारक प्रभु **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रियेण**=(इन्द्रियं वीर्यम्) शक्ति से **पातु**=रक्षित करते हैं। ६. इसलिए **त्वम्**=तू **विष्णुं पाहि**=उस प्रभु की रक्षा कर। उस प्रभु को कभी भूल नहीं। ७. प्रभु को न भूलता हुआ तू शक्ति-सम्पन्न बनेगा और शक्ति-सम्पन्न बनकर **सवनानि** =यज्ञों को **अभिपाहि**= अन्दर-बाहर दोनों ओर सुरक्षित कर। बाहर के यज्ञ 'द्रव्ययज्ञ' हैं, अन्दर के यज्ञ 'ज्ञानयज्ञ'। तू दोनों को करनेवाला बन। ज्ञानयज्ञ उत्कृष्ट है। उसे तो करना ही है, पर द्रव्ययज्ञों की भी आवश्यकता है। द्रव्ययज्ञों से शरीर का शोधन होता है, ज्ञानयज्ञों से आत्मा का, अतः आग्रयण दोनों ही यज्ञों को करता है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो, परन्तु हमें उन यज्ञों का गर्व न हो जाए। 'प्रभु ही सब यज्ञों के पति हैं' इस बात को हम भूलें नहीं।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—सोमः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], याजुषीजगती[र]। स्वरः—धैवतः[क], निषादः[र]॥

पवित्रता

[क]सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवतऽइषऽऊर्जे पवतेऽद्भ्यऽओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽ [र]एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥२१॥

१. गत मन्त्र की मुख्य भावना यह है कि प्रभु ही सब यज्ञों के पति हैं। वस्तुतः जीव से समय-समय पर किये जानेवाले सब यज्ञों को करने की शक्ति उसे प्रभु ही देते हैं। प्रभु ने हमारे शरीरों में सोम-निर्माण की व्यवस्था की है। यह **सोमः**=सोम **पवते**=हमारे जीवनों को पवित्र करता है। इस वीर्य के द्वारा शरीर नीरोग रहता है, मन बुराइयों से बचा रहता है और मस्तिष्क दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनता है। एवं, सोम शरीर, मन व मस्तिष्क सभी

को पवित्र बनाता है। २. **अस्मै ब्रह्मणे**=इस ज्ञान के लिए **सोमः**=सोम **पवते**=हमें पवित्र करता है, **अस्मै क्षत्राय**=इन क्षतों से त्राण करनेवाले, रोगों के आघातों से बचानेवाले, बल के लिए यह सोम हमें पवित्र करता है तथा **अस्मै सुन्वते यजमानाय**=इस ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले (सुवानाय) यजमान के लिए यह सोम हमें पवित्र करता है। इस सोम की रक्षा से जहाँ हम ऐश्वर्य कमाने की योग्यतावाले होते हैं, वहाँ उसका यज्ञों में विनियोग करने की रुचिवाले होते हैं। ३. यह सोम **पवते**=हममें गति करता हुआ हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है, जिससे **इषे**=हम प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें और **ऊर्जे**=बल तथा प्राणशक्ति से युक्त होकर उस प्रेरणा को क्रियारूप में ला सकें।

४. यह सोम हमारे अन्दर **अद्भ्यः**=जलों से तथा **ओषधीभ्यः**=वनस्पतियों से ही **पवते**=पवित्रता का सञ्चार करता है। जलों व वनस्पतियों से उत्पन्न वीर्य ही सात्त्विक वीर्य है। वही हमारे जीवनों को पवित्र करता है। मांसाहार से उत्पन्न वीर्य इस पवित्रता का साधक नहीं होता। इसे वेद में **'उष्णं वाः'**=उष्ण् वीर्य कहा गया है और इसका शरीर में सुरक्षित होना सुगम नहीं है। ५. यह जलों व ओषधियों से उत्पन्न सोम **द्यावापृथिवीभ्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्योतिर्मय तथा शरीररूप पृथिवी को दृढ़ बनाने के लिए **पवते**=हममें गति करता है। ६. इस प्रकार **सुभूताय**=यह सोम उत्तम स्थिति के लिए अथवा उत्तम ऐश्वर्य के लिए **पवते**=हममें गति करता है। ७. ठीक-ठीक बात यह है कि यह सोम **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए **त्वा**=तुझे **पवते**=पवित्र कर देता है। ८. **एषः ते योनिः**=यह सोम ही तेरी सब उन्नतियों का कारण है। यही **त्वा**=तुझे **विश्वेभ्यः देवभ्यः**=सब दिव्य गुण प्राप्त कराता है।

भावार्थ—शरीर के अन्दर जलों व ओषधियों से उत्पन्न वीर्य 'ज्ञान-बल-ऐश्वर्य' को बढ़ानेवाला होता है। यह शरीर व मस्तिष्क दोनों को सुन्दर बनाता हुआ सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

दिव्यता व यज्ञमय जीवन

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वतऽउक्थाव्यं गृह्णामि।
यत्तऽइन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा
देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि॥२२॥

१. गत मन्त्र में जलों व ओषधियों से उत्पन्न सोम का वर्णन था। उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु-उपासन के द्वारा तू यम-नियमों से स्वीकृत है। मैं **त्वा**=तुझे, जो तू **उक्थाव्यम्**=(उक्थम् अवति) प्रशंसनीय वस्तुओं की रक्षा करनेवाला है **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। क्यों? (क) **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए अथवा शत्रुओं के विदारण के लिए। सोम की रक्षा से ही ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त होता है, और हम रोगकृमि आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनते हैं। (ख) **बृहद्वते**=(बृहन्ति प्रशस्तानि कर्माणि विद्यन्ते यस्मिन्) प्रशस्त कर्मोंवाले जीवन के लिए। सोमरक्षा से हमारी प्रवृत्तियाँ सुन्दर बनी रहती हैं और परिणामतः हमारे कार्य भी सुन्दर होते हैं। (ग) **वयस्वते**=प्रशस्त जीवन के लिए। 'सोम रक्षा से ज्ञान व स्वास्थ्य की वृद्धि होकर जीवन उत्तम बनता है' इस बात में तो सन्देह है ही नहीं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो!

यत्=जो **ते**=तेरा **बृहद्वयः**=वृद्धिशील जीवन है **तस्मै**=उसके लिए मैं **त्वा**=आपको स्वीकार करता हूँ। **विष्णवे त्वा**=(यज्ञो वै विष्णुः) अपने जीवन को यज्ञात्मक रखने के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह सोम ही आपकी प्राप्ति का कारण है। ३. मैं **उक्थेभ्यः**=स्तोत्रों के लिए, प्रशंसनीय कर्मों के लिए **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **देवाव्यम्**=(देवान् अवति) दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **यज्ञस्य**=यज्ञ के **आयुषे**=जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सोम की रक्षा के द्वारा मैं दिव्यता का साधन करता हुआ यज्ञमय जीवन बिताता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा मेरा जीवन दिव्य व यज्ञमय बनता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—अनुष्टुप्[१], प्राजापत्यानुष्टुप्[२], स्वराट्साम्न्यनुष्टुप्[३], भुरिगार्चीगायत्री[४], भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्[५]। स्वरः—गान्धारः[१,२,३,५], षड्जः[४]॥

'अग्नि-वरुण-बृहस्पति-विष्णु'

[१]मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[२]न्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[३]न्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[४]न्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[५]न्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि॥ २३॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही आगे चलाते हुए कहते हैं कि हे सोम! **देवाव्यम्**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले **त्वा**=तुझे **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह तथा द्वेष निवारण के लिए और इस प्रकार **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सोम की रक्षा से जहाँ मुझमें दिव्यता व यज्ञ की वृद्धि होती है वहाँ मेरा जीवन स्नेहवाला (मित्र) तथा द्वेष का निवारण करके (वरुण) निर्द्वेषता से पूर्ण होता है। २. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्राय**=जितेन्द्रियता के लिए, ज्ञानरूप परमैश्वर्य के लिए तथा **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् इस सोम की रक्षा से मैं ज्ञानरूप परमैश्वर्य को सिद्ध करता हूँ। ३. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्राग्निभ्याम्**=बल व प्रकाश के लिए, और इस प्रकार **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि** =ग्रहण करता हूँ। इस सोम की रक्षा से मुझमें 'इन्द्र और अग्नि' का विकास होता है। इन्द्र 'बल' का प्रतीक है तो अग्नि 'प्रकाश' का। ४. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्रावरुणाभ्याम्**=इन्द्र और वरुण के लिए, अर्थात् सब शत्रुओं का विदारण करने और श्रेष्ठ बनने के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। सोम के धारण से मुझमें बल की वृद्धि होती है। मैं कामादि शत्रुओं का संहार करता हूँ। इस प्रकार श्रेष्ठ बनता हूँ और **यज्ञस्य आयुषे**=मेरा जीवन यज्ञ का जीवन होता है।

५. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों के रक्षक तुझे **इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्**=इन्द्र और बृहस्पति के लिए, अर्थात् शक्ति व ज्ञान के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। इस शक्ति व ज्ञान को **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए ग्रहण करता हूँ। ६. **देवाव्यं त्वा**=हे दिव्य गुणों के रक्षक सोम! तुझे **इन्द्राविष्णुभ्याम्**=इन्द्र और विष्णु के लिए—शक्तिशाली व व्यापक हृदयवाला बनने के लिए और शक्ति व उदारता से **यज्ञस्य**=यज्ञ के **आयुषे**=जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। ७. 'अग्नि' प्रकाश का सूचक है अथवा मलों को भस्म करने का

प्रतीक है। 'वरुण'=द्वेष-निवारण की सूचना दे रहा है, द्वेष-निवारण से ही मनुष्य श्रेष्ठ बनता है। 'बृहस्पति'=सर्वोच्च दिशा का अधिपति है, यह ज्ञानियों का भी ज्ञानी है। 'विष्णु' सबका धारक है। यह व्यापकता व उदारता का प्रतीक है। 'इन्द्र' इन सबके साथ जुड़ा हुआ है, यह शक्ति का प्रतीक है। 'अग्नित्व' आदि गुण शक्ति के साथ ही कार्यक्षम होते हैं। इन सब गुणों का मूल यह सोम है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा के द्वारा 'अग्नि-वरुण-बृहस्पति व विष्णु' बनें। हममें इन्द्रशक्ति का विकास हो। हम सोम की रक्षा करनेवाले 'अवत्सार' बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'भारद्वाज बार्हस्पत्य'

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआजातमग्निम्।
कविꣳसम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥२४॥

पिछले मन्त्रों का ऋषि 'अवत्सार' सोम की रक्षा करने के द्वारा 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला 'बार्हस्पत्यः'=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनता है। सोम को गत मन्त्र में 'देवाव्यम्'=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाला कहा है। **देवाः**=सोमरक्षा से सुरक्षित हुए-हुए ये देव **जनयन्त**=मनुष्य को प्रादुर्भूत करते हैं। किस रूप में? १. **मूर्धानं दिवः**=ज्ञान के शिखर को। सोमरक्षा से यह अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और उस दीप्त ज्ञानाग्नि से यह ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। २. **पृथिव्याः अरतिम्**=ज्ञानाग्नि के प्रदीप्त होने से यह पार्थिव भोगों के प्रति अत्यन्त लालायित नहीं होता। ज्ञानाग्नि में काम भस्म हो जाता है और यह ज्ञानी सांसारिक भोगों के प्रति रुचिवाला नहीं रहता। ३. ज्ञानी व अनासक्त बनकर यह **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों के हित के लिए कार्यों में प्रवृत्त रहता है। ४. **ऋते आजातम्**=यह ऋत में ही उत्पन्न हुआ होता है, अर्थात् इसके सब कार्य सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमितता को लिये हुए होते हैं। ५. **अग्निम्**=नियमित जीवन बिताते हुए यह आगे और आगे बढ़ता चलता है। ६. **कविम्**=यह 'कौति सर्वा विद्याः'=सब विद्याओं का उपदेश करता है। ७. **सम्राजम्**=यह अपना सम्राट् होता है, इन्द्रियों का पूर्ण अधीश होता है। ८. **जनानाम् अतिथिम्**=लोगों के प्रति निरन्तर जानेवाला होता है। उनके अज्ञानान्धकार को दूर करने का सतत प्रयत्न करता है। ९. **आसन् आपात्रम्**=मुख के द्वारा यह समन्तात् रक्षा करनेवाला होता है। मुख के द्वारा यह औरों पर ज्ञान का प्रकाश करता है और इस प्रकार उनकी रक्षा करता है।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा हम स्वयं ज्ञान के शिखर पर पहुँचें तथा औरों को यह ज्ञान देकर उनकी रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—वैश्वानरः। छन्दः—याजुष्यनुष्टुप्[क], विराडार्षीबृहती[र.उ]।
स्वरः—गान्धारः[क], मध्यमः[र.उ]॥

भरद्वाज का प्रभुभजन (उपासना व प्रेम)

[क]उपयामगृहीतोऽसि [र]ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमऽएष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा। [उ]ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि। अथा नऽइन्द्रऽइद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत्॥२५॥

गत मन्त्र का 'भरद्वाज' प्रस्तुत मन्त्र में निम्न शब्दों में प्रभु का उपासन करता है—१. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के धारण से आप गृहीत होते हो, अर्थात् वही व्यक्ति आपका ग्रहण कर पाता है जो प्रातः-सायं आपके चरणों में बैठकर यम-नियमों को अपनाने का प्रयत्न करता है। २. **ध्रुवः असि**=हे प्रभो। आप ध्रुव हो! **ध्रुवक्षितिः**=(ध्रुवाः क्षितयो यस्मिन्) आपमें ही ये सब लोक-लोकान्तर ध्रुव हैं, स्थिर हैं। **ध्रुवाणां ध्रुवतमः**=हे प्रभो! आप ध्रुवों में भी ध्रुव हो। **अच्युतानाम्**=(च्युतिर क्षरणे) न नष्ट होनेवालों में **अच्युतक्षित्तमः**=आप अत्यन्त अविनश्वर निवासवाले हो। प्रकृति अविनश्वर है, परन्तु यह सदा विकृत होती रहती है। 'प्रकृति-विकृति' यह इसका क्रम ही हो गया है। जीव भी अविनश्वर है, परन्तु यह भी विविध भूमिकाओं में जाता रहता है। कभी गौ है तो कभी घोड़ा, कभी कोई पशु-पक्षी और कभी मनुष्य। प्रभु सदा 'एकरस' हैं, स्थाणु हैं, अचल हैं। उस अचल प्रभु में ही ये चलाचल लोक ध्रुव-से होकर रह रहे हैं। **'अच्युतानाम्'**—इस मन्त्रभाग में यह भावना भी निहित है कि वे प्रभु न डिगनेवाले हैं। किसी के बहकाने से वे बहक जाएँगे ऐसी बात नहीं है। मनुष्यों की भाँति वे कान के कच्चे नहीं हैं। वे अपनी व्यवस्था के अनुसार चलते हैं, सभी का भला चाहते हैं। २. भरद्वाज प्रभु से कहते हैं कि **एषः ते योनिः** =यह मेरा हृदय तेरा घर है। मैं चाहता हूँ कि मेरा हृदय आपका मन्दिर हो। मैं उसे निर्मल व प्रकाशमय करने का प्रयत्न करूँ। **वैश्वानराय त्वा**=हे प्रभो! मैं आपको अपने हृदय-मन्दिर में इसलिए बिठाता हूँ कि मुझमें सब मनुष्यों के हित की भावना प्रबल हो। ३. **ध्रुवम्**=अत्यन्त स्थिर **सोमम्**=अत्यन्त शान्त आपको **ध्रुवेण मनसा**=स्थिर मन से, निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले चित्त से तथा **वाचा**=ज्ञानपरिपूर्ण वेदवाणी से **अवनयामि**=अपने में अवतरित करने का प्रयत्न करता हूँ। ४. **अथ**=अब, जब मैं निरुद्धवृत्तिवाले मन से और ज्ञान की वाणियों से प्रभु को अपने हृदय-मन्दिर में अवतीर्ण करता हूँ, तब **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः विशः**=हम प्रजाओं को **इत्**=निश्चय से **असपत्नाः**=सपत्नशून्य, शत्रुरहित और **समनसः**=समान मनवाला **करत्**=करे। वस्तुतः जब हमारे हृदयों में प्रभु का निवास होता है, उस समय परस्पर विरोध सम्भव ही नहीं। प्रभु-स्मरण करनेवाले लोग परस्पर मैत्री से चलते हैं, उनमें वैरभाव नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। उस ध्रुवों में ध्रुव प्रभु को हम ध्रुव मन से ही प्राप्त कर सकते हैं। उस प्रभु का हृदय में प्रकाश होने पर सब वैरभाव समाप्त हो जाते हैं और प्रेम का प्रसार होता है। एवं, प्रस्तुत मन्त्र में १. प्रभु के स्वरूप का प्रतिपादन है, २. प्रभु-प्राप्ति के उपाय का वर्णन है, ३. और प्रभु-प्राप्ति के लाभों का उल्लेख है।

ऋषिः—देवश्रवाः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

देवों का उत्क्रमण

यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्तेऽअꣳशुर्ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थात्। अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतꣳस्वाहा देवानामुत्क्रमणमसि॥२६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु को हृदय में उतारने का वर्णन था। प्रभु का यह अवतरण सोमरक्षा से ही हो सकता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **द्रप्स**=सोम! **यः**=जो **ते**=तेरा **अंशुः**=छोटा-सा भी कण (small particle) **स्कन्दति**=ऊर्ध्वगतिवाला होता है (ascends)

और ऊर्ध्वगतिवाला होकर जो तेरा कण **ग्रावच्युतः** =(प्राणाः वै ग्रावाणः श०, च्युत्=सेचन) प्राणों का सेचन करनेवाला है। **तम्**=उस कण को **धिषणयोः**=द्यावापृथिवी के निमित्त अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के विकास के लिए तथा **उपस्थात्**=जननेन्द्रिय के स्वास्थ्य के हेतु से **वा**=अथवा **अध्वर्योः**=अध्वर्यु के **पवित्रात्**=पवित्र हृदय के उद्देश्य से **ते**=तेरे अन्दर **परिजुहोमि**=सारे शरीर में आहुत करता हूँ। इस सोमकण को शरीर में ही व्याप्त करता हूँ। २. यह सोमकण **मनसा**=मन से **वषट्कृतम्**=शरीर में आहुति दिया जाता है, अर्थात् मनोनिरोध ही एक उपाय है जिससे यह सोम शरीर से पृथक् नहीं होता। ३. **स्वाहा**=(सुहु) शरीर में सुहुत हुआ-हुआ यह सोम **देवानाम्**=देवों का, दिव्य गुणों का, **उत् क्रमणम्**=ऊर्ध्वगति—उन्नति करनेवाला **असि**=होता है।

प्रभु ने शरीर में सोम की स्थापना इसलिए की है कि यह (क) सारे शरीर में प्राणशक्ति का सेचन करता है। (ख) मस्तिष्क को दीप्त करता है। (ग) शरीर को दृढ़ बनाता है। (घ) जननेन्द्रिय को स्वस्थ करता है। (ङ) हृदय को पवित्र व हिंसावृत्तिशून्य करता है और अन्त में (च) देवताओं के उत्थान का कारण बनता है।

इस सोमरक्षा से देवताओं का उत्थान करनेवाला यह 'देवश्रवाः' बनता है, देवताओं के निमित्त कीर्तिवाला।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें, जिससे हममें प्राणशक्ति की वृद्धि हो और दिव्य गुणों का विकास हो।

ऋषिः—देवश्रवाः। देवता—यज्ञपतिः। छन्दः—आसुर्य्यनुष्टुप्[1,2,6] आसुर्य्युष्णिक्[3,7], साम्नीगायत्री[4], आसुरीगायत्री[5]। स्वरः—गान्धारः[1,2,6], ऋषभः[3,7], षड्जः[4,5]॥

वर्चस्

[1]प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [2]व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वो[3]दानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [4]वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [5]क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [6]श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [7]चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥२७॥

पिछले मन्त्र के 'देवानामुत्क्रमणमसि' का ही व्याख्यान २७ व २८ मन्त्र में करते हैं। देवश्रवाः सोम को सम्बोधित करते हुए कहता है कि १. हे सोम! **मे प्राणाय**=मेरे प्राणों के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है, अतः **वर्चसे**=प्राणशक्ति के लिए तू मुझे **पवस्व**=प्राप्त हो। २. **मे व्यानाय**=मेरी व्यानवायु के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=व्यान की शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। व्यानवायु ही सारे शरीर में गति करती हुई सब संस्थानों के कार्यों को ठीक प्रकार से चलाती है। ३. **मे उदानाय**=मेरे कण्ठदेश में काम करनेवाले उदानवायु के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=उदान की शक्ति के लिए तू मुझे **पवस्व**=प्राप्त हो। ४. **मे वाचे**=मेरी वाणी के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरी वाक्शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ५. **मे क्रतुदक्षाभ्याम्**=(प्रज्ञाबलाभ्याम्—द०) मेरी प्रज्ञा व मेरे बल के लिए **वर्चोदाः**=तू वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरी प्रज्ञाशक्ति के लिए तथा शारीरिक शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ६. **मे श्रोत्राय**=मेरे कान के लिए **वर्चोदाः**=तू शक्ति देनेवाला है। **वर्चसे**=श्रोत्रशक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ७. **मे चक्षुर्भ्याम्**=मेरी आँखों के लिए तुम **वर्चोदसौ** =शक्ति को

देनेवाले हो। **वर्चसे**=दृष्टिशक्ति के लिए **पवेथाम्**=मुझे प्राप्त होओ अथवा पवित्र करो। यहाँ सारे मन्त्र में इस अन्तिम वाक्य में ही 'वर्चोदसौ' यह द्विवचन का प्रयोग है, क्योंकि 'चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' इस वाक्य के अनुसार आँखों में चन्द्र व सूर्यशक्ति का निवास है। इस शक्तिद्वय के कारण यहाँ द्विवचन है। सूर्य यदि 'तेजस्' का प्रतीक है तो चन्द्र 'प्रसाद' का। आँखों में तेजस्विता व प्रसाद दोनों ही होने चाहिएँ। इसी दृष्टिकोण से द्विवचन है।

भावार्थ—सोम 'प्राण-व्यान-उदान-वाणी-प्रज्ञा और बल-श्रोत्र व चक्षु' को वर्चस् प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—देवश्रवाः। देवता—यज्ञपतिः। छन्दः—ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

सर्वांगीण विकास

आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥२८॥

१. हे सोम! मे **आत्मने**=मेरे मन के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। तू **वर्चसे**=मन की शक्ति के लिए **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। २. मे **ओजसे**=मेरे ओजस्तत्त्व के लिए, शरीर की वृद्धि के कारणभूत तत्त्व के लिए **वर्चोदाः**=तू वर्चस् को देनेवाला है। **वर्चसे**=इस ओजस्तत्त्व को शक्तिशाली बनाने के लिए तू **पवस्व** =मुझे प्राप्त हो अथवा मुझे पवित्र कर। ३. मे **आयुषे**=मेरे जीवन के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरे जीवन को शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए **पवस्व**=तू मुझे प्राप्त हो। ४. मे=मेरी **विश्वाभ्यः** =सब **प्रजाभ्यः**=विकास-शक्तियों के लिए **वर्चोदसौ**=तुम वर्चस् देनेवाले हो। **वर्चसे**=इस मेरे वर्चस् के लिए **पवेथाम्**=मुझे प्राप्त होओ या पवित्र करो।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मन बलवान् होता है, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को बढ़ानेवाली शक्ति पुष्ट होती है, जीवन स्फूर्तिमय बनता है और सब शक्तियों का विकास होता है। शारीरिक, मानस व बौद्धिक-विकास का मूल यह सोम ही है।

ऋषिः—देवश्रवाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—आर्चीपङ्क्तिः[क], भुरिक्साम्नीपङ्क्तिः[र]। स्वरः—पञ्चमः॥

देवश्रवा का प्रभुस्तवन

[क]कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। [र]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥२९॥

१. सोम के महत्त्व को समझता हुआ 'देवश्रवाः' प्रभु-स्मरण को सोमरक्षा का प्रमुख साधन जानकर प्रभु की आराधना करता है कि **कः असि**=हे प्रभो! आप आनन्दमय हो **क-तमः असि**=अत्यन्त आनन्दमय हो। २. **कस्य असि**=आप आनन्दमय के हो, अर्थात् आप उसे ही प्राप्त होते हो जो अपनी चित्तवृत्तियों को वशीभूत करके सदा प्रसन्न रहता है। ३. **को नाम असि**=हे प्रभो! आप 'क' अर्थात् आनन्दमय नामवाले हो। **यस्य ते**=जिन आपके **नाम**=नाम का **अमन्महि**=हम सदा चिन्तन करते हैं। ४. हे प्रभो! आप वे हैं **यं त्वा**=जिन आपको **सोमेन**=सोम के द्वारा **अतीतृपाम**=हम प्रीणित करते हैं। प्रभु ने हमें सोम ही सर्वोत्तम वस्तु प्राप्त करायी है। यह सोम हमारे जीवनों को आनन्दमय व उल्लासमय बनाता है और हम उस आनन्दमय प्रभु के अधिक समीप पहुँच जाते हैं। ५. हे प्रभो! इस सोमरक्षा के द्वारा **भूः**=मैं स्वस्थ बनूँ, **भुवः**=मैं ज्ञानी बनूँ, **स्वः** =मैं जितेन्द्रिय-'स्वयं राजमान'

होऊँ। **प्रजाभिः**=प्रजाओं से मैं **सुप्रजाः स्याम्** =उत्तम प्रजाओंवाला होऊँ। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। **वीरैः**=वीरों से मैं **सुवीरः**=उत्तम वीरोंवाला बनूँ। **पोषैः**=धनों के पोषण से **सुपोषः**=उत्तम पोषणवाला होऊँ, अर्थात् मेरी सन्तान उत्तम हो, मैं स्वयं वीर होऊँ और मेरा धन उत्तम उपायों से कमाया जाए।

भावार्थ—आनन्दमय प्रभु की उपासना हम 'मनःप्रसाद' को सिद्ध करके ही कर सकते हैं। प्रभु-उपासन से सोमरक्षा होती है। सोमरक्षा से प्रभु का प्रीणन होता है। हम स्वस्थ, ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनते हैं। उत्तम प्रजावाले, वीर व उत्तम धनोंवाले होते हैं।

ऋषिः—देवश्रवाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—साम्नीगायत्री[१.३.४.५.९.११], आसुर्यनुष्टुप्[२.६.१०.१२], याजुषीपङ्क्तिः[७.८], आसुर्युष्णिक्[१३]। स्वरः—षड्जः[१.३.४.५.९.११], गान्धारः[२.६.१०.१२], पञ्चमः[७.८], ऋषभः[१३]॥

बारह मास प्रभु-चिन्तन

[१]उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वो[२]पयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वो[३]पयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वो[४]पयामगृहीतोऽसि शुचये त्वो[५]पयामगृहीतोऽसि नभसे त्वो[६]पयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वो[७]पयामगृहीतोऽसीषे त्वो[८]पयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वो[९]पयामगृहीतोऽसि सहसे त्वो[१०]पयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वो[११]पयामगृहीतोऽसि तपसे त्वो[१२]पयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वो[१३]पयामगृहीतोऽस्यꣳहसस्पतये त्वा॥३०॥

देवश्रवा प्रभु का आराधन करता हुआ कहता है कि—१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा धारित यम-नियमों से ग्रहण किये जाते हैं। जो व्यक्ति जीवन में यम-नियमों का पालन करता है, उसी को आप प्राप्त होते हैं। **मधवे त्वा**=मैं मधुमास के लिए आपका स्वीकार करता हूँ। वर्ष को प्रारम्भ करनेवाले चैत्र मास में मैं आपको हृदाकाश में बिठाने का प्रयत्न करता हूँ। इस मधुमास में आपको स्वीकार करते हुए मैं सचमुच **मधु**=माधुर्य को प्राप्त करता हूँ। मेरा जीवन माधुर्यमय बनता है। २. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा धारित यम-नियमों से गृहीत होते हैं। **माधवाय त्वा**=मैं वैशाख मास के लिए आपको स्वीकार करता हूँ। आप स्वयं 'मा-धव' हैं। आपको प्राप्त करके लक्ष्मी को तो मैं प्राप्त कर ही लूँगा। ३. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयाम से गृहीत होते हैं। **शुक्राय त्वा**=ज्येष्ठ मास में हम आपको पाने का व्रत लेते हैं। आपको पाकर हम आपकी भाँति 'शुक् गतौ' निरन्तर गतिशील बनते हैं। लक्ष्मीपति बनकर हमें अकर्मण्य व आरामपसन्द थोड़े ही बन जाना है? ४. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **शुचये त्वा**=आपको आषाढ़ मास के लिए स्वीकार करता हूँ। आपको स्वीकार करके मैं सचमुच 'शुचि'=पवित्र बनता हूँ। लक्ष्मी का पति बनकर मैं अर्थ के दृष्टिकोण से अपवित्र हृदयवाला नहीं बनता। ५. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **नभसे त्वा**=श्रावण मास के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ जिससे आपसे मिलकर (णभ हिंसायाम्) मैं इन बुराइयों को मूल में ही समाप्त कर सकूँ (Nip the evil in the bud)। ६. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **नभस्याय त्वा**=भाद्रपद मास के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ, (न भस्=to revile, blame, abuse+य) मैं गाली देने में ही उत्तम न बना रहूँ। आपका उपासक बनकर किसी से घृणा न करूँ। किसी के दोष न देखूँ। (न+भस् to eat+य) अथवा खाने में ही उत्तम न बना रहूँ। पार्थिव भोग मेरे जीवन का लक्ष्य न हो जाएँ। ७. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हैं। **इषे त्वा**=मैं आश्विन मास के लिए

आपको स्वीकार करता हूँ, जिससे सदा आपकी प्रेरणा को पाता रहूँ। ८. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हैं। **ऊर्जे त्वा** =कार्त्तिक मास के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ, जिससे मैं (ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल और प्राणशक्ति प्राप्त का सकूँ। ९. **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **सहसे त्वा**=मैं मार्गशीर्ष मास के लिए आपको स्वीकार करता हूँ, जिससे मेरे अन्दर सहस्=सहनशक्ति (toleration) हो। १०. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप सुनियमों से स्वीकृत हो **सहस्याय त्वा**=हम पौष मास के लिए आपको स्वीकार करते हैं, इसलिए कि हम (सहसि साधुः) उत्तम बलवाले हो सकें। ११. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप सुनियमों से स्वीकार किये जाते हो। **तपसे त्वा**=माघ मास के लिए हम आपको स्वीकार करते हैं, जिससे हमारा जीवन तपस्वी हो। १२. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हो। **तपस्याय त्वा**=फाल्गुन मास के लिए हम आपको स्वीकार करते हैं, जिससे हमारा जीवन सुनियम में स्थित हो। (तपस्या नियमस्थितिः) हम सदा मर्यादा में चलनेवाले हों। १३. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हो। **अहंसस्पतये त्वा**=इस तेरहवें मलमास के लिए भी हम आपको ही स्वीकार करते हैं, जिससे हम अंहस् पापों से अपनी रक्षा (पति) कर सकें। आपका स्मरण हमें सदा पापों से बचानेवाला हो।

भावार्थ—यदि हम देवश्रवाः=दिव्य गुणों के कारण कीर्तिवाले बनना चाहते हैं तो हम वर्ष के सभी मासों में प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें। यह स्मरण हमें दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनाएगा। हमारे जीवन में 'माधुर्य, लक्ष्मी, क्रियाशीलता, शुचिता, असुर-संहार, अपशब्दराहित्य, प्रभु-प्रेरणा श्रवण, बल व प्राणशक्ति, सहनशक्ति, उत्तम बल, तप, मर्यादा व पापदूरीकरण का निवास होगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शक्ति व प्रकाश

इन्द्राग्नीऽआगतꣳसुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा॥३१॥

१. गत मन्त्र के उपासक 'देवश्रवाः' में दिव्य गुणों की उत्पत्ति होती है। इन्हीं के कारण उसकी कीर्ति है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रथम गुण 'माधुर्य' है। यह सबके साथ मधुरता व प्रेम से वर्तता है। प्रेम से वर्तने के कारण यह 'विश्वामित्र' बन जाता है। इसके जीवन में 'शक्ति' भी होती है, 'प्रकाश' भी। इन्हीं तत्त्वों को प्रस्तुत मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' शब्द से कहा गया है। इनसे कहते हैं कि हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाशवाले व्यक्तियो! **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न इस सोम को **आगतम्**=प्राप्त होओ। वस्तुतः यह सुत सोम तुम्हें 'इन्द्राग्नी' बनानेवाला है। २. इस सोम की रक्षा के लिए तुम **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों व प्रभु-स्तुति की वाणियों से **वरेण्यं नभः**=वरणीय हिंसा को **आगतम्**=प्राप्त होवो। यह वरणीय=स्वीकारने योग्य हिंसा 'वासनाओं की हिंसा' है। ३. **धिया इषिता**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों में प्रेरित हुए-हुए तुम **अस्य पातम्**=इस सोम की रक्षा करो। जब मनुष्य ज्ञान-सम्पादन करता है और ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्यापृत रहता है तब वह वासनाओं का शिकार नहीं होता। यह वासनाओं का शिकार न होना ही हमें सोम की रक्षा में समर्थ करता है ४. विश्वामित्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों के पालन से गृहीत होते हो।

इन्द्राग्निभ्यां त्वा=मैं बल व प्रकाश के लिए आपका उपासक बनता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय (आत्मा) तेरा निवास-स्थान है, अर्थात् मैं अपने हृदय-मन्दिर में आपका ध्यान करता हूँ। **इन्द्रग्निभ्यां त्वा**=हे प्रभो! मैं आपका ध्यान इसलिए करता हूँ कि शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करनेवाला बनूँ। शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करके ही मैं अपने 'विश्वामित्र' नाम को चरितार्थ कर पाऊँगा।

भावार्थ—ज्ञान व स्तुति की वाणियों से तथा ज्ञानपूर्वक कर्म करने से हम सोम की रक्षा करें और सोमरक्षा द्वारा शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करके सबके साथ स्नेह करनेवाले 'विश्वामित्र' बनें।

ऋषिः—त्रिशोकः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], आर्च्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], ऋषभः[र]॥

त्रि-शोक

[क]आ घा येऽअग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा।
[र]उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा॥ ३२॥

१. गत मन्त्र का 'विश्वामित्र' माधुर्यमय जीवन से 'शरीर के स्वास्थ्य', 'मन के नैर्मल्य' तथा 'मस्तिष्क की उज्ज्वलता' को सिद्ध करके 'त्रिशोक' बनता है, जिससे शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों ही चमकते हैं। २. ये त्रिशोक वे होते हैं **ये**=जो **घ**=निश्चय से **आ**=सर्वथा **अग्निम्**=अग्नि को **इन्धते**=दीप्त करते हैं, अर्थात् नियमपूर्वक अग्निहोत्र करते हैं और प्रभु के प्रकाश को अपने में दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ३. **ये**=जो **आनुषक्**=निरन्तर **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **स्तृणन्ति**=प्रभु के आसन के रूप में बिछाते हैं। यह निर्वासन हृदय ही प्रभु का 'कुशासन' बनता है। ४. त्रिशोक वे होते हैं **येषाम्**=जिनका **इन्द्रः**=ईश्वर **युवा**=(मिश्रण-अमिश्रण) बुराइयों का अमिश्रण करके अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाला होता है और इस प्रकार **सखा**=सच्चा मित्र होता है। ५. त्रिशोक इस मित्र से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा धारित यम-नियमों से गृहीत होते हो। **अग्नीन्द्राभ्यां त्वा**=मैं प्रकाश व शक्ति के लिए आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय तेरा निवास-स्थान है। **अग्नीन्द्राभ्यां त्वा**=प्रकाश व शक्ति के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। ६. पिछले मन्त्र में 'इन्द्राग्निभ्यां' था, प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नीन्द्राभ्यां' है। यह आगे-पीछे करके लिखना इस बात का सूचक है कि 'शक्ति व प्रकाश' उतने ही महत्त्व के हैं जितने कि 'प्रकाश व शक्ति'। प्रकाश व शक्ति दोनों ही समानरूप से इष्ट हैं।

भावार्थ—(क) मैं अग्निहोत्र करूँ तथा प्रभु का ध्यान भी। (ख) हृदय को वासनाशून्य बनाऊँ। (ग) प्रभु की मित्रता को प्राप्त करूँ। (घ) इस प्रभु को मित्र बनाकर हम विश्वबन्धुत्व की भावना का आनन्द लें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], आर्चीबृहती[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], मध्यमः[र]॥

मधुच्छन्दाः

[क]ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवासऽआगत। दाश्वाꣳसो दाशुषः सुतम्।
[र]उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥ ३३॥

गत मन्त्र का 'त्रिशोक' अत्यन्त उत्तम इच्छाओंवाला होने के कारण 'मधुच्छन्दाः'

बन जाता है। इनके लिए कहते हैं कि १. **ओमासः**=(अव् रक्षणे, अवन्ति सद्गुणै रक्षन्ति) सद्गुणों के धारण से अपनी रक्षा करनेवाले २. **चर्षणीधृतः**=मनुष्यों का धारण करनेवाले ३. **विश्वेदेवासः**=सब दिव्य गुणों को अपनानेवाले ४. **दाश्वांसः**=दान देनेवाले **दाशुषः सुतम्**=दानशील के ऐश्वर्य को **आगत**=प्राप्त होओ। दानशील के ऐश्वर्य को प्राप्त होने का अभिप्राय यह है कि तुम वह ऐश्वर्य प्राप्त करो जो तुम्हें कृपणता की वृत्तिवाला न बना दे, जिस धन को तुम उदारता से दान देनेवाले बने रहो। ५. हे प्रभो! **उपयायमगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत होते हो। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=मैं आपका ग्रहण इसलिए चाहता हूँ कि दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा शरीर तेरा निवास-स्थान है। मैं अपने शरीर में **त्वा**=आपको इसलिए प्रतिष्ठित करता हूँ कि **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकूँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम १. वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले हों। २. मनुष्यों का धारण करनेवाले हों। ३. दिव्य गुणोंवाले हों ४. दान की वृत्तिवाले हों। ५. दान की वृत्तिवाले के धन को प्राप्त हों। ६. इस प्रकार सब दिव्य गुणोंवाले हों।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—आर्षीगायत्री[क], निचृदार्ष्युष्णिक्[र]। स्वरः—षड्जः[क], ऋषभः[र]॥

विश्वेदेवाः

[क]विश्वे देवास॒ऽआग॑त शृणु॒ता म॑ इ॒मꣳहव॑म्। एदं ब॒र्हिर्निषी॑दत।

[र]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसि विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ऽए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॑॥३४॥

गत मन्त्र का मधुच्छन्दा सब दिव्य गुणों को अपनाकर प्रभु का सच्चा उपासक 'गृत्स' बनता है और आनन्दमय जीवनवाला होने के कारण 'मद' होता है। यह 'गृत्समद' प्रार्थना करता है कि १. **विश्वे देवासः** =हे सब दिव्य गुणो! **आगत**=आओ। **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को, इस प्रार्थना को **शृणुत**=सुनो और **इदम्**=इस **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषीदत**=सर्वथा विराजमान होओ। जब हृदय में से वासनाओं का कूड़ा-करकट दूर कर दिया जाता है तब यह हृदयक्षेत्र दिव्य गुणों के बीजवपन के लिए तैयार हो जाता है। यह दिव्य गुण-बीजवपन ही प्रभु का सच्चा उपासन है। उपासना का यह परिणाम कम-से-कम होना ही चाहिए। २. यह गृत्समद प्रभु से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत होते हैं। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः** =यह शरीर तेरा निवास-स्थान है। मैं तुझे अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः** =सब दिव्य गुणों के लिए तुझे स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें। सदा प्रसन्न रहें, जिससे सब दिव्य गुणों के पात्र हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। स्वरः—धैवतः[क], ऋषभः[र]॥

सोमपान

[क]इन्द्र॑ मरुत्व॒ऽइ॒ह पा॑हि॒ सोम॑ं यथा॑ शार्या॒तेऽअपि॑बः सु॒तस्य॑। तव॒ प्रणी॑ती॒ तव॑ शूर॒ शर्म॒न्नावि॑वासन्ति क॒वयः॑ सु॒य॒ज्ञाः। [र]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑तऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते॥३५॥

१. 'गृत्समद'=प्रभु का स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है। यह सभी के साथ स्नेह करता है, अतः 'विश्वामित्र' बन जाता है। इस विश्वामित्र के लिए कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता **मरुत्वः**=मरुतोंवाले! प्राणोंवाले, प्राणसाधना करनेवाले! **इह**=इस मानव-जीवन में तू **सोमं पाहि**=सोम की सुरक्षा कर। **यथा**=जिस प्रकार **शार्याते**=(शर्याभिः, निर्वृत्तानि कर्माणि व्याप्नोति-द०) कर्मों में निरन्तर व्याप्त होनेवाले विश्वामित्र! तू **सुतस्य अपिबः**=इस उत्पन्न सोम का पान कर। 'कर्मों में व्याप्त रहना' सोमपान का सर्वप्रथम साधन है। २. हे **शूर**=सब मलिनताओं की हिंसा करनेवाले सोम! **तव प्रणीती**=तेरे प्रकृष्ट **नयन**=प्रापण से, अर्थात् शरीर में तेरे पान से तथा **तव शर्मन्**=तेरी शरण में **कवयः**=ज्ञानी तथा **सुयज्ञाः**=उत्तम यज्ञों को करनेवाले **आविवासन्ति**=सब अज्ञानान्धकारों को दूर करते हैं। सोम की रक्षा से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ३. **उपयामगृहीतः असि**=उपासना से धारित यम-नियमों से तू गृहीत होता है। मैं **त्वा**=तेरा ग्रहण **इन्द्राय मरुत्वते**=प्राण-साधनावाला जितेन्द्रिय पुरुष बनने के लिए करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय-मन्दिर तेरा निवास-स्थान बनता है। **त्वा**=तुझे मैं हृदय-मन्दिर में इसीलिए बिठाता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=(मरुतः प्राणाः) मैं उत्तम प्राणोंवाला जितेन्द्रिय पुरुष बन पाऊँ।

भावार्थ—मैं सोमपान करके मरुत्वान् इन्द्र=प्रकृष्ट प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय, परमैश्वर्यशाली पुरुष बनूँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्[१], आर्ष्युष्णिक्[२], साम्न्युष्णिक्[३]। स्वरः—धैवतः[१], ऋषभः[२,३]॥

कैसा राजा ?

[१]मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳशासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳसहोदामिह तꣳहुवेम। [२]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते। [३]उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे॥३६॥

१. गत मन्त्र में 'मरुत्वान् इन्द्र' बनने की कल्पना थी। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस उक्ति के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में यह प्रार्थना करते हैं कि राजा भी 'मरुत्वान् इन्द्र' ही हो। 'माता-पिता, आचार्य, अतिथि व राजा' सब ऐसी वृत्ति के होंगे तब इनसे बनाये जानेवाले मनुष्य भी मरुत्वान् इन्द्र क्यों न होंगे, अतः कहते हैं कि **इह**=यहाँ—अपने राष्ट्र में **तं हुवेम**=उसे ही राजा होने के लिए पुकारते हैं जो (क) **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाला है, प्राणसाधना के द्वारा जिसने प्राणों का विकास किया है (ख) **वृषभम्**=जो श्रेष्ठ है, शक्तिशाली है। (ग) **वावृधानम्**=निरन्तर उन्नति कर रहा है। (घ) **अकवारिम्**=(कु शब्दे से भाव में अप् करके कवः, कवं इयर्ति प्राप्नोति 'कवारिः') शब्द न करनेवाले, कम बोलनेवाले, व्यर्थ की काँय-काँय न करनेवाले। (ङ) **दिव्यम्**=प्रकाश में निवास करनेवाले (च) **शासम्**=अपना शासन करनेवाले (छ) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय (ज) **विश्वासाहम्**=काम-क्रोध- लोभादि शरीर में घुस आनेवाली अवाञ्छनीय वासनाओं को कुचल डालनेवाले (झ) **उग्रम्**=तेजस्वी व उदात्त (ञ) **सहोदाम्**=सभी में बल का सञ्चार करनेवाले को राजा के रूप में **नूतनाय अवसे**=स्तुत्य रक्षण के लिए **हुवेम**=पुकारते हैं।

२. हे राजन्! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत हैं। आपका जीवन यम-नियमवाला है। मैं **त्वा**=आपको इसलिए ग्रहण करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं उत्तम

प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय पुरुष बन पाऊँ। राजा के अनुकरण में ही प्रजा चलती है। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र तेरा घर है। यही तुझे जन्म देनेवाला है। **इन्द्राय त्वा मरुत्वते**=आपका स्वीकार हम इसीलिए करते हैं कि हम भी उत्तम प्राणोंवाले, जितेन्द्रिय पुरुष बन सकें। हे राजन्! **उपयामगृहीतः असि**=आपने अपने जीवन में सुनियमों को स्वीकार किया है। **मरुतां त्वा ओजसे**=हम आपको इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम भी प्राणों का ओज प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—इन्द्र, अर्थात् राजा 'मरुत्वान्' हो तो प्रजा भी प्राणों के बलवाली होती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यात्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

सेनापति

[क]सजोषाऽइन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्।
जहि शत्रूँ१॥ऽरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः।
[र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते॥३७॥

१. गत मन्त्र के राजा के साथ मिलकर कार्य करनेवाला सेनापति है। राजा और सेनापति राष्ट्र के मुख्य अधिकारी हैं। आन्तरव्यवस्था का मुख्य दायित्व राजा पर है तो राष्ट्र की बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने के लिए सेनापति ने सेना को सन्नद्ध रखना है। यह सेनापति भी जितेन्द्रिय होना चाहिए, अतः कहते हैं कि **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय सेनापते! तू **सजोषाः**=राजा के साथ प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाला हो (जुषी प्रीतिसेवानयोः)। **सगणः**=अपने गणों के साथ, अपने सैन्यगणों के साथ **मरुद्भिः**=प्राणों की साधना के द्वारा **सोमं पिब**=तू सोम का पान करनेवाला हो। सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित करनेवाला हो **वृत्रहा**=ज्ञान के आवरणभूत काम को तू नष्ट करनेवाला हो। **शूर विद्वान्**=तू ज्ञानी हो, परन्तु तेरा ज्ञान शूरता से युक्त हो। तू अपने ज्ञान को शूरता से विशिष्ट करनेवाला हो। २. **शत्रून् जहि**=राष्ट्र के शत्रुओं की तू हिंसा कर। **मृधः**=क़ातिलों को **अपनुदस्व**=दूर भगानेवाला हो। ऐसी व्यवस्था करके **अथ**=अब **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **अभयम्**=निर्भय **कृणुहि**=कीजिए। ३. **उपयामगृहीतः असि**=हे सेनापते! तू भी यम-नियमों से युक्त जीवनवाला हो। **त्वा**=तुझे **मरुत्वते इन्द्राय**=प्रशस्त प्राणोंवाले जितेन्द्रिय पुरुष के लिए हम चाहते हैं, अर्थात् तू प्राणसाधना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष हो। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा मरुत्वते**=तुझे हम इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम भी प्राणसाधनावाले जितेन्द्रिय पुरुष बन सकें।

भावार्थ—राजा की भाँति सेनापति भी, प्राणसाधाना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष हो। यही राष्ट्र की उत्तमता से रक्षा कर सकेगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यात्रिष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रज्ञा-दीप्ति

[क]मरुत्वाँ२॥ऽइन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आसिञ्चस्व जठरे मध्वऽऊर्मिं त्वःराजासि प्रतिपत्सुतानाम्।
[र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥३८॥

राष्ट्र में राजा व सेनापति के उत्तम होने पर प्रजा का जीवन भी बड़ा सुन्दर बनता है, अतः कहते हैं कि १. **मरुत्वान्**=तू प्राणोंवाला है, तूने प्राणों की साधना करके उन्हें प्रशस्त बनाया है। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **वृषभः**=तू प्राणसाधना के परिणामरूप श्रेष्ठ बना है। ३. तू **रणाय**=रमणीयता के लिए **सोमं पिब**=सोम का पान कर। प्राणसाधना का यह स्वाभाविक परिणाम है कि शक्ति की ऊर्ध्वगति होती है और शक्ति के शरीर में व्याप्त होने से तू अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रमणीयतावाला होता है। ४. इस शक्ति के धारण से ही **अनुष्वधं मदाय**=(स्वधामनु, स्वधा=अन्न) अन्न के बाद तू हर्ष का अनुभव करता है। वीर्यरक्षा से पाचनशक्ति ठीक रहती है और भोजन के बाद व्यक्ति विशेष आनन्द का अनुभव करता है। ५. **जठरे**=अपने उदर में **मध्वः ऊर्मिं आसिञ्चस्व**=इन सोम की तरङ्गों को सिक्त कर। यौवन में इस सोम के उत्पादन से उसमें ज्वार-सी उठती है, उबाल-सा आता है। इन तरङ्गों को तू अपने अन्दर ही सिक्त करनेवाला हो। ६. **प्रतिपत्सुतानाम्**=(प्रतिपत्=चेतना) ज्ञान की वृद्धि के लिए उत्पन्न किये गये इन सोमों का **त्वम्**=तू **राजा असि**=शरीर में ही नियमन (regulate) करनेवाला है। इन सोमकणों ने तेरी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे प्रज्वलित रखना है। प्रभु ने इन्हें मुख्यरूप से इस चेतना के लिए ही उत्पन्न किया है। ७. इस प्रकार प्रेरणा दिया हुआ विश्वामित्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **त्वा**=आपको मैं इसलिए उपासित करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं प्राणसाधनावाला मरुत्वान् बन सकूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा 'विग्रह'=शरीर आपका विशिष्ट गृह है। **त्वा**=आपको मैं यहाँ इसलिए आसीन करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं प्राणसाधना द्वारा उत्तम प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय पुरुष बन सकूँ।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवनों में सोम की स्थापना इसलिए की है कि हमारी प्रज्ञा में वृद्धि हो, हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त हो।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—प्रजासेनापतिः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः[क], साम्नीत्रिष्टुप्[र]। स्वरः—पञ्चमः[क], धैवतः[र]॥

इन्द्र से महेन्द्र

[क]महाँ२॥ऽइन्द्रो नृवदाचर्षणिप्राऽउत द्विबर्हाऽअमिनः सहोभिः।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्।
[र]उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥३९॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जब विश्वामित्र सोमरक्षा द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रमणीय बनाता है और प्रज्ञा को दीप्त करता है तब वह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बन जाता है, अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाला। २. यह **महान्**=बड़ा बनता है, महनीय होता है। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है ४. **नृवत्**=(नृ=नेता) औरों के लिए नेता के समान होता है, औरों का मार्गदर्शक बनता है। ५. **आचर्षणिप्राः**=मनुष्यों का समन्तात् पूरण करनेवाला होता है। ६. **उत**=और **द्विबर्हाः**=दोनों क्षेत्रों में, अर्थात् ज्ञान व शक्ति के दोनों स्थानों में बढ़ा हुआ होता है। ज्ञान के दृष्टिकोण से ऋषि, तो शक्ति के दृष्टिकोण से मल्ल। ७. **सहोभिः**=अपने बलों के कारण **अमितः**=अहिंसित होता है (मीञ् हिंसायाम्) अथवा अपने बलों से यह औरों की हिंसा करनेवाला नहीं बनता। ८. **अस्मद्र्यक्**=प्रभु कहते हैं कि (अस्मान् अञ्चति) यह वह व्यक्ति है जो हमारी ओर आ रहा है। ९. **वावृधे वीर्याय**=यह शक्ति के लिए निरन्तर बढ़ता चलता है। १०. **उरुः**=यह विशाल हृदयवाला

होता है। ११. पृथुः=विस्तृत शरीरवाला अथवा विशाल यशवाला व विस्तृत बलवाला (यशसा विपुलः, बलेन विस्तृतः—म०) १२. कर्तृभिः=अपने कर्त्तव्यों से सुकृतः=(शोभनं कृतं यस्य) उत्तम पुण्य कर्मोंवाला भूत्=होता है। १३. यह भरद्वाज प्रभु से प्रार्थना करता है कि उपयामगृहीतः असि=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। त्वा=आपको मैं इसलिए उपासित करता हूँ कि महेन्द्राय=मैं महेन्द्र बन सकूँ। एषः ते योनिः=यह मेरा विग्रह (शरीर) आपका विशिष्ट गृह है। मैं त्वा=आपको इस गृह में प्रतिष्ठित करता हूँ जिससे महेन्द्राय=मैं भी महेन्द्र बन जाऊँ। ब्रह्म का उपासक 'ब्रह्म-सा' बन जाता है। उपासना में आगे और आगे बढ़ते हुए इन्द्र 'महेन्द्र'-सा बन जाता है।

भावार्थ—उपासना में आगे और आगे बढ़ते हुए मनुष्य इन्द्र से महेन्द्र बनने का यत्न करे।

ऋषिः—वत्सः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—आर्षीगायत्री[क], विराडार्षीगायत्री[र]। स्वरः—षड्जः।।

वत्स

[क]महाँ२॥ऽइन्द्रो यऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ२॥ऽइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे। [र]उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥४०॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार इन्द्र से महेन्द्र बननेवाला व्यक्ति ही वस्तुतः प्रभु का उपासक है। इसका जीवन प्रभु का प्रतिपादन करनेवाला होता है। 'वदतीति वत्सः' इसी कारण यह 'वत्स' कहलाता है। यह प्रभु को निम्न रूप में देखता है। २. महान्=ये प्रभु महान् हैं। ३. यः=जो ओजसा=अपने ओज के कारण इन्द्रः=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले हैं। ४. और सब उपासकों के लिए वृष्टिमान् पर्जन्यः इव=बरसनेवाले बादल की भाँति हैं। जैसे यह बादल सब सन्ताप को समाप्त कर देता है, इसी प्रकार प्रभु के उपासक का चित्त भी शान्त होता है। ५. ये प्रभु वत्सस्य=अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन करनेवाले के स्तोमैः=स्तुति-समूहों से वावृधे=बढ़ाये जाते हैं, अर्थात् स्तुति वही करता है जो प्रभु के उस गुण को अपने जीवन में धारण करने का प्रयत्न करता है। ६. हे प्रभो! उपयामगृहीतः असि=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। महेन्द्राय त्वा=मैं भी इन्द्र से महेन्द्र बन सकूँ, इसलिए आपको स्वीकार करता हूँ। एषः ते योनिः=यह मेरा शरीर आपका घर है, मैं अपने हृदय-मन्दिर में आपको प्रतिष्ठित करता हूँ, महेन्द्राय त्वा=जिससे मैं महेन्द्र बन सकूँ। इन्द्र से महेन्द्र बनना ही मानव का लक्ष्य होना चाहिए।

भावार्थ—हम प्रभु की भाँति विशाल हृदय (महान्), शक्ति से शत्रुओं का विदारण करनेवाले (इन्द्र) और सबके सन्ताप को दूर करनेवाले (पर्जन्य), बनेंगे तभी प्रभु के प्रिय व 'वत्स' बन पाएँगे।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः।।

प्रस्कण्व

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यꣳस्वाहा॥४१॥

गत मन्त्र का 'वत्स' प्रकृति से ऊपर उठकर प्रभु के गुणों को धारण करता है। यही बुद्धिमत्ता है। इस बुद्धिमत्ता के कारण यह 'प्रस्कण्व' (मेधावी) हो जाता है। ये केतवः=(केतुः=प्रज्ञा—नि० ३।९) प्रज्ञा के पुञ्ज ज्ञानी लोग उत्=निश्चय से इन प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर (उत्=out) त्यम्=उस प्रसिद्ध जातवेदसम्=(जाते-जाते विद्यते—नि० ७।१९)

प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में वर्त्तमान **देवम्**=प्रकाशमय, सब-कुछ देनेवाले, चमकनेवाले और चमकानेवाले **सूर्यम्**=सबको हृदयस्थरूपेण कर्मों की प्रेरणा देनेवाले, सहस्र-सूर्यसम ज्योतिवाले उस प्रभु को **विश्वाय दृशे**=सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए **वहन्ति**=धारण करते हैं। प्रभु का ज्ञान होने पर ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। उपनिषद् में **'कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'** किसके ज्ञात होने पर यह सारा ब्रह्माण्ड ज्ञात हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर ही ऐसा होता है। ब्रह्मातिरिक्त सब पदार्थों का ज्ञान 'शब्द-ब्रह्म' या अपराविद्या' है। इसके द्वारा ही वस्तुतः मनुष्य 'परब्रह्म' तक पहुँचता है। वहाँ पहुँच जाने पर ये सब ज्ञान अनायास हो जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने इस मानव-जीवन को इसी प्रकार सफल कर सकते हैं कि प्रकृति से ऊपर उठें और उस 'जातवेदस् देव' का दर्शन करें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—सूर्यः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कुत्स

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥४२॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का दर्शन करनेवाला 'प्रस्कण्व'=मेधावी पुरुष सब बुराइयों का संहार करनेवाला होता है। बुराइयों का संहार करने के कारण ही वह 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्)=आदरणीय हिंसक बनता है। यह कह उठता है कि यह प्रभु **उदगात्**=उदित हो गया, जोकि १. **चित्रम्**=(चित्+र) सम्पूर्ण ज्ञान को देनेवाला है। २. **देवानां अनीकम्**=सब देवों का बल है। वस्तुतः देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाला यही है। यही **मित्रस्य**=अहरभिमानी देवता सूर्य का (दिन के देवता 'दिवा-कर' का) **वरुणस्य**=रात्रि के अभिमानी देवता चन्द्र का तथा **अग्नेः**=इस पृथिवीस्थ देवों के मुखिया अग्नि का **चक्षुः**=प्रकाशक है। ३. इस प्रभु ने ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक को **आप्राः**=व्याप्त किया हुआ है, पूरण किया हुआ है। ४. **सूर्यः**=यही स्वयं प्रकाश है, अन्यों को प्रकाश देनेवाला है ५. **आत्मा**=(अतति सर्वत्र व्याप्नोति) सर्वत्र व्याप्त है। ६. **जगतः तस्थुषः च**= जङ्गम व स्थावर—सम्पूर्ण जगत् का यह **स्वाहा**=(सु आह) उत्तमता से उपदेश देनेवाला है।

भावार्थ—कुत्स वही बनता है जो सर्वत्र प्रभु की व्याप्ति को देखने का प्रयत्न करता है। उसी की शक्ति को सर्वत्र कार्य करता हुआ देखने पर मनुष्य निरभिमान हो जाता है।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—अन्तर्यामी जगदीश्वरः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आङ्गिरस

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा॥४३॥

गत मन्त्र का 'कुत्स' ही 'आङ्गिरस' बनता है। सब दुर्गुणों का संहार ही मनुष्य को शक्तिशाली बनाता है। यह आङ्गिरस संसार में अपने गौरव के प्रतिकूल कोई बात नहीं करता। विशेष रूप से यह कुपथ से धन कमाने में प्रवृत्त नहीं होता। इसकी प्रार्थना है कि १. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो! **अस्मान्**=हमें **राये**=धन के लिए **सुपथा**=उत्तम

मार्ग से **नय**=ले-चलिए। २. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=विज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। आप हमें भी उन सब विज्ञानों को प्राप्त कराइए। ३. **अस्मत्**=आप हमसे **जुहुराणम्**=सब कुटिलताओं को तथा **एनः**=सब पापों को **युयोधि**=(वियोजय—द०) पृथक् कीजिए। ४. हम **ते**=आपके लिए **भूयिष्ठाम्**=अत्यधिक **नमउक्तिम्**=नतिपुरःसर स्तुति को **विधेम**=करते हैं। ५. **स्वाहा**=अन्याय्य मार्ग से धन कमानेरूप पाप से बचने के लिए हम (स्व+हा) आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम सदा न्याय-मार्ग से ही धन कमाएँ। पाप व कुटिलता से दूर रहें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विजय

अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳशत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥४४॥

१. गत मन्त्र में न्याय-मार्ग से धन कमाने का उल्लेख था, वस्तुतः धन देनेवाले तो प्रभु हैं। जीव को तो प्रभु से उपदिष्ट न्याय-मार्ग पर चलते चलना है। इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं कि **अयं अग्निः**=सब उन्नतियों का साधक यह प्रभु **नः**=हमारे लिए **वरिवः**=धन **कृणोतु**=प्राप्त करे। प्रभु हमें उन्नति के लिए आवश्यक निवास आदि को सुन्दर बनाने के लिए सब धन देनेवाले हैं। हम पुरुषार्थ नहीं छोड़ते तो प्रभु हमें धन देते ही हैं। २. **अयम्**=ये प्रभु ही **मृधः**=सब हिंसकों को **प्रभिन्दन्**=नष्ट करते हुए **पुरएतु**=हमें आगे ले-चलनेवाले हों। हमारा नेतृत्व प्रभु के हाथ में हो। प्रभु नेता और मैं अनुयायी। वे सब विघ्नों को दूर कर देंगे और इस प्रकार मेरी उन्नति निर्विघ्न होगी। ३. **अयम्**=ये प्रभु ही **वाजसातौ**=संग्रामों में **वाजान्**=अन्नों को **जयतु**=जीतें। इस जीवन-संग्राम में जब हम काम-क्रोधादि शत्रुओं के पराजय में व्यस्त होंगे तो हमारे खान-पान का ध्यान प्रभु करेंगे ही। ४. ये प्रभु ही **जर्हृषाणः**=हमें अत्यन्त हर्षित करते हुए **शत्रून् जयतु**=हमारे शत्रुओं को जीतें। काम-क्रोधादि का विजय भी वस्तुतः मुझे क्या करना? मुझे तो बस **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पणमात्र करना है।

भावार्थ—सब धनों का विजय व प्रापण करानेवाले प्रभु हैं। वे ही हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

चार आश्रम

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु।
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्युन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः॥४५॥

१. गत मन्त्र की भावना थी कि हम आगे और आगे बढ़ते चलें। उसी भावना को अधिक व्यक्त शब्दों में प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं। यहाँ जीवन-यात्रा को चार भागों में बाँटकर पहले ब्रह्मचर्याश्रम के लिए कहते हैं कि (क) हे मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्गो! **वः रूपेण**=तुम्हारे उत्तम रूप से **रूपम्**=सुन्दर रूप को **अभ्यागाम्**=प्राप्त होऊँ। ब्रह्मचर्याश्रम में मैं शक्ति का सञ्चय करूँ। इस शक्ति-सञ्चय से मेरा प्रत्येक अङ्ग सुन्दर रूपवाला हो। प्रत्येक अङ्ग के सौन्दर्य पर ही शरीर का सौन्दर्य भी निर्भर करता है। (ख) इस ब्रह्मचर्याश्रम में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात ज्ञान की है, अतः कहते हैं कि **तुथः**=ज्ञानवृद्ध **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण ज्ञानोंवाला,

सब विषयों का पण्डित आचार्य **वः विभजतु**=तुम्हें अपने ज्ञान का विशेषरूप से सेवित करानेवाला हो। अपने ज्ञान का तुम्हारे साथ विभाग करे। एवं, ब्रह्मचर्याश्रम में हम स्वास्थ्य, सौन्दर्य व ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। २. इसके बाद गृहस्थ के लिए भी दो बातों को कहते हैं कि (क) **ऋतस्य पथा प्रेत**=सत्य के मार्ग से चलो। जीवन में ऋत का पालन करो। ऋत=right और नियमितता regularity=तुम्हारे जीवन का अङ्ग हो। सूर्य और चन्द्रमा की तरह अपने दैनिक कृत्यों को समय पर करनेवाले बनो। (ख) **चन्द्रदक्षिणाः**=तुम (चदि आह्लादे) आनन्दमय दानवाले बनो। तुम्हें दान देने में आनन्द का अनुभव हो। अथवा (चन्द्रं सुवर्णं दक्षिणा दानं येषां ते—द०) तुम सुवर्णादि उत्तम धातुओं को दान देनेवाले बनो। एवं, गृहस्थ के कर्तव्य हैं (क) नियमितता व (ख) दान।

३. अब वनस्थ के लिए कहते हैं कि (क) **स्वः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति आत्म-तत्त्व को **विपश्य** =विशेषरूप से देखने का प्रयत्न कर। वनस्थ ने सदा स्वाध्याय में युक्त रहकर आत्मदर्शन के लिए पूर्ण प्रयत्न करना है। (ख) **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **विपश्य**=विशेषरूप से देख। अपने हृदय का प्रातः-सायं निरीक्षण करनेवाला बन। यह आत्मालोचन की वृत्ति ही सारी उन्नतियों का मूल है। एवं, वनस्थ के कर्तव्य हैं—आत्मदर्शन व आत्मालोचन। ४. अब जीवन के अन्ति प्रयाण में संन्यासी के लिए कहते हैं कि **सदस्यैः**= सभा में स्थित व्यक्तियों के साथ **यतस्व**=तू यत्नशील हो। जो लोग ज्ञान की चर्चा सुनने के लिए सभा में पहुँचते हैं, उनके साथ तू पूर्ण प्रयत्न कर, अर्थात् तू अधिक-से-अधिक सुन्दर शब्दों में उन्हें ज्ञान देनेवाला बन। पूर्ण चिन्तन के साथ सरल-स्पष्ट युक्ति को उपस्थित करते हुए तू उन्हें धर्म के मार्ग को हृदयङ्गम करानेवाला बन। ज्ञान देना ही संन्यासी का कर्त्तव्य है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में स्वास्थ्य व ज्ञान, द्वितीयाश्रम में ऋत व दान, तृतीय में आत्मदर्शन व आत्मालोचन तथा चतुर्थ में ज्ञानप्रदान यही हमारे जीवन का कार्यक्रम हो।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—विद्वांसः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

दक्षिणा के योग्य ब्राह्मण

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳसुधातुदक्षिणम्।
अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत॥४६॥

गत मन्त्र में गृहस्थ का एक कर्त्तव्य 'दान' भी बताया गया था। दान पात्र को ही देना चाहिए। उस पात्र के विषय में गृहस्थ प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं **विदेयम्**=प्राप्त करूँ। दान देने के लिए ऐसे व्यक्ति को पा सकूँ जो १. **ब्राह्मणम्**= (वेदेश्वरविदम्—द०) **'वेदाभ्यासात्ततो विप्रो ब्रह्म वेत्तीति ब्राह्मणः'** वेदाभ्यास से ब्रह्म को जाननेवाले ज्ञानी को, अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त करता है और ईश्वर के साक्षात्कार के लिए यत्नशील होता है। २. **पितृमन्तम्**=अतिविशिष्ट पितावाले को, जिसे माता-पिता से उत्तम सात्त्विक गुण प्राप्त हुए हैं ३. **पैतृमत्यम्**=जिसके पितामहादि भी वश्य व श्रोत्रिय थे, अर्थात् जितेन्द्रियता व विद्वत्ता जिसके कुल की विशेषता रही है। ४. **ऋषिम्**=जो तत्त्वद्रष्टा है ५. **आर्षेयम्**=(ऋषिषु विख्यातः—म०) ऋषियों में भी जो व्याख्यान-शक्ति के कारण प्रसिद्ध है। 'ऋषि' शब्द में आगम=ज्ञान की प्राप्ति की प्रधानता है तथा आर्षेय शब्द में संक्रान्ति, अर्थात् ज्ञान के व्याख्यान की प्रधानता है। संक्षेप में जिसके impression and expression दोनों ही उत्तम हैं। ६. **सुधातुदक्षिणम्**=उत्तम वीर्यादि धातुओं के कारण जो अपने कर्त्तव्य-

कर्मों में बड़ा दक्ष है। ७. उपर्युक्त गुणों से युक्त पात्र को हम प्राप्त करें। पात्र में दिया हुआ दान ही सफल होता है। **अस्मद्राताः**=हमारे दिये हुए धनो! तुम **देवत्रा गच्छत**=देवों में प्राप्त होओ, अर्थात् हमारे धन दिव्य गुणों से युक्त पुरुषों में ही दिये जाएँ, जिससे तुम फिर से **प्रदातारम्**=देनेवाले में **आविशत**=प्रविष्ट होओ। सुपात्र को दिया हुआ दान इस रूप में फलता है कि वह कई गुणा होकर दाता को फिर से प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—हम सदा पात्र में दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—वरुणः। छन्दः—भुरिक्प्राजापत्याजगती[1], स्वराट्प्राजापत्याजगती[2], निचृदार्चीजगती[3], विराडार्चीजगती[4]। स्वरः—निषादः॥

दान व प्रतिग्रह का प्रयोजन

[1]अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [2]रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्रऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [3]बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [4]यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्रऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे॥४७॥

१. लेनेवाला ग्राह्य वस्तु को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **त्वा**=तुझे **मह्यं अग्नये**=मुझ अग्नि के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं तुझे प्राप्त करके **अमृतत्त्वम् अशीय**=अमृतत्व को प्राप्त करूँ, अर्थात् तेरे अभाव में आवश्यक वस्तु की अप्राप्ति के कारण रोगादि की सम्भावना थी, वह अब न रहे। **दात्रे**=देनेवाले के लिए तू **आयुः**=आयु **एधि**=हो, उसके दीर्घ जीवन का कारण बन और **मह्यं प्रतिगृहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए तू **मयः**=सुख व नीरोगता का कारण हो। २. **त्वा**=तुझे **मह्यं रुद्राय**=मुझ रुद्र के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं तुझे प्राप्त करके **अमृतत्त्वम् अशीय**=अमृतत्व अर्थात् नीरोगता को प्राप्त करूँ। तू **दात्रे**=देनेवाले के लिए **प्राणः**=प्राणशक्ति **एधि**=हो। दाता की प्राणशक्ति बढ़े और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **वयः**=दीर्घजीवन हो। ३. **त्वा**=तुझे **मह्यं बृहस्पतये**=मुझ ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**= दे। **सः**=वह मैं **अमृतत्वम् अशीय**=अमरता को प्राप्त करूँ। **दात्रे**=दाता के लिए यह दान **त्वक्**=रक्षा करने का संवरण **एधि**=हो और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **मयः**=सुख व नीरोगता देनेवाला हो। ४. **त्वा**=तुझे **मह्यं यमाय**=मुझ यम-नियमों से बद्ध जीवनवाले यम के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं **अमृतत्वम्**=अमरता को **अशीय** =प्राप्त करूँ। **दात्रे**=दाता के लिए तू **हयः**=घोड़ा—शक्ति का प्रतीक **एधि**=हो और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे** =मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **वयः**=दीर्घजीवन हो।

ऊपर के मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि 'प्रतिग्रहीता' में निम्न गुण होने चाहिएँ—

(क) **अग्नये**=वह अग्नि हो (अग् गतौ), गतिशील हो। प्रकाश का फैलानेवाला व दोषों का जलानेवाला हो। (ख) **रुद्राय**=(रुत्+र) यह प्रजाओं को ज्ञान देनेवाला हो। रोरूयमाणो द्रवति=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए विचरनेवाला हो। (ग) **बृहस्पतये**=यह ब्रह्मणस्पति=ज्ञान की वाणी का पति हो तथा सर्वोच्च दिशा का अधिपति हो, अर्थात् अधिक-से-अधिक उन्नत हो। (घ) **यमाय**=इसका जीवन यम-नियम से नियन्त्रित हो।

दान लेने का उद्देश्य यह है कि—**'अमृतत्वम् अशीय'**=इसका जीवन आवश्यक वस्तुओं की कमी के कारण रोगाक्रान्त व असमय में मृत्यु का ग्रास न हो जाए। अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के लिए ही दान ले, मौज की सामग्री के लिए नहीं। **'मयः वयः'**=सुख—सब इन्द्रियों का स्वास्थ्य (सु+ख) व दीर्घजीवन प्राप्त हो सके यही लेने का उद्देश्य है।

दान देने का उद्देश्य यह है कि—दाता को दीर्घजीवन, प्राणशक्ति, वासनाओं के आक्रमण से बचाव तथा क्रियाशक्ति व वेग (आयुः, प्राणः, त्वक्, हयः) प्राप्त हो। दान मनुष्य को विलासवृत्ति से बचाकर इन सब वस्तुओं को प्राप्त कराता है। यज्ञशेष तो अमृत है। यह दान पाप से बचानेवाला सर्वोत्तम साधन है।

दाता का यह प्राथमिक कर्त्तव्य है कि वह 'वरुण' बने। वह वृ वरणे=पात्र का ही वरण करे। अपात्र में दिया हुआ दान न परलोक में कल्याण देता है न इहलोक में। व्यक्ति में अपात्रता की अधिक आशंका है, अतः समाज को दान देना श्रेयस्कर है।

भावार्थ—हम पात्र का विचार करके दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—आत्मा। छन्दः—आर्च्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

दाता-प्रतिग्रहीता ?

कोऽदात्कस्मा॑ऽअदात्कामोऽदात्कामा॑यादात्।

कामो॑ दा॒ता कामः॑ प्रतिग्रही॒ता कामै॒तत्ते॑॥४८॥

१. गत मन्त्र में दान का महत्त्व सुव्यक्त है। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'** इस वेदवाक्य के अनुसार मनुष्य देता है और प्रतिष्ठा को पाता है। **'न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते'**=देनेवालों की कभी निन्दा नहीं होती। 'दान देने पर यह प्रतिष्ठा कहीं दाता को गर्वयुक्त न कर दे', इसलिए समाप्ति पर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू कभी यह मत सोचना कि तू देनेवाला है, देनेवाला तो वह सुखस्वरूप परमेश्वर ही है। **कः अदात्**=सुखस्वरूप परमेश्वर देता है। **कस्मै अदात्**=सुख के लिए ही देता है। प्रभु देते इसलिए हैं कि हमारा जीवन सुखी हो सके। जीवन के लिए आवश्यक सब वस्तुओं के प्राप्त हो जाने से सु-ख=सब इन्द्रियाँ स्वस्थ बनी रहें। २. **कामः**=(Supreme Being) सभी से कामना किया जानेवाला वह प्रभु ही (काम्यते) **अदात्**=देता है। **कामाय अदात्**=प्रभु इसलिए देते हैं कि हम उस प्रभु को पा सकें। यह पंक्ति विचित्र अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु इसमें वह मौलिक सत्य निहित है जो 'भूखे भजन न होई' इन शब्दों में कवियों से व्यक्त किया गया है। अधिक धन मनुष्य को मूढ़ बनानेवाला हो सकता है, पर धनाभाव तो अवश्य मूढ़ बना ही देता है। ३. **कामः दाता**=वे प्रभु ही दाता हैं। **कामः**=प्रभु की कामना करनेवाला जीव **प्रतिग्रहीता**=लेनेवाला है। ४. **काम**=हे संसार की सर्वोच्च सत्तारूप प्रभो! **एतत् ते**=यह सब दान आपका ही है। यह मेरा नहीं। मैं सदा लेनेवाला ही हूँ, अतः मैं क्या दान का गर्व करूँ। यह तो मेरे माध्यम से आप ही के द्वारा हो रहा है।

भावार्थ—हम दान दें, परन्तु उस दान का हमें गर्व न हो, क्योंकि वस्तुतः यह दानादि उत्तम कार्य हमारे माध्यम से उस प्रभु द्वारा ही किये जा रहे होते हैं।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥

अष्टमोऽध्यायः

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—बृहस्पतिस्सोमः। छन्दः—आर्चीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

आदर्श पति

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्यादि॒त्येभ्य॑स्त्वा।

विष्ण॑ऽउरुगाये॒ष ते॒ सोम॒स्तꣳर॑क्षस्व॒ मा त्वा॑ दभन्॥१॥

१. इस अध्याय का प्रारम्भ 'आङ्गिरस' ऋषि के मन्त्रों से होता है। यह आङ्गिरस ऋषि ही सप्तमाध्याय की समाप्ति के मन्त्रों का भी ऋषि था। सप्तमाध्याय की समाप्ति के मन्त्र 'दान' का प्रतिपादन कर रहे थे। अब दान देनेवाले गृहस्थों का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस प्रथम मन्त्र में वधू वर से कहती है—(क) **उपयामगृहीतः असि**=तेरा जीवन प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत हुआ है। तूने उपासना द्वारा अपने जीवन को व्रती बनाया है। मैं **आदित्येभ्यः त्वा**=(आदित्यः वै प्रजाः—तै० १।८।८।१) सूर्य के समान दीप्त प्रजाओं के लिए आपको वरती हूँ। मैं चाहती हूँ कि आप मेरे हाथ को ग्रहण करें, जिससे हम सूर्य के समान वर्चस्वी सन्तानों को प्राप्त करें। (ख) **विष्णो**=आप विष्णु हैं (विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक हृदयवाले हैं। आपका मन विशाल है, वहाँ कृपणता का निवास नहीं। (ग) **उरुगाय**=आप प्रभु का खूब ही गायन करनेवाले हैं। प्रभु-प्रवण मनुष्य विलासमय जीवनवाला नहीं होता, अतः यह प्रभु-प्रवणता गृहस्थ की पवित्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। (घ) **एषः ते सोमः**=यह आपका सोम है, यह आपकी वीर्यशक्ति है। **तं रक्षस्व** =उसकी आपने रक्षा करनी है। **मा**=मत **त्वा**=तुझे **दभन्**=रोगादि हिंसित करनेवाले हों। सोम का अपव्यय होते ही शरीर में रोग-प्रतिरोधक शक्ति नहीं रहती और मनुष्य को नाना प्रकार के रोग आ घेरते हैं। वस्तुतः इस सोम की रक्षा से सब अङ्ग रसमय बने रहते हैं। वे सूखे काठ के समान मृत नहीं हो जाते। उनमें लोच-लचक बनी रहती है और इसका 'आङ्गिरस' नाम सार्थक होता है।

भावार्थ—आदर्श पति वही है जो १. यम-नियमों से संयत जीवनवाला है २. उदार हृदय है। ३. प्रभु का सतत स्मरण व कीर्तन करनेवाला है। ४. सोम के महत्त्व को समझकर उसकी रक्षा करता है। यही व्यक्ति उत्तम सन्तान को जन्म देता है। एक आदर्श वधू वर का वरण इसीलिए करती है कि वह आदित्यसम देदीप्यमान सन्तानों को जन्म दे सके।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—गृहपतिर्मघवा। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

परस्पर अर्पण

क॒दा च॒न स्त॒रीर॑सि॒ नेन्द्र॑ सश्चसि दा॒शुषे॑।

उपो॒पेन्नु म॑घव॒न्भूय॒ऽइन्नु ते॒ दानं॑ दे॒वस्य॑ पृच्यतऽआदि॒त्येभ्य॑स्त्वा॥२॥

गत मन्त्र के विषय को आगे बढ़ाती हुई पत्नी कहती है कि आप १. **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=(स्वभावाच्छादकः—द०, स्तृञ् आच्छादने) अपने स्वभाव को छिपानेवाले **न असि**= नहीं हैं। पति-पत्नी में ऐसा सामञ्जस्य होना चाहिए कि उन्हें एक-दूसरे से कुछ छिपाने का

विचार ही उत्पन्न न हो। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव न हो। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता शक्तिशाली पते! आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए **सश्चसि**=प्राप्त होते हो (सस्ज गतौ)। कन्या पितृगृह को छोड़कर पति के घर को अपना घर बनाती है। वह पति के प्रति अपना अर्पण कर डालती है, अतः पति को भी उसे प्राप्त होना ही चाहिए, उसे कभी धोखा नहीं देना चाहिए। ३. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! अथवा यज्ञशील! **उप उप इत् नु**=आप निश्चय से प्रभु के अधिकाधिक निकट हो, उसके उपासक बनो। प्रभु-प्रवणता भोग-प्रवणता को रोकती है। ४. **देवस्य**=(देवो दानात्) देनेवाले आपको **भूयः इत्**=अधिक ही **दानम्**=दान **पृच्यते**=प्राप्त होता है। ५. **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं आदित्य-तुल्य दीप्तिवाली सन्तानों के लिए आपको प्राप्त होती हूँ।

भावार्थ—१. पति पत्नी से किसी प्रकार का छिपाव न रक्खे। यह छिपाव ही एक-दूसरे में शक पैदा करता है। २. पति पत्नी को पूर्णतया प्राप्त हो, क्योंकि पत्नी ने पति के प्रति अपना अर्पण किया है। ३. उसमें प्रभु-प्रवणता हो। ४. वह दानशील हो।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—आदित्यो गृहपतिः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

इहलोक व परलोक

कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी।
तुरीयादित्य सवनं तऽइन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा॥३॥

पति के ही विषय में कहते हैं कि आप १. **कदा च**=कभी भी न **प्रयुच्छसि**=प्रमाद नहीं करते हो। 'न प्रमदितव्यम्' आचार्य के इस उपदेश को आप भूलते नहीं। २. सदा सतर्क और अप्रमत्त रहते हुए आप **उभे**=दोनों **जन्मनी**=जन्मों को **निपासि**=निश्चय से रक्षित करते हो। इहलोक व परलोक दोनों को सुधारने का प्रयत्न करते हो। आप अभ्युदय के साथ निःश्रेयस को जोड़कर चलते हो, यही तो धर्म है। ३. **तुरीय**=आप तुरीय हो। तुरीय का अर्थ निम्न मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है—**'सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिः तुरीयस्ते मनुष्यजाः'** (अथर्व १४।२।३) प्रथम तू सोम की पत्नी है, तेरा दूसरा पति गन्धर्व है, अग्नि तेरा तीसरा पति है और चौथा मनुष्य से होनेवाला, अर्थात् माता-पिता कन्या के लिए वर खोजते समय पहला ध्यान तो यह करें कि वह 'सोम' हो, शक्ति का पुञ्ज हो। उसमें वीर्यशक्ति हो, वह नामर्द न हो, सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य न हो। दूसरी बात यह कि वह ज्ञान की वाणी का पति हो (गां धरति) कुछ पढ़ा-लिखा हो, अनपढ़, गँवार न हो। तीसरा यह कि वह अग्नि हो—उन्नतिशील (progressive) हो और चौथे यह कि वह मनुष्यता—दयालुता को लिये हुए हो, क्रूर न हो, Humane हो। एवं, तुरीय का अर्थ है, आप दयालु हों, आपमें मानवता हो। ४. **आदित्य**=गुणों के आप आदान करनेवाले हों, अच्छाई की आप कदर करते हों। ५. **ते इन्द्रियम्**=आपका वीर्य **सवनम्**=उत्पादक है, सुन्दर सन्तान को जन्म देनेवाला है। ६. **आतस्थौ**=आपका यह वीर्य शरीर में ही स्थित होता है, यह व्यर्थ में नष्ट नहीं किया जाता। ७. **अमृतम्**=यह आपको अमृत—नीरोग बनानेवाला है। ८. **दिवि**=यह ज्ञान के निमित्त है। अथवा मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित होता है। ९. ऐसे **त्वा**=आपको मैं **आदित्येभ्यः**=उत्तम प्रजाओं के लिए वरती हूँ।

भावार्थ—१. आप प्रमादशून्य हो। २. इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करते हो। ३. आप मानवता को लिये हुए हो। ४. गुणों का आह्वान करनेवाले हो। ५. उत्पादक शक्ति

से युक्त हो। ६. शक्ति को नष्ट नहीं होने देते हो। ७. नीरोग हो। ८. शक्ति को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाते हो।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—आदित्यो गृहपतिः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।।

दैनिक अग्निहोत्र

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा।।४।।

गत मन्त्र का आङ्गिरस अप्रमाद से धर्म का पालन करता हुआ सब बुराइयों का संहार करने से 'कुत्स' हो जाता है। इस कुत्स के घर में १. **देवानां यज्ञः**=देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र **प्रतिएति**=प्रतिदिन आता है, अर्थात् इसके घर में अग्निहोत्र एक जरामर्य सत्र बना रहता है। मृत्यु तक इसमें विच्छेद नहीं आता। २. इसी का परिणाम है कि घर में **सुम्नम्**=सुख-ही-सुख रहता है। ३. **आदित्यासः**=हे सूर्यसम सन्तानो! तुम **मृडयन्तः**=सुखी करनेवाले **भवत**=होवो। घर में यज्ञों के चलने पर सन्तानों के जीवन उत्तम होते हैं और उनकी वृत्ति क्लब्स (Clubs) आदि की ओर नहीं होती। ४. 'आदित्यास' का अर्थ आदित्य ब्रह्मचारियों से भी है। ये अतिथिरूपेण हमारे घरों में आते रहें, हमपर इनकी कृपा बनी रहे। ५. हे आदित्यो! **वः**=तुम्हारी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अर्वाची**='अर्वाङ् अञ्चति' हृदय को प्राप्त होनेवाली, हृदयङ्गम होनेवाली, **आववृत्यात्**=सर्वथा हो। **या**=जो **अंहोः चित्**=ज्ञानी को भी **वरिवोवित्तरा**=उत्कृष्ट ज्ञानधन को प्राप्त करानेवाली **असत्**=हो। इस मन्त्रभाग का यह भी अर्थ हो सकता है कि **अंहो चित्**=पापवृत्तिवाले को भी यह आदित्यों से दी गई सुमति उत्तम सेवनीय धन या पूजा की वृत्ति को प्राप्त करानेवाली होती है। विद्वान् अतिथियों के सम्पर्क में इन गृहस्थों को सदा सुमति प्राप्त होती रहे और ये अपने ज्ञान को अधिकाधिक बढ़ानेवाले हों। ६. **आदित्येभ्यः त्वा**=मैं तुझे उत्तम सन्तानों के लिए प्राप्त होती हूँ।

भावार्थ—१. घरों में अग्निहोत्र नियम से हो, जिससे वहाँ सुख का राज्य हो। २. विद्वान् अतिथियों का आना-जाना बना रहे, जिससे उनकी सुमति इन्हें सदा प्राप्त रहे। घरों में उत्तम सन्तान का निर्माण हो।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—प्राजापत्यानुष्टुप्[क], निचृदार्षीजगती[र]। स्वरः—गान्धारः[क], निषादः[र]।।

ज्ञानी, गुणी, संयमी, दानी

[क]विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व।
[र]श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारपऽएधते गृहे।।५।।

१. पिछले मन्त्र में उत्तम सन्तान निर्माण का संकेत था। उसी का उपाय प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं—१. हे **विवस्वन्**=ज्ञान की किरणोंवाले! **आदित्य**=सूर्य के समान उत्तम गुणों का ग्रहण करनेवाले पतिदेव! **एषः ते सोमपीथः**=यह तेरा सोम का पान है। **तस्मिन् मत्स्व**=उसमें तू आनन्द का अनुभव कर, अर्थात् पति ज्ञानी, गुणग्राही व संयमी हो। २. प्रभु इन प्रगतिशील व्यक्तियों से कहते हैं कि **नरः**=हे उन्नतिशील पुरुषो! **अस्मै वचसे**=इस वचन के लिए **श्रत् दधातन**=श्रद्धा करो। **यत्**=कि **आशीर्दा**=इच्छापूर्वक दान देनेवाले **दम्पती**=पति-

पत्नी **वामम्**=सुन्दर सन्तानों को ही **अश्नुतः**=प्राप्त करते हैं। दान देने से मनोवृत्ति सुन्दर बनती है, मनुष्य विलास से ऊपर उठता है, परिणामतः सन्तानों में भी वही सौन्दर्य अवतीर्ण होता है। ३. **पुमान् पुत्रः जायते**=इनका सन्तान (पू=पवित्र करना) पवित्र हृदय व पौरुषवाला होता है। **विन्दते वसु**=वह सन्तान निवास के लिए आवश्यक उत्तम धनों को प्राप्त करनेवाला होता है। **अध**=और **विश्वाहा**=सदा **अरपः**=पापशून्य होता हुआ (अ-रपस्) **गृहे**=अपने घर में **एधते**=सब दृष्टिकोणों से उन्नति करता है। ४. यह सन्तान **पुमान्**=अपने जीवन को पवित्र बनाता है। **अरपः**=पापशून्य होता है। अतएव इसका नाम 'कुत्स' (सब बुराइयों की हिंसा करनेवाला) हो जाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—पति 'ज्ञानी, गुणग्राही व संयमी' हो। पति-पत्नी दिल खोलकर उदारता से दान देनेवाले हों तो उनके घरों में 'उत्तम, वीर, पवित्र व पापशून्य' सन्तान होते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वामभाक्

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यꣳसावीः।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम॥६॥

१. गत मन्त्र के पति-पत्नी शक्ति प्राप्त करके 'भरद्वाज' बनते हैं और प्रार्थना करते हैं—हे **सवितः**=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **अद्य**=आज **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वामम्**=सौन्दर्य **सावीः** =उत्पन्न कीजिए, अर्थात् हमारे घर में प्रत्येक वस्तु सुन्दर व श्रीसम्पन्न हो। क्या सन्तान, क्या सम्पत्ति, क्या यश—सभी सौन्दर्य को लिये हुए हों। **उ**=और **श्वः**=कल भी **वामम्**=सौन्दर्य को, और **दिवेदिवे**=प्रतिदिन सौन्दर्य को ही उत्पन्न कीजिए। २. हे **देव**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले प्रभो! हम **हि**=निश्चय से **वामस्य क्षयस्य**=सुन्दर घर के (क्षि निवासगत्योः) **भूरेः**=धन-धान्य के बाहुल्यवाले घर के अथवा (भृ =पालनपोषणयोः) जिस घर में पालन व पोषण सुन्दरता से चलता है, उस घर को प्राप्त करनेवाले हों, अर्थात् हमारे घर में सब वस्तुएँ सौन्दर्य को लिये हुए हों और हमारा घर पालन व पोषण की सामग्री से युक्त हो। ३. **अया धिया**=इस (अनया) आपकी दी हुई बुद्धि से हम **वामभाजः**=सुन्दर वस्तुओं व बातों का सेवन करनेवाले हों, अर्थात् हमारी बुद्धि हमें कभी ग़लत मार्ग पर न ले-जाए। हम उन्हीं कार्यों को करें जिनसे हम सदा यशोन्वित हों।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनकर अपने कर्मों से घरों को सौन्दर्य से अलंकृत करनेवाले हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—सविता गृहपतिः। छन्दः—विराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

भग-देव-सविता

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधाऽअसि चनो मयि धेहि।
जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे॥७॥

१. पत्नी पति से कहती है कि—आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के धारण करनेवाले हैं। २. आप **सावित्रः असि**=सविता देव के उपासक हैं, अर्थात् आपका जीवन सूर्य की भाँति नियमित है और परिणामतः आप सूर्य की भाँति ही चमकनेवाले हैं। अथवा आप (सू-प्रसव) उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले हैं। ३. **चनोधाः**=उत्तम अन्न को धारण करनेवाले और **चनोधाः**=निश्चय से उत्तम अन्न को धारण करनेवाले **असि**=हैं

(अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—नि० १०।४२)। **चनो मयि धेहि**=मुझमें अन्न धारण कीजिए। 'अन्न प्राप्त कराना घर में सबके पालन-पोषण के लिए आवश्यक सामग्री जुटाना' यह पाणिग्रहण के मन्त्रों में **'ममेयमस्तु पोष्या'** इन शब्दों में तीसरा व्रत लिया जाता है। पति अन्न-प्रापण के द्वारा ही रक्षा करता है। ४. **यज्ञं जिन्व**=आप यज्ञ को भी प्राप्त हों। केवल खाने-पीने के लिए थोड़े ही कमाना है, यज्ञों के लिए भी तो कमाना है। **यज्ञपतिं जिन्व**=इन यज्ञों के द्वारा यज्ञों के पति प्रभु को आप प्रीणित करनेवाले बनें। वस्तुतः **'यज्ञो वै विष्णुः'** वे प्रभु यज्ञरूप हैं। हम उस यज्ञरूप प्रभु की यज्ञों के द्वारा ही उपासना कर पाते हैं। ५. मैं **त्वा**=आपको **भगाय**=ऐवश्र्य के लिए प्राप्त होती हूँ। आप घर के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले होओ। **देवाय त्वा**=मैं आपको दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए स्वीकार करती हूँ। आपके कारण घर में देवत्व की वृद्धि होगी। मैं **सवित्रे**=उत्तम सन्तानों को जन्म देने के लिए आपका स्वीकार करती हूँ (षू प्रसव)। आपके द्वारा मैं उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली बन सकूँगी।

भावार्थ—पति इतना कमाये कि घर का व्यय भी चले और यज्ञ-यागादि के लिए भी खर्च निकलता रहे। घर में ऐश्वर्य की वृद्धि हो, देवत्व का विकास हो और उत्तम सन्तानें हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—विश्वेदेवा गृहपतयः। छन्दः—प्राजापत्यागायत्री [क], निचृदार्षीबृहती [र]। स्वरः—षड्जः [क], मध्यमः [र]॥

सुशर्मा-सुप्रतिष्ठान

[क]उपयामगृहीतोऽसि [र]सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः।
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥८॥

१. पत्नी कह रही है कि—**उपयामगृहीतः असि**=आप प्रभु-उपासना के द्वारा स्वीकार किये हुए यम-नियमोंवाले हैं। २. **सुशर्मा असि**=उत्तम गृहवाले हैं (शर्म गृह—नि० ३।४)। ३. **सुप्रतिष्ठानः**=(सुष्ठु प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा यस्य—द०) आप उत्तम प्रतिष्ठावाले हैं। ४. **बृहद् उक्षाय**=उत्कृष्ट वीर्यवान् आपका **नमः**=मैं उचित आदर करती हूँ या उचित अन्नादि की व्यवस्था (नमः=अन्न—नि० २।७) करती हूँ। ५. **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करती हूँ। **एषः ते योनिः**=यही आपका घर है। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करती हूँ।

भावार्थ—पति यम-नियम का पालन करे। वह अपने घर को उत्तम बनाए। उसके कार्य उसे यशस्वी बनानेवाले हों। उसके कारण घर में दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

सूचना—'शर्म' शब्द सुखवाची भी है। तब 'सुशर्मा' का अर्थ यह होगा कि जिसके कारण घर में सुख-ही-सुख है, जो घर में क्लेश बढ़ाने का कारण नहीं बनता।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयो विश्वेदेवाः। छन्दः—प्राजापत्यागायत्री [उ], आर्ष्युष्णिक् [क], स्वराडार्षीपङ्क्तिः [र]। स्वरः—षड्जः [उ], ऋषभः [क], पञ्चमः [र]॥

सूर्य का उभयतो दर्शन

[उ]उपयामगृहीतोऽसि [क]बृहस्पतिसुतस्य देव सोम तऽइन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ२॥ऽऋध्यासम्। [र]अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अहꣳसूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥९॥

१. पिछले मन्त्र की भाँति प्रस्तुत मन्त्र में भी पत्नी कथन करती है कि—आप **उपयामगृहीतः असि**=सुनियमों से स्वीकृत हैं। आपका जीवन यम-नियमवाला है। २. **बृहस्पतिसुतस्य**=सब ज्ञानों के पति, अथवा सर्वोच्च दिशा के पति के पुत्र, अर्थात् जिन्हें ज्ञानी, गुणोन्नत आचार्यों ने दूसरा जन्म देकर द्विज बनाया है, उस आपके, हे **देव सोम**=दिव्य गुणोंवाले तथा उत्पादक शक्ति से युक्त पते! **इन्दोः**=सोम की रक्षा के कारण शक्तिशाली **इन्द्रियावतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले तथा **पत्नीवतः**=उत्तम पत्नीवाले **ते**=आपके **ग्रहान्**=(गृह्यन्ते विवाहकाले—द०) विवाह के अवसर पर लिये गये व्रतों की **ऋध्यासम्**=मैं समृद्ध करनेवाली बनूँ। पति के व्रतों के पालन में पत्नी ने सहायक होना है। पत्नी की सहायता के बिना उन व्रतों की पूर्ति सम्भव नहीं। ३. अब पत्नी अपने लिए कहती है कि **अहम्**=मैं **परस्तात्**=परलोक का ध्यान करनेवाली बनूँ और **अहम्**=मैं **अवस्तात्**=यहाँ इहलोक का भी ध्यान करनेवाली होऊँ। **'उभे निपासि जन्मनी'** ये तीसरे मन्त्र के शब्द मुझपर भी लागू हों। ४. **यद् अन्तरिक्षम्**=जो अन्तरिक्ष अर्थात् (अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग है **तत् उ**=वह ही **मे पिता अभूत्**=मेरा रक्षक हुआ है, अर्थात् सदा मध्यमार्ग पर चलने से मैं रोगादि का शिकार नहीं होती। ५. **अहम्**=मैं **सूर्यम्**=सूर्य को **उभयतः**=दोनों ओर **ददर्श**=देखती हूँ। एक तो **अहम्**=मैं उस सूर्य को देखती हूँ जो कि **देवानां परमम्**=देवताओं में सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् ३३ देवों का मुखिया द्युलोक में वर्त्तमान यह सूर्य है और **गुहा यत्**=जो ब्रह्मरूपी सूर्य हृदयरूपी गुहा में विद्यमान है। बाह्य सूर्य के व्रत में चलती हुई मैं निरन्तर क्रियाशील बनूँ और अन्तःसूर्य को देखने के कारण मैं अपनी क्रियाओं में मार्गभ्रष्ट नहीं होती।

भावार्थ—पति यम-नियम का पालन करनेवाला, ज्ञानी आचार्यों से शिक्षा पाया हुआ, शक्तिशाली तथा प्रशस्तेन्द्रिय हो और उत्तम पत्नी की सहायता से व्रतों का पालन करे। पत्नी भी इहलोक व परलोक दोनों को देखे, सदा मध्यमार्ग पर चले। वह बाह्य सूर्य से क्रियाशीलता की प्रेरणा ले और अन्तःसूर्य से मार्ग का ज्ञान प्राप्त करे जिससे भटक न जाए।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रजापति

अग्ना३॥ऽइ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा। प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय॥१०॥

पति के लिए कहते हैं—१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील! **पत्नीवन्**=उत्कृष्ट पत्नीवाले! **देवेन**=दिव्य गुणों के पुञ्ज **त्वष्ट्रा**=सर्वदुःख विच्छेदक अथवा सर्वनिर्माता प्रभु के **सजूः**=साथ प्रीतिपूर्वक कार्यों का सेवन करनेवाला होकर **तू सोमं पिब**=सोम का पान कर। **स्वाहा**=इसके लिए तू स्वार्थों का, भोगवृत्ति का त्याग करनेवाला बन। भोगवृत्ति को छोड़कर सोम पान करने से तू भी छोटे रूप में 'देव त्वष्टा' बन सकेगा, अर्थात् सुन्दर दिव्य गुणोंवाली सन्तानों को जन्म दे सकेगा। २. तू इस सोमपान के कारण **प्रजापतिः**=उत्तम प्रजा का रक्षक है, **वृषा असि**=शक्तिशाली है तथा (वृष=धर्म) धर्ममय जीवनवाला है। **रेतोधाः**=इस सोमपान के कारण ही तू उचित ऋतु में रेतस् का आधान करनेवाला होता है। ३. इस रेतोधा पति से पत्नी कहती है कि **मयि रेतः धेहि**=तू मुझमें रेतस् का आधान कर, जिससे मैं **ते प्रजापतेः** =प्रजा के रक्षक तुझ **वृष्णः** =शक्तिशाली तथा **रेतोधसः**=ऋतु में रेतस् का आधान करनेवाले के **रेतोधाम्** =वीर्यधारक, पराक्रमवाले पुत्र को **अशीय**=प्राप्त करूँ। वस्तुतः संयमी माता-पिता

ही शक्तिशाली सन्तान को जन्म दे पाते हैं। माता-पिता भी शक्तिशाली, उनकी सन्तान भी शक्तिशाली। वे शक्ति को अपने में भरनेवाले सचमुच प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी 'सोमपान' करनेवाले और रेतस् का अपने में धारण करनेवाले हों, जिससे उनकी सन्तानें भी शक्तिशाली हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—भूरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

हारियोजन

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा।
हर्योर्धाना स्थ सहसोमाऽइन्द्राय॥११॥

पत्नी पति से कहती है—१. **उपयामगृहीतः असि**=आपका जीवन उपासना के द्वारा यम-नियमों से युक्त है अथवा उपयाम=विवाह के द्वारा आपने मेरा हाथ ग्रहण किया है। २. **हरिः असि** =आप गृहस्थरूपी शकट के खैंचनेवाले हैं, यथायोग्य गृहाश्रम के व्यवहार को चलानेवाले हैं ३. **हारियोजनः**=(ऋक्सामे वै हरी—श०।४।४।३।७, तौ योजयति। स्वार्थे तद्धितः) अपने जीवन में आप ऋक् और साम को जोड़नेवाले हैं। 'ऋक्' विज्ञान है, 'साम' उपासना। आपके जीवन में विज्ञान व उपासना दोनों को स्थान मिला है। आपका जीवन 'विद्या-श्रद्धा' सम्पन्न है। इसमें मस्तिष्क व हृदय दोनों का ठीक विकास हुआ है। ४. **हरिभ्यां त्वा**=मैं भी ऋक् व साम, अर्थात् विद्या व श्रद्धा के विकास के द्वारा आपको स्वीकार करती हूँ। वस्तुतः पत्नी अपने जीवन में इन दोनों तत्त्वों का विकास करके ही पति की अनुकूलता का सम्पादन कर पाती है।

५. अब इन पति-पत्नी से प्रभु कहते हैं कि तुम **हर्योः**=इन विद्या व श्रद्धा के **धानाः**=धारण करनेवाले **स्थः**=हो अथवा कर्मेन्द्रिय पञ्चक व ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकरूप इन्द्रियाश्वों को तुम अपने वश में करनेवाले हो। ६. **सहसोमाः**=तुम दोनों साथ-साथ शक्ति का सम्पादन करनेवाले हो, अर्थात् गृहस्थ में भी संयमी जीवन बिताते हुए अपनी शक्ति को नष्ट नहीं होने देते। ७. **इन्द्राय**=मैं तुम्हें परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए इस गृहस्थ में सङ्गत करता हूँ। तुम गृहस्थ-धर्मों का ठीक प्रकार पालन करते हुए मोक्षरूप परमैश्वर्य को प्राप्त करो।

भावार्थ—गृहस्थ में हम 'ज्ञान व भक्ति' दोनों का समन्वय करके चलें। हम कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को धारण करनेवाले बनें। शक्ति का सम्पादन करते हुए मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।।

सात्त्विक भोजन

यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य तऽइष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य
शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि॥१२॥

पिछले ग्यारह मन्त्रों में वर्णित सारी उत्तम बातें अन्ततोगत्वा भोजन की सात्त्विकता पर निर्भर करती हैं, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी भोजन का उल्लेख करते हुए पत्नी कहती है कि १. **यः**=जो **ते**=तेरा **भक्षः** =भोजन **अश्वसनिः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है, अर्थात् तेरी क्रियाशक्ति को बढ़ानेवाला है, २. **यः गोसनिः**=जो भोजन उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है (अश्नुवते कर्मसु अश्वाः, गमयन्ति अर्थान् गावः), अर्थात् जिस

भोजन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़कर ज्ञानशक्ति में वृद्धि होती है, ३. **उपहूतः**=जो भोजन उपहूत हुआ है, अर्थात् 'अनमीवस्य, शुष्मिणः' जिस नीरोग व शत्रुओं के शोषक बलवाले भोजन की प्रार्थना की गई है, उस भोजन को **भक्षयामि**=मैं तुझे खिलाती हूँ। ४. **तस्य ते**=उस आपको जो (क) **इष्टयजुषः**=यजुर्मन्त्रों से निरन्तर यज्ञ करनेवाले हो (इष्टं यजुर्भिर्येन, तस्य)। (ख) **स्तुतस्तोमस्य**=(स्तुतं स्तोमैः साममन्त्रविशेषैर्ये) साम-मन्त्रों से प्रभु का स्तवन करनेवाले हो। (ग) **शस्तोक्थस्य**=(शस्तानि उक्थानि यस्य) प्रशस्त ऋक् मन्त्रोंवाले हो। (घ) **उपहूतस्य**=उपासना द्वारा प्रभु का आह्वान करनेवाले हो।

भावार्थ—भोजन वही ठीक है जो कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्तिक्षम बनाता है और जिसकी वेद में इस रूप में प्रार्थना है कि यह नीरोगता व शत्रु-शोषण-शक्ति को देनेवाला हो। इससे पति का जीवन इतना सुन्दर बनेगा कि वे यजुर्मन्त्रों से यज्ञ करनेवाले बनेंगे। साममन्त्रों से प्रभु-स्तवन करेंगे तथा ऋङ्मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले होंगे, अतः पत्नी ने पति व परिवार को सात्त्विक भोजन ही खिलाना है।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयो विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृत्साम्न्युष्णिक्[१,२,४], साम्न्युष्णिक्[३], प्राजापत्योष्णिक्[५], निचृदार्ष्युष्णक्[६]। स्वरः—ऋषभः॥

सात्त्विक भोजन का परिणाम पाप का अवयजन

[१]देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि [२]मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि [३]पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्या[४]त्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनस[५] एनसोऽवयजनमसि। [६]यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र के सात्त्विक भोजन का पहला परिणाम यह है कि हमारे जीवनों से पाप दूर हो जाते हैं, क्योंकि 'जैसा अन्न वैसा मन' **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**' यह कथन प्रामाणिक है। २. मन्त्र में कहते हैं कि इस सात्त्विक भोजन से तुम **देवकृतस्य एनसः**=देवों के विषय में किये गये पापों को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो (अवयजन =दूर करना)। हम पृथिवी आदि देवों को दूषित नहीं करते। जल में गन्द नहीं फेंकते, अग्नि में रबड़ इत्यादि नहीं जलाते। ३. **मनुष्यकृतस्य**=तुम मनुष्य के विषय में किये गये **एनसः**=पापों को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हों। मनुष्यों के प्रति हम 'मनसा, वाचा, कर्मणा' अहिंसा धर्म का पालन करनेवाले होते हैं, उनके साथ मीठे शब्द बोलते हैं, चुभनेवाले वाग्बाण नहीं चलाते रहते। ४. **पितृकृतस्य एनसः**=तुम माता-पिता के विषय में किये गये पाप को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो। सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला माता-पिता की अवज्ञा न करके सदा उनका सम्मान करता है। ५. **आत्मकृतस्य एनसः**=तुम आत्मा के विषय में किये गये पाप को **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो। आत्मा के मूल्य पर पार्थिव भोगों को भोगना ही आत्मविषयक पाप है। आत्मा के लिए तो सारी पृथिवी को भी छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिए। ६. **एनसः एनसः अवयजनमसि**=एक-एक पाप से हमें दूर करनेवाले हो। सात्त्विक भोजन से हममें कोई भी पाप नहीं रहता। ७. **यत् च**=और जिस **एनः**=पाप को **अहम्**=मैं **विद्वान्**=जानता हुआ **चकार** =करता हूँ **च**=और **यत्**=जिसको **अविद्वान्**=न जानता हुआ **चकार**=कर बैठता हूँ **तस्य सर्वस्य एनसः** =उस सारे पाप का तुम **अवयजनम् असि**=दूर करनेवाले हो।

मनुष्य कई बार '**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः**' जानता हुआ भी धर्म नहीं कर

पाता **'जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः'**=अधर्म को जानता हुआ भी उससे रुकता नहीं। यह ठीक है कि परिपक्व ज्ञान की स्थिति में तो अधर्म सम्भव ही नहीं, परन्तु सामान्यतः मनुष्य जानता हुआ भी प्रलोभनों से आक्रान्त होकर बहुधा अधर्म करता है। 'सात्त्विक आहार' ज्ञानपूर्वक होनेवाले पापों से हमें बचाएगा। अनजाने में हो जानेवाले पापों से भी यह हमें बचानेवाला हो।

भावार्थ—सात्त्विक आहार से शुद्ध बुद्धिवाले होकर हम पापों से ऊपर उठ जाएँ।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आप्यायन—न्यूनता का दूरीकरण

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥१४॥

१. सात्त्विक आहार से शुद्ध बुद्धिवाले होकर हम **वर्चसा**=ब्रह्मवर्चस् से, ज्ञानाध्ययन सम्पत्ति से **समगन्महि**=सङ्गत हों। सात्त्विक आहार से शरीर में शक्ति सुरक्षित होती है और यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त करती है, तब हम ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करते हैं। २. **पयसा**=(ओप्यायी वृद्धौ) हम सब अङ्गों का आप्यायन प्राप्त करें, हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग बढ़ें। ३. **तनूभिः**=(तनु विस्तारे) जिनकी शक्ति का विस्तार हुआ है, ऐसे अनुष्ठानक्षम शरीर के अवयवों से हम युक्त हों और ४. **शिवेन मनसा**=कल्याणकर मन से, शिवसंकल्पवाले मन से, **सम् अगन्महि**=हम सङ्गत हों। ५. सात्त्विक भोजन के परिणामरूप जब हमारा मन शिवसंकल्पोंवाला होगा तब हम असन्मार्ग से धन कमानेवाले न होंगे। वह **त्वष्टा**=देवशिल्पी, हमारे अन्दर सब दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाला प्रभु तथा (तनूकरणे) हमारे सब दुःखों को क्षीण (thin) करनेवाला, **सुदत्रः**=(सु+द+त्र) उत्तम दान से हमारा त्राण करनेवाला प्रभु हमारे लिए **रायः**=दान देने योग्य धनों का **विदधातु**=धारण करे। 'सात्त्विकता से धनों का सम्बन्ध ही न हो' ऐसी बात नहीं है। हाँ, सात्त्विक पुरुष अन्धाधुन्ध धन नहीं कमाता। यह कमाता है—सुपथ से तथा उन्हें दान में देने की रुचिवाला होता है। ६. वह प्रभु इन सात्त्विक आहारों के द्वारा **तन्वः**=शरीर का **यत्**=जो **विलिष्टम्**=(लिश् अल्पीभावे) न्यूनता व दोष हो उसे **अनुमार्ष्टु**=दूर करके शरीर का शोधन कर डाले।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के परिणामरूप हमारा शरीर व बुद्धि ठीक हो, हम ठीक मार्ग से ही धन कमाएँ, हमारे शरीरों में कोई न्यूनता न रहे।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

देवों की सुमति में ('अत्रि' बनना)

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सꣳसूरिभिर्मघवन्त्सꣳस्वस्त्या।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानाꣳसुमतौ यज्ञियानाꣳस्वाहा॥१५॥

उसी प्रकरण में कहते हैं कि १. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **मनसा**=प्रशस्त मननशील मन से **संनेषि**=सम्यक्तया सङ्गत करते हैं। सात्त्विक आहार के द्वारा हमारा मन पवित्र होता है। २. **गोभिः**=(गावः इन्द्रियाणि) उत्तम इन्द्रियों से आप हमें **संनेषि**=सङ्गत करते हो। ३. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन्! अथवा इन ऐश्वर्यों से विविध

यज्ञों (मघ=मख) को सिद्ध करनेवाले प्रभो! आप हमें **सूरिभिः**=विद्वानों के साथ **सं**=सङ्गत करते हो। इन विद्वानों के सम्पर्क से ही हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तमोत्तम ज्ञानों को प्राप्त कराके हमें उत्तम मननशील मनवाला बनाती है और इस प्रकार ४. **स्वस्त्या संनेषि**=आप हमें उत्तम-कल्याणमय जीवन से सङ्गत करते हैं। ५. इस उत्तम जीवन के लिए **ब्रह्मणा**=उस ज्ञान से हमें **सम्**=सङ्गत करते हैं **यत्**=जो ज्ञान **देवकृतम्**=महादेव आपसे सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में **अस्ति**=प्रकाशित किया गया है। या जो ज्ञान विद्वान् ऋषि-मुनियों से दिया गया है। ६. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो, जिससे हम सात्त्विक आहार से सात्त्विक रुचिवाले बनें और आप हमें **यज्ञियानाम्**=(यज्ञसम्पादिनाम्) यज्ञों का सम्पादन करनेवाले **देवानाम्**=देवों की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **संनेषि**=सङ्गत कीजिए। ७. हे प्रभो! इस सबके लिए हम **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं अथवा स्वादादि की स्वार्थवृत्तियों को छोड़ते हैं।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के द्वारा प्रभु हमारी रुचि को ही परिवर्तित कर देते हैं और हम विद्वानों—यज्ञिय देवों के सम्पर्क में रहकर अपने जीवनों को उत्तम बना पाते हैं। देवों की कल्याणी मति में रहते हुए हम 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठते हैं। हमारा मन उत्तम होता है, कामादि तीनों से शून्य होने के कारण हम 'अ-त्रि' होते हैं।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'सु-द-त्रः'

सं वर्चसा पर्यसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन।

त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥१६॥

गत मन्त्र का अत्रि कहता है कि **सुदत्रः**=उत्तम ज्ञानों के दान से त्राण करनेवाले **त्वष्टा**=अविद्यादि दोषों को नष्ट करनेवाले प्रभु की कृपा से **वर्चसा**=ब्रह्मवर्चस् से **पयसा**=आप्यायन (वर्धन) से **तनूभिः**=बलयुक्त शरीरों से **शिवेन मनसा**=शिवसंकल्पवाले मन से **समगन्महि**=हम सङ्गत हों। वह प्रभु **रायः विदधातु**=दान देने योग्य धनों को हममें धारण करें और **तन्वः**=शरीर का जो **विलिष्टम्**=न्यूनीभाव है, उसे **अनुमार्ष्टु**=ठीक कर डालें, शोध डालें, न्यूनता को दूर करके हमारी पूर्णता करें। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क में कहीं भी त्रुटि न रह जाए। हम 'अ-त्रि' बनें—हमारे शरीर भी त्रुटिशून्य हों, मन और मस्तिष्क भी।

भावार्थ—वे प्रभु हमें उत्तम ज्ञान का दान करके अल्पीभाव से शून्य करें। हम न्यूनताओं को दूर करके शरीर, मन व मस्तिष्क में पूर्णता का स्थापन करें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—विश्वेदेवा गृहपतयः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

गृहस्थ में कौन प्रवेश करे

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवोऽअग्निः।

त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा॥१७॥

गृहस्थ के प्रकरण को ही आगे ले-चलते हुए कहते हैं कि १. **इदम्**=इस गृहस्थ को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। कौन? (क) **धाता**=(धा=धारणपोषणयोः) जो धारण व पोषण की योग्यता रखता है, अर्थात् जो गृहस्थ की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक

धन तो अवश्य कमाता है। (ख) **रातिः**=जो देनेवाला है (रा दाने)। गृहस्थ ने जहाँ अपने पालन-पोषण के लिए कमाना है वहाँ यज्ञों के लिए भी कमाना है। (ग) **सविता**=जो उत्पादक है, जो निर्माणात्मक कार्यों में लगता है और उत्पादन-शक्ति रखता है, अर्थात् सन्तान-निर्माण की योग्यता रखता है। (घ) **प्रजापतिः**=सन्तान की रक्षा करने में रुचिवाला है। (ङ) **निधिपाः**=अपने खज़ाने व कोश की रक्षा करनेवाला है। शरीर में उत्पन्न सोम ही इसकी वास्तविक निधि है, इस सोम की रक्षा से ही यह अपने ज्ञानकोश की भी रक्षा करता है। (च) **देवः**=यह उत्तम व्यवहारवाला है अथवा काम-क्रोधादि वासनाओं को जीतने की कामनावाला है (दिव्=व्यवहार, विजिगीषा)। (छ) **अग्निः**=प्रगतिशील है अथवा प्रकाश को प्राप्त तथा दोषों का दहन करनेवाला है। (ज) **त्वष्टा**=दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाला (त्वष्टा=देवशिल्पी) अथवा सब बुराइयों को क्षीण करनेवाला (त्वक्ष्=तनूकरणे) है। (झ) **विष्णुः**=व्यापक व उदार मनोवृत्तिवाला है (विष्णु व्याप्तौ)। २. उल्लिखित नौ गुणों से युक्त गृहस्थों से कहते हैं कि (क) **प्रजया संरराणाः**=अपने सन्तान के साथ (संरराणाः=संरममाणाः) आनन्द को अनुभव करते हुए, उन्हीं के साथ क्रीड़ा करते हुए, खेल-खेल में ही उनका शिक्षण करते हुए। (ख) **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **द्रविणम्**=धन को **दधात**=धारण करनेवाले बनो, अर्थात् उत्तम कर्मों में लगे हुए, लोकहित के कार्यों में व्यापृत लोगों के लिए धनों को धारण करनेवाले बनो। इन्हें पात्र जानकर दान देनेवाले होओ। **स्वाहा**=इसके लिए स्वार्थत्याग तो करना ही है।

भावार्थ—१. धातृत्व आदि नव गुणों से युक्त पुरुष ही गृहस्थ में प्रवेश का अधिकारी है। २. उसे प्रजा के निर्माण में आनन्द अनुभव करना चाहिए, तथा ३. पात्रों में दान देनेवाला होना चाहिए।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

गृहस्थ की तीन बातें

सुगा वो देवाः सदनाऽअकर्म यऽआजग्मेदꣳसवनं जुषाणाः।
भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा॥१८॥

१. हे **देवाः**=उत्तम व्यवहारवालो तथा काम-क्रोध-लोभ को जीतने की कामनावाले गृहस्थो! **ये**=जो तुम **इदं सवनम्**=इस सन्तान-निर्माण के साधनभूत गृहस्थ-यज्ञ को **जुषाणाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **आजग्म**=आये हो, उन **वः**=तुम्हारे **सदना**=(सदनानि) घरों को **सुगाः**=सुन्दर गतिवाला, उत्तम क्रियाओंवाला **अकर्म**=करते हैं, अर्थात् जब गृहस्थ लोग सन्तान-निर्माणरूप यज्ञ को ही गृहस्थ में प्रवेश का उद्देश्य समझते हैं, तब घरों में उत्तम कार्य ही चलते हैं। २. ऐसे गृहस्थों से प्रभु कहते हैं कि (क) **भरमाणाः**=घर के सब सदस्यों का भरण करते हुए, उनके पालन-पोषण में कमी न आने देते हुए (ख) **हवींषि वहमाना**=हवियों का वहन करते हुए, अर्थात् घरों में यज्ञों को विलुप्त न होने देते हुए (ग) **अस्मे**=हमारी प्राप्ति के लिए **वसवः**=हे उत्तम निवासवाले गृहस्थो! आप **वसूनि**= उत्तमोत्तम बातों को, उत्तम गुणों व धनों को **धत्त**=धारण करो। **स्वाहा**=इस सबके लिए तुम स्वार्थत्याग करनेवाले बनो।

मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि १. गृहस्थ को गृहस्थाश्रम का उद्देश्य सन्तान-निर्माण ही समझना चाहिए। इस सद्गृहस्थ को चाहिए कि २. गृहस्थ का पालन-पोषण ठीक प्रकार से कर सके (भरमाणाः)। ३. यज्ञ की वृत्तिवाला हो (वहमाना हवींषि)। ४. तथा प्रभु-प्राप्ति

के उद्देश्य से उत्तम गुणों को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—१. हम गृहस्थ को यज्ञ समझें। २. इसमें गृहजनों के पालन-पोषण तथा यज्ञों के लिए धन कमानेवाले बनें और ३. उत्तम रत्नों को, रमणीय गुणों को धारण करें जिससे प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—विश्वेदेवा गृहपतयः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

असु-घर्म-स्वः

याँ२॥ऽआवहऽउशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वेऽअग्ने सधस्थे।

जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वेऽसुं घर्मꣳस्वरातिष्ठतानु स्वाहा॥१९॥

पिछले मन्त्र में घरों में यज्ञों की परिपाटी का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उन यज्ञों के सम्पादन के लिए समय-समय पर सर्वहित की कामना करनेवाले विद्वानों को आमन्त्रित करने का वर्णन है, पर यह आमन्त्रण पत्नी की अनुकूलता के साथ ही होना चाहिए। मन्त्र का 'सधस्थ' शब्द इसी बात पर बल दे रहा है।

१. हे **देव**=उत्तम व्यवहारवाले व वासनाविजिगीषु गृहस्थ! **यान्**=जिन **उशतः**=मङ्गल की कामना करनेवाले **देवान्**=देवों को **आवहः**=(आहूतवान् असि—द०) आपने बुलाया है। हे **अग्ने**=घर की उन्नति करनेवाले! तू **तान्**=उन देवों को **स्वे**=अपने **सधस्थे**=सबके मिलकर ठहरने के स्थानभूत घर में, अर्थात् जिस घर में पति-पत्नी, घर के वृद्ध व सन्तान सभी मिलकर चल रहे हैं, जिसमें विरुद्धमति के कारण लड़ाई-झगड़ा नहीं है, उस घर में **प्रेरय**=प्रेरित कर, आने के लिए आमन्त्रित कर। २. यज्ञ हो चुकने पर **जक्षिवांसः**=जिन्होंने यज्ञशेष खाया है **च**=तथा **पपिवांसः**=शुद्ध जल का पान किया है **विश्वे**=वे तुम सब **असुम् अनु**=प्राणशक्ति को लक्ष्य बनाकर तथा **घर्मं अनु**=(घर्म=यज्ञ—नि० ३।१७) यज्ञ को लक्ष्य बनाकर (घर्म यज्ञ इसलिए है कि इससे मलों का क्षरण होता है और दीप्ति प्राप्त होती है—घृ क्षरणदीप्त्योः) तथा **स्वः अनु**=स्वर्ग को तथा सुख को लक्ष्य बनाकर **आतिष्ठत**=सर्वथा उद्योग करो और **स्वाहा**=इसके लिए जितना भी 'स्व' का त्याग आवश्यक हो उतना 'हा' छोड़नेवाले बनो। ३. घरों में विद्वान् अतिथियों के आने से यज्ञादि का कार्यक्रम चलता रहता है और वैषयिक वृत्ति न होने से प्राणशक्ति सुरक्षित रहती है—यज्ञ होते रहते हैं और घर सुखमय स्वर्ग-सा बन जाता है। ४. इस सबके लिए **स्वाहा**=स्वार्थत्याग आवश्यक है।

भावार्थ—हम घरों में विद्वान् अतिथियों को आमन्त्रित करें। उनपर यह प्रभाव न पड़े कि घर में पति-पत्नी में मेल नहीं है। हम यज्ञशेष के खानेवाले बनें। 'प्राणशक्ति की वृद्धि, यज्ञों की प्रवृत्ति व घर को स्वर्गतुल्य बनाना' हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

होतृ-वरण

वयꣳहि त्वा प्रयति यज्ञेऽअस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह।

ऋधगयाऽऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्स्वाहा॥२०॥

१. गत मन्त्र में विद्वानों को घर में आमन्त्रित करने का उल्लेख था। उसी बात को कहते हैं कि **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **त्वा**=तुझ **होतारम्**=होता को **अस्मिन्**=इस **प्रयति**=(प्रगच्छति-प्रारभ्यमाणे) चल रहे **यज्ञे**=यज्ञ में **इह**=यहाँ अपने घर में **अवृणीमहि**=वरते

हैं। आपके निरीक्षण में हम इस यज्ञ को सफलतापूर्वक करनेवाले बनते हैं। २. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक होतः! आप हमसे वृत होकर **ऋधगयाः**=(ऋधक् अयाः) इस यज्ञ को समृद्ध करते हुए पूर्ण करनेवाले हैं। **उत**=तथा **ऋधक्**=हमें समृद्ध करते हुए ही आपने **अशमिष्ठाः**=सब विघ्नों व उपद्रवों को शान्त किया है। हमारे मनों में होनेवाली अशान्ति को भी आपने दूर किया है। ३. हे होतः! **यज्ञं प्रजानन्**=यज्ञ को अच्छी प्रकार समझते हुए **विद्वान्**=ज्ञानी आप **उपयाहि**=हमें समीपता से प्राप्त होओ। आपके सम्पर्क में आते रहने से हमारी यज्ञियवृत्ति बनी रहेगी और **स्वाहा**=यह सुहुत=उत्तम यज्ञादि कार्य सदा चलते ही रहें।

भावार्थ—हम यज्ञों के लिए ज्ञानी होता का वरण करते हैं। उनकी सङ्गति में हमारे यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होते रहते हैं। हमारी चित्तवृत्ति भी शान्त होती है।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—स्वराडार्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।।

मार्ग-वित्

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।
मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳस्वाहा वाते धाः।।२१।।

१. हे **गातुविदः**=मार्ग को जाननेवाले **देवाः**=विद्वानो! **गातुं वित्वा**=मार्ग को जानकर **गातुम् इत**=मार्ग पर चलो। वस्तुतः देव या विद्वान् वही है जो संसार में अपनी जीवन-यात्रा के मार्ग को ठीक से जानता है। जानता ही नहीं, जानकर उस मार्ग पर चलता भी है। २. हे **मनसस्पते**=मन के पति! अपने मन को वश में करनेवाले ! **देव**=विद्वन्! तू **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **स्वाहा**=उत्तमता से करनेवाला हो। ३. ये यज्ञ तेरे जीवन को पवित्र बनाएँगे। इन यज्ञों को तूने **वाते**=वायु के निमित्त भी **धाः**=धारण करना है। इन यज्ञों के द्वारा वायुमण्डल पवित्र होगा और ऋतुओं की अनुकूलता होगी, अतः इन यज्ञों को तूने अवश्य करना है। इन यज्ञों के लिए ही मन को अपने वश में करने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—यज्ञ ही हमारी जीवन-यात्रा के मार्ग हों। इनसे जहाँ हमारा जीवन पवित्र हो, वहाँ वायुमण्डल की पवित्रता से आधिदैविक आपत्तियाँ भी दूर हों।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—विराडार्च्युष्णिक्[क], विराडार्चीबृहती[र]। स्वरः—ऋषभः[क], मध्यमः[र]।।

यज्ञ

[क]यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा।
[र]एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा।।२२।।

१. गृहस्थ के ही विषय में कहते हैं कि **यज्ञ**=(यो यजति सङ्गच्छते—द०) सबके साथ मिलकर प्रीतिपूर्वक चलनेवाले गृहस्थ! **यज्ञं गच्छ**=तू यज्ञ को प्राप्त हो, अर्थात् इस गृहस्थ में (यज् देवपूजा) विद्वानों के सत्काररूप धर्म को प्राप्त हो। तेरे घर में अतिथियज्ञ नियमपूर्वक चले। २. **यज्ञपतिं गच्छ**=तू सब यज्ञों के रक्षक परमात्मा को प्राप्त हो, प्रभु की उपासना करनेवाला बन। ३. **स्वाहा**=(सत्यया क्रियया—द०) इन यज्ञादि सत्य क्रियाओं को करता हुआ तू **स्वां योनिं गच्छ**=(प्रकृतिं स्वात्मस्वभावम्—द०) अपने स्वभाव को प्राप्त हो। **पुरुष** होने के नाते 'पौरुष' ही तो तेरा स्वभाव है, **मनुष्य** होने के नाते 'मननशीलता' वाला तू हो, **पञ्चजन** होने के कारण पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों का तू विकास करनेवाला हो। ४. प्रभु के प्रति तेरी यही प्रार्थना हो कि हे प्रभो! **एषः ते**

यज्ञः=यह यज्ञ आपका ही है। इसके करनेवाले आप ही हैं, हम सब तो निमित्तमात्र हैं। यह यज्ञ **सहसूक्तवाकः**=ऋग्, यजुः आदि के सूक्तों के उच्चारण से युक्त है। **सर्ववीरः**=यह यज्ञ सब वीरोंवाला है, हमारे सब सन्तान भी इसमें सम्मिलित हुए हैं। तं **जुषस्व**=उसे आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। **स्वाहा**=इस प्रकार हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम विद्वानों के सत्काररूप अतिथियज्ञ व प्रभु की उपासनारूप ब्रह्मयज्ञ को प्रतिदिन करनेवाले बनें। उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—अत्रिः[३], शुनःशेपः[क]। देवता—गृहपतयः। छन्दः—याजुष्युष्णिक्[३], निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], आसुरीगायत्री[र]। स्वरः—ऋषभः[३], धैवतः[क], षड्जः[र]॥

विशाल संसार में सभी के लिए स्थान है

[३]माहिर्भूर्मा पृदाकुः। [क]उरुꣳहि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाऽउ। अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्। [र]नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः॥२३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञियवृत्ति का उल्लेख था। यज्ञियवृत्तिवाला व्यक्ति दूसरे से लड़ता नहीं, न हानि पहुँचाता है। मन्त्र में कहते हैं कि—**मा अहिः भूः**=तू साँप मन बन, अर्थात् कभी कुटिलता का आश्रय मत ले और न ही साँप की तरह औरों को डसनेवाला बन। कभी कड़वे—चुभनेवाले शब्द न बोल। २. **मा पृदाकुः**=तू अजगर मत बन। दूसरे की सम्पत्ति को हड़पनेवाला मत बन, क्योंकि उस **राजा वरुणः**=सारे संसार के शासक वरुण ने **हि**=निश्चय से **उरुम् चकार**=इस संसार को अत्यन्त विशाल बनाया है। दूसरे के भाग को हड़पकर क्या करना? परस्पर लड़ना भी क्यों? ३. उस प्रभु ने तो **सूर्याय उ**=सूर्य के लिए भी, जोकि पृथिवी से लाखों गुणा बड़ा है, **अन्वेतवा**=अनुक्रम से चलने के लिए, **पन्थाम्**=मार्ग को **चकार**=बनाया है फिर इस छोटे से देह में प्रविष्ट मेरे लिए इस संसार में कोई कमी है क्या? नहीं, मुझे अपने हृदय को विशाल बनाना चाहिए और छोटे-छोटे भू-भागों के लिए भाइयों से लड़ना न चाहिए। ४. **अपदे**=जहाँ पाँव का रखना भी कठिन था, जहाँ नाममात्र भी आना-जाना न था, वहाँ भी **पादा प्रतिधातवे** =पाँवों के प्रतिधारण—स्थापन के लिए **अकः**=उस प्रभु ने व्यवस्था कर दी। प्रभु-कृपा से जङ्गल में भी मङ्गल हो गया। जहाँ दिन में भी चलना कठिन था वहाँ रात में भी चलना सुगम हो गया, अतः मनुष्य को चाहिए यही कि परस्पर लड़ने की बजाय तनिक पुरुषार्थ से वीरान भू-भागों को आबाद कर ले। ५. **उत**=और वे प्रभु **हृदयाविधः**=दूसरे के हृदयों को पीड़ित करनेवाली वाणी बोलनेवाले की **चित्**=भी **अपवक्ता**=भर्त्स्ना करनेवाले हैं। उसे प्रभु अपनी गोद में स्थान नहीं देते। ६. हमें चाहिए कि हम प्रातः-सायं **वरुणाय नमः**=इस वरुण के प्रति नतमस्तक हों, **वरुणस्य पाशः**=उस वरुण का पाश **अभिष्ठितः**=दोनों ओर स्थित है। वे प्रभु ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों ही दण्ड देते हैं। औरों का भाग हड़पनेवाले को यहाँ नींद नहीं और परलोक में यह सर्पादि की हीन योनि में ही जाता है।

भावार्थ—हम संसार में सरलवृत्ति से चलें, औरों के भाग को न हड़प जाएँ। संसार अत्यन्त विशाल है, छोटे-छोटे भू-भागों के लिए परस्पर लड़ें नहीं। कभी मर्मपीड़ाकर वचन न बोलें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

निर्मल व दीप्त भाषण (घृतोच्चारण)

अग्नेरनीकमपऽआविवेशापान्नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम्।

दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा॥२४॥

गृहस्थ के लिए ही कहते हैं कि १. तुम अपना जीवन ऐसा बनाओ कि **अग्नेः**=अग्नि का **अनीकम्**=बल **अपः आविवेश**=जलों में प्रविष्ट हो। तुम्हारा जीवन जल की भाँति शान्त हो, परन्तु उस शान्ति में अग्नि की तेजस्विता हो। शान्ति में शक्ति का पुट हो। अग्नि व जल तत्त्व मिल जाएँ। वस्तुतः इनके मेल में ही रस की उत्पत्ति है। जीवन का वास्तविक आनन्द 'शान्ति+शक्ति' में है। २. तू **अपांनपात्**=(आपः रेतः) रेतस् का न गिरने देनेवाला हो। शरीर में शक्ति का संयम करनेवाला हो। **असुर्यम्**=(असवः प्राणाः तान् राति, तेषु साधुः) प्राणशक्ति देनेवालों में सर्वोत्तम इस सोम का तू **प्रतिरक्षन्**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रक्षा करनेवाला हो। यह सुरक्षित हुआ सोम ही तेरे प्रत्येक अङ्ग को शक्तिशाली बनाएगा। ३. इस सोम की रक्षा के लिए सब इन्द्रियों का विजय व दमन आवश्यक है। इस **दमेदमे**=प्रत्येक इन्द्रिय के दमन के निमित्त हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **समिधम्**=(इन्ध् दीप्तौ) उस सर्वतो देदीप्यमान प्रभु को **यक्षि**=अपने साथ सङ्गत कर, प्रभु की उपासना कर। यह उपासना तुझे इन्द्रियदमन में समर्थ करेगी और तू अपने शरीर में इस असुर्य सोमशक्ति की रक्षा कर पाएगा। ४. उस देदीप्यमान प्रभु का उपासक बनकर तू यह ध्यान कर कि **ते जिह्वा**=तेरी जिह्वा **प्रति**=प्रत्येक व्यक्ति के प्रति **घृतम्**=निर्मल व दीप्त शब्दों का **उच्चरण्यत्**=उच्चारण करे। प्रभु-भक्त कठोर शब्द थोड़े ही बोलता है। **स्वाहा**=यह सदा सुन्दर क्रिया से युक्त होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में शान्ति व शक्ति का समन्वय करें। वीर्य की रक्षा करें, यही हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न करेगा। हम इन्द्रिय-विजय के लिए प्रभु का उपासन करें। उपासक बनकर उत्तम शब्द ही बोलें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

समुद्र में हृदय का धारण

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।

यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा॥२५॥

१. **ते**=तेरा हृदय **समुद्रे**=(स-मुद्रे) सदा आनन्द के साथ निवास करनेवाले आनन्दमय प्रभु में है, अर्थात् तू अपने हृदय में सदा प्रभु का स्मरण करता है **अप्सु अन्तः**=तेरा हृदय इन रेतःकणों में है (आपः रेतो भूत्वा), अर्थात् इनकी रक्षा का तुझे सदा ध्यान रहता है। वस्तुतः इन रेतःकणों की रक्षा से ही तो प्रभु का भी दर्शन होना है। २. अथवा **ते हृदयम्**=तेरा हृदय **समुद्रे**=इस समुद्र के समान व्यवहार के गाम्भीर्यवाले गृहस्थ में है तथा **अप्सु अन्तः**=(आपः=प्रजाः) तेरा ध्यान प्रजाओं में है (**यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥**—मनु)। ३. 'तेरा ध्यान प्रभु में लग सके, तू रेतःकणों की रक्षा कर सके तथा तू गृहस्थ का सुन्दर सञ्चालन करते हुए सुन्दर प्रजाओं का निर्माण कर सके' इस सबके लिए **त्वा**=तुझमें **ओषधीः उत आपः**=ओषधियाँ व जल

संविशन्तु=सम्यक्तया प्रविष्ट हों। इन सब कार्यों के लिए मनुष्य का भोजन सात्त्विक हो, मद्य-मांस के प्रयोग से वह दूर हो। ४. सात्त्विक आहारवाले हे **यज्ञपते**=यज्ञों के रक्षक! **त्वा**=तुझे **यज्ञस्य**=यज्ञों के **सूक्तोक्तौ**=सूक्तों के उच्चारण में तथा **नमोवाके**=नमस् के उच्चारण, प्रभु के आराधन में **विधेम**=स्थापित करते हैं **यत्**=यदि **स्वाहा**=तू तनिक स्वार्थ का त्याग करता है। स्वार्थत्यागी ही यज्ञों व प्रभु-ध्यान में प्रवृत्त हो पाता है।

भावार्थ—तू प्रभु में व सोमरक्षा में अपने हृदय को स्थापित कर। वानस्पतिक भोजन व जल का सेवन करनेवाला बन। तेरा जीवन यज्ञमय हो। तू निरन्तर प्रभु-उपासन करनेवाला हो।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—स्वराडार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

पति-पत्नी की पारस्परिक प्रेरणा

देवीराप॒ऽए॒ष वो॒ गर्भ॒स्तꣳसुप्री॑त॒ꣳसुभृ॑तं बिभृत।

देव॑ सोमै॒ष ते॑ लो॒कस्तस्मि॒ञ्छञ्च॒ वक्ष्व॒ परि॑ च वक्ष्व॥२६॥

पति पत्नी से कहता है—१. **देवीः आपः**=(देदीप्यमानाः विदुष्यः, शुभगुणकर्मविद्या-व्यापिन्यः—द०, अप् व्याप्तौ) हे ज्ञान से दीप्त, सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त रहनेवाली पत्नि! **एषः**=यह **वः**=तुम्हारा **गर्भः**=गर्भ है। **तम्**=इस गर्भस्थ बालक का **सुप्रीतम्**=श्रेष्ठ प्रीति के साथ **सुभृतम्**=और जैसे उत्तम रक्षा से धारण किया जाए, वैसे **बिभृत**=धारण व पोषण करो। (क) यदि माता सदा प्रसन्न मनवाली रहती है तो गर्भस्थ बालक का शरीर भी बड़ा सुन्दर बनता है। (ख) माता एक-एक क्रिया का ध्यान करती है तो बच्चे के चरित्र का निर्माण गर्भ में ही हो जाता है। ये ही दो बातें 'सुप्रीतम्' व 'सुभृतम्' इन क्रिया-विशेषणों से कही गई हैं। २. अब पत्नी पति से कहती है कि **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्ञान से देदीप्यमान! **सोम**=शक्ति के पुञ्ज, संयमी जीवन के द्वारा सोम की रक्षा करनेवाले पते! **एषः**=यह गर्भस्थ बालक ही तो **ते लोकः** =तेरा लोक है, तेरे वंश को चलानेवाला है। तेरे भविष्य को प्रकाशमय (लोक=प्रकाश) बनानेवाला है। **तस्मिन्** =उसमें **शम्**=शान्ति को **वक्ष्व**=प्राप्त करा। **च**=और उससे **परिवक्ष्व**=सब पीड़ाओं को दूर करनेवाला हो। (सर्वाः आर्तीः परिवह—उ०)। संक्षेप में तू ऐसी उत्तम व्यवस्था कर कि तू गर्भस्थ बालक को कल्याण प्राप्त करानेवाला और उसके अकल्याण को दूर करनेवाला बन।

भावार्थ—पत्नी गर्भ का प्रेम से व पोषण की वृत्ति से धारण करे। पति इस बालक के लिए उसकी माता के दोहद (गर्भवती की इच्छा) को पूरा करता हुआ कल्याण प्राप्त कराए और अकल्याण को दूर करे।

सूचना—'आपः' शब्द नित्य बहुवचनान्त है, अतः यहाँ बहुवचन को देखकर बहुपत्नीत्व की कल्पना ठीक नहीं।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्[क], स्वराडार्षीबृहती[र]।
स्वरः—गान्धारः[क], मध्यमः[र]॥

देवदेवानां समित् दीपन

[क]अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पु॒णः। [र]अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयासिष॒मव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पु॒रु॒राव्णो॑ देव रि॒षस्पा॑हि दे॒वाना॑ꣳस॒मिद॑सि॥२७॥

१. **अवभृथ**=हे यज्ञान्तस्नान करनेवाले! पति एक दिन गृहस्थ-यज्ञ में प्रविष्ट हुआ

था। सन्तान होने पर यह यज्ञ सफल व पूर्ण होता है, अतः सन्तान होने पर स्नान करनेवाला यह 'अवभृथ' ही है। २. **निचुम्पुण**=(नितरां मन्दगामिन्—द०) सदा धैर्य से, विचारपूर्वक धीमे-धीमे प्रत्येक कार्य को करनेवाले! यह कभी जल्दबाजी नहीं करता। विशेषकर सन्तानोत्पादन के कार्य में यह अत्यन्त मन्द गति से चलता है। ३. **निचेरुः असि**=(यो धर्मेण द्रव्याणि नित्यं चिनोति—द०) यह सदा धर्म से द्रव्यों का चयन करनेवाला है। अथवा ('निभृतं चरति अस्मिन्'—भट्टभास्कर) तू इस गृहस्थ में बड़े विश्वास के साथ चलनेवाला है। वस्तुतः गृहस्थ का मूलमन्त्र परस्पर विश्वास ही होना चाहिए। इसके बिना प्रेम में वृद्धि नहीं हो सकती। ४. **निचुम्पुणः**=तू **निचेरुः**=नितरां चरणशील तो है, परन्तु धैर्यपूर्वक धीमे-धीमे चलनेवाला है—देखकर पग रखनेवाला है। ५. **देवैः**=इन द्योतनात्मक (ज्ञानेन्द्रियों) व व्यवहार-साधक (दिव् दीप्ति, व्यवहार) (कर्मेन्द्रियों) इन्द्रियों से **देवकृतम्**=पृथिवी आदि देवों के विषय में किये गये अथवा विद्वानों के विषय में किये गये **एनः**=पाप को **अव अयासिषम्**=मैं दूर करनेवाला होऊँ। **मर्त्यैः**=मरणधर्मा मनुष्यों से **मर्त्यकृतम्**=मनुष्यों के विषय में किये जानेवाले कटु भाषण, द्रोहादि पापों से भी मैं **अव**=अपने को दूर रखनेवाला होऊँ। ६. हे **देव**=सब दानों के पति प्रभो! **पुरुराव्णः**=इस पालन व पूरण करनेवाली (पुरु) दान की वृत्ति के द्वारा (राव्णः) **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=मेरी रक्षा कीजिए। दान के द्वारा लोभवृत्ति का संहार होकर सब पाप दूर हो जाते हैं। मनुष्य दान के द्वारा वासनाओं का खण्डन करके अपने जीवन का शोधन करता है। ७. हे प्रभो! दानवृत्ति द्वारा ही आप **'देवानां समित् असि'** हममें दिव्य गुणों को दीप्त करनेवाले हैं। सारी उत्तमताएँ प्रभुकृपा से ही प्राप्त हुआ करती हैं। वे प्रभु ही हममें दिव्य गुणों की ज्योति जगाते हैं।

भावार्थ—हम प्रत्येक कार्य में सफल हों, शान्तिपूर्वक चलें, उत्तम गुणों का चयन करें। न देवों के विषय में पाप करें, न मर्त्यों के विषय में। वासनाओं से प्राप्त होनेवाली हिंसा को दान द्वारा विनष्ट करें। दिव्य गुणों को दीप्त करें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—भुरिक्साम्न्युष्णिक्[उ], भुरिगासुर्य्युष्णिक्[र], प्राजापत्यानुष्टुप्[क]।
स्वरः—ऋषभः[उ],[र], गान्धारः[क]॥

दशमास्य एजन

[उ]एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। [क]यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽएजति।
[र]एवायं दशमास्योऽअस्रज्जरायुणा सह॥२८॥

१. अब गर्भस्थ बालक बाहर आता है। उसके लिए कहते हैं कि—यह **दशमास्यः**=दस मासों में होनेवाला **गर्भः**=(गर्भे, स्त्रीगुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्ते अथ गर्भो भवति—नि० १०।२३) माता-पिता के गुणों को ग्रहण करनेवाला यह गर्भ, अर्थात् गर्भस्थ बालक **जरायुणा सह**=आवरण के साथ **एजतु**=कम्पमय हो, कुछ गतिवाला हो। २. **यथा**=जैसे **अयम् वायुः**=यह वायु **एजति**=चलता है **यथा**=जैसे **समुद्रः**=समुद्र **एजति**=कम्पित होता है **एव**=इसी प्रकार **अयम् दशमास्यः**=यह दसवें मास में होनेवाला **जरायुणा सह**=जरायु के साथ **अस्रत्**=अधः स्रवतु—नीचे स्रुत हो, अर्थात् गर्भ से बाहर आये।

भावार्थ—जैसे वायु व समुद्र की स्वाभाविक गति व कम्पन है, इसी प्रकार दशमास्य गर्भ में भी कम्पन हो और वह मातृगर्भ से बाहर आये।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

यज्ञिय-गर्भ

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳस्वाहा।।२९।।

१. **यस्यै**=(षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) जिस उत्तम लक्षणवाली **ते**=तेरा **गर्भः**=गर्भ **यज्ञियः**=यज्ञिय है (यज्ञमर्हति) पवित्र है, उत्तम गुणों से सङ्गतीकरण योग्य है। २. **यस्यै**=जिसका **योनिः**=जन्मस्थान **हिरण्ययी** =रोगरहित व शुद्ध है (हृ=हरणे)। ३. अतएव **यस्य**=जिस गर्भस्थ बालक के **अङ्गानि**=सब अङ्ग **अह्रुता** =अकुटिल व सरल हैं। ४. **तम्**=उस बालक को **मात्रा**=माता के साथ **स्वाहा**=सम्यक् क्रिया से **समजीगमम्** =प्राप्त होऊँ।

मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. जब बच्चा गर्भस्थ है उसी समय से माता ने उसमें उत्तम गुणों को सङ्गत करने का प्रयत्न किया है। २. माता की योनि निर्दोष है। इसकी निर्दोषता पर ही स्वस्थ बालक की उत्पत्ति निर्भर है। ३. प्रयत्न यही हो कि बालक का कोई भी अङ्ग विकल न हो। ४. नियमित उत्पत्ति में माता व बालक दोनों पूर्ण स्वस्थ होने ही चाहिएँ।

भावार्थ—माता गर्भ में बालक के चरित्र का निर्माण कर देती है। वह माता है—गर्भमानकर्त्री है—गर्भ में बच्चे को बनानेवाली है।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः।।

सन्तान—इन्दु का उदय (चन्द्रोदय)

पुरुदस्मो विषुरूपऽइन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः।
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताꣳस्वाहा।।३०।।

गत मन्त्र के अनुसार यदि माता गर्भ में ही बालक का सुन्दरता से निर्माण करती है और उसकी योनि रोगरहित है तो चन्द्रतुल्य मुखवाले सुन्दर सन्तान का जन्म होता है। यह सन्तान १. **पुरुदस्मः**=(पुरुः बहुः दस्म उपक्षयो दुःखानां यस्मात्—द०) माता-पिता के सब कष्टों का निवारण करनेवाला होता है। वस्तुतः इसीलिए इसे पुत्र='पुनाति त्रायते' पवित्र बनाता है और त्राण करता है' इस नाम से कहते हैं। २. **विषुरूपः** =यह अत्यन्त सुन्दर रूपवाला होता है। वस्तुतः यदि गर्भ का धारण प्रसन्नतापूर्वक (सुप्रीतम् मन्त्र २६) किया जाए और उसके सुभरण (सुभृतं मन्त्र २६) का ध्यान किया जाए तो सन्तान सुन्दर रूपवाला क्यों न होगा? ३. **इन्दुः**=यह सन्तान तो चन्द्रतुल्य होता है अथवा (इन्द् to be powerful) बड़ा शक्तिशाली होता है। ४. **अन्तः**=यह गर्भ के अन्दर ही **महिमानम्**=महिमा को **आनञ्ज**=प्राप्त होता है (अञ्ज्=गति)। गर्भावस्था में ही माता ने इसे बड़ा सुन्दर बनाया है। ५. **धीरः**=यह धीर है, ज्ञानी है। ६. ऐसा सन्तान जब बड़ा होता है तब इसके कारण **भुवना**=(भवन्ति भूतानि येषां तानि गृहाणि—द०) प्राणियों के निवास-स्थानभूत घर, **एकपदीम्**='ओम्' इस एक पद का व्याख्यान करनेवाली, **द्विपदीम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त करानेवाली, **त्रिपदीम्**=वाणी, मन व शरीर के सुखों को प्राप्त करानेवाली, **चतुष्पदीम्**='धर्मार्थ-काममोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों की प्रतिपादिका तथा **अष्टापदीम्**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चारों वर्णों व ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वनस्थ व संन्यास इन चारों आश्रमों का वर्णन.

करनेवाली वेदवाणी के **अनु**=अनुसार **प्रथन्ताम्**=विस्तार को प्राप्त हों, अर्थात् ऐसे सन्तानों के कारण घरों की उन्नति-ही-उन्नति हो। ८. **स्वाहा**=इसके लिए—ऐसी सन्तानों के निर्माण के लिए हम स्वार्थत्याग करें। स्वार्थत्याग से ही उत्तम सन्तान प्राप्त होगी।

भावार्थ—घर में सन्तान आये तो ऐसा अनुभव हो कि चन्द्रोदय हो गया है। वेदवाणी के अनुसार जीवन बनाने की हमारी प्रवृत्ति बढ़े।

ऋषिः—गोतमः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

मरुतः

मरु॑तो॒ यस्य॒ हि क्षये॑ पा॒था दि॒वो वि॑महसः। स सु॑गो॒पात॑मो॒ जनः॑॥३१॥

१. 'पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार हमारे सन्तान सुन्दर, श्रेष्ठ बनें' इसके लिए आवश्यक है कि माता-पिता प्राणसाधना करनेवाले हों, क्योंकि इस प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'गो-तम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनते हैं। इन गोतमों की ही सन्तानें उत्तम होती हैं। २. अतः मन्त्र में कहते हैं कि **मरुतः**=हे प्राणो! **यस्य**=जिसके **क्षये**=घर में **हि**=निश्चय से **पाथ**=रक्षा करते हो **सः**=वह **जनः**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला मनुष्य **सुगोपा-तमः**=उत्तमता से इन्द्रियों की रक्षा करनेवालों में श्रेष्ठ बनता है। ३. हे प्राणो! आप **दिवः**=प्रकाशमय हो। आपकी साधना से बुद्धि सूक्ष्म होकर कठिन-से-कठिन विषय का ग्रहण करनेवाली होती है। **विमहसः**=आप विशिष्ट तेजवाले हो। यह प्राणसाधना मनुष्य को तेजस्वी बनाती है। एवं, प्राणसाधना के दो लाभ हैं—(क) मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त बनता है। (ख) शरीर तेजस्वी होता है। इस प्रकार के माता-पिता की सन्तान निश्चय से उत्तम होगी। इसी कारण उत्तम सन्तान के प्रतिपादक गत मन्त्र के बाद यह प्राणसाधनावाला मन्त्र आया है। दूसरे शब्दों में इस साधना के होने पर सन्तान एक प्रकार से इन मरुतों के ही पुत्र होंगे, मारुति बनेंगे।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करेंगे तो हमारे सन्तान मारुति=हनुमान् के समान प्रभु के सेवक बनेंगे। हमारे सन्तानों की इन्द्रियाँ बड़ी शुद्ध होंगी।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

महनीय माता-पिता

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ नऽइ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम्। पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः॥३२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला और **मही**=(मह पूजायाम्) प्रभु उपासक **द्यौः**=प्रकाशमय जीवनवाला पिता (द्यौष्पिता) **पृथिवी च**=और शक्तियों का विस्तार करनेवाली माता (पृथिवी माता) ये दोनों **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=उत्तम गुणों से मेल करने योग्य सन्तान को **मिमिक्षताम्**=ज्ञान व गुणों से सिक्त कर दें। माता-पिता को चाहिए कि (क) अपने जीवनों को प्रकाशमय व शक्ति-विस्तारवाला बनाएँ। (ख) दोनों प्रभु के पुजारी हों। (ग) सन्तान को प्रभु की धरोहर समझें, यह समझें कि इन्हें उत्तम बनाने के लिए प्रभु ने इन्हें सौंपा है। यह सोचकर (घ) ये सन्तान को ज्ञान व दिव्य गुणों से युक्त करने के लिए प्रयत्नशील हों, सन्तान को ये 'यज्ञ' समझें (यज सङ्गतीकरण) इसे उन्हें उत्तम गुणों से सङ्गत करना है। ३. प्रभु कहते हैं कि **नः**=हमारी इस सन्तान को **भरीमभिः**=भरण व पोषण के द्वारा **पिपृताम्**=माता-पिता तुम दोनों पालित व पूरित करो। इसके शरीर को रोगों से सुरक्षित करो और मन की किन्हीं भी न्यूनताओं को दूर करके इसके मन को पूरित

करो। इस बालक के शरीर में रोग न आएँ, मनों में वासनाएँ न आ जाएँ। ३. इस प्रकार नीरोग व निर्मल हृदय बनकर यह इस संसार में (मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला 'मेधातिथि' बने। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—माता-पिता प्रकाशमय जीवनवाले तथा विस्तृत शक्तियोंवाले हों। ये सन्तानों को उत्तम ज्ञान व गुणों से सङ्गत करें। ये इसके शरीर को नीरोग बनाएँ तथा मन को दिव्य गुणों से पूरित करें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। स्वरः—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

रथाधिष्ठान

[क]आतिष्ठ वृत्रहुन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनꣳसु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥ ३३॥

१. माता-पिता 'गत मन्त्र की भावना के अनुसार बन सकें' उसके लिए प्रभु जीव को निर्देश करते हैं कि—हे **वृत्रहन्**=कामवासना को नष्ट करनेवाले जीव! तू **रथम्**=इस शरीररूप रथ पर **आतिष्ठ**=अधिष्ठित हो। तू 'रथी' है, अतः वास्तव में ही 'रथी' बन। कहीं तू सो जाए और तेरा जीवन सारथि की दया पर ही निर्भर रह जाए। नहीं! तू जाग और सारथि को इस रथ को उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचाने के लिए निर्देश दे। २. **ते**=तेरे इस रथ में **ब्रह्मणा**=प्रभु के द्वारा **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े **युक्ता**=जोते गये हैं। अथवा **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक बड़ी समझदारी से वे घोड़े जोते गये हैं। ३. **ग्रावा**=(गृ) वह हृदयस्थरूप से वेदज्ञान को देनेवाला परमात्मा **ते मनः**=तेरे मन को **वग्नुना**=इस वेदवाणी के द्वारा **अर्वाचीनम्**=अन्दर ही गति करनेवाला और विषयों में न भटकनेवाला **सुकृणोतु**=उत्तमता से करे। हमारा मन विषयों में भटकने की बजाय अन्दर ही स्थित हो और हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुननेवाला बने। ४. इस प्रकार **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु की उपासना के द्वारा तू यम-नियमों से गृहीत है। ५. **त्वा**=तुझे मैंने इस संसार में **इन्द्राय**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने के लिए ही भेजा है। **षोडशिने**=इन इन्द्रियों को वश में करके तूने अपने जीवन में सोलह कलाओं को धारण करना है। ६. **एषः**=यह शरीर ही **ते**=तेरा **योनिः**=घर है। इसमें रहते हुए तूने ऊपर उठना है। **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=तुझे सोलह कलाओं से पूर्ण इन्द्र बनने के लिए ही यह शरीर दिया गया है। ७. सोलह कलाएँ प्रश्नोपनिषद् के अनुसार ये हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी, इन्द्रियाँ (१०), मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम।

भावार्थ—'गोतम' वह बनता है जो इस शरीररूपी रथ पर इन्द्र बनकर अधिष्ठित होता है और अन्तःस्थित प्रभु की वाणी को सुनता है। जितेन्द्रिय बनकर जीव सोलह कलाओं को धारण करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। स्वरः—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

अश्वयोजन

[क]युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा नऽइन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥ ३४॥

गत मन्त्र का इन्द्र यहाँ रथ में अश्वों का योजन करता है। प्रभु कहते हैं कि १. **हि**=निश्चय से **युक्ष्व**=तू इन इन्द्रियरूप घोड़ों को रथ में जोत। ये सदा चरते ही रह गये तो यात्रा कैसे पूरी होगी? चाहिए तो यह कि ये जुते-जुते ही बीच में थोड़ा खा-पी लें। २. कैसे घोड़ों का योजन? (क) **केशिना**=(केशाः रश्मयः तेजोराशयः तद्वन्तौ) ये घोड़े तेजोराशि-सम्पन्न हों, ज्ञानेन्द्रियरूप घोड़े खूब प्रकाशमय-ज्ञान के प्रकाशवाले हों तो कर्मेन्द्रियरूप घोड़े (ख) **वृषणा**=खूब शक्तिशाली हों। दोनों ही (ग) **हरी**=उद्दिष्ट स्थान पर ले-चलनेवाले हों तथा (घ) **कक्ष्यप्रा**=(कक्षे भवं कक्ष्यं, मध्यबन्धनं प्रातः पूरयतः) ये घोड़े मध्यबन्धन को भर लेनेवाले हों, अर्थात् खूब पुष्ट अवयवोंवाले हों, निर्बल न हों। इन्द्रियों को निर्बल करके वश में करने में क्या वीरता है, क्योंकि घोड़े ही निर्बल हो गये तो यात्रा पूरी कैसे होगी? ३. **अथ**=अब, अर्थात् पुष्ट घोड़ों को रथ में जोतकर **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **नः**=हमारी **गिराम्**=वाणियों को **उपश्रुतिम्**=समीपता से श्रवण **चर**=कर। इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर मनुष्य प्रभु का उपासक हो और अन्तःस्थ प्रभु की वाणी को सुने। ४. **उपयामगृहीतः असि**=तू प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाला है। **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=तुझे इस संसार में सोलह कलाओं से युक्त इन्द्र बनने के लिए भेजा गया है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। तूने इधर-उधर भटकना नहीं। **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=षोडशी इन्द्र बनने के लिए तुझे यह जीवन दिया गया है। इसे व्यर्थ समाप्त मत कर देना।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को इस शरीररूपी रथ के घोड़े समझें। उन्हें रथ में जोतकर यात्रा को पूरा करें। इसी जीवन में हमने संयमी बनकर षोडशी बनना है। 'इस प्रकार हमारी इच्छाएँ मधुर बनी रहीं' तो हम मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दा' होंगे।

ऋषिः—गोतमः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्[क], विराडार्ष्युष्णिक्[र]। स्वरः—गान्धार[क], ऋषभः[र]॥

स्तुति+यज्ञ

[क]इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्।

[र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥३५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार इन्द्रियरूपी घोड़ों को शरीररूप रथ में जोतकर यात्रा में आगे बढ़नेवाला व्यक्ति 'गोतम'=प्रशस्तेन्द्रिय बनता है। इस **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता और अतएव प्रशस्तेन्द्रिय गोतम को **इत्**=निश्चय से **हरी**=ये ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप घोड़े **वहतः**=उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होते हैं। **अप्रतिधृष्टशवसम्**=जितेन्द्रियता के कारण ही यह न धर्षणीय बलवाला है। २. ये घोड़े ले-जाते हैं। कहाँ? **ऋषीणां च स्तुतीः उप**=तत्त्वद्रष्टाओं के स्तवनों के समीप तथा **मानुषाणाम्**=मानवहित में तत्पर लोगों के **यज्ञम् उप**=यज्ञ के समीप, अर्थात् यह जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानियों के समान स्तुति करनेवाला बनता है। इसके जीवन में भक्ति और यज्ञ का समन्वय चलता है। ३. प्रभु अपने इस भक्त से कहते हैं कि तू **उपयामगृहीतः असि**=मेरे समीप रहकर यम-नियमों को स्वीकार करनेवाला बना है। **इन्द्राय त्वा**=मैंने तुझे इस संसार में इन्द्र बनने के लिए भेजा है। **षोडशिने**=सोलह कला सम्पूर्ण बनने के लिए भेजा है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इस घर में रहकर **इन्द्राय त्वा षोडशिने**=तुझे जितेन्द्रिय व सोलह कलाओं से युक्त बनना है।

भावार्थ—मेरा जीवन 'इन्द्र' का जीवन हो, जितेन्द्रिय बनकर मैं ऋषियों के समान स्तवन करनेवाला बनूँ और मानवहितकारी यज्ञों में प्रवृत्त होऊँ।

ऋषिः—विवस्वान्। देवता—परमेश्वरः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

स्तुति का स्वरूप

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥३६॥

गत मन्त्र में स्तुति करने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में स्तुति का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं। १. **यस्मात्**=जिससे अधिक **जातः**=प्रसिद्ध व **परः**=उत्तम **अन्यः**=दूसरा **न अस्ति**=नहीं है। प्रकृति व जीव भी अनादि सत्ताएँ हैं, परन्तु परमात्मा के समान न तो वे प्रसिद्ध हैं और न ही उत्कृष्ट। २. यह परमात्मा सत्ता वह है **यः**=जो **विश्वा**=सब **भुवनानि**=भुवनों में, लोक-लोकान्तरों में, **आविवेश**=प्रविष्ट हो रही है। कोई भी पिण्ड उस सत्ता की व्याप्ति के बिना नहीं है। वस्तुतः अन्य सब पिण्ड उसी सत्ता से विभूतिमत्, श्रीमत् व ऊर्जित हो रहे हैं। ३. **प्रजापतिः**=वे प्रभु ही सब प्रजाओं के पति हैं, सबके अन्दर व्याप्त होकर उनकी रक्षा कर रहे हैं। **प्रजया संरराणः**=प्रजा के साथ सम्यक् रमण करनेवाले हैं। प्रजा की रक्षा वही कर सकता है जो प्रजा के साथ रमण करे। ४. इस प्रजा के कल्याण के लिए ही वे प्रभु **त्रीणि ज्योतींषि सचते**=तीन ज्योतियों को धारण करते हैं। द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्षलोक का वायु व विद्युत् और पार्थिवलोक की अग्नि प्रभु की दीप्ति से ही दीप्तिवाले हो रहे हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। ४. प्राकृतिक पिण्डों व देवों को तो वे प्रभु देवत्व (ज्योति) प्राप्त करा ही रहे हैं, इसके साथ **सः**=वे प्रभु ही **षोडशी**=सोलह कलाओं के भी स्वामी हैं। प्रभु की उपासना से ही जीव इन सोलह कलाओं को प्राप्त किया करता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वोपरि सत्ता हैं। सब देवों को देवत्व व सब प्राणियों को सोलह कलाएँ वे प्रभु ही प्राप्त कराया करते हैं। इस प्रकार प्रभु-स्तवन करनेवाला 'विवस्वान्'—सूर्य के समान अन्धकार को दूर करके प्रकाशवाला बनता है।

ऋषिः—विवस्वान्। देवता—सम्राड्माण्डलिकौ राजानौ। छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्[क], विराडार्चीत्रिष्टुप्[र]। स्वरः—धैवतः॥

स्तुति के लिए सौम्य भोजन

[क]इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्रऽएतम्।
[र]तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा॥३७॥

१. गत मन्त्र में प्रभु-स्तवन था। 'यह प्रभु-स्तवन सतत चलता ही रहे' इसके लिए सात्त्विक भोजन नितान्त आवश्यक है, अतः उसका उल्लेख करते हैं। **इन्द्रः च सम्राट्**=मैं जितेन्द्रिय और देदीप्यमान बनूँगा तथा **वरुणः च राजा**=द्वेष का निवारण करनेवाला और श्रेष्ठ व्यवस्थित जीवनवाला बनूँगा, **तौ**=ये दो बातें **अग्रे**=सर्वप्रथम **ते**=तेरे **एतम्**=इस **भक्षम्**=भोजन को **चक्रतुः**=करती हैं। **तयोः**=इन दोनों बातों के **अनु**=अनुसार **अहम्**=मैं **भक्षम्**=भोजन को **भक्षयामि**=खाता हूँ। मेरा भोजन सदा इन दो बातों का विचार करके होता है कि मैं (क) जितेन्द्रिय व देदीप्यमान=तेजस्वी बन सकूँ तथा (ख) निर्द्वेष=श्रेष्ठ मनवाला, अत्यन्त व्यवस्थित जीवनवाला हो सकूँ। २. **वाग्देवी**=यह मेरी 'देवी'—प्रभु-स्तवन करनेवाली जिह्वा

सोमस्य जुषाणा=सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करती हुई, अर्थात् सौम्य भोजनों को ही आनन्दपूर्वक खाती हुई **तृप्यतु**=तृप्ति का अनुभव करे। इन्हीं भोजनों में इसे आनन्द आये। इसकी रुचि ही सौम्य भोजनों की बन जाए। ३. **सह प्राणेन**=यह प्राणशक्ति से सम्पन्न हो। वस्तुतः वैश्वानराग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान समायुक्त होकर ही अन्न का पाचन करती है। सौम्य भोजनों को करके मैं अधिक प्राणशक्ति-सम्पन्न बनता हूँ। ४. **स्वाहा**=इस सबके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। स्वाद को छोड़नेवाला बनूँ। स्वाद को छोड़कर ही मैं सात्त्विक सौम्य भोजनों को करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—भोजन का दृष्टिकोण 'जितेन्द्रियता, तेजस्विता, मानसपवित्रता व व्यवस्थित जीवन' हो। हम सौम्य भोजन करके प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। स्वाद को छोड़ें। यह ध्यान रक्खें कि आग्नेय पदार्थ प्रभु ने औषधरूप में बरतने के लिए बनाये हैं। सात्त्विक भोजन करके मैं ज्ञान की दीप्तिवाला 'विवस्वान्' बनूँगा।

ऋषिः—वैखानसः। देवता—राजादयो गृहपतयः। छन्दः—भुरिक्त्रिपाद्गायत्री[उ], स्वराडार्च्यनुष्टुप्[क], भुरिगार्च्यनुष्टुप्[र]। स्वरः—षड्जः[उ], गान्धारः[क,र]॥

वर्चस्वान्

[उ]अग्ने पवस्व स्वपाऽअस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम्।
[क]उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे।
[र]अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'सात्त्विक सौम्य' भोजन करनेवाला यह विवस्वान्=ज्ञान के प्रकाशवाला सब बुराइयों को समूल नष्ट कर डालता है। बुराइयों के वृक्ष को खोदकर उखाड़ डालने से यह 'वैखानस' कहलाता है। यह वैखानस प्रार्थना करता है कि—**अग्ने**=हे अग्रगति के साधक प्रभो! **पवस्व**=आप मेरे जीवन को पवित्र कर दीजिए। **स्वपाः**=(सु अपस्) आप ही सब उत्तम कार्यों को करनेवाले हैं। २. **अस्मे**=हमारे लिए **वर्चः**=वृत्त (चरित्र) और अध्ययन-सम्पत्ति को, सदाचार व शिक्षा को तथा **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को **दधत्**=आप धारण करनेवाले होओ। ३. **रयिम्**=दान देने योग्य धन को तथा **मयि**=मुझमें **पोषम्**=पोषण को प्राप्त कीजिए। आपकी कृपा से मैं धन को भी प्राप्त करूँ और पोषण को भी। यदि 'पोषम्' को 'रयिं' का विशेषण कर दें तो अर्थ इस प्रकार होगा कि मैं पोषण के लिए आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ४. प्रभु इस वैखानस से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तूने उपासना द्वारा यम-नियमों को स्वीकार किया है। **अग्नये त्वा**= तुझे इस संसार में अग्नि बनने के लिए भेजा है। **वर्चसे**=वृत्ताध्ययन-सम्पत्ति के लिए भेजा है। तूने उन्नतिशील, सदाचारी, शिक्षित और ज्ञानी बनना है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **अग्नये त्वा वर्चसे**=अग्रगति के लिए तथा वृत्ताध्ययन-सम्पत्ति के अर्जन के लिए ही तूने जीवन-यापन करना है। ५. प्रभु की इस प्रेरणा को सुनकर 'वैखानस' प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=सारे ब्रह्माण्ड की अग्रगति के साधक! **वर्चस्विन्**=वृत्ताध्ययन- सम्पत्ति-सम्पन्न प्रभो! आप ही आदर्शरूप में अग्नि हो, आप ही वृत्त व विद्या के आदर्श हो। **त्वम्**=आप **देवेषु**=इन देवों में **वर्चस्वान्**=वर्चस्वाले **असि**=हैं। वस्तुतः इन देवों में आपका ही वर्चस् दीप्त हो रहा है। **अहम्**=मैं **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **वर्चस्वान्**=वर्चस्वाला **भूयासम्**=बनूँ। मनुष्यों में मैं आपका प्रतीक बनने का प्रयत्न करूँ, जैसे देवों में आप, वैसे मनुष्यों में मैं।

भावार्थ—हम उस अग्नि के समान 'वर्चस्वान्' बनें।

ऋषिः—वैखानसः। देवता—राजादयो गृहस्थाः। छन्दः—आर्षीगायत्री[उ], [क], आर्च्युष्णिक्[र]। स्वरः—षड्जः[उ], [क], ऋषभः[र]॥

ओजिष्ठ

[उ]उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रेऽअवेपयः। सोममिन्द्र चमू सुतम्।
[क]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे।
[र]इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्॥३९॥

१. गत मन्त्र का 'वर्चस्वान्' प्रस्तुत मन्त्र में 'ओजिष्ठ' बनता है। यह सोमपान करता है और ओजस्वी बनकर शत्रुओं के जबड़ों को हिला देता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **चमू सुतम्**=द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के निमित्त पैदा किये गये **सोमम्**=वीर्यशक्ति को, सोम को **पीत्वी**=पीकर **ओजसा सह**=ओज के साथ **उत्तिष्ठन्**=ऊपर स्थित होता हुआ, अर्थात् सर्वतोन्मुखी उन्नति करता हुआ तू **शिप्रे**=शत्रुओं के जबड़ों को **अवेपयः**=कम्पित कर देता है, अर्थात् इस सोम के मद में तू कामादि सब शत्रुओं को शान्त कर देता है। २. इस वैखानस से प्रभु कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला है। **इन्द्राय त्वा ओजसे**=तुझे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला इन्द्र बनने के लिए मैंने भेजा है, ओजस्वी बनने के लिए। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा ओजसे**=इसमें रहते हुए तूने इन्द्र और ओजस्वी बनना है। ३. इस प्रभु के निर्देश को सुनकर वैखानस आराधना करता है कि हे **इन्द्र**=प्रभो! आप ही सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हो, **त्वम्**=आप **देवेषु**=सब देवों में **ओजिष्ठः**=अधिक-से-अधिक शक्तिशाली हैं, आपके सम्पर्क में रहता हुआ **अहम्**=मैं **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **ओजिष्ठः**=अधिक शक्तिशाली **भूयासम्**=बन पाऊँ।

भावार्थ—हम उस 'इन्द्र' के अनुसार ओजिष्ठ बनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—राजादयो गृहपतयः। छन्दः—आर्षीगायत्री[क, उ], स्वराडार्षीगायत्री[र]। स्वरः—षड्जः॥

भ्राजिष्ठ

[उ]अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ२ऽअनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा।
[क]उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय।
[र]सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्॥४०॥

१. प्रभु के समान ओजिष्ठ बनता हुआ यह चाहता है कि **जनान् अनु**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों को लक्ष्य करके प्राप्त होनेवाले **अस्य**=इस प्रभु के **केतवः**=जो प्रज्ञान हैं तथा **वि रश्मयः**=विशिष्ट रश्मियाँ हैं उनको **अदृश्रम्**=देखूँ। इस प्रकार देखूँ **यथा**=जैसे **भ्राजन्तः**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त पुरुष और **अग्नयः**=उन्नतिशील पुरुष देखा करते हैं। इन केतुओं और रश्मियों को सदा देखनेवाला मैं अपने इस जीवन में 'भ्राजमान' बन सकूँगा। २. प्रभु इससे कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू सुनियमों से स्वीकृत जीवनवाला है **सूर्याय त्वा भ्राजाय**=तुझे मैंने इस संसार में सूर्य बनने के लिए, चमकने के लिए भेजा है। **'पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्'**=यह सूर्य चलता हुआ थकता नहीं, इसी से चमकता है। तूने भी क्रियाशील रहना है और इस सूर्य की भाँति

चमकना है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **सूर्याय त्वा भ्राजाय**=तुझे सूर्य बनने के लिए तथा चमकने के लिए ही भेजा गया है। ३. अब यह प्रस्कण्व=मेधावी पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि **सूर्य**=हे प्रभो! स्वाभाविकी क्रियावाले होते हुए आप सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं। सब लोगों को आप ही कर्मों में प्रेरित कर रहे हैं। **भ्राजिष्ठ**=हे सर्वतो दीप्तिमन् प्रभो ! **त्वम्**=आप ही **देवेषु**=देवों में **भ्राजिष्ठः असि**=सर्वाधिक दीप्तिवाले हैं। **अहम्**=मैं भी **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **भ्राजिष्ठः**=सर्वाधिक दीप्तिवाला **भूयासम्**=होऊँ।

भावार्थ—हम 'सूर्य' की भाँति भ्राजिष्ठ बनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदार्षीगायत्री[क], स्वराडार्षीगायत्री[र]। स्वरः—षड्जः॥

'वर्चस्वान्, ओजिष्ठ व भ्राजिष्ठ' बनने का साधन

[क]उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्।
[र]उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय॥४१॥

१. गत मन्त्रों में 'वर्चस्वान्, ओजिष्ठ व भ्राजिष्ठ' बनने की प्रेरणा दी गई है। प्रस्तुत मन्त्र में वैसा बनने का साधन बताते हैं। **उत् उ**=(उत्=out, बाहर) मनुष्य वर्चस्वान् आदि बन सकता है, परन्तु प्रकृति से ऊपर उठकर ही। २. जब प्रकृति से ऊपर उठकर हम उस प्रभु की ओर झुकते हैं तभी भोगों से क्षीणशक्ति न होने के कारण हम अपने को वर्चस्वी बना पाते हैं, अतः **केतवः**=ज्ञानी लोग **त्यम्**=उस **जातवेदसम्**=प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज अथवा ज्ञान से दीप्त तथा हमारे हृदयों को ज्ञान से द्योतित करनेवाले **सूर्यम्**=सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले प्रभु को **वहन्ति**=अपने हृदयों में धारण करते हैं। ३. इस धारण के द्वारा वे **विश्वाय दृशे**=सब लोकों के देखनेवाले बनते हैं (दृश् to look after)। जैसे माता बच्चे का ध्यान करती है इसी प्रकार प्रभु को हृदय में धारण करनेवाले ये सब लोगों का ध्यान करते हैं। ४. प्रभु कहते हैं **उपयामगृहीतः असि**=तेरा जीवन सुनियमों से स्वीकृत है। **सूर्याय त्वा**=तुझे इस संसार में सूर्य बनने के लिए भेजा है **भ्राजाय**=सूर्य की भाँति चमकने के लिए। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **सूर्याय त्वा भ्राजाय** =सूर्य बनने के लिए तुझे भेजा गया है, चमकने के लिए। यह सूर्य बनना व सूर्य के समान चमकना तभी हो सकता है जब मनुष्य **उत्**=प्रकृति से कुछ ऊपर उठे।

भावार्थ—हम प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठें, प्रभु को हृदय में धारण करें, सर्वहित की भावना से ओत-प्रोत हों, जीवन संयमी हो और हम सूर्य की भाँति चमकनेवाले बनें।

ऋषिः—कुसुरुविन्दुः। देवता—पत्नी। छन्दः—स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

कलश का आघ्राण

आजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः। पुनरूर्जा निवर्त्तस्व सा नः सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिः॥४२॥

१. पिछले मन्त्रों में 'षोडशी' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। प्रभु षोडशी इसलिए हैं कि वे सोलह कलाओं के स्वामी हैं और जीव षोडशी इसलिए है कि उसने इन सोलह कलाओं को धारण करना है। इन सोलह कलाओं का मूलस्थान प्रभु 'कल-श' कहलाते हैं **'कलाः शेरते अस्मिन्'**। पति पत्नी से कहता है कि तू **कलशम्**=इन कलाओं के आधारभूत प्रभु की **आजिघ्र**=चारों ओर गन्ध लेने का प्रयत्न कर। तुझे प्रत्येक पदार्थ में प्रभु

की महिमा का दर्शन हो। क्या दूध में, क्या फलों में, क्या शाकों में और क्या सन्तान के शरीर में—तुझे सर्वत्र प्रभु की महिमा दिखे। २. इस प्रभु की महिमा को स्मरण करती हुई तू **मही**=(मह पूजायाम्) उस प्रभु की उपासिका बन। ३. इस उपासना से **त्वा**=तुझमें **इन्दवः**=शक्ति के कण अथवा ऐश्वर्य **आविशन्तु**=प्राप्त हों। प्रभु के सम्पर्क में आने से प्रभु की शक्ति तो प्राप्त होगी ही। ४. इस प्रकार **पुनः**=फिर **ऊर्जा**=शक्ति से **निवर्तस्व**='नि' निश्चयपूर्वक वर्तस्व=वर्त्तमान हो, अर्थात् प्रभु-उपासना के द्वारा तू फिर से अपने को शक्ति से भर ले। ५. शक्ति से परिपूर्ण हुई-हुई **सा**=वह तू **नः**=हमें **सहस्त्रम्**=आमोद-प्रमोद के साथ (स+हस्), बिना किसी प्रकार के क्रोध के, खेल-खेल में ही **धुक्ष्व**=प्रपूरित कर, घर के सब सभ्यों में अच्छाइयों को भरने का प्रयत्न कर। ६. **उरु धारा**=(उर्वी धारा यस्य, धारा=वाक्) ज्ञान की वाणियों को खूब प्राप्त करनेवाली, स्वाध्याय के द्वारा निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाली **पयस्वती**=सर्वतः प्रशस्त आप्यायनवाली—स्वयं अपने शरीर, मानस व बौद्धिक विकास को करनेवाली बनकर तू सन्तानों के अन्दर भी उत्तमताओं को भरनेवाली बन। ७. **पुनः**=फिर, अर्थात् उपर्युक्त बातों के होने पर **मा**=मुझे **रयिः**=धन **आविशतात्**=समन्ततः प्राप्त हो। उत्तम पत्नी जब घर के कार्य अच्छी प्रकार सँभाल लेती है तब पति निश्चिन्तता से गृहस्थ व्यय के लिए धनार्जन में लगता है।

भावार्थ—हम सर्वत्र प्रभु की महिमा देखें, प्रभु के उपासक बनें और प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न करें। प्रभु से अपना मेल करनेवाला व्यक्ति 'कुसुरु' है (कुस् to embrace) इस मेल से शक्ति-लाभ करनेवाला यह 'विन्दु' (विन्दति=लभते) है। एवं, इसका नाम ही 'कुसुरुविन्दु' पड़ गया है।

ऋषिः—कुसुरुविन्दुः। देवता—पत्नी। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अघ्न्या

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मां सुकृतं ब्रूतात्॥४३॥

१. गत मन्त्र में मुख्य भावना प्रभु के सम्पर्क में आने की है। प्रभु के सम्पर्क में आनेवाला यह व्यक्ति प्रभु की वेदवाणी का अध्ययन करता है और कहता है कि हे **अघ्न्ये**=(अ हन् य) कभी नष्ट न करने योग्य, अर्थात् बिना विच्छेद के निरन्तर पढ़ने योग्य वेदवाणि! तू **देवेभ्यः**=विद्वानों के द्वारा **मा**=मेरे लिए **सुकृतम्**=पुण्य का **ब्रूतात्**=उपदेश कर, अर्थात् विद्वान् आचार्यों से हम इस वेद का उपदेश सुनें और अपने कर्त्तव्यों को जानें। २. हे वेदवाणि! तू **इडे**=उपासनीय है (ईड स्तुतौ=स्तोतुमर्हे—द० ईड्यते—म०) अथवा **इडा**=इ-ला= A law=तू जीवन का एक कानून (काण्ड) है। प्रभु ने मनुष्य को यह शरीर देते हुए यह वेदवाणी रूप जीवन का नियम भी दे दिया कि तूने इसके अनुसार अपना जीवन चलाना है। ३. **रन्ते**=यह वेदवाणी रमणीय है (रमयति इति) इस वेदवाणी में अत्यन्त सुन्दरता से कर्त्तव्यों व ज्ञानों का उपदेश दिया गया है। ४. **हव्ये**=यह हव्या है, उच्चारण के योग्य है। इसका नियम से पाठ करना भी पुण्य के लिए है। आचार्य के शब्दों में पाठ करनेवाले भी श्रेष्ठ हैं, अर्थज्ञ तो श्रेष्ठतर हैं और क्रिया में लानेवाले श्रेष्ठतम। ५. **काम्ये**=यह चाहने योग्य है। अथवा 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण, ब्रह्मवर्चस् व मोक्ष' आदि सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है।

६. इन सब कामनाओं को पूर्ण करने के कारण ही **चन्द्रे**=आह्लादित करनेवाली है। ७. **ज्योते**=दीप्तिमय है, सब ज्ञानों का प्रकाश करनेवाली है। ८. **अदिते**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा ही यह हमें न खण्डित करनेवाली है। हमारे शरीर, मन व बुद्धियों को उत्तम बनानेवाली है। ९. **सरस्वति**=यह ज्ञान के जलवाली है। १०. **महि**=हमारे जीवनों को महनीय बनानेवाली है। ११. **विश्रुति**=यह विविध ज्ञानों के श्रवणवाली है। इसमें सब विद्याओं का श्रवण होता है। १२. इस प्रकार हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्य, सदा पठन के योग्य वेदवाणि! **एता ते नामानि**=ये उल्लिखित तेरे नाम हैं। तू विद्वानों के द्वारा हमें पुण्यों का उपदेश कर।

भावार्थ—वेदवाणी को 'अघ्न्या' जानकर हम उसका नित्य स्वाध्याय करें और अपने कर्त्तव्यों को जानकर पुण्य का आचरण करें। यह आचरण ही हमें 'कुसुरु'=प्रभु से मेलवाला व 'विन्दु'=मोक्षलाभ करनेवाला बनाएगा।

ऋषिः—शासः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्[क], स्वराडार्षीगायत्री[र]। **स्वरः**—गान्धारः[क], षड्जः[र]॥

पापों के साथ संग्राम

[क]वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्यधरं गमया तमः। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृधऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे॥४४॥

गत मन्त्र के अनुसार वेदवाणी के द्वारा अपने कर्त्तव्यों का आचरण करनेवाला संयमी पुरुष 'शास' आत्मशासन करनेवाला है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. **इन्द्र**=हे सब आसुरवृत्तियों के संहार करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **मृधः**=काम-क्रोधादि आन्तर शत्रुओं को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कर दीजिए। २. **पृतन्यतः**=हमारे साथ निरन्तर संग्राम करनेवाले इन वासनात्मक शत्रुओं को **नीचा यच्छ**=नीचा दिखानेवाले होओ। इनको पाँवों तले कुचल दीजिए। ३. **यः अस्मान् अभिदासति**=जो भी हमें दास बनाना चाहता है उसे **अधरं तमः गमय**=घोर अन्धकार में, पाताललोक में प्राप्त कराइए, अर्थात् हम वासनाओं के शिकार न हों, उनसे कुचले न जाएँ, वासनाओं के दास न बन जाएँ। ४. प्रभु इस 'शास' से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाला है। **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=इन्द्र बनने के लिए यहाँ भेजा है, शासन करनेवाला बनने के लिए, न कि दास बनने के लिए, **विमृधे**=शत्रुओं को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिए भेजा है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है, तूने इधर-उधर भटकना नहीं है। **इन्द्राय त्वा विमृधे**=तुझे इन्द्र बनना है, शत्रुओं को कुचलना है।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूँ। इन्द्रियों का शासन करनेवाला 'शास' होऊँ। वासनाओं को काबू करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—शासः। **देवता**—ईश्वरसभेशौ राजानौ। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्[क], विराडार्ष्यनुष्टुप्[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], गान्धारः[र]॥

वाचस्पति विश्वकर्मा

[क]वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥४५॥

गत मन्त्र में 'शास' ने प्रभु की इस प्रेरणा को सुना था कि 'विमृधे'=शत्रुओं के कुचलने के लिए तुझे इस संसार में भेजा है। इन शत्रुओं से युद्ध करता हुआ 'शास' प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. **वाचस्पतिम्**=वेदवाणी के पति, **विश्वकर्माणम्**=इस विश्व-संसाररूप कर्मवाले, अर्थात् संसार का निर्माण करनेवाले **मनोजुवम्**=हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले आपको ही **अद्य**=आज **ऊतये**=इन शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए तथा **वाजे**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **हुवेम**=पुकारते हैं। वस्तुतः हे प्रभो! आपसे ही शक्ति प्राप्त करके मैंने इन शत्रुओं को जीतना है। २. **सः**=वह प्रभु **नः**=हमारी **विश्वानि हवनानि जोषत्**=सब पुकारों को सुने। हम अपने को इस योग्य बनाएँ कि हमारी प्रार्थना प्रभु के द्वारा अवश्य सुनी जाए। ३. वे प्रभु ही **विश्वशम्भूः**=सब प्रकार की शान्तिप्रदाता हैं। प्रभुकृपा से ही शरीरों के रोग, मनों की चिन्ताएँ दूर होती हैं और बुद्धियों की भ्रान्तियाँ भी वे प्रभु ही दूर करते हैं। ४. वे प्रभु **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए होते हैं और **साधुकर्मा**=हमारे माध्यम से सब उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं। ५. प्रभु 'शास' से कहते हैं **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला है। **इन्द्राय त्वा**=तुझे जितेन्द्रिय बनने के लिए यह शरीर दिया गया है **विश्वकर्मणे**=तूने सब कर्म निर्माणात्मक ही करने हैं। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**=तूने जितेन्द्रिय बनना है और इस विश्व में सदा निर्माणात्मक कार्यों का करनेवाला बनना है।

भावार्थ—प्रभु वेदवाणी के पति हैं। वे हमें हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देते हैं। हम उनकी प्रेरणा को सुनें और तदनुसार कर्मों को करते हुए जीवन को शान्त बनाएँ।

ऋषिः—शासः। देवता—विश्वकर्मेन्द्रः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], विराडार्ष्यनुष्टुप्[र]।
स्वरः—धैवतः[क], गान्धारः[र]॥

राजा

[क]विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्। [र]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥४६॥

'लोगों के जीवन वेदानुकूल बनें' इसमें राजा का भी मुख्य हाथ होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र राजा के विषय में है। राजा को प्रस्तुत मन्त्र में 'अवध्य' कहा है। 'A king can do no wrong' यह अंग्रेज़ों का सिद्धान्त इसी भावना को व्यक्त कर रहा है। राष्ट्रपति पर अभियोग नहीं चलाया जा सकता। मन्त्र में कहते हैं कि—१. **विश्वकर्मन्**=हे सब कर्म करनेवाले प्रभो! **वर्धनेन**=प्रजा व राजा दोनों के वर्धन के कारणभूत **हविषा**=राष्ट्र-कर के द्वारा **त्रातारम्**=प्रजा की रक्षा करनेवाले **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजा को **अवध्यम्**=न मारने योग्य **अकृणोः**=आपने बनाया है, अर्थात् (क) राजा को कर इस रूप में लेना चाहिए जिससे प्रजा व राजा दोनों का वर्धन हो। 'कर' अधिक मात्रा में न लिया जाए। अधिक कर लेने से प्रजा व राजा दोनों का ही उच्छेद हो जाता है। (ख) राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए। जितेन्द्रिय राजा ही शत्रुओं का विद्रावण कर पाता है (ग) राजा प्रभु का प्रतिनिधि है, अतः वह अवध्य कहा गया है। विवशता में उसे गद्दी से हटाकर, राजा न रहने पर ही दण्ड दिया जाता है। २. **तस्मै**=उस राजा के लिए **पूर्वीः**=अपना पूरण करनेवाली **विशः**=प्रजाएँ **समनमन्त**=सम्यक् आदर करनेवाली हों। ३. जब सब प्रजाएँ राजा

का सम्मान करती हैं तो **अयम्**=यह **उग्रः**=तेजस्वी होता है और **विहव्यः**=विशिष्ट 'कर' को प्राप्त करनेवाला होता है—प्रजाएँ इच्छापूर्वक उसे कर देती हैं। प्रजाओं को चाहिए कि राजा का इस रूप में आदर करें **यथा**=जिससे यह अन्य राष्ट्रों से भी **विहव्यः**=निमन्त्रित किया जाने योग्य **असत्**=हो। अन्य राष्ट्र भी इसे अपना विवाद समाप्त करने के लिए आमन्त्रित करें। ४. प्रभु इस शासक से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तूनें उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार किया है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**=तुझे जितेन्द्रिय बनकर सब कर्मों को करने के लिए भेजा है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे**=इसमें रहते हुए तुझे जितेन्द्रिय बनना है और निर्माण के सब कार्यों को करना है।

भावार्थ—राजा उचित कर लेनेवाला और प्रजा की रक्षा करनेवाला हो, जिससे यह प्रजा का आदरणीय बने। प्रजा का आदरणीय बनकर यह तेजस्वी हो और सब राष्ट्रों के आमन्त्रण में विहव्य=विशिष्ट आदर से निमन्त्रित किया जाने योग्य हो।

ऋषिः—शासः। देवता—विश्वकर्मेन्द्रः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

राजा के लिए चार बातें

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒ग्नये॑ त्वा गाय॒त्रच्छ॑न्दसं गृह्णामीन्द्रा॑य त्वा त्रि॒ष्टुप्छ॑न्दसं गृह्णा॒मि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यो॒ जग॑च्छन्दसं गृह्णाम्यनु॒ष्टुप्ते॑ऽभिग॒रः॥४७॥

गत मन्त्र की भावना को ही प्रकारान्तरेण दृढ़ करते हुए कहते हैं कि—१. हे राजन्! तुम **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा अपने जीवन में यम-नियम का स्वीकार करनेवाले हो **अग्नये त्वा**=तुझे राष्ट्र में अग्रणी बनने के लिए, राष्ट्र को आगे ले-चलने के लिए **गृह्णामि**=मैं ग्रहण करता हूँ। उस तुझे ग्रहण करता हूँ जो तू **गायत्रच्छन्दसम्**=प्रभु के स्तवन की कामनावाला है (गायति इति गायत्रः, छन्द=इच्छा) अथवा जो तू गायत्री छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। २. **इन्द्राय त्वा**=शत्रुओं के विद्रावण के लिए तुझे **गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ जो तू **त्रिष्टुप् छन्दसम्**=(त्रिष्टुप्=stop) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की कामनावाला है। अथवा त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। ३. **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के प्रसार के लिए, राष्ट्र में अच्छाई को फैलाने के लिए तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। उस तुझे स्वीकार करता हूँ जो तू **जगत् छन्दसम्**=निरन्तर क्रियाशीलता की इच्छावाला है। अथवा जगती छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। ४. **अनुष्टुप्**=(अनुष्टोभते स्तभ्नाति अज्ञानम्) अज्ञान का नाश ही **ते**= तेरा **अभिगरः**=(अभिष्टवः) प्रभु-स्तवन है, अर्थात् प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर करना ही उसकी प्रभु-स्तुति हो जाती है।

भावार्थ—राजा बनने योग्य वह है जो १. राष्ट्र की प्रगति के लिए प्रभु-स्तवन की कामनावाला है। २. शत्रुओं के विद्रावण के लिए काम-क्रोध-लोभ को जीतने की इच्छा करता है। ३. दिव्य गुणों के विस्तार के लिए निरन्तर क्रियाशील होता है। ४. प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर करना ही अपना प्रभु-स्तवन मानता है।

सूचना—१. राजा को अपने निज जीवन में प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला; काम, क्रोध व लोभ को रोकनेवाला तथा क्रियाशील होना चाहिए। २. उसे राज्य को आगे ले-चलने का प्रयत्न करना है, शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करनी है तथा राष्ट्र में दिव्य गुणों को फैलाने का प्रयत्न करना है और राष्ट्र से अज्ञान को दूर करना है।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतयः। छन्दः—आसुरीत्रिष्टुप्[१], याजुषीत्रिष्टुप्[३], याजुषीजगती[२,४,५], साम्नीबृहती[६]। स्वरः—धैवतः[१,३], निषादः[२,४,५], मध्यमः[६]॥

राजा का सदाचारित्व=सच्चरित्रता

[१]व्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि [२]कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [३]भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि [४]मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [५]मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि [६]शुक्रं त्वा शुक्रऽआधूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु॥४८॥

राजा धनाधिक्य के कारण कहीं चरित्रभ्रष्ट न हो जाए, अतः राजपत्नी कहती है कि—१. **व्रेशीनाम्**=(व्रजन्ति शेरते) जो निष्प्रयोजन केवल दिखावे के लिए इधर-उधर घूमती हैं और खाली समय सोती हैं, उन सुरूप स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=सर्वतः कम्पित करती हूँ, अर्थात् उनके समीप जाने से तुझे रोकती हूँ। २. **कुकूननानाम्**=(कु शब्दे कुवन्ति) कोयल की भाँति मधुर स्वर में सङ्गीत के शब्दों को करनेवालियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=सर्वतः कम्पित करती हूँ, अर्थात् उनके फन्दे में पड़ने से बचाती हूँ। ३. **भन्दनानाम्**=(भदि कल्याणे सुखे च) अधिक-से-अधिक आराम के जीवनवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके इनसे दूर करती हूँ। ४. **मदिन्तमानाम्**=मादकता को पैदा करनेवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके सर्वथा दूर करती हूँ। ५. **मधुन्तमानाम्**=अतिशयेन माधुर्य गुण से युक्त, ऊपर से अत्यन्त मीठे व्यवहारवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके दूर करती हूँ। राजा को ही क्या, वस्तुतः सभी पतियों को आपातरम्य स्त्रियों के चंगुल में फँसकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना। ६. इन स्त्रियों में न गिरकर **शुक्रम्**=(शुच) शुद्ध,शुचि व पवित्र जीवनवाले **त्वा** =तुझे (क) **शुक्रे**=(निमित्तसप्तमी) वीर्यरक्षा के निमित्त **आधूनोमि**=मैं तुझे इन सबसे पृथक् करती हूँ। (ख) **अह्नः रूपे**=दिन के रूप के निमित्त तुझे इनसे अलग करती हूँ। जैसे दिन चमकता है उसी प्रकार तेरा जीवन भी स्वस्थ होकर चमकनेवाला होता है। (ग) **सूर्यस्य रश्मिषु**=सूर्य की रश्मियों के निमित्त मैं तुझे इनसे पृथक् करती हूँ। तू व्यसनों से बचकर ज्ञानरश्मियों से प्रकाशमय बन।

भावार्थ—असंयम या व्यभिचार मनुष्य को निर्वीर्य, निस्तेज व मूर्ख बना देता है। संयमी जीवनवाला उत्तम शुक्र (वीर्य) को प्राप्त होता है, उसका चेहरा दिन के प्रकाश के समान चमकता है और वह ज्ञानरश्मियों से सूर्य के समान देदीप्यमान होता है।

ऋषिः—देवाः। देवता—विश्वेदेवाः प्रजापतयः। छन्दः—विराट्प्राजापत्याजगती[क], निचृदार्ष्युष्णिक्[र]। स्वरः—निषादः[क], ऋषभः[र]॥

शुद्धता व शक्ति की श्रेणी में प्रथम

[क]ककुभꣳरूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः। [र]यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा॥४९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राजा संयमी जीवनवाला बनता है तो **वृषभस्य**=शक्तिशाली राजा का **ककुभम् रूपम्**=(ककुभं इति महन्नाम—नि०) उत्कृष्ट महान् रूप **रोचते**=चमकता है। वह राजा प्रजा में सचमुच नररूपधारी महादेव प्रतीत होने लगता है। २. **बृहच्छुक्रः**=यह

वृद्धिशील शुद्ध जीवनवाला राजा **शुक्रस्य**=शुद्धता व शुचिता का **पुरोगा:**=अग्रेसर होता है। ३. यह **सोम:**=वीर्य का पुञ्ज **सोमस्य**=शक्तिशाली पर विनीत लोगों का **पुरोगा:**=मुखिया होता है, अर्थात् वीर्यरक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनता है और विनीत होता है। ४. हे **सोम**=शक्तिशालिन् पर विनीत राजन्! **यत्**=क्योंकि **ते नाम**=तेरी ख्याति, प्रसिद्धि इस रूप में है कि तू **अदाभ्यम्**=न दबाये जाने योग्य अहिंसनीय है तथा **जागृवि**=सदा जागनेवाला है, कभी प्रजारक्षणरूप कार्य में प्रमत्त नहीं होता। **तस्मै**=इसलिए **त्वा गृह्णामि**=हम तेरा ग्रहण करते हैं। ४. हे **सोम**=शक्तिशालिन् विनीत राजन्! **तस्मै ते सोमाय**=उस तुझ सोम के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। शक्तिशाली परन्तु विनीत राजा के लिए प्रजा अपना जीवन देने के लिए उद्यत रहती है। ऐसा ही राजा अन्ततोगत्वा चमकता है। यह 'देव' होता है। ऐसे पति 'देवा:' कहलाते हैं।

भावार्थ—राजा शुद्धता व शक्ति के दृष्टिकोण से सर्वप्रथम बनने का प्रयत्न करता है। ऐसे ही राजा के प्रति प्रजाएँ नतमस्तक होती हैं।

ऋषि:—देवा:। देवता—प्रजापतय:। छन्द:—भुरिगार्षीजगती। स्वर:—निषाद:॥

प्रकाश, शक्ति व दिव्यता

उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि॥५०॥

१. **उशिक्**=(कामयमान:) प्रजा के हित की कामना करता हुआ **त्वम्**=तू **देव**=दिव्य गुणयुक्त तथा ज्ञान के प्रकाशवाला है। हे **सोम**=शक्ति व शान्ति के पुञ्ज! तू **अग्ने:**=अग्नि के **प्रियं पाथ:**=प्रिय मार्ग को **अपीहि**=निश्चय से प्राप्त हो (अपि=निश्चयार्थे)। अग्नि का मार्ग प्रकाश व दोषदहन है। तूने भी प्रकाशमय जीवनवाला तथा दोषों को भस्म करनेवाला बनना है। २. **वशी**=सब इन्द्रियों को वश में करनेवाला **त्वम्**=तू **देव**=दिव्य गुणमय **सोम**=शान्ति व शक्ति के पुञ्ज! **इन्द्रस्य**=इन्द्र के **प्रियं पाथ:**=प्रिय मार्ग को **अपीहि**=निश्चय से प्राप्त हो। इन्द्र का मार्ग असुरों का संहार करना है। तूने भी आसुरवृत्तियों को समाप्त करके सचमुच ही इन्द्र=वशी बनना है। अपने को वश में करके ही तू प्रजाओं को भी वश में कर सकेगा। ३. **अस्मत् सखा**=हम प्रजाओं का मित्र **त्वम्**=तू **देव सोम**=हे प्रकाशमय शान्त व शक्तिसम्पन्न राजन्! **विश्वेषां देवानाम्**=सब देवों के **प्रियं पाथ:**=प्रिय मार्ग को **अपीहि**=निश्चय से प्राप्त हो। राजा प्रजा का हित चाहता हुआ स्वयं दिव्य गुणों को अपनाकर प्रजा में उन दिव्य गुणों का प्रसार करे।

भावार्थ—प्रजा का हितेच्छु राजा अग्नि बने, इन्द्र बने, देव बने। प्रजाओं में प्रकाश, शक्ति व दिव्यता का प्रसार करे।

ऋषि:—देवा:। देवता—प्रजापतयो गृहस्था:। छन्द:—भुरिगार्षीजगती। स्वर:—निषाद:॥

रति-धृति-स्वधृति

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा। उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा॥५१॥

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाले पति-पत्नी से कहते हैं कि—१. **इह रति:**=यहीं, अपने घर पर ही आनन्द है। **इह रमध्वम्**=यहाँ ही आनन्द लेने का प्रयत्न करो। आनन्द-प्राप्ति

के लिए क्लब्स आदि में जाना घर के लिए सबसे विघातक है। पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम तो इनके कारण समाप्त होता ही है, सन्तानों का निर्माण भी नहीं हो पाता। २. **इह**=यहाँ घर पर ही **धृतिः**=धारण व पोषण है, धारण-पोषण के लिए प्रतिदिन के प्रवास की आवश्यकता नहीं ३. **इह**=इस गृहस्थ में ही **स्व-धृतिः**=आत्मा का भी धारण हो जाता है। आत्मा-परमात्मा को ढूँढने के लिए तीर्थों व मन्दिरों में भटकते रहने की आवश्यकता नहीं। एवं, न आनन्द प्राप्ति के लिए, न आजीविका के लिए और न ही आत्मदर्शन के लिए इधर-उधर जाने की आवश्यकता है। घर पर रहते हुए ही हम ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। **स्वाहा**=यहाँ घर में ही हम 'स्व' का 'हा' करनेवाले बनें, कुछ स्वार्थत्याग का पाठ पढ़ें और घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें।

४. **मात्रे**=माता के लिए **धरुणः**=धारण करनेवाले-सब प्रकार से माता-पिता का धारण-पोषण करने में समर्थ पुत्र को **उपसृजन्**=प्राप्त कराता हुआ पुरुष 'पिता' हो। **धरुणः**= धारण करनेवाला पुत्र **मातरं धयन्**=माता का दूध पीनेवाला हो। इस दूध से वह केवल शारीरिक पोषण को ही नहीं प्राप्त होता, अपितु सब उत्तम गुणों को भी अपने अन्दर ग्रहण करता है और धारणात्मक वृत्तिवाला होता है-तोड़-फोड़ करने की ओर इसका झुकाव नहीं होता। ५. यह सन्तान बड़ा होकर **अस्मासु**=हममें **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **दीधरत्**=धारण करे। बड़ा होकर कमानेवाला बने, माता-पिता को भूल न जाए। **स्वाहा**=इस पितृयज्ञ को नियम से करनेवाला यह स्वार्थ का त्याग करे।

भावार्थ-घर में ही आनन्द, ऐश्वर्य व आत्मदर्शन है। इधर-उधर भटकने का क्या लाभ? सन्तान को दूध पिलाने के साथ ही माता उसे धारणात्मक वृत्तिवाला बनाने का प्रयत्न करे।

ऋषिः-देवाः। देवता-प्रजापतिः। छन्दः-निचृदार्षीबृहती। स्वरः-मध्यमः॥

प्रजा द्वारा अमृतत्व

स॒त्रस्य॒ऽ ऋद्धि॑र॒स्यग॑न्म॒ ज्योति॑र॒मृता॑ऽअभूम।

दिवं॑ पृथि॒व्याऽअध्यारु॑हा॒मावि॑दाम दे॒वान्त्स्व॒र्ज्योतिः॑॥५२॥

पिछले मन्त्र के अनुसार घर में 'रति, धृति व स्वधृति' को समझनेवाले पति-पत्नी 'धरुण' पुत्र को प्राप्त करके कहते हैं कि-१. हे धरुण! तू ही **सत्रस्य**=हमारे इस गृहस्थ-यज्ञ की **ऋद्धिः असि**=समृद्धि व सफलता है। तुझे प्राप्त करके हमारा यह यज्ञ पूर्ण होता है। २. **ज्योतिः अगन्म**=हमने आज प्रकाश प्राप्त किया है। हमें अब अपने आगे अन्धकार प्रतीत नहीं होता। **अमृताः अभूम**=अब हम तुम्हारे द्वारा अमर हो गये हैं-**'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**। ३. अब हम गृहस्थ को समाप्त करके **पृथिव्याः**=इन पार्थिव भोगों से **दिवे अध्यारुहाम**=ऊपर उठकर द्युलोक=प्रकाशमय लोक में पहुँचने का प्रयत्न करें। **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'**, हम सदा स्वाध्याय में तत्पर रहकर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले बनें। **देवान् अविदाम**=दिव्य गुणों को प्राप्त करें अथवा विद्वानों के समीप पहुँचें और अपने ज्ञान को बढ़ाकर **स्वर्ज्योतिः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति परमात्मा को प्राप्त करें।

भावार्थ-गृहस्थ की सफलता इसी बात में है कि हम धारणात्मक सन्तान को प्राप्त करें। उसके बाद स्वाध्याय आदि से अपने ज्ञान को बढ़ाने में लगे रहें और विद्वानों के सम्पर्क में आते हुए हम स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—देवाः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्[१], आसुर्य्युष्णिक्[२], प्राजापत्याबृहती[३], विराट्प्राजापत्यापङ्क्तिः[४]। स्वरः—गान्धारः[१], ऋषभः[२], मध्यमः[३], पञ्चमः[४]।।

इन्द्रापर्वता

[१]युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तन्तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्। [२]दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। [३]अस्माकꣳशत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः। [४]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः।।५३।।

पति-पत्नी को आत्मालोचन की वृत्तिवाला बनकर अपनी सब बुराइयों को दूर करनेवाला बनना चाहिए। पति 'इन्द्र' हो, सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय। पत्नी 'पर्वत' हो (पर्व पूरणे) अपनी सब न्यूनताओं को दूर कर अपने में अच्छाइयों को भरनेवाली। इन पति-पत्नी से कहते हैं कि **यः**=जो भी बुराई **नः**=हमपर **पृतन्यात्**=आक्रमण करती है, हमारे साथ संग्राम करने आती है **युवम् इन्द्रापर्वता**=तुम दोनों इन्द्र व पर्वत बनकर **पुरोयुधा**=पहले ही इनसे युद्ध करनेवाले, प्रारम्भ में ही इन्हें समाप्त कर देनेवाले, इन्हें जड़ पकड़ने का अवकाश न देनेवाले **तं तम्**=उस-उस बुराई को **इत्**=निश्चय से **हतम्**=मार दो। **वज्रेण**=वज्र से, गतिशीलता से (वज् गतौ) **तं तं इत् हतम्**=उसे निश्चय से नष्ट कर दो। **दूरे चत्ताय**=(चततिर्गतिकर्मा) दूर गये हुए के लिए भी यह वज्र (गतिशीलता) **छन्त्सत्**=नष्ट करने की कामना करे। यदि कोई बुराई दूर तक पहुँच गई हो, अर्थात् कुछ बढ़ भी गई हो, तब भी यह क्रियाशीलता उस बुराई को समाप्त करनेवाली हो। **यत्**=यदि **गहनम्**=(cave, a hiding place) हृदयरूप गुहा में भी **इनक्षत्**=व्याप्त हो गई है तो भी यह क्रियाशीलतारूप वज्र उस बुराई को समाप्त करने की कामना करे। २. हे **शूर**=कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले वीर! **अस्माकम्**=हमारा **विश्वतः शत्रून्**=सब दृष्टिकोणों से शातन (विनाश) करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को **विश्वतः दर्मा**=सब ओर से विदीर्ण करनेवाला यह तेरा वज्र—तेरी क्रियाशीलता **परिदर्षीष्ट**=चारों ओर से विदीर्ण कर दे। ३. इन शत्रुओं के विनाश से हम **भूः**=स्वस्थ बनें, **भुवः**=ज्ञानी बनें, **स्वः**=जितेन्द्रिय व प्रकाशमय हों। **प्रजाभिः**=सन्तानों से **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले **स्याम**=हों, **वीरैः**=वीरों से **सुवीराः**=उत्तम वीरोंवाले हों तथा **पोषैः**=धनादि के दृष्टिकोण से **सुपोषः**=उत्तम धनों का पोषण करनेवाले हों।

वस्तुतः 'देवाः'=दिव्य गुणोंवाले वे ही होते हैं जो शत्रुओं का नाश करके शरीर के दृष्टिकोण से **भूः**=स्वस्थ बनते हैं, बौद्धिक दृष्टिकोण से **भुवः**=ज्ञानी बनते हैं तथा मानस दृष्टिकोण से जितेन्द्रिय (स्वः) बनते हैं। इनकी सन्तान भी उत्तम होती है, ये वीर होते हैं और न्याय्य धनों का अर्जन करते हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हों। इन शत्रुओं को हम प्रारम्भावस्था में ही नष्ट करने का प्रयत्न करें। हम सुप्रजा, सुवीर व सुपोष हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—परमेष्ठी प्रजापतिः। छन्दः—निचृद्ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।।

परमेष्ठी-पूषा

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धोऽअच्छेतः।
सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम्।।५४।।

गत मन्त्र के ऋषि 'देवाः' थे, वे सब देवों को अपने अनुकूल बनाकर उत्तम

निवासवाले बनते हैं और इसी कारण 'वसिष्ठ' कहलाते हैं। वसुओं में सर्वाधिक वसु। ये अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर पूर्ण प्रभुत्व के कारण 'वशिष्ठ' भी कहलाते हैं—सर्वोत्तम वशी। १. **परमेष्ठी**=ये अपने जीवन को उत्तम बनाते हुए परम स्थान पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। २. ये **अभिधीतः**=(अभि=अन्दर-बाहर दोनों ओर, धीतम्=ध्यान) अन्दर-बाहर दोनों ओर, क्या सृष्टि में और क्या शरीर में, ये उस प्रभु की महिमा का ही ध्यान करते हैं। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना में, हिमाच्छदित पर्वतों, समुद्रों व पृथिवी के वनों व रेगिस्तानों—सभी में प्रभु की महिमा का दर्शन करते हैं। इस प्रकार अन्दर-बाहर प्रभु-महिमा को देखते हुए ये व्यक्ति पापों से ऊपर उठकर 'परमे-ष्ठी' बन जाते हैं। ३. **वाचि व्याहृतायाम्**=वेदवाणी का अध्ययन करने पर **प्रजापतिः**=ये प्रजाओं के रक्षक बनते हैं। घरों में उत्तम सन्तानों का निर्माण करते हैं तो राष्ट्र के अधिकारी बनकर सारी प्रजा को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं। ४. **अच्छ इतः**=उस प्रभु की ओर गया हुआ व्यक्ति **अन्धः**=(अदृक्) संसार की वस्तुओं को फिर नहीं देखता, इन वस्तुओं के प्रति उसकी 'रति' नष्ट हो जाती है, ब्रह्ममार्ग पर चलनेवाले के लिए सांसारिक आनन्द तुच्छ हो जाते हैं। ५. **सन्याम्**=(संभक्तौ) सम्यक् यज्ञ द्वारा बाँटकर खाने से **सविता**=(षु=ऐश्वर्य) मनुष्य ऐश्वर्यशाली बनता है। देने से धन बढ़ता ही है—**'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्** (ऋ०)' देने से धन सप्तगुणित हो जाता है। ६. **दीक्षायाम्**=व्रत ग्रहण करने पर मनुष्य **विश्वकर्मा**=देवशिल्पी—निर्माणात्मक कार्यों को कुशलता से करनेवाला बनता है। व्रती पुरुष की वृत्ति तोड़-फोड़ की न होकर निर्माण की होती है। ७. **सोमक्रयण्याम्**=सोम का क्रयण, अर्थात् 'द्रव्य-विनिमय' अन्य द्रव्य देकर सोम लेने पर **पूषा**=मनुष्य पोषण की देवता बन जाता है, अर्थात् वह सब दृष्टिकोणों से पुष्ट होता है। सब द्रव्यों से वह सोम का विनिमय करने के लिए उद्यत होता है तो यह सोम उसके शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को पुष्ट करता है।

भावार्थ—हम मन्त्रवर्णित ध्यान आदि उपायों द्वारा 'परमेष्ठी' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—इन्द्रादयः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

इन्द्र-नरन्धिष

इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितोऽसुरः पण्यमानो मित्रः क्रीतो
विष्णुः शिपिविष्टऽऊरावासन्नो विष्णुर्नरन्धिषः॥५५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'सोम-क्रयणी' पर थी। **क्रयाय**=इस सोम के क्रय के लिए **इन्द्रः च**=मनुष्य को जितेन्द्रिय बनना है तथा साथ ही **मरुतः च**=प्राणों की साधना करनी है। जितेन्द्रियता व प्राणसाधना ये दो सोमरक्षा के मौलिक उपाय हैं। २. इस प्रकार जितेन्द्रियता व प्राणसाधना से सोम की ऊर्ध्वगति होती है (**उप** up) **उत्थितः**=ऊपर उठा हुआ यह सोम **असुरः**=प्राणशक्ति देनेवाला होता है (असून् राति)। शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्राणशक्ति के सञ्चारवाला हो जाता है। ३. **पण्यमानः**=सब द्रव्यों को देकर खरीदा जाता हुआ यह सोम **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) रोगों से बचानेवाला होता है। ४. **क्रीतः**=खरीदा गया यह सोम **विष्णुः**=सारे शरीर में व्याप्त होनेवाला होता है। ५. **शिपिविष्टः**=(शिपिषु प्राणिषु प्रविष्टः) प्राणियों में प्रविष्ट हुआ यह सोम **ऊरौ**=(आच्छादने—द०) सब ओर से रोगादि के आक्रमण से बचाने की क्रिया में **आसन्नः**=निकटतम उपाय होता है। ६. **विष्णुः**=वस्तुतः शरीर में ही प्रविष्ट हुआ

और सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त हुआ यह सोम **न-रन्धिषः**=अ-हन्ता, न नष्ट करनेवाला होता है अथवा मनुष्यों को धारण करनेवाले (नरन्धि) इस संसार को ज्ञान द्वारा समाप्त करनेवाला (स्यति) होता है, अर्थात् यह सुरक्षित हुआ सोम उस सोम (परमात्मा) को प्राप्त कराके मनुष्य को मुक्त कर देता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा अपने को नाश से बचाएँ और इस संसार के आवागमन से ऊपर उठकर मुक्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवा गृहस्थाः। छन्दः—आर्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रोह्यमाण-उपावह्रियमाण

प्रो॒ह्यमा॑णः॒ सोम॒ऽआग॑तो॒ वरु॑णऽआस॒न्द्यामास॑न्नो॒ऽग्निराग्नी॑ध्र॒ऽइन्द्रो॑ ह॒वि॒र्द्धाने॒ऽथर्वो॑पावह्रि॒यमा॑णः॥५६॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **प्रोह्यमाणः**=(वह् to carry) प्रकर्षेण उह्यमान होता हुआ **सोमः**=सोम **आगतः**=आता है, उद्दिष्ट स्थल पर पहुँच जाता है, यह लक्ष्य-स्थान से दूर नहीं होता। २. यह लक्ष्य-स्थान परमात्म-प्राप्ति ही तो है। यहाँ पहुँचा हुआ यह व्यक्ति मानो **आसन्द्याम्**=आरामकुर्सी पर **आसन्नः**=बैठा हुआ, परमात्मरूपी माता की गोद में बैठा हुआ **वरुणः** =आच्छादित (वृ आच्छादने) होता है, जैसे एक बच्चा माता की गोद में बैठा हुआ अत्यन्त सुरक्षित होता है, इसी प्रकार यह वसिष्ठ भी प्रभु की गोद में बैठा हुआ किसी भी प्रकार की वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त नहीं होता। ३. परन्तु क्या यह अकर्मण्य होता है? नहीं। **आग्नीध्रे**=(अग्निमिन्धे इति अग्नीत् तस्य भावः आग्नीध्रम्) अग्निसमिन्धनादि कार्यों में, अग्निहोत्रादि में यह **अग्निः**=प्रगतिशील होता है। यज्ञादि कार्यों में उत्साहवाला होता हुआ अपने जीवन को उन्नत करनेवाला होता है। ४. **हविर्धाने**=(हु=दान) दान के धारण में, अर्थात् दानादि करने पर **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला होता है। दानादि से अपने ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला होता है। ५. **उप अवाह्रियमाणः**=विषयों से इन्द्रियों को (अव=away) दूर करता हुआ और (उप) प्रभु की उपासना करता हुआ यह **अथर्वा**=डाँवाडोल नहीं होता, स्थितप्रज्ञ बनता है।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त होकर स्थितप्रज्ञ बनना हमारे जीवन का ध्येय हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अंशुषु न्युप्तः सक्तुश्रीः

विश्वे॑ दे॒वाऽअ॒ꣳशुषु॒ न्यु॑प्तो॒ विष्णु॑राप्रीत॒पाऽआ॑प्या॒यमा॑नो य॒मः सू॒यमा॑नो॒ विष्णुः॑ सम्भ्रि॒यमा॑णो वा॒युः पू॒यमा॑नः शु॒क्रः पू॒तः। शु॒क्रः क्षी॑र॒श्रीर्म॒न्थी स॑क्तु॒श्रीः॥५७॥

१. गत मन्त्र का स्थितप्रज्ञ **अंशुषु**=ज्ञान की किरणों में **न्युप्तः**=बोया हुआ, अर्थात् (नित्यं स्थापितः) नित्य स्थापित किया हुआ **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बनता है। ज्ञानग्नि में सब बुराइयाँ दग्ध हो जाती हैं, अतः उसका जीवन उत्तमोत्तम बन जाता है। २. **विष्णुः**=उदार—व्यापक मनोवृत्तिवाला (विष्लृ व्याप्तौ) यह **आप्रीतपा**=सब ओर प्रेम से (प्रीतं यथा स्यात्तथा) सबकी रक्षा करनेवाला **आप्यायमानः**=समन्तात् वृद्ध होता है, सब दृष्टिकोणों से बढ़ा हुआ होता है। ३. **यमः**=नियमित जीवनवाला यह **सूयमानः**=(षु=ऐश्वर्य)

ऐश्वर्य में स्थापित किया जा रहा होता है। ४. **विष्णुः**=व्यापक मनोवृत्तिवाला यह **संभ्रियमाणः**=सम्यक् धारित-पोषित किया जा रहा होता है, औरों के धारण से वस्तुतः इसका अपना ही धारण होता है। यह औरों का धारण करता है, सब इसका धारण करते हैं। ५. **वायुः**=निरन्तर गतिवाला यह **पूयमानः**=पवित्र किया जा रहा होता है, कर्म मनुष्य के जीवन को शुद्ध करनेवाले हैं। ६. **शुक्रः**=(शुक् गतौ) शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला (आशुकर्ता-द०) यह **पूतः**=पूर्ण पवित्र हो जाता है, पूर्ण पवित्र ही क्या? ७. **शुक्रः** =(शुक् दीप्तौ) पवित्र व दीप्त हुआ-हुआ यह **क्षीरश्रीः**=(क्षीरस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य) दूध के समान उज्ज्वल कान्तिवाला होता है, इसका जीवन शुद्ध दूध के समान उज्ज्वल बन जाता है। ८. **मन्थी**=ज्ञान का खूब आलोडन व अवगाहन करनेवाला यह **सक्तुश्रीः**=(सक्तुः=सर्वत्र समवेतः प्रभुः) उस सर्वव्यापक प्रभु की कान्ति के समान कान्तिवाला होता है। उपनिषद् के शब्दों में 'ब्रह्म इव'=प्रभु-जैसा बन जाता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सदा ज्ञान व सत्त्वगुण में स्थापित हुए-हुए उस प्रभु की कान्ति के समान कान्तिवाले बनें।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

विश्वेदेवाः पितरः

विश्वे॑ दे॒वाश्च॑म॒सेषून्नी॑तोऽसु॒र्होमा॑यो॒द्यतो रु॒द्रो हू॒यमा॑नो॒ वातो॑ऽभ्यावृ॑तो नृ॒चक्षाः॒ प्रति॑ख्यातो भ॒क्षो भ॒क्ष्यमा॑णः पि॒तरो॑ नाराशं॒साः॥५८॥

१. **चमसेषु**='सत्य, यश व श्री' (truth, glory and prosperity) के आचमनों के होने पर **उन्नीतः**=यह ऊपर ले-जाया गया होता है, उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। वस्तुतः यह **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणोंवाला हो जाता है। इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार भी होता है कि **चमसेषु**=अन्नमयादि कोशों में (तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः) **उन्नीतः**=ऊर्ध्वगति को प्राप्त कराया गया सोम **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों का कारण बनता है। २. **होमाय उद्यतः**=सदा अग्निहोत्रादि यज्ञों में लगा हुआ यह **असुः**=(असु क्षेपणे) सब रोगों को अपने से परे फेंकनेवाला बनता है। ३. **हूयमानः**=लोगों से पुकारा जाता हुआ यह **रुद्रः**=(रुत्+र) उपदेश देनेवाला, ज्ञान देनेवाला होता है। ४. **वातः**=निरन्तर कार्यों में लगा हुआ यह **अभ्यावृतः**=सब ओर से विषयों से व्यावृत्त होता है। ५. **प्रतिख्यातः**=लोगों में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ यह **नृचक्षाः**=(looks after men) लोगों का रक्षण करनेवाला होता है, अर्थात् लोगों में इसकी ऐसी प्रसिद्धि हो जाती है कि यह सबका ध्यान करता है। ६. **भक्ष्यमाणः भक्षः**=खानेवाले लोगों के खा लेने पर ही यह खानेवाला होता है, अर्थात् यह कभी अकेला नहीं खाता। इसकी आय में 'आध्र (आधार देने योग्य ग़रीब लोग), मन्यमानः, तुरः (आदरणीय अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला पुरुष) और राजा—इन सभी को भाग मिलता है। यह ग़रीबों की मदद करता है, मान्य विद्वानों की सेवा करता है, राजा को कर देता है और बचे हुए को खाता है। ७. **नाराशंसाः**=मनुष्यों के प्रति ज्ञान का शंसन करनेवाला यह सचमुच **पितरः**=लोगों का रक्षक होता है। सच्चे पिता ऐसे ही व्यक्ति होते हैं।

भावार्थ—लोकहित में प्रवृत्त हुए-हुए ज्ञान के देनेवाले लोग ही सच्चे पिता होते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीजगती[क], विराडार्षीगायत्री[र]। स्वरः—निषादः[क], षड्जः[र]।।

स्व-स्वामित्व

[क]सुन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजांसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। [र]या पत्येते अप्रतीता सहोभिर्विष्णूऽअगन्वरुणा पूर्वहूतौ॥५९॥

१. **सिन्धुः**=(स्यन्दते) अपने कार्यमार्ग पर नदी-जल की भाँति निरन्तर चलनेवाला यह **सन्नः**=एक दिन प्रभु की गोद में बैठा हुआ होता है, निरन्तर आगे बढ़ता हुआ प्रभु को प्राप्त कर लेता है। २. प्रभु को प्राप्त करने पर **समुद्रः**=(स-मुद्र) अत्यन्त आनन्द से युक्त यह **अवभृथाय उद्यतः**=यज्ञान्त स्नान के लिए उद्यत होता है। आज इसके जीवन का उद्देश्य पूर्ण होता है, उसी पूर्ति के उपलक्ष्य में यह यज्ञान्त स्नान होता है। ३. आज इसके जीवन में **सलिलः प्रप्लुतः**=प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अथाह जल ही उमड़ पड़ा है और यह **अभ्यवह्रियमाणः**=इन सांसारिक भोगों व स्वर्गादि के सुखों से पराङ्मुख हो गया है। प्रभु-प्राप्ति के आनन्द के सामने ये सब आनन्द अत्यन्त तुच्छ हैं। ४. इस प्रकार जिन पति-पत्नियों के जीवन में वे ३४ जीवन-सूत्र मिलते हैं, वे ऐसे होते हैं कि **ययोः**=जिनके **ओजसा**=ओज से, शक्ति से, **रजांसि**=ये लोक **स्कभिता**=थामे गये हैं। वस्तुतः संसार ऐसे सुन्दर जीवनवाले पुरुषों के सहारे ही स्थित है। ये पति-पत्नी **वीर्येभिः**=शक्तियों से **वीरतमा**=अतिशयेन शक्तिशाली होते हैं। **शविष्ठा**=अत्यन्त बलवान् व क्रियाशील होते हैं (शवस्=बल, शव् गतौ)। ५. **या पत्येते**=ये वे पति-पत्नी हैं जो अपना स्वामित्व करते हैं, जितेन्द्रिय होते हैं। **सहोभिः**=अपने बलों से ये **अप्रतीता**=(अ प्रति इत) अद्वितीय matchless होते हैं। **विष्णू**=व्यापक मनोवृत्तिवाले होते हैं **वरुणा**=श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि **पूर्वहूतौ**=(हूति=आकारण=आह्वान) प्रभु की प्रार्थना में ये सर्वप्रथम **अगन्**=प्राप्त होते हैं। इनके जीवन में प्रतिदिन का पहला कार्य प्रभु का आराधन होता है।

भावार्थ—हमारा दैनिक जीवन प्रभु-प्रार्थना से ही प्रारम्भ हो।

सूचना—५३ मन्त्र के 'युवं तमिन्द्रापर्वता' से पति-पत्नी का वर्णन ५९ मन्त्र के 'ययोरोजसा' तक चल रहा है। बीच के मन्त्र जीवन में लाने योग्य ३४ तन्तुओं का उल्लेख करते हैं। परमात्मा-जैसा तो बनना ही है। शेष ३३ देवों को भी हमें जीवन में धारण करना है। ये ३३ दिव्य गुण ही ५४ से ५९ मन्त्र के प्रारम्भ तक वर्णित हुए हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।।

प्रातः प्रार्थना

देवान् दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्याँनन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्॥६०॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति 'अगन्.......पूर्वहूतौ' इन शब्दों पर हुई थी कि ये पति-पत्नी प्रातः प्रभु-प्रार्थना में उपस्थित होते हैं। उस प्रार्थना का स्वरूप प्रस्तुत मन्त्र में निर्दिष्ट हुआ है कि—१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवान्**=देवों को—दिव्यवृत्ति पुरुषों को **दिवम्**=द्युलोक को, प्रकाश को, **अगन्**=प्राप्त कराता है **मा**=मुझे **ततः**=उससे **द्रविणम्**=द्रविण—ज्ञानरूप धन **अष्टु**=प्राप्त

हो। यज्ञ से देवों का जीवन अधिक प्रकाशमय होता है, मुझे भी ज्ञानरूप धन प्राप्त हो और मेरा जीवन भी प्रकाशमय हों। २. **यज्ञः**=यज्ञ **मनुष्यान्**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति—नि०) विचारपूर्वक कार्य करनेवालों को **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक को **अगन्**=प्राप्त कराता है। **ततः**=उस यज्ञ से **मा**=मुझे **द्रविणम्**=मध्यमार्ग में चलनारूप धन **अष्टु**=प्राप्त हो। मैं सदा मध्यमार्ग (अन्तरा+क्षि बीच में रहना) में चलनेवाला बनूँ। ३. **यज्ञः**=यज्ञ **पितॄन्**=रक्षकों (guardians) को **पृथिवीम्**=पृथिवी को (प्रथ विस्तारे) शक्तियों के विस्तार को **अगन्**=प्राप्त कराता है **ततः**=उस यज्ञ से **मा**=मुझे भी **द्रविणम्**=शक्तियों का विस्ताररूप धन **अष्टु**=प्राप्त हो। ४. **यज्ञः**=यज्ञ **यं कं च लोकम्**=जिस किसी भी लोक को **अगन्**=प्राप्त कराता है **ततः**=उससे **मे**=मेरा **भद्रम्**=कल्याण और सुख **अभूत्**=हो। ५. इस यज्ञ से ही देवों का जीवन प्रकाशमय होता है। मनुष्य सदा मध्यमार्ग से चलने की वृत्तिवाले होते हैं और पितर=(रक्षण की वृत्तिवाले लोग) शक्तियों के विस्तार को प्राप्त करते हैं। ये तीनों ही बातें हमारे ऐहिक व आमुष्मिक जीवन को क्रमशः सुखी व कल्याणमय बनाती हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों को अपनाएँ जिससे हम प्रकाश को प्राप्त हों। हमारा जीवन मध्यमार्ग से चलनेवाला हो तथा हम अपनी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

चौंतीस सूत्र

चतु॒स्त्रि॑ꣳशत्तन्त॑वो॒ ये वि॑तत्नि॒रे य॑ऽइ॒मं य॒ज्ञꣳ स्व॒धया॒ दद॑न्ते।
तेषां॑ छि॒न्नꣳ सम्वे॒तद्द॑धामि॒ स्वाहा॑ घ॒र्मोऽअप्ये॑तु दे॒वान्॥६१॥

१. मन्त्र ५३ से ५९ के पूर्वार्ध तक जीवन के ३४ सूत्रों का वर्णन हुआ है। ये ३४ सूत्र ही जीवन का उत्तमता से धारण करते हैं। **ये**=जो **चतुस्त्रिंशत्**=३४ **तन्तवः**=सूत्र **वितत्निरे**=विशेषरूप से फैले हुए हैं **ये**=जो सूत्र **इमं यज्ञम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को और तदन्तर्गत हमारे जीवन-यज्ञ को **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **ददन्ते**=धारण करते हैं (दद दानधारणयोः), **तेषाम्**=उन सूत्रों का **छिन्नम्**=जो भी कुछ अंश टूटता है उ=निश्चय से **एतत्**=इसको **संदधामि**=ठीक-ठीक कर देता हूँ, अर्थात् मैं यथासम्भव जीवन के नियमों का पालन करता हूँ, उनमें होनेवाली त्रुटियों को दूर करता हूँ। २. इन त्रुटियों के दूरीकरण के लिए **स्वाहा**=मैं अपने (स्व+हा) स्वार्थ का त्याग करता हूँ। स्वार्थ ही त्रुटियों का कारण हुआ करता है। स्वार्थ के दूर करने से त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। ३. त्रुटियों के दूर होने पर मनुष्य का जीवन दिव्य बनता है। इन **देवान्**=देवों को—दिव्य गुणयुक्त जीवनवालों को **घर्मः**=(Heat, Warmth, Sunshine) शक्ति की उष्णता व ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। ४. संक्षेप में संसार के धारण करनेवाले ३४ सूत्र हैं। ये ही वैयक्तिक जीवन के नियम हैं। इनके पालन में त्रुटि न आने देना ही हमारा कर्त्तव्य है। जब इनका पालन ठीक प्रकार से होता है तब जीवन में शक्ति की उष्णता व ज्ञान का प्रकाश दोनों उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को नियमबद्ध करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ का दोह

य॒ज्ञस्य॒ दोहो॒ वित॑तः पुरु॒त्रा सोऽअ॑ष्ट॒धा दिव॑म॒न्वात॑तान।
स य॑ज्ञ धुक्ष्व॒ महि॑ मे प्र॒जाया॑ꣳ रा॒यस्पोषं॒ विश्व॒मायु॑रशीय॒ स्वाहा॑॥६२॥

१. **यज्ञस्य**=यज्ञ का **दोहः**=प्रपूरण **पुरुत्रा**=बहुत प्रकार से व बहुत स्थानों में **विततः**=फैला हुआ है। मन्त्र संख्या ६० में कहा था कि वह द्युलोक में प्रकाश के रूप से, अन्तरिक्षलोक में विचारपूर्वक कर्म करने की वृत्ति के रूप से तथा पृथिवीलोक में शक्तियों के विस्तार के रूप से परिणत होता है। यज्ञ मस्तिष्क को ज्ञान से भरता है, हृदय को मध्यमार्ग में चलने की प्रवृत्ति से युक्त करता है और शरीर में सब अङ्गों की शक्ति का विस्तार करता है। २. **सः**=वह यज्ञ **अष्टधा**=आठ प्रकार से **दिवम् अनु आततान**=इस आकाश में विस्तृत हुआ है, अर्थात् यज्ञशील के जीवन में **'दया सर्वभूतेषु, क्षांतिः, अनसूया, शौचं, अनायासः, मङ्गलम्, अकार्पण्यम्, अस्पृहा'** इन आठ गुणों का विस्तार होता है। यज्ञशील (क) सब प्राणियों पर दया करता है, (ख) सहनशील होता है, (ग) दूसरों के गुणों में दोषदर्शन नहीं करता, (घ) पवित्रता को अपनाता है, (ङ) सब कार्यों को सहज स्वभाव से शान्तिपूर्वक करता है, (च) मङ्गल कार्यों में प्रवृत्त होता है, (छ) उदारता को अपनाता है, (ज) किसी भी वस्तु के लिए अत्यन्त आसक्तिवाला नहीं होता। ३. **यज्ञ**= हे यज्ञ! **सः** वह तू **मे**=मुझमें **महि** =महिमा को अथवा (मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति को **धुक्ष्व**=पूरित कर। यज्ञ करता हुआ जहाँ मैं महिमा को प्राप्त होऊँ वहाँ मेरी वृत्ति प्रभु-पूजा की बने। ४. **प्रजायां रायस्पोषम्**=प्रजा के होने पर मैं धन के पोषण को प्राप्त करूँ। यज्ञ की महिमा से मेरी सन्तान उत्तम हो और मैं उनके पोषण के लिए उचित धन प्राप्त करनेवाला होऊँ। ५. **विश्वम्**=पूर्ण **आयुः**=जीवन को **अशीय**=प्राप्त करूँ। ६. **स्वाहा**= इस सबके लिए मेरा जीवन स्वार्थ के त्यागवाला हो, यज्ञ की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—यज्ञ से मेरा जीवन दया आदि आठ गुणों से युक्त हो, मुझमें पूजा की वृत्ति बढ़े, सन्तान व उनके पोषण के लिए मैं धन प्राप्त करूँ, पूर्ण आयुवाला होऊँ। वस्तुतः वसिष्ठ का जीवन ऐसा होना ही चाहिए।

ऋषिः—कश्यपः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराडार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पवित्रता व शक्ति

आप॑वस्व॒ हिर॑ण्यव॒दश्व॑वत्सोम वी॒रव॑त्। वाजं॒ गोम॑न्त॒माभ॑र॒ स्वाहा॑॥६३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कश्यप=ज्ञानी (पश्यक) है। यह प्रभु का सोम नाम से स्मरण करता है। यह सोम शरीर में वीर्य का भी प्रतिपादक है। यज्ञियवृत्ति से शरीर में इस सोम की रक्षा होती है। इस सुरक्षित सोम से हम अन्ततः उस सोम-'प्रभु' को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। इस सोम से यह कश्यप-पश्यक-प्रभुद्रष्टा प्रार्थना करता है कि—१. **सोम**=हे शान्त, ज्ञानमय प्रभो! **आ पवस्व**=आप हमारे जीवन को सर्वथा पवित्र कर दो। २. और **वाजम्**=उस शक्ति को **आभर**=हममें सर्वथा भर दो जो (क) **हिरण्यवत्**='हिरण्यं वै ज्योतिः'=ज्ञान से युक्त है। हमारी शक्ति के साथ ज्योति का समन्वय हो। (ख) **अश्ववत्**=(अश्नुते कर्मसु) जो शक्ति कर्मों में व्याप्त होनेवाली है। हम क्रियाशील हों। (ग) **वीरवत्**=हमारी वह शक्ति वीरतावाली हो (वि+ईर) कामादि शत्रुओं को विशेषरूप से दूर भगानेवाली हो। (घ) **गोमन्तम्**=(गावः इन्द्रियाणि) हमारी वह शक्ति उत्तम इन्द्रियोंवाली हो। ३. **स्वाहा**=इस शक्ति की प्राप्ति के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन पवित्र हो। हमें वह शक्ति प्राप्त हो जो ज्योति, क्रिया, वीरता व प्रशस्तेन्द्रियता से युक्त है।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

नवमोऽध्यायः

ऋषिः—इन्द्राबृहस्पती। देवता—सविता। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इन्द्र+बृहस्पति

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।

दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा॥१॥

गत अध्याय के अन्तिम मन्त्र में प्रभु से जीवन को पवित्र बनाने के लिए प्रार्थना की गई थी। उसी प्रार्थना को प्रकारान्तर से प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं कि—१. हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज अथवा प्रकाशमय प्रभो! **यज्ञं प्रसुव**=हममें यज्ञ की भावना को प्रेरित कीजिए। हमारा जीवन यज्ञशील हो। २. **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक को **भगाय**=ऐश्वर्य के लिए **प्रसुव**=प्रेरित कीजिए। अपने जीवन को यज्ञमय बनाता हुआ पुरुष ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला हो। ३. **दिव्यः**=सदा प्रकाश में स्थित होनेवाला वह (दिवि भवः) **गन्धर्वः**=(गां धरति) वेदवाणी को धारण करनेवाला **केतपूः**=(केतं ज्ञानं पुनाति)=हमारे ज्ञानों को पवित्र करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। ज्ञान की पवित्रता ही सब पवित्रताओं का मूल है। ज्ञान पवित्र होने पर वाणी पवित्र होती है और वाणी के पवित्र होने पर क्रियाएँ पवित्र होती हैं। 'विचार, उच्चार व आचार' यह क्रम है। विचार की पवित्रता शब्दों में आती है, वही क्रिया में। ४. **वाचस्पतिः**=वाणी का पति प्रभु **नः**=हमारे **वाजम्**=अन्न को **स्वदतु**=माधुर्यवाला करे। इस अन्न के माधुर्य पर वाणी व मन का माधुर्य निर्भर है। वस्तुतः बुद्धि का सौन्दर्य व पवित्रता भी इसी अन्न की मधुरता पर आश्रित है। ५. **स्वाहा**=इस ज्ञान की पवित्रता व अन्न के मधुर परिणाम के लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ, स्वार्थ से ऊपर उठूँ। राजस् व तामस् भोजनों का चस्का छोड़ूँ। भोजन सात्त्विक होगा तो ज्ञान भी पवित्र होगा और वाणी भी माधुर्ययुक्त होगी। ६. 'वाज' शब्द का अर्थ शक्ति भी है। मेरी शक्ति मधुर हो, क्रूरता से ऊपर उठी हुई हो। शक्तिशाली बनकर मैं 'इन्द्र' बनूँ, ज्ञानी बनकर 'बृहस्पति'। इस प्रकार मैं मन्त्र का ऋषि 'इन्द्राबृहस्पती' होऊँ।

भावार्थ—हमारा ज्ञान पवित्र हो। हमारा अन्न व शक्ति मधुर हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः[क], विकृतिः[र]। स्वरः—पञ्चमः[क], मध्यमः[र]॥

राजा

[क]ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनःसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। [र]अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। पृथिविसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥२॥

'पिछले मन्त्रों की भावना के अनुसार सबके जीवन बड़े सुन्दर हों' इसके लिए राजा का उत्तम होना आवश्यक है। वास्तव में राजशक्ति ही प्रजाओं में सब उत्तमताओं को लाने

का कारण बनती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में राजा का वर्णन करते हैं कि—१. **ध्रुवसदम्**=(ध्रुवम् यथा स्यात्तथा सीदतीति) ध्रुवता से अपने धर्मों में स्थित होनेवाले २. **नृषदम्**=(नृषु सीदति) मनुष्यों में अवस्थित होनेवाले, अर्थात् हर समय प्रजा-रक्षण के कार्य में तत्पर रहनेवाले, ३. **मनः सदम्**=अपने मन पर आसीन होनेवाले, अर्थात् अपने मन को पूर्णरूप से वश में करनेवाले ऐसे **त्वा**=तुझ राजा को **गृह्णामि**=हम ग्रहण करते हैं। हे राजन्! ४. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाले हैं। **इन्द्राय त्वा**=आपको राष्ट्र के ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए स्वीकार करते हैं। **जुष्टम्**=आप प्रीतिपूर्वक राष्ट्र का सेवन करनेवाले हो। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए, **जुष्टतमम्**=सर्वाधिक प्रीति से राष्ट्र का सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे हम स्वीकार करते हैं। ५. **अप्सुषदम्**=सदा कार्यों में अवस्थित होनेवाले, अर्थात् सदा क्रियाशील **त्वा**=तुझे हम स्वीकार करते हैं। ६. **घृतसदम्**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण के द्वारा दीप्ति को लाने के कार्य में स्थित तुझे हम ग्रहण करते हैं। राजा का महत्त्वपूर्ण कार्य यही है कि वह प्रजा की मलिनताओं को दूर करे और उनके जीवन को उज्ज्वल बनाये। ७. **व्योमसदम्**=(व्योम्नि सीदति, व्योमन्=वी+ओम्+अन्=प्रकृति, परमात्मा व जीव) जो तू प्रकृति, परमात्मा व जीव तीनों में स्थित है। प्रजा की प्राकृतिक आवश्यकताओं [खान-पान] को पूर्ण करने का ध्यान करता है। उनकी वृत्ति को प्रभु-प्रवण बनाने का ध्यान करता है और जीवों के पारस्परिक व्यवहार को उत्तम बनाता है। ८. ऐसा यह राजा **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा यम-नियमों को अपनानेवाला है। **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए हम **त्वा**=तुझे स्वीकार करते हैं। **जुष्टम्**=राष्ट्र का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करते हैं। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा जुष्टतमम्**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे हम स्वीकार करते हैं। ९. **पृथिविसदम्, अन्तरिक्षसदम्, दिविसदम्**=(पृथिवी=शरीरम्, हृदय=अन्तरिक्ष, मूर्धन्=द्यौः) शरीर, हृदय व मस्तिष्क में स्थित **त्वा**=तुझे ग्रहण करते हैं—तू शरीर, हृदय व मस्तिष्क तीनों का अधिष्ठाता है, तूने शरीर को स्वस्थ बनाया है, हृदय को निर्मल तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल। १०. **देवसदम्**=तेरा उठना-बैठना सदा देवों के साथ है, अतः तुझे अपने व प्रजाओं के जीवन को दिव्य बनाना है। ११. **नाकसदम्**=(न+अक) तू आनन्दस्वरूप प्रभु में स्थित है। प्रातः-सायं तू प्रभु का स्मरण अवश्य करता है। यह प्रभु-स्मरण ही तुझे कर्त्तव्यमार्ग पर ध्रुवता से चलने की शक्ति देता है। ऐसे **त्वा**=तुझे हम ग्रहण करते हैं। १२. आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाले हो। **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करते हैं। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **जुष्टतमम्**=राष्ट्र का सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—राजा ध्रुव वृत्तिवाला हो—मानव-कार्यों में ही रुचिवाला हो (हर समय शिकार ही न खेलता हो), अपने मन का अधिष्ठाता हो, सदा कार्यव्यापृत हो, मलों का क्षरण करके दीप्ति का लानेवाला हो। वह प्रजाओं की प्राकृतिक आवश्यकताओं का ध्यान करे, उन्हें प्रभु-प्रवण बनाये। उनके पारस्परिक व्यवहारों को उत्तम करे, शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों का ध्यान करे, अच्छे पुरुषों के साथ उसका उठना-बैठना हो, प्रातः-सायं प्रभु का ध्यान करनेवाला हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रजा में सर्वोत्तम

अपाꣳरसमुद्वयसꣳसूर्ये सन्तꣳसमाहितम्। अपाꣳरसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥३॥

१. गत मन्त्र में राजा का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि राजा किसे चुनें? जो **अपाम्**=प्रजाओं का **रसम्**=रस—सारभूत व्यक्ति हो—अर्थात् प्रजाओं में जो सर्वोत्कृष्ट हो। २. **उद्वयसम्**=उत्कृष्ट जीवनवाले को, अर्थात् राजा का चरित्र ऊँचा होना चाहिए, आयु के दृष्टिकोण से भी बड़ी आयुवाला ही ठीक है, क्योंकि इसे पर्याप्त अनुभव होगा। ३. **सूर्ये सन्तम्**=जो सदा प्रकाश में निवास करता है। पिछले मन्त्र में 'दिविषदं' शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा था (दिवि=सूर्ये षदं=सन्तम्) ४. **समाहितम्**=एकाग्रचित्तवृत्तिवाले को। यही भावना 'ध्रुवसदम्' शब्द से पहले मन्त्र में कही गई थी। ५. **अपाम्**=प्रजाओं के **रसस्य यः रसः**=रस का भी जो रस है, अर्थात् जो प्रजाओं में सर्वोत्तम जीवनवाला हो **तम्**=उस तुझे **वः**=तुम्हारे लिए, प्रजाओं के हित के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा स्वीकृत यम-नियमोंवाला है। **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **एषः**=यह राष्ट्र ही **ते योनिः**=तेरा घर है। **जुष्टतमम्**=राष्ट्र का सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—राजा उसे चुना जाए जो १. प्रजाओं में सर्वोत्तम जीवनवाला हो २. कुछ बड़ी आयु का हो। ३. सदा प्रकाश में निवास करनेवाला हो। ४. एकाग्रचित्तवृत्ति का हो ५. राष्ट्र को ही अपना घर समझनेवाला और उसकी प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाला हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—राजधर्मराजादयः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

राजा व प्रजा

ग्रहाऽऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम्। तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जꣳसमग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्॥४॥

१. राजा कहता है कि हे **ग्रहाः**=(ग्रहीतारः) उत्तमोत्तम वस्तुओं का ग्रहण करनेवाले गृहाश्रमियो! तुम २. **ऊर्जाहुतयः**=(ऊर्जं आह्वयन्ति) अन्न व रस का आह्वान करनेवाले हो। श्रम करते हुए प्रभु से अन्न व रस की याचना करते हो। ३. **विप्राय**=विशेषरूप से अपना पूरण करने के लिए **मतिम्**=बुद्धि को **व्यन्तः**=(गमयन्तः) अपने को प्राप्त कराते हो। ४. **वि-शिप्रियाणाम्**=विहीन जबड़ोंवाले, अर्थात् बहुत अधिक न खाने-पीनेवाले, खाने-पीने में आसक्त न हो जानेवाले **तेषाम्**=उन **वः**=आपके **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व रस को **समग्रभम्**=सम्यक्तया ग्रहण करता हूँ। मनु के निर्देशानुसार '**धान्यानामष्टमो भागः**' आपके अन्नादि के आठवें भाग को मैं लेता हूँ। ५. प्रजा कहती है—हे राजन्! तू **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा यम-नियम से स्वीकृत जीवनवाला है। **जुष्टम्**=राष्ट्र का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करती हूँ। **एषः ते**

योनिः=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **जुष्टतमम्**=राष्ट्र की सर्वाधिक प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाले **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए ग्रहण करते हैं। ६. प्रजा राजा व रानी से कहती है कि **सम्पृचौ स्थः**=आप सदा अपने जीवनों को उत्तमताओं से संयुक्त करनेवाले हो। **मा**=मुझे भी **भद्रेण**=शुभ से **संपृक्तम्**=संपृक्त करो। **विपृचौ स्थः**=आप अपने को बुराइयों से अलग करनेवाले हो, **मा**=मुझे **पाप्मना**=पाप से **विपृङ्क्तम्**=अलग करो। वस्तुतः राजा का जीवन प्रजा के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करता है। राजा उत्तम होगा तो प्रजा भी उत्तम होगी। राजा व्यसनी होगा तो प्रजा भी वैसी ही हो जाएगी।

भावार्थ—राजा प्रजाओं से उचित कर ग्रहण करे। अपने जीवन को उत्तम बनाता हुआ प्रजाओं के जीवन को भी उत्तम बनाये।

सूचना—ऊपर 'विशिप्रियाणाम्' शब्द इस भावना को सुव्यक्त कर रहा है कि प्रजाएँ अपनी विषयलोलुपता को बढ़ा लेती हैं तो उन्हें कर देना भारी प्रतीत होने लगता है। उनकी इन्द्रियाँ खाने-पीने के व्यसनों में नहीं फँसतीं तो वे कर देने में उत्साहवाली होती हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

सेनापति व सम्प्रदाय-विहीन राज्य [Secular State]

इन्द्रस्य वज्रोऽसि वाजसास्त्वयाऽयं वाजंᳬसेत्। वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे। यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्॥५॥

गत मन्त्रों में राष्ट्र के अन्दर की सुव्यवस्था का चित्रण है। उस सुव्यवस्था से प्रजाओं के जीवन भद्र से युक्त तथा अभद्र से वियुक्त हुए हैं। प्रस्तुत मन्त्र में बाह्य आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा का विधान है। यह रक्षा का कार्य सेनापति पर निर्भर करता है, अतः सेनापति से कहते हैं कि—२. **इन्द्रस्य वज्रः असि**=तू राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले राजा का वज्र है। वज्र की तरह शत्रुओं का छेदन करनेवाला है। ३. **वाजसाः**=(वाजान् संग्रामान् सनोति, सन्ध्वन्=win) तू संग्रामों को विजय करनेवाला है। **अयम्**=यह राजा **त्वया**=तेरे द्वारा **वाजम्**=संग्राम का **सेत्**=(सिनुयात्) प्रबन्ध करनेवाला हो, अर्थात् युद्ध का सारा प्रबन्ध आपके द्वारा ही राजा से किया जाए (षिञ् बन्धने)। ४. **वाजस्य**=संग्राम के **प्रसवे**=उत्पन्न होने पर **नु**=अब **वचसा**=वेदोपदिष्ट निर्देशों के अनुसार मातरं **महीम्**=हम अपनी मातृभूमि को **अदितिम् नाम**=निश्चय से अखण्डित **करामहे**=करते हैं, अर्थात् अधिक-से-अधिक त्याग करके अपनी मातृभूमि को शत्रु द्वारा छिन्न-भिन्न नहीं होने देते। ५. हमारा राष्ट्र ऐसा है कि **यस्याम्**=जिसमें **इदम्**=ये **विश्वं भुवनम्**=सब लोक **आविवेश**=प्रविष्ट हुए हैं, अर्थात् हमारे राष्ट्र में अन्य राष्ट्रों के लोगों को भी रहने की पूरी सुविधा है। 'यहाँ धर्मविशेष के माननेवाले लोग ही रह सकें', ऐसी बात नहीं है। यह राष्ट्र सभी मत वालों व सभी देशवालों को रहने की सुविधा प्राप्त कराता है। ६. **तस्याम्**=सबको निवास देनेवाली मातृभूमि में **सविता देवः**=सबका प्रेरक प्रभु **धर्म**=धारणात्मक कर्मों को **साविषत्**=प्रेरित करे। धारणात्मक कर्मों को करना ही हमारा धर्म हो। हम निर्माण को धर्म समझें, तोड़-फोड़ को अधर्म। 'घर्म' पाठ हो तो अर्थ होगा यज्ञों को प्रेरित करे। हम यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—सेनापति शत्रुओं के आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा करे। युद्ध उपस्थित होने पर हम अपने राष्ट्र को खण्डित न होने दें। हमारे राष्ट्र में सभी के लिए स्थान हो और

निर्माणत्मक कर्मों को ही हम धर्म समझें।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—अश्वः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।।

आपः-अश्वः

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः।
देवीरापो यो वऽऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजंसेत्॥६॥

१. गत मन्त्र में शत्रु-आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा का विषय वर्णित था। राष्ट्र-रक्षा के लिए वीर पुरुषों को जन्म देना माताओं का काम है, अतः कहते हैं कि **अप्सु अन्तः**= (आप् व्याप्तौ) निरन्तर कर्मों में व्याप्त—व्यस्त रहनेवाली (योषा वा अपः) स्त्रियों में ही **अमृतम्**= अमृत है, अर्थात् वे ही ऐसी सन्तानों को जन्म देती हैं जो असमय में रोगाक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाती। **अप्सु**=इन निरन्तर क्रिया में व्याप्त, कर्मशील स्त्रियों में ही **भेषजम्**=औषध है, अर्थात् इनके सन्तानों को रोग नहीं सता पाते। इनके भोजन, रस व दूध में रोगकृमियों को नष्ट करने की शक्ति होती है। २. **उत**=और **अपाम्**=इन कर्मों में व्याप्त स्त्रियों के **प्रशस्तिषु**=प्रशस्त कार्यों में ही तुम **अश्वाः**=उत्तम वीर्यवान् (वीर्यं वा अश्वः), सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली व (वज गतौ) गतिशील **भवत** होवो, अर्थात् कर्मों में व्याप्त होनेवाली माताएँ शक्तिशाली, गतिशील सन्तानों को जन्म देती हैं। ३. **देवीः**=हे दिव्य गुणोंवाली **आपः**=उत्तम कर्मों में व्यापनेवाली माताओ! **यः**=जो **वः**=तुम्हारी **ऊर्मिः**=लहर—तरङ्ग व उत्साह है, **प्रतूर्तिः**=(प्रत्वरणः) वेग है तथा **ककुन्मान्**=शिखरवाला, शिखर पर पहुँचने की भावना है **तेन**=उससे **अयम् वाजसाः**=यह संग्रामों का विजय करनेवाला **वाजम् सेत्**=संग्राम का प्रबन्ध करे। माताएँ ऐसी ही सन्तानों को जन्म दें जो तरंगित हृदयोंवाले, अर्थात् उत्साहमय हृदयोंवाले, वेगवाले, न मरियल, शिखर तक पहुँचने की भावनावाले हों। ऐसी ही सन्तान राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होगी।

भावार्थ—माताएँ वीर सन्तानों को जन्म देनेवाली हों।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—सेनापतिः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।।

२७ गन्धर्व

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः।
तेऽअग्रेऽश्वमयुञ्जँस्तेऽअस्मिन् जवमादधुः॥७॥

१. राष्ट्र के सञ्चालन में सेनाओं को वायु-वेग से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले-जानेवाला सेनापति **वातः**=है। वह सेनाओं को निरन्तर प्रेरणा दे रहा है। उत्तम मन्त्रणा करनेवाला मुख्यमन्त्री **'मनः'** है और **'त्रीणि राजाना विदथे पुरुणि'** इस मन्त्र में वर्णित 'राजार्य, धर्मार्य और विद्यार्य सभाओं' के दशावर अर्थात् नौ-नौ सभ्य, कुल मिलकर २७ सभ्य वेदवाणी का धारण करनेवाले होने से 'गन्धर्व' हैं (गां धरति)। २. **ते**=वे सेनापति, मुख्यमन्त्री तथा **सप्तविंशतिः**=सत्ताईस **गन्धर्वाः**=वेदों के धारण करनेवाले विद्वान् सभ्य—ये सब मिलकर **अश्वम्**=शक्तिशाली तथा निरन्तर कार्यों में व्याप्त होनेवाले राजा को **अग्रे**=सबसे अग्रस्थान पर **अयुञ्जन्**=नियुक्त करते हैं। वे इसे अपना मुखिया बनाते हैं। **ते**=वे ही **अस्मिन्**=इस अग्रस्थान पर स्थित होनेवाले राष्ट्रपति में **जवम्**=स्फूर्ति व गति को **आदधुः**=स्थापित करते हैं। उन्हीं के परामर्श के अनुसार ही यह कार्य करता है।

भावार्थ—राष्ट्र के मुख्य अधिकारी सेनापति, मुख्यमन्त्री, सभासद तथा राष्ट्रपति हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वातरंहाः

वातंरꣳहा भव वाजिन् युज्यमानऽइन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसऽआ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥८॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि 'सेनापति, मुख्यमन्त्री तथा सत्ताईस सभासद' राष्ट्रपति को नियुक्त करते हैं। अब वे कहते हैं—हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! राष्ट्र के अग्रभाग में नियुक्त हुआ-हुआ तू **वातरंहाः**=वायु के समान वेगवाला **भव**=हो। राजा आलसी व विलासी होगा तो वह राष्ट्र की क्या रक्षा करेगा? २. **दक्षिणः**=कार्यकुशल बनकर तू **इन्द्रस्य इव**=इन्द्र के समान **श्रिया एधि**=श्री से सम्पन्न हो। राजा बिना कोश के राजा ही नहीं रहता। राजा को कोश की वृद्धि के लिए पूर्ण प्रयत्न करना है। कार्यकुशलता ही कोशवृद्धि में सहायक होगी। ३. **त्वा**=तुझे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले तथा **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाले पुरुष **युञ्जन्तु**= विभिन्न कार्यों में युक्त करें, अथवा ऐसे पुरुषों के साथ तेरा मेल हो। तेरे अध्यक्षादि सब प्राणापान के अभ्यासी व ज्ञानी हों। प्राणसाधना उनके इन्द्रिय-दोषों का दहन करनेवाली होगी तथा ज्ञान उनको ठीक तरीके से काम करने के योग्य बनाएगा। राजा को मूर्ख अध्यक्ष मिल जाएँ तो राष्ट्रसहित उसका नाश ही कर देंगे। ४. **त्वष्टा**=देवशिल्पी, अर्थात् तेरे राष्ट्र के वैज्ञानिक कारीगर **ते पत्सु**=तेरे पाँव में **जवम्**=वेग को **आदधातु**=स्थापित करे, अर्थात् तेरे लिए इस प्रकार का वाहन (Motor car) बना दे कि तू शीघ्रता से राष्ट्र के एक भाग से दूसरे भाग में पहुँच सके।

भावार्थ—१. राजा वायु के समान वेगवाला हो, शीघ्रता से कार्य करनेवाला हो। २. वह कार्यकुशलता से श्री की वृद्धि करे। ३. उसके अध्यक्ष ज्ञानी व प्राणायाम के अभ्यासी हों। ४. राष्ट्र सर्वत्र गमन-आगमन के लिए उसके वाहन वेगयुक्त हों।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—वीरः। छन्दः—धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

गुहा-श्येन-वात (बृहस्पति के भाग का गन्धोपादन)

जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तोऽअचरच्च वाते।
तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः।
वाजिनो वाजजितो वाजꣳसरिष्यन्तो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत॥९॥

१. हे **वाजिन्**=बल-सम्पन्न व क्रियाशील राजन्! **यः**=जो **ते जवः**=तेरा वेग **गुहा**=बुद्धि में **निहितः**=स्थापित है, **यः**=जो तेरा वेग **श्येने**=(श्यैङ् गतौ) क्रियाशीलता में व शत्रुओं पर बाज़ की भाँति झपट्टा मारने में **परीत्तः**=स्थापित है (परिदत्तः परिततो वा) **च**=और जो तेरा वेग **वाते**=वायु में, अर्थात् वायु के समान राष्ट्र के सब भागों में विचरने में **अचरत्**=गतिवाला होता है, **तेन**=उस बुद्धि में, शत्रु पर आक्रमण करने में तथा वायुवत् सम्पूर्ण राष्ट्र में भ्रमण करने में परिणत होनेवाले **बलेन**=बल से **बलवान्**=बलवाला **वाजिन्**= क्रियाशील तू **नः**=हमारे लिए **वाजजित् भव**=सब प्रकार के अन्नों व बलों को जीतनेवाला हो **च**=और **समने**=युद्ध में **पारयिष्णुः**=हमें पार लगानेवाला हो। २. इस मन्त्रार्थ में यह स्पष्ट है कि राजा का वेग तीन जगह प्रकट हो (क) शासन के अर्थों के उद्देश्य को

समझने में, (ख) शत्रु पर श्येनवत् आक्रमण करके शत्रु को समाप्त करने में तथा (ग) राष्ट्र के सब भागों के निरीक्षण में। ऐसा राजा ही राष्ट्र के अन्नादि के अभाव को दूर करेगा और युद्ध में शत्रुओं का शातन करने में समर्थ होगा। ३. इन राजकार्य-व्यापृत लोगों के लिए कहते हैं कि तुम (क) **वाजिनः**=(वज गतौ) खूब क्रियाशील बनो (ख) **वाजजितः**= संग्रामों को जीतनेवाले बनो (ग) **वाजम् सरिष्यन्तः**=अन्न की ओर चलनेवाले होओ, अर्थात् राष्ट्र में कभी अन्नादि की कमी न होने दो (घ) ऐसा करते हुए तुम **बृहस्पतेः**=उस ब्रह्मणस्पति-वेदवाणी के पति परमात्मा की **भागम्**=(भज सेवायाम्) भजनीय, सेवनीय-इस वेदवाणी को भी **अवजिघ्रत**=ज़रा सूँघो, उसकी गन्ध का भी ग्रहण करो, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के लिए थोड़ा-सा समय अवश्य निकालो। शूरता के साथ ज्ञान का सम्पुट आवश्यक है, अन्यथा शूरता कुछ बर्बरता को लिये हुए हो जाती है।

भावार्थ-राजा शूर हो, उसकी शूरता विद्वत्ता के मिश्रणवाली हो। ज्ञानपूर्वक वह राष्ट्र-शत्रुओं का दमन करनेवाला हो।

ऋषिः-बृहस्पतिः। देवता-इन्द्राबृहस्पती। छन्दः-विराडुत्कृतिः। स्वरः-षड्जः।।

ज्ञानी व जितेन्द्रिय का स्वर्ग

देवस्याहꣳसवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳरुहेयम्। देवस्याहꣳसवितुः सवे सत्यसवसऽइन्द्रस्योत्तमं नाकꣳरुहेयम्। देवस्याहꣳसवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम्। देवस्याहꣳसवितुः सवे सत्यप्रसवसऽइन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम्॥१०॥

१. राजा के शासन के उत्तम होने पर राष्ट्र स्वर्गतुल्य बन जाता है। उस राष्ट्र में मूर्ख व अज्ञानियों का निवास नहीं होता, अतः वह स्वर्ग 'बृहस्पति' का कहलाता है तथा इसमें कोई भी व्यक्ति अजितेन्द्रिय नहीं होता, अतः यह 'इन्द्र' का स्वर्ग होता है। मन्त्र में कहते है कि-२. **अहम्**=मैं **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की, जो **सत्यसवसः**=सदा सत्य की ही प्रेरणा देते हैं **सवे**=प्रेरणा में, अनुज्ञा में **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग को **रुहेयम्**=आरुढ़ होऊँ। बृहस्पति का स्वर्ग वह है जहाँ योग्यतम आचार्यों का निवास है। ३. **अहम्**=मैं **सत्यसवसः**=उस सत्य-प्रेरणावाले **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग में **रुहेयम्**=आरुढ़ होऊँ। 'इन्द्र' का स्वर्ग वह है जहाँ कि सब पुरुष 'जितेन्द्रिय' हैं, जहाँ अजितेन्द्रियों का निवास नहीं। ४. 'आरुढ़ होऊँ' इस प्रकार की कामना ही क्यों करता रहूँ-बस, अब तो मैं 'आरूढ़ हो ही गया'। दृढ़ संकल्प का यह परिणाम होना ही चाहिए कि वह संकल्प क्रिया में परिणत हो जाए, अतः यहाँ कहते हैं कि 'आरूढ़ हो जाऊँ, नहीं बस आरूढ़ हो ही गया'। ५. **अहम्**= मैं **सत्यप्रसवसः**=सत्य की उत्कृष्ट प्रेरणावाले **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **सवे**=अनुज्ञा में **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग में **आरुहम्**=आरूढ़ हुआ हूँ और **सत्यप्रसवसः**=उस उत्कृष्ट प्रेरणावाले **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में मैं **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय के **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट स्वर्ग में **अरुहम्**=आरूढ़ हुआ हूँ। ६. मन्त्रार्थ से ये बातें स्पष्ट हैं कि (क) स्वर्ग 'बृहस्पति व इन्द्र' का है, अर्थात् ज्ञानी व जितेन्द्रिय का है। स्वर्ग में पहुँचने के लिए हम जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनें। जितेन्द्रयता व ज्ञान ही हमारे

घर व जीवन को स्वर्ग बनाते हैं। (ख) जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनने के लिए प्रभु की प्रेरणा में चलें। (ग) जीवन को स्वर्ग बनाने का संकल्प दृढ़ होगा तभी हम इसे स्वर्ग बना पाएँगे।

भावार्थ—हम सब प्रभु के निर्देशानुसार चलनेवाले हों। ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनें और इस प्रकार हमारा जीवन 'स्वर्ग' हो।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—इन्द्राबृहस्पती। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

बृहस्पते+इन्द्र

बृहस्पते वाजं जय बृहस्पतये वाचं वदत बृहस्पतिं वाजं जापयत।
इन्द्र वाजं जयेन्द्राय वाचं वदतेन्द्रं वाजं जापयत॥११॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राष्ट्र की उत्तमता इस बात पर निर्भर है कि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करे। विशेषतः राजा व सेनापति—जो राष्ट्र के मुख्य अधिकारी हैं, उन्हें तो ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनना ही चाहिए। ये जितेन्द्रिय होंगे तभी शत्रुओं पर विजय पा सकेंगे। २. **बृहस्पते**=हे ज्ञान के अधिपति राजन्! **वाजं जय**=तू संग्राम को जीतनेवाला बन। ३. इन उल्लिखित शब्दों में राजा को विजय की प्रेरणा देकर पुरोहित उपस्थित सब सभ्यों से भी कहता है कि **बृहस्पतये**=इस ज्ञान के स्वामी राजा के लिए तुम सब भी **वाचं वदत**=उत्साह की वाणी को कहो। 'अवश्य जीतना है' इस प्रकार राजा को उत्साहित करो। **बृहस्पतिम्**=इस ज्ञानी राजा को **वाजं जापयत**=संग्राम में विजय दिलाओ। वस्तुतः राष्ट्र के सभी व्यक्ति राजा की पीठ पर हों तभी विजय सम्भव है। ४. अब पुरोहित सेनापति को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले! तू **वाजम्**=संग्राम को **जय**=जीत। हे प्रजाओ! तुम भी **इन्द्राय**=इस सेनापति के लिए **वाचं वदत**=उत्साह की वाणी बोलो। **इन्द्रं वाजं जापयत**=इस प्रकार उत्साह की वाणी को बोलते हुए तुम इस इन्द्र को अवश्य युद्ध में विजय दिलाओ।

भावार्थ—१. राजा को ज्ञानी बनना है, सेनापति को पूर्ण जितेन्द्रिय बनकर शत्रुओं को जीतना है। २. प्रजा ने राजा व सेनापति को उत्साहित करना है। ३. वस्तुतः विजय प्रजा को ही दिलानी होती है। प्रजा साथ है तो विजय है, प्रजा साथ न दे तो विजय का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—इन्द्राबृहस्पती। छन्दः—स्वराडतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

सत्या संवाक्

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजपताजीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्। एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम्॥१२॥

१. पुरोहित सभ्यों से कहता है कि तुम लोगों ने राजा के लिए जो उत्साह की वाणी कही है **एषा**=यह **वः**=तुम्हारी **सा**=वह **संवाक्**=उत्तम वाणी **सत्या**=सत्य **अभूत्**=हुई है। वह वाणी **यया**=जिससे कि **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के अधिपति राजा को **वाजम्**=संग्राम को **अजीजपत**=तुमने जिताया है। हे **वनस्पतयः**=ज्ञान की रश्मियों के अधिपतियो! तुमने उत्साह का सञ्चार करनेवाली वाणी के द्वारा **बृहस्पतिम्**=इस ज्ञानी राजा को **वाजम्**=संग्राम में

अजीजपत=विजय प्राप्त कराई है। अब तुम शत्रुओं के उपद्रवों से जनित क्लेशों से **विमुच्यध्वम्**=मुक्त हो जाओ। जब तक युद्ध रहता है या शत्रुओं का उपद्रव बना रहता है तब तक कुछ-न-कुछ क्लेश बना ही रहता है। २. **एषा सा**=यह वह **वः**=तुम्हारी **संवाक्**=उत्तम वाणी **सत्या अभूत्**=सत्य हुई है **यया**=जिससे आपने **इन्द्रम्**=सेनापति को **वाजं अजीजपत**=संग्राम में विजयी किया है। हे **वनस्पतयः**=ज्ञानरश्मियों के अधिपति सभ्यो! आपने अपनी उत्साहमयी वाणी से **इन्द्रम्**=सेनापति को **वाजम्**=संग्राम में **अजीजपत**=विजय प्राप्त कराई है। परिणमतः **विमुच्यध्वम्**=अब तुम्हारा जीवन क्लेशों से मुक्त हो गया है। ३. राष्ट्र में जब सभ्य ज्ञानी होते हैं और राजा व सेनापति के साथ उनकी अनुकूलता होती है तब अवश्य विजय होती है और राष्ट्र विविध क्लेशों व अशान्तियों से मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—युद्ध के समय सब सभ्यों का राष्ट्रपति व सेनापति के साथ पूर्ण सहयोग आवश्यक है। संकटकाल में विरोधी वाणी मानस शक्ति को नष्ट करने का कारण बनती है।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—सविता। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः॥

लक्ष्य-प्राप्ति (काष्ठा-गमन)

देवस्याहꣳसवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम्।
वाजिनो वाजजितोऽध्वन स्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत॥१३॥

१. **अहम्**=मैं **सत्यप्रसवसः**=सत्य की उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले **सवितुः देवस्य**=सविता देव की, प्रेरक प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में, अनुज्ञा में, **वाजजितः**=संग्रामों को जीतनेवाले **बृहस्पतेः**=ज्ञानी राजा के **वाजम्**=संग्राम को **जेषम्**=जीतूँ। राष्ट्र के एक-एक व्यक्ति की भावना यही होनी चाहिए कि वह प्रभु-अनुज्ञा में चलता हुआ राजा का पूरा सहयोग दे और उस राजा को किसी भी युद्ध में पराजित न होने दे। २. पुरोहित इन राष्ट्र-वीरों को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **वाजिनः**=हे शक्तिसम्पन्न राष्ट्रवीरो! **वाजजितः**=संग्रामों को जीतनेवालो! **अध्वनः स्कभ्नुवन्तः**=विघ्नों के मार्गों को रोकते हुए अथवा शत्रुओं के मार्गों को निरुद्ध करते हुए, अर्थात् काम-क्रोधादि के वशीभूत न होनेवाले तुम **योजना मिमानाः**=उन्नति की योजनाओं को बनाते हुए **काष्ठां गच्छत**=अपने लक्ष्य तक पहुँचो। ३. राष्ट्र के प्रत्येक प्रमुख पुरुष को शक्ति-सम्पन्न बनना है (वाजी), संग्राम में विजयी होना है (वाजजित्), काम-क्रोधादि उन्नति के विघ्नभूत शत्रुओं को अपने तक नहीं पहुँचने देना (अध्वनः स्कभ्नुवन्तः), जीवन को एक प्रोग्राम के साथ चलाना है (योजना मिमानाः)। यही लक्ष्यस्थान पर पहुँचने का उपाय है, अन्यथा मनुष्य पराजित होगा और जन्म-मरण के चक्र में ही फँसा रहेगा।

भावार्थ—हम विजयी बनें। विजय के लिए प्रभु की अनुज्ञा में चलें।

ऋषिः—दधिक्रावा। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

त्रिधा बद्ध=(राजा)

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धोऽअपिकक्षऽआसनि।
क्रतुं दधिक्राऽअनु सꣳसनिष्यदत्पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत् स्वाहा॥१४॥

प्रस्तुत मन्त्र में राजा के त्रिविध संयम का और परिणामतः विजय का उल्लेख करते हुए कहते हैं—१. **एषः स्यः**=यह जो **वाजी**=शक्तिशाली राजा **क्षिपणिम्**=शत्रुओं को सुदूर

प्रक्षेपण की क्रिया को **तुरण्यति**=(त्वरयति) शीघ्रता से करता है। 'क्या अन्तःशत्रु और क्या बाह्य शत्रु' यह उन सभी को अपने से दूर फेंकता है। २. यह राजा **ग्रीवायाम्**=ग्रीवा के विषय में **बद्धः**=तीव्र नियम में बद्ध होता है, अर्थात् इसका खान-पान बड़े संयम से चलता है। २. **कक्षे अपि**=कमरे में भी यह **बद्धः**=बड़े संयमवाला होता है, अर्थात् इसके सन्तानोत्पादनादि क्रिया में पूर्ण संयम रहता है। ४. **आसनि**=यह मुख में भी **बद्धः**=संयमवाला होता है। इसका बोलना भी बड़ा नपा-तुला होता है। संक्षेप में इस राजा का खान-पान, सन्तानोत्पादन, बोल-चाल सभी क्रियाओं में संयम दीखता है। ५. **दधिक्रा**=(दधत् क्रामति) राष्ट्र का धारण करता हुआ गति करनेवाला यह राजा **क्रतुं अनु**=संकल्प के अनुसार **संसनिष्यत्**=(स्यन्दू प्रस्रवणे) विविध क्रियाओं में प्रस्तुत होता है। इसका प्रत्येक कार्य संकल्पपूर्वक (पूर्वनिर्मित योजना के अनुसार) होता है, इसीलिए इस राजा का कोई कार्य ऐसा नहीं होता जो धारणात्मक न हो। ६. यह राजा **पथाम्**=शास्त्र-निर्दिष्ट मार्गों के **अङ्कांसि**=चिह्नों के **अनु**=अनुसार **आ**=सर्वथा **पनीफणत्**=खूब ही गति करता है, अर्थात् यह शास्त्र-निर्दिष्ट मार्ग से रेखामात्र भी विचलित नहीं होता। पूर्वजों के पदचिह्नों पर ही चलता है। ७. **स्वाहा**=इस राजा के लिए ही प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं (सु+आह)।

भावार्थ—१. राजा को शत्रुओं को दूर करने के कार्य में आलस्य नहीं करना। २. त्रिविध संयम का जीवन बिताना है। ३. इसका कोई भी कार्य असंकल्पित व अधारणात्मक नहीं होता। ४. शास्त्र-निर्दिष्ट मार्गों के चिह्नों पर ही यह चलता है।

ऋषिः—दधिक्रावा। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

राजा का रथ

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः।
श्येनस्येव ध्रजतोऽअङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा॥१५॥

१. राष्ट्ररक्षा में व्यापृत राजा प्रजा के अन्दर अपने रथ से सर्वत्र विचरता है **उत**=और **अस्य**=इस **द्रवतः**=गति करते हुए **तुरण्यतः**=शत्रुओं का संहार करते हुए राजा का **पर्णम्**=रथ (सर्वं स्याद् वाहनं यानं युग्यं पत्रं च धोरणम्। पत्रम्=पर्णम्) **प्रगर्धिनः वेः**=मांसादि में लालचवाले (गृध्र आदि) पक्षी के **पर्णं न**=पंख के समान **अनुवाति**=गति करता है। जिस प्रकार मांस का लोभ पक्षी के पंखों को तीव्र गति देता है उसी प्रकार राष्ट्ररक्षा अथवा राष्ट्र को उत्तम बनाने का लोभ इस राजा के रथ को तीव्र गति देता है। ('पर्ण' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—रथ और पंख)। 'राष्ट्ररक्षा' की प्रबल कामनावाले राजा का रथ सदा तीव्र गति से इधर-से-उधर दौड़ा करता है। २. **ध्रजतः श्येनस्य इव**=शिकार पर आक्रमण करनेवाले बाज के समान इस राजा का रथ शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होता है। ३. **ऊर्जा सह**=बल और प्राणशक्ति के साथ **तरित्रतः**=शत्रुओं को तीर्ण करनेवाले इस **दधिक्राव्णः**=(दधत् क्रामति) राष्ट्र का धारण करते हुए गति करनेवाले राजा का रथ **अङ्कसं परि**=वेदानुमोदित मार्गचिह्नों पर ही गति करता है। इसका रथ कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता। ४. इस राजा के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं।

भावार्थ—शत्रुसंहार करनेवाले तथा राष्ट्ररक्षा करनेवाले राजा का रथ प्रजाओं में व राष्ट्र में सर्वत्र गति करनेवाला होता है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

'अहि-वृक-रक्षस्' जम्भन

शन्नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳरक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः॥१६॥

१. 'राष्ट्रपति की अध्यक्षता में काम करनेवाले राजपुरुष कैसे हों', इस बात का वर्णन करते हुए कहते हैं कि १. **वाजिनः**=ये शक्तिशाली राजपुरुष **हवेषु**=हमारी प्रार्थनाओं पर (पुकारों पर) **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति व सुख प्राप्त करानेवाले **भवन्तु**=हों। २. **देवताताः**=(देवान् तन्वन्ति इति) वे राजपुरुष दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले हों। ३. **मितद्रवः**=ये नपी-तुली गतिवाले हों, प्रत्येक कर्म में युक्तचेष्ट हों। ४. **स्वर्काः**=(सु अर्च्) ये प्रभु के उत्तम उपासक हों। ज्ञानी ही तो सर्वोत्तम उपासक है, अतः ये ज्ञानी बनें और प्रभु की उपासना करनेवाले हों। ५. ये राष्ट्र में **अहिम्**=सर्प के समान कुटिल गति को **वृकम्**=भेड़िये के समान अत्यधिक खाने की वृत्ति को तथा **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करने की वृत्ति को **जम्भयन्तः**=(नाशयन्तः—म०) नष्ट करते हुए ६. **सनेमि**= शीघ्र ही (सनेमि=क्षिप्रम्—म०) **अस्मत्**=हमसे **अमीवाः**=रोगों व व्याधियों को **युयवन्**=दूर करें। ७. राज्य की व्यवस्था ऐसी सुन्दर होनी चाहिए कि उसमें धूर्तता, कुटिलता, ठगी (अहि), लोभ व उदरम्भरिता (वृक) तथा औरों की हानि करके मौज मारने की वृत्ति (रक्षस्) का नितान्त अभाव हो और लोग व्याधियों के शिकार न हों।

भावार्थ—राज्य वही ठीक है १. जिसमें 'अहि, वृक व रक्षसों' का अभाव है। २. जिसमें लोग स्वस्थ हैं। ३. और जिसमें लोगों की चित्तवृत्ति शान्त है। इस व्यवस्था को लाने के लिए राष्ट्रपुरुष वे होने चाहिएँ जो शक्तिशाली, दिव्य गुणों का विस्तार करनेवाले, नपी-तुली गतिवाले तथा उत्तम उपासक हैं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

उपासना व युद्ध

ते नोऽअर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः।
सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनꣳसमिथेषु जभ्रिरे॥१७॥

राजपुरुषों का ही प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि १. **ते**=वे **विश्वे**=सब **नः**=हमारी **हवम्**=प्रार्थना व पुकार को **शृण्वन्तु**=सुनें, **ये**=जो (क) **अर्वन्तः**=(अर्व हिंसायाम्) शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, क्या बाह्य व क्या आन्तर—सभी शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले हैं (ख) **हवनश्रुतः**=प्रजा के आह्वान को सुननेवाले हैं (ग) **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानी हैं (घ) **मितद्रवः**=नपी-तुली गतिवाले हैं, प्रत्येक कर्म में युक्तचेष्टावाले हैं (ङ) **सहस्रसाः**=सहस्रों देनेवाले हैं, अर्थात् अत्यन्त उदार हैं (च) **मेधसातौ**=(मेधः सन्यते यत्र यज्ञशाला—म०) यज्ञशालाओं में **सनिष्यवः**=(पूजयितारः) आत्मा की उत्तम भक्ति करनेवाले तथा जो (छ) **समिथेषु**=संग्रामों में **महः धनम्**=(महत्—द०) बड़े धन का **जभ्रिरे**=भरण व पोषण करते हैं २. राजपुरुष जहाँ यज्ञशालाओं में प्रभु का पूजन करते हैं वहाँ संग्रामों में प्रभूत धन का विजय भी करते हैं। वस्तुतः यज्ञशालाओं में प्रभु-उपासन द्वारा अपने में शक्ति भरकर ही ये संग्रामों में शत्रुओं को जीतकर धनों के विजेता बनते हैं। ३. राजपुरुषों की राज्य-व्यवहार में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये प्रजा की पुकार को उपेक्षित नहीं करते। ४. अपने निज

जीवन में ये कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाले (अर्वन्तः), शक्तिशाली (वाजिनः) तथा युक्तचेष्ट होते हैं (मितद्रवः)। कर्मों में युक्तचेष्टता ही इनकी विजय का सबसे बड़ा रहस्य है।

भावार्थ—राजपुरुष कामादि शत्रुओं के विजेता, शक्तिशाली व युक्तचेष्ट हों। वे उपासना की प्रवृत्तिवाले तथा संग्रामों में धनों के विजेता हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मधुपान—आर्थिक स्थिति का ठीक करना

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥१८॥

राजपुरुष क्या करें? १. हे **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुषो! **नः**=हमें **वाजेवाजे**=प्रत्येक संग्राम में **अवत**=सुरक्षित करो। संग्राम के समय इस प्रकार की व्यवस्था की जाए कि आम जनता के कार्य अव्यवस्थित न हो जाएँ। २. **धनेषु**=धनों के विषयों में तुम **विप्राः**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले होओ। राजा व्यापार के नियम इस प्रकार के प्रचलित करे कि सारी प्रजा धनधान्य से परिपूर्ण हो। राज्य में शिल्पों को राज्य द्वारा प्रोत्साहन व संरक्षण मिले। ३. ये राजपुरुष **अमृताः**=नाना प्रकार के रोगों के शिकार न हों (मृत्यु=रोग)। ४. **ऋतज्ञाः**=ऋत के ये जाननेवाले हों, इनका अपना जीवन ऋतमय हो। इनकी दिनचर्या बड़ी व्यवस्थित हो। ५. **अस्य मध्वः पिबत**=इस सोमरूप मधु का ये पान करें और **मादयध्वम्**=आनन्दित हों। जिस प्रकार विविध पुष्प-रसों का सारभूत मधु=शहद होता है उसी प्रकार नाना ओषधियों का सारभूत सोम (वीर्य) शरीर के अन्दर उत्पन्न होता है। इस सोम का ये पान करनेवाले हों। ऐसे ही राजपुरुष प्रजा के रक्षण-कार्यों में शक्त होते हैं। ६. **तृप्ताः**=ये सदा तृप्त और सन्तुष्ट हों, इन्हें सदा भूख न लगती रहे। अतृप्त राजपुरुष ही रिश्वत आदि की ओर झुकाववाले होते हैं। और ७. ये सदा **देवयानैः पथिभिः यात**=देवयान मार्गों से चलें। राजपुरुष उत्तम मार्गों को ही अपनाएँ, ये देवताओं के चलने योग्य मार्गों से चलेंगे तो प्रजा भी देवयानमार्गानुयायिनी होगी। **'यथा राजा तथा प्रजा'**=प्रजा तो राजाओं के ही मार्गों को अपनाती है।

भावार्थ—राजपुरुष नीरोग, व्यवस्थित जीवनवाले, सोम के रक्षक, सदा तृप्त तथा उत्तम मार्गों से चलनेवाले हों। ऐसे ही राजपुरुष संग्रामों में विजेता बनकर प्रजा के रक्षक होते हैं तथा प्रजा की आर्थिक स्थिति को ठीक कर पाते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृद्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

पूर्ण-शोधन

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे।
आ मा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमोऽअमृतत्त्वेन गम्यात्।
वाजिनो वाजजितो वाजꣳससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः॥१९॥

राष्ट्र में राजा तथा सारे प्रजाजन धर्माचरण द्वारा यही कामना करें कि—१. **मा**=मुझे **वाजस्य**=ज्ञान व शक्ति का **प्रसवः**=ऐश्वर्य **अजगम्यात्**=सब प्रकार से प्राप्त हो। २. मुझे **इमे**=ये **विश्वरूपे**=पूर्णरूपवाले न कि अधूरे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर आ=प्राप्त हों। ज्ञान के ऐश्वर्य के परिणामस्वरूप मेरा मस्तिष्क पूर्ण विकासवाला तथा शक्ति के

ऐश्वर्य के परिणामरूप मेरा शरीर नीरोग व पूर्ण होगा। ज्ञान मस्तिष्क की अपूर्णता को दूर करेगा तो शक्ति शरीर की अपूर्णता को। ३. **मा**=मुझे **पितरा मातरा**=सच्चे अर्थों में माता और पिता **आगन्ताम्**=प्राप्त हों। मेरे माता व पिता प्रशस्त हों, विद्यायुक्त होते हुए वे मेरे जीवन का सुन्दर निर्माण करनेवाले हों। ४. **च**=और **मा**=मुझे **सोमः**=सोम (=वीर्य) **अमृतत्वेन**=नीरोगता के साथ **आगम्यात्**=प्राप्त हो। मैं सोम की रक्षा करनेवाला बनूँ और इस प्रकार नीरोग होऊँ। (५) उल्लिखित प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि (क) **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानी होते हुए **वाजजितः**=तुम संग्रामों को जीतनेवाले बनो। काम-क्रोधादि शत्रुओं से तुम्हें पराजित नहीं होना है। (ख) **वाजं ससुवांसः**=शक्ति की ओर चलनेवाले तुम **बृहस्पतेः**=ब्रह्मणस्पति परमात्मा की **भागम्**=भजनीय वेदवाणी को **अवजिघ्रत**= अवश्य ग्रहण करो। ज्ञान की गन्ध से शून्य शक्ति राक्षसी व हानिकर हो जाती है। (ग) ज्ञान व शक्ति प्राप्त करके तुम **निमृजानाः**=निश्चय से अपना शोधन करनेवाले बनो।

भावार्थ—हम शक्तिशाली व ज्ञानी बनें। शरीर व मस्तिष्क को पूर्ण करें। उत्तम माता-पितावाले हों। सोम-रक्षा द्वारा नीरोग बनें। शक्ति की ओर चलनेवाले हम ज्ञान की गन्ध का भी ग्रहण करें और इस प्रकार अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

प्रजापति

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाऽह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिनऽआन्त्यायनाय स्वाहाऽऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा॥ २०॥

'राजा कैसा हो?' इस प्रश्न का विस्तृत विचार देखिए—१. **आपये**=राष्ट्र को (आपयति) उत्तम समृद्धि प्राप्त करानेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=(सु आह) उत्तम शब्दों को कहते हैं। २. **स्वापये**=(सु आपये) राष्ट्र के सर्वोत्तम मित्रभूत राजा के लिए **स्वाहा**= हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. **अपिजाय**=(अपि=निश्चयार्थे जन्=विकास) निश्चय से राष्ट्र का विकास करनेवाले के लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्द कहे जाते हैं। ४. **क्रतवे**=ज्ञान, संकल्प व कर्म से युक्त राजा के लिए **स्वाहा**=उत्तम शब्द कहते हैं। ५. **वसवे**=सब प्रजाओं को उत्तमता से बसानेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्द कहते हैं। ६. **अहर्पतये**=प्रकाश के पति, अर्थात् सूर्य के समान राष्ट्र में प्रकाश फैलानेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्दों को कहते हैं। ७. **मुग्धाय**=सुन्दर **अह्ने**=दिनों के कारणभूत राजा के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। सुन्दर दिन वे ही हैं जिनमें सारा राष्ट्र सुख-समृद्धि-सम्पन्न होता है। आजकल की भाषा में इसे ही शानदार समय=glorious period कहते हैं। ८. **मुग्धाय**=राष्ट्र को सुन्दर बनानेवाले **वैनंशिनाय**=बुराइयों का नाश करनेवाले के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ९. **विनंशिने**=सब बुराइयों को समाप्त करनेवाले, चोरी इत्यादि को दूर करनेवाले, और इस प्रकार **आन्त्यायनाय**=सब असमृद्धि का अन्त करनेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसा के शब्द कहते हैं। १०. **आन्त्याय**=सब बुराइयों का अन्त करनेवाले **भौवनाय**=सब भुवनों=प्राणियों का हित करनेवाले राजा के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ११. **भुवनस्य पतये स्वाहा**=राष्ट्र की रक्षा करनेवाले राजा के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। १२. **अधिपतये स्वाहा**=राष्ट्र के सबसे मुख्य अधिष्ठाता के लिए हम

शुभ शब्द बोलते हैं।

भावार्थ—उल्लिखित १२ गुणों से युक्त प्रजापति ही श्रेष्ठ है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—यज्ञः। छन्दः—अत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञ और शक्ति

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬश्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम॥२१॥

गत मन्त्र के अनुसार जब राजा राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था करता है तब सब लोगों के जीवन उत्तम बनते हैं और वे चाहते हैं कि १. **आयुः**=हमारा जीवन **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पताम्**=(क्लृप् सामर्थ्ये) शक्तिशाली बने। हमारे जीवन में (क) **देवपूजा**=बड़ों का आदर हो। (ख) **सङ्गतीकरण**=हम सब परस्पर मेल से चलनेवाले हों। (ग) **दान**=हममें देने की वृत्ति सदा बनी रहे (यज् देवपूजा-सङ्गतीकरण-दानेषु)। ये बातें हमारे जीवन में शक्ति का सञ्चार करनेवाली हों। २. **प्राणः**=हमारी प्राणशक्ति **यज्ञेन**=यज्ञियवृत्ति से **कल्पताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो। यज्ञियवृत्ति में त्याग का अंश है, यह त्याग हमें विलास से बचाता है और विलास का अभाव हमारी प्राणशक्ति को पुष्ट करता है। प्राणशक्ति के पुष्ट होने पर हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग—सब इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं, अतः कहते हैं कि ३. **चक्षुः**=हमारी दृष्टिशक्ति **यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से सशक्त हो तथा ४. **श्रोत्रम्**=हमारे कान **यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से शक्तिशाली हों। ५. **पृष्ठम्**=हमारी पृष्ठ (पीठ) **यज्ञेन कल्पताम्**=यज्ञ से शक्तिशाली बने। ६. **यज्ञः**=हमारा यज्ञ भी **यज्ञेन**=यज्ञिय भावना से **कल्पताम्**=सफल हो। लोकहित के लिए किये गये कर्म यज्ञ हैं। ये कर्म भी सङ्गरहित होने पर और फल की इच्छा को छोड़कर किये जाने पर अत्यन्त उत्तम हो जाते हैं। यही यज्ञों को यज्ञिय भावना से करने का आशय है। देवों के यज्ञ इसी प्रकार के होते हैं। ७. यज्ञ से अपने जीवनों को ओत-प्रोत करते हुए हम **प्रजापतेः**=प्रजाओं के रक्षक प्रभु के **प्रजाः**=सच्चे सन्तान **अभूत्**= हों। प्रभु ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया था और कहा था कि इसी से तुम फूलो-फलोगे, अतः इन यज्ञों को करनेवाला व्यक्ति प्रभु का सच्चा पुत्र होता है। यह अपने यज्ञादि सुचरितों से प्रभु को प्रीणित करता है। ८. इस प्रकार यज्ञों से हमारा जीवन दिव्य गुणों की वृद्धिवाला हो और **देवाः**=हे देवो! दिव्य गुणो! **स्वः अगन्म** =हम स्वर्ग को, सुखमय स्थिति को प्राप्त हों। अथवा उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों। और ९. **अमृताः अभूम**=हम रोगरूप मृत्युओं से कभी आक्रान्त न हों।

भावार्थ—१. यज्ञों से हमारा जीवन शक्ति-सम्पन्न बनता है। २. यदि यज्ञ को यज्ञिय भावना से करते हैं तो हम प्रभु के सच्चे पुत्र होते हैं। ३. हमारा जीवन सुखमय व नीरोग होता है अथवा हम ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—दिशः। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञमय जीवन

अस्मे वोऽअस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांᳬसि सन्तु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयं ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥२२॥

गत मन्त्र की यज्ञियवृत्ति को ही प्रस्तुत मन्त्र में स्पष्ट करते हैं—१. **वः**=तुम्हारी **इन्द्रियम्**=सब इन्द्रियों की शक्ति **अस्मे**=हमारे लिए **अस्तु**=हो। प्रभु कहते हैं कि तू सब इन्द्रियों को हमारे प्रति अर्पण करनेवाला बन। २. तुम्हारा **नृम्णम्**=धन **अस्मे**=हमारे लिए हो। प्रभु के लिए होने का अभिप्राय स्पष्ट है कि वह 'सर्वभूतहित' के लिए विनियुक्त हो। 'सर्वभूतहिते रतः' व्यक्ति ही प्रभु का सच्चा भक्त है। **उत**=और **क्रतुः**=तुम्हारी प्रज्ञा व कर्म हमारे लिए हो। ३. **वः**=तुम्हारी **वर्चांसि**=शक्तियाँ **अस्मे**=हमारे लिए **सन्तु**=हों। तुम्हारी शक्तियाँ स्वार्थ-सम्पादन में विनियुक्त न होकर सारे राष्ट्र के हित के लिए हों। ४. तुम **मात्रे पृथिव्यै नमः**=इस पृथिवी माता का आदर करनेवाले होओ। **मात्रे पृथिव्यै नमः**=इस भूमि माता के लिए तुम्हारा नमन हो। **इयम्**=यह भूमिमाता ही **ते राट्**=तेरे सब कार्यों को नियमित (regulated) करनेवाली हो, अर्थात् तेरे सब कार्य मातृभूमि के हित के दृष्टिकोण से हों। ५. **यन्ता असि**=तू अपने इस शरीररूप रथ का उत्तम नियन्ता=काबू में रखनेवाला है। ६. तू **यमनः**=उद्यमशील है। ७. **ध्रुवः असि**=तू स्थिर चित्तवृत्तिवाला है। ८. तू **धरुणः**=धारणात्मक कर्मों में लगा हुआ है। ९. **कृष्यै त्वा**=मैं तुझे कृषि के लिए प्रेरित करता हूँ और **क्षेमाय त्वा**=इसे कृषि के द्वारा कल्याण-प्राप्ति में लगाता हूँ। यह कृषि ही तेरे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होगी। १०. **रय्यै त्वा**=मैं तुझे धन के लिए प्राप्त कराता हूँ और इस प्रकार **पोषाय त्वा**=तुझे उचित प्रकार से पोषण में समर्थ करता हूँ। संक्षेप में यह कृषि ही तेरे क्षेम के लिए होगी और पोषण के लिए पर्याप्त धन हो जाएगा।

भावार्थ—१. यज्ञमय जीवन में हमारी इन्द्रियाँ, धन, प्रज्ञा व कर्म, और सब शक्तियाँ पृथिवी माता के लिए होती हैं। (२) हमारा जीवन संयमवाला व धारणात्मक कर्मों में लगा हुआ होता है। (३) हम कृषि द्वारा क्षेम को सिद्ध करते हैं और पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुपः। स्वरः—धैवतः॥

राष्ट्र-पुरोहित

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳराजानमोषधीष्वप्सु।
ताऽअस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा॥२३॥

१. **इमं सोमं राजानम्**=इस सौम्य गुणयुक्त अथवा सोमशक्ति-सम्पन्न राजा को, **अग्रे**=सबसे प्रथम **ओषधीषु अप्सु**=ओषधियों व जलों का ही खान-पान करने पर, अर्थात् भोजन में मद्य-मांसादि का प्रवेश न होने पर, **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञान का **प्रसवः**= उत्पादन **सुषुवे**=ऐश्वर्ययुक्त करता है, अर्थात् सात्त्विक भोजन से सौम्यता बनी रहती है और शक्ति व ज्ञान में वृद्धि होती है। २. **ताः**=वे ओषधियाँ व जल **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **मधुमतीः**= माधुर्यवाली **भवन्तु**=हों, अर्थात् इन ओषधियों व जलों के खान-पान से हमारे मनों और व्यवहार में माधुर्य हो। ३. **वयं पुरोहिताः**=हम पुरोहित **राष्ट्रे**=राष्ट्र में **जागृयाम**=सदा जागरूक रहें। ज्ञान-प्रकाश फैलाने का कार्य इनपर ही निर्भर है। ये सो जाएँ, तो राष्ट्र में अन्धकार-ही-अन्धकार हो जाए। एवं, ये राष्ट्र-पुरोहित वानस्पतिक भोजन करनेवाले हों, इनके व्यवहार में अत्यन्त माधुर्य हो, इनके प्रभाव से राजा व प्रजा के जीवन में भी मद्य-मांसादि का प्रवेश न हो और राजा को शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त हो। ५. **स्वाहा**=इस कार्य के लिए पुरोहित स्वार्थ के त्यागवाले हों।

भावार्थ—हम वानस्पतिक भोजन को ही अपनाते हुए शक्ति व ज्ञान के ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले हों। हमारा व्यवहार अत्यन्त मिठास को लिये हुए हो। मांसाहार मनोवृत्ति को क्रूर बनाता है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

समृद्धि=Prosperity

वाजस्येमं प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट्।
अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिꣳसर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा॥२४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राजा व पुरोहितों के सात्त्विक होने पर **इमाम्**=इस भूमि-माता (राष्ट्र) को **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञान का **प्रसवः**=ऐश्वर्य **शिश्रिये**=आश्रय करता है। सारा राष्ट्र शक्ति-सम्पन्न होता है, इसमें सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश होता है तथा २. **सम्राट्**=राजा **दिवम्**=प्रकाश का **शिश्रिये**=आश्रय करता है **च**=और **इमा**=इन **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों की **शिश्रिये**=(श्रिञ् सेवायाम्) सेवा करता है। राजा अपना मुख्य कर्त्तव्य लोकसेवा समझता है। वह सम्राट् है, राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक। ३. **प्रजानन्**=उत्कृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ यह **अदित्सन्तम्**=राज-कर आदि देने की इच्छा न करते हुए से कर **दापयति**=दिलाता है। यह राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करता है कि सब कोई अपना कर-भाग अवश्य देता रहे। देय कर से कोई बच न सके। ४. **सः**=ऐसा वह राजा **नः**=हमें **सर्ववीरम्**=सब वीरों को प्राप्त करानेवाला **रयिम्**=धन **नियच्छतु**=दे, अर्थात् राजा हमें ऐसा धन प्राप्त कराए, जिस धन से हमारे सन्तान वीर हों तथा उस धन को प्राप्त करके हम विलासग्रसित व क्षीणशक्ति न हो जाएँ। हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग वीरता से पूर्ण बना रहे। ५. **स्वाहा**=वीरता से पूर्ण बनाने के लिए सब राष्ट्रवासी स्वार्थ को त्याग करनेवाले हों।

भावार्थ—राष्ट्र-व्यवस्था ऐसी सुन्दर हो कि सारा राष्ट्र शक्ति व ज्ञान से सुशोभित हो। समझदार राजा ऐसी व्यवस्था करे कि कोई भी कर आदि देने में गड़बड़ न करे। राष्ट्र के सभी व्यक्ति वीर व धन-सम्पन्न हों। मन्त्र में 'सर्ववीर' शब्द को क्रियाविशेषण रक्खें तो अर्थ होगा, धन का इस प्रकार नियमन करें कि धन कहीं केन्द्रित न हो जाए और सभी वीर=समर्थ बने रहें।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'प्रजा-पुष्टि'-वर्धन

वाजस्य नु प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः।
सनेमि राजा परियाति विद्वान्प्रजां पुष्टिं वर्धयमानोऽअस्मे स्वाहा॥२५॥

१. राज्य-व्यवस्था के उत्तम होने पर गत मन्त्र की भावना के अनुसार जब कर आदि देने में कोई किसी प्रकार की ढील नहीं करता तब **नु**=निश्चय से **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञान का **प्रसवः**=ऐश्वर्य **इमा च विश्वा भुवनानि**=इन सब लोकों में **सर्वतः**=सब ओर से—सब दृष्टिकोणों से **आबभूव**=उपस्थित होता है, अर्थात् राज्यव्यवस्था के उत्तम होने पर राष्ट्र के सभी लोग—राष्ट्र के सब प्रान्तों में निवास करनेवाली प्रजाएँ—शरीर, मन व बुद्धि सभी दृष्टिकोणों से उन्नत होती हैं। २. इस राष्ट्र का **विद्वान्**=ज्ञानी—प्रजा की ठीक-ठीक अवस्था को जाननेवाला **राजा**=राष्ट्र का व्यवस्थापक पुरुष **सनेमि**=(नेमि=परिधि) सदा मर्यादानुकूल आचरणवाला होता हुआ **परियाति**=राष्ट्र में चारों ओर गति करता है। 'स

ताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम्'=इस मनुवाक्य के अनुसार यह राष्ट्र के सब कर्मचारियों के कार्यों को स्वयं घूमकर देखा करता है। ३. इस नियमित भ्रमण व निरीक्षण के द्वारा राष्ट्र-व्यवस्था को ठीक रखता हुआ यह राजा **अस्मै**=इन सब प्रजाओं के लिए **प्रजां पुष्टिम्**=सब प्रकार के विकास को (प्र+जा) तथा धन, शक्ति व ज्ञानादि के पोषण को **वर्धयमानः**=बढ़ाता हुआ होता है। राजा के नियमित निरीक्षण से सब कर्मचारी कार्यों को ठीक करते हैं और प्रजाओं का पोषण व शक्तियों का विकास ठीक प्रकार से होता रहता है। ४. **स्वाहा**=इस राजा के लिए प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं अथवा **स्व**=कर रूप में देय धन को **हा**=प्रसन्नतापूर्वक देते हैं, इसे राष्ट्र-यज्ञ में एक आहुति समझते हैं।

भावार्थ—राजा का जीवन अत्यन्त मर्यादित होना चाहिए। उसे राष्ट्र में सर्वत्र भ्रमण करते हुए राष्ट्र-कार्यों का उत्तमता से सञ्चालन करना चाहिए तभी प्रजा की शक्तियों का विकास व पोषण होता है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्यबृहस्पतयः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

राज-विश्वास

सोम॑ꣳराजा॑न॒मव॑से॒ऽग्निम॒न्वार॑भामहे।

आ॒दि॒त्यान्विष्णु॒ꣳसूर्य॑ं ब्र॒ह्माण॑ं च॒ बृह॒स्पति॒ꣳस्वाहा॑॥२६॥

'कैसे व्यक्ति को राजा बनाएँ', इस विषय का वर्णन करते हुए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **अवसे**=रक्षणादि क्रियाओं के लिए **अनु आरभामहे**=पीछे चलते हुए हम उस राजा पर विश्वास करते हैं (आरभ=to rely on)। हमें राजा पर पूर्ण विश्वास है we have full faith (complete confidence) in him=हम उसके विरोध में 'no confidence motion' अविश्वास प्रस्ताव ही पेश नहीं करते रहते। हम उसके बनाये हुए नियमों का ठीक से पालन करते हैं। १. हम उस राजा पर विश्वास करते हैं जो **सोमम्**=गुण-सम्पन्न है, घमण्ड से रहित है तथा क्रूर मनोवृत्तिवाला नहीं है। २. **राजानम्**=जो ज्ञान की दीप्तिवाला है अथवा स्वास्थ्य के कारण चमकता है तथा प्रजा के जीवन को बड़ा व्यवस्थित=regulated करनेवाला है। ३. **अग्निम्**=जो प्रगतिशील है, उत्तम नेतृत्व देनेवाला है। ४. **आदित्यान्**=जो सदा उत्तमता का आदान करनेवाला है अथवा अग्निवत् शत्रुओं का दाहक है (आदानात् आदित्यः)। ५. **विष्णुम्**=जो व्यापक व उदार मनोवृत्तिवाला है। ६. **सूर्यम्**=(सूरिषु विद्वत्सु भवम्) सदा विद्वानों के सम्पर्क में रहनेवाला है। ७. **ब्रह्माणम्**=जो चतुर्वेदवेत्ता है अथवा उत्पादक (creator) है—सदा उत्पादन के कार्यों में रुचिवाला है। **च**=और ८. **बृहस्पतिम्**= सर्वोच्च दिशा का अधिपति है, अर्थात् अत्यन्त उच्च जीवनवाला है। **स्वाहा**=ऐसे राजा के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और ऐसे राजा के लिए ही हम **स्व+हा**=अपने धन का नियत अंश कररूप में देते हैं। इन गुणों से युक्त राजा सच्चा 'तापस'=तपस्वी है। यही मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—राजा के लिए सोमादि गुण-सम्पन्न होना आवश्यक है। ऐसे राजा में ही प्रजा पूर्ण रूप से विश्वास करती है और उसे उचित कर प्रदान करती है।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अर्यमादिमन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मन्त्रिवर्ग-प्रेरण

अ॒र्य॒मण॒ं बृह॒स्पति॒मिन्द्र॒ं दाना॑य चोदय।

वाच॒ं विष्णु॒ꣳसर॑स्वती॒ꣳसवि॒तार॑ं च वा॒जिन॒ꣳस्वाहा॑॥२७॥

गत मन्त्र के राजा को चाहिए कि वह १. **अर्यमणम्**=(अरीन् यच्छति) चोर आदि राष्ट्र के शत्रुओं का नियमन करनेवाले न्यायसचिव को २. **बृहस्पतिम्**=(बृहतां पतिम्) बड़े-बड़े मन्त्रियों के भी पति मुख्यमन्त्री को ३. **इन्द्रम्**=(इदि परमैश्वर्ये) अर्थसचिव को ४. **वाचम्**=वेदवाणी में निपुण धर्मसचिव (पुरोहित) को ५. **विष्णुम्** (विष्लृ व्याप्तौ) विदेश-सचिव को ६. **सरस्वतीम्**=शिक्षासचिव को, ज्ञान का विस्तार करनेवाले को ७. **सवितारम्**=(सु=उत्पन्न करना) उद्योग व व्यापार-सचिव को **च**=और ८. **वाजिनम्**=संग्रामों के विजेता सेना-सचिव को **दानाय**=(दाप् लवणे) राष्ट्र में उत्पन्न बुराईरूप घास-फूस को काटने के लिए और इस प्रकार (दैप् शोधने) राष्ट्र की शुद्धि के लिए **चोदय**=प्रेरित करे। राजा सदा अपने मन्त्रिमण्डल को यही प्रेरणा देता रहे कि वे राष्ट्र में कहीं भी बुराइयों को उत्पन्न न होने दें और जीवन को सदा शुद्ध बनाने का प्रयत्न करें। राष्ट्र में कहीं भी भ्रष्टाचार (corruption) आदि शब्द तो सुनाई ही न पड़े। ९. **स्वाहा**=ऐसे राजा के लिए हम सदा प्रशंसात्मक शब्द कहें और कर आदि के रूप में अपने धन का त्याग करें।

भावार्थ—राजा के मन्त्रिमण्डल में, **'सचिवान् सप्त चाष्टौ वा'** इस मनु के शब्दों के अनुसार आठ मन्त्री हैं। राजा उन्हें सदा राष्ट्र-शोधन की प्रेरणा देता रहे।

ऋषिः—तापसः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रजा पर प्रीति

अग्नेऽअच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव।

प्र नो यच्छ सहस्रजित् त्वꣳहि धनदाऽअसि स्वाहा॥२८॥

प्रजा राजा से कहती है कि १. **अग्ने**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाले राजन्! आप **इह**=इस राष्ट्र में **नः अच्छ**=हमारी ओर अर्थात् हमें लक्ष्य करके **आवद**=सब विषयों का उत्तम ज्ञान दो। राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानी बने, राष्ट्रोन्नति की बातों को समझे और राष्ट्र के लिए सदा वैयक्तिक स्वार्थों को छोड़ने के लिए उद्यत हो। २. **नः प्रति**=हमारे—प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **भव**=होओ। राजा प्रजा को अपने पुत्रतुल्य समझे, उनकी रक्षा के लिए सदा उद्यत हो। ३. हे **सहस्रजित्**=शतशः धनों के विजेता राजन्! तू **नः प्रयच्छ**=हमें उत्तम धन देनेवाला हो। राजा व्यापार आदि की इस प्रकार सुव्यवस्था करे कि राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति अपनी जीविका कमाने में असमर्थ न रहे। हे राजन्! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **धनदाः**=धन देनेवाले **असि**=हो। वस्तुतः राज्य-व्यवस्था के ठीक न होने पर धनार्जन बड़ा कठिन हो जाता है। मात्स्यन्याय में जिस प्रकार छोटी मछली के लिए जीना सम्भव नहीं होता उसी प्रकार राष्ट्र-व्यवस्था के ठीक न होने पर छोटे व्यापारी के लिए जीना कठिन हो जाता है। बड़े-बड़े पनपते हैं तो छोटे उजड़ते हैं। राष्ट्र में 'अति सम्पन्न और अति विपन्न' इन दो श्रेणियों का निर्माण होकर राष्ट्र की अधोगति होती है। ४. **स्वाहा**=उत्तम व्यवस्था करनेवाले राजा के लिए हम **स्व**=धन का **हा**=त्याग करें, उचित कर आदि के देनेवाले हों।

भावार्थ—जैसे एक पिता सब पुत्रों का ध्यान करता है, इसी प्रकार राजा सारी प्रजा पर प्रीतिवाला हो और सभी को जीविकोपार्जन में सक्षम बनाये।

ऋषिः—तापसः। देवता—अर्यमादिमन्त्रोक्ताः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

निर्धनता व अज्ञान का निरसन

प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः। प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा॥२९॥

गत मन्त्र में धनदाः='हे राजन्! आप ही धन देनेवाले हो' ऐसा कहा था। उसी को कुछ विस्तार से कहते हैं कि १. नः=हमें **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाला राजा **प्रयच्छतु**=प्रकृष्ट धन देनेवाला हो। राजा हमें ऐसा धन दे जिसे प्राप्त करके हम काम-क्रोधादि शत्रुओं के विजेता बनें। यह धन हमें व्यसनी बनानेवाला न हो २. **पूषा**=सारे राष्ट्र का पोषण करनेवाला राजा **प्र**=हमें प्रकृष्ट धन प्राप्त कराये, अर्थात् प्रजा में प्रत्येक व्यक्ति को पोषण के लिए पर्याप्त धन अवश्य प्राप्त हो। ३. **बृहस्पतिः**=सर्वोच्च दिशा का अधिपति (ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिः) नः=हमें उत्तम धन को **प्र**=खूब ही प्राप्त करानेवाला हो। यह बृहस्पति अपना ज्ञानरूप उत्तम धन हमें दे, जिससे हमारा जीवन अधिकाधिक पवित्र हो। ५. **वाग्देवी**=वाणी की अधिदेवता **नः**=हमें **प्रददातु**=खूब ही ज्ञान देनेवाली हो। राष्ट्र में ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर सके। प्रत्येक व्यक्ति पर 'सरस्वती' की कृपा हो, अर्थात् राष्ट्र में कोई अविद्वान् न हो। ६. **स्वाहा**=इस प्रकार से व्यवस्था करनेवाले राजा के लिए हम (सु+आह) प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और उचित कर देते हैं (स्व+हा)।

भावार्थ—राष्ट्र में कोई निर्धन व अतिधनी न हो। राष्ट्र में कोई अविद्वान् न हो। इस प्रकार से व्यवस्था करनेवाला राजा ही प्रशंसनीय है।

ऋषिः—तापसः। देवता—सम्राट्। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

राज्याभिषेक

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रियें दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ ॥३०॥

पुरोहित राजा का अभिषेक करता हुआ कहता है कि १. **त्वा**=तुझे **असौ**=वह मैं **साम्राज्येन**=साम्राज्य के हेतु से **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। तुझे इस सिंहासन पर बिठाते हैं, इसलिए कि राष्ट्र का सारा कार्यक्रम बड़े व्यवस्थित (regulated) प्रकार से चले। यह व्यवस्थित ही नहीं, सम्यग् व्यवस्थित हो। २. **त्वा** =तुझे **सवितुः देवस्य**=प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=आज्ञा में **दधामि**=धारण करता हूँ। तू इस सिंहासन पर बैठकर प्रभु की वेदोपदिष्ट नीति से राज्य का शासन कर। ३. मैं तुझे **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=(बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्नों के हेतु से **दधामि**=इस गद्दी पर बिठाता हूँ। 'प्राण' का काम शक्ति का धारण है—तूने भी राष्ट्र को शक्ति-सम्पन्न बनाना है। 'अपान' का काम दोषों का दूरीकरण है—तुझे भी राष्ट्र में से मलों व बुराइयों को समाप्त करना है। ४. **पूष्णः**=पूषा के **हस्ताभ्याम्**=हाथों के हेतु से मैं तुझे इस गद्दी पर बिठाता हूँ, अर्थात् तूने राष्ट्र में ऐसी सुन्दर व्यवस्था करनी है कि राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति अकर्मण्य न हो और साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो। संक्षेप में प्रत्येक व्यक्ति अपनी कार्यक्षमता के अनुसार कार्य करे और आवश्यकतानुसार उसे धन प्राप्त हो। वस्तुतः यही समाजवाद का सिद्धान्त है जो प्रत्येक घर में लागू होता है—'इसी सिद्धान्त को राष्ट्र में भी लागू करना' राजा का कर्त्तव्य है। ५. **सरस्वत्यै**=सरस्वती के लिए मैं तुझे इस सिंहासन पर बिठाता हूँ। राष्ट्र में सर्वत्र विद्या के प्रसार के लिए तुझे गद्दी पर बिठाया गया है। ६. **वाचो यन्तुः**=वेदवाणी के अर्थ का नियमन करनेवाले, अर्थात् वेदार्थ के स्पष्ट करनेवाले **बृहस्पतेः**=(ब्रह्मणस्पतेः) चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् के **यन्त्रिये**=नियमन में मैं तुझे **दधामि**=स्थापित करता हूँ। प्रत्येक राजा किसी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण के नियन्त्रण में होना चाहिए तभी वह राजा ग़लतियाँ न करता हुआ राष्ट्र

की उत्तम रक्षा करनेवाला होता है।

भावार्थ—राजा विद्वान् आचार्य के नियन्त्रण में रहता हुआ राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था करे।

ऋषिः—तापसः। देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। छन्द—स्वराडतिधृतिः स्वरः—षड्जः॥

'अग्निः, अश्विनौ, विष्णुः, सोमः' उज्जिति=उत्कृष्ट विजय

अ॒ग्निरेका॑क्षरेण प्रा॒णमुद॑जय॒त्तमुज्जे॑षम॒श्विनौ॒ द्व्य॑क्षरेण द्वि॒पदो॑ मनु॒ष्या॒नुद॑जयतां॒ तानुज्जे॑षं॒ विष्णु॒स्त्र्य॑क्षरेण॒ त्रीँल्लो॒कानुद॑जय॒त्तानुज्जे॑ष॒ꣳ सोम॒श्चतु॑रक्षरेण॒ चतु॑ष्पदः प॒शूनुद॑जय॒त्तानुज्जे॑षम्॥३१॥

१. **अग्निः**=(अग्रेणीः) आगे बढ़ने की मनोवृत्तिवाला—सारे राष्ट्र का सञ्चालक राजा **एकाक्षेरण=(व्याहरन्)** 'ओम्' इस अद्वितीय अक्षर के जप से **प्राणम्**=प्राण को **उदजयत्**=जीतता है। **तम्**=उस प्राण को **उज्जेषम्**=मैं भी जीतूँ। 'ओम्' के जप से मनुष्य वासनाओं से बचा रहता है और वासनाओं का शिकार न होने से इसकी प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है। यही 'एक अक्षर से प्राणों का विजय' है। आगे बढ़ने की वृत्तिवाले 'अग्नि' के लिए यह आवश्यक है। बिना प्रणव-जप के किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। २. **अश्विनौ**=प्राण और अपान **द्व्यक्षरेण**=दो व्यापक सिद्धान्तों से (अश् व्याप्तौ), अर्थात् विद्या और श्रद्धा से **द्विपदः मनुष्यान्**=दो पाँववाले मनुष्यों को (पद् गतौ)—द्विविध गतिवाले मनुष्यों को **उदजयताम्**=उन्नत करते हैं—उत्कृष्ट विजयवाला करते हैं। **तान् उज्जेषम्**=मैं इन मनुष्यों को जीत जाऊँ, अर्थात् श्रद्धा व विद्या-सम्पन्न पुरुषों में मेरा स्थान प्रमुख हो। ३. 'ओम्' का जप करनेवाला विषयों में न फँसकर प्राणशक्ति का विजय करता है तथा प्राणापान की साधना करनेवाला श्रद्धा व विद्या-सम्पन्न होकर 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करनेवाले मनुष्यों को जीत जाता है, अर्थात् उनका अग्रणी बनता है। अब यह **'विष्णुः'** (विष्लृ=व्याप्तौ) व्यापक उन्नति करनेवाला बनता है और **त्रि अक्षरेण**=तीन व्यापक तत्त्वों के द्वारा मस्तिष्क में 'प्रज्ञा', मन में 'उत्साह' और शरीर में 'बल' के द्वारा यह **त्रीन् लोकान्**=तीनों लोकों को **उदजयत्**=जीतता है। आध्यात्म में ये तीन लोक 'शरीर, मन और बुद्धि' हैं। **तान् उज्जेषम्**=मैं भी इन तीनों लोकों का विजय करनेवाला बनूँ। मेरा शरीर बल-सम्पन्न हो तो मन उत्साहमय हो और मस्तिष्क प्रज्ञा से पूर्ण हो। ४. इस व्यापक उन्नति को करनेवाला मैं **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला—विनीत बनूँ। यह सोम **चतुरक्षरेण**='साम, दाम, भेद व दण्ड' इन चार व्यापक सिद्धान्तों के द्वारा **चतुष्पदः पशून्**=चार पाँववाले, चारों ओर भटकनेवाले पशुओं को भी **उदजयत्**=जीत जाता है। **तान् उज्जेषम्**=मैं भी इनको जीतनेवाला बनूँ। सोम होता हुआ मैं सभी का विजेता होऊँ। विजय के लिए मैं क्रमशः 'साम, दान, भेद व दण्ड' इन उपायों का प्रयोग करूँ।

५. यहाँ मन्त्र में चारों वाक्यों के कर्तृपदों का क्रम यह है—'अग्नि, अश्विनौ, विष्णु, सोम'। एक वाक्य में कहें तो अर्थ यह होगा कि 'आगे बढ़नेवाला (अग्नि) प्राणापान की (अश्विनौ) साधना करता है और शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दृष्टिकोणों से व्यापक उन्नति करता हुआ यह (विष्णु) अधिक-से-अधिक विनीत (सोम) होता है।

६. मन्त्र के करणपदों का क्रम यह है 'एकाक्षरेण—द्व्यक्षरेण—त्र्यक्षरेण—चतुरक्षरेण' इनके अर्थ एक वाक्य में इस प्रकार होंगे कि—मनुष्य एकाक्षर 'ओम्' का सतत जप करता हुआ द्व्याक्षर 'श्रद्धा व विद्या' को विकसित करने के लिए यत्नशील हो। 'इसका मस्तिष्क प्रज्ञा से परिपूर्ण हो तो इसका हृदय सदा उत्साहमय हो और शरीर में यह बल-सम्पन्न हो।

इस प्रकार निज जीवन को उन्नत बनाकर यह अपने व्यावहारिक जीवन में 'साम, दाम, भेद व दण्ड' का ठीक प्रयोग करता हुआ सभी को अपने वश में करनेवाला हो। ७. मन्त्र के कर्मपदों का क्रम यह है 'प्राणम्—द्विपदो मनुष्यान्—त्रीन् लोकान्—चतुष्पदः पशून्' इनका अभिप्राय यह है कि हम प्राण का विजय करें। प्राणों की साधना करके मस्तिष्क में विद्या तथा हृदय में श्रद्धा का विकास करें तब अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाले मनुष्यों को जीत जाएँगे। इस विद्या व श्रद्धा का परिणाम हमारे जीवन पर यह होगा कि हमारा शरीर सबल होगा, हृदय सोत्साह तथा मस्तिष्क सप्रज्ञ (बुद्धियुक्त)। इस प्रकार त्रिविध उन्नति करके हम तीनों लोकों का विजय कर रहे होंगे। यह विजय हमें इस योग्य बनाएगी कि हम चतुष्पद पशुओं पर भी सामादि उपायों द्वारा विजय पाएँगें।

भावार्थ—हमारा जीवन क्रमशः उन्नति करता हुआ विजयी और विजयी ही बनता चले।

ऋषिः—तापसः। देवता—पूषादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—कृतिः। स्वरः—निषादः॥

पूषा—सविता—मरुतः—बृहस्पतिः

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिशऽउदजयत्ताऽउज्जेषꣳसविता षडक्षरेण षड्तूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम्॥३२॥

१. **पूषा**=अपना पोषण करनेवाला **पञ्च**=पाँच **अक्षरेण**=व्यापक तत्त्वों के द्वारा पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश की अनुकूलता के द्वारा **पञ्च दिशः**=पाँचों दिशाओं को **उदजयत्**=जीत लेता है, पाँचों दिशाओं में उन्नति करता है। इसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—पार्थिव घ्राणेन्द्रिय, अम्मय रसनेन्द्रिय, तैजस् चक्षु, वायवीय त्वचा और आकाशैकदेशभूत श्रोत्रेन्द्रिय—ठीक प्रकार से विकसित होती हैं—पाँचों कर्मेन्द्रियों का यह ठीक विकास कर पाता है। इसके पाँचों प्राण इसके वश में होकर ठीक-ठीक कार्य करते हैं। इस प्रकार यह सचमुच ही पूषा बन जाता है। इसकी यह कामना पूर्ण होती है कि **ताः उज्जेषम्**=मैं भी इन पाँचों दिशाओं को जीत लूँ। २. **सविता**=सबका प्रेरक तथा सब ऐश्वर्यों से युक्त यह सूर्य **षडक्षरेण**=छह व्यापक शक्तियों के द्वारा—जो शक्तियाँ छह ऋतुओं को पैदा करने का कारण बनती हैं, उन शक्तियों के द्वारा **षट् ऋतून्**=छह ऋतुओं का **उदजयत्**=विजय करता है। **तान् उज्जेषम्**=मैं भी उन छह ऋतुओं का विजेता बनूँ। ये छह-की-छह ऋतुएँ मेरे अनुकूल हों। ऋतु शब्द 'ऋ' गतौ से बनकर छह गतियों का संकेत करता हैं। राजा के क्षेत्र में ये छह गतियाँ 'सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव व समाश्रय' इन शब्दों से कही जाती हैं। सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी पाँच कर्मेन्द्रियों व छठे मन की गतियाँ छह ऋतुओं से अभिप्रेत हैं। समय के अनुकूल उस-उस क्रिया के द्वारा मनुष्य सर्वदा स्वस्थ रह पाता है—कोई भी ऋतु उसके प्रतिकूल नहीं होती। ३. **मरुतः**=(मितराविणः) परिमित बोलनेवाले योगसाधनरत मुनिलोग **सप्ताक्षरेण**=सात व्यापक तत्त्वों के द्वारा **सप्त**=सात **ग्राम्यान् पशून्**=इन्द्रिय-ग्रामों में निवास करनेवाले शीर्षण्य प्राणों को **उदजयत्**=जीत लेते हैं। मैं भी **तान् उज्जेषम्**=इन सप्त शीर्षण्य प्राणों का विजेता बनूँ। 'पशु' शब्द 'दृश्' धातु से बनता है। 'दृश्' की पर्यायभूत धातु 'ऋष' है; जिससे 'ऋषि' शब्द बनता है। एवं, पशु व ऋषि पर्याचवाची हो जाते हैं। इन्हीं सात ऋषियों का उल्लेख **'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'** इस मन्त्र में है। शरीर पञ्चभूतों का बना होने से पञ्चभौतिक ग्राम-सा है। उस ग्राम में रहनेवाले **'कर्णाविमौ नासिके अक्षणी मुखम्'** ये सप्त शीर्षण्य प्राण हैं। मितरावी मुनि इनका विजय करते हैं।

मुख्यरूप से ये सात कहलाते हैं। इनकी साधना से सप्त ऋषि स्वस्थ रहते हैं। ४. **बृहस्पतिः**=सर्वोच्च दिशा का अधिपति **अष्टाक्षरेण**=आठ व्यापक तत्त्वों के द्वारा 'पञ्चभूत तथा अहंकार, महान् व अव्यक्त' इस अष्टधा प्रकृति के द्वारा **गायत्रीम्**=(गायाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणरक्षा का **उदजयत्**=उत्कृष्ट विजय करता है **ताम्**=उस प्राणरक्षा को मैं भी **उज्जेषम्**=जीतनेवाला बनूँ। पञ्चभूतों की विजय से अन्नमय व प्राणमयकोशों का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। स्थूल भूत अन्नमयकोश में काम करते हैं तो सूक्ष्म भूत प्राणमयकोश में। अहंकार के विजय से मनोमयकोश का स्वास्थ्य प्राप्त होता है और महान् के विजय से विज्ञानमयकोश स्वस्थ होता है। अव्यक्त प्रकृति-विजय से आनन्दमयकोश ठीक होता है। इस अष्टधा प्रकृति का विजय ही गायत्री का विजय है।

५. **'पूषा, सविता, मरुतः, बृहस्पतिः'** इन कर्तृपदों से यह बात स्पष्ट है कि पोषण करनेवाला ही ऐश्वर्य का अधिपति होता है और प्राणसाधना करनेवाला मितरावी मुनि ही सर्वोच्च दिशा का अधिपति बनता है। ६. मन्त्र के **'पञ्च दिशा, षड् ऋतून्, सप्त ग्राम्यान् पशून् तथा गायत्रीम्'** इन कर्मपदों का उपदेश यह है कि (क) पाँचों दिशाओं में उन्नति करनेवाला, अर्थात् पृथिवी आदि सभी भूतों को अपने अनुकूल बनानेवाला ही सब ऋतुओं का विजेता बनता है। (ख) और सप्त शीर्षण्य प्राणों का विजेता ही अष्टधा प्रकृति का विजय कर पाता है। ७. मन्त्र के करणपदों का संकेत स्पष्ट है कि हम (क) शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय व पाँच प्राण सभी दिशाओं में उन्नति करें (ख) अपने जीवन में पाँचों कर्म-इन्द्रियों व मन—इन छह-की-छह गतियों को ठीक करें। (ग) सप्त शीर्षण्य प्राणों को सप्त मरुतों की साधना से ठीक रक्खें। (घ) **'पञ्चभूत, अहंकार, महान् व अव्यक्त'** इस अष्टधा प्रकृति की अनुकूलता का सम्पादन करें।

भावार्थ—हमें अपने जीवनों में क्रमशः उन्नति करते हुए 'पूषा, सविता, मरुतः व बृहस्पति' बनना है।

ऋषिः—तापसः। देवता—मित्रादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—कृतिः। स्वरः—निषादः॥

मित्र—वरुण—इन्द्र—विश्वेदेवाः

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषं वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्द्रऽएकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषं विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम्॥३३॥

१. **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु से अपने को बचानेवाला **नवाक्षरेण**=नौ व्यापक तत्त्वों के हेतु से—(पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों में जिह्वा के दोनों ओर होने से कुल नौ ही गिनते हैं) इन नौ इन्द्रियों की शक्ति के हेतु से **त्रिवृतं स्तोमम्**=त्रिगुणित 'सत्त्व, रज व तम्' अथवा वात, पित्त व कफ़ इन गुणों के समुदाय को **उदजयत्**=जीत लेता है। **तम्**=उस 'त्रिगुणित गुण समुदाय' को मैं भी **उज्जेषम्**=जीतनेवाला बनूँ। 'सत्त्व, रज व तम्' 'स्तोम' इसलिए हैं कि ये परस्पर मिले होते हैं और 'उत्तम, मध्यम, निकृष्ट' भेद से त्रिगुणित होकर ये नौ हो जाते हैं। इनके ठीक कार्य करने पर सब इन्द्रियाँ ठीक रहती हैं। इन्द्रियों का ठीक रहना ही स्वास्थ्य है, रोगों से बचना है। एवं, मित्र=रोगों से अपने को बचानेवाला इस त्रिवृत् स्तोम को जीतने का ध्यान करता है। २. **वरुणः**=श्रेष्ठ अथवा (वारयति) रोगों का निवारण करनेवाला, रोगों को उत्पन्न ही न होने देनेवाला **दशाक्षरेण**=दस व्यापक तत्त्वों के द्वारा अर्थात् 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल,

देवदत्त, धनञ्जय' इन दस प्राणशक्तियों की साधना के द्वारा **विराजम्**=विशिष्ट दीप्ति को **उदजयत्**=जीतता है **ताम्**=उस विशिष्ट दीप्ति को **उज्जेषम्**=मैं भी विजय करूँ। वस्तुतः प्राणशक्ति से ही रोग-निवारण सम्भव होता है और इस रोग-निवारण का परिणाम 'स्वास्थ्य की दीप्ति' है, उसे ही यहाँ 'विराज्' कहा गया है। ३. **इन्द्रः**=सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **एकादशाक्षरेण**=दस इन्द्रियाँ व ग्यारहवें मन की व्यापक शक्ति के द्वारा **त्रिष्टुभम्**=काम, क्रोध व लोभ के रोकने को (स्तुभ्=stop) **उदजयत्**=जीतता है, अर्थात् काम, क्रोध व लोभ को अपने में प्रवेश नहीं करने देता। **ताम्**=इस त्रिष्टुभ् को **उज्जेषम्**=मैं भी जीतूँ अर्थात् काम-क्रोधादि को अपने में उत्पन्न न होने दूँ। वैयक्तिक साधना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। ४. अब इन्द्र अर्थात् कामादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला बनकर मैं 'विश्वेदेवाः' बनता हूँ। सब दिव्य गुणों को अपना पाता हूँ। **द्वादशाक्षरेण**=दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन बारह व्यापक शक्तियों के द्वारा **जगतीम्**=सारे लोक को **उदजयन्**=जीत लेते हैं, **ताम्**=उस जगती को **उज्जेषम्**=मैं भी जीतनेवाला बनूँ। मनुष्य मन को वश में करके काम-क्रोधादि को जीतकर शान्ति प्राप्त करता है और बुद्धि का सम्पादन होने पर वह सारे व्यवहार को बुद्धिपूर्वक करता हुआ सारे लोक को अनुकूल बना पाता है। ऐसा कर लेने पर उसमें सब दिव्य गुणों का वास होता है।

५. (क) मन्त्र के कर्तृपदों का बोध यह है कि रोगों से अपने को बचाना, अर्थात् रोगों के साथ संघर्ष करके उनपर विजय पाना आवश्यक है। (ख) उससे भी उत्तम यह है कि हम वरुण बनें, रोगों को आने ही न दें। (ग) इन उद्देश्यों से हम इन्द्र=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें और काम आदि आसुर वृत्तियों का विद्रावण करनेवाले हों। इन वृत्तियों को दूर करके हम (घ) **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों को अपने में विकसित करें। ६. कर्मपदों का बोध इस रूप में है कि (क) परस्पर सम्बद्ध सत्त्व, रज व तम के स्तोमों को जीतकर हम (ख) नीरोग बनकर विशिष्ट दीप्तिवाले हों। शारीरिक दृष्टि से हम स्वास्थ्य की चमकवाले हों। (ग) अब काम, क्रोध व लोभ को जीतकर इन्हें अपने से पूर्णरूप से दूर करके (घ) सम्पूर्ण जगती के प्रिय बनें।

७. करणपदों का बोध यह है कि हम (क) सब इन्द्रियों के स्वास्थ्य का सम्पादन करें। (ख) दश प्राणों को स्वाधीन करें। (ग) इन्द्रियरूप घोड़ों को मनरूप लगाम द्वारा वशीभूत करके (घ) मनरूप लगाम को भी बुद्धिरूप सारथि द्वारा थामनेवाले हों, अर्थात् हमारे जीवनों में बुद्धि का सर्वोपरि महत्त्व हो।

भावार्थ—हम क्रमशः 'मित्र, वरुण, इन्द्र व विश्वेदेवाः' बनने का यत्न करें।

ऋषिः—तापसः। देवता—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—निचृज्जगती [क], निचृद्धृतिः [र]। स्वरः—निषादः [क], ऋषभः [र]॥

वसवः—रुद्राः—आदित्याः—अदितिः—प्रजापतिः

[क]वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषꣳ रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमादित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳ स्तोममुदजयँस्तामुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ॥३४॥

१. **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले वसु ब्रह्मचारी **त्रयोदश अक्षरेण**=तेरह अविनाशी व व्यापक तत्त्वों से **त्रयोदशं स्तोमम्**=तेरह के समूह को—अर्थात् इन्द्रियरूप नव द्वारों तथा मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार को **उदजयत्**=जीत लेते हैं। मैं भी **तम्**=नव द्वारों

तथा अन्तःकरण चतुष्टय को **उज्जेषम्**=जीत लूँ। वस्तुतः उत्तम निवास के लिए इन सबका ठीक होना आवश्यक है। २. **रुद्राः**=(रुत् + र) ज्ञान देनेवाले रुद्र ब्रह्मचारी **चतुर्दश अक्षरेण**= चौदह व्यापक शक्तियों के द्वारा **चतुर्दशं स्तोमम्**=चौदह के समूह को, दश इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ) तथा मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार को **उदजयन्**=जीत लेते हैं। **तम्**=उस समूह को **उज्जेषम्**=मैं भी जीत लूँ। ३. **आदित्याः**=सब स्थानों से उत्तमताओं का ग्रहण करनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी **पञ्च दशाक्षरेण**=पन्द्रह व्यापक शक्तियों के द्वारा **पञ्चदशं स्तोमम्**=दश इन्द्रियाँ—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा हृदय के समूह को **उदजयन्**=जीत लेते हैं **तम्**=उस समूह को मैं भी **उज्जेषम्**=जीत लूँ। ४. **अदितिः** =अदीना देवमाता **षोडश अक्षरेण**=सोलह व्यापक शक्तियों के द्वारा **षोडशं स्तोमम्**=सोलह के समूह को—शरीर में निवास करनेवाली सोलह कलाओं को **उदजयत्**=जीत लेती है **तम्**= उस सोलह कलाओं के समूह को **उज्जेषम्**=मैं भी जीत लूँ। ५. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक अथवा प्रजा—विकास की रक्षा करनेवाला राजा **सप्तदशाक्षरेण**=सत्रह व्यापक शक्तियों के द्वारा **सप्तदशं स्तोमम्**=दस इन्द्रियों, पञ्च प्राण तथा मन व बुद्धि के समूहरूप सूक्ष्म व लिङ्गशरीर को **उदजयत्**=जीत लेता है, **तम्**=मैं भी सत्रह तत्त्वों से बने सूक्ष्म शरीर को **उज्जेषम्**=जीत लूँ। इस शरीर की विजय के बाद ही तो मैं कारणशरीर के विजय के लिए उद्यत होऊँगा। अथवा १. वसु—नव द्वार व अन्तःकरण चतुष्टय की तेरह व्यापक शक्तियों के द्वारा 'सत्याकारास्त्रयोदश' इस वाक्य में कहे गये सत्य के सब रूपों को जीत लेते हैं। मैं भी इसी प्रकार सत्य के त्रयोदश रूपों का विजेता बनूँ। २. रुद्र—दस इन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय की व्यापक शक्तियों के द्वारा चौदह विद्याओं के समूह को जीत लेते हैं। मैं भी चौदह विद्याओं के समूह का विजेता बनूँ (षडङ्गमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणकम्। मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश) ३. आदित्य—दस इन्द्रियाँ अन्तःकरण चतुष्टय तथा हृदय की व्यापक शक्तियों के द्वारा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ व पाँच प्राणों के समूह को जीत लेते हैं। मैं भी इस समूह को जीतूँ। ४. आदित्य सोलह कलाओं की व्यापक शक्तियों के द्वारा सोलह कलाओं का विजय करते हैं। मैं भी इनका विजय करूँ तथा ५. प्रजापति सप्तदश शक्तियों से, अविनाशी तत्त्वों से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन व बुद्धि से बने सूक्ष्मशरीर का विजय करता है। मैं भी इसका विजेता बनूँ।

भावार्थ—१. हमें क्रमशः विकास करते हुए स्वस्थ शरीरवाला **'वसु'**, उत्तम ज्ञान देनेवाला **'रुद्र'**, सब गुणों का अंशदान करनेवाला **'आदित्य'**, कामादि सब शत्रुओं से अखण्डित **'अदिति'** तथा सम्पूर्ण विकासों का स्वामी **'प्रजापति'** बनना है। २. हमें सत्य के तेरह रूपों को, चतुर्दश विद्याओं को, इन्द्रिय दशक व प्राण पञ्चक को, सोलह कलाओं को तथा सत्रह तत्त्वों से बने सूक्ष्मशरीर को जीतना है। यही वस्तुतः सच्ची तपस्या है। इस तपस्या को करनेवाले हम 'तापस' बनते हैं। तापस ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—विराडुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

राजा व मन्त्रीवर्ग

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्यऽउत्तरासद्भ्यः स्वाहा सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्यऽउपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥३५॥

१. राष्ट्र में राजा व सभ्य चुने जाते हैं। चुने जाने के कारण इनका नाम 'वरुण' है (व्रियन्ते)। इनमें सर्वप्रथम राजा का उल्लेख करते हैं कि—हे **निर्ऋते**=('तिग्मतेजा वा निर्ऋतिः' श० ७।८।१।१०) तीव्र तेजवाले राजन्! **एषः**=यह राष्ट्र, यह देश **ते**=तेरा **भागः** (भज्यते सेव्यते कर्मणि घञ्)=सेवनीय है, तूने इस देश की सेवा करनी है। **तं जुषस्व**=तू उस देश की प्रीतिपूर्वक सेवा कर। पूर्ण उत्साह से राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त हो। **स्वाहा**=तू इस राष्ट्र की सेवा के लिए स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। २. इस राजा के पूर्वभाग में वे सभ्य बैठे हैं जो **अग्निनेत्रेभ्यः**=राष्ट्र को उन्नत करने के दृष्टिकोणवाले हैं, जिनका कार्य सदा राष्ट्र की उन्नति के विषय में सोचनामात्र है, जो सदा उन्नति की योजनाएँ (plannings) बनाते रहते हैं। इन **पुरःसद्भ्यः**=पूर्वभाग में बैठनेवालों **देवेभ्यः**=देदीप्यमान मस्तिष्कवालों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. अब **यमनेत्रेभ्यः**=नियन्त्रण के दृष्टिकोणवाले—राष्ट्र में व्यवस्था स्थापित करनेवाले (होम-मिनिस्ट्री के सदस्यों के लिए) **देवेभ्यः**=अनियन्त्रण पर विजय पानेवाले विद्वानों के लिए **दक्षिणा सद्भ्यः**=राजा के दक्षिण पार्श्व में स्थित देवों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। अग्निनेत्र देवों ने आगे और आगे ले-चलना है, अतः अग्रगति की प्रतीक 'प्राची' दिशा उनका स्थान है और नियन्त्रण के द्वारा कार्यकुशलता में वृद्धि करनेवाले देवों की दिशा 'दक्षिण' है—यही दिशा दाक्षिण्य व कुशलता का प्रतीक है। ४. **विश्वदेवनेत्रेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के विकास के दृष्टिकोणवाले **पश्चात् सद्भ्यः**=पश्चिम में स्थित होनेवाले, क्योंकि यही दिशा प्रत्याहार=(फिर से वापस लाने) की प्रतीक है **देवेभ्यः**=देवों के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द बोलते हैं। पश्चिम दिशा 'प्रतीची' कहलाती है। इसमें सूर्यकिरणें 'प्रति अञ्च्' वापस आती हैं। इसी प्रकार इसमें स्थित देवों का कार्य प्रजाओं को विषयों से व्यावृत्त करना है। विषयों से वापस लाकर ही तो ये उन्हें दिव्य गुणोंवाला बनाएँगे। इसी दृष्टिकोण से ये विश्वदेवनेत्र हैं—अर्थात् राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञानी बनाने के दृष्टिकोणवाले हैं। ५. **उत्तरासद्भ्यः**=उन्नति की प्रतीकभूत उत्तर दिशा में बैठनेवाले **मित्रावरुणनेत्रेभ्यः**=प्राणापान की वृद्धि के दृष्टिकोणवाले अथवा स्नेहवर्धन व द्वेष-निवारण के दृष्टिकोणवाले **देवेभ्यः**=देवों के लिए अथवा **मरुन्नेत्रेभ्यः**=सब प्राण-भेदों के वर्धन के दृष्टिकोणवाले देवों के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द कहते हैं। प्राणों की शक्ति की वृद्धि ही सब उन्नतियों का मूल है। ६. अन्त में **सोमनेत्रेभ्यः**=सौम्यता ही जिनका दृष्टिकोण है उन **उपरिसद्भ्यः**=जो राजा के भी ऊपर हैं (जैसे रामचन्द्र के ऊपर वसिष्ठ थे), जिनकी बात राजा भी आज्ञावत् मानता है, उन **दुवस्वद्भ्यः**=प्रभु परिचर्यारत **देवेभ्यः**=विद्वानों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसा के शब्द बोलते हैं। इन्हीं के लिए ४० वें मन्त्र में इस प्रकार के शब्द कहे जाएँगे कि **'एष वो अमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** अर्थात् **अमी**=हे प्रजाओ। **वः**=आपका **एषः**=यह **राजा**=राजा है, परन्तु **अस्माकम्**=हम (ब्रह्मणि स्थितानाम्) सदा ब्रह्म में स्थित होनेवालों का तो **सोमः**=परमात्मा ही **राजा**=राजा व शासक है। एवं, ये प्रभु परिचर्यारत 'दुवस्वत्' लोग 'उपरिसद्' हैं, राजा से भी ऊपर हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र का सबसे बड़ा सेवक है। उसके मन्त्रीवर्ग क्रमशः राष्ट्र की उन्नति, नियन्त्रण, दिव्य गुणवृद्धि, ज्ञान का विस्तार व प्राणशक्ति की वृद्धि करने में लगे हैं। कुछ लोग वे भी हैं जिनका कार्य यह है कि इन सब अधिकारियों को सौम्य बनाये रहें।

ऋषिः—वरुणः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—विकृतिः। स्वरः—मध्यमः॥

राष्ट्र सञ्चालक देव

ये देवाऽअग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवाः सोमनेत्राऽउपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा॥३६॥

१. **ये देवाः**=जो राष्ट्र के व्यवहार के चलानेवाले मन्त्री **अग्निनेत्राः**=राष्ट्र को आगे और आगे ले–चलने के दृष्टिकोणवाले हैं, **पुरःसदः**=जो राजा के पूर्व की दिशा में स्थित होते हैं **तेभ्यः**=उनके लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्द कहते हैं अथवा हम (स्व+हा=) अपने कर–भाग को देते हैं। इसी कर द्वारा प्राप्त आय से ही तो वे राष्ट्रोन्नति की सब योजनाएँ बना सकेंगे। एवं, स्पष्ट है कि राजा ने सबसे पूर्व योजना–मन्त्रियों (Planning Commission) की स्थापना करनी है। 'प्राची' (पूर्व) में इनका स्थान इसलिए है कि यह दिशा 'प्र–अञ्च=आगे बढ़ने का संकेत करती है और इन्हें सदा अपने कार्य का स्मरण कराती है। २. **ये देवाः**=जो देव **यमनेत्राः**=राष्ट्र में नियन्त्रण–स्थापना की दृष्टिवाले हैं **दक्षिणासदः**=दक्षिण दिशा में जिनका स्थान है **तेभ्यः स्वाहा**=उनके लिए भी हम **स्वाहा**=शुभ बोलते हुए अपने नियत कर–भाग को देते हैं। ये मन्त्री व कार्यसचिव राष्ट्र को सुव्यवस्थित करते हुए लोगों की कार्यकुशलता व दाक्षिण्य को बढ़ाते हैं। 'दक्षिण' दिशा इन्हें अपने कार्य का स्मरण कराती रहती है। ३. **ये देवाः**=जो राष्ट्र को ज्ञान की ज्योति से दीप्त करनेवाले **विश्वदेवनेत्राः**=सभी को ज्ञानी व दिव्य गुणोंवाले बनाने के दृष्टिकोणवाले हैं और **पश्चात् सदः**=पश्चिम की ओर बैठे हैं, जिन्हें यह प्रतीची (पश्चिम) दिशा (प्रति–अञ्च्) विषय–व्यावृत्त होने का संकेत दे रही है, **तेभ्यः**=उन देवों के लिए **स्वाहा**= शुभ शब्द बोलते हुए हम अपना कर–भाग देते हैं। ४. **ये देवाः** =जो देव राष्ट्र में सब रोगों को जीतने की कामनावाले हैं (दिव् विजिगीषा) अतएव **मित्रावरुणनेत्राः**=प्राणापान की वृद्धि के दृष्टिकोणवाले हैं अथवा मित्रता व द्वेष–निवारण के दृष्टिकोणवाले हैं **वा**=अथवा **मरुत् नेत्राः**=सब प्राणशक्तियों को बढ़ाने के दृष्टिकोण को अपनाये हुए हैं और **उत्तरासदः**=उत्तर दिशा में स्थित हुए सदा स्मरण करते हैं कि हमें राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को नीरोग बनाते हुए ऊपर और ऊपर उठने की क्षमतावाला बनाना है, **तेभ्यः स्वाहा**=उनके लिए हम शुभ शब्द बोलते हैं और अपना कर–भाग देते हैं। ५. **ये देवाः**=जो देवता—'दैवी सम्पत्ति' को प्राप्त व्यक्ति **सोमनेत्राः**=सौम्यता के दृष्टिकोणवाले हैं, निरभिमानता को प्रचरित करनेवाले हैं, **उपरिसदः**=राजशासन से भी ऊपर हैं, जिनका शासन प्रभु द्वारा ही हो रहा है **दुवस्वन्तः**=जो बहुत प्रकार के धर्म के सेवन से युक्त हैं, **तेभ्यः**=उन जितेन्द्रिय देवों के लिए भी **स्वाहा**=हम शुभ शब्द बोलते हैं और अपना कर–भाग देते हैं। ६. इन उल्लिखित पाँचों सचिवों की सलाह के अनुसार राजा ने राष्ट्र में कार्यों को करना है। इन देवों से प्रेरणा प्राप्त करने से राजा 'देववात' कहलाता है।

भावार्थ—राष्ट्र में राजा ने मन्त्रियों के मन्त्र के अनुसार ही कार्य करना है। राजा स्वच्छन्द नहीं है। सब मन्त्रिवर्ग भी ब्रह्मनिष्ठ लोगों के उपदेशों से सदा सौम्य व निरभिमान बने रहते हैं।

ऋषिः—देववातः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अग्नि

अग्ने सह॑स्व पृत॑नाऽअ॒भिमा॑ती॒रपा॑स्य। दु॒ष्टर॒स्तर॒न्नरा॑ती॒र्वर्चो॑ धा य॒ज्ञवा॑हसि॥३७॥

प्रस्तुत मन्त्र में राजा के मुख्य कार्य का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं कि १. **अग्ने**=हे राष्ट्र को सब दृष्टिकोणों से उन्नत करनेवाले राजन्! **पृतनाः**=(पृङ् व्यायामे, तनु विस्तारे) व्यायाम के द्वारा शक्तियों को विस्तृत करनेवाले लोगों को ही **सहस्व**=सहो, अर्थात् ('षह् मर्षणे'=show mercy) उन्हीं पर आपकी दया हो, अर्थात् राष्ट्र में अकर्मण्य लोगों के लिए स्थान न हो। राष्ट्र में सभी व्यक्ति कार्यों में लगे हों। २. **अभिमातीः**=अभिमान से भरे लोगों को, अर्थात् अन्याय मार्गों से अर्जित धन के गर्व में सब कार्य नौकरों से करानेवाले, स्वयं अभिमान के मद में चूर होने के कारण आराम का जीवन बितानेवाले लोगों को **अपास्य**=राष्ट्र से दूर (अप) अस्य=फेंक दे। अकर्मण्य धनियों का राष्ट्र में स्थान न हो। ३. **दुष्टरः**=हे सब विघ्नों व बुराइयों को तैर जानेवाले राजन्! **अरातीः**=(अ=न रातिः=देना) राष्ट्र के लिए उचित कर आदि न देनेवाले लोगों को—**तरन्**=(subdue, destroy, become master of) अभिभूत करते हुए, आप ४. **यज्ञवाहसि**=कर आदि को ठीक प्रकार से देने के द्वारा (यज्=दान) राष्ट्र-यज्ञ के चलाने में सहायक लोगों में **वर्चः**=तेजस्विता को **धाः**=स्थापित कर, अर्थात् राष्ट्र में शक्ति उन लोगों के हाथ में हो जो क्रियाशील हैं, अभिमानरहित हैं और सदा अपने देयभाग को देनेवाले हैं। ऐसा होने पर ही राष्ट्र की उन्नति होगी और राजा भी अपने 'अग्नि' नाम को सार्थक कर पाएगा।

भावार्थ—१. राष्ट्र में क्रियाशील लोगों को ही सहन किया जाए। २. अभिमान में चूर, अन्यायार्जित धन से धनी लोगों को राष्ट्र से निर्वासित कर दिया जाए (अपास्य) तथा ३. उचित कर आदि को न देनेवालों को अभिभूत किया जाए। ४. यज्ञशील लोगों की ही शक्ति को बढ़ाया जाए। धार्मिकों का ही राष्ट्र में प्रभुत्व हो, अधार्मिकों का नहीं।

ऋषिः—देववातः। देवता—रक्षोघ्नः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

रक्षो-वध

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
उ॒पा॒ꣳशोर्वी॒र्ये॑ण जुहोमि ह॒तꣳरक्षः॒ स्वाहा॒ रक्ष॑सां त्वा
व॒धायाव॑धिष्म॒ रक्षो॒ऽव॑धिष्मा॒मुम॒सौ ह॒तः॥३८॥

पुरोहित राज्याभिषेक के समय राजा से कहता है कि १. **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस सर्वप्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में, अर्थात् प्रभु से वेद में उपदिष्ट राजकर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए **जुहोमि**=यह सिंहासन देता हूँ। तूने इस गद्दी पर बैठकर वेदानुकूल ही शासन करना है। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के (बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्न के हेतु से **जुहोमि**=यह सिंहासन देता हूँ। तूने इस सिंहासन पर बैठकर अपनी प्राणशक्ति के अनुसार पूर्ण प्रयत्न से राष्ट्रोन्नति के कार्यों में लगना है। ३. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों के हेतु से **जुहोमि**=तुझे यह सिंहासन सौंपता हूँ। तूने इस गद्दी पर बैठकर अपने हाथों से इस प्रकार के ही कार्य करने हैं जिनसे राष्ट्र का अधिकाधिक पोषण हो। ४. **उपांशोः**=(उपांशुः silence) मौन की **वीर्येण**=शक्ति के हेतु से **जुहोमि**=तुझे यह सिंहासन सौंपता हूँ। राजा व राष्ट्रपति को बहुत बोलनेवाला नहीं होना चाहिए। बोले कम, करे अधिक। ५. तू राष्ट्र-व्यवस्था को

इस प्रकार सुन्दरता से चलानेवाला बन कि **रक्षः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले लोग **हतम्**=नष्ट कर दिये जाएँ। **स्वाहा**=तू इस कार्य के लिए अपनी आहुति देनेवाला हो। **त्वा**=तुझे **रक्षसाम्**=राक्षसी वृत्तिवाले लोगों के **वधाय**=वध के लिए ही इस गद्दी पर बिठाया है। ६. तेरे मुख से तो हमें यही सुनने को मिले कि **अवधिष्म रक्षः**=राक्षस का वध कर दिया गया, **अवधिष्म अमुम्**=उसको मार डाला, **असौ हतः**=अमुक राक्षस मारा गया। आपस्तम्ब ऋषि के **'प्रजापालनदण्डयुद्धानि'** ये शब्द यही कह रहे हैं कि राजा प्रजा की रक्षा करे। प्रजा की रक्षा के लिए राज्य के अन्तर्गत राक्षसों को दण्ड दे और बाह्य राक्षसों से युद्ध करे।

भावार्थ—राजा का मौलिक कर्त्तव्य 'रक्षो-वध' है। राक्षस वे हैं जो अपने रमण के लिए औरों का क्षय करें।

ऋषिः—देववातः। देवता—रक्षोघ्नः। छन्दः—अतिजगती। स्वरः—निषादः॥

देवों का प्रेरण

सविता त्वा सवानाᳬसुवतामग्निर्गृहपतीनाᳬसोमो वनस्पतीनाम्।
बृहस्पतिर्वाचऽइन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्॥३९॥

१. हे राजन्! **सविता**=सबको कर्मों में प्रेरणा देनेवाला यह सूर्य **त्वा**=तुझे **सवानाम्**=यज्ञों के, उत्तमोत्तम कर्मों के लिए **सुवताम्**=प्रेरित करे। जैसे सूर्य स्वयं सब दुर्गन्ध को समाप्त करके प्राणशक्ति का प्रसार कर रहा है, एवं राजा को भी सब बुराइयों को समाप्त करके उत्तम कर्मों को प्रचारित करना है। २. **अग्निः**=अग्नि देवता **गृहपतीनाम्**=गृहपतियों के आधिपत्य में **त्वा**=तुझे **सुवताम्**=प्रेरित करे। जैसे अग्नि के बिना घर के कार्य नहीं चल पाते इसी प्रकार तू भी राज्य के लिए अपरिहार्य हो जाए। अथवा गृहपतियों में तू अग्नि के समान हो। तू इस राष्ट्ररूप गृह का उत्तम पति बन। ३. **वनस्पतीनां सोमः**=जैसे वनस्पतियों में 'सोम' श्रेष्ठ है, इसी प्रकार तू **वनस्पतीनाम्**=(वनसु=उपासना) उपासकों में श्रेष्ठ बन। ४. **वाचः**=वाणी के दृष्टिकोण से तू **बृहस्पतिः**=देवगुरु बृहस्पति के समान हो। ५. तू **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठता के लिए **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बन। ६. **पशुभ्यः**=ज्ञानरहित होने के कारण जो केवल (पश्यन्ति) देखते हैं, विचारते नहीं, उनके लिए **रुद्रः**=तू ज्ञान देनेवाला हो। सारे राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार कर। ७. **मित्रः**=तू सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा सभी को पापों से बचानेवाला (प्रमीतेः त्रायते) हो। ८. **सत्यः**=तू (सत्सु भवः) सदा सज्जनों के सङ्गवाला हो। रद्दी लोग—'अघशंस' लोग—खुशामद आदि के द्वारा तेरे कृपापात्र न बन जाएँ। तू सदा ऐसे खुशामदियों से ही घिरा न रहे। ९. **धर्मपतीनाम्**=धर्म के रक्षकों में तू **वरुणः**=वरुण के समान हो। (क) 'वरुण' द्वेष का निवारण करनेवाला है। राजा ने भी प्रजा की द्वेष-भावना को दूर करना है। (ख) वरुण 'पाशी' है—ये अनृत बोलनेवालों को पाशों में जकड़ देता है। राजा ने भी उचित दण्ड-व्यवस्था से पापों को विनष्ट करना है।

भावार्थ—राजा को मन्त्रवर्णित अपने कर्त्तव्यों का पालन करना है। उसे देवों से प्रेरणा प्राप्त करके उत्तमोत्तम व्यवस्थाओं के द्वारा राष्ट्रोन्नति को सिद्ध करना है।

ऋषिः—देववातः। देवता—यजमानः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

चुनाव

इमं देवाऽअसपत्नᳬसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते
जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष
वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬराजा॥४०॥

पुरोहित चुनाव के समय एकत्र विद्वानों से कहता है कि १. हे **देवाः**=ज्ञान से दीप्त प्रजा के प्रतिनिधियो! **इमम्**=इस निर्दिश्यमान व्यक्ति को **असपत्नम्**=ऐकमत्य से, बिना किसी सपत्न rival के **सुवध्वम्**=चुनो। ऐकमत्य से चुना गया राजा ही सारी प्रजा की शक्ति को अपने में केन्द्रित कर पाता है। वही कुछ कार्य कर पाएगा। २. इसे चुनो **महते क्षत्राय**=क्षतों से त्राणरूप महान् कार्य के लिए। यह राजा राष्ट्र को सब प्रकार के आघातों से बचाएगा। ३. **महते ज्यैष्ठ्याय**=महान् बड़प्पन के लिए। यह राजा राष्ट्र को संसार में उच्च स्थान प्राप्त कराएगा। ४. **महते जानराज्याय**=महान् जनराज्य के लिए। यह राजा जनहित के दृष्टिकोण से ही राज्य करेगा। ५. **इन्द्रस्य इन्द्रियाय**=इन्द्र के वीर्य के लिए। इस राजा ने स्वयं जितेन्द्रिय बनकर शक्ति का सम्पादन किया है। यह राष्ट्र में ऐसा ही वातावरण उत्पन्न करने का ध्यान करेगा कि लोग जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनें। एवं, यह राजा आपसे चुना जाकर (क) राष्ट्र को आघातों से बचाएगा। (ख) ज्येष्ठता प्राप्त कराएगा। (ग) शासन में लोकहित के दृष्टिकोण को अपनाएगा। (घ) और यह प्रयत्न करेगा कि लोग जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनें। ६. अतः आप सब **इमम्**=इसे (इस नामवाले को) **अमुष्यपुत्रम्**=अमुक पिता के पुत्र को **अमुष्यै पुत्रम्**=अमुक माता के पुत्र को **अस्यै विशे**=इस प्रजा के हित के लिए चुनो। ७. **एषः**=आपसे चुना जाकर **अमी**=हे प्रजाओ! यह **वः**=आपका **राजा**=राजा है। आपने इसके आदेशों के अनुसार चलना है। **अस्माकं ब्राह्मणानाम्**=हम ब्राह्मणों का **राजा**=नियन्ता तो **सोमः**=वह सर्वज्ञ शान्त प्रभु ही है। राजा इन ब्रह्मनिष्ठ लोगों के निर्देशानुसार शासन करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—राजा का चुनाव सर्वसम्मति से हो तो अच्छा है। वह राष्ट्र को आघातों से बचाये, ज्येष्ठ बनाये, लोकहित के दृष्टिकोण से राज्य करे और प्रयत्न करे कि लोग इन्द्रियों के दास न होकर शक्ति-सम्पन्न बनें। ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों के कथनानुसार चलें।

॥ इति नवमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

दशमोऽध्यायः

ऋषिः—वरुणः। देवता—आपः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

राजा व प्रजा

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः ॥१॥

इस अध्याय के प्रथम सतरह मन्त्रों का ऋषि 'वरुण' है। 'वरुण' के दो अर्थ हैं (क) जो चुनते हैं, और (ख) जो चुना जाता है। जब चुनाव का समय आता है उस समय **देवाः**=चुनाव में जीतने की कामनावाले (दिव्=विजिगीषा) उम्मीदवार (candidates) **अपः**=प्रजाओं को **अगृभ्णन्**=इकट्ठा करते हैं, उनकी सभा बुलाते हैं, जिससे प्रजाएँ उम्मीदवार के भाषण से उसकी योग्यता व अयोग्यता का आभास ले-सकें। ये प्रजाएँ १. **मधुमतीः**=माधुर्यवाली हैं। इन प्रजाओं के अन्दर कटुता नहीं है। वोट देनेवालों में द्वेषादि के भाव कार्य न करते हों। यदि वे द्वेषादि से प्रेरित होकर चुनाव में भाग लेंगे तो चुनाव ग़लत ही होगा। २. **उर्जस्वतीः**=ये बल और प्राणशक्तिवाली हैं। बीमार व्यक्ति स्वस्थ मन से कार्य नहीं कर सकता। ३. **राजस्वः**=ये राजा को जन्म देनेवाली हैं। इन्हें यह समझ है कि हमें शासन के लिए अपने में से ही एक व्यक्ति को राजा चुनना है। राजा ने कहीं बाहर से नहीं आना। ४. **चितानाः**=ये प्रजाएँ चेतना-संज्ञानवाली हैं, सामान्यतः अपना हिताहित समझती हैं। ५. ये प्रजाएँ वे हैं **याभिः**=जिनसे **मित्रावरुणौ**=मित्र और वरुण का **अभ्यषिञ्चन्**=अभिषेक होता है, अर्थात् उस व्यक्ति को शासनाधिकार सौंपा जाता है जो सबके साथ स्नेह करनेवाला है और द्वेष के निवारण के लिए प्रयत्नशील होता है। प्रजाएँ जिसका चुनाव करें उसकी प्रथम विशेषता यही होनी चाहिए कि यह स्नेह की वृद्धि व द्वेष के दूरीकरण के लिए प्रयत्नशील हो। ६. ये प्रजाएँ वे हैं **याभिः**=जो **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय-विषयों में अनासक्त राजा को **अरातीः**=शत्रुओं के **अतिअनयन्**=पार ले-जाती हैं। जब प्रजाएँ राजा के साथ होती हैं तो राजा के पराजय की आशंका नहीं होती।

भावार्थ—चुनाव की अधिकारिणी प्रजा वह है जो माधुर्यवाली, शक्तिशाली, समझदार, अर्थात् हिताहित को समझनेवाली है तथा राजा बनने के योग्य वह है जो स्नेह, निर्द्वेषता व जितेन्द्रियता से युक्त है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वृषा। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

ये+अमुष्मै

वृष्णऽऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्णऽऊर्मिरसि राष्ट्रदा
राष्ट्रममुष्मै देहि वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥२॥

प्रस्तुत मन्त्र में पुरोहित प्रजा से कह रहा है कि तुम राष्ट्र को पहले मुझे सौंपो और फिर इस राजा को। राष्ट्र को केवल क्षत्रिय के हाथों में नहीं सौंपना है, उसे ब्राह्मण तथा

क्षत्रिय दोनों के हाथों में सौंपना ही ठीक है। १. हे प्रजे! तू **वृष्णः**=अग्नि व सोम का (शक्ति व शान्ति का) **ऊर्मिः**=(ऊर्णुञ् आच्छादने) अपने अन्दर आच्छादन करनेवाली है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली है। प्रजा ही तो राष्ट्र को बनाती है। यह इस राष्ट्र को कुछ व्यक्तियों के हाथ में सौंपती है। पुरोहित कह रहा है कि **राष्ट्रम्**=इस राष्ट्र को **मे देहि**=तुम मुझे सौंपो। **स्वाहा**=और स्व का हा=त्याग करो, अर्थात् उचित कर देनेवाली बनो। **वृष्णः ऊर्मिः असि**=हे प्रजे! तू अग्नि व सोम की आच्छादिका है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली है। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अमुष्मै**=उस सभापतिरूप से चुने गये राज्याभिषिक्त व्यक्ति के लिए **देहि**=सौंप। २. यह राष्ट्र का पुरुषवर्ग **वृषसेनः असि**=शक्तिशाली सेनावाला है। राष्ट्र के नवयुवकों में से ही तो शक्तिशाली सेना का निर्माण होना है। हे वृषसेन! तू **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। बिना सेना के भी राष्ट्र का निर्माण नहीं हो पाता। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **मे**=मुझ पुरोहित के लिए **देहि**=तू सौंप और **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करके राष्ट्र को शक्तिशाली बना। हे पुरुषवर्ग! तू **वृषसेनः असि**=शक्तिशाली सेनावाला है। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अमुष्मै**=अमुक राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए **देहि**=सौंप। ३. विधेय 'प्रजा' शब्द के स्त्रीलिंग होते हुए भी 'वृषसेनः' यह पुल्लिंग का प्रयोग इसलिए है कि सेना पुरुषों में से ही एकत्र होनी है।

भावार्थ—प्रजा अपने में वृषन्, अर्थात् अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों को रक्खे हुए है। प्रजा में उत्साह भी चाहिए, शान्ति भी। प्रजा को ही अपने में से सेना को जुटाना है। यह प्रजा राष्ट्र को पुरोहित तथा सभापति के हाथों में सौंपती है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—अपांपतिः। **छन्दः**—अभिकृतिः[क], निचृज्जगती[र]। **स्वरः**—ऋषभः[क], निषादः[र]॥

ब्रह्म+क्षत्र

[क]अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहार्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे [र]देहि स्वाहाऽपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहाऽपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥३॥

१. हे प्रजाजनो! तुम **अर्थेतः (अर्थं यन्ति) स्थ**=धन को कमानेवाले हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाले हो। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **मे दत्त**=मुझे (पुरोहित को) सौंपो। **स्वाहा**=अपने उचित कर भाग के त्याग करनेवाले बनो। तुम **अर्थेतः स्थ**=धन कमानेवाले हो, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाले हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक चुने गये सभापति के लिए सौंपो। २. **ओजस्वतीः स्थ**=हे प्रजाओ! तुम शक्ति व प्रकाश-(vigour, light)-वाली हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली हो। **राष्ट्रं मे दत्त**=राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए सौंपो। तुम **स्वाहा**=उचित कर देनेवाली हो। **ओजस्वतीः स्थ**=तुम शक्ति व प्रकाशवाली हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक चुने गये राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए सौंपो। ३. **आपः परिवाहिणीः स्थ**=(आप्लृ व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाली तथा (परितः वहन्ति) एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार के पदार्थों को ले-जानेवाली हो। **राष्ट्रदाः**=अपने व्यापार से उचित धनवृद्धि करती हुई तुम राष्ट्र को कर-भाग देनेवाली हो। **राष्ट्रं मे**

दत्त=राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए दो। **स्वाहा**=उचित कर देनेवाली हो। तुम **आपः परिवाहिणीः स्थ**=व्यापक कर्मोंवाली तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर पदार्थों को ले-जानेवाली हो, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक पुरुष के लिए दो। ४. राष्ट्र का एक-एक पुरुष **अपांपतिः असि**=(आपः=रेतांसि) वीर्यशक्ति का रक्षक है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं मे देहि**=तू राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए सौंप और **स्वाहाः**=उचित धन का कर के रूप में त्याग कर। **अपांपतिः असि**=तू अपनी शक्तियों का रक्षक है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रम् अमुष्मै देहि**=राष्ट्र को उस राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए दे। ५. **अपां गर्भः असि**=(गर्भ=full of) तू शक्तियों से परिपूर्ण है। तू ही **राष्ट्रदाः**=वास्तविक राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं मे देहि**=राष्ट्र को मुझे दे, और **स्वाहा**=उसके लिए उचित त्याग करनेवाला बन। **अपां गर्भः असि**=तू शक्तियों से परिपूर्ण है। **राष्ट्रदा**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं अमुष्मै देहि**=राष्ट्र को अमुक पुरुष को देनेवाला बन। ६. ऊपर मन्त्र में '**अर्थेतः, ओजस्वतीः, आपः, परिवाहिणीः**' शब्द बहुवचनान्त हैं ,पर '**अपांपतिः** तथा **अपां गर्भः**' ये एकवचन रक्खे गये हैं, क्योंकि 'एक-एक व्यक्ति को शक्ति की रक्षा करनी है—शक्ति से परिपूर्ण बनना है' इस बात की ओर वैयक्तिक ध्यान खींचना आवश्यक था।

भावार्थ—प्रजाएँ १. धन कमानेवाली बनें। २. शक्ति व प्रकाश को धारण करें। ३. वीर्य की रक्षा करें। और ४. शक्ति से परिपूर्ण हों। ऐसी ही प्रजाएँ एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—सूर्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—जगती[१], स्वराट्पङ्क्तिः[२], स्वराडब्राह्मीबृहती[३,४], आर्चीपङ्क्तिः[५], भुरिक्त्रिष्टुप्[६,७]। **स्वरः**—निषादः[१], पञ्चमः[२,५], मध्यमः[३], धैवतः[६,७]॥

प्रजा

[१]सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा [२]सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [३]व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [४]शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [५]जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [६]विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। [७]मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वानाऽअनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः॥४॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में भी कहते हैं कि हे प्रजाओ! आप १. **सूर्यत्वचसः स्थ**=सूर्य के समान देदीप्यमान त्वचावाली हो। स्वास्थ्य की दीप्ति आपके सारे शरीर को दीप्त कर रही है। २. **सूर्यवर्चसः स्थ**=सूर्य के समान वर्चस्वाली आप हो। उपनिषद् में

कहते हैं कि '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'—यह सूर्य प्रजाओं का प्राण ही है। आप भी उसी प्रकार प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। ३. **मान्दाः स्थ**=सदा प्रसन्न रहनेवाली हो। ४. **व्रजक्षितः स्थः**=(व्रज गतौ) सदा गति में निवास करनेवाली हो—सदा क्रियाशील जीवनवाली हो अथवा (**व्रजान् गवादिस्थित्यर्थान् देशान् क्षियन्ति निवासयन्ति**—द०) गौ आदि पशुओं के स्थानों को बसानेवाले हो। ५. **वाशाः स्थ** (वाशृ शब्दे)=सदा शुभ शब्दों—वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले हो। ६. **शविष्ठाः स्थ**=अत्यन्त बल-सम्पन्न हो (शवस्=बल) ७. **शक्वरीःस्थ**=कार्यों को करने में शक्तिशाली हो। ८. अपनी इस क्रियाशीलता के द्वारा ही **जनभृतःस्थ**=सब लोगों का धारण करनेवाली हो। ९. लोगों का ही क्या, आप **विश्वभृतः स्थ**=सारे संसार का भरण व पोषण कर रही हो। आपके कार्य विश्व के कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित होकर हो रहे हैं। इस प्रकार बनकर आप **राष्ट्रदाः**=एक सच्चे राष्ट्र को देनेवाली हो, **राष्ट्रं मे दत्त**=तुम राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए दो। **स्वाहा**=कर के रूप में उचित धन का त्याग करनेवाली बनो तथा **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली तुम **अमुष्मै राष्ट्रं दत्त**=उस चुने गये राज्याभिषिक्त राजा के लिए राष्ट्र को दो। १०. आप **स्वराजः**=स्वयं अपना शासन करनेवाली **आपः**=सदा कर्मों में व्याप्त हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली आप **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=अमुक चुने गये सभापति के लिए राष्ट्र को दो। यहाँ इस अन्तिम वाक्य में केवल राजा के लिए राष्ट्र को सौंपने का विधान है। वस्तुतः शासन-भार राजा पर ही तो पड़ता है। पुरोहित राजा को मार्ग से विचलित न होने की प्रेरणा देता है। ११. **मधुमतीः**=माधुर्यवाली प्रजाएँ **मधुमतीभिः**=माधुर्यवाली प्रजाओं के साथ **पृच्यन्ताम्**=संपृक्त हों, अर्थात् प्रजाओं का परस्पर प्रेम हो, पारस्परिक प्रेम न होने पर राष्ट्र का बल क्षीण हो जाता है, अतः प्रजाएँ परस्पर मधुर व्यवहारवाली होती हुई **क्षत्रियाय**=राष्ट्र को आघातों से बचानेवाले राजा के लिए **महि क्षत्रम्**=महान् बल को **वन्वानाः**=संभक्त करानेवाली हों। राजा के बल को ये परस्पर एकता से रहती हुई ही बढ़ा सकती हैं। १२. पुरोहित इन प्रजाओं से कहता है कि **सह ओजसः**=एकता के बलवाली तुम **क्षत्रियाय**=राष्ट्र को आघातों से बचानेवाले राजा के लिए **महि क्षत्रं**=महनीय बल को **दधतीः**=धारण करती हुई तुम **अनाधृष्टाः**=किन्ही भी शत्रुओं से धर्षित न होती हुई **सीदत**=इस राष्ट्र में विराजमान होओ।

भावार्थ—प्रजा शक्तिशाली व माधुर्य से पूर्ण हो, परस्पर मेल से राष्ट्र की शक्ति को बढ़ानेवाली हो। ऐसी स्थिति में ही यह शत्रुओं से अनाधृष्य होती है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—स्वराड्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

राजा

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्। अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ घोषा॑य॒ स्वाहा॒ श्लोका॑य॒ स्वाहाꣳशा॑य॒ स्वाहा॒ भगा॑य॒ स्वाहा॑र्य॒म्णे स्वाहा॑॥५॥

प्रजा राजा से कहती है कि १. **सोमस्य त्विषिः असि**=तू सोम की कान्तिवाला है। शरीर में सोम की रक्षा के द्वारा तू अद्भुत तेजस्विता को धारण किये हुए है। **मे**=मेरी **त्विषिः**=दीप्ति **तव इव**=तेरे समान **भूयात्**=हो। हम सब भी सोम की रक्षा के द्वारा कान्ति-सम्पन्न बनें। २. **अग्नये स्वाहा**=राष्ट्र को निरन्तर आगे ले-चलनेवाले तेरे लिए हम कररूप में धन

देते हैं। ३. **सोमाय**=सोम की रक्षा के द्वारा शक्ति के पुञ्ज, परन्तु फिर भी सौम्य आपके लिए हम **स्वाहा**=कररूप में धन देते हैं। ४. **सवित्रे स्वाहा**=राष्ट्र का ऐश्वर्य बढ़ानेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ५. **सरस्वत्यै स्वाहा**=राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ६. **पूष्णे स्वाहा**=एक-एक व्यक्ति का पोषण करनेवाले, किसी को भी भूखा न मरने देनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ७. **बृहस्पतये स्वाहा**=सर्वोच्च दिशा के अधिपति और अतएव लोगों को भी उत्थान की ओर ले-चलनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ८. **इन्द्राय स्वाहा**=जितेन्द्रिय के लिए और जितेन्द्रिय बनकर औरों को भी वश में करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ९. **घोषाय स्वाहा**=प्रातः वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले आपके लिए अथवा राष्ट्र में राष्ट्रीय नियमों की उद्घोषणा करवानेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। १०. **श्लोकाय स्वाहा**=उत्तम कर्मों के कारण यशस्वी आपके लिए हम कर देते हैं। ११. **अंशाय स्वाहा**=राष्ट्र में धनों का ठीक विभाजन करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। राजा को इस बात का बड़ा ध्यान करना है कि किसी एक व्यक्ति में अत्यधिक धन केन्द्रित न हो जाए, और कुछ लोग धनाभाव से भूखे न मरने लगें। उसके राष्ट्र में haves और have-nots के—अत्यधिक धनी व अतिनिर्धन के दो समाजखण्ड न बन जाएँ। १२. **भगाय स्वाहा**=उत्तम कर्मों का सेवन करनेवाले राजा के लिए हम कर देते हैं 'भज सेवायाम्'। १३. **अर्यम्णे स्वाहा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले राजा के लिए हम कर देते हैं। अथवा '**अर्यमा इति तमाहुर्यो ददाति**' इस वाक्य के अनुसार अर्यमा वह है जो देता है। 'भग' शब्द ऐश्वर्यवाचक है, अतः १२ व १३ का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि हम उस राजा को कर देते हैं जो खूब ऐश्वर्य को सिद्ध करनेवाला बनकर हम सब प्रजाओं के लिए ही उस धन का उचित विनियोग करे।

भावार्थ—राजा को अग्नि आदि के गुणों से सम्पन्न होकर उत्तमता से राष्ट्र की सुव्यवस्था करनी है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—आपः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

राष्ट्र के 'स्त्री-पुरुष'

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः ॥६॥

राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों को सम्बोधित करके पुरोहित कहता है कि १. **पवित्रे स्थः**=आप पवित्र जीवनवाले, **वैष्णव्यौ**=व्यापक मनोवृत्तिवाले हो। वस्तुतः इस व्यापक मनोवृत्ति का ही परिणाम है कि वे पवित्र हैं। व्यापकता में ही पवित्रता है, संकोच में अपवित्रता। २. **सवितुः**=उस प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **वः**=तुम्हें **उत् पुनामि**=विषयों से **उत्**=out=बाहर करता हुआ पवित्र करता हूँ। मैं वेद में दिये गये प्रभु के आदेशों के अनुसार व्यवस्था करता हुआ तुम्हारे जीवनों को उज्ज्वल करता हूँ। ३. **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छेदशून्य—कहीं भी खाली स्थान न रखनेवाली इस वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य-किरणों से मैं तुम्हें पवित्र करता हूँ, अर्थात् लोगों के रहने का प्रकार ऐसा हो कि उनके घरों में वायु का पर्याप्त आना-जाना हो और सूर्य-किरणों का खूब प्रवेश हो। ऐसे ही घरों में नीरोगता

रहती है। ४. **अनिभृष्टम् असि**=(अनाधृष्टाः—उ०) तुम किसी भी प्रकार के रोगों से पराभूत नहीं होते हो। ५. **वाचो बन्धुः**=वाणी के तुम बन्धु हो। वेदवाणी को पढ़कर उसे अपने कार्यों में व्यक्त करनेवाले हो। इस प्रकार वेदवाणी को जीवन से बाँधनेवाले हो। ६. **तपोजाः**=तप के द्वारा तुम अपना प्रादुर्भाव—विकास करनेवाले हो। ७. **सोमस्य दात्रम् असि**=सोम की दराँतीवाले हो। शरीर में सुरक्षित सोम रोगों व द्वेषादि भावों को काटनेवाला होता है। ८. **स्वाहा**=तुम राष्ट्र के लिए **स्व**=अपने धन का **हा**=त्याग करनेवाले हो। ९. **राजस्वः**=तुम राजा को जन्म देनेवाली हो। वस्तुतः उल्लिखित गुणों से सम्पन्न प्रजाएँ ही राजा का ठीक चुनाव कर सकती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र का प्रत्येक स्त्री-पुरुष पवित्र बनने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वरुणः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अपां शिशुः

सधमादौ द्युम्निनीराप॑ऽएताऽअनाधृष्टाऽअपस्यो॒ वसा॑नाः।
पस्त्या॒सु चक्रे॒ वरु॑णः सधस्थ॑मपाꣳशिशु॑र्मातृतमास्व॒न्तः॥७॥

प्रजाओं का चित्रण करते हुए कहते हैं कि १. ये **सधमादः**=(सह मद्) साथ—मिलकर रहने में आनन्द लेनेवाली हैं। प्रजाओं में परस्पर प्रेम है—लड़ाई-झगड़ों में ये उलझी हुई नहीं हैं। २. **द्युम्निनीः**=ज्ञानरूप ज्योतिवाली हैं, मूर्ख नहीं है। ३. **आपः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाली हैं। ४. इसी कारण **एताः**=ये प्रजाएँ **अनाधृष्टाः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं से धर्षित होनेवाली नहीं हैं। ५. **अपस्यः**=(अपःसु कर्मसु साध्व्यः, जस्=सुः—द०) कर्मों में उत्तम हैं, अर्थात् सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहती हैं। ६. **वसानाः**=अपने को आच्छादित करनेवाली हैं, दोषों से बचानेवाली हैं। ७. **पस्त्यासु**=घरों में रहनेवाली ऐसी प्रजाओं में **वरुणः**=प्रजाओं से वरण किया गया राजा **सधस्थं चक्रे**=(सह स्थ) उनके साथ मिलकर निवास करता है। यह प्रजाओं से दूर, उनके लिए अनभिगम्य नहीं बन जाता। ८. **अपां शिशुः**=प्रजाओं का ही यह सन्तान है। प्रजाओं ने ही इसे जन्म दिया है। इसी कारण प्रजाएँ 'राजस्वः' कहलाती हैं। यह प्रजाओं का सन्तानभूत राजा **मातृतमासु अन्तः**=इन अत्यन्त उत्तम माताओं के अन्दर ही निवास करता है। राजा एक दृष्टिकोण से प्रजारूप मातावाला है। उन्हीं के गर्भ में इसका निवास है। प्रजाओं को माता इसलिए कहा है कि उन्हें राष्ट्र में सदा निर्माण के कार्यों में व्यापृत रहना चाहिए। **माता निर्माता**=निर्माण करनेवाली ही राष्ट्र की उत्तम माताएँ होती हैं।

भावार्थ—उत्तम प्रजाएँ वे ही हैं जो परस्पर मेलवाली, ज्ञान के प्रकाशवाली, कर्मों में व्यापृत, वासनाओं से अनाधृष्ट, कर्म-कुशल व दोषों से अपने को बचानेवाली हैं। इन्हीं प्रजाओं के अन्दर राजा का निवास है। राजा प्रजाओं की सन्तान है, प्रजाएँ राजा की उत्कृष्ट माताएँ हैं।

ऋषिः—वरुणः। देवता—यजमानः। छन्दः—कृतिः। स्वरः—निषादः॥

क्षत्र का उल्ब

क्षत्रस्योल्ब॑मसि क्षत्रस्य॑ ज॒राय्व॑सि क्षत्रस्य॒ योनि॑रसि क्षत्रस्य॒ नाभि॑र॒सीन्द्र॑स्य॒ वार्त्र॑घ्नमसि मि॒त्रस्या॑सि॒ वरु॑णस्यासि॒ त्वया॒यं वृ॒त्रं व॑धेत्। दृ॒वासि॑ रु॒जासि॑ क्षु॒मासि॑। पा॒तैनं॒ प्राञ्चं॑ पा॒तैनं॑ प्र॒त्यञ्चं॑ पा॒तैनं॑ ति॒र्यञ्चं॑ दि॒ग्भ्यः पा॑त॥८॥

राजा के लिए कहते हैं कि १. हे राजन्! तू **क्षत्रस्य उल्ब असि**='उल्ब' शब्द

गर्भाधारभूत उदक के लिए आता है, अतः तू क्षत्र का उल्ब है, आधारभूत है। राष्ट्र को आघातों से बचानेवाली शक्ति 'क्षत्र' है। राजा उस शक्ति का आधार है। २. **क्षत्रस्य जरायु असि**=क्षत्र का तू गर्भवेष्टन है। यह क्षत्र नामक बल तुझमें सुरक्षित है। ३. **क्षत्रस्य योनिः असि**=क्षत्र का तू उत्पत्ति-स्थान है। ४. **क्षत्रस्य नाभिः असि**=क्षत्र का तू केन्द्र है। उसे अपने में बाँधनेवाला है। ५. **इन्द्रस्य वार्त्रघ्नं असि**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का संहारक है। ६. **मित्रस्य असि वरुणस्य असि**=तू मित्र का है और तू वरुण का है, अर्थात् तू सदा सबके साथ स्नेह करनेवाला है, किसी के भी प्रति द्वेष करनेवाला नहीं है। **त्वया अयं वृत्रं वधेत्**=तेरे साथ मिलकर, तेरे साहाय्य से यह प्रजा-वर्ग भी वृत्र का-काम का संहार करे। ७. हे राजन्! **दृवा असि**=(दृणाति) तू शत्रुओं का विदारण करनेवाला है। **रुजा असि**=रणक्षेत्र में शत्रुओं को भगानेवाला और **क्षुमा असि**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला है। ९. हे प्रजाओ! आप **एनम्** =ऐसे राजा को **प्राञ्चं पात**=पूर्व दिशा से सुरक्षित करो। **एनम्**=इसे **प्रत्यञ्चं पात**=पश्चिम से सुरक्षित करो। **तिर्यञ्चं एनं पात**=इसे एक सिरे से दूसरे सिरे तक (crosswise) सुरक्षित करो। संक्षेप में **दिग्भ्यः पात**=सब दिशाओं से सुरक्षित करो।

भावार्थ—राजा को शक्ति का केन्द्र व पुञ्ज होना चाहिए। यही शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। प्रजाओं को चाहिए कि उसकी सर्वतः रक्षा करें।

ऋषिः—वरुणः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

राजा की योग्यताएँ

आविर्मर्याऽआवित्तोऽअग्निर्गृहपतिरावित्तऽइन्द्रो वृद्धश्रवाऽआवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदाऽआवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥९॥

हे **मर्याः**=मनुष्यो! **आविः**=तुम्हारे सामने यह राजा प्रकटरूप से उपस्थित है। १. **अग्निः गृहपतिः** =राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला, गृहों का रक्षक यह राजा **आवित्तः**=सब ओर प्रसिद्ध है। यह जिस योजना को हाथ में लेता है उसे आगे ले-चलता है—उसमें बड़ी उन्नति कर देता है और राष्ट्ररूप घर का रक्षक प्रमाणित होता है। २. यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय है, **वृद्धश्रवाः**=बढ़ी हुई कीर्तिवाला है अथवा अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानवाला है **आवित्तः**=वह चारों ओर सबसे इसी रूप में जाना गया है। सब लोग इसकी जितेन्द्रियता व उन्नत ज्ञान की चर्चा करते हैं। ३. **धृतव्रतौ मित्रावरुणौ आवित्तौ**=यह व्रतों को धारण करनेवाले मित्र और वरुण के रूप में प्रसिद्ध है। यह स्नेह को फैलानेवाला और द्वेष का दूर करनेवाला होगा। स्नेह और निर्द्वेषता तो मानो इसके व्रत ही हैं। ४. **पूषा विश्ववेदा आवित्तः**=फिर यह इस रूप में प्रसिद्ध है कि यह पोषण करनेवाला है और सम्पूर्ण धनों-(विद् लाभे, वदेस्=धन)-वाला है। यह सभी को पोषण के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराता है। ५. **द्यावापृथिवी आवित्ते**=(द्यावा=मस्तिष्क, पृथिवी=शरीर) इस राजा के मस्तिष्क व शरीर दोनों ही प्रसिद्ध हैं। ज्ञान के दृष्टिकोण से यह ऋषि है तो शरीर के दृष्टिकोण से एक मल्ल। इसका शारीरिक बल व बुद्धि का ज्ञान दोनों ही **विश्वशम्भुवौ**=सब संसार में शान्ति को जन्म देनेवाले हैं। ६. **आवित्ता अदितिः**=यह अदीना देवमाता के रूप में प्रसिद्ध है। यह दीन नहीं है व दिव्य गुणों से विहीन नहीं है। **उरुशर्मा**=विशाल कल्याण को करनेवाला है। यह

राष्ट्र को सम्मान देनेवाला है।

भावार्थ—राजा उसे ही बनाना चाहिए जिसकी प्रसिद्धि इस रूप में हो कि यह 'अग्नि, गृहपति, इन्द्र, वृद्धश्रवाः मित्र, वरुण, धृतव्रत, पूषा, विश्ववेदाः=उत्तम शरीर व मस्तिष्कवाला, सबको शान्ति प्राप्त करानेवाला, अदिति व उरुशर्मा' है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—यजमानः। छन्दः—१० विराडार्षीपङ्क्तिः, ११, १३ आर्चीपङ्क्तिः, १२ निचृदार्ष्यनुष्टुप्, १४ भुरिग्जगती। स्वरः—१०, ११, १३ पञ्चमः, १२ गान्धारः, १४ निषादः॥

नातिमानिता

अवे॑ष्टा दन्द॒शूका॒: प्राची॒मारो॑ह गाय॒त्री त्वा॑वतु
रथन्त॒रꣳसाम॑ त्रि॒वृत् स्तोमो॑ वस॒न्तऽऋ॒तुर्ब्रह्म॒ द्रवि॑णम्॥१०॥
दक्षि॑णा॒मारो॑ह त्रि॒ष्टुप् त्वा॑वतु बृ॒हत्साम॑ पञ्चद॒श स्तोमो॑
ग्री॒ष्मऽऋ॒तुः क्ष॒त्रं द्रवि॑णम्॥११॥
प्र॒तीची॒मारो॑ह॒ जग॑ती त्वावतु वैरू॒पꣳसाम॑ सप्तद॒श स्तोमो॑
व॒र्षाऽऋ॒तुर्विड् द्रवि॑णम्॥१२॥
उदी॑ची॒मारो॑हानु॒ष्टुप् त्वा॑वतु वैरा॒जꣳसामैकवि॒ꣳश स्तोम॑:
श॒रदृ॒तुः फल॒ं द्रवि॑णम्॥१३॥
ऊ॒र्ध्वामारो॑ह प॒ङ्क्तिस्त्वा॑वतु शाक्वररैव॒ते साम॑नी त्रिणवत्रयस्त्रि॒ꣳशौ
स्तोमौ॑ हेमन्तशिशि॒रावृ॒तू वर्चो॒ द्रवि॑ण॒ं प्रत्य॑स्त॒ं नमु॑चे॒: शिर॑:॥१४॥

१. हे राजन्! तू राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था कर कि **दन्दशूकाः**=औरों को अकारण ही डसनेवाले सर्पवृत्ति के लोग, कुटिल चाल से चलनेवाले औरों को पीड़ित करनेवाले लोग **अवेष्टाः**=(अवयज=नाशि) नष्ट कर दिये जाएँ, राष्ट्र में ऐसे लोग न पनप पाएँ। इसके लिए तू निम्न प्रयत्न कर—२. **प्राचीम् आरोह**=पूर्व दिशा में आरूढ़ हो। यह 'प्राची' दिशा (प्र+अञ्च्) आगे बढ़ने की दिशा है। तू अग्रगति का अधिपति बन। यदि तू निरन्तर आगे बढ़ने का ध्यान रखेगा तो **दक्षिणाम् आरोह**=दक्षिण का आरोहण करनेवाला होगा, अर्थात् तू प्रत्येक कार्य को करने में दक्षिण=कुशल बन पाएगा। यह कार्य-कुशलता तेरे ऐश्वर्य-वृद्धि का कारण बनेगी। उस समय तूने **प्रतीचीम् आरोह**=प्रतीची का आरोहण करना है। प्रतीची अर्थात् प्रति-अञ्च्=वापस होना—विषयों में न फँस जाना, अर्थात् विषय-व्यावृत्त होना—प्रत्याहार का पाठ पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने पर तू **उदीचीम् आरोह**=उत्तर दिशा का आरोहण करनेवाला होगा, अर्थात् तेरी उन्नति प्रारम्भ होगी और एक दिन **ऊर्ध्वाम् आरोह**=तू सर्वोच्च दिशा पर आरूढ़ हुआ होगा। ३. इस उल्लिखित मार्ग पर चलने से तुझे क्रमशः **ब्रह्म द्रविणम्**=ज्ञानरूप धन प्राप्त होगा। निरन्तर आगे बढ़नेवाला व्यक्ति कण-कण करके ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञानी व कार्यकुशल बनकर यह **क्षत्रं द्रविणम्**=शक्तिरूप धन प्राप्त करता है। क्रियाशीलता शक्तिवृद्धि का कारण बनती है। **विट् द्रविणम्**=ज्ञान और शक्ति प्राप्त करके अब यह (विट्) 'उत्तम प्रजा' रूप धनवाला होता है। इस उत्तमता को स्थायी बनाने के लिए **फलं द्रविणम्**=फलरूप धनवाला होता है। यह राजा राष्ट्र में फलों के उत्पादन का इस रूप में आयोजन करता है कि सब लोगों का मुख्य भोजन ये फल ही

हो जाते हैं। इस सात्त्विक भोजन से ही प्रजाओं का जीवन उत्तम बनता है। उनके ज्ञान व शक्ति की वृद्धि होती है। इन फलों से **वर्चः द्रविणम्**=वर्चस्—प्राणशक्तिरूप धन प्राप्त होता है। वस्तुतः **प्राची**=निरन्तर आगे बढ़ना **ब्रह्म**=ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य उपाय है। **दक्षिणा**=कार्यकुशलता **क्षत्र** =बल का कारण है। **प्रतीची**=विषयनिवृत्ति **विट्**=उत्तम प्रजा का कारण है। **उदीची** =उन्नति के लिए शाकाहारी फल=वनस्पति आदि का भोजन आवश्यक है। सर्वोच्च स्थिति **ऊर्ध्वा**=में पहुँचने पर मनुष्य ब्रह्म के समान वर्चस्वी बनता है। इस प्रकार इन मन्त्रों में पहले और अन्तिम वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध आगे चलकर दूसरे व पाँचवें वाक्यों में होगा और तीसरे व चौथे में यह सम्बन्ध दिखेगा। साहित्य में यह शैली 'चक्रबन्ध काव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। ४. दूसरे स्थान पर स्थित वाक्यों का अर्थ इस प्रकार है कि '**गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-अनुष्टुप्** और **पङ्क्तिः**'=ये सब छन्द **त्वा**=तेरी **अवतु**=रक्षा करें। परिणामतः तेरे जीवन में पाँचवें-पाँचवें वाक्यों के अनुसार क्रमशः **वसन्तः, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् ऋतुः, हेमन्त-शिशिरौ ऋतू**='वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद् व हेमन्त-शिशिर' ऋतुओं का आगमन होगा। क. **गायत्री**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राण-रक्षण से वसन्त=तेरा उत्तम निवास होगा। जिस प्रकार वसन्त ऋतु पुष्प-फल-वृद्धिवाली होती है, उसी प्रकार तेरे जीवन में सब शक्तियों का विकास होगा। ख. **त्रिष्टुप्** (त्रिष्टुप् stop) काम, क्रोध व लोभ को रोक देने से तेरा जीवन 'ग्रीष्म' ऋतुवाला होगा। तेरे जीवन में सचमुच उष्णता व उत्साह होगा। ग. **जगती**=निरन्तर गति शक्तिशीलता से तेरे जीवन की ऋतु-चर्या **वर्षा**=सब सुखों की वर्षावाली होगी। तू निरन्तर क्रियाशील होगा और सुखी जीवनवाला होगा। घ. **अनुष्टुप्**=तू दिन-ब-दिन, अर्थात् सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला होगा और तेरे जीवन में शरत् का प्रवेश होगा। जैसे शरत् में सब पत्ते शीर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार इस स्तुति से तेरे सारे पाप शीर्ण हो जाएँगे। (ङ) **पङ्क्तिः**=तू पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्दियों व पाँचों प्राणों के पञ्चकों से सुरक्षित होगा तो तेरे जीवन में हेमन्त व शिशिर ऋतुओं का उदय होगा, अर्थात् हेमन्त (**हन्ति पाप्मानं, हिनोति वर्धयति बलं वा**)=तेरे रोग व पाप नष्ट होंगे और तेरा बल बढ़ेगा तथा **शिशिरः**=(शश प्लुतगतौ) तू द्रुतगतिवाला होगा। तेरी चाल मन्द न होगी। तू तीव्र गति से आगे बढ़नेवाला बनेगा। ५. अब तीसरे-व-चौथे-वाक्यों का अर्थ यह है कि (क) **रथन्तरम्**=रथन्तर तेरी **साम**=उपासना है और **त्रिवृत्** तेरी **स्तोमः**=स्तुति है। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि मनुष्य रथन्तर=इस शरीररूप रथ से भवसागर को तैरने का यत्न करे और सच्ची स्तुति यही है कि मनुष्य **त्रिवृत्**=शरीर, मन व बुद्धि की त्रिगुण उन्नति करनेवाला हो। (ख) **बृहत्**=बृहत् तेरी **साम**=उपासना है और **पञ्चदशः**=पञ्चदश तेरी **स्तोम** =स्तुति है। **बृहत्** (बृहि वृद्धौ)=निरन्तर वृद्धि—बढ़ना—उन्नति करना ही तेरी उपासना है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को उन्नत करना—इनका अधिपति बनता ही स्तवन है। (ग) **वैरूपम्**=विशिष्ट रूपवाला बनना ही **साम**=उपासना है **सप्तदशः** पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि को ठीक रखना ही **स्तोमः**=स्तुति है। (घ) **वैराजम्**=विशिष्ट रूप से चमकना ही **साम**=तेरी उपासना है और **एकविंशः स्तोमः**=शरीर का धारण करनेवाली २१ शक्तियोंवाला होना ही तेरी स्तुति है। (ङ) **शाक्वररैवते**=शक्तिशाली बनना व ज्ञान-धनवाला होना। **सामनी**=तेरी उपासनाएँ हैं और **त्रिणवत्रयस्त्रिंशः**=(**इमे वै लोकास्त्रिणवः**—ता० ६।२।३) (**देवता एव त्रयस्त्रिंशस्यायतनम्**—ता० १०।१।१६) (**वर्ष्म वै त्रयस्त्रिंशः**—ता० १९।१०।१०) तीन लोक व ३३ देवता ही **स्तोमौ**=तेरी स्तुति हैं, अर्थात् यदि तू शरीररूप पृथिवीलोक को, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक

को तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को ठीक रखता है और इन्हें अपने-अपने देवताओं से अलंकृत करता है तो तू सच्चा स्तवन कर रहा होता है। ६. इस प्रकार सारे देवताओं का अधिष्ठान बनकर भी तूने इस बात का पूरा ध्यान रखना है कि **नमुचेः**=(न मुचिः, last infirmity of the noble minds) नमुचि को बड़े-बड़े शक्तिशाली भी जीत नहीं पाते, उस अहंकार का **शिरः प्रत्यस्तम्**=सिर कुचल दिया जाए। सम्पूर्ण दैवी सम्पत्तिवाला बनकर भी तुझमें **'नतिमानिता'**=अभिमान का न होना आवश्यक है। यह अभिमान सारे किये-कराये पर पानी फेर देता है।

भावार्थ—राजा सब दिशाओं में उन्नति करके निरभिमानिता से प्रजाओं का कल्याण करने में प्रवृत्त हो।

ऋषिः—वरुणः। देवता—परमात्मा। छन्दः—विराडार्चीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सोमस्य त्विषिः ओज-सहस-अमृत

सोम॑स्य त्विषि॒रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्।
मृत्योः पा॒ह्योजो॑ऽसि॒ सहो॑ऽस्यमृत॑मसि॥१५॥

प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'परमात्मा' है। उससे प्रार्थना करते हैं कि १. हे परमात्मन्! **सोमस्य त्विषिः असि**=तू चन्द्र की दीप्ति है। चन्द्रमा की दीप्ति में सौन्दर्य यह है कि यह प्रकाशमय है और प्रकाश के साथ शान्ति देनेवाला है। एवं, इसमें दीप्ति व शान्ति का मेल है। **मे**=मेरी **त्विषिः**=दीप्ति **तव इव**=तेरी भाँति ही **भूयात्**=हो। २. हे आत्मन्! **ओजः असि**=तू ओज का पुञ्ज है (splendour, light), प्रकाश का पुञ्ज है। **सहः असि**=सहस् का पुतला है, सहनशक्ति का तू स्वरूप ही है। **अमृतम् असि**=तू अमृत है। मृत्यु से तू परे है। काल का भी तू काल है। आप मुझे भी **मृत्योः पाहि**=मृत्यु से बचाइए। मेरे मस्तिष्क में प्रकाश (ओज) हो, मेरे मन में 'सहस्' हो तथा मेरे शरीर में अमृतत्व=नीरोगता हो। इस प्रकार तीनों क्षेत्रों में स्वस्थ होकर मैं सोम की त्विषिवाला होऊँ।

भावार्थ—मुझे ओज, सहस् तथा अमृतत्व की प्राप्ति हो।

ऋषिः—वरुणः। देवता—मित्रावरुणौ। छन्दः—स्वराडार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

राज्य-निरीक्षण

हिर॑ण्यरूपाऽउ॒षसो॑ विरो॒कऽउ॒भावि॑न्द्रा॒ऽउदि॑थ॒ः सूर्य॑श्च। आरो॑हतं वरुण मित्र॒ गर्तं॒ तत॑श्चक्षाथा॒मदि॑तिं॒ दितिं॑ च मि॒त्रो॒ऽसि॒ वरु॑णोऽसि॥१६॥

१. राष्ट्र में राजा 'मित्र' है, सारी प्रजा को 'प्रमीतेः त्रायते' मृत्यु एवं पापों से बचाने के लिए प्रयत्नशील है तो 'वरुण' सेनापति है, जो राष्ट्र पर होनेवाले शत्रुओं के आक्रमण का निवारण करता है। ये **उभौ**=दोनों **हिरण्यरूपौ**=ज्योतिर्मय रूपवाले हैं। हिरण्य के समान अति तेजस्वी हैं, **इन्द्रौ**=परमैश्वर्यवाले अथवा सामर्थ्य से युक्त हैं। ये दोनों **उषसः विरोके**=रात्रि की समाप्ति पर, उषा के व्युत्थान काल में **उदिथः**=(उद्गच्छतः) उठते हैं। **सूर्यः च** (उदेति)=इसी समय सूर्य भी उदय होता है, जिससे सूर्य के प्रकाश में ये मित्र और वरुण अपना कार्य सुचारुरूपेण कर सकें। २. हे **वरुण**=शत्रु के आक्रमण के वारक सेनापते! **मित्र**=रोगों व पापों से बचानेवाले राजन्! आप दोनों **गर्तं आरोहतम्**=अपने रथ पर अधिरूढ़ हों और **ततः**=तब **अदितिम्**=नियमों के न तोड़नेवाले, मर्यादाओं का पालन करनेवाले,

अदीन, राजनियमों के अनुष्ठाता को-शास्त्रनिर्दिष्ट बातों के करनेवाले को, **दितिं च**=और नियमों के तोड़नेवाले को, नास्तिकवृत्त को 'कोई क़ानून-वानून नहीं है' (नास्तीति) ऐसा मानकर मनमाना आचरण करनेवाले को **चक्षाथाम्**=देखो। 'यह पापी और यह पुण्यवान् है' इस प्रकार आप लोगों का विवेक करनेवाले बनो। 'कौन आर्य है और कौन दस्यु' यह आपको पता हो। ३. ऐसा करने पर ही आप **मित्रः असि**=राष्ट्र को मृत्यु से बचाते हो व **वरुणः असि**=राष्ट्र पर होनेवाले आक्रमणों का निवारण करते हो।

भावार्थ—राजा के मुख्य कार्य दो हैं। पाप व रोगों से बचाना, शत्रुओं के आक्रमण को रोकना। इससे राजा मित्र और वरुण नामवाला होता है। उसे उषःकाल में ही जाग जाना चाहिए और सूर्योदय के साथ ही रथारूढ़ हो राज्य के निरीक्षण में प्रवृत्त हो जाना चाहिए, जिससे वह आर्य व दस्युओं का विवेक कर सके।

ऋषिः—वरुणः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सोम-अग्नि-सूर्य-इन्द्र

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दिद्यून् पाहि ॥१७॥

१. राज्याभिषेक के समय राजा की चार विशेषताओं का विशेष रूप से ध्यान किया जाता है। पुरोहित कहता है कि **त्वा**=तुझे **सोमस्य**=चन्द्रमा के **द्युम्नेन**=यश से **अभिषिञ्चामि**= अभिषिक्त करता हूँ। चन्द्रमा के प्रकाश में जैसे दीप्ति व शान्ति का समन्वय है उसी प्रकार तेरी तेजस्विता 'शक्ति व शान्ति' के मेल से तुझे राज्याभिषेक के योग्य बनाती है। शक्ति के कारण तू अधृष्य है तो शान्ति के कारण तू अभिगम्य बना है। २. **अग्नेः**=अग्नि की **भ्राजसा**=दीप्ति से **त्वा**=तुझे अभिषिक्त करता हूँ। तू स्वास्थ्य के कारण इस प्रकार चमकता है जैसे आग चमकती है। ३. **सूर्यस्य वर्चसा**=सूर्य-सदृश वर्चस् के कारण मैं तुझे अभिषिक्त करता हूँ। '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'=सूर्य प्राणशक्ति का पुञ्ज है, तुझमें भी प्राणशक्ति का पूर्ण विकास हुआ है, अतः तुझे राज्याभिषिक्त करता हूँ। ४. **इन्द्रस्य इन्द्रियेण**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से तू सब इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न है, अतः तुझे राज्याभिषिक्त करता हूँ। ५. **क्षत्राणां क्षत्रपतिः एधि**=तू क्षत्रियों में क्षत्रियेश्वर है, बलवानों में बलवान् है। राष्ट्र को आघातों से बचानेवाला है। ६. **दिद्यून्**=इषुओं को, बाणों को, **अति**=लाँघकर **पाहि**=रक्षा कर, अर्थात् हे राजन्! तू शत्रुओं के बाणों से बचाकर हमें सुरक्षित कर।

भावार्थ—राजा वही होने योग्य है जो चन्द्रमा के समान दीप्ति व शान्तिवाला है, अग्नि के समान स्वास्थ्य की दीप्तिवाला है, सूर्य के समान प्राणशक्ति का पुञ्ज है, जितेन्द्रिय पुरुष के बलवाला है। बलवानों से भी बलवान् है, राष्ट्र को सब आक्रमणों से बचाता है।

ऋषिः—देववातः। देवता—यजमानः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ऐकमत्येन वरण (Unanimous Voting)

इमं देवाऽअसपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा ॥१८॥

हे **देवाः**=विद्वानो! **इमम्**=इस व्यक्ति को **असपत्नम्**=ऐकमत्य से **सुवध्वम्**=चुनो,

इसलिए कि १. **महते क्षत्राय**=महान् आघात से रक्षणरूप कार्य को वह करे। २. **महते ज्यैष्ठ्याय**=महान् ज्येष्ठता सम्पादनरूप कार्य को करनेवाला वह हो। राष्ट्र को वह ऊँचा ले-जानेवाला हो। ३. **महते जानराज्याय**=महान् जनराज्य के लिए—लोकहित का राज्य करनेवाला हो। ४. **इन्द्रस्य इन्द्रियाय**=इसे इसलिए चुनो कि यह राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को शक्तिशाली बनानेवाला हो। ५. **इयम्**=इसको **अमुष्य पुत्रम्**=अमुक व्यक्ति के पुत्र को **अमुष्यै पुत्रम्**=अमुक माता के पुत्र को **अस्यै विशः**=इसी प्रजा के अङ्गभूत व्यक्ति को तुम चुनो। **एषः**=यह **अमी**=हे प्रजाओ! **वः**=तुम्हारा **राजा**=नियन्ता है। **अस्माकं ब्राह्मणानां राजा**=हम ब्राह्मणों का राजा तो **सोमः**=वह शान्त प्रभु ही है। ब्राह्मण किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का मालिक नहीं है। वह सब परिग्रहों से ऊपर उठा हुआ होता है। यह पापों से भी ऊपर उठा रहता है, इसी से यह राजा का भी पथ-प्रदर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति का वरण यथासम्भव ऐकमत्येन होना ही ठीक है। विद्वान् बृहस्पति-तुल्य ब्राह्मण इस राष्ट्रपति का मार्ग-प्रदर्शक होता है। इनसे प्रेरणा प्राप्त करनेवाला राजा यहाँ 'देववात' कहलाता है।

ऋषिः—देववातः। देवता—यजमानः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विक्रमण-विक्रान्ता-क्रान्त

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिचऽइयानाः।
ताऽआववृत्रन्नधरागुदक्ताऽअहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः।
विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि॥१९॥

१. **पर्वतस्य**=पर्वाणि विद्यन्ते यस्य=अमावास्या-पूर्णिमा आदि पर्वों में तथा प्रतिदिन दिन-रात्रि के पर्वरूप प्रातः-सायं के समय जिसका उद्बोधन किया जाता है उस 'पर्वत' नामवाली **वृषभस्य**=(वर्षितुः—उ०) वर्षा करनेवाली अग्नि के **पृष्ठात्**=पृष्ठ से उठकर **नावः**=(नूयन्ते स्तूयन्ते) स्तुति के योग्य **स्वसिचः**=धनों का सेचन करनेवाले **इयानाः**=गमनशील जल **प्रचरन्ति**=आदित्यमण्डल के प्रति प्राप्त होते हैं। मनु के शब्दों में '**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**' अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ सूर्य तक पहुँचती हैं। '**स्व-सिचः**' शब्द का अर्थ है 'धनों का सेचन करनेवाले'। समय पर वर्षा होती है तो कृषकों के मुख से भी यह शब्द निकलता है कि 'सोना बरस रहा है'। एवं, ये जल धन का सेचन करते हैं। ये मेघजल **नावः**=स्तुत्य तो हैं ही, ये 'अमरवारुणी' देवताओं की मद्य कहलाते हैं। २. **ताः उदक्ताः**=ऊपर (उत्) आदित्यमण्डल तक गये हुए (अक्ताः) जल **बुध्न्यम्**=(बुध्न=अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में होनेवाले **अहिम्**=मेघ में **अनुरीयमाणाः**=क्रमशः गति करते हुए **आववृत्रन्**=इस पृथिवी पर लौट आते हैं। ३. इस प्रकार इन जलों की गति आदित्य के आधारभूत द्युलोक में, मेघ के आधारभूत अन्तरिक्षलोक में तथा अग्नि के आधारभूत इस पृथिवीलोक में दिखती है। ये जल शरीर में रेतस्रूप से हैं और स्थूलशरीररूप पृथिवी में ये नीरोगता के कारण होते हैं, मनरूप अन्तरिक्ष में ये नैर्मल्य का कारण बनते हैं और बुद्धि व मस्तिष्करूप द्युलोक में ये उज्ज्वलता का साधन होते हैं। ४. ये रेतस्रूप आपः शरीर में व्याप्त होने पर 'विष्णु' कहलाते हैं। '**यो वै विष्णुः सोमः सः**'—श० ३।३।४।२। '**वीर्यं विष्णुः**'—तै० १।७।२।२। यह 'विष्णु' तीनों लोकों का—शरीर, मन व बुद्धि का—विजय

करता है। यही इसकी 'विक्रमण त्रयी' कही गई है। मन्त्र के ऋषि देववात से कहते हैं कि तू **विष्णोः**=इस सोम के **विक्रमणम्**=पृथिवीलोकरूप विजयवाला है, **विष्णोः**=सोम के **विक्रान्तम् असि**=अन्तरिक्षलोकरूप विजयवाला है और अन्ततः **विष्णोः**=सोम के **क्रान्तमसि**=द्युलोकरूप विजयवाला है। इन सब लोकों का विजय करके तू सब देवताओं को अपनानेवाला होता है—'**विष्णुः सर्वा दैवताः**' ऐ०—१।१, अर्थात् मनुष्य रेतस् की रक्षा के द्वारा सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह रेतस् की रक्षा द्वारा इन रेतःकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बने और अपने शरीर, मन व बुद्धि को स्वस्थ रखनेवाला हो।

ऋषिः—देववातः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिगतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

नाम-स्मरण

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्त्वयममुष्य पिताऽसावस्य पिता वयꣳस्याम पतयो रयीणाꣳस्वाहा। रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा ॥२०॥

गत मन्त्र में रेतस् की रक्षा द्वारा त्रिलोकी के विक्रमण का उपदेश था। उसी को क्रियात्मक रूप देने के लिए प्रभु का स्मरण करते हुए देववात (मन्त्र का ऋषि) कहता है कि १. हे **प्रजापते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **एतानि तानि**=इन प्रसिद्ध अथवा समीप व सुदूर देश में वर्त्तमान **विश्वा रूपाणि**=सब रूपों को, विविध जातीय प्राणियों व लोकों को **त्वत् अन्यः न**=आपसे भिन्न और कोई नहीं, अर्थात् आप ही **परि बभूव**=व्याप्त कर रहे हो। आप ही इनका सर्जन व संहार करने में समर्थ हो। २. **यत्कामाः**=जिस कामनावाले होकर **ते जुहुमः**=हम आपकी प्रार्थना करते हैं **तत् नः अस्तु**=हमारी वह कामना पूर्ण हो। ३. हम संसार में इस बात को समझें कि **अयम्**=हमारे समीप वर्त्तमान यह प्रजापति ही (तद्दूरे तदु अन्तिके) **अमुष्य**=दूर देश में वर्त्तमान व्यक्ति का भी **पिता**=पिता व रक्षक है और **असौ**=वह दूर-से-दूर देश में वर्त्तमान प्रजापति (तत् दूरे) **अस्य**=इस समीपस्थ व्यक्ति का पिता है। एवं, हम सब उस एक ही प्रजापति के पुत्र हैं और परस्पर भाई-भाई हैं। हमें रुपये का गुलाम बनकर लोभवश परस्पर लड़ना नहीं है। **वयम्**=हम तो **रयीणाम्**=इन धनों के **पतयः स्याम**=स्वामी हों। हम इनके दास न बन जाएँ। हम **स्वाहा**=इस **स्व**=धन का **हा**=त्याग करते हैं। ४. देववात तो यह निश्चय करता है कि हे **रुद्र**=असुर-संहारक प्रभो! **यत्**=जो **ते**=तेरा **क्रिवि**=(हिंसित) सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला **परम्**=उत्कृष्ट **नाम**=नाम है **तस्मिन्**=उस नाम में **हुतम् असि**=तू हमसे हुत होता है, अर्थात् हम तेरे उस नाम में अपने को अर्पित करने का प्रयत्न करते हैं। **अमा**=इस मेरे शरीररूप घर में **इष्टं असि**=आप सदा पूजित होते हो। **स्वाहा**=हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं। ५. वस्तुतः यह प्रभु नाम-स्मरण ही हमें वासनात्मक जगत् से ऊपर उठाता है। वासना-विजय ही शरीर में रेतस् की रक्षा का साधन बनती है और हमें त्रिलोकी के विजय में समर्थ करती है।

भावार्थ—प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं, वे ही हम सबके पिता हैं। उस प्रभु के नाम-स्मरण में अपने को अर्पित करते हुए हम लोक-त्रयी का विजय करें।

ऋषिः—देववातः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अरिष्ट-अर्जुन

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि। अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वाऽरिष्टो अर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम मनसा समिन्द्रियेण॥२१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-नामस्मरण करनेवाले देववात से कहते हैं कि तू **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं के संहारक प्रभु के **वज्रः असि**=वज्रवाला (वज्रम् अस्य अस्तीति वज्रः) है। प्रभु का नाम तेरे लिए वज्रतुल्य बन गया है। इस वज्र से तू अपनी सब वासनाओं का संहार कर पाया है। २. अब **त्वा**=तुझे **प्रशास्त्रोः**=उत्तम प्रशासन करनेवाले **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के, स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता के **प्रशिषा**=प्रशासन से **युनज्मि**=युक्त करता हूँ। ३. और इस प्रकार **त्वा**=तुझे **अव्यथायै**=(व्यथ भयचलनयोः) अभय व अविचलन, अर्थात् स्थिरता के लिए प्राप्त कराता हूँ, तथा **स्वधायै त्वा**=(स्व-धा) आत्मधारण के योग्य बनाता हूँ। ४. **अरिष्टः**=किन्हीं भी वासनाओं व रोगों से न हिंसित हुआ तू **अर्जुनः**=उज्ज्वल (श्वेत=शुद्ध) चरित्रवाला हो। ५. **मरुताम्**=प्राणों के **प्रसवेन**=प्रकृष्ट ऐश्वर्य से, अर्थात् उत्कृष्ट प्राण-साधना के द्वारा **जय**=तू चित्तवृत्तिनिरोध से वासना का विजय कर। ६. तुम सदा यह कह सको कि **मनसा**=मन के द्वारा, मन के वशीकरण के द्वारा **अपाम**=हमने सोम का पान किया है और **इन्द्रियेण**=वीर्य से, प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति से **सम्**=हम सङ्गत हुए हैं।

भावार्थ—प्रभु का नाम हमारा वज्र हो। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवन का सूत्र हो। हमारा जीवन वासनाओं से अहिंसित व उज्ज्वल हो। हम सोम पान करें, शक्ति से युक्त हों।

ऋषिः—देववातः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

नास्तिकता का वि-दसन

मा तऽइन्द्र ते वयं तुराषाडयुक्तासोऽअब्रह्मता विदसाम। तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन्देव यमसे स्वश्वान्॥२२॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभो! **तुराषाट्**=(तूर्णं सहते) शीघ्रता से शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम सब **ते**=तेरे हों और **ते अयुक्तासः**=आपसे अपने को न जोड़नेवाले **मा**=न हों। हम सदा अपनी चित्तवृत्ति को विषयों से व्यावृत्त करके आपके साथ लगाएँ। २. **अब्रह्मता**=(अब्रह्मतां) नास्तिकवृत्तिता को, 'संसार का सञ्चालक ईश्वर कोई नहीं है', इस आसुरी विचारधारा को (जगदाहुरनीश्वरम्—गीता) **विदसाम**=हम विशेषरूप से नष्ट कर दें। हममें अनीश्वरता की भावना कभी उत्पन्न न हो। ३. **रथं तिष्ठ**=मैं उस शरीररूप रथ में बैठूँ **वज्रहस्त यं अधि**=हे वज्रहस्त प्रभो! जिसके अधिष्ठाता आप हैं। प्रभु ही मेरे शरीररूप रथ के सञ्चालक हों। ऐसा होने पर क्या कोई वासना मेरी यात्रा को विहत कर पाएगी? वे प्रभु तो वज्रहस्त हैं, काम को भस्म करने के लिए उनका तो नाम ही पर्याप्त है। ४. **देव**=हे सब विघ्नों के विजेता प्रभो! आप ही मेरे इस शरीररूप रथ पर स्थित हुए-हुए **रश्मीन्**=लगामों को **यमसे**=काबू करते हैं। आप ही **अश्वान्**=इन मेरे इन्द्रिय-रूप अश्वों को **सुयमसे**=उत्तमता से काबू करते हैं। वस्तुतः प्रभु-नामस्मरण हमें इस योग्य बनाता है कि

हमारा मन विषय-व्यावृत्त हो पाये और हम इन्द्रियों को विषयपङ्क से मलिन न होने दें।

भावार्थ—हम ईश्वर के हों। अनीश्वरवाद हमारे नाश का कारण बनता है। वे प्रभु ही वज्रहस्त हैं, हमारे शत्रुओं का शीघ्रता से विनाश करनेवाले हैं।

ऋषिः—देववातः। देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।।

पारस्परिक अहिंसन

अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा। पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मोऽअहं त्वाम्॥२३॥

देववात प्रार्थना करता है कि गत मन्त्र के अनुसार मैं अपने शरीर-रूप रथ की लगाम प्रभु के हाथों में सौंपनेवाला बनूँ, और अपनी इस जीवन-यात्रा में १. **अग्नये**=निरन्तर आगे बढ़ने के लिए तथा **गृहपतये**=इस शरीर-रूप गृह का उत्तम रक्षक बनने के लिए **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करूँ। यह प्रभु के प्रति अर्पण मुझे 'अग्नि' बनाएगा। २. **सोमाय**=सौम्य स्वभाव का बनने के लिए अथवा सोम (वीर्य) शक्ति का पुञ्ज बनने के लिए और परिणामतः **वनस्पतये**=ज्ञान की रश्मियों का पति बनने के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अर्पण करता हूँ। यह प्रभु-अर्पण मुझे 'सोम' बनाएगा, यह प्रभु-अर्पण मुझे 'वनस्पति' बनाएगा। ३. **मरुताम्**=प्राणों के **ओजसे**=ओज के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ, अर्थात् प्रभु-चरणों में बैठना मुझे वासनाओं से बचाकर ओजस्वी बनाता है, मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न होता हूँ। ४. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **इन्द्रियाय**= प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति-सम्पन्नता के लिए **स्वाहा**=मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ५. **मा**=इस अर्पण करनेवाले मुझको हे **पृथिवि मातः**=मातृतुल्य पृथिवि! **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। यद्यपि शरीर पञ्चभौतिक है तथापि पृथिवीतत्त्व की प्रधानता के कारण इसे पार्थिव कहने की परिपाटी है, अतः उस पृथिवीतत्त्व को ही मुख्यता देते हुए कहते हैं कि तू मेरे अनुकूल हो। **उ**=और **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे **मा**=मत हिंसित करूँ। मैं अतिभोजनादि व विषयासक्ति के कारण इस पार्थिव शरीर को विकृत करनेवाला न होऊँ। प्रभु के प्रति अर्पण का यह परिणाम तो होगा ही। उस 'महान् देव' प्रभु से निरन्तर प्रेरणा (वात) प्राप्त करके यह 'देववात' निश्चित रूप से ही अहिंसित होगा।

भावार्थ—'हम अग्नि, गृहपति, सोम, ज्ञानी, ओजस्वी व इन्द्र' बनें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—सूर्यः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः।।

हंसः

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत्॥२४॥

२२वें मन्त्र में अपने को प्रभु से अयुक्त न करने की भावना थी। जब हम सदा प्रभु का स्मरण करते हैं, प्रभु-स्मरण के साथ ही हमारी सब क्रियाएँ होती हैं तब वे प्रभु हमारे लिए १. **हंसः**=(हन्ति पापानाम्) सब पापों को नष्ट करनेवाले होते हैं। पापों के नाश से हमारा जीवन शुचि=पवित्र होता है और वे प्रभु **शुचिषत्**=हमारे पवित्र हृदयों में निवास करनेवाले होते हैं। २. जब मैं अपने हृदय में प्रभु के निवास को अनुभव करता हूँ तब **वसुः**=(वासयति) वे प्रभु मेरे जीवन को उत्तम बना देते हैं। उत्तम जीवन वही है जो

सीमाओं को छोड़कर सदा मध्य-मार्ग का अवलम्बन करता है। **अन्तरिक्षसत्**=प्रभु का निवास उसी में है जो **'अन्तराक्षि'**=मध्य में गति करता है (क्षि=गति)। योग इसी मध्य मार्ग पर चलनेवाले का कल्याण करता है। सितार के तार को अधिक कसा जाए तो वह टूट जाता है, ढीला छोड़ दिया जाए तो स्वर ही नहीं निकलता। न बहुत कसा जाए और न बहुत ढीला छोड़ा जाए तभी मधुर स्वर निकलता है। इस मध्य मार्ग में रहने व चलनेवाले में प्रभु का निवास है। ३. **होता**=वे प्रभु ही सब-कुछ देनेवाले हैं और **वेदिषत्**=जो व्यक्ति अपने इस शरीर को यज्ञवेदी बना देता है उसी में प्रभु का निवास होता है। सब-कुछ देनेवाले वे प्रभु हैं तो हमें लोभ करना ही क्यों? लोभ को छोड़कर हम यज्ञवृत्ति को अपनाएँ और प्रभु के निवास-स्थान बनें। ४. **अतिथिः**=वे प्रभु तो 'अत् सातत्यगमने'=हमें निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। **दुरोणसत्**=(दुर=बुराई ओणृ अपनयने) बुराई को दूर करनेवाले में बैठनेवाले हैं। 'दुरोण' शब्द गृहवाची है, क्योंकि यह हमें सर्दी-गर्मी, वर्षा-ओले आदि से बचाता है। इसी प्रकार अपने को वासनाओं से बचानेवाला व्यक्ति भी 'दुरोण' है।

५. **नृषत्**=वह प्रभु 'नृषु सीदति'=अपने को आगे ले-चलनेवालों में निषण्ण होता है। ६. **वरसत्** =वह प्रभु श्रेष्ठ व्यक्तियों में आसीन होते हैं ७. **ऋतसत्**=जो भी ऋत का पालन करते हैं वे प्रभु का निवास-स्थान बनते हैं। ८. **व्योमसत्**=वे प्रभु उस व्यक्ति में निवास करते हैं जो कि **वी+ओम्**=(वी गति, अव रक्षणे) सदा क्रियाशीलता के द्वारा अपना बचाव करता है। क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप शुद्ध बना रहता है। ९. **अब्जाः**=(अप्सु जायते) वे प्रभु जलों में प्रकट होते हैं। **'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'** ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। १०. **गोजाः**=(गवि जायते) वे प्रभु इस पृथिवी के अनन्त विस्तृत मैदानों, वनों व पर्वतों में प्रकट होते हैं, उन स्थानों पर उस प्रभु की महिमा दिखती है। ११. **ऋतजाः**=वे सूर्य, चन्द्र, तारे व अन्य लोक-लोकान्तरों की नियमित गति में प्रकट होते हैं। १२. **अद्रिजाः**=गगनचुम्बी घाटियोंवाले, ध्रुवता से स्थित (अविदारणीय) पर्वतों में वे प्रभु प्रकट होते हैं। १३. वे प्रभु **ऋतम्**=सत्य हैं, **बृहत्**=सदा वर्धमान हैं (वर्धमानं स्वे दमे)।

भावार्थ—हम इस सृष्टि में प्रभु की महिमा को देखें। जीवन को पवित्र बनाकर प्रभु के निवास-स्थान बनें। हम अनुभव करें कि वे प्रभु सत्य हैं, वे सदा वृद्ध हैं। इस प्रकार जीवन बनाते हुए हम 'वामदेव' सुन्दर दिव्य गुणोंवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—सूर्यः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

एतावानस्य महिमा

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि। इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहूऽअभ्युपावहरामि ॥२५॥

१. वामदेव प्रभु-आराधन करता हुआ कहता है कि **'इयत् असि'**=आप 'एतावान् अस्य महिमा' इन शब्दों के अनुसार इतनी महिमावाले हैं। गत मन्त्र के शब्दों में 'जलों में, पृथिवी में, पर्वतों में' सर्वत्र उसी की महिमा है। इस जड़-जगत् के कण-कण में प्रभु की महिमा है, २. चेतन जगत् में भी **आयुः असि**=आप सबको जीवन देनेवाले हैं। **मयि आयुः धेहि**=मुझमें जीवन का आधान कीजिए। आपकी कृपा से मैं दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ। ३. **युङ् असि**=इस दीर्घ जीवन में आप हमें उस-उस कार्य में प्रेरित करनेवाले हैं। हम कभी-कभी

असफलता से निराश होकर कर्म छोड़ बैठते हैं तो आप हमें उत्साहित व शक्ति-सम्पन्न करके फिर कार्य-व्यापृत करते हैं। ४. **वर्चः असि**=आप शक्ति के पुञ्ज हैं। **मयि वर्चः धेहि**=मुझमें शक्ति का आधान कीजिए। **ऊर्क् असि**=आप (ऊर्ज् बलप्राणनयोः) बल और प्राण-शक्ति के आधार हैं। **ऊर्जं मयि धेहि**=मुझमें बल और प्राण-शक्ति को धारण कीजिए। ५. इस प्रकार प्रभु की आराधना से शक्ति-सम्पन्न होकर वामदेव अपनी भुजाओं को सम्बोधित करके कहता है कि **वाम्**=आप दोनों को जो आप **वीर्यकृतः**=शक्ति-उत्पन्न करनेवाले **इन्द्रस्य**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभु की **बाहू**=प्रयत्नशील (बाहृ प्रयत्ने) भुजाएँ हो, उन आपको **अभि+उप+अवहरामि**=प्रभु की समीपता में विषयों से दूर कर्मों की ओर ले-चलता हूँ, अर्थात् मैं प्रभु का स्मरण करते हुए, विषयपङ्क से अलिप्त रहते हुए कर्मों में लगा रहता हूँ। वामदेव=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनने का यही तो मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क से हमें 'आयु, वर्चस् व ऊर्ज्' प्राप्त होता है। प्रभु-स्मरण करते हुए शक्ति-सम्पन्न बनकर हम सदा भुजाओं को कार्यव्यापृत रक्खें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—आसन्दी राजपत्नी। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

स्योना-सुषदा

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि।

स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद॥२६॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार प्रभु-स्मरण से शक्ति-सम्पन्न बनकर निरन्तर क्रिया करनेवाला व्यक्ति इस पृथिवी को बड़ा सुन्दर बनाता है। मन्त्र में कहते हैं कि १. हे पृथिवि! तू **स्योना असि**=सुखरूप है। प्रयत्नशील व्यक्ति के लिए पृथिवी सुखरूप है ही। २. **सु-सदा असि**=सुख से बैठने के योग्य है (सुखेन सीदन्ति यस्याम्)। श्रमशील लोग तेरे आश्रय से जीवन व्यतीत करते हैं। ३. **क्षत्रस्य योनिः असि**=क्रियाशीलता के द्वारा बल का तू कारण है। इस पृथिवी पर निवास करते हुए हम यदि क्रियाशील बनते हैं तो शक्ति-सम्पन्न भी होते हैं। क्रियाशीलता व शक्ति आनुपातिक हैं। ४. वामदेव से कहते हैं कि हे वामदेव! तू **स्योनाम्**=इस सुखरूप पृथिवी पर **आसीद**=आसीन हो। **सु-षदाम् आसीद**=सुख से बैठने योग्य इस पृथिवी पर आसीन हो। **क्षत्रस्य योनिम्**=बल की कारणभूत इस पृथिवी पर **आसीद**=आसीन हो।

भावार्थ—यह पृथिवी सुखरूप है, सुख से बैठने योग्य है, शक्ति का स्रोत है। निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा 'वामदेव' पृथिवी को ऐसा ही बना लेता है।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—वरुणः। छन्दः—पिपीलिकामध्याप्रतिष्ठागायत्री। स्वरः—षड्जः॥

धृतव्रतः

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥२७॥

१. उल्लिखित मन्त्रों में वर्णित 'वामदेव' लोगों में से चुना जाकर (वरुण) जीवन को उत्तमता से व्यवस्थित करने के लिए सिंहासन पर बिठाया जाता है। इसने उत्तम शासन के द्वारा सुख का निर्माण करना होता है, अतः यह 'शुनःशेप' (शुनम्=सुख, शेप=बनाना, to make) कहलाता है। २. यह शुनःशेप **पस्त्यासु**=प्रजाओं में से ही चुना जाकर **धृतव्रतः**=धारण किये हुए व्रतवाला **वरुणः**=श्रेष्ठ व्यक्ति **आ निषसाद**=सब व्यक्तियों की ओर से

सिंहासन पर बैठता है। 'प्रजा का कल्याण' यह इसका व्रत होता है। अपने जीवन को भी यह बड़ा संयमी बनाकर 'वरुण'=व्रत-बन्धनों में अपने को बाँधता है। ३. यह सिंहासन पर **साम्राज्याय**=साम्राज्य के लिए आसीन होता है। यह राजा बनकर सचमुच देश को बड़ा व्यवस्थित कर देता है। उत्तम व्यवस्था से राज्य में चोरी आदि सब बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं और राज्य चमक उठता है, देश की सर्वांगीण उन्नति होती है। ४. **सुक्रतुः**=यह राजा उत्तम संकल्पों व कर्मोंवाला है साथ ही उत्तम प्रजावाला भी होता है (क्रतु=संकल्प, कर्म, प्रज्ञा)। इस प्रज्ञा की तीव्रता व संकल्प की दृढ़ता से यह राज्य को एक साम्राज्य बना देता है। यह उसे ऐसा बनाने के लिए 'धृत-व्रत' होता है।

भावार्थ—राजा को 'धृत-व्रत व सुक्रतु' होना चाहिए, जिससे उसका राज्य साम्राज्य में परिवर्तित हो जाए।

ऋषिः—शुनःशेप। देवता—यजमानः। छन्दः—विराड्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

अभिभूः

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः।
बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य॥२८॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो 'धृतव्रत व सुक्रतु' होता है वह **'अभिभूः असि'**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। **एताः**=वे **पञ्च दिशः**=पाँचों दिशाएँ **ते**=तेरे लिए **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनें। 'प्राची-दक्षिणा-प्रतीची-उदीची व ऊर्ध्वा' इन पाँच दिशाओं का उल्लेख इसी अध्याय में १० से १४ तक के मन्त्रों में हुआ है। यहाँ उन दिशाओं का दूसरे प्रकार से उल्लेख हुआ है। २. दसवें मन्त्र में प्राची दिशा का द्रविण 'ब्रह्म' कहा गया है। यहाँ कहते हैं कि हे **ब्रह्मन्**=ज्ञान-सम्पन्न **त्वम्**=तू **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता है, ज्ञानी है। **सविता असि**=(षु=ऐश्वर्य) तू ज्ञानरूप सच्चे ऐश्वर्यवाला है। ३. **सत्यप्रसवः वरुणः**=तू सत्य की प्रेरणा देनेवाला **असि**=है। **'ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'**=वरुण असत्यवादी को अपने पाशों से बाँध डालता है। सत्यवादी ही वरुण के पाशों से बच पाता है। तू **सत्यौजाः**=सत्य के ओजवाला है। ११वें मन्त्र में दक्षिणा दिशा का द्रविण **'क्षत्र'**= बल ही कहा गया है। यह वरुण भी निर्द्वेषता के कारण तथा अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधने के कारण ओजस्वी है। सच्चे ओजवाला है। ४. **इन्द्रः असि**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। १२वें मन्त्र में प्रतीची के आरोहण का अभिप्राय यही है कि यह इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करता है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है और **विशौजाः**=प्रजा के ओजवाला अथवा दूसरे शब्दों में ओजस्वी प्रजावाला होता है। इस दिशा का द्रविण १२वें मन्त्र में 'विट्'=प्रजा ही है। ५. **रुद्रोऽसि**=(रोरूयमाणो द्रवति) यह प्रभु का स्मरण करते हुए कार्यव्यापृत होता है। १३वें मन्त्र में इसे 'अनुष्टप्'=प्रतिक्षण प्रभु का स्तवन करनेवाला कहा गया है। इसी कारण यह **'सुशेवः'**=उत्तम कल्याणवाला होता है। ६. अन्त में यह **इन्द्रस्य वज्रोऽसि**=उस प्रभु के वज्रवाला है। प्रभु ही इसके वज्र हैं। १४वें मन्त्र में इसी वज्र से नमुचि नामक असुर के शिरश्छेदन का उल्लेख है। यह प्रभु को ही अपना वज्र बनाता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह निकम्मा हो जाता है। स्वयं अकर्मण्य न होकर

बहुकार=यह खूब ही करनेवाला होता है, **श्रेयस्कर**=शुभ कार्यों को करनेवाला होता है। **भूयस्कर**=निरन्तर उत्तम क्रियाओं में लगा रहता है। **तेन**=उससे, क्योंकि मैं कर्मव्यापृत हूँ और प्रभु का नाम-स्मरण कर रहा हूँ, अतः **मे रध्य**=मेरे शत्रुओं को मेरे वशीभूत कीजिए। सब शत्रुओं को अभिभूत करके मैं सचमुच 'अभिभूः' बनूँ।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, सत्य के ओजवाला होऊँ, ओजस्वी प्रजावाला तथा उत्तम कल्याण को प्राप्त करनेवाला बनूँ। प्रभु ही मेरे वज्र हों। मैं क्रियाशील रहता हुआ सब शत्रुओं को अपने वश में कर सकूँ।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

सजातों में मध्यमेष्ठ

अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणोऽअग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा। स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वꣳसजातानां मध्यमेष्ठ्याय॥२९॥

गत मन्त्र का 'अभिभूः'=सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाला १. **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ता है। २. **पृथुः**=(प्रथ विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है। ३. **धर्मणः पतिः**=सदा धर्म का रक्षक होता है। ४. **जुषाणः**=अपने धर्म का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। ४. यह 'अग्नि, पृथु व धर्मणस्पति' **आज्यस्य**=घृत का **वेतु**=पान करे। 'घृतमायुः' इस वाक्य में घृत को उत्तम जीवन का कारण कहा गया है। अथवा 'घृत' का अभिप्राय 'क्षरण व दीप्ति' है। यह मलों का क्षरण करनेवाला हो और दीप्ति प्राप्त करे। ५. इसके लिए यह **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। ६. इन स्वार्थ-त्याग करनेवालों से कहते हैं कि हे **स्वाहाकृताः** =स्वार्थ-त्याग करनेवालो! तुम **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य-किरणों के साथ **यतध्वम्**= यत्नशील बनो। सूर्योदय के साथ ही कर्त्तव्य-कर्मों में व्यापृत हो जाओ और जब तक ये किरणें रहती हैं, अर्थात् सूर्यास्त तक कर्मों में लगे रहो। ३. **सजातानाम्**=समानरूप से उत्पन्न हुए लोगों में **मध्यमेष्ठ्याय**=मध्यम स्थान में अवस्थित होने के लिए यही मार्ग है। जैसे राजा केन्द्र में अवस्थित होता है और मन्त्रिवर्ग उसके दायें-बायें स्थित होते हैं, उसी प्रकार यह सूर्य-किरणों के साथ कार्य-व्यापृत व्यक्ति अपने सजातों के मध्य-स्थान में स्थित होता है, अर्थात् अपने सजातों में श्रेष्ठ बनता है।

भावार्थ—हम 'अग्नि-पृथु-धर्मणस्पति' बनकर मलों का क्षरण करें और दीप्ति प्राप्त करें। स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर निरन्तर क्रिया में लगे रहें और इस प्रकार अपने सजातों में श्रेष्ठ बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—सवित्रादिमन्त्रोक्ताः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

देवतया-प्रसूतः

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि॥३०॥

इस मन्त्र का मुख्य वाक्य यह है कि **देवतया**=देवता से **प्रसूतः**=(प्रेरितः) प्रेरित हुआ-हुआ **प्रसर्पामि**=मैं अपनी इस जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ता हूँ। 'किन-किन देवताओं से और किस-किस दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ', इस प्रश्न का उत्तर निम्न

वाक्यों में द्रष्टव्य है—१. **सवित्रा**=सविता देव से, सूर्य से **प्रसवित्रा**=प्रकृष्ट प्रेरणा के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं आगे और आगे चलता हूँ। सूर्य मुझे तीन वाक्यों में यह उत्कृष्ट प्रेरणा दे रहा है कि (क) मेरी तरह आगे और आगे बढ़ते चलो, (ख) स्तुति-निन्दा से विचलित न होओ (ग) तुम्हारी सब क्रियाएँ बिना पक्षपात के हों। मैं राजा व रंक दोनों के भवनों व झोंपड़ों में समानरूप से प्रकाश प्राप्त कराता हूँ। तूने भी बिना भेदभाव के अपना व्यवहार करना। २. **सरस्वत्या**=विद्या की अधिदेवता सरस्वती से **वाचा**=वाणी के दृष्टिकोण से, ज्ञान की वाणी के हेतु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। सरस्वती की प्रेरणा यही है कि कण-कण ज्ञानसंग्रह करके तथा एक-एक क्षण का उपयोग करते हुए तूने जीवन-यात्रा में चलना। ३. **त्वष्ट्रा**=त्वष्टा से **रूपैः**=रूपों के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। त्वष्टा देवशिल्पी है, यह गर्भस्थ बालक के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुरूप बनाता है। यह यही प्रेरणा देता है कि अपने स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करते हुए उत्तम रूपवाले बने रहना। हम स्वस्थ रहें और उत्तम रूपवाले बने रहें। ४. **पूषणा**=पूषादेवता से **पशुभिः**=पशुओं के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। पोषण की देवता 'पूषा' है। यह एक ही बात कहती है कि घर में गौ आदि पशुओं को अवश्य रखना। गौ के बिना सबका समुचित पोषण सम्भव नहीं। गौ ही दुग्धादि से समुचित पोषण करती हुई हमें 'वसु, रुद्र व आदित्य' बनाती है। ५. **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से, देवराट् से, **अस्मे**='हमारा ही बने रहना' इस प्रकार प्रेरणा लेता हुआ मैं जीवन-यात्रा में चलता हूँ। प्रभु कहते हैं कि संसार में विषयों में उलझकर हमें भुला न देना। हम संसार में रहें, पर प्रभु को भूल न जाएँ। ६. **बृहस्पतिना**=सर्वोच्च दिशा के, ऊर्ध्वा के, अधिपति बृहस्पति से **ब्रह्मणा**=बड़ा बनने के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। बृहस्पति यही कहते हैं कि संसार में बड़ा बनने का प्रयत्न करना, कोई-न-कोई निर्माण का कार्य अवश्य करना—यही ब्रह्म बनने का मार्ग है। ब्रह्मा (creator) निर्माता है। ७. **वरुणेन**=वरुणदेव से **ओजसा**=ओजस्वी बनने के हेतु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। वरुण देव मुझे यही कह रहे हैं कि द्वेष का निवारण करना, व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना, जिससे तुम ओजस्वी बन सको। द्वेषाग्नि में जलता हुआ अनियन्त्रित जीवनवाला व्यक्ति ओजस्वी नहीं होता। ८. **अग्निना**=अग्निदेव से **तेजसा**=तेज के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। अग्नि मुझे यही कह रही है कि जैसे मैं अपने तेज से सब मलों को भस्म कर देती हूँ, उसी प्रकार तूने सब मलों का दहन करते हुए संसार में आगे बढ़ना। ९. **सोमेन**=सोमदेवता से **राज्ञा**=(राजृ दीप्तौ) दीप्त, यशस्वी (glorious) जीवन बिताने के लिए प्रेरित हुआ-हुआ मैं जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता हूँ। सोम मानो मुझे यही कह रहा है कि मेरी रक्षा करते हुए स्वस्थ-शरीर, निर्मल-मन व तीव्र बुद्धिवाला होकर उज्ज्वल जीवनवाला बनना (सोम=वीर्य)। इस उज्ज्वल जीवन में सौम्यता हो, उग्रता न हो। १०. अब **दशम्या**=दशमी देवता **विष्णुना** =विष्णु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं सब व्यवहार करता हूँ। इस देवता की प्रेरणा यही है कि 'विष् व्याप्तौ' व्यापक दृष्टिकोणवाला बनना, उदार हृदयवाला बनना। संकुचित मनोवृत्तिवाला न बन जाना। तेरा सारा व्यवहार विशालता, उदारता को लिये हुए हो। **'उदारं धर्ममित्याहुः'**=यह उदारता ही धर्म है।

भावार्थ—हमारा जीवन देवों के आशीर्वाद से प्रेरणा लेकर चले। प्रेरणा यह है—**सूर्य**—आगे बढ़ो, स्तुति-निन्दा से विचलित न होओ, बिना पक्षपात के तुम्हारा व्यवहार हो। **सरस्वती**—अधिक-से-अधिक ज्ञानवाणियों का उपादान करना। **त्वष्टा**—स्वास्थ्य से सुरूप रहना। **पूषा**—घर में गौ अवश्य रखनी। गौ का स्थान कुत्ता न ले-ले। **इन्द्र**—प्रभु का ही बने

रहना। **बृहस्पति**—बड़ा बनना। **वरुण**—ओजस्वी बनना। **अग्नि**—तेजस्वी होना। **सोम**—यशस्वी होना। **विष्णु**—उदार बनना।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का सतत मित्र

अ॒श्विभ्यां॑ पच्यस्व॒ सर॑स्वत्यै पच्य॒स्वेन्द्रा॑य सु॒त्राम्णे॑ पच्यस्व।

वा॒युः पू॒तः प॒वित्रे॑ण प्र॒त्यङ्क्सोमो॒ अति॑स्रुतः। इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥३१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार देवों से प्रेरणा प्राप्त करके जब हम अपनी जीवन-यात्रा में चलेंगे तो यात्रा के अन्तिम प्रयाण=पड़ाव तक पहुँचेंगे। यह अन्तिम प्रयाण प्रस्तुत मन्त्र की समाप्ति पर 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' इन शब्दों में कहा गया है। हे जीव! अब तो तू उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु का **युज्यः** =सदा साथ रहनेवाला **सखा**=मित्र हो गया है। २. ऐसा बनने के लिए तू **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **पच्यस्व** =अपना परिपाक कर। प्राणापान की साधना में अपने को परिपक्व कर। प्राणायाम के दैनन्दिन अभ्यास से तू इन्हें अपने वश में करनेवाला बन। ३. **सरस्वत्यै**=विद्या की अधिदेवता के लिए **पच्यस्व**=तू अपना परिपाक कर। ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके वैदुष्य प्राप्त कर। ४. इस प्रकार प्राण व ज्ञान की अग्नि में अपने को परिपक्व करता हुआ तू **सुत्राम्णे**= अत्यन्त उत्तम रक्षक **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यवान्, सर्वशत्रुसंहारक प्रभु के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व बन। प्राण-साधना और ज्ञान-प्राप्ति ही तुझे प्रभु-प्राप्ति-क्षम करेंगी। ५. प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलता हुआ तू **वायुः**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला होगा। क्रियाशील बना रहकर तू अपने में मलिनता को न आने देगा। ६. और वस्तुतः **पवित्रेण पूतः**=तू ज्ञान से निरन्तर पवित्र किया जा रहा होगा। ज्ञानाग्नि तेरी सब रागद्वेषादि मलिनताओं को भस्म कर रही होगी। इन मलिनताओं के दूर हो जाने पर ७. **प्रत्यङ् सोमः**=तू अपने अन्दर उस **सोम** =शान्तात्मावाला होगा (You will realise the God within)। तुझे हृदयस्थ प्रभु के दर्शन होंगे। ८. **अतिस्रुतः** =(स्रु गतौ) ब्रह्मनिष्ठ होकर तू अतिशयेन क्रियाशील होगा। तेरा जीवन अकर्मण्य न होगा। और ९. तू **इन्द्रस्य युज्यः सखा**=उस प्रभु का सतत साथ रहनेवाला मित्र बनेगा।

भावार्थ—प्राण-साधना व ज्ञान-प्राप्ति मुझे उस सोम का सतत सखा बनने में समर्थ करें।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु-प्राप्ति की यात्रा

कु॒वि॒द॒ङ्ग यव॑मन्तो॒ यवं॑ चि॒द्यथा॒ दान्त्य॑नुपू॒र्वं वि॒यूय॑।

इ॒हेहै॑षां कृणुहि॒ भोज॑नानि॒ ये ब॒र्हिषो॒ नम॑ऽउक्तिं॒ यज॑न्ति।

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒श्विभ्यां॑ त्वा॒ सर॑स्वत्यै॒ त्वेन्द्रा॑य त्वा सु॒त्राम्णे॑ ॥३२॥

१. गत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए प्राण-साधना व ज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख किया था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **कुवित्**=खूब और **अङ्ग**=शीघ्र ही **यवमन्तः**=जौ के खेतवाले **यवम्**=जौ को **चित्**=निश्चय से **यथा**=जैसे **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=पृथक् करके **दान्ति**=काटते हैं, तीन-चार दण्डों (stalks=डण्ठलों) को बायें हाथ में पकड़कर

दायें हाथ से दराँती द्वारा काटते जाते हैं, इसी प्रकार ये आत्म-जिज्ञासु लोग भी एक-एक करके कोशों को पृथक् करते जाते हैं और अन्त में सारी मूँज के अलग हो जोने पर जैसे इषिका (सींक) के दर्शन होते हैं उसी प्रकार सब कोशों से ऊपर उठ जाने पर अन्तःस्थित आत्म-तत्त्व का दर्शन होता है। २. इन आत्म-जिज्ञासुओं में कोई अन्नमयकोश को पृथक् करने में लगा है, कोई प्राणमयकोश को अलग कर रहा है। कोई एक पग और आगे बढ़कर मनोमयकोश तक जा पहुँचा है। एक-आध विज्ञानमयकोश तक पहुँच गया है और आनन्दमय कोश पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है।

हे प्रभो! **इह इह**=उस-उस स्थान पर पहुँचे हुए **एषाम्**=इन आत्म-जिज्ञासुओं की **भोजनानि**=(भुज=पालन) पालन-व्यवस्थाओं को **कृणुहि**=आप ही करने की कृपा कीजिए। आपसे पालित व सुरक्षित होकर ही ये आगे बढ़ पाएँगे। हे प्रभो! आपने ही इन सबका पालन करना है **ये**=जो **बर्हिषः**=उस-उस कोश का उद्बर्हण करनेवाले उपासक **नमः उक्तिम्**=नमन के कथन से **यजन्ति**=आपकी उपासना करते हैं। ३. हे साधक! **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला बना है। **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान की साधना के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ। **सरस्वत्यै त्वा**=ज्ञान की देवता के आराधन के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ। **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रेरित करता हूँ, जो **सुत्राम्णे**=सबका उत्तम त्राण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम एक-एक कोश से ऊपर उठते हुए आत्म-तत्त्व का दर्शन करनेवाले बनें। उपयामगृहीत बनें। प्राणापान की साधना करें, ज्ञान-प्राप्तिवाले हों।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पति-पत्नी (आत्मा+परमात्मा)

युवꣳसुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।

विपिपाना शुभस्पतीऽइन्द्रं कर्मस्वावतम्॥३३॥

१. जब जीवात्मा परमात्मा से सम्पर्क स्थापित कर लेता है तब प्रभु पति हैं जीवात्मा पत्नी है। उस समय **युवम्**=तुम दोनों **अश्विना**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाले, **आसुरे नमुचा**=असुरों के प्रधान अहंकार (न+मुच्) के संहार के निमित्त **सचा**=मेलवाले **सुरामम्**=उत्तम रमणीय सोम को (सुरमणीयम्) **विपिपाना**=विशेषरूप से पीते हुए **शुभस्पती**=शुभ कार्यों के रक्षक होते हुए **इन्द्रम्**=इन्द्र को **कर्मसु**=कर्मों के करने के निमित्त **आवतम्**=पालित करो, अर्थात् इन्द्र को स्वकर्मक्षम बनाओ। २. परमात्मा व जीवात्मा पति-पत्नी के समान हैं। दोनों अश्विना=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले हैं। प्रयत्न उनका गुण है। प्रभु के कर्म सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप हैं। जीव के कर्म ज्ञानोपार्जन, सन्तान-पालन, आत्म-दर्शन व ज्ञान-प्रसार आदि हैं। ३. परमात्मा अहंकार-शून्य है। जीव में अल्पज्ञता के कारण अहंकार आ जाता है, परन्तु जब यह जीव प्रभु के सम्पर्क में आता है तब अहंकार को जीत लेता है। उसी समय अन्य वासनाओं के विजय से यह सोम के पान में भी समर्थ होता है—वीर्य-रक्षा कर पाता है। इस सोमपान का परिणाम यह होता है कि यह शुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है, अशुभ कर्मों का त्याग कर देता है। ४. इस सोमपान से उसकी सब इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होता है और वह इन्द्र स्वकर्मक्षम बनता है।

भावार्थ—परमात्मा के सम्पर्क से हमारा अहंकार नष्ट हो। हम सोम का पान करें

और शुभ कार्यों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्राणापान का रक्षक

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥३४॥

१. हे इन्द्र=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इव पितरौ**=जैसे माता-पिता **पुत्रम्**=पुत्र को **अवथुः**=रक्षित करते हैं, इसी प्रकार **काव्यैः**=कवि-कर्मों से, मन्त्र-दर्शनों से, अर्थात् तत्त्व-ज्ञान की प्रतिपादिका वाणियों से तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों से **उभा अश्विना**=ये दोनों प्राणापान **अवथुः**=तेरी रक्षा करते हैं। प्राण-साधना से जहाँ इन्द्रियदोष दूर होकर अपवित्र कर्म नहीं होते वहाँ बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्म-तत्त्वों के ज्ञानवाली भी होती है। २. इस प्राण-साधना से सोम की भी शरीर में ऊर्ध्व गति होती है। हे इन्द्र! **यत्**=जब तू **सुरामम्**=सुरमणीय इस सोम को **व्यपिबः**=पीता है, जब इसका अपव्यय न होने देकर तू इसे शरीर में ही सुरक्षित करता है तब **शचीभिः**=उत्तम प्रज्ञानों व कर्मों से **सरस्वती**=यह विद्या की अधिदेवता हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न तथा (मघ=यज्ञ) यज्ञमय जीवनवाले जीव! **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्**=उपसेवित करती है। (णिणाज् उपसेवायाम्)। ३. यह प्रज्ञान व यज्ञात्मक कर्म ही वे दो पंख हैं, जिनसे जीवरूप सुपर्ण उस प्रभु-रूप सुपर्ण को प्राप्त करता है। सुपर्ण को सुपर्ण बनकर ही पाया जा सकता है, अतः हम ज्ञान व यज्ञकर्म रूप सुपर्णोंवाले बनें और इसके लिए प्राण-साधना करें।

भावार्थ—प्राण-साधना से हम तत्त्व-ज्ञान व यज्ञात्मक कर्मोंवाले बनें, यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

॥ इति दशमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

एकादशोऽध्यायः

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

मनो-योग

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत्॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि प्रजापति और देवता 'सविता' है (सु प्रसवैश्वर्ययोः)। यह ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए **प्रथमम्**=सबसे पूर्व **मनः**=मन को **युञ्जानः**=उस आत्मतत्त्व में लगाने की वृत्तिवाला बनता है। वस्तुतः मन को विषयों से हटाकर आत्मतत्त्व में लगाने का नाम ही योग है। इधर से उखाड़ना, उधर लगाना। २. इस योग के द्वारा यह **सविता**=ज्ञानैश्वर्य का साधक **धियः**=बुद्धियों को **तत्त्वाय**=(तनित्वा) विस्तृत करके उस प्रभु की ज्योति को देखता है। वह परमात्मा सब भूतों के अन्दर गूढ़ होते हुए भी दिखता नहीं। बुद्धि के द्वारा उस प्रभु का दर्शन तब होता है जब हम बुद्धि को तीव्र व सूक्ष्म करने का प्रयत्न करते हैं। (**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**)। ३. योगभ्यास के द्वारा सूक्ष्म हुई इस बुद्धि से **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु के **ज्योतिः**=प्रकाश को **निचाय्य**=निश्चय से उपलब्ध करके ही मनुष्य **पृथिव्या अध्याभरत्**=इन पार्थिव भोगों से अपने को ऊपर उठा पाता है। **'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** विषय-रस तो उस परम प्रभु के दर्शन पर ही निवृत्त होता है और वस्तुतः इस विषय-रस की निवृत्ति होने पर ही मनुष्य इस पार्थिव देह से ऊपर उठता है, अर्थात् बन्धन से ऊपर उठकर मोक्ष का भागी होता है। ४. यहाँ प्रसङ्गवश यह स्पष्ट है कि वे प्रभु 'प्रकाश' रूप हैं। एक योगी अन्दर-ही-अन्दर इस ज्योति के दर्शन करता है। यह योग ही इस ज्योति के दर्शन का साधन है। इसे अनिर्विण्ण चित्त से करते चलने में ही कल्याण है। दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदर से सेवित होने पर यह योग दृढ़भूमि होता है और हमें प्रभु से मिलाता है।

भावार्थ—मोक्ष-मार्ग का क्रम यह है—१. मन को आत्मतत्त्व में लगाना २. योग द्वारा बुद्धि का तनूकरण, बुद्धि को तीव्र बनाना ३. प्रभु के प्रकाश को देखना ४. विषय-रस निवर्तन तथा ५. मोक्ष।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—शुङ्कुमतीगायत्री। स्वरः—षड्जः।।

कर्मयोग

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥२॥

१. पिछले मन्त्र में मन को विषयों से हटाकर आत्मतत्त्व में लगाने का प्रतिपादन था। यही 'योग' कहलाता है। 'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा' इस योग को अनिर्विण्ण चित्त से सदा करते ही रहना चाहिए। इस योग के द्वारा **युक्तेन**=एकाग्र हुए **मनसा**=मन से **वयम्**=हम **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में, अर्थात् उसकी प्रेरणा के अनुसार **शक्त्या**=यथाशक्ति **स्वर्ग्याय**=स्वर्गसाधक कार्यों

के लिए प्रयत्न करें। २. योग के अभ्यास से हमने मन को स्थिर करने का प्रयत्न किया, परन्तु इस स्थिरता को नष्ट न होने देने के लिए आवश्यक है कि हम इसे किन्हीं उपयुक्त कर्मों में लगाये रक्खें अन्यथा यह फिर विषयोन्मुख हो हमें निरन्तर भटकानेवाला हो जाएगा। मन की दिशा को ही बदला जा सकता है, इसे बिलकुल समाप्त नहीं किया जा सकता। इसका वेग उत्तम कर्मों की दिशा में हो जाने पर यह सदा उन्हीं में लगा रहेगा और हमारे जीवन को स्वर्गतुल्य बना देगा। ३. उत्तम कर्म वे ही हैं जिनकी प्रेरणा प्रभु से दी गई है। वस्तुतः धर्म की अन्तिम कसौटी ही यह है कि जो हमारी आत्मा को, अर्थात् अन्तःस्थित प्रभु को प्रिय लगे, अतः मन को वश में करके हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रक्खें और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत किये रहें। यही जीवन को सुखी बनाने का मार्ग है। यही सच्चा कर्मयोग है। ४. अकर्मण्य पुरुष का मन फिर पापों में जाने लगता है, अतः उसे उत्तम कर्मों में ही लगाये रखना है।

भावार्थ—१. मन को युक्त करें २. प्रभु से आदिष्ट कर्मों में उसे यथाशक्ति लगाये रक्खें ३. यही स्वर्ग-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

इन्द्रिय-संयम

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥३॥

गत मन्त्र का **सविता**=मन, बुद्धि व इन्द्रियों को उत्तम प्रेरणा देनेवाला योगी 'स्वर्ग्याय शक्त्या' शक्ति के अनुसार स्वर्ग-साधक कर्मों को करनेवाला है। यह **स्वर् यतः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से स्वर्ग की ओर जानेवाली **देवान्**=इन इन्द्रियों को **युक्त्वाय**= मनो-निरोध के द्वारा आत्मतत्त्व की ओर लगाकर **धिया**=बुद्धि व प्रज्ञानों से **दिवम्**=प्रकाशमय **बृहत्**=वृद्धि की कारणभूत **ज्योतिः**=ज्ञान की ज्योति परमात्मा को **करिष्यतः**=आत्मीय करता है। इस प्रकार **सविता**=यह आत्म-प्रेरणा देनेवाला योगी **तान् देवान्**=उन प्रकाशक इन्द्रियों को **प्रसुवाति**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराता है।

संक्षेप में, १. सविता—इन्द्रियों को उत्तम प्रेरणा देनेवाला योगी इन्द्रियों को बहिर्मुखता से हटाकर अन्तर्मुखता की ओर ले-चलता है—यही इन्द्रियों का युक्त करना है २. यज्ञादि कर्मों से यह उन्हें स्वर्ग की ओर जानेवाला बनाता है ३. बुद्धि के द्वारा उस 'प्रकाशमय बृहत् ज्योतिः' अर्थात् परमात्मा को अपनानेवाला होता है। ४. यह इन्द्रियों को सदा उत्तम प्रेरणा देता रहता है। 'हे आँख! तूने भद्र ही देखना है। हे कान! तूने भद्र ही सुनना है।' इस प्रकार यह इन्द्रियों को सचमुच 'देव' बना डालता है।

भावार्थ—इन्द्रिय-संयम-यज्ञ को करते हुए हम स्वर्ग साधक-कर्मों को ही करें। ज्ञान प्राप्त करें। परमात्म-दर्शन के लिए प्रयत्नशील हों। इन्द्रियों को सदा उत्तम प्रेरणा दें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

ईश-ध्यान

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥४॥

१. **विप्राः**=विशेषरूप से ज्ञान द्वारा अपना पूरण करनेवाले **होत्राः**=सदा यज्ञ करके खानेवाले ज्ञानी लोग **मनः युञ्जते**=मन को उस परमात्मा में लगाते हैं। २. **उत**=और **विप्रस्य**=ज्ञानी **बृहतः**=सदा वर्धमान **विपश्चितः**=सर्वद्रष्टा उस प्रभु के **धियः**=प्रज्ञानों को **युञ्जते**=अपने साथ जोड़ते हैं। ३. वह **एकः इत्**=एक ही **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाला है और **विदधे**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है। ४. उस **सवितुः देवस्य**=प्रेरक देव की **परिष्टुतिः**=वेदों में सब ओर सुनाई पड़नेवाली स्तुति **मही**=महान् है। ५. जब हम अपने मन को विषयों से हटाकर उसे आत्मतत्त्व के दर्शन में लगाने का प्रयत्न करते हैं तब उस महान् ज्ञानी प्रभु की ज्ञानवाणियों को अपने साथ जोड़नेवाले बनते हैं। उन वाणियों द्वारा हम जान पाते हैं कि उस प्रभु ने ही सारे लोक-लोकान्तरों को बनाया है और उस प्रभु की स्तुति महान् है।

भावार्थ—हम अपने मनों को प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें और उसकी बनाई इस सृष्टि में उसकी महिमा को देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

वाणी का श्रावण

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥५॥

१. **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी को **नमोभिः**=नमन के द्वारा **पूर्व्यम्**=सृष्टि से पहले होनेवाले (अग्रे समवर्त्तत) **ब्रह्म**=प्रभु से **युजे**=सङ्गत करता हूँ। प्रातः-सायं नमस् की उक्तियों के द्वारा तुम प्रभु के समीप पहुँचते हो। २. इस प्रकार समीप पहुँचने पर **सूरेः**=उस उत्तम प्रेरणा देनेवाले ज्ञानी प्रभु की **श्लोकः**=छन्दोरूप वाणियाँ **पथ्या इव**=पथ-प्रदर्शिका के रूप में **विएतु**=तुम्हें विशिष्टरूप से प्राप्त हों। इन वाणियों में हम 'जीवन-यात्रा को किस प्रकार चलाना'—इस बात का विविध रूपों में उपदेश पाते हैं। ३. **विश्वे**=सब **अमृतस्य पुत्राः**=उस अमृत प्रभु के पुत्र, अर्थात् उस अमृत पिता की भाँति ही विषयों के पीछे न मरनेवाले योगिजन **शृण्वन्तु**=इन वाणियों को सुनें। ये वाणियाँ विषयासक्त पुरुषों को सुनाई नहीं पड़तीं। इन्हें तो वही सुनते हैं **ये**=जो **दिव्यानि धामानि**=प्रकाशमय तेजों के **आतस्थुः**=अधिष्ठाता बनते हैं। विषय-व्यावृत्त होकर यदि हम नम्रता से उस प्रभु के चरणों में उपस्थित होते हैं तो उस प्रभु की प्रकाशमयी वाणियों को सुन पाते हैं। यह विषय-व्यावृत्ति हमें दिव्य तेजों का अधिष्ठाता बनाती है।

भावार्थ—हम विषय-व्यावृत्त होकर उस अमृत पिता के अमृत पुत्र बनें, और उस पिता की प्रकाशमयी वाणियों को सुनें।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

प्रभु-स्तुति

यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे सऽएतशो रजांसि देवः सविता महित्वना॥६॥

१. **यस्य देवस्य**=जिस देव के **प्रयाणम् अनु**=प्रयाण के निर्देशानुसार **अन्ये देवाः**=अन्य सब देव **इत्**=निश्चय से **ययुः**=चलते हैं। प्रभु ने इन देवों का जो भी मार्ग निश्चित

किया है उसी मार्ग पर ये सब निरन्तर चल रहे हैं। २. **यस्य ओजसा**=जिस देव के ओज से **अन्ये देवाः**=दूसरे सब देव **महिमानम्**=महिमा को **ययुः**=प्राप्त होते हैं। **'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'** इत्यादि वाक्यों के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा आदि को उस प्रभु से ही प्रभा प्राप्त हुई है। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=उसी की चमक से सब पदार्थ चमक रहे हैं। जहाँ कहीं भी विभूति, श्री व ऊर्ज् है यह सब उस महान् देव का ही अंश है। **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**=देवों को देवत्व प्रभु से ही प्राप्त हुआ है। ३. **यः सविता देवः**=जो सबका उत्पादक देव **महित्वना**=अपनी महिमा से **पार्थिवानि रजांसि**=इन सब पार्थिव लोकों को **विममे**=विशेष माप से बनाता है। ४. **सः**=वही देव **एतशः**=(एतानि शेते) इन सब लोकों में निवास कर रहा है। उसके निवास से ही सब लोकों का धारण हो रहा है। सूर्यादि में प्रभु का निवास न हो तो वे एक बुझे कोयले की भाँति ही लगेंगे।

भावार्थ—१. प्रभु के प्रशासन में ही सब देव गति कर रहें हैं। २. उसके ओज से ही ये महिमावाले हो रहे हैं। ३. वही इन सबका निर्माण करते हैं। ४. वही इनका धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु-भक्त के लक्षण (ज्ञान+माधुर्य)

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥७॥

१. हे **देव सवितः**=दिव्यताओं के पुञ्ज, सबके प्रेरक प्रभो! **यज्ञं प्रसुव**=आप हममें यज्ञ की भावना को प्रेरित कीजिए। आप से प्रेरणा प्राप्त करके हम यज्ञशील हों। २. **यज्ञपतिम्**=मुझ यज्ञपति को, यज्ञों की निरन्तर रक्षा करनेवाले को, यज्ञशील को **भगाय प्रसुव**=ऐश्वर्य के लिए प्रेरित कीजिए। यज्ञमय जीवनवाला मैं यज्ञिय उपायों से ही सेवनीय धन का लाभ करूँ। ३. वह **दिव्यः**=प्रकाशमयरूप में स्थित होनेवाला **गन्धर्वः** =वेदवाणी का धारण करनेवाला **केतपूः**=ज्ञान को पवित्र करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **केतम्**=ज्ञान को **पुनातु**=पवित्र करे। उस प्रभु की कृपा से हमारी ज्ञानाग्नि पवित्र पदार्थों के ज्ञान से ही दीप्त हो। हम अपने मस्तिष्क में कूड़ा-करकट ही न भरते चलें। ४. और **वाचस्पतिः**=वाणी का पति प्रभु **नः वाचम्**=हमारी वाणी को **स्वदतु**=स्वादवाला बना दे। हमारी वाणी में माधुर्य हो।

भावार्थ—१. हमारा जीवन यज्ञमय हो। २. यज्ञिय उपायों से ही हम सेवनीय धन को प्राप्त करें। ३. हमारा ज्ञान पवित्र व उज्ज्वल हो। ४. वाणी मधुर हो। संक्षेप में यज्ञ का परिणाम भग-धन है, ज्ञान का परिणाम माधुर्य। यज्ञ से हम भग को प्राप्त करें, ज्ञान से माधुर्य को। यही प्रभु-भक्त के लक्षण हैं। प्रभु-भक्त के अन्दर ज्ञानाग्नि दीप्त हो रही होती है तो उसके बाह्य व्यवहार में मधुर, शान्त-वचनों का जल बहता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक्शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

विज्ञान+स्तुति

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳसखिविदꣳसत्राजितं धनजितꣳस्वर्जितम्।
ऋचा स्तोमꣳसमर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा॥८॥

१. हे **देव सविता**=प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **नः**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ

को **प्रणय**=आगे बढ़ाइए। (क) **देवाव्यम्**=जो यज्ञ वायु आदि सब देवों को (अवति=प्रीणयति) प्रीणित करनेवाला है। (ख) **सखिविदं**=जो यज्ञ हमें अपने सखा (परमात्मा) को (विद् लाभे) प्राप्त करानेवाला है। (ग) **सत्राजितम्**=जो सत्य का विजंय करनेवाला है। (घ) **धनजितम्**=धन को जितानेवाला है। (ङ) **स्वर्जितम्**=सुख व स्वर्ग को जितानेवाला है। २. एवं, हमारे जीवन में उस यज्ञ का स्थान हो जो यज्ञ इहलोक व परलोक—दोनों का कल्याण सिद्ध करता है। वायु आदि सब देवों का शोधक होने से यह **'देवाव्य'** है, परमात्मा को प्राप्त करानेवाला है, जीवन को सत्यमय बनाता है। ३. हे प्रभो! आप हमारे जीवनों में **ऋचा**=विज्ञान से **स्तोमम्**=स्तुति को **समर्धय**=समृद्ध कीजिए। **'ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते'**=ज्ञान हमारे ध्यान में विशेषता उत्पन्न करनेवाला हो। पदार्थों के विज्ञान से हमें कण-कण में उस प्रभु की महिमा दिखे। उदाहरणार्थ—उड़द वातनाशक हैं, उड़द की दाल वातकारक है। प्रभु ने उड़द के दो दलों में एक पतली सींक-सी रक्खी है जो वातनाशक है। दाल बनाने पर वह छिटकी जाकर अलग हो जाती है, अतः उसका वातनाशक तत्त्व नष्ट हो जाता है। ४. **गायत्रेण**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राण-तत्त्व की रक्षा से **रथन्तरम्**=(ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरं—तै० २।७।१।१)। हमारे ब्रह्मवर्चस् को **समर्धय**=बढ़ाइए। हमारा शरीर प्राणशक्ति-सम्पन्न हो तो हमारा मस्तिष्क ज्ञान की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो। ५. हमारा **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत स्तोम **गायत्र-वर्त्तनि**=प्राण के मार्गवाला हो, अर्थात् हम प्राणशक्ति-सम्पन्न हों और उस स्तुति के करनेवाले हों जो हमारी वृद्धि का कारण बनती है। ६. **स्वाहा**=इस सबके लिए हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारे जीवन में यज्ञ हो। विज्ञान के साथ स्तुति हो। प्राणशक्ति के साथ ब्रह्मवर्चस् हो। प्राणशक्ति की वृद्धि के साथ हमारे जीवन में वह स्तुति हो जो हमारी वृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिगतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः॥

'गायत्र-त्रैष्टुभ' छन्द

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
आद॑दे गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्पृ॑थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं
पु॑री॒ष्य॒मङ्गिर॒स्वदाभ॑र॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्॥९॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार अपना जीवन बनाने के लिए मैं **त्वा**=तुझे अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=सर्वोत्पादक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। न अतिमात्रा न अ-मात्रा में, अपितु यथोचित मात्रा में। २. **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् बिना श्रम के मैं किसी वस्तु को लेना पाप समझता हूँ। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् पोषण के दृष्टिकोण से ही मैं प्रत्येक वस्तु का स्वीकार करता हूँ। वस्तुओं के ग्रहण में 'उपयोगिता' न कि 'स्वाद व सौन्दर्य' मेरा मापक है, इसीलिए तो भोगों का शिकार नहीं होता। ४. **गायत्रेण छन्दसा**=(गयाः प्राणाः, त्र रक्षण) प्राण-रक्षण की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति मैं इस संसार में चलता हूँ। जो व्यक्ति इन भौतिक वस्तुओं की कामना 'प्राणरक्षण की उपयोगिता' के विचार से करता है वह **'अङ्गिरस्'**=रसमय अङ्गोंवाला, अर्थात् सदा लोच और लचक से युक्त अङ्गोंवाला बना रहता है—उसका शरीर

सूखे काठ की तरह नहीं हो जाता। प्रभु कहते हैं कि **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **सधस्थात्**=(सहस्थानात्) मिलकर बैठने के स्थान से **पुरीष्यम्**=(यः सुखं पृणाति स पुरीषः तत्र साधुम्—द०) जीवन को सुखी बनानेवाले **अग्निम्**=अग्नि को **आभर**=तू हव्यद्रव्यों से आभृत कर **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरा की भाँति तू नियमितरूप से अग्निहोत्र करनेवाला बन। अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति नीरोग बनकर बड़े सुखी जीवनवाला होता है। उसके शरीर के सब अङ्ग नीरोगता के कारण रसमय बने रहते हैं। ५. **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=अब तू 'काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस की भाँति बनने का प्रयत्न कर। ६. अङ्गिरा बनने के लिए 'गायत्र' व त्रैष्टुभ' छन्द साधन रूप हैं। प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल कामना हममें हो तथा काम-क्रोध-लोभ को रोकने के लिए हमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

भावार्थ—मैं संसार में प्रभु की अनुज्ञा के अनुसार, यत्नपूर्वक, पोषण के दृष्टिकोण से वस्तुओं का ग्रहण करूँ। 'प्राणशक्ति की रक्षा व काम-क्रोध-लोभ के वेग को रोकना' मेरे जीवन का ध्येय हो। मैं 'अङ्गिरस' बनूँ। अङ्गिरस् की भाँति अग्निहोत्र करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'जागत' छन्द

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निꣳशकेम खनितुꣳसधस्थ आ।
जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत्॥१०॥

१. श० ६।४।१।५ में 'वाग्वा अभ्रिः' (अभ्रति गच्छति मलं यस्मात्) इन शब्दों में वेदवाणी को 'अभ्रि' कहा है। इस वेदवाणी के द्वारा हमारे सब मल दूर होते हैं, अतः **अभ्रिः असि**=तू अभ्रि है। इन ज्ञान की वाणियों से हमारा जीवन पवित्र होता है। २. **नारी असि**=जीवन को पवित्र करके तू नरहित को सिद्ध करनेवाली है। ३. **त्वया**=तेरे द्वारा **वयम्**=हम **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **खनितुं शकेम**=खोदने में समर्थ हों। **खन्**=excavate, cave में से—गुहा में से—बाहर ला सकें। वे प्रभु 'गुहाहितं'-गह्वरेष्ठम्' हैं। हम एक-एक कोश को अलग करते हुए उस प्रभु तक पहुँच सकें। ४. **जागतेन छन्दसा**=लोकहित की प्रबल कामना से **सधस्थे**=मिलकर एक स्थान पर बैठने की इस जगह पर, अर्थात् यज्ञवेदी पर **आ**=एकत्र होकर हम **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनें। यह अग्निहोत्र, वायुमण्डल की शुद्धि के द्वारा नीरोगता को उत्पन्न करके लोकहित का साधक होता है।

भावार्थ—हम हृदयरूप गुहा में स्थित प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करें। उस कार्य में यह वेदवाणी हमारी सहायिका होगी। यह हमारे सब मलों को दूर करती है। शुद्ध हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। लोकहित के दृष्टिकोण से हम अग्निहोत्र को अपनाएँ। यह वायु-शुद्धि द्वारा नीरोगता को उत्पन्न कर जगती का कल्याण करता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

'आनुष्टुभ' छन्द

हस्तऽआधाय सविता बिभ्रदभ्रिꣳहिरण्ययीम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत्॥११॥

१. **सविता**=अपने में ज्ञानैश्वर्य उत्पन्न करनेवाला 'सविता' गत मन्त्र में वर्णित वेदवाणी

को **हस्ते आधाय**=हाथ में धारण करके, (on the tip of his fingers), अर्थात् वेद-ज्ञान को आत्मसात् (assimilate) करके इस **हिरण्ययीम्**=ज्योतिर्मयी-ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण **अभ्रिम्**=मलों के दूर करनेवाली (अभ्रति गच्छति मलं यस्मात्) वेदवाणी को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **अग्नेः ज्योतिः**=उस अग्रेणी प्रभु के प्रकाश को **निचाय्य**=निश्चय से प्राप्त करके **पृथिव्याः अधि आभरत्**=अपने को पृथिवी से ऊपर उठाता है, अर्थात् सविता (क) वेदवाणी को अपनाता है। (ख) उसके ज्योतिर्मय ज्ञान को धारण करता है। (ग) प्रभु के प्रकाश को देखता है। (घ) और परिणामतः उस प्रभु-दर्शन के सुख की तुलना में उसके लिए सब पार्थिव भोग अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं। २. अब यह **आनुष्टुभेन**=अनुक्षण उस प्रभु के स्तवन की **छन्दसा**=इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन जाता है। वस्तुतः जिस व्यक्ति का जीवन सतत प्रभु स्मरणवाला हो जाता है उसका जीवन कभी भी इन प्राकृतिक विषयों से बद्ध नहीं होता, वह कभी भी भोगों का शिकार नहीं होता। परिणामतः उसके जीवन में उसके अङ्ग कभी नीरस नहीं होते।

भावार्थ—हम वेदवाणी का स्मरण करें। उसकी ज्ञान-ज्योति को देखें। प्रभु के प्रकाश का अनुभव करें। प्रतिक्षण प्रभु-स्मरण से जीवन को सरस बनाएँ।

सूचना—मन्त्र ९ से ११ तक क्रमशः 'गायत्र, त्रैष्टुभ, जागत व आनुष्टुभ' छन्दों का उल्लेख है। सामान्यतः ब्रह्मचारी को 'गायत्र' छन्दवाला होना है, वीर्यरक्षा द्वारा अपनी प्राणशक्ति का उचित पोषण करना उसका कर्त्तव्य है। गृहस्थ में प्रवेश करते समय 'त्रैष्टुभ' छन्द का पोषण करना है कि मुझे 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकना है। वनस्थ होकर उसका छन्द 'जागत' हो गया है—जगती के हित के लिए वह अपने को साधना में चला रहा है और अन्त में संन्यस्त होकर वह आनुष्टुभ छन्दवाला हुआ है, यह अनुक्षण प्रभु का स्मरण करता हुआ जीवन-यात्रा को पूर्ण कर रहा है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—वाजी। **छन्दः**—आस्तारपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सर्वोत्तम संविभाग

प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्॥१२॥

१. गत मन्त्र का आनुष्टुभ छन्द को अपनानेवाला, निरन्तर प्रभु-स्मरण करनेवाला 'सविता' सदा प्रभु के समीप रहने से 'नाभानेदिष्ठ' बना है—केन्द्र के समीप रहनेवाला। प्रभु संसार की नाभि-केन्द्र हैं, यह सदा प्रभु का उपासक रहता है। प्रभु की शक्ति से यह शक्ति-सम्पन्न बनता है और वाज=शक्तिवाला होने से 'वाजिन्' शब्द से यहाँ सम्बोधित हुआ है। हे **वाजिन्**=शक्तिशालीन् उपासक! **प्रतूर्तम्**=शीघ्रता से, आलस्य-शून्यता से **आद्रव**=समन्तात् गतिवाला हो—अपने सब कर्त्तव्यों को करनेवाला बन। २. तू अपने कर्त्तव्यों को **वरिष्ठां संवतं अनु** (सम् वन् क्विप्)=उत्कृष्ट सम्भजन—संविभाग के अनुसार करनेवाला हो। तू किसी एक ही कर्त्तव्य में न उलझ जा। यह उत्कृष्ट सम्भजन व संविभाग यह है कि—३. (क) **दिवि**=द्युलोक में, मस्तिष्क में **ते**=तेरा **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट **जन्म**=प्रादुर्भाव व विकास हो, अर्थात् तू अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक ऊँचाई तक ले-जाने का प्रयत्न कर। ज्ञान-प्राप्ति में तू सन्तोष करके कभी बैठ न जा। (ख) **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **तव**=तेरा **नाभिः**=बन्धन हो (नह बन्धने)। मन 'हृत् प्रतिष्ठ' है—तू अपने मन को हृदय में स्थिर

करने का प्रयत्न कर। अथवा **अन्तरिक्षे**=(अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग में **तव**=तेरा **नाभिः** =बन्धन हो, अर्थात् तू सदा मध्यमार्ग में चलनेवाला बन। (ग) **इत्**=निश्चय से **योनिः**=तेरा घर **पृथिव्याम् अधि**=पृथिवी के ऊपर हो, तू अपने इस पार्थिव शरीर के अन्दर ही रहनेवाला हो—'स्वस्थ' हो। अथवा निश्चय से तेरा यह स्वस्थ शरीर तेरी सब उन्नतियों का कारण बने। 'धर्मार्थकाममोक्ष' सभी पुरुषार्थों का मूल यह आरोग्य ही तो है। एवं, तू ज्ञान से अपने मस्तिष्क को उज्ज्वल बना, सदा मध्यमार्ग पर चलते हुए अपने मन को वासनाओं से बचा और आरोग्य को सब उन्नतियों का मूल जानते हुए शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यत्नशील हो। इस प्रकार तेरा प्रयत्न मस्तिष्क, मन व शरीर तीनों के लिए संविभक्त हो। ४. एवं, नाभानेदिष्ठ अपने प्रयत्न को उचित संविभागपूर्वक विनियुक्त करता हुआ अपने उपास्य प्रभु की भाँति ही त्रि-विक्रम बनता है। उसका पुरुषार्थ शरीर, मन व बुद्धि तीनों के लिए होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन का केन्द्र प्रभु हों। उस केन्द्र से ज्ञान, नैर्मल्य व स्वास्थ्य की रश्मियों का प्रसार हो।

ऋषिः—कुश्रिः। देवता—वाजी। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

रासभ-योग

युञ्जाथाᳬरासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू। अग्निं भरन्तमस्मयुम्॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो पति-पत्नी प्रभु को अपने जीवन का केन्द्र बनाते हैं वे **वृषण्वसू**=शक्तिशाली अथवा सुखों के वर्षक प्रभुरूप धनवाले होते हैं। इन पति-पत्नी से कहते हैं कि—२. **युवम्**=तुम दोनों **अस्मिन् यामे**=इस जीवन-मार्ग में **रासभम्**=(रास् शब्दे) हृदयस्थ होकर सदा ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करनेवाले उस प्रभु को **युञ्जाथाम्**=अपने साथ युक्त करने का प्रयत्न करो। तुम्हारा मन उस प्रभु में लगे और तुम उस प्रभु की वाणी को सुनने के लिए यत्नशील होओ। ३. वे प्रभु **अग्निं भरन्तम्**=हमारे अन्दर अग्नि का भरण करनेवाले हैं—हमारे जीवन में उत्साह का सञ्चार करनेवाले हैं और **अस्मयुम्**=(**अस्मान् कामयमानम्**—उ०) सदा हमारा हित चाहनेवाले हैं, अतः प्रभु की वाणी को सुनने से अवश्य हमारा भला ही होगा और हमें जीवन में कभी निराशा न होगी। हम सदा सोत्साह बने रहेंगे। ३ वे प्रभु प्रस्तुत मन्त्र में 'रासभ' कहे गये हैं—वे (रास् शब्दे) हृदयस्थरूपेण सब विद्याओं का उपदेश देते रहते हैं। इन विद्याओं का उपदेश देने से ही वे '**कु**' (**कौति सर्वा विद्याः**) कवि हैं। उनकी (श्रि सेवायाम्) उपासना करने से प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि '**कु-श्रि**' है। यह इस '**कु**'=कवि की काव्यमय वाणियों में उत्साह व हित देखता है। उसी का उपासन, मनन करता है।

भावार्थ—हम अपनी जीवन-यात्रा में प्रभु को अपने से युक्त करके चलें। उस प्रभु की वाणियाँ हमारे जीवन में अग्नि=उष्णता व उत्साह का सञ्चार करेंगी।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

तवस्तर

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखायऽइन्द्रमूतये॥१४॥

१. गत मन्त्र में, अपने जीवन-मार्ग में प्रभु को युक्त करने का उपदेश था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **योगेयोगे**=जब-जब हम प्रभु से अपना योग करते हैं तब वे प्रभु **तवस्तरम्**=(तवस्=बल) हमारे बल को अधिक और अधिक बढ़ाते हैं। पिछले मन्त्र में प्रभु

से मेल करनेवाले पति-पत्नी को '**वृषण्वसू**' कहा था—शक्तिशाली, प्रभुरूप धनवाले। प्रभु को अपना धन बनाकर वे वाजी=शक्तिशाली बने थे। उस १३वें मन्त्र का विषय (देवता) यह 'वाजी' ही था। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि '**शुनःशेप**'=सुख का निर्माण करनेवाला है। शक्तिशाली का ही जीवन सुखी होता है। यह 'शुनःशेप' भी प्रभु के योग के कारण 'क्षत्रपति' है, बल का स्वामी है। यही प्रस्तुत मन्त्र का देवता=विषय है। २. **वाजे-वाजे**=प्रत्येक संग्राम में **हवामहे**=हम उस प्रभु को पुकारते हैं। वस्तुतः उस प्रभु ने ही विजय करानी है। हमारी शक्ति विजय करने की नहीं। हमारा रथ प्रभु से अधिष्ठित होता है तो विजयी होता है अन्यथा इसके लिए पराजय-ही-पराजय है। ३. **सखायः**=अतः हम उस प्रभु के सखा बनने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वे प्रभु हमारे '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**'=सयुज् सखा हैं—कभी साथ न छोड़नेवाले मित्र हैं। ४. **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए हम अपने साथ युक्त करते हैं। प्रभु से युक्त होने पर इस प्रभु के नाम-श्रवण से ही शत्रुओं के सेनापति काम का संहार हो जाता है। सब शत्रुओं का विजय करके हम अपने जीवन को बड़ा सुखी बना पाते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें शक्तिशाली बनाती है। शत्रुओं के साथ संग्राम में हमें विजयी करती है। हमारा जीवन सुखमय होता है।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—गणपतिः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

गणपतित्व

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह॥१५॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार प्रत्येक संग्राम के अवसर पर प्रभु को पुकारते हुए **अशस्तीः**=सब अशुभ-अशंसनीय बातों को **अवक्रामन्** (क्रमु पादविक्षेपे)=पाँवो तले कुचलते हुए **प्रतूर्वन्**=आसुरवृत्तियों को प्रकर्षेण हिंसित करते हुए **एहि**=तू गति कर। मनुष्य के लिए यही उचित है कि अशुभ कर्मों को कुचल डाले। २. इस प्रकार करता हुआ **मयोभूः**=कल्याण का भावन करनेवाला तू **रुद्रस्य**=(रुत्+र) ज्ञान का उपदेश देनेवाले रुद्र के **गाणपत्यम्**=गणपतित्व को **एहि**=प्राप्त हो। जो भी व्यक्ति अशुभ बातों को अपने जीवन में नहीं आने देते और परिणामतः कल्याण का भावन करते हैं वे प्रभु के गण कहलाते हैं, इस गण के मुख्य स्थान में होना ही 'गाणपत्य' की प्राप्ति है। ३. इस गाणपत्य से प्रभु कहते हैं कि **उरु अन्तरिक्षं वीहि**=तू विशाल हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त कर। तेरा हृदय विशाल हो। तू संकुचित हृदय न बन। ४. **स्वस्तिगव्यूतिः**=कल्याण के मार्गवाला हो (गव्यूतिः=मार्गः)। तू कभी अशुभ मार्ग पर चलनेवाला न हो। तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों की चरागाह कल्याण-ही-कल्याण को देनेवाली हो। तेरी इन्द्रियाँ अशुभ मार्ग पर जानेवाली न हों। ५. अशुभ मार्ग पर न जाकर **अभयानि कृण्वन्**=तू अपने जीवन को निर्भय बनानेवाला हो। पाप में ही तो भय है। न पाप हो, न भय हो। ६. **सयुजा पूष्णा सह**=तू सदा अपने साथ रहनेवाले मित्र और पोषण करनेवाले प्रभु के साथ रहनेवाला बन। प्रभु के साथ रहना ही निर्भयता का मार्ग है।

भावार्थ—हम अशुभ का विनाश करें। उस रुद्र के गण के पति बनें। विशाल हृदयवाले, शुभ-मार्गवाले, निर्भय तथा सदा प्रभु के सयुज् सखा बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्नि=अग्निहोत्र की ओर

पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं
पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्यामः ॥१६॥

१. पिछले मन्त्र में 'पूष्णा सयुजा सह' इन शब्दों में सदा प्रभु के उपासन का प्रतिपादन था। प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्निहोत्र' का प्रतिपादन करते हैं। 'शुनःशेप' के लिए—जीवन को सुखी बनाने की इच्छावाले के लिए—'सन्ध्या व अग्निहोत्र' दोनों ही आवश्यक हैं। २. प्रभु कहते हैं कि **पृथिव्याः सधस्थात्**=पृथिवी के इस सधस्थ से—मिलकर बैठने के स्थान से **पुरीष्यम्**=(पुरीषम्=उदकं तत्र साधुः) वृष्टिरूप जल को देने में उत्तम अथवा (पृणाति सुखं, तत्र साधुः) नीरोगता के द्वारा सुख देनवालों में उत्तम **अग्निम्**=इस यज्ञ की अग्नि को **आभर**=धारण कर। घर का सबसे पहला कमरा 'हविर्धानम्'=अग्निहोत्र के लिए ही तो बनाना है। उस कमरे में अग्निहोत्र के समय घर के सभी व्यक्ति मिलकर बैठें। यह स्थान 'सधस्थ' समझा जाए। ३. प्रभु की इस वाणी को सुनकर 'शुनःशेप' कहता है कि हम **पुरीष्यम्**=सुखों का पूरण करनेवाली, वृष्टिजल की कारणभूत **अग्निं अच्छ**=अग्नि की ओर **इमः**=आते हैं, उसी प्रकार **'अङ्गिरस्वत्'** जैसेकि अङ्गिरस् लोग जाते हैं। इस अग्निहोत्र को नियम से करनेवाले लोग नीरोग और अतएव अङ्गिरस् बनते हैं। इनके अङ्ग सदा जीवन-रस से परिपूर्ण बने रहते हैं। ४. शुनःशेप का निश्चय है कि हम **अङ्गिरस्वत्**=इन अङ्गिरस् लोगों की भाँति **पुरीष्यं अग्निम्**=सुखों की पूरक इस अग्नि को **भरिष्यामः**=भविष्य में भी सदा अग्निकुण्ड में धारण करनेवाले बनेंगे। ५. **'सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता'**—अ० १९।५५।३ **'प्रातःप्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता'**—अ० १९।५५।४। अर्थात् प्रत्येक सायंकाल प्रबुद्ध किया हुआ हमारे घरों का रक्षक यह अग्नि प्रातः तक शुभ चित्त का देनेवाला होता है और प्रत्येक प्रातःकाल प्रबुद्ध किया हुआ यह गृहपति अग्नि सायं तक शुभ चित्तवृत्ति का देनेवाला होता है। एवं, यह अग्निहोत्र सचमुच हमारे जीवन को सुखी बनाता है और हम शुनःशेप बनते हैं।

भावार्थ—हम अग्निहोत्र को सदा अपने घरों का पति बनाएँगे, जिससे हमारी मनोवृत्तियाँ शुभ बनी रहें और हम सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—पुरोधाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'पुरोधाः' का दैनिक कार्यक्रम

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवीऽआततन्थ ॥१७॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पुरोधाः' है, जो औरों से पहले अपना धारण करता है। 'यह अपने को अग्रभाग में कैसे स्थापित कर पाया है', इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देते हैं कि १. यह **अग्निः**=निरन्तर अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाला व्यक्ति **उषसाम् अग्रम् अनु**=उषा के अग्रभागों के साथ-साथ, अर्थात् प्रत्येक उषाकाल के प्रारम्भ में **अख्यत्**=उस प्रभु के गुणों का प्रकथन करता है। (ख्या प्रकथने)। इसका दैनिक कार्यक्रम प्रभु-गुण स्मरण से प्रारम्भ होता है। २. **अहानि अनु**=प्रत्येक दिन के साथ, अर्थात् प्रतिदिन यह **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है, शक्ति-विस्तार के लिए

यह प्रतिदिन के व्यायाम आदि को नियम से करता है। ३. **जातवेदाः**=प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। नैत्यिक स्वाध्याय से यह अपने ज्ञान को बढ़ाता चलता है। एवं, प्रभु-स्तवन, व्यायामादि व स्वाध्याय तो यह सूर्योदय से पहले ही कर लेता है **च**=और ४. **सूर्यस्य रश्मीन् अनु**=सूर्य की रश्मियों के खूब फैलने के साथ **पुरुत्रा**=यह बहुत ही स्थानों पर जाता है। जीविकोपार्जन के लिए यह विविध स्थानों पर आता-जाता है, परन्तु यह ध्यान रखता कि कहीं इसके मस्तिष्क व शरीर पर अवाञ्छनीय प्रभाव न हो जाए। ५. जीविकोपार्जन के अपने प्रयत्नों को यह **आततन्थ**=विस्तृत तो करता है, परन्तु **द्यावापृथिवी अनु**=अपने मस्तिष्क व शरीर के स्वास्थ्य का ध्यान करते हुए। इनके स्वास्थ्य के साथ-साथ यह धनार्जन करने का विचार करता है। कार्य को इतना नहीं फैला देता कि उसके न सँभलने से वह इसकी सिरदर्दी का ही कारण बन जाए।

भावार्थ—१. उषा के प्रारम्भ से पहले ही उठकर यह प्रभु-कीर्तन करता है। २. उचित व्यायाम करता है। ३. प्रभु के बनाये पदार्थों की रचना का ज्ञान प्राप्त करता है जिससे इनमें प्रभु की महिमा को देखे और इन पदार्थों का ठीक प्रयोग कर सके। ४. अब आजीविका के लिए कर्म में लगता है। ५. कार्य को इतना नहीं फैला लेता कि यह उसके मस्तिष्क की चिन्ताओं का कारण बन जाए और शरीर को दूषित कर दे।

ऋषिः—मयोभूः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'मयोभू' के तीन कार्य

आगत्य वाज्यध्वानꣳसर्वा मृधो विधूनुते।
अग्निꣳसधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते॥१८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार दैनिक कार्यक्रम को चलानेवाला व्यक्ति शक्तिशाली बनता है। यह **वाजी**=शक्तिशाली व्यक्ति **अध्वानम् आगत्य**=मार्ग पर आकर २. **सर्वाः मृधः**=सब हिंसकों को, कार्य के विघ्नों को **विधूनुते**=कम्पित करके दूर कर देता है। संक्षेप में, यह मार्ग पर चलता है, कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। यह मार्ग में आये विघ्नों को दूर करने के लिए यत्नशील होता है। इसके जीवन में कभी निराशा व निरुत्साह नहीं आ जाते। ३. मार्ग पर चलता हुआ तथा आये हुए विघ्नों को दूर करके आगे बढ़ता हुआ यह **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **महति सधस्थे**=महनीय—जीवात्मा और परमात्मा के साथ ठहरने के उत्तम स्थान में, अर्थात् हृदयाकाश में **चक्षुषा**=विषयव्यावृत्त चक्षु के द्वारा, अन्तर्मुखदृष्टि के द्वारा **निचिकीषते**=(पश्यति—उ०) देखता है, अर्थात् अपनी जीवन-यात्रा में प्रभु को कभी भूलता नहीं। प्रतिदिन प्रातःसायं अर्न्तदृष्टि होकर हृदयरूप गुहा में विचरनेवाले अपने मित्र प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—मयोभूः=कल्याण का भावन करनेवाला तीन बातें करता है—१. सन्मार्ग पर चलता है। २. विघ्नों को दूर करता है। ३. अन्तर्मुख होकर हृदयस्थ प्रभु के दर्शन करता है।

ऋषिः—मयोभूः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रभु-अन्वेषण (Seeking after God)

आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम्।
भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम्॥१९॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **पृथिवीम् आक्रम्य**=इस पृथिवी पर आक्रमण करते हुए, अर्थात् सफलतापूर्वक संसार-यात्रा को चलाते हुए **त्वम्**=तू **रुचा**=दीप्ति के हेतु से **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा को **इच्छ**=चाह, उसका अन्वेषण कर। जीव शक्तिशाली बने। शक्तिशाली बनकर गत मन्त्र के अनुसार सन्मार्ग पर चले, विघ्नों को दूर करे और इस प्रकार सफलता से इस पार्थिव संसार में जीवन-यात्रा को चलाते हुए प्रभु की खोज की वृत्तिवाला बने (seeker after God)। ऐसा बनने से जीवन दीप्त हो उठता है। पृथिवी पर सफलता से आक्रमण का अभिप्राय स्वर्ग की प्राप्ति है तो 'प्रभु के अन्वेषण की इच्छा' उस सोने पर सुहागे का काम करती है। यह स्वर्ण चमक उठता है। २. **भूम्याः**=भूमि से अर्थात् इन पार्थिव भोगों में फँस जाने की अपेक्षा **वृत्वाय**=प्रभु का वरण करके **नः ब्रूहि**=तू हमारे प्रति भी उस प्रभु का प्रवचन कर **यतः**=जिससे **वयम्**=हम भी **तम्**=उस प्रभु को **खनेम**=खोजनेवाले बनें। 'खनेम' शब्द का अर्थ खोदकर निकालना है। पर्वतों में छिपाकर रखे सोने को हम खोदकर निकालते हैं। वहाँ उपरले आवरणों को हटाना होता है, ठीक इसी प्रकार यहाँ अन्नमयादि पाँच कोशों के आवरण को हटाकर आत्मा तक पहुँचते हैं। इस आवरण के हटाने के लिए हम पार्थिव भोगों से ऊपर उठें। **'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'** का ठीक-ठीक अर्थ यही है कि आत्म-प्राप्ति के लिए पार्थिव भोगों को छोड़ना ही होता है। जीवन तभी चमकता है। ऐहिक कल्याण सफलतापूर्वक जीवन-यात्रा को चलाने में है तो आमुष्यिक कल्याण उस प्रभु को खोजने में है। इन दोनों अभ्युदय व निःश्रेयस को मिला देना ही सच्चा धर्म है।

भावार्थ—१. हम शक्तिशाली बनकर जीवन-यात्रा को सफलता से चलाएँ २. पार्थिव भोगों में न फँसकर आत्मा का अन्वेषण करें, तभी जीवन दीप्त होगा।

ऋषिः—मयोभूः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—निचृदार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

चमकता हुआ जीवन

द्यौस्ते॑ पृ॒ष्ठं पृ॑थि॒वी स॒धस्थ॑मा॒त्मान्तरि॑क्षꣳसमु॒द्रो योनि॑ः।
वि॒ख्याय॒ चक्षु॑षा॒ त्वम॒भि ति॑ष्ठ पृतन्य॒तः॥२०॥

१. पिछले मन्त्र में 'चमकते जीवन' का संकेत था। उसी का कुछ विस्तार से प्रतिपादन करते हैं कि **द्यौः ते पृष्ठम्**=द्युलोक=मस्तिष्क का ज्ञान ही तेरा पृष्ठ हो, आधार हो, मेरुदण्ड=(backbone) हो, अर्थात् ज्ञान तेरे जीवन का मूलाधार हो। तेरा जीवन ज्ञानमय हो। २. **पृथिवी सधस्थम्**=यह पृथिवी तेरा मिलकर रहने का स्थान हो। तू स्वयं भी रह और औरों को भी रहने दे। 'Live and let live' यह तेरे जीवन का सिद्धान्त हो। अथवा तेरा यह शरीर परमात्मा के साथ मिलकर रहने का स्थान हो। ३. **आत्मा**=मन **अन्तरिक्षम्** (**अन्तराक्षि**)=सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाला हो। अति में न जाकर यह सदा प्रत्येक वस्तु का यथोचित प्रयोग करे। ४. **समुद्रः**=सदा आनन्द के साथ होना ही (स+मुद्र) तेरा **योनिः**=निवास-स्थान—उत्पत्ति का कारण हो, अर्थात् तेरे लिए आनन्द सहज हो जाए। ५. **चक्षुषा**=विषयव्यावृत्त अन्तर्मुखीभूत आँख से **विख्याय**=आत्मतत्त्व का दर्शन करके **त्वम्**=तू **पृतन्यतः**=संग्राम के इच्छुक इन काम, क्रोध व लोभादि के आसुर भावों को **अभितिष्ठ**=पाँवों तले रोंद डाल। परमात्मदर्शन ही वासनाओं को कुचलने का साधन है।

भावार्थ—'ज्ञान, मिलकर रहना, मध्यमार्ग में चलना, प्रसन्नता, आत्मदर्शन तथा कामादि का पराभव' ये बातें तेरे जीवन के मुख्य अङ्ग हों।

ऋषिः—मयोभूः। देवता—द्रविणोदाः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

महान् सौभाग्य

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन्।
वयथंस्याम सुमतौ पृथिव्याऽअग्निं खनन्तऽउपस्थेऽअस्याः ॥२१॥

१. **द्रविणोदाः**=धन देनेवाला अतएव **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! (धन का त्याग करनेवाला व्यक्ति व्यसनों में नहीं फँसता, अतः शक्तिशाली बना रहता है) तू **अस्मात्**=इस **आस्थानात्**=सबके मिलकर बैठने के स्थान से **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **उत्क्राम**=ऊपर उठनेवाला बन। इन शब्दों से ये बातें स्पष्ट हैं—(क) यह पृथिवी हमारा 'आस्थान'—मिलकर रहने की जगह होनी चाहिए। (ख) यहाँ रहते हुए हम कमाएँ, परन्तु खूब देनेवाले हों (**द्रविणोदाः**)। (ग) धन का त्याग ही व्यसनों से बचाकर हमें शक्तिशाली बनाता है (**वाजिन्**)। (घ) हमारे जीवन का ध्येय पृथिवी से ऊपर उठना हो (उत्क्राम)। पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर ही हम 'महान् सौभाग्य' को प्राप्त कर सकते हैं। २. **वयं सुमतौ स्याम**=हम सदा कल्याणी मति में बने रहें। हमारे विचार सदा शुभ रहें। **अस्याः पृथिव्याः उपस्थे**=इस पृथिवी की गोद में रहते हुए, अर्थात् इस पार्थिव जीवन को व्यतीत करते हुए हम **अग्निम्**=उस प्रकाश के स्रोत प्रभु को **खनन्तः**=खोजते हुए अपना जीवन व्यतीत करें। साधना एवं चिन्तन के द्वारा अन्नमयादि कोशों से ऊपर उठते हुए हम हृदयरूप गुहा में स्थित प्रभु को पाने के लिए प्रयत्नशील हों। जिस दिन हम प्रभु का दर्शन कर रहे होंगे वह दिन हमारे महान् सौभाग्य का दिन होगा। इस महान् सौभाग्य की प्राप्ति के लिए हमें निरन्तर ऊपर उठना है। ऊपर उठते हुए वैषयिक संसार से परे पहुँचना है, तभी तो प्रभु से मेल होगा।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन ही महान् सौभाग्य है। उसके लिए हमें वैषयिक जगत् से परे पहुँचना है, अतः हमारी वृत्ति धन के त्यागवाली हो और हम शक्तिशाली हों।

ऋषिः—मयोभूः। देवता—द्रविणोदाः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

स्वर् आरोहण

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकःसुकृतं पृथिव्याम्।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निथंस्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम् ॥२२॥

१. **द्रविणोदाः**=धन का दान करनेवाला **वाजी**=शक्तिशाली पुरुष **उदक्रमीत्**=विषयों से ऊपर उठता है। २. यह **अर्वा**=(अर्व हिंसायाम्) विषय-वासनाओं की हिंसा करनेवाला—भोगवृत्ति से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **सुकृतम्**=पुण्यों से निर्मित **सुलोकम्**=उत्तम लोक को **अकः**=निर्मित करता है, अर्थात् धन के त्याग द्वारा वैषयिकवृत्ति से ऊपर उठकर यह शक्तिशाली बनता है, पुण्य की प्रवृत्तिवाला होकर उत्तम लोक का निर्माण करता है। २. **ततः**=इस प्रकार उत्तम जीवन बनाकर हम **उत्तमम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **नाकम्**=(**न अकं यस्मिन्**) दुःख से शून्य **स्वः**=स्वर्गलोक में **अधिरुहाणाः**=आरोहण करते हुए **सुप्रतीकम्**=शोभन मुखवाले=अत्यन्त तेजस्वी **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **खनेम**=खोजने में समर्थ हों। जब हम जीवन को उत्तम बनाते हैं तब हमारा जीवन सुखमय होता है, अभ्युदय-सम्पन्न होता है तथा हम प्रभु को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—निःश्रेयस को सिद्ध

कर पाते हैं। ३. एवं, 'मयोभूः' का जीवन सामान्यरूप से 'विषय-वासनाओं में न फँसकर प्रभु की खोजनेवाला' है। वस्तुतः 'ऐहिक जीवन का सुख' विषय-वासनाओं में न फँसने में ही है और 'आमुष्मिक कल्याण' प्रभु के अन्वेषण में है। यह 'मयोभूः' इस प्रभु का स्तवन करता है, अतएव 'गृत्स' (गृणाति इति) कहलाता है और सदा प्रसन्न रहता है (माद्यति) अतः 'मद' कहलाता है। यह 'मयोभूः' गृत्समद बनकर कहता है कि—'**आ त्वा जिघर्मि**'=हे प्रभो! मैं तो आपको ही अपने में दीप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—जीवन को सुखी बनाने का मार्ग यही है कि हम (क) धन का दान करें। (ख) वैषयिकवृत्ति से ऊपर उठें। (ग) पुण्यवाले उत्तम लोक का निर्माण करें। (घ) घर को स्वर्ग बनाते हुए प्रभु-दर्शन के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

देश-काल से अनविच्छिन्न प्रभु

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्॥२३॥

१. गृत्समद प्रभु का स्तवन करते हुए कहता है कि—हे प्रभो! मैं तो **आ**=सब प्रकार से **त्वा**=आपको ही **जिघर्मि**=दीप्त करता हूँ। आपका ही प्रकाश देखने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. इस आपके प्रकाश को मैं चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से तो देख ही नहीं पाता। आपका वह प्रकाश इन इन्द्रियों का विषय नहीं, इसी से आप अतीन्द्रिय हो। मैं आपके प्रकाश को **मनसा**=मन से देखता हूँ, परन्तु कौन-से मन से? **घृतेन**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) उस मन से जिसके सब मलों का क्षरण करके ज्ञान की दीप्ति से दीप्त करने का प्रयत्न किया गया है। ३. मैं उस आपको देखता हूँ जो आप **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों में **प्रतिक्षियन्तम्**=निवास कर रहे हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु उन्हें देखना तो हमें अपने हृदयों में ही है। ४. वे प्रभु **तिरश्च पृथुम्**=यह ब्रह्माण्ड एक सिरे से दूसरे सिरे तक जितना विस्तृत है, उससे अधिक विस्तृत हैं (प्रथ विस्तारे), अर्थात् प्रभु अधिक-से-अधिक विस्तृत देश से भी अविच्छिन्न नहीं हो सकते। यह सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एक देश में ही है। ५. **वयसा** =(वय् गतौ) निरन्तर गतिवाले इस काल से भी वे **बृहन्तम्**=बड़े हैं। काल भी उन्हें सीमित नहीं कर सकता। ६. देश-काल से अनविच्छिन्न (असीमित) वे प्रभु **व्यचिष्ठम्**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं (**व्यवस्**=expanse, wastness)। ७. **अन्नैः**=विविध अन्नों से **रभसम्**=वे प्रभु हमें शक्ति (strength) देनेवाले हैं। अथवा अन्नों से वे हमें (रभस=joy) आनन्दित करनेवाले हैं। ८. **दृशानम्**=वे प्रभु हमें तत्त्व का दर्शन करानेवाले हैं। अन्नों से वे हमारे शरीरों को सशक्त करते हैं तो तत्त्व-ज्ञान से हमारे मस्तिष्कों को दीप्त बनाते हैं।

भावार्थ—वे सर्वव्यापी प्रभु पवित्र मन से दिखते हैं। वे देश व काल से सीमित नहीं हैं। अत्यन्त विस्तारवाले वे प्रभु अन्नों से हमें शक्ति देते हैं और तत्त्व-दर्शन से मस्तिष्क को उज्ज्वल करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अरक्षसा मनसा

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्री स्पृहयद्वर्णोऽअग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः॥२४॥

१. गृत्समद का ही स्तवन चल रहा है कि **आ**=सब प्रकार से **विश्वतः प्रत्यञ्चम्**=सब ओर गये हुए, अर्थात् सर्वव्यापक प्रभु को **जिघर्मि**=मैं अपने अन्दर दीप्त करता हूँ। २. मनुष्य को चाहिए कि **अरक्षसा मनसा**=राक्षसी व आसुरी भावनाओं से रहित पवित्र मन से **तत्**=उस ब्रह्म का **जुषेत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। प्रतिदिन आदर-श्रद्धा के साथ उस प्रभु का चिन्तन करने से ही तो हम उस प्रभु के प्रकाश को देख पाएँगे। ३. जिस दिन मैं प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला बनता हूँ, उस दिन **मर्यश्रीः**=मनुष्यों में शोभावाला बनता हूँ या दुःखी पुरुषों से आश्रयणीय होता हूँ। प्रभु के तेज को प्राप्त करके मैं तेजस्वी बनता हूँ और श्रीसम्पन्न होता हूँ। साथ ही (श्रि=सेवायाम्) सब पीड़ित पुरुष अपनी पीड़ा के निराकरण के लिए मेरे समीप पहुँचते हैं। ४. **स्पृहयद्वर्णः**=मैं स्पृहणीय वर्णवाला होता हूँ, अन्दर दीप्त होती हुई प्रभु की ज्योति मेरे चेहरे पर भी प्रतिबिम्बित होती है। ५. **अग्निः न**=अग्नि के समान **अभिमृशे**=(मृश् to rule, strike) मैं शत्रुओं को कुचल देता हूँ। अग्नि के तेज में जैसे सब मल भस्म हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रभु के तेज से तेजस्वी होने पर मेरे भी राग-द्वेष के सब मल भस्मीभूत हो जाते हैं। ६. और मैं **तन्वा**=अपने इस शरीर से **जर्भुराणः**=निरन्तर भरण-पोषण करनेवाला बनता हूँ। मेरा यह शरीर लोकहित के कार्यों में विनियुक्त होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन पवित्र मन से होता है। एक सच्चा उपासक लोगों में शोभावाला होता है, उसके चेहरे पर अन्तःस्थित प्रभु का प्रकाश चमकता है, जिसके तेज में सब मल भस्म हो जाते हैं। वह अपने शरीर को प्राजापत्य यज्ञ में आहुत कर देता है।

ऋषिः—सोमकः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

वाजपतिः कविः

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत्। दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ ॥२५॥

१. पिछले मन्त्र का गृत्समद ऋषि प्रभु-स्तवन करता हुआ शक्तिशाली बनता है, परन्तु उस सब शक्ति का पति प्रभु को समझता हुआ वह अत्यन्त विनीत बना रहता है। इस विनीतता के कारण वह 'सोमक' कहलाता है (सौम्य=विनीत)। यह सोमक कहता है कि—२. वह **वाजपतिः**=सब अन्नों व शक्तियों का स्वामी प्रभु **कविः**=क्रान्तदर्शी है, तत्त्व का ज्ञान रखनेवाला है। वह प्रभु ही वस्तुतः अपने भक्तों को अन्नों से शक्तिशाली बनाता है और तत्त्व-ज्ञान देता है। ३. इस प्रकार वे प्रभु **अग्निः**=हमें आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं, हमारी सब उन्नतियों के कारण हैं। ४. वे प्रभु ही **हव्यानि**=(ग्रहीतुं योग्यानि वस्तूनि—द०) सब ग्रहण के योग्य वस्तुओं को **परिअक्रमीत्**=चारों ओर आक्रान्त किये हुए हैं। सब उपादेय वस्तुओं के अधिष्ठाता वे प्रभु ही हैं। उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को वे प्रभु ही प्राप्त कराया करते हैं। ५. वे प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—अपने को उस प्रभु के प्रति दे डालनेवाले के लिए **रत्नानि**=रमणीय पदार्थों को **दधत्**=धारण करते हैं। जैसे एक बालक स्वयं अपनी आवश्यकताओं को अच्छी प्रकार नहीं समझता, परन्तु उसकी माता उसे सब आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराती है, इसी प्रकार समर्पण करनेवाले भक्त को प्रभु भी जननी की भाँति सब रमणीय पदार्थ देते हैं। इन रमणीय पदार्थों से अपनी सम्यक् उन्नत्ति करता हुआ प्रभु-भक्त शरीर में शक्ति का पति बनता है तो मस्तिष्क से तत्त्व-द्रष्टा बनता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए हम प्रभु से दिये रमणीय पदार्थों के सम्यक् प्रयोग से शक्ति व ज्ञान के पति बनें।

ऋषिः—पायुः। देवता—अग्निः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

परितो-धारण—स्थितप्रज्ञता

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्र॑ꣳसहस्य धीमहि।
धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑ताम्॥२६॥

१. गत मन्त्र का 'सोमक'=विनीत प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके पूर्णरूप से अपना रक्षण कर पाता है, उसी प्रकार जैसेकि माता की गोद में आत्मार्पण करनेवाला बालक। इस अर्पण को करनेवाला यह 'पायुः' (पा रक्षणे) नामवाला होता है। यह कहता है कि १. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने चारों ओर धारण करते हैं। जो आप ३. **पुरम्**=(पृ पालनपूरणयोः) अपनी विविध क्रियाओं के द्वारा हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। आपने हमारे पालन के लिए अनेकविध ओषधि-वनस्पतियों का निर्माण किया है। ४. **विप्रम्**=आप ज्ञानी हो, क्रान्तदर्शी=कवि हो। ज्ञान के द्वारा विशेषरूप से सबका पूरण करनेवाले हो। ज्ञानाग्नि ही तो दोषों को विच्छिन्न करती है। ५. **सहस्य**=हे प्रभो! आप सहस् में उत्तम हो अथवा सहस् में निवास करनेवाले हो। जिस पुरुष में सहनशक्ति होती है उसी में आपका निवास है। ६. **धृषद्वर्णम्**=(**धृष्णोतीति धृषन् प्रगल्भो वर्णो यस्य तम् असह्यरूपम्—म०**) असह्य तेजवाले आप हैं। आपके तेज के सामने अन्य सब तेज पराभूत हो जाते हैं। ७. इस तेज से ही आप **दिवे-दिवे**=प्रति-दिन **भङ्गुरावताम्**=तोड़-फोड़ के कामों में लगे हुए राक्षसों के **हन्तारम्**=नष्ट करनेवाले हैं। अथवा **भंगुर**=अनवस्थित मनवालों के—डाँवाँडोल मनोवृत्तिवालों के आप समाप्त करनेवाले हैं। स्थितप्रज्ञ दैवीवृत्तिवाला व्यक्ति ही आपका रक्षणीय होने से 'पायु' (one who is protected) है।

भावार्थ—वे प्रभु 'अग्नि-पुरं-विप्र-सहस्य-धृषद्वर्ण व भंगुरावत्—हन्ता' हैं। हम भंगुर-वृत्तिवाले न बनकर स्थितप्रज्ञ बनें और प्रभु के रक्षणीय हों। प्रभु को परितः धारण करनेवाला ही प्रभु का रक्षणीय होता है।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

ज्योति का प्रादुर्भाव

त्वम॑ग्ने॒ द्युभि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑।
त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचि॑ः॥२७॥

१. प्रभु से रक्षित गत मन्त्र का 'पायु' फिर से प्रभु-स्तवन में आनन्द लेता हुआ 'गृत्समद' बनता है और इस रूप में स्तुति करता है—२. हे **अग्ने**=अपने तेज से सब बुराइयों को भस्म करनेवाले प्रभो! **त्वम्** =आप और **त्वम्**=आप ही **द्युभिः**=अपनी ज्ञान-ज्योतियों से **आशुशुक्षणिः**=शीघ्रता से हमारे सब काम, क्रोध व लोभादि शत्रुओं का शोषण करनेवाले हैं। प्रभु की ज्योति से दीप्त हृदय में वासना-लताएँ नहीं पनपतीं। २. हे **नृपते**=वासना-शोषण द्वारा मनुष्यों के रक्षक प्रभो! **शुचिः**=आप पूर्ण पवित्र व पूर्ण दीप्त हो। ३. **त्वम्**=आप **अद्भ्यः**=समुद्र के विस्तृत जलों से **जायसे**=आविर्भूत होते हो। '**यस्य समुद्रम्**=ये समुद्र भी

तो आपकी महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। ४. **त्वम्**=आप **अश्मनः**=मेघ से (नि० १।१०) **परिजायसे**=अन्तरिक्ष में चारों ओर आविर्भूत हो रहे हो। अन्तरिक्ष में उमड़ते हुए बादल आपकी महिमा को प्रकट कर रहे हैं। ५. **त्वं वनेभ्यः**=आप ही इन मीलों-मील फैले हुए वनों में प्रकट हो रहे हैं। इन वनों में भी आपकी ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। ६. **त्वम् ओषधीभ्यः**=आप ही इन वनोत्पन्न ओषधियों में प्रकट होते हो। ओषधियाँ भी आपकी ही महिमा का प्रतिपादन कर रही हैं। इस महिमा को ज्ञानी ही सुन पाता है। ७. **त्वम्** =आप **नृणाम्**=(नृ नयने) अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले पुरुषों में **जायसे**=आविर्भूत होते हो। वे श्रेष्ठ पुरुष भी आपकी ही विभूति होते हैं। ८. यहाँ प्रसंगवश यह भी स्पष्ट है कि प्रभु का दर्शन वे ही करते हैं जो मेघस्थ जलों का या वन की वनस्पतियों का ही प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-दर्शन के लिए वनौषधियों को ही भोजन बनाएँ, मेघजलों को ही पेय द्रव्य समझें। निरन्तर आगे बढ़ने की भावनावाले हों। अवश्य हममें प्रभु की ज्योति जगेगी और उस ज्योति से सब वासनाएँ भस्म हो जाएँगी।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—अग्निः। छन्दः—प्रकृतिः। स्वरः—धैवतः॥

आनन्द एवं शक्ति

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि। ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम्। शिवं प्रजाभ्योऽहिंसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः॥२८॥

१. गृत्समद कहता है कि मैं **त्वा**=तुझे, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को **सवितुः देवस्य**=उस उत्पादक देव की **प्रसवे**=अनुज्ञा में ग्रहण करता हूँ। उसका आदेश यही तो है कि 'ओदन एव ओदनं प्राशीत्' केवल यह अन्न का विकार भौतिक शरीर ही ओदन को खाये, अर्थात् शरीर की आवश्यकतानुसार ही भोजन करना—न अधिक, न कम बस, मात्रा में। २. **अश्विनोः बहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से पदार्थों को ग्रहण करूँ। मैं सेतमैंत किसी वस्तु को न लूँ। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषण के हाथों से ही लूँ, अर्थात् जितना पोषण के लिए पर्याप्त हो उतना ही मैं इन भौतिक वस्तुओं का स्वीकार करूँ। ४. इस प्रकार इन भौतिक भोगों में आसक्त न हुआ-हुआ मैं **पृथिव्याः सधस्थात्**=इस शरीर के सधस्थ से, अर्थात् हृदयदेश से (यह हृदय ही जीवात्मा व परमात्मा का मिलकर रहने का स्थान है) **अग्निम्**=उस सब उन्नतियों के साधक **पुरीष्यम्**=(पृणाति सुखम्) सुख-प्राप्ति में उत्तम प्रभु को **खनामि**=उसी प्रकार खोजता हूँ जैसेकि **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् लोग खोजा करते हैं। वस्तुतः जो भी व्यक्ति प्रभु का खोजनेवाला बनता है वह भोगों में आसक्त न होने के कारण 'अङ्गिरस्' बनता ही है, उसका शरीर रसमय अङ्गोंवाला बना रहता है। ५. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वा**=हम उस तुझे खोजते हैं जोकि **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्योतिवाले हैं। आपको प्राप्त करके हमारी ज्ञान की ज्योति दीप्त होती है। ६. **सुप्रतीकम्**=आप उत्तम मुखवाले हैं। आपका स्वरूप तेजस्वी है। भक्त आपको तेजोमय रूप में ही देखता है। ७. **अजस्रेण भानुना दीद्यतम्**=निरन्तर दीप्ति से आप देदीप्यमान हैं। ८. **शिवं प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए आप कल्याण करनेवाले हैं। ९. **अहिंसन्तम्**=आप हिंसा नहीं होने देते। १०. **पृथिव्याः**

सधस्थात्=इस पार्थिव शरीर के मिलकर रहने के स्थान से, अर्थात् हृदयदेश से **पुरीष्यम्**=सब सुखों के पूरण करनेवाले आपको **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **खनामः**=खोजते हैं। हृदयदेश में ध्यान से आपका दर्शन करके अनिर्वचनीय आनन्द को अनुभव करते हैं और अङ्ग-अङ्ग में रस के सञ्चार से अङ्गिरस् बनते हैं।

भावार्थ—इस ज्योतिर्मय प्रभु का दर्शन ही हमारे जीवन का ध्येय हो। इसी में आनन्द है, इसी में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति का मूल है।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

गृत्समद का लक्षण

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२॥ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥२९॥

१. स्तोता 'गृत्समद' को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **अपां पृष्ठम् असि**=व्यापक कर्मों का (आप् व्याप्तौ) तू पृष्ठ है, अर्थात् तेरे जीवन से व्यापक कर्म ही प्रवृत्त होते हैं। ये कर्म तेरे जीवन-मन्दिर की नींव ही हैं। २. **अग्नेः योनिः**=तू उत्साह (अग्नि) का उत्पत्ति स्थान है। तेरे जीवन में उत्साह की उष्णता है। निराशा की शीतता ने तुझे जकड़ नहीं लिया। ३. **अभितः पिन्वमानं समुद्रं (इव) वर्धमानः**=सब ओर से नदियों से पूर्ण होते हुए समुद्र की भाँति तू बढ़ रहा है। (**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥** —गीता०) इन सारे संसार के काम्य पदार्थों से परिपूर्ण होता हुआ भी तू अपनी मर्यादा को नहीं तोड़ता—उन विषयों के गर्व से फूल नहीं जाता, उनमें फँसता नहीं ४. **च**=और **पुष्करे**=इस कमलवत् निर्लिप्त हृदय में **महान्**=तू बड़ा बनता है। तू अपने दिल को संकुचित नहीं होने देता। ५. **दिवः**=ज्ञान की **मात्रया**=मापक शक्ति से **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से अथवा अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति के विस्तार से तू **प्रथस्व**=विस्तृत हो, अर्थात् तेरा ज्ञान भी बढ़े तथा सब अङ्ग भी सशक्त हों। तू अपने बढ़े हुए ज्ञान से विषयों को ठीक माप सके, वस्तुओं को ठीक रूप में समझ सके और सशक्त इन्द्रियों से उस ज्ञान के अनुसार कार्य कर सके।

भावार्थ—गृत्समद के लक्षण ये हैं—१. व्यापक कर्म ही इसके जीवन का आधार होते हैं। २. इसके जीवन में कभी उत्साह-शून्यता नहीं आती। ३. काम्य पदार्थों को प्राप्त करता हुआ यह मर्यादा में रहता है। ४. अपने निर्लिप्त हृदय को विशाल बनाता है। ५. ज्ञान की मात्रा से तथा शक्ति की वृद्धि से यह अपने को विस्तृत करता है।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—दम्पती। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

गृत्समद पति-पत्नी

शर्म च स्थो वर्म च स्थोऽछिद्रे बहुलेऽउभे।
व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम्॥३०॥

जो पति-पत्नी अपने जीवन को प्रभु-स्तवनवाला बनाते हैं वे १. **शर्म च स्थः**=आनन्दमय जीवनवाले होते हैं (**शर्म**=Happines)। जैसे घर में मनुष्य आनन्दपूर्वक निवास करते हैं उसी प्रकार ये भी उस प्रभुरूप गृह में सानन्द रहते हैं। २. **वर्म च स्थः**=प्रभु ही इनका कवच हो जाता है। उस प्रभु से ऊपर-नीचे निहित (ढके) हुए ये व्यक्ति वासनाओं के

आक्रमण से आक्रान्त नहीं होते। ३. इसी का परिणाम है कि **अछिद्रे**=ये दोषरहित जीवनवाले होते हैं। ४. **उभे**=ये दोनों पति-पत्नी **बहुले**=विशाल (broad) हृदयवाले होते हैं, ये अपनी मैं में बहुतों को समाविष्ट कर लेते हैं। अन्ततोगत्वा ये सारी पृथिवी को अपना परिवार ही समझते हैं। ५. इस प्रकार **व्यचस्वती**=ये विस्तारवाले होते हैं। अपने को अधिक और अधिक फैलाते चलते हैं। ६. **संवसाथाम्**=घर में मिलकर निवास करते हैं। इनके घर में कभी कलह व क्लेश नहीं होता। ७. हो भी क्यों? क्योंकि **पुरीष्यम्**=सुखों के पूरण करनेवाले **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **भृतम्**=ये धारण करते हैं। 'उस आनन्द के भण्डार प्रभु को धारण करो' यही इनके जीवन का सूत्र होता है।

भावार्थ—१. प्रभु के उपासक पति-पत्नी प्रभुरूप घर में ही निवास करते हैं। २. प्रभु ही इनका कवच होता है। ३. इसी से इनका जीवन दोषशून्य होता है। ४. इनकी 'मैं' में बहुतों का समावेश होता है। ५. ये विस्तारवाले होते हैं। ६. मिलकर रहते हैं। ७. आनन्दमय प्रभु को धारण करते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—जायापती। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पति-पत्नी का गृह-संवास

संवसाथाᳬस्वर्विदा समीचीऽउरसा त्मना।
अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित्॥३१॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी **संवसाथाम्**=घर में सम्यक् निवासवाले होते हैं। ये परस्पर कुत्ते-बिल्ली की भाँति न लड़ते हुऐ बड़ी मधुरता से चलते हैं। २. परिणामतः **स्वर्विदा**=ये स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। इनका घर एक छोटा-मोटा स्वर्ग ही बन जाता है। मेलवाले घर में क्लेश का क्या काम? ३. **समीची**=अपने उस स्वर्गतुल्य घर में ये सदा सम्यक् मिल-जुलकर कर्म करनेवाले होते हैं। दोनों दो बैलों की भाँति गृहस्थ-शकट में जुते हुए गृहस्थ की गाड़ी को बड़ी उत्तमता से खैंचते हैं। ४. **त्मना**=स्वयं **उरसा**=अपनी छाती के ज़ोर से ये इस गाड़ी को खैंचते हैं, औरों के भरोसे बैठे नहीं रह जाते। ये पराश्रित नहीं होते—ये संसार में आत्मविश्वास के साथ चलते हैं। ५. चल इसलिए सकते हैं क्योंकि ये **अन्तः**=अपने अन्दर **अग्निम्**=प्रभु की भावना को—उत्साह को **भरिष्यन्ती**=भरनेवाले होते हैं (भरिष्यन्ती=धारयमाणः—उ०)। जो प्रभु **इत्**=निश्चय से **अजस्रम्**=निरन्तर, बिना विच्छेद के, **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्योतिवाले हैं। प्रकाशमय प्रभु को हृदय में धारण करने से इनका जीवन सदा प्रकाशमय रहता है। इन्हें कहीं अन्धकार प्रतीत नहीं होता। उस प्रकाश में ये उत्साहपूर्वक आगे बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त पति-पत्नी की विशेषताएँ निम्न हैं—१. मेल से चलते हैं, २. घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करते हैं, ३. उत्तम गतिवाले होते हैं, ४. आत्मनिर्भरता से चलते हैं, ५. हृदयों में प्रभु को धारण करते हैं, परिणामतः कभी अन्धकार में नहीं होते।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

निर्लिप्त मन+दीप्त मस्तिष्क—भरद्वाज का प्रभु-स्तवन

पुरीष्योऽसि विश्वभराऽअथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥३२॥

१. 'गृत्समद' का वर्णन गत मन्त्रों में था। यह 'प्रभु-स्तवन करता है, और मस्त

रहता है' अतः अपने में शक्ति का भरण करके 'भरद्वाज' बन जाता है। शक्ति का ह्रास मौलिकरूप से दो कारणों से होता है। (क) हम प्रभु से दूर हो जाते हैं तो हमें पग-पग पर घबराहट होती है। (ख) जब जीवन में प्रसन्नता नहीं रहती तो चिन्ता हमें खाये चली जाती है। चिन्ता शक्ति के लिए चिता के समान है। चिन्ता गई और मनुष्य 'भरद्वाज' (शक्ति-सम्पन्न) बना। यह भरद्वाज प्रभु-स्तवन करता है कि—२. **पुरीष्यः असि**=हे प्रभो! आप स्तोताओं के जीवन में आनन्द का पूरण करनेवाले हो। ३. **विश्वभरा**=सबका भरण करनेवाले हो। ४. **अग्ने** =प्रभो! **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अथर्वा**=(न थर्वति) न डाँवाँडोल होनेवाला, अडोल मनवाला, स्थितप्रज्ञ ही **त्वा**=आपका **निरमन्थत्**=निश्चय से मन्थन कर पाता है। जैसे एक व्यक्ति दही का मन्थन करके घृत का दर्शन करता है, इसी प्रकार हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **अथर्वा**=अडोल मनवाला पुरुष ही **त्वाम्**=आपको **पुष्करात् अधि**=इस कमल-पत्र की भाँति निर्लेप मन से **निर् अमन्थत**=निश्चय से मन्थित करता है, अर्थात् अपने इस हृदयाकाश में आपका दर्शन करता है। अथर्वा की भाँति **वाघतः**=मेधावी पुरुष—ज्ञान का वहन करनेवाला पुरुष **विश्वस्य**=(विशति) व्यापक ज्ञान में प्रवेश करनेवाले **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से आपका मन्थन करनेवाला होता है, अर्थात् आपके ज्ञान के लिए वासनाओं से अनान्दोलित मन तथा ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों के ज्ञान का वहन करनेवाला मस्तिष्क दोनों ही आवश्यक हैं—'निर्लिप्त मन तथा दीप्त मस्तिष्क।'

भावार्थ—प्रभु ही सुखों का पूरण करनेवाले तथा सबका भरण करनेवाले हैं। हम अपने हृदयों को विषय-पङ्क से अलिप्त रक्खें, मस्तिष्क को सम्पूर्ण ज्ञान से भरने का प्रयत्न करें—यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

दध्यङ्+ऋषिः+पुत्रः—इन्धन

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषि॑ः पु॒त्रऽई॑धे॒ऽअथ॑र्वणः। वृ॒त्र॒हणं॑ पुरन्द॒रम्॥३३॥

१. भरद्वाज ही कहते हैं कि **तम् उ त्वा**=निश्चय से उस आपको **ईधे**=अपने हृदय-कमल में (पुष्कर में) समिद्ध (विकसित) करता है। कौन? (क) **दध्यङ्**=निरन्तर ध्यान करनेवाला, दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदरपूर्वक प्रभु से योग करता हुआ (योगं युञ्जन्), प्रतिदिन सन्ध्या करता हुआ। (ख) **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा वस्तुओं की वास्तविकता का चिन्तन करनेवाला और परिणामतः उनमें न फँसनेवाला, (ग) **पुत्रः**=जो अपने को पवित्र करता है (पुनाति) और वासनाओं से अपने को बचाता है (त्रायते)। २. कहाँ समिद्ध करता है ? **अथर्वणः**= डाँवाँडोल न होनेवाले मन में। प्रभु का दीपन हृदय में होता है, उस हृदय में जिसमें वासनाओं की लहरें नहीं उठती रहतीं। जो हृदय-समुद्र वासनाओं के तूफ़ानों से क्षुब्ध नहीं है। क्षुब्ध हृदय-समुद्र में प्रभु-दर्शन नहीं होता। ३. किसको समिद्ध करता है? उस प्रभु को जो (क) **वृत्रहणम्**=प्रभु-ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करनेवाले हैं। (ख) **पुरन्दरम्**= शरीर, मन व बुद्धि में बनाये गये असुरों के अधिष्ठानों को नष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन उन्हें होता है जो ध्यानी, तत्त्वद्रष्टा, पवित्र व वासनाओं से अपना त्राण करनेवाले होते हैं। यह दर्शन वासनाओं से अनान्दोलित मन में होता है। दर्शन होने पर वासना विनष्ट हो जाती है, असुरों के किले भूमिसात् हो जाते हैं और हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों ही पवित्र हो जाते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पाथ्यः+वृषा—समिन्धन

तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्यु॒हन्त॑मम्। ध॒न॒ञ्ज॒यꣳ रणे॑रणे॥३४॥

१. **तमु त्वा**=निश्चय से उस आपको **समीधे**=अपने हृदय-कमल में समिद्ध करता है। कौन? (क) **पाथ्यः**=पथ पर, मार्ग पर चलनेवाला। प्रभु का दर्शन वही करता है जो अपने कर्त्तव्य-पथ से कभी भ्रष्ट नहीं होता। (ख) **वृषा**=जो शक्तिशाली है अथवा औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला है। वस्तुतः मार्ग-भ्रष्ट न होनेवाला व्यक्ति शक्तिशाली बनता है और यह व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझता है कि औरों पर भी सुखों की वर्षा करनेवाला बने। वह पापी होता है जो केवल अपने लिए जीता है **'केवलाघो भवति केवलादी'**। २. किस प्रभु को यह समिद्ध करता है? (क) **दस्युहन्तमम्**=जो प्रभु दस्युओं के सर्वाधिक हन्ता हैं। वे प्रभु नाशक वृत्तियों के ध्वंसक हैं। हम प्रभु का नामोच्चारण करते हैं और काम-क्रोध आदि वृत्तियाँ विलुप्त हो जाती हैं। (ख) वे प्रभु **रणेरणे**=प्रत्येक संग्राम में **धनञ्जयम्**=धनों के विजेता हैं। प्रभु का हृदयों में प्रकाश होता है तो हम उन धनों के विजेता बनते हैं, जिनसे हमारा जीवन धन्य हो जाता है।

भावार्थ—१. प्रभु का स्मरण करनेवाला 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला बनता है। २. प्रभु का प्रकाश वही देखता है जो मार्ग पर चलता है और मार्ग पर चलने के कारण शक्तिशाली बनता है। अथवा जो मार्ग पर चलता है और औरों पर भी सुखों की वर्षा करता है। ३. प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति नाशक तत्त्वों व आसुर वृत्तियों का संहार कर पाता है और संग्रामों में उत्तम धनों का विजेता बनता है।

ऋषिः—देवश्रवो देववातः। देवता—होता। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पाथ=मार्ग

सीद॑ होतः॒ स्वऽउ॑ लो॒के चि॑कि॒त्वान्त्सा॒दया॑ य॒ज्ञꣳ सु॑कृ॒तस्य॒ योनौ॑।

दे॒वा॒वीर्दे॒वान् ह॒विषा॑ यजा॒स्यग्ने॑ बृ॒हद्यज॑माने॒ वयो॑ धाः॥३५॥

१. गत मन्त्र में उल्लेख था कि मार्ग पर चलनेवाला प्रभु-दर्शन करता है। प्रस्तुत मन्त्र में उस मार्ग का वर्णन करते हैं। २. हे **होतः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन करनेवाले! तू **सीद**=अपने इस शरीररूप घर में निषण्ण हो। तू अपने शरीर में ही ठहरनेवाला बन। तू स्वस्थ बन। ३. उ और **स्वः**=अपने ही **लोके**=(लोकृ दर्शने) देखने में तू स्थित हो। तू अपना ही निरीक्षण करता हुआ, अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करनेवाला बन। तू 'आत्म-निरीक्षण में स्थित हो'। ४. **चिकित्वान्**=(कित ज्ञाने) तू ज्ञानी बन, समझदार बन। इस संसार में प्रत्येक कार्य को कुशलता से करनेवाला हो। ५. इस **सुकृतस्य**=बहुत पुण्यों के **योनौ**=घर में, अर्थात् उस शरीर में जो 'बहुपुण्यलब्धम्' न जाने कितने पुण्यों से प्राप्त हुआ है और 'धर्मैकहेतु'=केवल धर्म के कार्यों के लिए दिया गया है, उस शरीर में **यज्ञम्**=(यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) श्रेष्ठतम कर्मों को **सादय**=तू बिठा। यह पृथिवी तो देवयजनी=देवों के यज्ञ करने की भूमि है। यह हमारी छोटी पृथिवी, अर्थात् शरीर भी यज्ञों के लिए ही उद्दिष्ट है—**'पुरुषो वाव यज्ञः'**=पुरुष तो है ही यज्ञ। ६. **देवावीः**=(अव, भागदुघे) तू उत्तम कर्म कर, दिव्य गुणों के अंशों का अपने में दोहन करनेवाला हो। तू अपनी दैवी सम्पत्ति को बढ़ा। ७. तू **देवान्**=दिव्य गुणों को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, त्यागवृत्ति से ही **यजासि**=अपने साथ सङ्गत करनेवाला होता

है। त्यागपूर्वक उपभोग शरीर को स्वस्थ व नीरोग बनाता है तो मन को भी दिव्य गुणों से परिपूर्ण करता है। ८. हे **अग्ने**=अपने सखा जीव की सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **यजमाने**=इस यज्ञ के स्वभाववाले व्यक्ति में **बृहद् वयः**=इस वृद्धिशील जीवन को **धाः**=धारण कीजिए। यज्ञ के स्वभाववाला यह व्यक्ति उन्नति-पथ पर निरन्तर अग्रसर होता जाए। इसका जीवन वृद्धिशील हो। ९. इस प्रकार दिव्य गुणों के कारण यश को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'देवश्रवस्' कहलाता है, देवों के कारण यशवाला यह देवों— विद्वानों व सूर्यादि देवों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करने के कारण 'देववात' है।

भावार्थ—मार्ग यह है—हम १. दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाले बनकर स्वस्थ बनें। २. आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने ही दोषों को देखें। ३. समझदार बनें। ४. इस धर्मार्थ प्राप्त शरीर में निवास करते हुए यज्ञों को करनेवाले बनें। ५. दिव्य गुणों का अपने में दोहन करें। ६. त्यागवृत्ति से दिव्य गुणों को बढ़ाएँ। ७. वृद्धिशील जीवनवाले हों।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

गृत्समद का जीवन

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२॥ऽअसदत्सुदक्षः।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽअग्निः॥३६॥

१. मार्ग को ही स्पष्ट करने के लिए गृत्समद (स्तोता व सदा प्रसन्न) के जीवन का वर्णन करते हैं कि यह **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है। '**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**'=त्यागपूर्वक उपभोक्ता होता है। २. **होतृषदने न्यसदत्**=होताओं के घर में निवास करता है—यह प्रयत्न करता है कि उसके घर में, उसके परिचितों के घर में सभी की वृत्ति 'होता' की वृत्ति हो। सभी में दानपूर्वक यज्ञ-शेष को ही खाने का भाव हो। ३. **विदानः** =यह ज्ञानी हो, समझदार हो। लोक-व्यवहार को समझता हो, भौंदू न हो।.४. **त्वेषः**=भोगवृत्तिवाला न होने से स्वस्थ हो और इसके चेहरे पर स्वास्थ्य की दीप्ति हो। ५. **दीदिवान्**=इसके मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति हो। यह ज्ञानाग्नि को अपने में प्रज्वलित करनेवाला बने। ६. **सुदक्षः**=बड़ा कार्यकुशल हो। दक्ष dexterous=निपुण हो। ७. **अदब्धव्रतप्रमतिः**=अहिंसित व्रतों व प्रकृष्ट बुद्धिवाला हो। ८. अहिंसित व्रतों व बुद्धि के कारण ही यह **वसिष्ठः**=उत्तम निवासवाला हो। अथवा वशियों (वश में करनेवालों में) में यह श्रेष्ठ हो। ९. जितेन्द्रियता के परिणामरूप यह **सहस्रम्भरः**=हज़ारों का पोषण करनेवाला हो, यह केवल 'स्वोदरम्भरि'= अपने पेट को भरनेवाला ही न बना रहे। १०. **शुचिजिह्वः**=इसकी जिह्वा शुचि=दीप्त व पवित्र हो। यह शुभ ही शब्द बोले अशुभ नहीं। ११. इस प्रकार **अग्निः**=यह निरन्तर आगे बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—'गृत्समद' वही है जो उल्लिखित ११ बातों को अपने जीवन में लाता है। वस्तुतः जीवन का ठीक मार्ग है ही यह।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

'प्रस्कण्व' की 'ज्ञान-सृष्टि'

सꣳसीदस्व महाँ२॥ऽअसि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्नेऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥३७॥

१. गत मन्त्र का गृत्समद (जो स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है) ही वस्तुतः प्रस्कण्व=मेधावी है। प्रभु इस मेधावी पुरुष से कहते हैं कि १. **संसीदस्व**=तू अपने इस शरीर में सम्यक् निवासवाला हो। २. **महान् असि**=तूने अपने हृदय को महान् बनाया है। ३. **शोचस्व**=तू इस विशालता के कारण शुचि व पवित्र बना है, तेरा जीवन उज्ज्वल हुआ है। ४. **देववीतमः**=तू अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला है। (वी=प्राप्ति) ५. **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक जीव! **प्रशस्त**=उत्तम प्रशंसनीय जीवनवाले जीव! **मियेध्य**=(मेध्य) यज्ञिय जीवनवाले जीव! तू उस ज्ञान को विविध रूपों में उत्पन्न कर जो (क) **धूमम्**=(धूञ् कम्पने) सब वासनाओं को कम्पित करके तेरे जीवन को उन्नत करनेवाला है। (ख) **अरुषम्**=जो ज्ञान तुझे (अ-रुषं) क्रोध-शून्य बनाता है। (ग) तथा, **दर्शतम्**=जो ज्ञान दर्शनीय व सुन्दर है अथवा जो सदा तुझे कर्त्तव्य का दर्शन कराता है।

भावार्थ—हम उस ज्ञान को उत्पन्न करने का प्रयत्न करें जो १. हमारी वासनाओं को नष्ट करता है। २. हमें क्रोध-शून्य बनाता है। ३. और कर्त्तव्य-पथ दिखाता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—आपः। छन्दः—न्यङ्कुसारिणीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

स्वास्थ्य व जल

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥३८॥

१. पिछले तीन मन्त्रों में उस मार्ग का प्रदर्शन है, जिसपर चलकर हमें प्रभु का दर्शन करना है। मार्ग पर चलना तभी सम्भव है यदि हम स्वस्थ हों, अतः यहाँ 'सिन्धुद्वीप' ऋषि के तीन मन्त्रों में स्वास्थ्य के मौलिक साधनों 'जल, वायु व अग्नि' पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है। २. जल के विषय में कहते हैं कि हे प्रभो! आप **अपः देवीः**=दिव्य गुणोंवाले जलों का **उपसृज**=समीपता से सृजन करो। आपकी कृपा से उत्तम गुणोंवाले जल हमें समीपता से सुलभ हों। जहाँ हम रहते हैं वहाँ उत्तम जल सुप्राप्य हो। ३. ये जल **मधुमतीः**=माधुर्यवाले हों। इनसे हमारे शरीर में उन रसादि धातुओं का निर्माण हो जो हमारे जीवनों को मधुर बना दें। ४. ये जल **प्रजाभ्यः**=सब प्रजाओं के लिए **अयक्ष्माय**=यक्ष्मादि रोगों से राहित्य के लिए हों। इनके सेवन से यक्ष्मादि रोग भी दूर हो जाएँ, ऐसी शक्ति इन जलों के अन्दर हो। ५. **तासाम्**=उन जलों के **आस्थानात्**=चारों ओर ठहरने के स्थान से **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलोंवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ **उज्जिहताम्**=उद्गत हों, उत्पन्न हों। इन जलों से सिक्त क्षेत्रों में उत्तम फलोंवाली ओषधियाँ विकसित हों। यह सामान्य अनुभव है कि गन्दे पानी से सिक्त खेतों की सब्जियाँ कूप जल से सिक्त खेतों की सब्जियों से बड़ी हीन होती हैं। ६. एवं, इस संसार-समुद्र में सिन्धु=बहनेवाले ये जल द्वीप=शरण हैं जिसके ऐसा यह 'सिन्धुद्वीप' ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है। अगले मन्त्र में 'वायु' का वर्णन है वे भी बहनेवाले होने से 'सिन्धु' हैं। चालीसवाँ मन्त्र 'अग्नि' का है। 'अधिक तापांशवाले पदार्थ से निम्न तापांशवाले पदार्थ की ओर बहने से वह भी 'सिन्धु' है। इन तीनों के ठीक प्रयोग से अपने स्वास्थ्य की रक्षा करनेवाला यह ऋषि 'सिन्धुद्वीप' है।

भावार्थ—जल दिव्य गुणोंवाले हैं, ये माधुर्य को उत्पन्न करते हैं, यक्ष्मा को नष्ट करते हैं। इनसे उत्पन्न ओषधियाँ उत्तम फलवाली होती हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—वायुः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वायु व दिव्य ज़ीवन

सं ते॑ वा॒युर्मा॑त॒रिश्वा॑ दधातूत्ता॒नाया॒ हृद॑यं॒ यद्विक॑स्तम्।
यो दे॒वानां॒ चर॑सि प्रा॒णथे॑न॒ कस्मै॑ देव॒ वष॑डस्तु॒ तुभ्य॑म्॥३९॥

१. घर में पति-पत्नी दो ही मुख्य प्राणी हैं। इनमें पत्नी के लिए कहते हैं कि **उत्तानायाः**=(उत् तन्) उत्कृष्ट गुणों के विस्तार करनेवाली **ते**=तेरे लिए **मातरिश्वा वायुः**=यह अन्तरिक्ष में सञ्चरण करनेवाला वायु, प्राणायाम के समय हृदयान्तरिक्ष में विचरनेवाला प्राणवायु **हृदयम्**=उस हृदय को **सन्दधातु**=उत्तमता से धारण करे **यत्**=जो **विकस्तम्**=विकासवाला है। प्राणायाम के द्वारा शरीर में शुद्ध वायु को बारम्बार गहराई तक पहुँचाने से मलों का भस्मीकरण होकर नीरोगता उत्पन्न होती है और मन में द्वेषादि मल भी नहीं रहते। इस प्रकार मलों का विनाश होकर हृदय में गुणों का उत्तमता से विकास होता है। २. पत्नी की भाँति पति भी समतावाला होकर प्राणायाम द्वारा निर्मल बनकर ऐसा हो जाता है कि **यः**=जो **देवानां प्राणथेन**=देवों के जीवन से **चरसि**=विचरता है। पति का जीवन ऐसी भद्रतावाला हो जाता है कि लोग कहते हैं कि यह तो दिव्य जीवनवाला हो गया है। ३. इस पति-पत्नी का यह पवित्र जीवन हे **देव**=सब दिव्य गुणों के स्रोत प्रभो! **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **तुभ्यम्**=आपके लिए **वषट् अस्तु**=अर्पित हो। इस वायु के द्वारा अपने जीवनों को शुद्ध बनाकर ये पति-पत्नी तेरे प्रति समर्पण करनेवाले बनते हैं। प्रभु-चरणों में पवित्र वस्तु का ही तो अर्पण समुचित है।

भावार्थ—शुद्ध वायु में प्राणायाम के द्वारा अपने हृदय का विकास करके तथा अपने जीवन को दिव्य बनाकर हम इन्हें प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाले बनें।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

विश्वरूप वस्त्र का धारण

सुजा॑तो॒ ज्योति॑षा स॒ह शर्म॒ वरू॑थ॒मास॑द॒त्स्वः॑।
वासो॑ऽअग्ने वि॒श्वरू॑प॒ꣳसंव्य॑यस्व विभावसो॥४०॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित जल और वायु के समुचित प्रयोग के साथ प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि के धारण का प्रस्ताव है, परन्तु मुख्यतया यह अग्नि वे प्रभु ही हैं। गौणरूप से यज्ञाग्नि भी अभिप्रेत है ही। २. **सुजातः**=इस अग्नि के धारण से यह जीव उत्तम (सु) विकासवाला (जातः) होता है। ३. **ज्योतिषा सह**=यह सदा ज्योति, अर्थात् प्रकाश के साथ होता है। ४. **शर्म**=आनन्द को **आसदत्**=प्राप्त होता है। ५. **वरूथम्**=शरीर के लिए रक्षक आवरण का काम देनेवाले (वरूथ=wealth) धन को प्राप्त करता है। ६. **स्वः**=प्रकाश को व स्वर्ग को भी **आसदत्**=प्राप्त करता है। ७. हे **विभावसो**=हे प्रकाशरूप धनवाले जीव! **अग्ने**=निरन्तर आगे बढ़नेवाले जीव! तू **विश्वरूपम्**=सारे ब्रह्माण्ड को रूप देनेवाले **वासः**=उस आच्छदक—वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले प्रभुरूप वस्त्र को **संव्यस्व**=उत्तमता से धारण कर। जब प्रभु मेरा वस्त्र होंगे, मैं प्रभुरूप वस्त्र से आच्छादित होऊँगा तब वासनाओं की सर्दी-गर्मी व वर्षा-ओले मेरी हानि करनेवाले न होंगे। प्रभु ही उपस्तरण हैं, प्रभु ही अपिधान तब उस प्रभु में सुरक्षित होकर मैं कहीं भी वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त

कैसे हो सकता हूँ?

भावार्थ—प्रभुरूप वस्त्र को धारण करने पर मैं सर्दी-गर्मीरूप वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

ऋषिः—विश्वमनाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उठ खड़ा हो

उदु तिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या धिया।

दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिराग्ने याहि सुशस्तिभिः॥४१॥

प्रभु कहते हैं कि—१. उ=निश्चय से **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो। उदास व निराश बनकर पड़ा मत रह। २. **स्वध्वरावा**=(सु अध्वर अव)=उत्तम—हिंसा-शून्य कर्मों की रक्षा करनेवाला बन। ३. हे **अग्ने**=आगे बढ़नेवाले जीव! **नः**=हमारे पास **आयाहि**=आ! किस प्रकार! (क) **देव्या धिया**=(देवनस्वभावया क्रीडापरया बुद्ध्या—म०) इस संसार में प्रत्येक स्थिति को क्रीड़ापरक बुद्धि sportsman like spirit से लेते हुए, जय-पराजय में सम रहते हुए। दूसरे शब्दों में, स्थितप्रज्ञता के द्वारा। (ख) **दृशे च**=और सब संसार को ठीक रूप में देखने के लिए **बृहता भासा**=वृद्धिशील दीप्ति से—बढ़ते हुए ज्ञान से। नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा बढ़ती हुई ज्ञान-दीप्ति ही तो तुझ मेरे सान्निध्य को प्राप्त कराएगी। (ग) इस प्रकार **सुशुक्वनिः**=(साधु शुचो रश्मीन् वनति सम्भजति—म०)। उत्तम ज्ञान-दीप्तियों को प्राप्त करनेवाला तू **सुशस्तिभिः**=उत्तम कीर्तियों के द्वारा। उत्तम कर्मों के कारण प्राप्त यश के द्वारा तू हमारे समीप आनेवाला बन। ४. संक्षेप में, हृदय में दिव्य विचारों के द्वारा अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा, मस्तिष्क में वर्धमान ज्ञानाग्नि के द्वारा तथा हाथों में उत्तम यशस्वी कर्मों के द्वारा तू हमारे पास आनेवाला बन।

भावार्थ—तू उठ खड़ा हो, अहिंसात्मक कर्मोंवाला बन। पवित्र बुद्धि, बढ़ते हुए ज्ञान तथा उत्तम प्रशंसनीय कर्मों से हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—कण्वः। देवता—अग्निः। छन्दः—उपरिष्टाद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

तैयार पर तैयार—सदा उद्यत

ऊर्ध्वऽऊ षु णऽऊतये तिष्ठा देवो न सविता।

ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥४२॥

१. गत मन्त्र का 'विश्वमना वैयश्व'=नैत्यिक स्वाध्याय से ज्ञान को बढ़ाकर 'कण्व' मेधावी बना है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ऊ**=निश्चय से आप **नः**=हमारी **सुऊतये**=उत्तम रक्षा के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=ऊपर खड़े हैं, अर्थात् तैयार-पर-तैयार हैं। २. **सविता देवः न**=ऊपर खड़े सूर्य की भाँति आप भी हमें निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा तो निरन्तर चलती ही है। ३. **वाजस्य**=शक्ति व ज्ञानों के **सनिता**=संविभक्ता—देनेवाले आप **ऊर्ध्वः**=ऊपर खड़े हैं, अर्थात् शक्ति व ज्ञान देने के लिए सदा उद्यत हैं। ४. **यत्**=ज्योंहीं हम **अञ्जिभिः**=(अञ्ज गतौ) क्रियाशील, कर्मठ **वाघद्भिः**=ज्ञान-निधि का वहन करनेवालों (क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः) के साथ **विह्वयामहे**=विविध विषयों पर ज्ञान की विशिष्ट चर्चा करते हैं। हम विद्वानों के साथ ज्ञान-चर्चा करनेवाले बनें, वे प्रभु अवश्य हमारा रक्षण करेंगे—ऊर्ध्वस्थित सूर्यदेव के समान सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराएँगे और शक्ति व ज्ञान देंगे।

भावार्थ—हम विद्वानों के सम्पर्क से मेधावी बनकर प्रभु से यही आराधना करें कि १. प्रभो! हमारी रक्षा कीजिए। २. हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराइए। ३. शक्ति व ज्ञान दीजिए।

ऋषिः—त्रितः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

त्रित का प्रभु-स्तवन

स जातो गर्भोऽअसि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृतऽओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांश्स्यक्तून् प्र मातृभ्योऽअधि कनिक्रदद् गाः॥४३॥

१. गत मन्त्रों का मेधावी (कण्व) अपने ज्ञान को बढ़ाकर 'त्रित'=काम, क्रोध व लोभ तीनों को तैरनेवाला बनता है। अथवा 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' तीनों का विस्तार करता है (त्रीन् तरति, त्रीन् तनोति इति त्रितः) और इन शब्दों में प्रभु-स्मरण करता है कि—२. **जातः**=सदा से प्रसिद्ध (प्रादुर्भूत) **सः**=वह आप **रोदस्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड के **गर्भः**=गर्भ हो। आपने सारे ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में धारण किया हुआ है (**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**) ३. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **चारुः**=आप सुन्दर-ही-सुन्दर हो अथवा सारे संसार को गति देनेवाले हो (चारयति=भ्रामयन् सर्वभूतानि)। ४. **ओषधीषु**=दोषों का दहन करनेवाली इन ओषधियों-वनस्पतियों के होने पर **विभृतः**=विशेषरूप से धारण किये गये हो, अर्थात् जब एक भक्त वानस्पतिक सात्त्विक भोजन से अपने अन्तःकरण की शुद्धि कर लेता है तब आप उसके हृदय में आविर्भूत होते हैं। भक्तों के पवित्र हृदय ही आपके निवास-स्थान होते हैं। ५. उन हृदयों में स्थित हुए-हुए आप **चित्रः**=(चित्-र) संज्ञान देनेवाले हैं। ६. **शिशुः** (शो तनूकरणे)=भक्त की बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनाते हैं। ७. **तमांसि परि**=अन्धकारों को दूर करते हो (परि=वर्जन) **अक्तून् प्र**=ज्ञान की रश्मियों को प्रकर्षेण प्राप्त कराते हो (प्र=बढ़ाना) ८. **मातृभ्यः**=प्रत्येक कार्य को माप-तोलकर करनेवाले के लिए अथवा ज्ञान का निर्माण करनेवालों के लिए **गाः**=वेदवाणियों को **अधिकनिक्रदत्**=आधिक्येन उच्चारण करते हो। बादल की गर्जना की भाँति हृदयस्थ प्रभु से वेदवाणियों का उच्चारण हो रहा है। हम यदि नहीं सुनते तो इसमें हमारा ही दुर्भाग्य है। हम माता=बड़ा माप-तोल कर चलनेवाले बनें, ज्ञान के निर्माण की प्रबल कामनावाले हों तब अवश्य इन वाणियों को सुनेंगे।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु के दर्शन के लिए निर्दोष अन्तःकरण चाहिए। वे प्रभु हृदयस्थ हो वेदवाणियों का उच्चारण कर रहे हैं। हमारी प्रत्येक क्रिया मपी-तुली हो तो हम अवश्य उन वाणियों को सुन पाएँगे।

ऋषिः—त्रितः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रभु का त्रित को उपदेश

स्थिरो भव वीड्वङ्गऽआशुर्भव वाज्यर्वन्।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥४४॥

गत मन्त्र का अन्तिम वाक्य था 'मपी-तुली क्रियावाले को प्रभु ज्ञानोपदेश देते हैं'। प्रस्तुत मन्त्र में वही उपदेश निर्दिष्ट हुआ है। उपदेश यह है—१. **स्थिरो भव**=तू स्थिर हो—चञ्चलता को छोड़ दे, प्रतिक्षण इधर-उधर भागा न फिर। २. **वीड्वङ्गः**=दृढ़ अङ्गोंवाला हो। व्यर्थ की चञ्चलताओं को छोड़कर तू शान्त-वृत्तिवाला बन और अपनी शक्ति को नष्ट न होने देते हुए दृढ़ व पुष्ट अङ्गोंवाला हो। ३. **आशुः भव**=कर्मों में सदा व्याप्तिवाला हो

अथवा आलस्य को छोड़कर शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला बन। **वाजी**=शक्तिशाली हो। **अर्वन्**=(अर्व हिंसायाम्) मार्ग में आनेवाले विघ्नों को तू नष्ट करनेवाला हो। विघ्नों से न घबराता हुआ तू शक्ति-सम्पन्नता से कार्यों को शीघ्रता से पूर्ण करनेवाला हो। ४. **पृथुर्भव**=तू विशाल हृदयवाला हो। **सुषदः**=उत्तमता से इस घर में बैठनेवाला हो अथवा सदा उत्तम कार्यों में स्थित हो। ५. इस प्रकार **त्वम्**=तू **अग्नेः**=एक अग्रणी नेता के **पुरीषवाहणः**=पालन-पूरणादि उत्तम कर्मों को वहन करनेवाला होता है, अर्थात् अग्रणी बनकर तू इस प्रकार कार्य करता है कि सभी का पालन हो और उनकी कमियाँ दूर होकर वे पूरण हो पाएँ।

भावार्थ—हम अचञ्चलता, दृढाङ्गता, कार्यव्याप्तता, शक्तिमत्ता=विघ्नों का दूरीकरण—हृदय की विशालता, उत्तम कार्यों में स्थिति तथा नेता के पालनात्मक गुणों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—चित्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्पथ्याबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

कल्याण-अहिंसा

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः।
मा द्यावापृथिवीऽअभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्॥४५॥

१. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले! **त्वम्**=तू **मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः**=मानव प्रजाओं के लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला हो। तेरा सारा व्यवहार ऐसा हो जिससे औरों का कल्याण-ही-कल्याण हो, अकल्याण नहीं। तू औरों का घात-पात करनेवाला न होकर औरों की रक्षा करनेवाला बन। २. तू **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **मा अभिशोचीः**=मत सन्तप्त कर **मा अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को सन्तप्त मत कर, अर्थात् तीनों लोकों में रहनेवाले किसी भी प्राणी को तू दुःखी मत कर। तुझसे सभी का कल्याण ही हो। ३. प्राणियों की बात तो दूर तू **मा वनस्पतीन्**=वनस्पतियों की भी हिंसा मत कर। **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'**=इस उपदेश के अनुसार ओषधि के मूल को विच्छिन्न करनेवाला न बन। इनके लोम-नखरूप फल-फूलों का ही प्रयोग करनेवाला बन।

भावार्थ—त्रित (काम, क्रोध, लोभ-विजयी) का जीवन लोक-कल्याण के लिए ही होता है, अकल्याण के लिए नहीं।

ऋषिः—त्रितः। देवता—अग्निः। छन्दः—ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

तीन समुद्र

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा।
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भंसमुद्रियम्। अग्नऽआयाहि वीतये॥४६॥

१. **वाजी**=गत मन्त्र की भावना के अनुसार सबके साथ मधुरता से वर्त्तता हुआ, शाक-सब्जियों का प्रयोग करता हुआ यह शक्तिशाली जीव **प्रएतु**=आगे और आगे बढ़े। उन्नति-पथ पर बढ़ता चले। २. **कनिक्रदत्**=यजुर्मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ, **नानदत्**=साम-मन्त्रों की ध्वनिवाला, **रासभः**=ऋचाओं को बोलता हुआ, **पत्वा** (पद गतौ)=उनके अनुसार गति करके, अर्थात् उन यजुः, ऋक् व साम मन्त्रों को जीवन में क्रियान्वित करके, ३. **पुरीष्यम्**=सब सुखों का पूरण करनेवाली **अग्निम्**=अग्नि को, अर्थात् प्रभु को **भरन्**=अपने हृदय में भरण करता हुआ, ४. **आयुषः पुरा**=पूर्ण जीवन के अन्त से पहले **मा पादि**=यहाँ से मत जाए, अर्थात् पूरे सौ वर्ष तक जीनेवाला बने। ५. **वृषाः**=शक्तिशाली और अपनी

शक्ति से सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला तू **वृषणं अग्निम्**=उस शक्ति व सुखों के वर्षक अग्रेणी प्रभु को **भरन्**=अपने अन्दर धारण करनेवाला बन। ६. उस प्रभु को जो **अपां गर्भः**=सब प्रजाओं को गर्भ में धारण करनेवाले हैं व **समुद्रियम्**=समुद्र में निवास करनेवाले हैं। 'त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतं साम्नां महदुक्थमृचाम्' ऋक्, यजुः, साम ही तीन प्रकार के मन्त्र हैं जो ज्ञान के समुद्र हैं, इन सबमें परमात्मा का प्रतिपादन है, अतः प्रभु 'समुद्रिय' हैं। ७. इस समुद्रिय प्रभु को हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक जीव! तू **आयाहि**=प्राप्त हो। जिससे तू **वीतये**=सुखों को व्याप्त और अज्ञानान्धकार को दूर कर सके।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'ऋक्-यजुः-साम' मन्त्रों को पढ़कर उनके अनुसार क्रिया करते हुए जीवन-यापन करें, प्रभु को अपने हृदयों में धारण करके पूर्ण आयुष्य का उपभोग करें। प्रभु से शक्ति प्राप्त करके प्रकाश को धारण करें।

ऋषिः—त्रितः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ऋत-सत्य व पुरीष्य अग्नि

ऋतꣳसत्यमृतꣳसत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः।
ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳशिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः।
व्यस्यन् विश्वाऽअनिराऽअमीवा निषीदन्नोऽअप दुर्मतिं जहि॥४७॥

१. गत मन्त्र के वर्णन के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में 'समुद्रिय'=प्रभु को धारण करनेवाले के जीवन का चित्रण करते हैं। इन व्यक्तियों का निश्चय होता है कि हम **ऋतम्**=जीवन की भौतिक क्रियाओं में ऋत (right) को, सामाजिक शक्तियों में **सत्यम्**=सत्य को और आध्यात्मिक जीवन में **ऋतं सत्यं अग्निं पुरीष्यम्**=ऋत और सत्य के उत्पत्ति स्थान, सब सुखों का पूरण करनेवाले अग्रेणी प्रभु को **भरामः**=धारण करते हैं और **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनते हैं। वस्तुतः खाना-पीना, सोना-जागना आदि शारीरिक क्रियाएँ बिलकुल ठीक समय व स्थान पर हों, अर्थात् ऋत (right) हों, व्यवहार में सत्य होने से मन बिलकुल परिशुद्ध हो तथा उस ऋत और सत्य के उद्गम स्थान, सुखों के पूरक (पुरीष्य) प्रभु का स्मरण हो तो मनुष्य का अङ्ग-प्रत्यङ्ग सबल, सशक्त व सरस बना रहता है। २. एक बालक के जीवन को इस प्रकार का बनाने में आचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे आचार्य 'ओषधयाः' हैं, दोषों का दहन (उष दाहे) करनेवाले हैं। इन आचार्यों से कहते हैं कि **ओषधयः**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्यो! **प्रतिमोदध्वम्**=आप आनन्दित होओ। **अत्र**=यहाँ **युष्माः अभि**=आपकी ओर (युष्मान्) **एतम्**=इस **शिवम्**=मङ्गल स्वभाववाले, जिसके अन्दर माता-पिता ने मङ्गलमयी वृत्ति पैदा करने का प्रयत्न किया है, **अग्निम्**=जो आगे बढ़ने की वृत्तिवाला है उसको **आयन्तम्** =आते हुए देखकर आप प्रसन्न हों। तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य प्रार्थना करता है कि **'दमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा क्षमायन्तु मा ब्रह्मचारिणः स्वाहा'** मुझे दम और क्षमवाले ब्रह्मचारी प्राप्त हों। इस प्रकार के विद्यार्थी का निर्माण आचार्य के लिए सुगम होता है। ३. विद्यार्थी कहते हैं कि हे आचार्य! **निषीदन्**=डाँवाँडोल न होते हुए—अवस्थित रूपवाले आप **विश्वाः**=सब **अनिरा** (अन्+इरा)= (इरा=godess of speech) ज्ञान की वाणियों की विरोधी **अमीवा**=बीमारियों को **व्यस्यन्**=हमसे दूर फेंकते हुए **नः**=हमसे **दुर्मतिम्**=दुर्मति को **अप जहि**=सुदूर विनष्ट कर दीजिए। ४. एवं, यदि आचार्य अपना यह कर्त्तव्य समझेंगे कि ज्ञान की विघ्नभूत सब बीमारियों को दूर रखना

है और सु-मति को उत्पन्न करना है तो आचार्य सचमुच 'ओषधि' होंगे, विद्यार्थियों के दोषों का दहन करेंगे और ऐसे स्नातकों के जीवन में 'ऋत, सत्य व पुरीष्य अग्नि' का वास होगा।

भावार्थ—हमारा जीवन भौतिक क्षेत्र में ऋतवाला, व्यावहारिक क्षेत्र में सत्यवाला तथा अध्यात्म में 'पुरीष्य अग्निवाला' हो।

ऋषिः—त्रितः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

आचार्यकुल से विद्यार्थी का समावर्तन

ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः।
अयं वो गर्भऽऋत्वियः प्रत्नꣳसधस्थमासदत्॥४८॥

१. **ओषधयः**=हे दोषों का दहन करनेवाले आचार्यो! **पुष्पवतीः**=उत्तम पुष्पोंवाली **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलोंवाली वाणियों को **प्रतिगृभ्णीत**=ग्रहण करो। **'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, यज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा'** (नि० १।१८)। (क) अर्थ ही वाणी का पुष्पफल है। इस प्रकार आचार्य अर्थसहित वाणी का ज्ञान रखता है। (ख) अथवा 'यज्ञ' वाणी के पुष्प हैं और देवता उसके फल हैं, अतः आचार्य वाणी में निर्दिष्ट यज्ञों को करनेवाला और देवताओं के ज्ञान को प्राप्त करानेवाला है। (ग) अथवा देवताओं का, अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान वाणी का पुष्प है और अध्यात्म व ब्रह्म-ज्ञान वाणी का फल है। एवं, आचार्य अपरा व परा दोनों ही ज्ञानों को प्राप्त करानेवाला होता है। वह सम्पूर्ण ज्ञान का पारङ्गत है। ब्रह्मचर्यसूक्त में इसी दृष्टि से आचार्य को ज्ञान का समुद्र कहा है। २. आचार्य अपने समीप आये हुए विद्यार्थी को गर्भ में धारण करता है और उसे प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान न होने तक, अर्थात् तीन रात्रियों तक उदर में धारण करता है। आचार्यों से कहते हैं कि **अयम्**=यह **वः**=आपका **गर्भः**=गर्भ में वास करनेवाला **ऋत्वियः**=समय पर दुबारा जन्म लेनेवाला ब्रह्मचारी है। **'तं जातं द्रष्टुं अभिसंयन्ति देवाः'**=इस उत्पन्न हुए विद्यार्थी को देखने के लिए बड़े-बड़े विद्वान् आते हैं। ३. अब यह विद्यार्थी आचार्यकुल से समावृत्त होकर घर में लौटता है और **प्रत्नम्**=अपने पुराने **सधस्थम्**=परिवार के व्यक्तियों के मिलकर ठहरने के स्थान में, अर्थात् पितृगृह में **आसदत्**=आसीन होता है। सारे अध्ययनकाल में २४, ४४ वा ४८ वर्ष इसका घर से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहा था, कुल ही उसका घर बन गया था। आज वह फिर पुराने घर में लौटता है।

भावार्थ—आचार्य परा व अपरा विद्या में निपुण हैं। विद्यार्थी आचार्य के समीप विद्या-ग्रहण के काल तक रहता है। समावृत्त होकर पुराने पितृगृह में लौटता है।

ऋषिः—उत्कीलः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु के नेतृत्ववाला उत्कील

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसोऽअमीवाः।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳसुहवस्य प्रणीतौ॥४९॥

१. आचार्यकुल में परा व अपरा विद्या का ज्ञान प्राप्त करके जब विद्यार्थी संसार में आता है तब हीन आकर्षणवाला नहीं बनता। इसकी रुचि उत्कृष्ट बनी रहती है और **उत्**=उत्कृष्ट लक्ष्य के साथ **कील**=अपने को बाँधनेवाला यह 'उत्कील' कहलाता है।

इस उत्कील से कहते हैं कि तू २. **पृथुना**=विस्तृत **पाजसा** =शक्ति से **विशोशुचानः**=विशेषरूप से खूब चमकता हुआ हो। शक्ति की क्षीणता हीनाकर्षण, भोगवृत्ति में ही है। 'उत्कील' भोगों की ओर नहीं झुकता परिणामतः विशिष्ट शक्ति से देदीप्यमान होता है। ३. तू अपने जीवन से **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **बाधस्व**=रोककर दूर रखनेवाला हो। द्वेषाग्नि में तूने जलते नहीं रहना। ४. **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों को, अपने रमण के लिए औरों के क्षय की वृत्ति को तू अपने से दूर रख। अपनी स्वार्थहानि करके भी तू परार्थ को सिद्ध करनेवाला बन। ५. **अमीवाः**=तू सब शारीरिक रोगों को अपने से दूर रख। शारीरिक रोग तुझे आक्रान्त न कर पाएँ। ६. तेरी सदा एक ही आराधना हो कि उस **बृहतः**=(बृहि वृद्धौ) सब वृद्धियों के कारणभूत **सुशर्मणः**=उत्तम कल्याणमय प्रभु के **शर्मणि**=शरण में **स्याम्**=होऊँ। प्रभु ही मेरी शरण हों, प्रभु पर ही मुझे आस्था हो। मैं यथासम्भव ब्रह्मनिष्ठ बन पाऊँ। ८. **अहम्**=मैं **सुहवस्य**=शोभन पुकारवाले, सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु के **प्रणीतौ**= प्रणयन में रहूँ, अर्थात् प्रभु जिधर ले-चलें उधर ही चलूँ। प्रभु नेता हों, मैं उनका अनुयायी होऊँ।

भावार्थ—उत्कृष्ट बन्धनवाला बनकर मैं शक्ति से चमकूँ। द्वेष, हिंसा व रोगों से दूर रहूँ। प्रभु की शरण में मेरा वास हो। प्रभु नेता हों मैं उनका अनुयायी बनूँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—आपः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

मयोभुवः आपः

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥५०॥

१. 'उत्कील' गत मन्त्र का ऋषि था। उत्कील बनने के लिए यह जलों का ठीक प्रयोग करके जीवन को सौम्य बनाने का प्रयत्न करता है। इन स्यन्दमान जलों का **द्वि**=दो प्रकार से प्रयोग करने से यह 'सिन्धु द्वीप' कहलाता है (सिन्धवः द्विर्गता आपो यस्मिन्)। जलों का बाह्य व अन्तः समुचित प्रयोग करके यह जीवन को बहुत ही सुन्दर बनाता है। यह कहता है कि २. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाले **ष्ठाः**=हैं। **ताः**=वे जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति में **दधातन**=धारण करें। **महे रणाय चक्षसे**=महान् रमणीय दर्शन, अर्थात् ब्रह्मदर्शन के लिए धारण करो, अर्थात् जलों के प्रयोग से जहाँ ऐहिक लाभ होता है और हमारे शरीर नीरोग व शक्ति-सम्पन्न बनते हैं, वहाँ इनका समुचित प्रयोग हमें आमुष्मिक लाभ भी प्राप्त कराता है और हम उस महान् रमणीय ब्रह्म का दर्शन करनेवाले होते हैं। ३. अथवा ये जल हमें (क) **महे**=महत्त्व के लिए धारण करें, हमारे शरीर का उचित भार बढ़ानेवाले हों। (ख) **रणाय**=रमणीयता के लिए हों, स्वास्थ्य का सौन्दर्य देनेवाले हों अथवा (रण शब्दे) शब्दशक्ति को बढ़ानेवाले हों, तथा दोष को दूर करें। (ग) और **चक्षसे** =हमारी दृष्टिशक्ति को ठीक करनेवाले हों।

भावार्थ—जलों का ठीक प्रयोग हमारा कल्याण करनेवाला है। हमें बल व प्राणशक्ति देनेवाला है, भार को ठीक करता है, शब्दशक्ति को बढ़ाता है और दीर्घदृष्टि देता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—आपः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

शिवतम-रस

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥५१॥

१. हे जलो! **यः**=जो **वः**=तुम्हारा **शिवतमः रसः**=अत्यन्त कल्याणकर रस है **तस्य**=

उस रस का **नः**=हमें **इह**=इस मानव-जीवन में **भाजयत**=भागी बनाओ। हे जलो! **उशतीः**=सन्तान के भले की कामना करती हुई **मातरः इव**=माताओं के समान तुम हमारे लिए होओ। २. यहाँ 'रसः' शब्द का प्रयोग बड़ा सुन्दर संकेत कर रहा है कि हमें जल का रस लेना है, बड़ा स्वाद लेकर धीमे-धीमे उसे पीना है, उसे अपने अन्दर उलट नहीं लेना। 'We must eat water' अर्थात् 'हमें पानी को खाना चाहिए' इस वाक्य की भावना यही है। इस प्रकार जलों का रस ग्रहण करेंगे तो ये जल हमारे लिए माताओं के समान हितकर होंगे।

भावार्थ—हम जलों का आचमन करें। धीमे-धीमे पीएँ, तभी जल हितकर होंगे।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—आपः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज़नयथा

तस्मा॒ऽअरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ। आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥५२॥

१. हे जलो! **वः**=आपके **तस्मै**=उस रस को पाने के लिए **अरम्**=पर्याप्त **गमाम**=जानेवाले हों, अर्थात् उस रस को खूब ही प्राप्त करें, **यस्य क्षयाय**=(क्षयेण) जिस रस के निवास के कारण **जिन्वथ**=तुम प्रीणित करते हो, तृप्त करते हो। जलों में एक रस है जो एक अद्भुत तृप्ति अनुभव कराता है। शुद्ध जल से प्राप्त होनेवाली यह तृप्ति अन्य कितने भी स्वादिष्ट पेय-द्रव्यों से प्राप्त नहीं होती **'अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा'**। २. **च**=और हे **आपः**=जलो! आप **नः**=हमें **जनयथ**=जननशक्ति से युक्त करो अथवा शक्तियों के प्रादुर्भाववाला करो। स्पष्ट है कि जलों के समुचित प्रयोग से जहाँ तृप्ति अनुभव होती है वहाँ ये जल हमारी शक्तियों का विकास करनेवाले होते हैं और जननशक्ति की हीनता को दूर करते हैं।

भावार्थ—ये जल अपने अद्भुत रस से हमें प्रीणित करते हैं और शक्तियों के विकास के कारणभूत होकर जननशक्तियुक्त करते हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—मित्रः। छन्दः—उपरिष्टाद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

सुजात

मि॒त्रः स॒ꣳसृज्य॑ पृ॒थि॒वीं भूमिं॑ च॒ ज्योति॑षा स॒ह।
सु॒जा॑तं जा॒तवे॑दसमय॒क्ष्माय॑ त्वा॒ सꣳसृ॑जामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥५३॥

१. प्रभु सिन्धुद्वीप से कहते हैं कि तू **पृथिवीम्**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष (प्रथ विस्तारे) को **भूमिं च**=और जिसमें मनुष्य बना ही रहता है (भवन्ति यस्यां सा भूमिः), अर्थात् स्वस्थ शरीर को **ज्योतिषा**=मस्तिष्क में होनेवाली ज्ञान की ज्योति के **सह**=साथ **संसृज्य**=मिलाकर **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व रोगों से अपने को बचानेवाला हुआ है। जब मनुष्य हृदय, शरीर व मस्तिष्क तीनों का समानरूप से ध्यान करता है, तभी वह पूर्ण स्वस्थ बन पाता है। २. **सुजातम्**=उत्तम प्रादुर्भाववाले, अर्थात् शरीर, मन व मस्तिष्क के समविकासवाले **जातवेदसम्**=पर्याप्त धनवाले को (वेदस्=धन, 'विद्' लाभे) **अयक्ष्माय**=यक्ष्मादि रोगों का शिकार न होने देनेवाला करता हूँ। संसार में पूर्ण स्वास्थ्य के लिए उचित धन भी आवश्यक है, क्योंकि निर्धनता मनुष्य की चिन्ताओं का कारण बन, उसे क्षीणशक्ति कर देती है। ३. **त्वा**=तुझ स्वस्थ व्यक्ति को **प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **संसृजामि**=संसृष्ट करता हूँ, अर्थात् तेरा जीवन प्रजाओं के हित के लिए हो।

भावार्थ—१. मनुष्य विशाल हृदय, स्वस्थ शरीर व ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला बनकर नीरोग व निष्पाप बनता है। २. यह समविकासवाला व्यक्ति उचित धन प्राप्त करके पूर्ण नीरोग होता है। ग़रीबी भी तो एक रोग ही है। ३. इस व्यक्ति को चाहिए कि अब लोकहित के कार्यों में संलग्न रहे।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—रुद्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

बृहत् ज्योतिः—शुक्रः

रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे।
तेषां भानुरजस्र्स इच्छुक्रो देवेषु रोचते॥५४॥

१. **रुद्राः**=वासनाओं के लिए प्रलयंकर रुद्र बने हुए लोग अथवा (रोरूयमाणो द्रवति) निरन्तर प्रभु का नामोच्चारण करके कार्यों में तत्पर हुए लोग **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत हृदयान्तरिक्ष से **संसृज्य**=संसृष्ट होकर, विशाल हृदय से युक्त होकर, उस पवित्र हृदय में **बृहत् ज्योतिः**=उस सदा बढ़ी हुई ज्योति, अर्थात् परमात्म-ज्योति को **समीधिरे**=सम्यक्तया समिद्ध करते हैं, अर्थात् विशालता से पवित्र हुए अपने हृदय में उस प्रभु की ज्योति को देखने का प्रयत्न करते हैं। २. **तेषाम्**=इन परमात्मदर्शियों का **भानुः**=ज्ञान का प्रकाश **इत्**=निश्चय से **अजस्त्रः**=निरन्तर होता है। इनके ज्ञान पर वासना का आवरण नहीं आता। ३. **शुक्रः**=यह अनावृत ज्ञानवाला पुरुष **देवेषु**=विद्वानों में भी **रोचते**=चमकता है। 'शुक्र' शब्द के दो अर्थ हैं 'शुच् दीप्तौ'=(क) इसका ज्ञान चमकता हुआ होता है और (ख) (शुक् गतौ) यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। वस्तुतः यह ज्ञान और कर्म का समन्वय ही इसे देवों में भी देदीप्यमान करता है **'यस्तु क्रियावान् पुरुषः स पण्डितः'** (क्रियावान् पुरुष ही पण्डित है)—इस उक्ति के अनुसार 'शुक्र' बनना आवश्यक है। ४. यह शुक्र अपने जीवन में 'शुक् गतौ' शरीर की क्रिया को, (शुचि=पवित्र) हृदय की पवित्रता को तथा 'शुक् दीप्तौ' मस्तिष्क की दीप्ति को समन्वित करके चलता है।

भावार्थ—१. वासनाओं को नष्ट करके हम पवित्र हृदय में प्रभु की ज्योति जगाएँ। २. उस ज्योति के जगने पर हमारा यह प्रकाश अविच्छिन्न हो, सतत रहनेवाला हो। ३. हम क्रियाशील, पवित्र व दीप्त बनकर देवों में भी शोभा पाएँ।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—सिनीवाली। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सिनीवाली

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्॥५५॥

१. जीवन को गत मन्त्र के अनुसार बनाने की इच्छावाला वह पुरुष जो स्वयं **कृत्वा**=(करोति=कृ+वन्) बड़ा क्रियाशील है वह, जो **सिनीवाली**=(चन्द्रकलायुक्त अमावास्या-भिमानिनी देवता) सदा आह्लाद की मनोवृत्ति से युक्त, कभी भी पति को न त्यागनेवाली, सदा साथ (अमा) रहनेवाली (वसु) तथा (सिन=अन्न, वल्=to increase) घर में अन्न को बढ़ानेवाली, न कि कपड़ों व अन्य टीप-टाप पर अधिक व्यय कर देनेवाली है **ताम्**=उसे **कृणोतु**=अपनी पत्नी बनाएँ। पत्नी कितनी भी अच्छी हो, पर पति को स्वयं भी **कृत्वा**=क्रियाशील होना है तभी उन्नति करना सम्भव होगा। २. कैसी कन्या को पत्नी बनाएँ? (क) **वसुभिः**

संसृष्टाम्=जो ब्रह्मचर्यकाल में वसुओं के सम्पर्क में आई है। वसु वे विद्वान् हैं जो मुख्यरूप से इस बात का ज्ञान देते हैं कि निवास के लिए क्या-क्या करना चाहिए, किन-किन बातों से बचना चाहिए तथा हमारा भोजनाच्छादन कैसा हो, जिससे हम रोगों से बचे रहें। संक्षेप में वसु वे हैं जो आयुर्वेद के आचार्य हैं। पत्नी के लिए आयुर्वेद का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि नीरोगता के दृष्टिकोण से घर का सारा प्रबन्ध उसी ने करना है। जो (ख) **रुद्रैः संसृष्टाम्**=वासनाओं का विनाश करने के लिए, मन को उत्तम बनाने के लिए उपदेश देनेवाले के सम्पर्क में आई है। पत्नी वही ठीक है जो कि वासनाओं से मुक्त होती है। (ग) **धीरैः संसृष्टाम्**=(धी+र) जो आत्म-ज्ञान देनेवालों के सम्पर्क में आई है, ऐसी पत्नी भोगप्रधान जीवनवाली न होगी। ३. **कर्मणाम्**=कर्मनिष्ठ, सदा क्रियाशील जीवन बितानेवाली को पत्नी बनाएँ। अकर्मण्य व आलस्य के स्वभाववाली गृहिणी वैषयिक वृत्ति होती है तथा उसका शरीर भी नीरोग नहीं होता। ४. **मृद्वीम्**=(Mild) कोमल स्वभाववाली को पत्नी बनाएँ। **हस्ताभ्याम्**=(हन् हिंसागत्योः) जो मार्ग में आये विघ्नों को विनष्ट करती हुई आगे बढ़ती है और विघ्ननाश व अग्रगति के गुणों के कारण मृद्वी=बड़े कोमल स्वभाववाली है। अकर्मण्य स्त्री अधिक बोलनेवाली व कर्कश स्वभाववाली होती है। उसके साथ तो गृहस्थ नरक-सा बन जाएगा।

भावार्थ—पत्नी वही ठीक है जो आयुर्वेद, मनोविज्ञान व आत्मविज्ञान का अध्ययन किये हुए है, जो क्रियाशील, कोमल स्वभाववाली है, सदा प्रसन्न रहनेवाली तथा घर में अन्न की वृद्धि करनेवाली है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—अदितिः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उखां दधातु

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥५६॥

१. **सिनीवाली**=आह्लादयुक्त मनोवृत्तिवाली, सदा पति के साथ रहनेवाली **सुकपर्दा**=(सु-कस्य परम्=पूर्तिं ददाति) उत्तमता से सुख की पूर्ति करनेवाली, अर्थात् घर के वातावरण को सदा सुखद बनाये रखनेवाली **सुकुरीरा**=उत्तम शब्दों को देनेवाली, अर्थात् '**जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्**'=पत्नी पति के लिए माधुर्यमयी, शान्ति देनेवाली वाणी बोले' इस मन्त्र के अनुसार सदा मधुर शब्दों को बोलनेवाली तथा **स्वौपशा**=(सु आ उप श) उत्तमता से, सब प्रकार से पति के समीप ही निवास करनेवाली, अर्थात् छोटी-छोटी बातों के कारण मायके न भाग जानेवाली **सा**=वह पत्नी, हे **महि अदिते**=महनीय अखण्डन की देवते! महत्त्वपूर्ण स्वास्थ्य की देवते। **तुभ्यम्**=तेरे लिए **उखाम्**=पतीली को **हस्तयोः**=अपने हाथों में **आदधातु**=धारण करे। २. 'पतीली को अपने हाथों में धारण करे' का अभिप्राय यह है कि रसोई के काम को नौकरों के हाथ में न सौंप दे। वस्तुतः स्वास्थ्य भोजन पर ही निर्भर है, अतः भोजन के विभाग को पत्नी ने स्वयं सँभालना है। नौकरों के बने भोजन में वह प्रेम नहीं होता जो पत्नी के हाथ से बने भोजन में उपलभ्य होता है। ३. भोजन को बनानेवाली यह पत्नी आह्लादमय मनोवृत्तिवाली है (सिनीवाली), उत्तम स्वास्थ्यप्रद भोजन से यह स्वास्थ्य के सुख को देनेवाली है (सुकपर्दा) भोजनादि परोसने के समय शुभ शब्दों का ही प्रयोग करनेवाली है (सुकुरीरा) सदा पति का साथ देनेवाली है (स्वौपशा)।

भावार्थ—पत्नी को भोजन का विभाग सदा अपने हाथ में रखना चाहिए। इसे नौकरों को नहीं सौंप देना चाहिए।

सूचना—आचार्य दयानन्द ने 'स्वौपशा' का अर्थ 'भोजन के अच्छे पदार्थ बनानेवाली' किया है। उव्वट ने अर्थ किया है—'उत्तम अवयवोंवाली'।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—अदितिः। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

मखस्य शिरः

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।

माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भऽआ। मखस्य शिरोऽसि ॥५७॥

१. गत मन्त्र की सिनीवाली **उखाम्**=पाकस्थाली को **शक्त्या**=शक्ति के दृष्टिकोण से **कृणोतु**=करे, अर्थात् जिन भी भोजनों का परिपाक करे उनमें दृष्टिकोण शक्ति का हो। भोजन का मापक स्वाद व सौन्दर्य न हो, अपितु पौष्टिकता हो। ३. **अदितिः**=घर में सबके स्वास्थ्य को अखण्डित रखनेवाली यह गृहिणी **बाहुभ्याम्**=अपने हाथों से **धिया**= बुद्धिपूर्वक **कृणोतु**=इस पाक को करे। 'बुद्धिपूर्वक करे' का अभिप्राय यह कि समझदारी से ऋतुओं के अनुसार भोजन बनाये। ऋतुओं का विचार न करके बनाया गया भोजन स्वास्थ्य को विकृत ही तो करेगा। ३. **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **यथा**=जैसे **उपस्थे**=गोद में धारण करती है, इसी प्रकार **सा**=वह गृहिणी **अग्निम्**=इस पाकाग्नि को **गर्भे**=अपने गर्भ में **आबिभर्तु**=धारण करे। माता को पुत्र प्रिय होता है, गृहिणी को पाकाग्नि प्रिय हो, वह भोजन को प्रेम से बनाती हो, उसे बेगार न समझती हो। ४. हे गृहिणि! वस्तुतः तू ही **मखस्य**=इस गृहस्थ-यज्ञ का **शिरः असि**=सिर है। इसका निर्भर तुझपर ही है। घर में प्रधान-स्थान पत्नी का ही होता है, वह जैसा चाहे घर को बना सकती है। तामस् भोजनों के द्वारा वह सबकी वृत्ति को तामसी, राजसी भोजनों से वृत्तियों को राजसी, सात्त्विक भोजनों से वह सबके अन्तःकरणों को शुद्ध और पवित्र कर देती है। इसप्रकार घर में सर्वोपरि स्थान पत्नी का ही है। इस गृहस्थ-यज्ञ की मूल-सञ्चालिका वही है।

भावार्थ—१. पत्नी भोजनों को शक्ति के दृष्टिकोण से बनाये। २. अपने हाथों से बुद्धिपूर्वक भोजनों को बनाती हुई यह सबको स्वस्थ रखती है। ३. माता पाकाग्नि को अत्यन्त प्रिय वस्तु समझे, भोजन बनाने में उसे आनन्द आता हो। ४. सबके स्वास्थ्य की साधिका होने से पत्नी गृहस्थ-यज्ञ की मूर्धन्य है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—वसुरुद्रादित्यविश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराट्सङ्कृतिः[क], अभिकृतिः[र]। स्वरः—गान्धारः[क], ऋषभः[र]॥

पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-दिशाः

[क]वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानायाऽऽ[र]दित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं

गौपत्यꣳसुवीर्यꣳसजातान्यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳसुवीर्यꣳ सजातान्यजमानाय ॥५८॥

१. हे पत्नि! **वसवः**=उत्तम निवास देनेवाले, आयुर्वेद के विद्वान् आचार्य **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राणरक्षण की इच्छा से (गयाः प्राणाः, त्र=रक्षा) **अङ्गिरस्वद्**=अङ्गिरा की भाँति, अर्थात् एक-एक अङ्ग में रसवाला **कृण्वन्तु**=करें, अर्थात् तू वसुओं के सम्पर्क में आकर आयुर्वेद को समझने के कारण सशक्त अङ्गोंवाली है, तेरा खान-पान प्राणशक्ति की रक्षा के दृष्टिकोण से होता है। **ध्रुवा असि**=तू इस पतिकुल में ध्रुव होकर रहनेवाली है। **पृथिवी असि**=विस्तृत हृदयान्तरिक्षवाली है। (क) **मयि**=मुझमें **प्रजाम्**=प्रजा को **धारय**=धारण कर, अर्थात् गृहस्थ में हम दोनों के प्रवेश का उद्देश्य उत्तम सन्तान का निर्माण ही हो। (ख) **रायस्पोषम्** (धारय)=धन के पोषण को धारण करनेवाली हो। यह धन का पोषण तेरी मितव्ययिता से ही तो होगा। तेरा सारा व्यवहार 'समृद्धिकरण' होना चाहिए। (ग) **गौपत्यम्** (धारय)=तू गौपत्य को धारण कर। तेरी सहायता से मैं गोपति बनूँ, घर में गौ रखनेवाला बनूँ अथवा 'गावा इन्द्रियाणि' इन्द्रियों का पति, जितेन्द्रिय बन सकूँ। (घ) **सुवीर्यम्** (धारय)=जितेन्द्रियता के द्वारा तू उत्तम वीर्य को मुझमें धारण कर। (ङ) **यजमानाय** =यज्ञ के स्वभाववाले मेरे लिए **सजातान्**=मेरे सजातों को भी, बिरादरी के लोगों को भी तू धारण कर। जब पति यज्ञ के स्वभाववाला होगा तो सबसे मेल-जोल के कारण उनका धारण (खिलाना-पिलाना) भी आवश्यक हो जाता है। २. **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु-नाम के धारणपूर्वक वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाला **कृण्वन्तु**=करें। **ध्रुवा असि**=तू पतिकुल में ध्रुव होकर रहनेवाली है, **अन्तरिक्षम् असि** =सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाली है। **मयि**=मुझमें **प्रजां धारय**=प्रजा को धारण कर, सन्तान को जन्म दे। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को, उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय**=मुझ यजमान के लिए **सजातान्**=सजातों को धारण कर। ३. **आदित्याः**=सूर्य के समान ज्योति को-ब्रह्म-ज्ञान को अपने अन्दर लेनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी आचार्य तुझे **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला करें। **ध्रुवा असि**=तु ध्रुवा है। **द्यौः असि**=प्रकाशमय जीवनवाली है, क्रीड़ादि स्वभाववाली है, तत्त्व को समझने के कारण सब बातों को sportsman like spirit में लेनेवाली है। **मयि प्रजां धारय**=मुझमें सन्तान को धारण कर। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को तथा उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय सजातान्** (धारय)=मुझ यजमान के लिए मेरी बिरादरीवालों का उचित आतिथ्य करनेवाली बन। ४. **विश्वे देवाः**=सब देव, **वैश्वानराः**=जो सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं, वे **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्मरण की इच्छा से **अङ्गिरस्वत्** =सरस अङ्गोंवाला करें। **ध्रुवा असि**=तू ध्रुवा है। **दिशः असि**=तू उत्तम निर्देशोंवाली-उत्तम सलाह देनेवाली है। सभी आनेवाले लोगों को उचित निर्देश देनेवाली है। **मयि प्रजां धारय**=मुझमें सन्तान को धारण कर। **रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यम्**=धन के पोषण को, जितेन्द्रियता को, उत्तम वीर्य को धारण कर। **यजमानाय**=मुझ यज्ञशील के लिए **सजातान्**=सब बिरादारीवालों का धारण कर।

भावार्थ—पत्नी विशाल हृदयान्तरिक्षवाली, मध्यमार्ग पर चलनेवाली, प्रकाशमय

जीवनवाली तथा सभी को उचित निर्देश देनेवाली हो।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—अदितिः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अदिति की रास्ना

अदि॑त्यै रास्ना॒स्यदि॑तिष्टे॒ बिलं॑ गृभ्णातु। कृ॒त्वाय॒ सा म॒हीमु॒खां मृ॒न्मयीं॒ योनि॑म॒ग्नये॑। पु॒त्रेभ्य॒ः प्राय॑च्छ॒ददि॑तिः श्र॒पया॒निति॑॥५९॥

१. हे पत्नि! तू **अदित्यै**=अदिति के लिए **रास्ना**=मेखला है, अर्थात् अदिति बनने के लिए कटिबद्ध है। तुझे 'अदीना देवमाता' बनना है, सब प्रकार की दीनताओं से ऊपर दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली बनना है। २. अब पिता सन्तान से कहता है कि **अदितिः**=यह अदीना देवमाता **ते**=तेरे **बिलम्**=(भरण—द०) भरण-पोषण को **गृभ्णातु**=स्वीकार करे, अर्थात् तेरा ऐसी उत्तमता से पालन करे कि तू सब रोगों से मुक्त, पूर्ण स्वस्थ हो और तुझमें अदीनता व दिव्य गुणों का विकास हो। ३. **सा अदितिः**=वह अदिति माता **महीम्**= अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **उखाम्**=पाकस्थाली **कृत्वाय**=करके तथा **मृन्मयीम्**=मिट्टी के बने हुए **अग्नये योनिम्**=अग्नि के लिए स्थान को, अर्थात् चूल्हे को **कृत्वाय**=करके **पुत्रेभ्यः**=पुत्रों के लिए उत्तम भोजन को **प्रायच्छत्**=देती है, **श्रपयान् इति**=जिससे उनका ठीक परिपाक हो सके। ४. सन्तानों के जीवन का निर्माण बहुत कुछ भोजन पर निर्भर है। उस भोजन के परिपाक को गृहपत्नी अत्यन्त महत्त्व देती है। बच्चों की माता इस बात के लिए कटिबद्ध हो कि मैंने 'अदिति' बनना है। (क) सन्तानों के स्वास्थ्य को कभी खण्डित नहीं होने देना है, (ख) उन्हें अदीन बनाना है, (ग) उनमें दिव्य गुणों का पोषण करना है।

भावार्थ—माता का मुख्य कर्त्तव्य बच्चों को स्वस्थ बनाना तथा उनके जीवन का उत्तम परिपाक करना है। इसी दृष्टिकोण से वह भोजन को महत्त्व देती है, क्योंकि भोजन ने ही उनके शरीर व मनों को स्वस्थ करना है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—स्वराट्संकृतिः। स्वरः—गान्धारः॥

धूपन (जितेन्द्रियता-निर्द्वेषता)

वस॑वस्त्वा धूपयन्तु गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद् रु॒द्रास्त्वा॑ धूपयन्तु॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वदा॑दि॒त्यास्त्वा॑ धूपयन्तु॒ जाग॑तेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद् विश्वे॑ त्वा दे॒वा वैश्वान॒रा धू॑पय॒न्त्वानु॑ष्टुभेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वदिन्द्र॑स्त्वा धूपयतु॒ वरु॑णस्त्वा धूपयतु॒ विष्णु॑स्त्वा धूपयतु॥६०॥

१. हे जीव! **वसवः**=आयुर्वेद के आचार्य, उत्तम निवास का मार्ग सिखानेवाले विद्वान् **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राण-रक्षण की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, धूपित करें। जैसे धुआँ देकर किसी कमरे का संस्कार किया जाता है और उसके अन्दर होनेवाले रोगकृमियों को नष्ट कर दिया जाता है, इसी प्रकार प्राण-शक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा तेरे शरीर को संस्कृत करे, उसमें किसी प्रकार की अशुभ वासनाएँ न रहने से नीरोगता का निवास हो। तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन। २. **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु नामोच्चारण द्वारा वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले आचार्य **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन पाये। तेरा प्रत्येक अङ्ग जीवनी-शक्ति के रस के सञ्चारवाला हो। ३.

आदित्याः=सूर्य समान ब्रह्म-ज्योति को धारण करनेवाले आचार्य **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की कामना से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें। तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन। ४. **वैश्वानराः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा से **धूपयन्तु**=संस्कृत करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बने। ५. (क) **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की वृत्ति **त्वा**=तुझे **धूपयतु**=संस्कृत करे। (ख) **वरुणः**=द्वेष-निवारण की वृत्ति **त्वा**=तुझे **धूपयतु**=संस्कृत करे। (ग) **विष्णुः त्वा धूपयतु**=हृदय की विशालता तुझे संस्कृत करे। जीवन को पवित्र बनाने के लिए जितेन्द्रियता, द्वेष-निवारण तथा हृदय की विशालता तीनों आवश्यक हैं।

भावार्थ—'प्राण-रक्षण की इच्छा, काम-क्रोध-लोभ को रोकने की इच्छा, लोकहित की भावना, अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा, जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता तथा विशालता' ये बातें मानव-जीवन को संस्कृत करती हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः। देवता—अदित्यादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—भुरिक्कृतिः[क],
निचृत्प्रकृतिः[२]। स्वरः—निषादः[क], धैवतः[२]॥

प्रभु-दर्शन किसे?

[क]अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत् ख॑नत्ववट दे॒वानां॑ त्वा॒ पत्नी॑र्दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद्द॑धतूखे धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद॒भीन्धतामुखे॒ वरू॑त्रीष्ट्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वच्छ्रू॑पयन्तूखे॒ ग्नास्त्वा॑ दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे॒ जन॑य॒स्त्वाऽछि॑न्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒-स्वत्प॑चन्तूखे ॥६१॥

१. हे **अवट**=(वट परिभाषणे) अपरिभाषित, अनिन्दित (Parliamentary भाषा में named=परिभाषित) पूर्ण प्रशस्त प्रभो! **त्वा**=आपको **अदितिः**=अदीना देवमाता **देवी**=दिव्य गुणोंवाली **विश्वदेव्यावती**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः**=इस विशाल हृदयाकाश के **सधस्थे**=एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **खनतु**=खोजे। 'अङ्गिरस्' हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करता है, इसी प्रकार यह अदीन बनकर, दिव्य गुणों के निर्माण व रक्षणवाली बनकर उस प्रभु को देखती है। २. **उखे**= (उत्खन्यते इति उत्खा=उखा, परोक्षप्रियत्वात् देवानाम्) अन्नमयादि कोशों को उखाड़ते-उखाड़ते अन्त में आनन्दमयकोश में दिखने योग्य प्रभो! **त्वा**=आपको **देवानां पत्नी**=देवों की पत्नियाँ, **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ **पृथिव्याः सधस्थे**=विशाल हृदयदेश के एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**= अङ्गिरस् की भाँति **दधतु**=धारण करें। ३. हे **उखे**=एक-एक कोश को खोजते-खोजते अन्त में आनन्दमयकोश में दिखनेवाले प्रभो! **त्वा**=तुझे **धिषणाः**=बुद्धि की पुञ्जभूत **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ, **पृथिव्याः सधस्थे**=विशाल हृदयाकाश के एकत्र स्थित होने के स्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **अभीन्धताम्**=दीप्त करें। ४. हे **उखे**=प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर (उत्) खोजने योग्य (खन्) प्रभो! **त्वा**=आपको

वरूत्रीः=द्वेषादि का निवारण करनेवाली और इस प्रकार **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्व-देव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **श्रपयन्तु**=परिपाक करें। अपने हृदय में तेरी ही भावना को दृढ़मूल करें। ५. **उखे**=हे भोगों से ऊपर उठकर खोजने योग्य प्रभो! **त्वा**=आपको **ग्नाः**=छन्दों का अध्ययन करनेवाली देवपत्नियाँ **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः**=विशाल हृदयान्तरिक्ष के **सधस्थे**=एकत्र स्थित होने के स्थान में **पचन्तु**=विकसित (Develop) करती हैं, अर्थात् उस प्रभु के प्रकाश को अधिकाधिक देखती हैं और **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बनने का प्रयत्न करती हैं। ६. हे **उखे**=आत्मन्! **त्वा**=आपको **जनयः**=उत्तम माता बननेवाली **अछिन्नपत्राः**=अविछिन्न गतिवाली (पत् गतौ) अर्थात् निरन्तर क्रियाशील **देवीः**=प्रकाशमय जीवनवाली **विश्वदेव्यावतीः**=सब दिव्यताओं की रक्षा करनेवाली **पृथिव्याः सधस्थे**=इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष के सहस्थान में **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति **पचन्तु**=विकसित करें।

भावार्थ—१. प्रभु 'अवट'=अनिन्दित व 'उखा'=भोगों से ऊपर उठकर देखने योग्य हैं। २. प्रभु-दर्शन करनेवाला अङ्गिरस्=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाला बनता है। ३. प्रभु-दर्शन विशाल हृदयान्तरिक्ष में होता है। ४. प्रभु-दर्शन 'अदिति, देवपत्नी, धिषणा, वरूत्री, ग्ना, आच्छिन्नपत्रा, जनयः तथा देवी विश्वदेव्यावती' को होता है। अदीना देवमाता, देवपत्नी, बुद्धिमती, द्वेष से शून्य, छन्दोमय जीवनवाली, निरन्तर क्रियाशील उत्तम माता—प्रकाशमय जीवनवाली, दिव्यताओं की रक्षिका ही प्रभु-दर्शन के योग्य है।

सूचना—यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रभु-दर्शन के प्रसङ्ग में दर्शक के सब नाम स्त्रीलिङ्ग में हैं। सम्भवतः प्रभु पति हैं और उनका दर्शन करनेवाला जीव पत्नी है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—मित्रः। छन्दः—निचृद्गायत्रीः। स्वरः—षड्जः॥

विश्वामित्र

मित्रस्य॑ चर्षणीधृतोऽवो॑ देवस्य॑ सान॒सि। द्यु॒म्नं चि॒त्रश्र॑वस्तमम्॥६२॥

गत मन्त्र का प्रभु-दर्शन करनेवाला प्राणिमात्र का मित्र बनता है और 'विश्वामित्र' नामवाला होता है। यह विश्वामित्र कहता है कि—१. (क) **मित्रस्य**=(ञिमिदा स्नेहने) सभी जीवों के साथ स्नेह करनेवाले अथवा (प्रमीतेः त्रायते) रोगों व मृत्यु से बचानेवाले (ख) **चर्षणीधृतः**=(चर्षणयः कस्मात् कर्षणयो भवन्ति) कृषि आदि श्रम करनेवालों के पालक (ग) **देवस्य**=सारे व्यवहारों के साधक प्रभु का **अवः**=रक्षण (क) **द्युम्नम्**=ज्योतिर्मय (ख) **चित्रश्रवस्तमम्**=(श्रवः=यश) अत्यद्भुत यश और **सानसि**=(षणु दाने) उत्तम फलों को देनेवाला है, २. अर्थात् विश्वामित्र प्रभु को 'मित्र' के रूप में देखता हुआ कहता है कि वे प्रभु सभी के साथ स्नेह करते हैं, सभी को रोगों व पापों से बचाते हैं। वे प्रभु श्रमशील जीव का धारण करने से 'चर्षणीधृत्' हैं। **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'**। प्रभु से देवत्व को प्राप्त हुए-हुए ये सब देव श्रमशील के अनुकूल होते हैं। प्रभु 'देव' हैं, वे भक्त के जीवन को क्रियाशून्य नहीं होने देते, अपितु उसके जीवन को सदा प्रकाशमय रखते हैं। ३. प्रभु-दर्शन से सब सम्भजनीय वस्तुएँ प्राप्त होती हैं (सानसि), जीवन प्रकाशमय बनता है (द्युम्नं) तथा अद्भुत यश की प्राप्ति होती है (चित्रश्रवस्तमम्)।

भावार्थ—हम प्रभु-भक्त बनें। प्रभु-भक्त सभी का मित्र होता है, सभी का धारण

करता है, सभी के कामों को सिद्ध करता है। यह स्वयं सम्भजनीय वस्तुओं को प्राप्त करता है, ज्योतिर्मय जीवनवाला होता है, संसार में यशस्वी बनता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—सविता। छन्दः—भुरिग्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

उद्वपन

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या।
अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिशऽआपृण॥६३॥

१. हे प्रभु-भक्त! **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=सब दिव्य गुणों के बीज बोनेवाला, दैवी सम्पत्ति का स्वामी प्रभु **उद्वपतु**=उत्कृष्ट दिव्य बीजों से उप्त करे। तेरे हृदयक्षेत्र में प्रभु द्वारा उत्तम गुणों के बीज बोये जाएँ, परिणामतः २. तू उत्तम हाथोंवाला **सुपाणिः**=बन, तेरे हाथ सदा औरों की रक्षा के लिए विनियुक्त हों (पा रक्षणे)। वही हाथ पाणि है जो रक्षा में विनियुक्त होता है। ३. **स्वंगुरिः**=तू उत्तम अँगुलियोंवाला हो। (अगि गतौ) तेरी अंगुलियाँ सदा कार्यव्यापृत हों। इन्हें वेद में 'दीधिति' नाम भी दिया जाता है 'धीयन्ते कर्मसु' जो सदा उत्तम कर्मों में लगी रहती हैं। ४. **सुबाहुः**=तू उत्तम बाहुओंवाला हो (बाहृ प्रयत्ने)। तेरे प्रयत्न सदा उत्तम हों। ५. **उत**=और **शक्त्या**=शक्ति के कारण **अव्यथमाना**=कभी श्रान्त न होता हुआ तू **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर अथवा **दिशः**=सब दिशाओं को **आशाः आपृण**=आशाओं से परिपूर्ण कर दे, अर्थात् तू सर्वत्र आशावाद का सञ्चार करनेवाला बन। हमारे उत्तम प्रयत्नों का परिणाम इतना तो होना ही चाहिए कि कहीं भी निराशा न हो। घर के सब व्यक्तियों का जीवन आशामय हो। ६. यहाँ मन्त्र में क्रम यह है कि (क) उत्तम गुणों का बीज बोया जाए (ख) हम सुपाणि, स्वंगुरिः व सुबाहु बनकर अश्रान्त होते हुए शक्तिपूर्वक कार्य करें जिससे सर्वत्र सुख-ही-सुख हो और चारों ओर आशावाद का सञ्चार हो। (ग) इस क्रम से यह बात स्पष्ट है कि क्रियाशीलता में ही गुणों का वास है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हममें उत्तम गुणों के बीज ही अंकुरित हों और हम अनथकभाव से सदा कार्य करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—मित्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पाकस्थाली

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्।
मित्रैतां तऽउखां परिददाम्यभित्याऽएषा मा भेदि॥६४॥

१. हे प्रभु-भक्त पत्नि! **उत्थाय**=उठकर, आलस्य छोड़कर **बृहती भव**=सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाली हो। आलस्य में गुणों का वास नहीं, गुण क्रियाशीलता में ही रहते हैं। गत मन्त्र में मूल भावना यही थी। **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये'** योगी लोग आत्म-शुद्धि के लिए सदा अनासक्तभाव से कर्म करते हैं, अतः तू २. **उ**=निश्चय से **उत्तिष्ठ**=सदा विषयासक्ति से ऊपर उठी रह। क्रियाव्यापृत व्यक्ति विषयों से बचा रहता है। ३. वैषयिक वृत्तिवाली न होने से **त्वम्**=तू **ध्रुवा**=स्थिर हो। विषय-वासना हमारे जीवनों को भटकनेवाला बना देते हैं। ४. हे **मित्र**=अपने को पापों से बचाकर पवित्र बने रहनेवाले व्यक्ति! **एताम्**=इस **ते**=तुझे **उखाम्**=पाकस्थाली को **परिददामि**=देता हूँ, इसलिए देता हूँ कि **अभित्या**=अ-भेदन हो। **एषा**=यह पत्नी **मा भेदि**=तुझसे भिन्न न हो जाए। यह पतिव्रतत्व

को छोड़कर परपुरुषासक्तिवाली न हो जाए। ५. मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि पत्नी कार्यव्यापृत हो। मनु ने पत्नी के लिए **'गृहकार्येषु दक्षया'**='घर के कार्यों में वह चतुर हो' इन शब्दों से यही संकेत किया है कि पत्नी को सदा कार्यव्यापृत रखना आवश्यक है। पत्नी के लिए पाकस्थाली की अध्यक्षता ही ऐसी है जो उसे अवकाश प्राप्त न होने देगी। इस कार्य का संकेत इसलिए भी हुआ है कि यही कार्य स्वास्थ्य का मूल साधन है। ऋतुओं के अनुकूल अन्न का ठीक परिपाक सभी को स्वस्थ रक्खेगा।

भावार्थ—पत्नी आलस्य शून्य हो, विषयों से ऊपर उठी हुई, घर में स्थिरता से रहे। घर के पाकादि कार्यों में अपने को व्यापृत रक्खे, जिससे वृत्ति सदा स्वस्थ रहे।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—वस्वादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—भुरिग्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

उच्छर्दन

वसवस्त्वाछृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाछृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाछृन्दन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानराऽआछृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥६५॥

१. हे प्रभु-भक्त! **वसवः**=उत्तम निवास की विद्या के आचार्य **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राणरक्षण की इच्छा से **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे **अङ्गिरस्वत्**=तू अङ्गिरस् की भाँति बन सके। २. **रुद्राः**=वासनाओं के विनाश की विद्या के आचार्य **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=काम, क्रोध व लोभ को रोकने की इच्छा से **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ३. **आदित्याः**=सूर्यसम-ज्ञान की ज्योति को धारण करनेवाले आचार्य **जागतेन छन्दसा**=जगती के हित की इच्छा से **त्वा**=तुझे **छृन्दन्तु**=दीप्त करें, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ४. **वैश्वानराः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव (विद्वान्) **आनुष्टुभेन छन्दसा**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा से **आछृन्दन्तु**=सर्वतः दीप्त करनेवाले हों, जिससे तू **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस् की भाँति बन सके। ५. चार बातें ही हमें **अङ्गिरस्**=जीवन-शक्ति से परिपूर्ण, रसमय अङ्गोंवाला बना सकती हैं—(क) प्राणरक्षण की इच्छा, प्राणशक्ति को क्षीण न होने देने की प्रबल भावना (ख) काम, क्रोध व लोभ को रोकना (ग) जगती के हित में प्रवृत्त रहना, तथा (घ). अनुक्षण प्रभु-चिन्तन, उसी के नाम का जप, उसी का स्मरण। ६. वसुओं, रुद्रों, आदित्यों व विश्वेदेवों ने इन्हीं भावनाओं को हममें भरने के लिए यत्नशील होना है। ७. इन भावनाओं से ही हमारा जीवन दीप्त हो सकेगा।

भावार्थ—हम प्राणरक्षण, 'काम, क्रोध व लोभ'—निवारण, जगती के हित की कामना तथा प्रतिक्षण प्रभु-स्तवन से अपने जीवनों को दीप्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मनु प्रजापति व वैश्वानर अग्नि

आकूतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहाऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥६६॥

१. विश्वामित्र निश्चय करता है कि **आकूतिम्**=(बलं आत्मनो धर्मो: मनसः

प्रेरणहेतुः—उ०, संकल्पः—म०) संकल्प को, जो **अग्निम्**=अग्रगति का साधन है, **प्रयुजम्**=(प्रयुङ्क्ते कर्मणि—उ०) और मनुष्य को कर्म में प्रेरित करता है, उसे **स्वाहा**=(सु+आह) मैं प्रशंसित करता हूँ। २. **मनः**=अनुष्ठेय (कर्त्तव्य) के स्मरण-साधन मन को, **मेधाम्**=ऋत-ज्ञान की धारणशक्ति मेधा को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है और **प्रयुजम्** =प्रकृष्ट कर्मों में प्रेरित करनेवाली है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ३. **चित्तम्**=स्मरण-साधन चित्त को **विज्ञातम्**=चित्त से सम्यक् अवगत कर्त्तव्य-ज्ञान को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है और **प्रयुजम्**=प्रकर्षेण कर्मों में प्रेरित करनेवाला है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ४. **वाचः विधृतिम्**=वाणी के विशिष्ट धारण को, व्यर्थ न बोलने, अर्थात् मौन को, जो **अग्निम्**=उन्नति का साधन है **प्रयुजम्**=प्रकर्षेण कर्मों में लगानेवाला है, उसे **स्वाहा**=मैं प्रशंसित करता हूँ। ५. **प्रजापतये मनवे**=प्रजाओं के रक्षक विचारशील पुरुष के लिए **स्वाहा**=मैं प्रशंसात्मक शब्द कहता हूँ। ६. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों के हित करनेवाले **अग्नये** =अग्रेणी पुरुष के लिए **स्वाहा**=मैं प्रशंसा के शब्द कहता हूँ। ७. जिन बातों को हम अच्छा समझते हैं धीमे-धीमे उन्हीं के धारण का प्रयत्न करते हैं, अतः हम अपने जीवन में 'संकल्प, मननशक्ति, मेधाचित्त, विज्ञात तथा वाचो विधारण' मौन को धारण करें तथा अपने जीवन का लक्ष्य यह रक्खें कि हम विचारशील प्रजापति बनेंगे अथवा सभी का हित करनेवाले नेता बनेंगे (मनु प्रजापति या वैश्वानर अग्नि)।

भावार्थ—हमें 'संकल्प, मनन, मेधाचित्त, विज्ञात व नपे-तुले शब्दों को बोलने की वृत्ति' को धारण करना चाहिए, जिससे हम विचारशील प्रजापति बन सकें अथवा सबका हित करनेवाले अग्रणी बन पाएँ।

ऋषिः—आत्रेयः। देवता—सविता। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

धन-पोषण के लिए

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।

विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥६७॥

पिछले मन्त्रों का ऋषि 'विश्वामित्र' था। विश्वामित्र वही बन पाता है जो 'आत्रेय' हो। 'काम, क्रोध व लोभ' तीनों से परे हो। यह आत्रेय कहता है कि—१. **विश्वः मर्तः**=संसार में प्रविष्ट सभी मनुष्य उस **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज **नेतुः**=सभी के सञ्चालक प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरें। मनुष्य को चाहिए यही कि प्रभु की मित्रता में निवास करे, प्रकृति का मित्र न बन जाए। प्रकृति की मित्रता में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति की तो कथा ही नहीं, वहाँ मनुष्य अपने ज्ञान को भी खो बैठता है। २. परन्तु न जाने फिर भी **विश्वः**=सब कोई **रायः**=धनों को **इषुध्यति**=चाहता है। धन ही सबको प्रिय होता है। ३. वस्तुतः इस संसार-यात्रा के लिए धन आवश्यक भी है, इसके बिना एक भी पग चलना सम्भव नहीं, अतः धन को भी हम चाहें तो अवश्य, पर उतने ही **द्युम्नम्**=अन्न व धन को **वृणीत**=वरो जो **पुष्यसे**=पोषण के लिए पर्याप्त हो। यह भी मार्ग है कि हम धन को आवश्यक होने से लें तो, परन्तु उस धन को उतनी ही मात्रा में लें जितनी कि इस भौतिक शरीर के लिए आवश्यक है। ४. संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त न होने का यही तो उपाय है कि हम धनासक्ति से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम प्रभु की मित्रता का वरण करें। यह अद्भुत बात है कि सब कोई धन

की कामना करता है। धन की कामना करनी चाहिए, परन्तु हमें उतना ही धन जुटाना चाहिए जिससे हमारी स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सके।

ऋषिः—आत्रेयः। देवता—अम्बा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अ-भेद्य

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु। अग्निश्चेदं करिष्यथः॥६८॥

पति पत्नी से कहता है कि १. सु=(सु अति=स्वति पूजायाम्) हे प्रशंसनीय पत्नि! **मा भित्थाः**=तू मेरी मित्रता से पृथक् मत होना, तेरा और मेरा मनभेद न हो। २. **सु**=हे उत्तम जीवनवाली! **मा रिषः**=तूने हिंसित नहीं होना। वस्तुतः पति-पत्नी की मित्रता ठीक बनी रहे तो घर फूलता-फलता है, हिंसित नहीं होता। ३. **अम्ब**=हे मेरी सन्तानों की माता! तू **धृष्णु**=प्रगल्भता से **वीरयस्व**=वीर कर्म करनेवाली बन। माता को चाहिए कि उसका कोई भी कर्म निर्बल न हो, वह विघ्नों से घबरानेवाली न हो। ४. हे मातः! तू **अग्निः च**=और यह अग्नि **इदम्**=इस पाचन-कर्म को **सुकरिष्यथः**=उत्तमता से करोगे।

भावार्थ—१. पत्नी को पति के साथ अभिन्न मैत्रीपूर्वक रहना चाहिए। २. उसके प्रत्येक कर्म में शक्ति का प्रकाश हो। ३. वह पाचन-कर्म को उत्तमता से करनेवाली हो।

ऋषिः—आत्रेयः। देवता—अम्बा। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पत्नी

दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तयऽआसुरी माया स्वधया कृतासि।
जुष्टं देवेभ्यऽइदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञेऽअस्मिन्॥६९॥

१. हे **देवि**=दिव्य गुणोंवाली! **पृथिवि**=विशाल हृदयान्तरिक्षवाली! तू **दृंहस्व**=दृढ़ बन। घर में स्थिरता से रहनेवाली बन और **स्वस्तये**=घर की उत्तम स्थिति के लिए हो। जब पत्नी घर में दृढ़तापूर्वक नहीं रहती तो वह घर को उत्तम कभी नहीं बना पाती। २. तू **आसुरी**=(असु=प्राण) प्राणसम्बन्धिनी **माया**=प्रज्ञा **असि**=है, अर्थात् तू इतनी समझदार है कि अपनी पाचन-क्रिया से सिद्ध भोजन के द्वारा सभी के प्राणों का पोषण करनेवाली है। ३. **स्वधया**=अन्न के हेतु से **कृता असि**=तू (कृती कुशलः) बड़ी कुशल है, अन्न-पाचन में तू पूरी निपुण है। ४. **इदम्**=यह तुझसे पकाया हुआ **हव्यम्**=दानपूर्वक खाने योग्य अन्न **देवेभ्यः**=अग्न्यादि देवों से **जुष्टम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित **अस्तु**=हो, अर्थात् अग्नि में आहुति देने के बाद हम सिद्ध अन्न का सेवन करनेवाले हों। अग्निमुख से वह अन्न देवों में पहुँचे और फिर यज्ञशेषरूप अमृत का हम सेवन करनेवाले हों। ५. **अरिष्टा त्वम्**=अहिंसित होती हुई तू **अस्मिन् यज्ञे**=इस गृहस्थ यज्ञ में **उदिहि**=उन्नति को प्राप्त हो।

भावार्थ—१. पत्नी को गृह में स्थिर होकर रहना है। २. उसे ज्ञानपूर्वक भोजन बनाना है, जिससे सभी की प्राणशक्ति बढ़े। ३. अन्न-पाचन में वह कुशल हो। ४. यज्ञ करके यज्ञशेष ही सबको देनवाली हो। ५. इस यज्ञशेष के सेवन के परिणामरूप अहिंसित होती हुई यह गृहस्थ यज्ञ को खूब उन्नत करनेवाली हो।

सूचना—पत्नी के कर्त्तव्यों के निर्देशक मन्त्र आत्रेय ऋषि के थे। पत्नी के साथ व्यवहार में पति ने आत्रेय ही बनना है—काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठना है। अब अगले मन्त्र में पत्नी पति से कहती है। इस मन्त्र का ऋषि 'सोमाहुति' है। सोम की आहुतिवाला,

अर्थात् सौम्य भोजन करनेवाला। यह सौम्य भोजन करनेवाला व्यक्ति क्रोधादि से ऊपर उठेगा ही।

ऋषिः—सोमाहुतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पति

द्र॒वन्नः स॒र्पिरा॑सुतिः प्र॒त्नो होता॒ वरे॑ण्यः। सह॑सस्पु॒त्रोऽअद्भु॑तः ॥७०॥

१. पत्नी पति से कहती है—तू **द्रु+अन्नः**=वनस्पति भोजनवाला है। तू वानस्पतिक भोजन ही करता है, मांस-भोजन नहीं। २. **सर्पिः आसुतिः**=घृत ही तेरा आसव=मद्य हो। घृत ही तुझे मद्य के समान आनन्द देनेवाला हो। ३. तू **प्रत्नः होता**=पुराना होता हो, अर्थात् वंश-परम्परा से दानपूर्वक अदन करनेवाला हो। तुम्हारे कुल की रीति ही दानपूर्वक अदन करने की हो। पति जहाँ मद्य-मांस का सेवन करनेवाला न हो वहाँ सदा दानपूर्वक खानेवाला हो, अर्थात् यज्ञशेष का ही खानेवाला हो। ४. **वरेण्यः**=तू वरणीय हो। सभा-समाजादि में तुझे लोग प्रधानरूप से चुनें, अथवा तू उत्तम वरण करनेवाला हो, अर्थात् तू कभी ग़लत चुनाव न करे। परमात्मा व प्रकृति में से तू प्रकृति को न चुन (धन व ज्ञान में धन तेरा चुनाव न हो जाए। प्रेय और श्रेय में कहीं तू प्रेय का वरण करनेवाला 'मन्द' न बन जाए)। ५. **सहसस्पुत्रः**=तू बल का पुत्र हो, अर्थात् खूब बल-सम्पन्न हो। ६. **अद्भुतः**=तेरी उन्नति अभूतपूर्व हो। तू आश्चर्यरूप अनन्यसदृश हो।

भावार्थ—आदर्श पति सौम्य भोजनोंवाला हो, मद्य-मांस से ऊपर उठा हुआ हो। दान की वृत्तिवाला हो। ठीक चुनाव करनेवाला हो। शक्ति का पुञ्ज बने और अभूतपूर्व उन्नति करनेवाला हो।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

वर वधू से

पर॑स्या॒ऽअधि॑ सं॒वतो॒ऽव॑राँ२॥ऽअ॒भ्यात॑र। यत्रा॒हमस्मि॒ ताँ२॥ऽअ॑व ॥७१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विरूप' है, विशिष्ट रूपवाला। यह वधू से कहता है कि १. अब तू मुझसे 'ऊढ़' (विवाहित) हुई **यत्र अहम् अस्मि**=जहाँ मैं हूँ **तान्**=उन्हें (मेरे घरवालों को) **अव**=पालन करनेवाली बन। तू मेरे घर को ही अपना घर समझनेवाली हो। ३. **संवतः**=(संवन्वते=संभजन्ते) उत्तम प्रकार से पालन-पोषण करनेवाले **अवरान्**=अपने समीप के माता-पिता को व अन्य बन्धुओं को **अभ्यातर**=तैरकर अब तू इस पतिकुल की ओर आ जा। तेरा जीवन का पहला काल अपने बन्धुओं में ही बीता है, उन्होंने तुझे बड़े प्रेम से पाला है, परन्तु अब **परस्याः अधि**=अपनी दूसरी—अगली उत्कृष्ट जीवन-यात्रा का प्रकर्षेण ध्यान करती हुई तू उन सब सम्बन्धों को तैरकर इस पतिकुल में प्रवेश करनेवाली हो। ३. पितृगृह काल के दृष्टिकोण से 'अवर' है, पतिगृह 'पर'। 'पितृगृह' कन्या के दृष्टिकोण से इसलिए भी अवर है कि उसे बनानेवाली कन्या की माता है, परन्तु पतिगृह का निर्माण इसे स्वयं करना है, अतः कन्या के लिए यही 'पर' है। ४. यदि कन्या पितृगृह को भूल पाती है तभी वह पतिगृह का निर्माण करनेवाली बनती है।

भावार्थ—कन्या के लिए पितृगृह 'अवर' व पतिगृह 'पर' होना चाहिए। वह पतिगृह का निर्माण करती हुई उस घर में सबका पालन करनेवाली बने।

ऋषिः—वारुणिः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

वधू वर से

प॒र॒मस्याः॑ परा॒वतो॑ रो॒हिद॑श्वऽइ॒हाग॑हि। पु॒री॒ष्यः॒ पुरुप्रि॒योऽग्ने॒ त्वन्त॑रा॒ मृधः॑ ॥७२॥

प्रस्तुत मन्त्र में दूर-दूर से आये हुए व्यक्तियों में से वधू एक का वरण करती है। यह निश्चित है कि वह औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ रूपवाले 'विरूप' का ही वरण करेगी, अतः यह विरूप यहाँ 'वारुणि' हो जाता है। २. वधू वारुणि के विषय में कहती है कि यह **परमस्याः परावतः**=दूर-से-दूर देश से आया है। स्पष्ट है कि सम्बन्ध करने में 'दूरी' पहली सोचने योग्य बात है। समीपता में गुण-दोषों का पूर्व परिचय होने से उतना प्रेम नहीं बन पाता। इसी दृष्टि से 'दुहिता' की व्युत्पत्ति यास्क 'दूरे हिता' ही करते हैं। ३. **रोहिदश्व**=(रुह=प्रादुर्भाव, अश्व=इन्द्रियाँ) प्रादुर्भूत शक्ति-सम्पन्न इन्द्रियोंवाले वर! **इह आगहि**=आप इस घर में आओ। कन्या यह चाहती है कि उसके वरण के लिए ऐसे ही युवक आएँ जिन्होंने अपनी सब इन्द्रियों की शक्ति का उत्तम विकास किया है। वह उनमें से ही श्रेष्ठ का वरण करेगी। ४. **पुरीष्यः**=आप पालन-कर्म में उत्तम हो। पति बनने की यह भी आवश्यक योग्यता है कि वह कमानेवाला हो। जो धनार्जन नहीं कर सकता उसे गृहस्थ बनने का भी अधिकार नहीं है। ५. **पुरुप्रियः**=यह बड़ा या बहुतों का प्रिय हो। समाज में सभी को यह अच्छा लगे। यह किन्हीं का द्वेष्य न हो। यह झगड़ालू वृत्ति का न हो। ६. हे **अग्ने**=प्रगतिशील! **त्वम्**=तू **मृधः**=हमारा संहार करनेवाले 'काम, क्रोध व लोभ' को **तर**=तैर जा। पति के रूप में उसी का वरण करना चाहिए जो कामादि वासनाओं से ऊपर उठा हुआ हो।

भावार्थ—पति की योग्यताएँ ये हैं—१. दूर का हो, नज़दीकी रिश्तेदार व परिचित न हो। २. विकसित इन्द्रिय-शक्तियोंवाला हो। ३. पालन करने की योग्यता रखता हो। ४. प्रिय हो। ५. काम, क्रोध व लोभादि वासनाओं को तैरे हुए हो।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ये ही तिल-फूल

यद॑ग्ने॒ कानि॒ कानि॑ चि॒दा ते॒ दारू॑णि द॒ध्मसि॑।
सर्वं॒ तद॑स्तु ते घृ॒तं तज्जु॑षस्व यविष्ठ्य ॥७३॥

जिस समय कन्या-पक्षवाले अपनी कन्या को योग्य वर के साथ परिणीत करते हैं तब उसके साथ 'सुदाय' (दहेज) के रूप में भी कुछ-न-कुछ देते ही हैं। उस धन को देते हुए वे कहते हैं कि १. हे **अग्ने**=प्रगतिशील युवक! **यत्**=जो **कानि-कानि चित्**=जिन किन्हीं भी **दारूणि**=लकड़ियों को **ते**=तेरे लिए **आदध्मसि**=धारण करते हैं **तत् सर्वम्**=वह सब **ते**=तेरे लिए **घृतं अस्तु**=घृत के तुल्य हो। इसी तिल-फूल को, 'पत्र-पुष्प' को तू बहुत समझना। २. **तत् जुषस्व**=उसी तुच्छ भेंट को तू प्रीतिपूर्वक सेवन करना। हमारी दी हुई यह मामूली भेंट भी आपसे आदर दी जाए। **यविष्ठ्य**=आप तो गुणों के ग्रहण व अवगुणों के दूर करनेवाले हैं। गुणों में प्रीति रखनेवाले आप इस भौतिक भेंट को बहुत महत्त्व न देंगे।

भावार्थ—वर को चाहिए कि वधू के गुणों को महत्त्व दे, न कि वधू-गृह की सम्पत्ति को। ७३, ७४वें मन्त्रों का ऋषि 'जमदग्नि' है। 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, यदनेन जगत् पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः'—श० ८।१।२।३ के अनुसार जमदग्नि 'चक्षुः'

है। संसार को ठीक रूप में देखता है और विचार करता है। जो ठीक रूप में नहीं देखता वही धन को गुणों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है।

ऋषिः—जमदग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

तिल-फूल भी खाये हुए

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रोऽअतिसर्पति।

सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य॥७४॥

१. गत मन्त्र में कन्या-पक्षवालों की ओर से विनीतता से 'सुदाय' देने का उल्लेख था। उसी विषय को और अधिक बल देकर कहते हैं कि ये हमारे कण भी वे हैं **यत्**=जिनको **उपजिह्विका**=चींटी **अत्ति**=खाती है, **यत्**=जिसे **वम्रः**=दीमक **अतिसर्पति**=अपनी गति का खूब आधार बनाती है, अर्थात् पहले तो हमने कुछ दिया ही नहीं और जो दिया है 'वह भी बड़ी ठीक स्थिति में नहीं है'। तिल-फूल भी दिये, और वे भी खाये हुए, २. परन्तु आप तो **यविष्ठ्य**=गुणों के ग्रहण व अवगुणों के त्यागनेवालों में भी उत्तम हैं, अतः **सर्वं तत्**=वह हमसे दिया हुआ तुच्छ सामान भी **ते घृतं अस्तु**=आपकी दृष्टि में घृत के समान हो। खाई हुई लकड़ियों को भी आपने घृत समझना। **तज्जुषस्व**=उसे प्रीतिपूर्वक सेवन करना, उसे फेंकना नहीं।

भावार्थ—वर ने गुणग्राही बनना है, धनाग्रही नहीं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पत्नी पति की प्रतिवेश (पड़ोसिन)

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम॥७५॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित पति बड़े यज्ञिय स्वभाव का बनता है। यज्ञ को भुवन की नाभि कहा गया है। इस नाभि (यज्ञ) के सदा समीप रहने से यह 'नाभानेदिष्ठ' कहलाता है—सदा यज्ञों के समीप निवास करनेवाला। २. घर में पत्नी व गृह के अन्य सभ्य (members) इस अग्नि=प्रगतिशील गृहस्थ को उचित भोजन प्राप्त कराने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि **अहरहः**=प्रतिदिन **अप्रयावम्**=(अप्रमत्तं यथा स्यात्तथा) प्रमादरहित होकर हम **अस्मै**=इस घर के व्यवहार को सिद्ध करनेवाले के लिए **घासम्**=वानस्पतिक भोजन को **भरन्तः**=धारण करनेवाले हों। **तिष्ठते अश्वाय इव**=यह उस घोड़े के समान है जो मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ कुछ देर खाने के लिए खड़ा हुआ है। पति ने सदा श्रमशील होना है, उसके श्रम पर ही घर का ऐश्वर्य निर्भर करता है। घरवालों ने इसके भोजन का ध्यान करना है, जिससे वह अस्वस्थ न हो जाए। ३. इस प्रकार यह श्रमविभाग करके कि 'पति कमाये और पत्नी उसके स्वास्थ्यजनक भोजनादि का ध्यान करे', हम **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से तथा **इषा**=अन्न से **संमदन्तः**=उत्तम हर्ष को प्राप्त होनेवाले हों। ४. हे **अग्ने**=गृहस्थयज्ञ के साधक! **ते प्रतिवेशा**=तेरे पड़ोसी बने हुए हम—तेरे समीप रहनेवाले हम **मा रिषाम** =आपकी कृपा से कभी हिंसित न हों। स्पष्ट है कि पति-पत्नी ने एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं रहना। यही घर को उत्तम बनाने का उपाय है।

भावार्थ—पति कमानेवाला हो। पत्नी उसके भोजन का उचित ध्यान करनेवाली हो। पत्नी पति से बहुत दूर न रहे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सद्गृहस्थ

नाभा पृथिव्याः समिधानेऽअग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम्॥७६॥

१. **इरम्मदम्**=(इरया माद्यति) अन्न से हर्षित होनेवाले, अर्थात् वानस्पतिक भोजन में ही आनन्द लेनेवाले, २. **बृहदुक्थम्**=प्रभु का खूब ही स्तवन करनेवाले, ३. **यजत्रम्**=यज्ञशील अथवा यज्ञों से अपना त्राण करनेवाले, ४. **जेतारम्**=विजयशील, ५. **अग्निम्**=निरन्तर आगे बढ़नेवाले ६. **पृतनासु सासहिम्**=संग्रामों में शत्रुओं का पराभव करनेवाले पुरुष को, ७. **पृथिव्याः नाभा**=(नाभौ) इन भुवनों के नाभिरूप यज्ञों में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **समिधाने अग्नौ**=अग्नि के समिद्ध होने पर, ८. **बृहते**=वृद्धि के कारणभूत **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए **हवामहे**=हम पुकारते हैं।

उपर्युक्त मन्त्रार्थ में यह स्पष्ट है कि गृहस्थ में पति बनने योग्य पुरुष वही है जो १. वानस्पतिक भोजन करता है, २. प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला है, ३. यज्ञशील है, ४. विजेता, ५. व उन्नतिशील है। ६. काम, क्रोध व लोभ का आक्रमण होने पर उन्हें पराजित करनेवाला है, ७. यज्ञ को पृथिवी का केन्द्र समझ, सदा यज्ञाग्नि को समिद्ध करता है। ८. उस धन का पोषण करता है जो उसकी उन्नति का कारण बनता है, ह्रास का नहीं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हमारी साधना इस प्रकार हो कि हम द्वितीयाश्रम में प्रवेश करने पर एक सद्गृहस्थ बन सकें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

न शत्रु, न चोर

याः सेनाऽअभीत्वरीराव्याधिनीरुगणाऽउत।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्तेऽअग्नेऽपिदधाम्यास्ये॥७७॥

१. गत मन्त्र में वर्णित सद्गृहस्थ बनने के लिए राज्य-व्यवस्था का उत्तम होना आवश्यक है। चोरों, डाकुओं व शत्रुओं के भय से रहित राज्य में ही सब प्रकार से जीवन की उन्नति सम्भव है, अतः कहते हैं कि २. **याः**=जो **सेनाः**=शत्रु-सेनाएँ **अभीत्वरीः**=राष्ट्र पर चारों ओर से आक्रमण करनेवाली हैं **आव्याधिनीः** =नाना प्रकार के अस्त्रों से विद्ध करनेवाली हैं, **उत**=और **उगणाः**=उद्यत आयुध-समूहवाली हैं—जिनके पास तलवार, बन्दूक आदि शस्त्र हैं। ३. इनके अतिरिक्त **ये**=जो **स्तेनाः**=चोर हैं, **ये च**=और जो **तस्कराः** (=द्यूतादिकापट्येन परपदार्थापहर्तार:—द०) द्यूत आदि के छल-कपट से दूसरों के धनों का हरण करनेवाले हैं, **तान्**=उन पुरुषों को, हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **ते आस्ये**=तेरे मुख में **अपिदधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् राजा राष्ट्र में शान्ति व विश्वस्तता के लिए शत्रुओं के आक्रमण-भय को तथा राष्ट्र के अन्दर चोरों व लुटेरों के भय को समाप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करे।

भावार्थ—किसी भी प्रकार की उन्नति तभी सम्भव है जब न बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों की आशंका हो, न चोर-लुटेरों के उपद्रव का भय। इस सुराज्य को वही राजा ला सकता है जो 'नाभानेदिष्ठ' है—सदा यज्ञरूप-केन्द्र के समीप रहनेवाला है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

राष्ट्र में कौन न रहें?

दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तस्कराँ२॥ऽउत ।
हनुभ्याᳬस्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥७८॥

१. हे **भगवः**=राष्ट्र के उत्तम ऐश्वर्य के कारणभूत राजन्! **दंष्ट्राभ्याम्**=जैसे दाढ़ों से किसी वस्तु को चबा लिया जाता है, इसी प्रकार आप अपनी दण्ड-व्यवस्था व नीतिरूप दाढ़ों से **मलिम्लून्**=मलिन आचरणवाले लोगों को **खाद**=खा जाइए, अर्थात् समाप्त कर दीजिए। २. **उत**=और **जम्भ्यैः**=जैसे अग्रदन्तों से किसी वस्तु को कुतर दिया जाता है इसी प्रकार आप अपने व गुप्तचरों के प्रबन्ध से तथा रक्षापुरुषों की उत्तम व्यवस्था से **तस्करान्**=लुटेरों को समाप्त कीजिए। ३. **हनुभ्याम्**=जैसे जबड़ों से किसी भक्ष्य पदार्थ को पीस दिया जाता है इसी प्रकार हे राजन्! **त्वम्**=आप **स्तेनान्**=चोरों को **सुखादितान्** (सु= सुखेन खादन्ति)=आराम के साथ खाने-पीने में आसक्त लोगों को हनन उपायों से **खाद**= समाप्त कर दीजिए।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में मलिन आचरणवाले, लुटेरे, चोर व बिना श्रम के मज़े से खानेवाले लोग न रहें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—सेनापतिः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

जम्भाधान

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥७९॥

१. हे राजन्! **तान्**=उन्हें **ते**=तेरे **जम्भयोः**=तीव्र दाँतों में **दधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् आपके द्वारा उनका नाश करवाता हूँ, **ये**=जो **जनेषु**=लोगों के विषय में **मलिम्लवः**=मलिन आचरणवाले हैं, अर्थात् अपने आचरणों से सज्जनों के जीवनों में अशान्ति पैदा करते हैं। २. **ये**=जो **स्तेनासः**=चोर हैं, जो रात्रि के समय औरों के द्रव्यों को हरने का प्रयत्न करते हैं। ३. और जो **वने**=वन में रहनेवाले **तस्कराः**=लुटेरे हैं, **ये**=जो **कक्षेषु**=(नदीपर्वतगहनेषु) नदियों और पर्वतों के दुर्गम स्थानों में छिपे हुए **अघायवः**=दूसरों का अशुभ चाहनेवाले हैं, अर्थात् जो झाड़-झंकाड़ों में छिपे हुए आने-जानेवाले पथिकों की घात में बैठे होते हैं, उन्हें तेरे तीव्र दाँतों में स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि वह मलिनाचरणवालों, चोरों, लुटेरों तथा परिपन्थियों को (घात लगाकर बैठे लोगों को) समाप्त कर दे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—अध्यापकोपदेशकौ। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मस्मसा-करण (चूर्णीकरण)

योऽअस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद्योऽअस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥८०॥

हे राजन्! १. **यः**=जो कोई भी **अस्मभ्यम्**=हमारे प्रति **अरातीयात्**=शत्रु की भाँति आचरण करे २. **च यत्**=और जो **जनः**=मनुष्य **नः द्वेषते**=हमसे द्वेष करता है—जिसे हमारे साथ नाममात्र भी प्रीति नहीं, ३. **यः अस्मान् निन्दात्**=जो हमारी निन्दा करे ४. **च**=और जो **धिप्सात् च**=हमें हिंसित करना चाहे या हमारे प्रति दम्भ से वर्ते **तं सर्वम्**=उन सबको

मस्मसा कुरु=चूर्णीभूत कर दे—मसल दे।

यहाँ आचार्य दयानन्द के भाष्य में 'भस्मसा कुरु' पाठ है। तब अर्थ होगा—'उन सबको भस्म कर दे।' ५. मन्त्र में यह संकेत है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से हममें अरातिता, द्वेष, परनिन्दा व दम्भ की भावनाओं का अभाव हो। राष्ट्र वही उत्तम है जहाँ लोगों के मन इन दुर्भावनाओं से रहित हैं। राजा को शिक्षादि की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि लोगों के मनों में ये भावनाएँ अंकुरित न हों।

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा में परस्पर प्रेम की वृत्ति को जगाने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—पुरोहितयजमानौ। छन्दः—निचृदार्चीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

राजपुरोहित की कामना

सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं१ꣳ बलम्॥

सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥८१॥

१. पुरोहित राजा के लिए कामना करता है कि **यस्य**=जिसका **अहम्**=मैं **पुरोहितः अस्मि**=पुरोहित हूँ, उसका **क्षत्रम्**=बल **संशितम्**=तीव्र हो, प्रभावशाली हो। उसका बल **जिष्णु**=सदा विजयशील हो, अपना कार्य करने में सदा सफल हो। एक शक्तिशाली राजा ही राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था कर पाएगा, अतः उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के लिए राजा को सबल बनाना ही पुरोहित का मुख्य कार्य है। २. परन्तु वह स्वयं आदर्श (पुरः+हित) बनकर ही राजा के जीवन को उत्तम बना सकता है, अतः पुरोहित पहले स्वयं अपने लिए कामना करता है कि **मे ब्रह्म**=मेरा ज्ञान **संशितम्**=तीव्र हो, सदा अपने कार्य में समर्थ हो और **मे**=मेरी **वीर्यम्**=आन्तरिक रोगों की नाशकशक्ति **संशितम्**=तीव्र हो। परिणामतः मैं कभी रोगी न होऊँ और **मे**=मेरा **बलम्**=शत्रु-प्रतिरोधक बल **संशितम्**=तीव्र हो। निर्बल, रोगी व मूर्ख पुरोहित राजा को समझदार व सशक्त नहीं बना सकता।

भावार्थ—राष्ट्र में पुरोहित ज्ञानी, वीर्यवान् व सबल हों, जिससे वे राजा के लिए आदर्श (model=पुरोहित) बनें और राजा भी विजयशील शक्तिवाला बन पाये।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। देवता—सभापतिर्यजमानः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उन्नयन

उदेषां बाहूऽअतिरमुद्वर्चोऽअथो बलम्।

क्षिणोमि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वाँ२॥ऽअहम् ॥८२॥

१. एक पुरोहित अपने राष्ट्र-पुरुषों में शक्ति का सञ्चार करता हुआ कहता है कि **एषाम्**=इन राष्ट्र-पुरुषों की **बाहू**=भुजाओं को—पुरुषार्थ-साधक बाहुओं को **उत् अतिरम्**=मैं बढ़ाता हूँ। **एषाम्**=इनकी **वर्चः**=रोगनिवारक शक्ति को **अथो**=और **बलम्**=शत्रु-विनाशक शक्ति को भी **उत् अतिरम्**=बढ़ाता हूँ। २. **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **क्षिणोमि**=हिंसित करता हूँ तथा **स्वान्**=अपनों को **अहम्**=मैं **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ। ३. राष्ट्र-पुरोहित सदा इस प्रकार प्रेरणा देने का प्रयत्न करता है कि सब राष्ट्र-पुरुषों की भुजाएँ शक्तिशाली बनें, उनका वर्चस् व बल बढ़े। इस प्रकार ज्ञान के प्रसार से वह शत्रुओं को क्षीण व अपनों को प्रबल बनाने के लिए सदा यत्नशील हो।

भावार्थ—पुरोहित का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्र–पुरुषों में शक्ति का सञ्चार करे, उन्हें सब प्रकार से उन्नत करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठः। **देवता**—यजमानपुरोहितौ। **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहतीः। **स्वरः**—मध्यमः॥

अनमीव अन्न

अन्न॑पते॒ऽन्न॑स्य नो देह्यनमी॒वस्य॑ शु॒ष्मिण॑ः।
प्रप्र॑ दा॒तारं॑ तारिष॒ऽऊर्जं॑ नो धेहि द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे ॥८३॥

१. सब प्रकार की उन्नतियाँ अन्न पर निर्भर करती हैं, अतः अन्न के विषय में प्रार्थना करते हैं कि **अन्नपते**=हे सब अन्नों के पति प्रभो! **नः**=हमें **अन्नस्य देहि**=अन्न प्राप्त कराइए। वह अन्न जो **अनमीवस्य**=व्याधिरहित है। राजस् अन्न 'दुःखशोकामयप्रदाः'=दुःख, शोक और रोग को देनेवाले हैं, अतः हम वही अन्न चाहते हैं जो हमें व्याधियुक्त करनेवाले नहीं, जो **शुष्मिणः**=शत्रुओं के शोषक बलवाले हों। जिन अन्नों के सेवन से 'काम, क्रोध व लोभ' का भी शोषण होता है और जो अन्न हमें बाह्य शत्रुओं को भी धर्षित करने के लिए शक्ति दें। एवं, अन्न रोगनाशक और बल के हेतु हों। २. हे प्रभो! **दातारम्**=देनेवाले को **प्रतारिष**=तैरा दो, जीवन के पार लगा दो, जो भी व्यक्ति देकर, बचे हुए को खाता है उससे तो अन्न वस्तुतः खाया जाता है (अद्यते), परन्तु जो त्यागपूर्वक उपभोग न करके अकेला ही सब-कुछ खा जाता है, उसे तो यह अन्न ही वस्तुतः खा लेता है (अत्ति च भूतानि)। ३. इस प्रकार त्यागपूर्वक उपयुक्त हुआ यह अन्न **नः**=हममें **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **धेहि**=धारण करे। यदि एक व्यक्ति अन्न को अकेले न खाकर बाँटकर खाता है तो वह बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करता है। ४. **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिए व **चतुष्पदे**=चार पाँववाले पशुओं के लिए भी नीरोगतावाले, शत्रुशोषक बलवाले अन्न को प्राप्त कराइए। मनुष्यों को तो अन्न प्राप्त हो ही, पशुओं को भी अन्न की कमी न रहे, अर्थात् हमारा राष्ट्र food और fodder से भरपूर हो—न मनुष्य भूखें मरें न पशु। राष्ट्र में सर्वत्र सुभिक्ष हो।

भावार्थ—१. हमारा अन्न निश्चितरूप से अनमीव (नीरोग) व शुष्मी (बलदायक) हो। २. हम सदा देकर बचे हुए अन्न को खानेवाले हों। ३. हमारे अन्न हमें बल और प्राणशक्ति दें।

॥ इत्येकादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

द्वादशोऽध्यायः

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

द्यौः—सुरेताः

दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति पर उत्तम सात्त्विक अन्न के सेवन का उपदेश है। 'उस अन्न के सेवन से मनुष्य का जीवन किस प्रकार उत्तम बनता है' इस बात के प्रतिपादन से यह अध्याय प्रारम्भ होता है। अन्न बीज है और माता-पिता व आचार्य भूमि व खाद आदि हैं। जीवन-निर्माण में बीज का भी स्थान है और भूमि का भी। अन्न का वर्णन पिछले मन्त्र में हुआ है, प्रस्तुत मन्त्र में आचार्य के लिए 'द्यौः और सुरेताः'—इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। आचार्य प्रकाशमय जीवनवाला तथा उत्तम रेतस्वाला हो। ऐसा ही आचार्य विद्यार्थी के जीवन का विकास करता है। २. यह विकसित जीवनवाला **दृशानः**=सब वस्तुओं को ठीक रूप में देखता है, अतः यह संसार में उलझता नहीं। ३. **रुक्मः**=विषयों में न उलझनेवाला यह (रुच दीप्तौ) चमकता है। इसका स्वास्थ्य ठीक रहता है। यह स्वास्थ्य की चमक से चमकता है। ४. **उर्व्या**=विशालता से **व्यद्यौत्**=यह दीप्त होता है। इसका हृदय विशाल होता है। ५. **आयुः**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=विषयों से न कुचला जाने योग्य होता है। ६. **श्रिये रुचानः**=श्री के लिए यह रुचिवाला होता है। यह प्रत्येक कार्य को शोभा से करता है। ७. **अग्निः**=यह निरन्तर प्रगतिशील होता है। ८. **अमृतः अभवत्**=यह अमृत होता है, रोग इसकी मृत्यु का कारण नहीं बनते। **यत्**=क्योंकि **एनम्**=इसे **सुरेताः**=उत्तम रेतस्वाला, अर्थात् ब्रह्मचारी **द्यौः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला आचार्य **वयोभिः**=उत्तम अन्नों से **अजनयत्**=विकसित करता है। आचार्य इस बात का बड़ा ध्यान रखता है कि उसके विद्यार्थी का अन्न सात्त्विक हो, जिससे उसकी वृत्ति भी सात्त्विक ही बने। ९. इस प्रकार उत्तम जीवनवाला यह 'वत्सप्री' कहलाता है। इसका जीवन वेदप्रतिपादित बातों को क्रियान्वित किये हुए है और पवित्र कर्मों से वह अपने पिता प्रभु को प्रीणित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम उत्तम अन्न के सेवन से उत्तम जीवनवाले बनें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

माता-पिता

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳसमीची।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवाऽअग्निं धारयन् द्रविणोदाः॥२॥

१. पिछले मन्त्र में जीवन-निर्माण करनेवाले आचार्य का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में 'माता-पिता' का प्रतिपादन है। 'माता-पिता' **नक्तोषासा**=रात्रि व दिन के समान हैं अथवा **द्यावाक्षामा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के समान हैं (द्यौरहं पृथिवी त्वम्)। रात्रि उस समय की सूचक है जब सब घर पर रहते हैं और उषा या दिन उस समय का जब सब

अपने कार्यों पर बाहर जाते हैं, अतः नक्त=रात्रि माता की सूचक है। माता ने घर पर रहकर घर की व्यवस्था का ध्यान करना है, **उषा**=दिन पिता का प्रतीक है, उसे घर के व्यय के लिए धनार्जन के हेतु से बाहर जाना है। पिता ने द्युलोक की भाँति ज्ञान-दीप्त होना है तो माता ने पृथिवी के समान क्षमावाला होना है। २. इस प्रकार ये दोनों **विरूपे**=भिन्न-भिन्न रूपवाले होते हुए भी **समीची**=(सम् अञ्च्) मिलकर गतिवाले हैं। ये दोनों मिलकर घर को बड़ा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं। **समनसा**=दोनों के मन समान होते हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है—'सन्तानों को उत्तम बनाना'। ये दोनों **एकं शिशुम्**=एक शिशु को **धापयेते**=दूध पिलाते हैं और इस प्रकार उसका पालन करते हैं। ३. यह उत्तम प्रकार से पालित हुआ सन्तान **रुक्मः**=स्वस्थ शरीरवाला होता हुआ चमकता है। **द्यावाक्षामा अन्तः**=यह माता और पिता के बीच में **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होता है और **द्रविणोदाः**=ज्ञान-धन को देनेवाले **देवाः**=विद्वान् आचार्य **अग्निम्**=इस प्रगतिशील बालक को **धारयन्**=अपने गर्भ में धारण करते हैं। इसे पूर्णरूप से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, जिससे यह संसार के वैषयिक जीवन से बचा रहे। इसके जीवन को पवित्र बनाते हुए ये इसे ज्ञान-धन से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। ५. ज्ञान-धन से पवित्र हुए ये 'कुत्स' बनते हैं, सब वासनाओं को 'कुथ हिंसायाम्' नष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य बालक के जीवन को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। माता-पिता इसे 'स्वास्थ्य धन' प्राप्त कराते हैं तो आचार्य 'ज्ञान-धन'। इन धनों को प्राप्त करके यह सचमुच 'कुत्स' होता है—रोगों व पापों की हिंसा करनेवाला।

ऋषिः—श्यावाश्वः। देवता—सविता। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः॥

श्यावाश्व का विश्वरूप प्रतिमोचन

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति॥३॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार माता-पिता व आचार्य से स्वास्थ्य, सदाचार व ज्ञानरूप धनों को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'श्यावाश्व' बनता है (श्यैङ् गतौ, अश्व=इन्द्रियाँ)। गतिशील इन्द्रियोंवाला। यह सदा क्रियाशील बनता है। यह **विश्वा रूपाणि**=ज्ञान के सब शब्दों को अथवा छन्दों को (रूप, word or verse) **प्रतिमुञ्चते**=(put on, arm oneself with) धारण करता है अथवा उन छन्दों से अपने को सन्नद्ध करता है। इनसे सुसज्जित होकर वह अपने को पापों के आक्रमण से बचाता है। २. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी होता है—सब वस्तुओं को ठीक स्वरूप में देखता है। ठीक रूप में देखने के कारण ही उनमें फँसता नहीं। ३. यह संसार में **द्विपदे चतुष्पदे**=मनुष्यों व अन्य प्राणियों के लिए **भद्रम्**=कल्याण **प्रासावीत्**=उत्पन्न करता है। यह सबका भला करने का ध्यान करता है। ४. परिणामतः यह **नाकम्**=स्वर्ग को **वि अख्यत्**=विशेषरूप से देखता है। **'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** के अनुसार इसे सब रत्न प्राप्त होते हैं। किसी हितरमणीय वस्तु की इसे कमी नहीं रहती। ५. **सविता**=यह सदा सबको हित की प्रेरणा देता है और उत्पादक होता है, अर्थात् निर्माण के ही कर्मों में लगा रहता है। ६. **वरेण्यः**=वरण करनेवालों में उत्तम होता है। धीर बनकर यह विवेकपूर्वक 'श्रेय' का ही वरण करता है। मन्दमतियों की भाँति 'प्रेय' का वरण करनेवाला नहीं होता। ७. **उषसः प्रयाणम् अनु**=उषः के आने के साथ ही **विराजति**=विशेषरूप

से दीप्त होता है अथवा विशेषरूप से अपने नियमित कार्यक्रम में चल पड़ता है (regulated)। ८. इस प्रकार यह 'श्यावाश्व' नियमित गति करता हुआ ऊपर उठता है। इसके जीवन की विशेषता का प्रतिपादन अगले मन्त्र में है।

भावार्थ—श्यावाश्व १. छन्दों को अपना कवच बनाता है। २. क्रान्तदर्शी बनता है। ३. सबका भला करता है। ४. स्वर्ग में स्थित होता है। ५. सबको उत्तम प्रेरणा देता हुआ निर्माणात्मक कार्यों को करता है। ६. श्रेय का ही वरण करता है। ६. जीवन की क्रियाओं में बड़ा व्यवस्थित होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः। देवता—गरुत्मान्। छन्दः—भुरिग्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

सुपर्ण—गरुत्मान्

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोमऽआत्मा छन्दांꣳस्यङ्गानि यजूꣳषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत॥४॥

१. **सुपर्णः असि**=गत मन्त्र का व्यवस्थित क्रियाओंवाला श्यावाश्व (गतिशील इन्द्रियोंवाला) उत्तम प्रकार से पालनादि कर्मोंवाला होता है (पृ पालनपूरणयोः) २. **गरुत्मान्** (**गुर्वात्मा**)=यह विशाल हृदयवाला होता है। ३. **त्रिवृत्** (त्रीणि यत्र वर्तन्ते)=ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों के समन्वयवाला साम ही **ते शिरः**=तेरा मस्तिष्क है। तू 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को अपने जीवन में प्रधान स्थान देता है। ४. **गायत्रम्**=प्राणों की रक्षा ही तेरा **चक्षुः**=दृष्टिकोण है, अर्थात् तू कोई ऐसा कर्म नहीं करता जो प्राण व शक्ति का ह्रास करे। ५. **बृहद्रथन्तरे**=बृहत् और रथन्तर **पक्षौ**=तेरे पक्ष होते हैं। **बृहत्**=वृद्धि तथा **रथन्तर**=शरीररूप रथ से भवसागर को तैर जाना ही तेरे पंख हैं। इन दो विचारों के परिग्रह से तू निरन्तर ऊपर उठता जाता है। ६. **स्तोमः आत्मा**=स्तुति ही तेरा आत्मा है, अर्थात् तेरा मन सदा प्रभु का स्तवन करता है। ७. **छन्दांसि अङ्गानि**=छन्द तेरे अङ्ग हैं, अर्थात् इन छन्दों से ही तेरा जीवन बना हुआ है। ये छन्द तुझे सदा पापों व रोगों के आक्रमण से बचाते हैं। ८. **यजूंषि नाम**=यज्ञ तेरी कीर्ति है। तू अपने श्रेष्ठतम कर्मों के कारण प्रसिद्ध है। ९. **वामदेव्यम्**=सुन्दर दिव्य गुणों को उत्पन्न करने में उत्तम **साम**=प्रभु-स्तवन ही **ते तनूः**=तेरा शरीर है। निरन्तर प्रभु-स्तवन करता हुआ तू ईश्वर के गुणों को धारण करता है और इस प्रकार तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार होता है। १०. **यज्ञायज्ञियम्**=(यज्ञ, सङ्गतीकरण, अयज्ञ=पृथक्करण) उत्तम गुणों से मेल, दुर्गुणों का पार्थक्य ही **पुच्छम्**=दुर्गुणरूप दंशों का निवारण करनेवाली पूँछ है। ११. **धिष्ण्याः**=यज्ञाग्नि के स्थान ही **शफाः**=शान्ति प्राप्त करानेवाले हैं (शंफणायन्ति), अर्थात् निरन्तर यज्ञादि करता हुआ अशान्ति के कारणभूत रोगों को अपने से दूर रखता है। १२. इस प्रकार तू सचमुच **सुपर्णः असि**=उत्तमता से अपना रक्षण करनेवाला है और **गरुत्मान्**=ऊँचे-महान् लक्ष्यवाला है (गुरुं भारं उद्यम्य डयते)। वस्तुतः यह महान् लक्ष्य भी तुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। १३. **दिवम् गच्छ**=तू प्रकाश को प्राप्त कर। द्युलोक में—ज्योतिर्मय मस्तिष्क में तेरा वास हो। **स्वः पत**=तू स्वर्गलोक को प्राप्त कर अथवा उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति-प्रभु को प्राप्त कर।

भावार्थ—'श्यावाश्व' सदा पालनादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ विशाल हृदयवाला बनकर ज्योति को प्राप्त करता है और प्रभु के दर्शन कर पाता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

सोऽयमात्मा चतुष्पात् (चार पग)

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दऽआरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्दऽआरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽआरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनुष्टुभं छन्दऽआरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥५॥

१. श्यावाश्व के लिए ही कहते हैं कि तू **विष्णोः**=(यज्ञो वै विष्णुः) यज्ञ के **क्रमः असि**=पराक्रमवाला प्रसिद्ध है। तू यज्ञिय पगों को रखनेवाला है। **सपत्नहा**=शरीर में अपना पतित्व=स्वामित्व स्थापित करने की इच्छावाले इन सपत्नभूत रोगों का नाश करनेवाला है। **गायत्रं छन्दः आरोह**=प्राणरक्षा की इच्छा पर तू आरोहण कर, अर्थात् तुझमें प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल इच्छा हो। इस इच्छा को लिये हुए तू **पृथिवीम् अनु**=इस पार्थिव शरीर का ध्यान करके **विक्रमस्व**=विक्रमशील हो। तेरा पार्थिव शरीर पूर्णतया नीरोग हो। यही वस्तुतः तेरा पहला प्रयत्न होना चाहिए। यही पहला पग है। २. **विष्णोः क्रमः असि**=तू विष्णु के पराक्रमवाला है, विष्णु के समान पग रखनेवाला है। **अभिमातिहा**=तू अभिमान को नष्ट करनेवाला है। **त्रैष्टुभं छन्दः आरोह**='काम, क्रोध व लोभ' इन तीन को रोकने (त्रि+ष्टुभ्= stop) की प्रबल कामना पर तू आरूढ़ हो। **अन्तरिक्षम् अनु**=हृदयान्तरिक्ष का लक्ष्य करके **विक्रमस्व**=तू विशेष उद्योग करनेवाला हो। तूने इस हृदयान्तरिक्ष को काम, क्रोध व लोभ की वासना से शून्य बनाना है। ३. **विष्णोः क्रमः असि**=तू यज्ञ के पराक्रमवाला है। **अरातीयतः**=(रातिर्दानं, तस्याभावं आत्मन इच्छति इति—म०) दानाभाव की इच्छा का—न देने की भावना का **हन्ता**=तू नष्ट करनेवाला है। अतिशयेन दान की वृत्ति अपना क्रूर तू **जागतं छन्दः आरोह**=जगती के हित की इच्छा पर आरोहण कर। तुझमें लोक-कल्याण की प्रबल भावना हो। **दिवम् अनु**=द्युलोक का लक्ष्य करके अथवा मस्तिष्क का ध्यान करके **विक्रमस्व**=तू पराक्रम करनेवाला हो, अर्थात् तू ज्ञान को खूब प्राप्त करनेवाला बन। ४. **विष्णोः क्रमः असि**=तू यज्ञ के पराक्रमवाला है **शत्रूयतः**=(अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्) शत्रुवत् आचरण करनेवाले मन का यह **हन्ता**=नष्ट करनेवाला होता है, अर्थात् यह मन को वश में करनेवाला है। **अनुष्टुभं छन्दः आरोह**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की भावना पर तू आरूढ़ हो, अर्थात् सोते-जागते सदा प्रभु का स्मरण कर और **दिशः अनु विक्रमस्व**=उस प्रभु के निर्देशों के अनुसार तू विक्रम करनेवाला हो। प्रभु के निर्देशों को अपने जीवन में अनूदित कर।

भावार्थ—जीव के चार पग हैं—१. रोगों को नष्ट करना। २. अभिमान को नष्ट करना। ३. अदान की भावना को नष्ट करना। ४. और शत्रुता में स्थित मन को निरुद्ध करना। शरीर को ठीक करना, मन को ठीक करना, मस्तिष्क को ठीक करना और अन्तःस्थित प्रभु के निर्देशों को सुनना।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

व्यापक प्रकाश

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥६॥

गत मन्त्र के अनुसार चार पगों को रखकर जो भी प्रभु का दर्शन करता है, वह 'वत्सप्रीः'—प्रभु का प्रिय व अपने कर्मों से प्रभु को प्रीणित करनेवाला बनता है। यह अनुभव करता है कि १. **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **अक्रन्दत्**=उच्च स्वर से वेदज्ञान का उच्चारण करते हैं। वे प्रभु **स्तनयन् इव द्यौः**=(द्यौशब्देनात्र पर्जन्य उक्तः—म०) गर्जना करते हुए मेघ के समान हैं। हम उस गर्जन को न सुनें तो इससे अधिक बधिरता क्या हो सकती है? २. हम उस गर्जना को सुनते हैं तो वे प्रभु **क्षामा**=इस सारी पृथिवी को **रेरिहत्**=अत्यन्त आस्वादमय बना देते हैं। वेदवाणी को सुनकर हम तदनुसार अपना जीवन बनाते हैं तो हमारे जीवन आनन्दमय बन जाते हैं। ३. वे प्रभु हमारे जीवनों में **वीरुधः**=(वि+रुह=प्रादुर्भाव) विविध विकासों को **समञ्जन्**=व्यक्त करते हैं, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुनकर तदनुसार जीवन बनाने से हमारे जीवनों में विशिष्ट शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। ४. **जज्ञानः**=हमारे हृदयों में प्रकट हुए वे प्रभु **सद्यः**=शीघ्र ही **इद्धः**=ज्ञान से दीप्त हुए **हि ईम्**=निश्चय से **विअख्यत्**=विशिष्टरूप से जीवन को प्रकाशमय करते हैं। ५. वे प्रभु **रोदसी अन्तः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्तर्भाग को **भानुना**=प्रकाश से **आभाति**=प्रकाशित कर देते हैं, अर्थात् प्रभु-दर्शन होने पर सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है।

भावार्थ—१. हृदयस्थ प्रभु निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। यदि हम उस प्रेरणा को सुनें तो हमारा जीवन आनन्दमय हो जाता है। २. जीवन में सब शक्तियों का विकास होता है। ३. सारा जीवन प्रकाशमय हो जाता है। ४. सारा संसार भी प्रकाशमय व उलझनों से रहित प्रतीत होता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अभ्यावर्ती प्रभु

अग्ने॑ऽभ्यावर्त्तिन्न॒भि मा॒ निव॑र्त्त॒स्वायु॑षा॒ वर्च॑सा प्र॒जया॒ धने॑न।

स॒न्या मे॒धया॑ र॒य्या पोषे॑ण॥७॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाला 'वत्सप्री' कहता है कि १. **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **अभ्यावर्त्तिन्**=आभिमुख्येन प्राप्त होनेवाले प्रभो! **मा अभिनिवर्त्तस्व**=आप मेरी ओर आइए। २. आप मुझे प्राप्त होओ (क) **आयुषा**=आयु के साथ, अर्थात् सबसे प्रथम आप मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त कराइए। (ख) **वर्चसा**=वर्चस् के साथ। मुझे वह वीर्यशक्ति प्राप्त कराइए जो मेरे जीवन में से सब रोगों को समाप्त कर देती है। (ग) **प्रजया**=प्रजा के साथ। आपकी कृपा से मेरी सन्तान उत्तम हो। (घ) **धनेन**=धन के साथ। जीवन सञ्चालन के लिए आवश्यक धन का मैं अर्जन कर सकूँ। (ङ) **सन्या मेधया**=संविभागवाली धारणावती बुद्धि से, अर्थात् मुझे वह मेधा प्राप्त हो जो मुझे सदा सबके साथ संविभागपूर्वक धनोपभोग की प्रेरणा देती है। (च) **रय्या पोषेण**=पोषक धन से, अर्थात् मैं इतना धन अवश्य प्राप्त करूँ जितना कि मेरे परिवार के पोषण के लिए आवश्यक हो अथवा मैं उस धन को प्राप्त करूँ जो मेरा पोषण करे न कि विषयासक्त करके क्षीणशक्ति बना दे। अथवा मैं धन को दान देनेवाला बनूँ जिससे वह धन सभी का पोषण करनेवाला हो। ३. यह त्याग की वृत्ति वस्तुतः मुझे प्रभु का प्रिय बनाएगी और मेरा 'वत्सप्री' नाम सार्थक होगा।

भावार्थ—प्रभो! मैं आपको प्राप्त करूँ और आपकी प्राप्ति से मुझे दीर्घ जीवन, प्राणशक्ति, उत्तम सन्तान, धन, संविभागवाली बुद्धि व पोषक धन प्राप्त हो।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

शत आवर्तन

अग्नेऽअङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं तऽउपावृतः।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमाकृधि॥८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी व **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **शतम्**=सैकड़ों **आवृतः सन्तुः**=आवर्तन हों। आप जीवन के एक-एक वर्ष में हमें प्राप्त होनेवाले हों। २. **ते**=आपके **सहस्रम्**=हज़ारों **उपावृतः**=उपावर्तन हों, अर्थात् मैं सदा अपकी समीपता को अनुभव करूँ। ३. **अध**=अब आपकी इस समीपता के परिणामस्वरूप **पोषस्य पोषेण**=सर्वोत्तम पोषण से **पुनः**=फिर **नः**=हमारी **नष्टम्**=नष्ट हुई शक्ति को **आकृधि**=(आगमय) सब अङ्गों में सर्वतः प्राप्त कराइए। जब जीव प्रभु को विस्मृत करके प्रकृति में फँस जाता है तब उसकी सारी शक्ति विनष्टप्राय हो जाती है। प्रभु की ओर झुकाव होते ही वे शक्ति का अनुभव करते हैं, जैसेकि माता की गोद में स्थित बालक शक्ति का अनुभव करता है। ४. **पुनः**=फिर **नः**=हमें **रयिम्**=धन **आकृधि**=प्राप्त कराइए। प्रभु ही वस्तुतः सब धनों को प्राप्त कराते हैं, जिसका दान देते हुए हम यशस्वी भी बनते हैं और पोषण भी प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जीवन के एक-एक वर्ष में, जीवन के एक-एक क्षण में प्रभु की समीपता को अनुभव करते हुए हम अपनी विनष्ट शक्ति को फिर से प्राप्त करें और धन प्राप्त करके सचमुच रयीश बनें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पाप-निर्वतन

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्नऽइषायुषा। पुनर्नः पाह्यꣳहसः॥९॥

१. हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आपके आवर्तनों से—उपासन व ध्यान से आप हमें **पुनः** =फिर **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के साथ **निवर्त्तस्व**=प्राप्त होओ। आपके सतत स्मरण से हम शक्ति का अनुभव करें। २. **पुनः इषा**=फिर-फिर हम आपकी प्रेरणा को सुननेवाले बने। ३. आपकी प्रेरणा को सुनते हुए हम **आयुषा**=उत्कृष्ट जीवन से युक्त हों, ४. परन्तु हे प्रभो! अपनी अल्पता के कारण हम बारम्बार पाप की ओर झुक जाते हैं, समझते हुए भी कई बार उस पाप से रुक नहीं पाते। हमारी आपसे यह आराधना है कि **नः**=हमें **पुनः**=फिर-फिर **अंहसः**=इन कष्टों के कारणभूत पापों से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। अपनी निरन्तर प्रेरणा से हमें सतत सावधान करते रहिए।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम बल व प्राणशक्ति का लाभ करें। उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त कर ऊँचे जीवनवाले बनें। पापों से बचे रहें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

धारक-धन

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥१०॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **रय्या सह**=दान देने योग्य धन के साथ **निवर्त्तस्व**=हमें निश्चय से प्राप्त होओ। २. **विश्वतस्परि**=सर्वतः सबकी रक्षा करनेवाली तथा **विश्वप्स्न्या**

(विश्वैः प्सायते भक्ष्यते विश्वप्स्नी)=सर्वजनों से उपभोग्य **धारया**=धन की धारा से अथवा धारण करनेवाले धन से **पिन्वस्व**=सिक्त कीजिए। निरन्तर धनदान से हमें फिर-फिर बढ़ाइए, जिससे हम सभी का धारण करनेवाले बन सकें।

भावार्थ—हम उस धन को प्राप्त करें जिसका हम दान देनेवाले बनें और जिससे हम सभी का धारण करनेवाले बनें। सबके धारण की यह भावना ही हमें 'वत्सप्री' बनाएगी। प्रभु हमारे धारणात्मक कर्म से ही प्रीणित होंगे।

ऋषिः—ध्रुवः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्घ्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

जन-प्रिय राजा

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥११॥

१. प्रजाओं का जीवन बहुत कुछ राजा के जीवन पर निर्भर है। 'यथा राजा तथा प्रजा' राजा का जीवन जहाँ प्रजा के जीवन को प्रभावित करता है, वहाँ राष्ट्र में राजा से प्रणीत राज्य-व्यवस्था भी लोगों के जीवनोत्कर्ष की साधिका होती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र राजा के चुनाव का प्रतिपादन करता है—२. पुरोहित चुने गये राजा को अभिषिक्त करता हुआ कहता है कि **त्वा**=तुझे **अन्तः**=प्रजा के बीच में से ही **आहार्षम्**=लाया हूँ। इससे स्पष्ट है कि राजा प्रजा में से ही चुना जाता है। ३. **अन्तः अभूः**=तू प्रजा के बीच में ही हो। राजा को यथासम्भव राष्ट्र में ही रहना चाहिए, वह देश-विदेशों की सैर ही न करता रहे। ४. तू **ध्रुवः तिष्ठ**=ध्रुव होकर ठहर। राजा को अपने कर्त्तव्य से न डिगनेवाला होना चाहिए। ध्रुव के समान राजा को अपने स्थान पर ध्रुवता से रहना है। स्पष्ट है कि राजा चुना जाता है और फिर यह ध्रुव होकर रहता है। वैदिक पद्धति में चुनाव बार-बार नहीं होता। ५. **अविचाचलिः**=तू अचञ्चल वृत्ति का हो। राजा झट क्रोधादि में आ जानेवाला न हो। ६. **त्वा**=तुझे **सर्वाः विशः**=सब प्रजाएँ **वाञ्छन्तु**=चाहें। सम्भवतः राजा के चुनाव में ऐकमत्य आवश्यक-सा प्रतीत होता है। अथवा राजा को राज्य-व्यवस्था ऐसी उत्तमता से करनी चाहिए कि वह सभी का प्रिय बना रहे। ७. पुरोहित राजा को चेतावनी देता हुआ कहता है कि **त्वत्**=तुझसे **राष्टम्**=राष्ट्र **मा अधिभ्रशत्**=नष्ट न हो जाए। तुझे राष्ट्र से पृथक् न करना पड़े। राजा यदि ऐसे कार्य करने लगे जो राष्ट्र के लिए अहितकर हों तो राजा को गद्दी से उतार दिया जाता है। आदर्श राजा 'ध्रुव' ही होता है, वह गद्दी से हिलाया नहीं जाता।

भावार्थ—राजा चुना जाकर ध्रुवता से राज्य-कार्यों को करनेवाला हो। उसका कोई भी कार्य राज्य की अवनति का कारण न बने। उसके अहितकर कार्य ही उसे गद्दी से गिरानेवाले होंगे।

ऋषिः—शुनःशेपः। देवता—वरुणः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

बन्धन-त्रयी

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳश्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम॥१२॥

उत्तम राज्य में प्रजाएँ अपने जीवनों को उत्तम बना पाती हैं। वे सब व्यसनों के बन्धनों से ऊपर होती हैं और इस प्रकार अपने जीवनों को सुखमय बना सकने के कारण

'शुनःशेप'=(सुख का निर्माण करनेवाली) होती हैं। इनकी प्रार्थना का स्वरूप यह है कि—१. हे **वरुण**=व्रतों के बन्धनों में बाँधकर हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! **उत्तमं पाशम् उत्**=हमारे उत्तम पाश को हमसे बाहर कीजिए (उत्=out)। सत्त्व का बन्धन ही सबसे उत्कृष्ट बन्धन है। 'सत्त्वं सुखे सज्जयति' यह हमें ज्ञान-प्राप्ति के सुख में निमग्न कर देता है। कई बार सत्त्वप्रधान व्यक्ति योगमार्ग पर चलते हुए समाधि के आनन्द में मग्न हो जाते हैं। उन्हें अपने चारों ओर विद्यमान दुःख से कराहती हुई प्रजा का ध्यान नहीं रहता। यह समाधि भी उनका बन्धन-सा बन जाती है। हे वरुण! आप हमें इससे भी ऊपर उठाइए। ज्ञानप्रधान जीवन बड़ा सुन्दर जीवन है, परन्तु जब हम ज्ञान को ही प्राथमिकता देने लगते हैं तो लोककल्याण गौण वस्तु हो जाती है, अतः प्रार्थना है कि हमें इस बन्धन से भी ऊपर उठाइए। २. हे वरुण! **अस्मत्**=हमसे **अधमम्**=निकृष्ट पाश को **अवश्रथाय**=दूर करके (अव away) ढीला कर दीजिए। सबसे निचला पाश तमोगुण का पाश है। यह हमें प्रमाद, आलस्य व निद्रा के बन्धनों से बाँधता है। वरुण की कृपा से हम 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' से ऊपर उठें। ३. हे वरुण! आप कृपा करके **मध्यमम्**=रजोगुणात्मक मध्यम बन्धन को भी **विश्रथाय**=ढीला कर दीजिए। यह रजोगुण का बन्धन हमें सदा कर्म में बाँधे रखता है। हम एक क्षण भी शान्त होकर नहीं बैठ पाते। प्रभु-कृपा से यह बन्धन भी ढीला हो जाए। ४. **अध**=अब—तीनों बन्धनों को ढीला करके **वयम्**=हम हे **आदित्य**=सूर्य! **तव व्रते**=तेरे व्रत में, अर्थात् तेरी भाँति ही निर्लेपता से नियमित गति करते हुए **अनागसः** =निष्पाप होकर **अदितये**=अखण्डन के लिए, पूर्ण स्वास्थ्य के लिए और अन्त में मोक्ष के लिए **स्याम**=हों। सूर्य की गति नियमित है, उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं। सर्वत्र समभाव से वह प्रकाश व प्राणशक्ति देता हुआ आगे बढ़ता चलता है। हम भी इसी प्रकार बढ़ते चलें, यही निष्पापता का मार्ग है और यही मार्ग इहलोक में पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कराता है तो परलोक में मोक्ष। 'अदिति' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं, अतः यह आदित्य का व्रत हमारा उत्तम लोककल्याण करता है और हम सचमुच 'शुनःशेप' होते हैं।

भावार्थ—हम तीनों बन्धनों से ऊपर उठें। आदित्य के व्रत में चलें और अदिति को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

त्रित का जीवन

अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वोऽअस्थान्निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषागात्।
अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्गऽआ जातो विश्वा सद्मान्यप्राः ॥१३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार तीनों बन्धनों को तैरकर अब यह 'त्रित' (त्रीन् तरति) बना है। इसका जीवन ऐसा है—(२) यह **उषसां बृहत् अग्रे**=उषाकाल के बहुत पहले ही **ऊर्ध्वः अस्थात्**=उठ खड़ा होता है। नींद को छोड़कर, बिस्तरे को त्यागकर यह अपने कार्यक्रम में प्रवृत्त होने लगता है। ३. **निर्जगन्वान्**=यह घर से बाहर भ्रमण के लिए निकल जाता है। आवश्यक कृत्यों से निपटकर यह ४. **तमसः**=अन्धकार से ऊपर उठकर **ज्योतिषा अगात्**=ज्योति के साथ सङ्गत होता है। स्वाध्याय करता हुआ अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता है। ५. **अग्निः**=यह प्रगतिशील होता है। ६. **रुशता भानुना**=चमकती हुई दीप्ति से (सूर्यसम आभा से) युक्त होता है। ७. **स्वङ्गः**=इसका एक-एक अङ्ग सुन्दर होता है। ८.

आजातः=यह सब दिशाओं में विकासवाला होता है—शरीर, मन व बुद्धि सभी की उन्नति करनेवाला होता है। ९. अपने व्यावहारिक जीवन में यह **विश्वानि सद्मानि**=सब घरों को **आ अप्राः**=पूरित करनेवाला होता है, अर्थात् यह त्रित केवल अपने जीवन को सुखी बनाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु सभी के कष्टों को दूर करता है। सभी के घरों में जाता है, उनके कष्ट में सहायक होता है, उनके दुःख को दूर करने में ही इसे शान्ति अनुभव होती है।

भावार्थ—'प्रातः उठना, घूमने जाना, स्वाध्याय, उन्नति, देदीप्यमान ज्ञान, सुन्दर अङ्ग, सर्वतोमुखी विकास, औरों के घरों को भी अपना घर समझना' यह त्रित के जीवन की मुख्य बातें हैं।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—जीवेश्वरौ। छन्दः—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रभु व जीव

हुंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत् ॥१४॥

१. वे प्रभु **हंसः**=(हन्ति पाप्मानं) पाप को नष्ट करते हैं। **शुचिषत्**=पवित्र हृदय में निवास करनेवाले हैं। २. **वसुः**=सबको बसानेवाले हैं **अन्तरिक्षसत्**=मध्यममार्ग में चलनेवाले में प्रभु का निवास होता है। ३. **होता**=वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं। **वेदिषत्**=यज्ञमय जीवनवाले जीव में उस प्रभु की स्थिति है। ४. **अतिथिः**=वे प्रभु निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं, वे प्रभु **दुरोणसत्**=(दुर्+ओण=अपनयन) बुराइयों को दूर करनेवालों में आसीन होते हैं। ५. **नृषत्**=नरों में, आगे बढ़नेवालों में आसीन होते है। ६. **वरसत्**=वे प्रभु श्रेष्ठ व्यक्तियों में निवासवाले होते हैं। ७. **ऋतसत्**=जिनका जीवन नियमित (regular) है उनमें प्रभु का वास होता है। ८. **व्योमसत्**=(वी ओम्) गतिशीलता के कारण अपना रक्षण करनेवालों में वे प्रभु रहते हैं। ९. **अब्जाः**=जलों में उस प्रभु की महिमा प्रकट होती है। १०. **गोजा**=इस पृथिवी में वे प्रभु प्रकट होते हैं। मीलों फैले हुए रेगिस्तानों में उस प्रभु की महिमा दिखती ही है। ११. **ऋतजा**=वे प्रभु ऋत में, सूर्य-चन्द्रादि सभी पिण्डों की नियमित गति में दिखते हैं। १२. **अद्रिजा**=प्रभु की महिमा पर्वतों में प्रकट होती है—हिमाच्छादित पर्वत उसकी महिमा का गायन करते हैं। १३. **ऋतम्**=वे प्रभु स्वयं ऋत हैं, सत्यस्वरूप हैं। १४. **बृहत्**=सदा वर्धमान हैं अथवा **ऋतं बृहत्**=वे प्रभु पूर्ण सत्य हैं (Absolute truth)।

भावार्थ—'त्रित' हंस—पापनाशक प्रभु का स्मरण करता है और अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ अन्ततः पूर्ण सत्य बनने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—त्रितः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

माता की गोद में

सीद त्वं मातुरस्याऽउपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्।
मैनां तपसा मार्चिषाऽभिशोचीरन्तरस्याᳬशुक्रज्योतिर्विभाहि ॥१५॥

१. प्रभु त्रित से कहते हैं—**त्वम्**=तू **अस्याः**=इस **मातुः**=वेदमाता—मुझसे तेरे लिए प्रस्तुत की गई वेदवाणी की **उपस्थे**=गोद में **सीद**=बैठ। वेदवाणी की गोद में बैठना, अर्थात् तदनुसार अपना आचरण बनाना तेरा ध्येय हो। २. इसकी गोद में बैठकर हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **विश्वानि वयुनानि**=सब प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जाननेवाला हो। यह वेदवाणी सब

सत्य विद्याओं का भण्डार है, अतः इसकी उपासना तुझे सब ज्ञानों को प्राप्त कराएगी ही। ३. **एनाम्**=इसे **तपसा**=तपस्वी जीवन से तथा **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्योतियों से **मा अभिशोचीः**= मत सन्तप्त कर, अर्थात् तू इतना तपस्वी व ज्ञानी बन कि यह वेदमाता सदा तुझसे प्रसन्न रहे। **'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति'**=अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद भयभीत होता है कि यह मेरा ग़लत अर्थ न कर दे, अतः तू बहुश्रुत व तपस्वी बनना, जिससे तू वेदमाता के ठीक स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला हो सके। ४. **अस्याम् अन्तः**=इस वेदवाणी के अन्दर रहता हुआ **शुक्रज्योतिः**=(शुक् गतौ) गतिमय ज्ञानवाला तू **विभाहि**=विशेषरूप से दीप्त हो। तू वेदज्ञान प्राप्त कर और उसके अनुसार क्रियाशील हो। तू मस्तिष्क में इस वेदवाणी का विचार कर—तेरी वाणी से इसी का उच्चारण हो और क्रिया में इसी का आचरण हो। ऐसा होने पर ही तेरी विशिष्ट शोभा होगी। तू वेदमाता का सच्चा पुत्र होगा।

भावार्थ—मेरा जीवन वेदमय हो। वेदमाता का मैं सुपुत्र बनूँ। उसी के गोद में मेरा पालन व पोषण हो। मैं अपनी तपस्या व ज्ञान से इसे प्रसन्न करनेवाला होऊँ।

ऋषिः—त्रितः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

दीप्ति-यज्ञ-नीरोगता-धन=कल्याण

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे।

तस्यास्त्वꣳहरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव॥१६॥

१. हे **अग्ने**=उन्नतिशील त्रित! तू **अन्तः**=अपने हृदयाकाश में **रुचा**=ज्ञान की दीप्ति से युक्त हो, वेद के स्वाध्याय से तेरा अन्तःकरण प्रकाशमय हो। २. तू **स्वे**=अपने **उखायाः**=वेदि पर—यज्ञाग्नि के स्थानवाले **सदने**=घर में आसीन हो। तू सदा अपने घर में यज्ञों को करनेवाला हो। तेरे घर में यह यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं। ३. **त्वम्**=तू **तस्याः**=उस यज्ञाग्नि के **हरसा** =रोग-हरणशक्ति से **तपन्**=दीप्त हो, यह यज्ञाग्नि तुझे नीरोग बनाये और तू स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकनेवाला हो। ४. **जातवेदः**=(जातं वेदो यस्य, वेदस्=धन) गृहस्थ के पालन के लिए तू आवश्यक धनवाला हो और **शिवः भव**=इस प्रकार तू कल्याणमय जीवनवाला हो। गरीबी भी एक पाप है व अकल्याण का कारण है।

भावार्थ—हे प्रभो! मैं ज्ञान, यज्ञ, स्वास्थ्य व धन प्राप्त करके कल्याणरूप बनूँ।

ऋषिः—त्रितः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

शिव

शिवो भूत्वा मह्यमग्नेऽअथो सीद शिवस्त्वम्।

शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः॥१७॥

१. प्रभु त्रित से कहते हैं हे **अग्ने**=उन्नतिशील त्रित (त्रीन् तरति=तीनों बन्धनों को तैर जानेवाले) **शिवः भूत्वा**=सबके लिए कल्याणकर होकर **शिवः**=कल्याणस्वरूप **त्वम्**=तू **अथ**=अब उ=निश्चय से **मह्यम्**=मेरे लिए **सीद**=स्थित हो। इस अर्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) औरों के कल्याण करने से अपना कल्याण होता है। (ख) औरों का कल्याण करके ही प्रभु की उपासना होती है। 'सर्वभूतहिते रतः' पुरुष ही तो प्रभु का भक्त है। २. **सर्वाः दिशः**=सब दिशाओं को, सब दिशाओं में स्थित प्राणियों को **शिवाः कृत्वा**=कल्याणयुक्त करके, अर्थात् उनके दुःखों को दूर करके **इह**=इस मानव-जीवन में तू **स्वं योनिम् इह**

आसदः=अपने घर में आसीन हो। हमारा वास्तविक घर ब्रह्मलोक है, अतः अर्थ यह हुआ कि तू मानवहित करके ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाला बन। अथवा 'योनि' शब्द का अर्थ सामान्य घर लें तो अर्थ होगा कि सब प्राणियों का कल्याण किये बिना तू घर में मौज से न बैठ। सबका भला करके ही घर में आ।

भावार्थ—त्रित सबका भला करता हुआ 'शिव' बनने का प्रयत्न करता है। औरों को शिव बनाये बिना हम शिव नहीं बन सकते।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

द्युलोक में, शरीर में, जलों में

दि॒वस्परि॑ प्रथ॒मं ज॑ज्ञेऽअ॒ग्निर॒स्मद् द्वि॒तीयं॒ परि॑ जा॒तवे॑दाः।
तृ॒तीय॑म॒प्सु नृ॒मणा॒ऽअज॑स्र॒मिन्धा॑नऽए॒नं ज॑रते स्वा॒धीः॥१८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का उपदेश सुनकर सबका कल्याण करता हुआ 'त्रित' प्रभु का प्रिय 'वत्स' बनता है और प्रभु को प्रीणित करने के कारण 'प्रीः' कहलाता है, अतः यह 'वत्सप्रीः' निम्न शब्दों में प्रभु की उपासना करता है—२. **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **प्रथमम्**=सबसे पहले **दिवः**=आकाश से **परिजज्ञे**=प्रादुर्भूत होते हैं। द्युलोक में प्रकट होनेवाले ज्योतिर्मय पिण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते हैं। अथर्ववेद के शब्दों में 'अभ्यनूषत व्राः' आकाश को आच्छादित करनेवाले ये तारे उस प्रभु की महिमा का स्तवन कर रहे हैं। ३. वह **जातवेदाः**=(जाते=विद्यते) प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान प्रभु **द्वितीयम्**=दूसरे स्थान में **अस्मत्**=हमसे परि (जज्ञे)=प्रकट होते हैं। यह प्रभु से दिया गया हमारा शरीर अपनी विशिष्ट रचना से प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहा है। ४. **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में **अप्सु**=जलों में, समुद्रों में, उस प्रभु की महिमा दिखती है। जल जिस प्रकार बना, वह सब कितना अद्भुत है! 'समुद्र का यह अनन्त पानी किस रसायनशाला में तैयार हुआ होगा! एवं, इन जलों में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। ५. **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य)=ये प्रभु सदा नरों का हित-करनेवाले हैं। जीवहित के उद्देश्य से ही तो संसार का निर्माण हुआ है। ६. **एनम्**=इस परमात्मा का **स्वाधीः**=उत्तम ध्यान करनेवाला भक्त **अजस्रम्**=निरन्तर **इन्धानः**=अपने को दीप्त करता हुआ **जरते**=उसका स्तवन करता है। प्रभु का स्तवन वही कर पाता है जो प्रतिदिन उस परमात्मा के योग का अभ्यास करता है। अभ्यास के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करके **'स्वाधीः'**=उत्तम ध्यानवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा द्युलोक के तारों में, शरीर की रचना में तथा जलों व समुद्रों में सुव्यक्त है। उस प्रभु के ध्यान का प्रतिदिन अभ्यास करना आवश्यक है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वह 'उत्स'

वि॒द्मा ते॑ऽअग्ने त्रे॒धा त्र॒याणि॑ वि॒द्मा ते॒ धाम॒ विभृ॑ता पु॒रु॒त्रा।
वि॒द्मा ते॒ नाम॑ पर॒मं गुहा॒ यद्वि॒द्मा तमु॒त्सं॒ यत॑ऽआज॒गन्थ॑॥१९॥

१. हे **अग्ने**=सबके प्रकाशक प्रभो! **ते**=आपके **त्रेधा**=तीन प्रकार से रखे गये **त्रयाणि**=द्युलोक में सूर्यरूप को, अन्तरिक्षलोक में विद्युद्रूप को तथा पृथिवी पर अग्निरूप को **विद्म**=हम जानें। सूर्य, विद्युत् व अग्नि में उस प्रभु की दीप्ति ही तो दीप्त हो रही है। 'तस्य

भासा सर्वमिदं विभाति'=उसकी दीप्ति से ही तो यह सब दीप्त होता है। २. **ते**=तेरे **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **विभृता**=रक्खे गये **धाम**=तेज को **विद्म**=हम जानें। जहाँ-जहाँ पर कुछ भी विभूति दिखती है वह सब उस प्रभु के तेज के अंश से ही है। प्रभु का ही तेज सर्वत्र रक्खा हुआ है। ३. हे प्रभो! **ते**=तेरे **परमं नाम**=उत्कृष्ट यश को; **गुहा यत्**=जो बुद्धिरूपी गुहा में निहित है उसे, **विद्म**=हम जानें। जब मनुष्य की बुद्धि प्रभु की महिमा का विचार करती है तब प्रभु के अनन्त यश को जानकर उसे नतमस्तक कर देती है। ४. हे प्रभो! योगमार्ग के द्वारा हम **तम्**=उस **उत्सम्**=ज्ञान के स्वतः प्रवाह को **विद्म**=प्राप्त करें, **यतः**=जिससे **आजगन्थ**=आप प्राप्त होते हो। योगाभ्यास से मनुष्य उस स्थिति में पहुँचता है जहाँ कि योग के शब्दों में **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'**=सत्य का पोषण करनेवाली बुद्धि प्राप्त होती है। इस बुद्धि के प्राप्त होने पर अन्दर से स्वतः ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। उस समय हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम 'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' में प्रभु की दीप्ति को देखें। सर्वत्र उसी के तेज के प्रसार का अनुभव करें। बुद्धि के द्वारा हम प्रभु की कृतियों को देख, उसके यश को जानें और योग द्वारा उस ज्ञान के स्रोत को प्रवाहित कर सकें जो हमें परमात्मा का दर्शन करानेवाला है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

नृमणा व नृचक्षा

समुद्रे त्वा नृमणाऽअप्स्वन्तर्नृचक्षाऽईधे दिवो अग्नऽऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषाऽअवर्धन्॥२०॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य) मनुष्यों के हित की कामनावाला **नृचक्षाः** (नॄन् चष्टे)=मनुष्यों का पालन (look after) करनेवाला व्यक्ति **त्वा**=आपको **समुद्रे**=समुद्र में **अप्सु-अन्तः**=जलों में तथा **दिवः ऊधन्**=(द्युलोकस्य महोदके प्रदेशे—उ०)=अन्तरिक्षस्थ मेघों में **ईधे**=समिद्ध करता है, अर्थात् जिस भी मनुष्य का मन स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है वह समुद्रों में, जलों में व मेघों में आपकी महिमा का दर्शन कर पाता है। निर्मल मन सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है। २. **तृतीये रजसि**=तृतीय लोक में **तस्थिवांसम्**=ठहरे हुए **त्वा**=आपको **अपाम् उपस्थे**=जलों के समीप—नदी-तटों पर **महिषाः**=(मह पूजायाम्) उपासक लोग **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं, अर्थात् आपकी महिमा का गायन करते हैं। ३. प्रभु तृतीय लोक में स्थित हैं का अभिप्राय यह है कि (क) प्रभु का दर्शन स्थूल व सूक्ष्म-शरीरों में न होकर कारणशरीर में होता है, जोकि प्राणिमात्र का एक है, अतः हमें स्थूल व सूक्ष्मशरीरों से ऊपर उठकर कारणशरीर में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। (ख) अथवा प्रभु का दर्शन इन्द्रियों व इच्छाप्रधान मन से न होकर विवेकवाली बुद्धि से होता है; अतः प्रभु का स्थान इन्द्रियों व मन से परे बुद्धि ही है। (ग) अथवा प्रभु को तृतीय स्थान में स्थित इसलिए भी कहते हैं कि वे ऋग् व यजुः से ऊपर उठकर साममन्त्रों का विषय हैं। (घ) सामान्य बुद्धि प्रभु को पृथिवी व अन्तरिक्ष में स्थित न समझकर उसे द्युलोकस्थ ही समझती है। (ङ) अथवा बाल्यकाल क्रीड़ासक्त होने से प्रभु का उपासक नहीं होता, यौवन भी कुछ विषयासक्ति के कारण प्रभु-स्मरण से दूर रहता है और अन्ततः तीसरे वार्धक्य में मनुष्य प्रभु का स्मरण करनेवाला होता है। ४. मन्त्र में

'समुद्रे अप्सु, दिवः ऊधनि' इन शब्दों का यह भी अर्थ सङ्गत है कि 'प्रसादगुणयुक्त मन में (स+मुद्) सदा क्रियाशील बने रहने में (आपः=कर्माणि) तथा प्रकाश के उषःकाल में (ऊधन्=उषस्—नि०) प्रभु का दर्शन होता है। उत्तरार्ध के 'अपाम् उपस्थे' इन शब्दों का अर्थ यह होगा कि 'कर्मों की गोद में' अर्थात् सदा कार्य करते हुए ही प्रभुदर्शन हो सकता है। प्रभु की उपासना **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** स्वकर्मपालन से ही होती है।

भावार्थ—हम स्वार्थ से ऊपर उठकर प्रसादयुक्त मन में प्रभु का दर्शन करें। प्रभु-दर्शन के लिए कर्मों में लगे रहना तथा साथ ही ज्ञान के उषःकाल को अपने जीवन में लाना भी आवश्यक है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

गर्जना करते हुए प्रभु

अक्रन्दद॒ग्नि स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑हद् वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन्।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धोऽअख्य॒दा रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः॥२१॥

१. **अग्निः**=वह अग्रेणी परमात्मा **अक्रन्दत्**=पवित्र हृदयों में वेदवाणी का नाद करता है। **स्तनयन्निव द्यौः**=वह तो मेघ के समान गर्जना कर रहा है, परन्तु दुर्भाग्यवश हम उस शब्द को सुनते नहीं। २. वे प्रभु **क्षामा**=इस पृथिवीस्थ प्राणियों को **रेरिहत्**=आस्वादमय जीवनवाला बनाते हैं। वे **वीरुधः**=विविध शक्तियों के विकास को **समञ्जन्**=व्यक्त करते हैं ३. **जज्ञानः**=प्रकट होते हुए **इद्धः**=ज्ञान-दीप्त वे प्रभु **सद्यः**=शीघ्र हि **ईम्**=निश्चय से **वि अख्यदा**=हमारे जीवन को विशिष्ट प्रकाशमय कर देते हैं। ४. **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **भानुना**=दीप्ति से **अन्तः**=अन्दर **आभाति**=सर्वतः प्रकाशमय कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी को सुनने पर जीवन प्रकाशमय हो उठता है, उसमें विविध शक्तियों का विकास होता है। प्रभु का प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु-प्रिय (वत्सप्री) का जीवन

श्री॒णामु॑दा॒रो ध॒रुणो॑ रयी॒णां म॑नी॒षाणां॒ प्रार्प॑णः॒ सोम॑गोपाः।
वसुः॑ सू॒नुः सह॑सोऽअ॒प्सु राजा॒ विभा॒त्यग्र॑ऽउ॒षसा॑मिधा॒नः॥२२॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाला अपने जीवन को निम्न प्रकार का बनाता है—१. **श्रीणाम्**=सेवनीय गौ-अश्वादि सम्पदाओं का **उदारः**=(दाता) खूब देनेवाला होता है (उ॒त्कृष्टं परीक्ष्य ऋच्छति ददाति)। यह विचार कर सत्पात्र में देता है। २. **रयीणाम्**=सम्पत्तियों का यह अपने को **धरुणाः** =धारण करनेवाला (trustee) समझता है। ३. **मनीषाणाम्**=बुद्धियों का **प्रार्पणः**=यह प्राप्त करानेवाला होता है। स्वयं ज्ञानी बनकर औरों को ज्ञान देता है। ४. **सोमगोपाः**=यह अपने सोम (वीर्य) की रक्षा करनेवाला होता है। वस्तुतः इस सोम-रक्षा के परिणामस्वरूप ही तो इसमें अन्य सब गुणों का विकास होता है। ५. सोम-रक्षा से नीरोग बनकर **वसुः**=यह उत्तम निवासवाला होता है। **सहसः सूनुः**=बल का यह पुत्र होता है, अर्थात् खूब बलवान्-शक्ति का पुञ्ज बनकर यह शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को सुन्दर बना पाता है। ६. **अप्सु**=यह कर्मों के विषय में **राजा**=बड़े व्यवस्थित (regulated) जीवनवाला होता है। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति इसके कर्म समय पर सम्पन्न

किये जाते हैं। ७. नियमित जीवनवाला यह **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होता है, क्योंकि इस नियमितता से इसे शारीरिक और मानस स्वास्थ्य प्राप्त होता है। संक्षेप में यह स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मनवाला होता है। ८. **उषसाम् अग्रे**=बड़े सवेरे-सवेरे—उषःकाल के पहले **इधानाः**=यह प्रभु को अपने हृदय में समिद्ध करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् प्रभु का ध्यान करता है।

भावार्थ—वत्सप्री के जीवन का गुणाष्टक यह है—दान, ट्रस्टीशिप की भावना, ज्ञान, वीर्यरक्षा, शक्ति व उत्तम निवास, नियमितता, दीप्ति तथा प्रभु-स्मरण।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विश्वस्य केतुः

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भऽआ रोदसीऽअपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥२३॥

१. यह वत्सप्रीः=प्रभु को अपने कर्मों से प्रीणित करनेवाला व्यक्ति **विश्वस्य**=सबका **केतुः**=(कित निवासे रोगापनयने च) निवास देनेवाला तथा रोगों को दूर करनेवाला—ज्ञान के प्रकाश से सबको नीरोगता का मार्ग दिखानेवाला होता है। २. **भुवनस्य गर्भः**=भुवन का गर्भ बनता है, अर्थात् सारी वसुधा को अपना परिवार समझता है। ३. **जायमानः**=अपना विकास करता हुआ यह रोदसी—द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सभी को **अपृणात्**=पालित व पूरित करता है (पृ पालनपूरणयोः) अथवा (पृण to delight) सभी के जीवन को आनन्दयुक्त करने का प्रयत्न करता है। ४. **परायन्**=इस संसार से दूर जाने के हेतु से (हेतु में शतृ प्रत्यय है), अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करने के हेतु से **वीडुम् अद्रिम् चित्**=दृढ़ पर्वत को भी **अभिनत्**=विदीर्ण कर देता है, अर्थात् लोकहित के कार्यों में लगे होने पर मार्ग में आये बड़े-से-बड़े विघ्न को भी दूर कर देता है। सब विघ्नों को दूर करता हुआ यह आगे बढ़ता चलता है और अन्त में वह समय आता है कि ५. **यत्**=जब **पञ्च जनाः**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद सभी लोग **अग्निम्**=इस अग्रेणी नेता को **अयजन्त**=पूजते हैं, आदर की दृष्टि से देखते हैं। सामान्यतः संसार में महापुरुषों का जीवनकाल में उतना आदर नहीं होता, परन्तु अन्त में वे लोगों के आदर-पात्र बनते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन को प्रकाशमय बनाकर संसार को प्रकाश देनेवाले बनें और सभी को उत्तम निवासवाला व नीरोग बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

उशिक पावकः

उशिक् पावको अरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो नि धायि।
इयर्त्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥२४॥

१. यह वत्सप्रीः=प्रभु का प्यारा **उशिक्**=(वश्) सबका भला चाहनेवाला होता है, किसी के अमङ्गल की भावना इसमें उत्पन्न नहीं होती। २. **पावकः**=यह सभी के जीवन को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है। ३. **अरतिः**=विषयों में रति व आसक्तिवाला नहीं होता। ४. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला अथवा उत्तम यज्ञोंवाला (मेध=यज्ञ) होता है ५. **अग्निः**=यह अग्रेणी—उन्नतिशील व्यक्ति **मर्त्येषु**=विषयों के पीछे मरनेवाले लोगों में **अमृतः**=विषयों के

लिए अत्यन्त उत्सुक न होनेवाले के रूप में **निधायि**=रक्खा जाता है। प्रभु ही इस प्रकार के अमृत अग्नि को मर्त्यों में प्राप्त कराया करते हैं। इन्हें ही सामान्य जनता सुधारक के नाम से स्मरण करती है। ६. **इयर्त्ति**=यह व्यक्ति बड़ा गतिशील होता है। ७. **धूमम्**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले **अरुषम्**=क्रोध से शून्य ज्ञान को **भरिभ्रत्**=निरन्तर धारण करता हुआ यह **उत्**=वासनाओं से ऊपर उठा हुआ **शुक्रेण शोचिषा**=प्रकाशमय अथवा क्रियायुक्त (शुक् गतौ) ज्ञान की दीप्ति से यह **द्याम्**=सारे द्युलोक को **इनक्षन्**=व्याप्त करता है, अर्थात् यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है। वस्तुतः लोकहित का इससे अधिक उत्तम मार्ग नहीं है कि ज्ञान को फैलाकर उनके जीवन के मापक को ऊँचा कर दिया जाए। ज्ञान ही मनुष्य को वासनाओं से बचाकर इस योग्य बनाता है कि वह प्रभु के अधिक समीप पहुँच सके।

भावार्थ—हमें सभी के भले की कामना करनी चाहिए, अतः स्वयं विषयों से ऊपर उठकर ज्ञान का प्रसार करनेवाला होना चाहिए।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

दृशानो रुक्म

दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौदुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निर॒मृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः॥२५॥

१. **दृशानः**=यह वस्तुतत्त्व को देखता है, बाह्य रूप से ही विचलित नहीं हो जाता—विषयों की आपातरमणीयता इसे उनमें उलझा नहीं देती, क्योंकि यह विषयों के विषयत्व को देखता है। २. **रुक्मः**=न उलझने के कारण ही चमकता है। ३. **उर्व्या व्यद्यौत्**=हृदय की विशालता से यह प्रकाशमय है—उत्तम व्यवहार करनेवाला होता है। ४. **आयुः**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=वासनाओं से न कुचलने योग्य होता हैं ५. **श्रिये रुचानः**=यह श्री के लिए रुचिवाला होता है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को शोभा से करता है ६. **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है ७. **वयोभिः**=उत्तम आयुष्यवर्धक अन्नों से **अमृतः अभवत्**=रोगाक्रान्त न होकर अमृत हो जाता है, अकालमृत्यु को प्राप्त नहीं होता। ८. **यत्**=क्योंकि **सुरेताः**=उत्तम रेतस्वाला अर्थात् ब्रह्मचारी **द्यौः**=प्रकाशमय जीवनवाला आचार्य **एनम्**=इसे **अजनयत्**=विकसित करता है—शक्तिमान् बनाता है।

भावार्थ—संसार में हमें तत्त्वदर्शी बनकर विषयों में नहीं उलझना। ज्ञानी, ब्रह्मचारी आचार्यों की कृपा से ही ऐसा जीवन बनता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

गुरु का आदर, प्रभु की भक्ति

यस्तेऽअद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने।
प्र तं नय प्रतरं वस्योऽअच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ॥२६॥

१. वेद में पाँचों ज्ञानेद्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को 'ओदन' (भोजन) कहा है, अतः जीव का नाम ही 'पञ्चौदन' कर दिया है। विद्यार्थी के लिए इस ओदन का परिपाक करनेवाला उसका आचार्य है। अथर्ववेद ९।५।३७ में 'पचत पञ्च चौदनान्' इन शब्दों में इन पाँचों ओदनों के परिपाक का निर्देश है। यह ज्ञान का ओदन 'घृतवान्'=मल के क्षरण के

द्वारा दीप्ति प्राप्त करानेवाला है। यह 'अपूप'=न पूयते=न अपवित्र (पूयी विशरणे दुर्गन्धे च) होनेवाला है। इस **घृतवन्तं अपूपम्**=नैर्मल्य व दीप्तिवाले, न मलिन होने देनेवाले ज्ञानरूप अपूप को **हे अग्ने**=प्रगतिशील छात्र! हे **भद्रशोचे**=कल्याणकर ज्ञान की दीप्तवाले! **देव**=ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करनेवाले, अतएव दिव्य गुणोंवाले! जो **ते**=तेरे लिए **अद्य**=आज **कृणवत्**=ज्ञानदान करता है **तं अच्छ**=उसकी ओर **प्रतरम्**=(अतिशयेन प्रकृष्टं) बहुत उत्तम **वस्यः**=(वसीयः—अतिशयेन वसु) निवास के लिए अत्यन्त उपयोगी धन **प्रनय**=प्राप्त करा। **तम्**=उसके लिए उत्तम-से-उत्तम गुरु-दक्षिणा देने का यत्न कर। २. इस प्रकार गुरु-भक्ति की भावनावाला **यविष्ठ**=बुराइयों को अधिक-से-अधिक दूर करनेवाला और अच्छाइयों से अपना मेल करनेवाला होकर **देवभक्तम्**=देवों से सेवित **सुम्नम्**=(Hymn) प्रभु-स्तवन की **अभि**=ओर अपने को **प्रनय**=ले-चल, अर्थात् ज्ञान देनेवाले गुरु के प्रति तो तेरी श्रद्धा हो ही, साथ ही तू देवों के सेवनीय प्रभु का स्तवन करनेवाला बन।

भावार्थ—जिस आचार्य ने हमें वह ज्ञान प्राप्त कराया, जिससे हमारा जीवन निर्मल हो गया, उस आचार्य के चरणों में हमें यथाशक्ति भेंट देनी चाहिए और सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला बनना चाहिए।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान+स्वास्थ्य व उज्ज्वल वंश

आ तं भज सौश्रवसेष्वग्नऽउक्थऽउक्थऽआभज शस्यमाने।

प्रियः सूर्ये प्रियोऽअग्ना भवात्युज्जातेन भिनदुज्जनित्वैः॥२७॥

पिछले मन्त्र की ही भावना को प्रकारान्तर से कहते हैं १. **अग्ने**=हे प्रगतिशील! तू **तम्**=उस ज्ञान देनेवाले आचार्य को **सौश्रवसेषु**=उत्तम यशोमय कर्मों में **आभज**=सेवित करनेवाला हो, अर्थात् आचार्य से शिक्षित होकर तू संसार में इस प्रकार उत्तम कर्म करनेवाला बन कि तेरे कर्मों से तेरे आचार्य का नाम उज्ज्वल हो। २. तू इस अपनी जीवन-यात्रा में **उक्थे उक्थे शस्यमाने**=जहाँ-जहाँ प्रभु-स्तवन हो रहा हो उस-उस स्थान पर **आभज**=प्रभु की उपासना करनेवाला बन, अर्थात् उन्हीं सत्सङ्गों में तू उपस्थित हो जहाँ प्रभु-स्तवन हो रहा हो। ३. इस प्रकार उत्तम कर्मों से आचार्य के नाम को उज्ज्वल करनेवाला तथा प्रभु-स्तवन में सम्मिलित होनेवाला व्यक्ति **सूर्ये प्रियः भवति**=सूर्य के समीप प्रिय होता है, अर्थात् इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में सदा ज्ञान का सूर्य उदित रहता है। यह **अग्नौ प्रियः भवति**=अग्नि के समीप प्रिय होता है, अर्थात् इसके भौतिक शरीर में प्राणशक्ति की अग्नि सदा प्रज्वलित रहती है। इसके मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य उदित रहता है तो इसके पार्थिव शरीर की वेदि पर प्राणाग्नि सदा प्रज्वलित रहती है। ज्ञान चमकता हुआ होता है तो शरीर शक्ति की उष्णतावाला होता है। ४. अपने बाद भी यह **जातेन**=उत्पन्न पुत्र से **उद्भिदत्**=उदय व वृद्धि को प्राप्त होता है तथा **जनित्वैः**=जनिष्यमाण (आगे पैदा होनेवाले) पौत्र आदि से भी यह अधिकाधिक उदय को प्राप्त होगा, अर्थात् इसका वंश और अधिक चमकनेवाला होगा।

भावार्थ—गुरु का आदर व प्रभु-भक्तिवाले पुरुष के जीवन में १. ज्ञान का सूर्य चमकता है २. इसकी जीवनी-शक्ति बनी रहती है तथा ३. इसका वंश उज्ज्वल होता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विष्णु+लक्ष्मी, नकि केवल लक्ष्मी

त्वामग्ने यजमाना॒ऽअनु॒ द्यून् विश्वा॒ वसु॒ दधिरे॒ वार्याणि।
त्वया॒ स॒ह द्रविणमि॒च्छमाना व्र॒जं गोमन्तमु॒शिजो॒ विवव्रुः॥२८॥

१. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वाम्**=आपकी **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **यजमानाः**=उपासना करते हुए—आपका पूजन करते हुए ये **विश्वा वार्याणि**=सब वरणीय वसु=निवास के लिए आवश्यक धनों को **दधिरे**=धारण करते हैं, वस्तुतः प्रभु की उपासना वसुओं को प्राप्त कराती ही है। प्रभु अपने सच्चे भक्तों के योगक्षेम को चलाते हैं। २. ये **त्वया सह**=आपके साथ **द्रविणम्**=धन को **इच्छमानाः**=चाहनेवाले होते हैं। 'प्रभु-भक्त धन को न चाहें' यह बात नहीं है। धन की कामना तो शरीरधारी को करनी ही होती है, परन्तु प्रभु-भक्त प्रभु के साथ धन की कामना करता है। यह विष्णु के साथ ही लक्ष्मी के दर्शन की कामना करता है—अकेली लक्ष्मी को यह आमन्त्रित नहीं करता। वस्तुतः अकेली लक्ष्मी मनुष्य को विषयासक्त कर देती है। विष्णु की उपस्थिति मन को विषयप्रवण नहीं होने देती। धन विषयों को प्राप्त कराता है, प्रभु-स्मरण उन विषयों में फँसने से बचाता है, अतः विष्णु के साथ ही लक्ष्मी की शोभा है। ३. ये धनी परन्तु धनासक्ति से रहित **उशिजाः**=मेधावी पुरुष **गोमन्तम्**=आदित्य रश्मियोंवाले (गावः रश्मयः) **व्रजम्**=मार्ग को **विवव्रुः**=(विभिदुः—म०) खोलते हैं, अर्थात् आदित्यमण्डल के मध्य से मार्ग बनाते हैं। ये सूर्यमण्डल का भेदन करके 'स्वर्ज्योति' स्वयं देदीप्यमान ज्योति—ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ५. मनुष्य का पहला पग पृथिवीलोक का विजय है। पृथिवीलोक से ऊपर उठकर उसे अन्तरिक्षलोक का विजय करना है—यही उसका दूसरा पग होता है। द्युलोक का विजय करके वह ब्रह्मज्योति को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह आत्मा चतुष्पात् होता है। जितने-जितने हमारे कर्म उत्तम होंगे उतने-उतने उत्कृष्ट लोक में हम जन्म लेंगे। इस मर्त्यलोक से पितृलोक (चन्द्रलोक में) में, पितृलोक से देवलोक में (सूर्य में), अन्त में सूर्य से भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक में। ५. 'गोमन्तं व्रजं विवव्रुः' का अर्थ यह भी है कि (गावाः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के बाड़े को विशेषरूप से संवृत्त रखते हैं, अर्थात् इन्द्रियों का पूर्ण निरोध करते हैं।

भावार्थ—नित्याभियुक्त पुरुष वसुओं—जीवन-धारण के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता है, क्योंकि यह लक्ष्मी को प्रभु के साथ ही चाहता है, अतः पापों में नहीं फँसता।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सुवीररयि तथा अद्वेष

अस्ताव्यग्निर्न॒रा॑ᳬसु॒शेवो॑ वैश्वान॒रऽऋषि॑भि॒ः सोम॑गोपाः।
अ॒द्वे॒षे द्यावा॑पृथि॒वी हु॑वेम॒ देवा॑ ध॒त्त र॒यिम॒स्मे सु॒वीर॑म्॥२९॥

'वत्सप्री' कहता है कि १. **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा लोगों से **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **अस्तावि**=स्तुति किया जाता है। अतत्त्वार्थवित् ही विषयासक्त होता है, अतः उस प्रभु की ही पूजा करनी चाहिए जो (क) **नराम्**=उन्नति के मार्ग पर चलनेवालों का **सुशेवः**=उत्तम कल्याण करनेवाला है। (ख) **वैश्वानरः**=सभी मनुष्यों का हित चाहता है। (विश्वनरहितः) अथवा सभी को (विश्वान् नरान् नयति) उत्कृष्ट मार्ग पर ले-चलता है। प्रभु की आवाज़

को न सुननेवाला ही मार्ग-भ्रष्ट होता है। (ग) **सोमगोपाः**=हमारी वीर्यशक्ति (vitality) की रक्षा करनेवाला है। प्रभु के स्मरण से मनुष्य विषयासक्ति से बचता है और अपनी शक्ति की रक्षा करने में समर्थ होता है। २. प्रभु का स्मरण व स्तवन करते हुए हम **अद्वेषे**=द्वेष से रहित, प्रेम से पूर्ण **द्यावापृथिव्यौ**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **हुवेम**=पुकारते हैं। हम चाहते हैं कि ब्रह्माण्ड में हमारा कोई शत्रु न हो—हम किसी के शत्रु न हों। हम द्वेष से अतीत हों। ३. द्वेषातीत होने के लिए ही हम चाहते हैं कि **देवाः**=हे देवो! **अस्मे**=हममें **सुवीरम्**=उत्तम वीरता से युक्त **रयिम्**=धन को **धत्त**=धारण करो। प्रत्येक देव हमें अपनी वह सम्पत्ति प्राप्त कराये जो हमें वीर बनानेवाली हो। अग्नि हमारी वाणी को सबल बनाए तो सूर्य आँखों को तथा दिशाएँ कानों को और चन्द्रमा मन को। इस प्रकार सब देव अपना-अपना दिव्य अंश प्राप्त कराके हमें उत्कृष्ट वीर बना दें, जिससे हम द्वेष से ऊपर उठ सकें।

भावार्थ—१. हम प्रभु का स्तवन करें। २. द्वेष से ऊपर उठें। ३. देवों से शक्ति प्राप्त करें। देवों से शक्ति प्राप्त करके हम द्वेष से ऊपर उठें। निर्द्वेष बनकर सभी का भला चाहना व करना ही सच्चा प्रभु-कीर्तन है। यही व्यक्ति 'वत्सप्री' है—प्रभु का सच्चा प्यारा है।

ऋषिः—विरूपाक्षः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

'विरूपाक्ष'

स॒मिधा॒ग्निं दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒ताति॑थिम्। आस्मि॑न्ह॒व्या जु॑होतन॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इस बात पर थी कि सब देव हमारे अङ्गों में अपनी-अपनी सम्पत्ति को धारण कर उन्हें सुवीर बनाएँ। वे वीरतापूर्ण अंश इस मनुष्य को 'विरूपाक्ष' बनाते हैं—विशिष्ट रूपवाली हैं इन्द्रियाँ जिसकी। इस विरूपाक्ष का कथन है कि २. **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु की **दुवस्यत**=परिचर्या करो। वस्तुतः प्रभु की सच्ची उपासना ज्ञान से ही होती है। ज्ञानीभक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रतीत होता है। २. **घृतैः**=मलों के क्षरण व विद्रावण से, दीप्त अन्तःकरणवृत्तियों से **अतिथिम्**=उस (अत सातत्यगमने) निरन्तर प्राप्त, सदा हृदय में विद्यमान प्रभु को **बोधयत**=(चेतयत) जानो। उस प्रभु का ज्ञान तभी होता है जब हमारे हृदयों पर से मल का आवरण दूर हो जाता है। प्रभु तो उपस्थित हैं ही, परन्तु हृदयों के मलावृत्त होने से उसका ज्ञान नहीं होता। मल हटा और प्रभु का दर्शन हुआ। ३. **अस्मिन्**=इस प्रभु में स्थित हुए **हव्या**=दातुमर्ह—देने योग्य पदार्थों को **आजुहोतन**=दान में दो। प्रभु में स्थित हुए, अर्थात् प्रभु को कभी न भूलते हुए हम सदा दान देनेवाले बनें। देकर बचे हुए को खानेवाले बनें। यह यज्ञशेष का सेवन ही प्रभु-अर्चन हो जाता है। वस्तुतः प्रभु-स्मरण करनेवाला व्यक्ति वैषयिक वृत्ति का तो बनता ही नहीं। यह विषय-वासनाओं से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति 'विरूपाक्ष' क्यों न बनेगा।

भावार्थ—१. ज्ञान-दीप्ति से हम प्रभु की परिचर्या करें। २. नैर्मल्य से प्रभु के प्रकाश को देखें। ३. प्रभु-दर्शन करते हुए सदा देकर खाएँ—यज्ञशेष का सेवन करें।

ऋषिः—तापसः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ज्ञानी-प्रियदर्शन

उदु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वाऽअग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः।
स नो॑ भव शि॒वस्त्व॑ꣳसु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः॥३१॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार मनुष्य अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ाए, नैर्मल्य

की साधना करे, दान देकर यज्ञशेष को खाने की वृत्तिवाला बने। २. इस वृत्तिवाला व्यक्ति **उत् उ**=निश्चय से विषय-वासनाओं से ऊपर उठता है (उत्=out)। यह विषय-वासना से ऊपर उठना ही वास्तविक तपस्या है, अतः मन्त्र का ऋषि 'तापस' नामवाला हो गया है। ३. **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले! **त्वा**=तुझ तापस को **विश्वे देवाः**=सब देव **चित्तिभिः**=ज्ञानों से **भरन्तु**=भर दें। यह तापस ज्ञानियों के सम्पर्क में आता है। यह ज्ञानियों का सम्पर्क इसे अधिकाधिक ज्ञानी बनाता है। उनके सम्पर्क में इसकी बुद्धि विशिष्ट और विशिष्टतर होती चलती है। ५. **सः**=वह **विभावसुः**=ज्ञान-धनवाला **सुप्रतीकः**=शोभन मुखवाला या प्रियदर्शनवाला **त्वम्**=तू **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण को प्राप्त करानेवाला **भव**=हो। यह तापस प्रजाओं में विचरता है। उन प्रजाओं के लिए अपने ज्ञान-धन को विकीर्ण करता है और इस ज्ञान का प्रसार यह अत्यन्त माधुर्य के साथ करता है—सबके लिए यह सुप्रतीक=प्रियदर्शन होता है। इसके मुख पर मानस शान्ति का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ—एक परिव्राजक प्रचारक को तपस्वी, ज्ञानी व प्रियदर्शन होना चाहिए।

ऋषिः—तापसः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ज्योतिष्मान्

प्रेद॑ग्ने ज्योति॑ष्मान् याहि शि॒वेभि॑र॒र्चिभि॒ष्ट्वम्।
बृ॒हद्भि॑र्भा॒नुभि॒र्भास॑न् मा हि॑ꣳसीस्त॒न्वा॒ प्र॒जाः॥३२॥

१. हे **अग्ने**=अपने ज्ञानोपदेशों से सबको आगे ले-चलनेवाले 'तापस'! **त्वम्**=तू **ज्योतिष्मान्**=ज्ञान की ज्योतिवाला बनकर **शिवेभिः अर्चिभिः**=कल्याणकर ज्ञान की ज्वालाओं से **इत्**=निश्चयपूर्वक **प्रयाहि**=आगे बढ़। वस्तुतः यह तापस अपनी ज्ञान-ज्वालाओं से प्रजाओं के पापरूप तृणों को दग्ध करता हुआ चलता है। ३. **बृहद्भिः**=वृद्धि की कारणभूत **भानुभिः**=दीप्तियों से **भासन्**=चमकते हुए आप **तन्वा**=अपने शरीर से **प्रजाः**=प्रजाओं को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कीजिए। तापस के शरीर से कोई ऐसी क्रिया न हो जो प्रजाओं की हिंसा का कारण बने। इस अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर ही इसके समीप आनेवाले सभी व्यक्तियों की वैरभावना समाप्त होगी और वे प्रेम से इसके उपदेश को सुन पाएँगे। ३. मन्त्रार्थ में निम्न बातें बड़ी स्पष्ट हैं कि आदर्श प्रचारक वही है जो (क) स्वयं ज्ञान की ज्योतिवाला है। (ख) जिसकी ज्ञान-ज्योति अमङ्गल का ध्वंस करती है। (ग) इसका ज्ञान लोगों की वृद्धि का कारण बनता है। (घ) यह किसी की हिंसा नहीं करता—मधुरवाणी का ही प्रयोग करता है।

भावार्थ—स्वयं ज्योतिर्मय अहिंसक वृत्तिवाले बनकर हम ज्ञान-प्रसार द्वारा लोककल्याण का साधन करें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मेघ-गर्जन

अक्र॑न्दद॒ग्नि स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑हद् वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन्।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धोऽअख्य॒दा रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः॥३३॥

१. **अग्निः**=सब उन्नतियों के साधक, प्रकाश देनेवाले प्रभु **स्तनयन् इव द्यौः**=गर्जते हुए मेघ के समान **अक्रन्दत्**=उच्च स्वर से वेदज्ञान का उच्चारण कर रहे हैं। २. जब हम

उनकी वाणी को सुनते हैं तो **क्षामा**=हमारे इस शरीर को (पृथिवी शरीरम्) **रेरिहत्**=वे अत्यन्त आनन्दमय बना देते हैं। ३. **वीरुधः**=विशिष्ट रोहणों को व विविध शक्तियों के विकासों को वे **समञ्जन्**=हममें व्यक्त करते हैं, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुनकर तदनुसार आचरण करने पर हमारी शक्तियों का विकास होता है और हमारा स्वस्थ व सुन्दर जीवन आनन्दमय बन जाता है। ४. **जज्ञानः**=प्रकट होते हुए वे प्रभु **इद्धः**=हृदयाकाश में दीप्त हुए **हि ईम्**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र ही **विअख्यत्**=विशेषरूप से हमारे जीवन को प्रकाशमय बना देते हैं। ५. वे प्रभु **रोदसी अन्तः**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्दर, अर्थात् सम्पूर्ण आकाश में **भानुना**=दीप्ति से **आभाति**=समन्तात् चमक रहे हैं, उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित हो रहे हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु की वाणी को सुनें, हममें विविध शक्तियों का विकास होगा और हमारा जीवन चमक उठेगा।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सुननेवाला

प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्योऽअतिथिः शिवो नः॥३४॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु की मेघ-गर्जना का उल्लेख था। **भरतस्य**=सारे ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले प्रभु की इस गर्जना को **अयं अग्निः**=यह उन्नतिशील जीव **शृण्वे**=सुनता है और **प्रप्र**=निरन्तर आगे बढ़ता चलता है। उस वाणी को सुनेंगे तो उन्नति क्यों न होगी? २. इस वाणी को सुननेवाले की पहचान यह है **यत्**=कि यह **सूर्यः न**=सूर्य की भाँति **विरोचते**=विशिष्ट दीप्तिवाला होता है। **बृहद्भाः**=वृद्धिशील ज्ञानवाला होता है। ३. उसी ने वाणी सुनी है **यः**=जो **पृतनासु**=संग्रामों में **पूरुम्**=सबको व्याप्त करनेवाले, अत्यन्त प्रबल कामासुर का **अभितस्थौ**=मुक़ाबला करता है, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुननेवाला काम पर विजय पाता है। ४. **दीदाय**=यह स्वास्थ्य की दीप्तिवाला होता है। ५. **दैव्यः**=प्रभु के साथ सम्बन्धवाला होने से दिव्य गुणों से परिपूर्ण होता है। ६. **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर गतिशील होता है और ७. **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर होता है।

भावार्थ—प्रभु की वाणी के सुनने पर मनुष्य ज्ञान-सूर्य से चमकता है, काम पर विजय पाता है, स्वस्थ, दिव्य गुणोंवाला, निरन्तर क्रियाशील व सभी का कल्याण करनेवाला होता है। काम पर विजय पानेवाला यह 'वशिष्ठ' कहलाता है—वशियों में श्रेष्ठ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—आपः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वसिष्ठ का स्वागत Reception

आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वꣳसुरभाऽउ लोके।
तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत्॥३५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाले अतएव **एतत्**=इस **भस्म**=ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले वसिष्ठ को **आपः देवीः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ **प्रतिगृभ्णीत**=ग्रहण (receive) करें—उसका स्वागत करें। जब कभी 'वसिष्ठ' हमारे बीच में आये तो हमें उसका स्वागत करना ही चाहिए। २. **उ**=और उसे **स्योने**=सुखावह—जहाँ सब प्रकार की

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की सुविधा है, उस **सुरभा**=सुगन्धित—दुर्गन्धशून्य **लोके**=स्थान में **कृणुध्वम्**=स्थापित करो, ठहराओ। इस वसिष्ठ के ठहरने का स्थान स्वच्छ, पवित्र व दुर्गन्धशून्य होना चाहिए। ३. इसके समीप लोग उपदेश लेने आएँगे ही। उस समय **तस्मै**=उस ब्रह्मज्ञानी के लिए **जनयः**=सन्तानों को जन्म देनेवाले गृहस्थ लोग तथा **सुपत्नीः** (सुपत्न्यः)=श्रेष्ठ पत्नियाँ **नमन्ताम्**=नमन करनेवाली हों। उसके समीप आदर से उपस्थित होकर उसके उपदेश को सुनें। ४. **एतत्**=इस वसिष्ठ को **अप्सु**=प्रजाओं में इस प्रकार **बिभृत**=धारण करो **इव**=जैसे **माता पुत्रम्**=माता पुत्र को धारण करती है। माता जैसे पुत्र का पालन करती है उसी प्रकार प्रजाओं को इस वसिष्ठ का पालन करना है।

भावार्थ—उत्तम वृत्तिवाली प्रजाओं का यह कर्त्तव्य है कि वे लोकहित में तत्पर, काम-विजयी वसिष्ठ का स्वागत करें। उसे सुविधाजनक स्थान पर ठहराएँ। नम्रता से उसके उपदेश को सुनें। उसे माता के समान अपने लिए हितकर समझें।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

आदर्श प्रचारक

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः ॥३६॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञान के प्रकाशवाले, प्रजाओं को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले! **विरूप**=विशिष्ट रूपवाले तेजस्विन्! **तव**=तेरा **अप्सु**=प्रजाओं में **सधिः**=समान स्थान है, अर्थात् जहाँ प्रजाएँ हैं, वहीं तुझे भी होना है, प्रजाओं में रहते हुए उन्हें ज्ञान देने के लिए सदा यत्नशील रहना है। २. **सः**=वह तू प्रजाओं को ज्ञान देता हुआ **सौषधीः**=यव आदि (यवाद्याः—म०) ओषधियों का ही **अनुरुध्यसे**=(स्वीकरोषि—म०) स्वीकार करता है। तेरा भोजन सात्त्विक व वानस्पतिक ही होता है। ३ (क) **गर्भे सन्**=प्रजाओं के मध्य में रहता हुआ तू **पुनः**=फिर **जायसे**=बाहर हो जाता है, अर्थात् निरन्तर आगे चलते जाने के कारण यह सदा किसी एक स्थान पर ठहरा नहीं रहता। आज यहाँ की प्रजा में है, कल इससे बाहर होकर अन्यत्र चला गया है। (ख) अथवा **गर्भे सन्**=प्रति वर्ष चौमासे में गर्भ में, अदृश्यरूप में, कहीं एकान्त अज्ञात स्थान में ठहरकर तू **पुनः**=फिर **जायसे**=प्रकट हो जाता है और अपने अन्दर ग्रहण किये हुए ज्ञान का प्रसार करता है।

भावार्थ—आदर्श पुरुष वही है जो प्रजाओं के साथ ही रहता है, वानस्पतिक भोजन करता है। चार मास एकान्त में अपने को ज्ञान से भरकर फिर ज्ञान-प्रसार के लिए बाहर आ जाता है।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

शाकाहार-विश्वबन्धुत्व

गर्भोऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।

गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽअपामसि ॥३७॥

१. 'गर्भ' शब्द 'गॄ' निगरणे (निगलना) व 'ग्रह उपादाने'. (ग्रहण करना) धातुओं से बनता है, अतः यह विरूप=औरों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूपवाला—ज्ञान-प्रसार में रत व्यक्ति **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **गर्भः असि**=निगलनेवाला—खानेवाला है। यह **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों का **गर्भः**=खानेवाला है। प्रचारक को ओषधि-वनस्पतियों का ही ग्रहण करना

चाहिए उसे मांसभोजी नहीं होना है। मांसभोजन क्रूरता व स्वार्थ का प्रतीक है। २. यह प्रचारक **विश्वस्य भूतस्य**=सब प्राणियों को **गर्भः**=अपनी 'मैं' में ग्रहण करनेवाला है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'=सारी वसुधा को यह अपना परिवार समझता है। **अपाम्**=सब प्रजाओं का **गर्भः** =ग्रहण करनेवाला है। (क) सारी प्रजाओं को अपनी 'मैं' में समाविष्ट कर लेने से यह सभी के दुःख से दुःखी होता है, अतः करुणात्मक स्वभाववाला बनता है। (ख) सभी की उन्नति में प्रसन्न होता है, अतः ईर्ष्या आदि से परे यह 'मोद' की वृत्तिवाला होता है। (ग) सभी से स्नेह के करण 'मैत्री'वाला होता है। (घ) सभी में अपनापन अनुभ्व करने के कारण यह पापरत से भी घृणा न करके उपेक्षा को ही अपनाता है। ३. इसका यह स्वभाव इसके वानस्पतिक व सात्त्विक भोजन के कारण शुद्धान्तःकरण होने से ही है **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**। जो मांसभोजी होगा वह स्वार्थप्रधान होने से सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट न कर सकेगा। यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध व उत्तरार्ध में यही कार्यकारणभाव है। शाकाहार कारण है, विश्वबन्धुत्व की भावना कार्य है।

भावार्थ—एक आदर्श प्रचारक को शाकाहारी व विश्वबन्धुत्व की भावनावाला होना चाहिए।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

योनिम्, अपः, पृथिवीम्

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥३८॥

१. **भस्मना**=(भस दीप्तौ, प्रदीपकं तेजः—द०) अपने ज्ञान के दीप्त तेज से **योनिः**=मूलस्थान ब्रह्म में **प्रसद्य**=स्थित होकर, अर्थात् प्रभु की उपासना करके हे **अग्ने**=सबके लिए मार्ग दिखानेवाले विद्वन्! तू **अपः**=प्रजाओं में व कर्मों में स्थित हो, अर्थात् तेरे दिन का प्रारम्भ सदा प्रभु के ध्यान से हो। यह प्रभु-दर्शन तुझे ज्ञान से ही तो होगा, अतः तूने अधिक-से-अधिक ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना। यह दीप्त-ज्ञान का तेज तुझे ब्रह्मनिष्ठ बनाएगा, परन्तु तूने सदा समाधि के आनन्द में ही न उलझे रहना। तूने अपने ज्ञान को प्रजाओं में भी फैलाने के लिए यत्नशील होना। तेरा जीवन बड़ा क्रियाशील हो। ब्रह्मज्ञानी अकर्मण्य नहीं होता। २. तूने इस ज्ञान-प्रसार के कार्य को करते हुए **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) विशाल हृदय-प्रदेश में स्थित होना। तेरा हृदय विशाल होगा तभी तू सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करके वसुधा को अपना परिवार बना पाएगा। ३. **त्वम्**=तू **मातृभिः**=जीवन का निर्माण करनेवाले 'माता-पिता व आचार्य' के **संसृज्य**=सम्पर्क में आकर **ज्योतिष्मान्**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाला बना है, **पुनः**=इस प्रकार ज्योतिष्मान् बनकर ही फिर तू **आसदः**=उस ब्रह्म में स्थित हो, प्रजा व कर्मों में स्थित हो तथा विशाल हृदयान्तरिक्ष में स्थित हो (योनिम्, अपः, पृथिवीम्)। जिसका जीवन उत्तम माता-पिता व आचार्य इन निर्माताओं के सम्पर्क में नहीं आता, उसे ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता और उसके लिए ब्रह्मनिष्ठ होना सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—विद्वान् अपने जीवन को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करे। ब्रह्मदर्शन करता हुआ वह ईशचिन्तन से दिन का आरम्भ करे, प्रजाओं में ज्ञान-प्रसार करता हुआ उदार हृदय बने और दिनावसान पर पुनः प्रभु का ध्यान करता हुआ रात्रिशयन में चला जाए।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

माता की गोद में

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याश्शिवतमः ॥३९॥

गत मन्त्र की भावना का ही विस्तार करते हुए प्रभु 'विरूप' से कहते हैं कि (१) ज्ञान-प्राप्ति के बाद **पुनः** =फिर **सदनम्**=सम्पूर्ण संसार के कारण उस ब्रह्म में **अपः**=प्रजाओं व कर्मों में **पृथिवी च**=और विशाल हृदयान्तरिक्ष में **आसद्य**=स्थित होकर हे **अग्ने**=प्रकाश के प्रसारक विद्वन्! तू **अस्यां अन्तः**=इस प्रजा में **शेषे**=इस प्रकार निवास करता है **यथा**=जैसे कोई बालक **मातुः उपस्थे**=माता की गोद में शयन करता हो। तू प्रजाओं से दूर नहीं भागता। प्रजाओं में निवास करता हुआ तू अशान्ति अनुभव नहीं करता। २. तू इन प्रजाओं में ही स्थित हुआ **शिवतमः**=उनका अधिक-से-अधिक कल्याण करता है। अज्ञानवश गालियाँ देनेवालों को भी तू आशीर्वाद ही देता है।

भावार्थ—विद्वान् संन्यासी प्रजाओं में ज्ञान फैलाते हुए उनका अधिक-से-अधिक कल्याण करता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

शक्ति-लाभ व पाप से निवृत्ति

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्नऽइषायुषा। पुनर्नः पाह्यंहसः ॥४०॥

१. पिछले मन्त्रों में 'विरूप' को प्रभु ने लोकहित के उद्देश्य से प्रजाओं में ज्ञान-प्रचार का निर्देश किया था। 'विरूप' उस निर्देश को शिरोधार्य करके प्रभु से प्रार्थना करता है। प्रभु के निर्देश को मानने से वह 'वत्सप्री' बनता है और कहता है कि हे प्रभो! आप **पुनः**= फिर ऊर्जा, बल और प्राणशक्ति के साथ **निवर्त्तस्व**=मुझे प्राप्त होओ। आप शक्ति देंगे तभी मैं इस ज्ञान-प्रचार के कार्य को कर पाऊँगा। २. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक प्रभो! **पुनः**=फिर **इषा**=प्रेरणा से तथा **आयुषा**=दीर्घजीवन के वरदान के साथ मुझे प्राप्त होओ। आपकी प्रेरणा ही तो मुझे वह प्रकाश दिखाएगी जिसे मुझे औरों के प्रति देना है। ३. **पुनः**=फिर **नः**=मुझे **अंहसः**=पाप से **पाहि**=बचाइए। अपने इस दीर्घ जीवन में मैं पाप से बचा रहूँ। मैं स्वयं पाप में पड़ जाऊँगा तो औरों को क्या मार्ग दिखाऊँगा। आपकी कृपा से मैं विषयों के प्रति झुकाववाला न होऊँ।

भावार्थ—हम प्रभु से बल व प्राणशक्ति प्राप्त करें। प्रभु की प्रेरणा को सुनें। दीर्घजीवनवाले हों। पाप से सदा बचे रहें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

धारक-धन

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥४१॥

१. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक प्रभो! आप हमें **रय्या सह**=धन के साथ **निवर्त्तस्व**=प्राप्त होओ। संसार-यात्रा को चलाने के लिए धन आवश्यक है, परन्तु वह धन यदि प्रभु-स्मरण के साथ होता है तो हमें विषयों में फँसानेवाला नहीं होता, अतः 'वत्सप्री' उसी धन के लिए प्रार्थना करता है जो प्रभु-स्मरण से युक्त है। २. हे अग्ने! आप **विश्वतः परि**=सब

ओर से उस **धारया**=धन की धारा से **पिन्वस्व**=हमें प्राप्त हों जो **विश्वप्स्न्या**=सबको खिलानेवाली हो, अर्थात् मैं धन तो प्राप्त करूँ, परन्तु उसी धन को जो मुझे लोकहित के कार्य में अधिक श्रमशील बनाए। उस धन से मैं अपने भोग-साधनों को न बढ़ाकर दुःखियों का दर्द दूर करने में उसका विनियोग करनेवाला बनूँ। मैं पराश्रित न होकर स्वतन्त्रता से ज्ञान का प्रसार कर सकूँ।

भावार्थ—हम प्रभु-कृपा से पर्याप्त धन प्राप्त करें, जिससे निर्भीकता से ज्ञान का प्रसार करनेवाले बन सके। एवं, आदर्श उपदेशक वही है जो १. सबल है। २. प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला है। ३. दीर्घ जीवनवाला है। ४. पाप से बचा रहता है। ५. पर्याप्त धनवाला है, जिससे पराधीन न हो जाए। ६. इसका धन भोगों में विनियुक्त न होकर लोकहित के लिए व्यय होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

दीर्घतमाः

बोधा मेऽअस्य वचसो यविष्ठ मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वोऽअनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्देऽअग्ने॥४२॥

१. मन्त्र ४० तथा ४१ के अनुसार एक व्यक्ति अपने को आदर्श प्रचारक बनाकर प्रजाओं में ज्ञान का प्रसार करता है और तम=अज्ञान का (दृ विदारणे) विदारण करने के कारण यह 'दीर्घतमाः' नामवाला हो जाता है। यह प्रभु से कहता है कि हे **यविष्ठ**=बुराइयों को सर्वाधिक दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हे **स्वधावः**=(स्व+धा+वन्) आत्मधारण की शक्ति देनेवाले प्रभो! **मंहिष्ठस्य**=(दातृतम) अधिक-से-अधिक धनों के देनेवाले, अर्थात् आपसे प्राप्त कराये गये धनों को लोकहित में विनियुक्त करनेवाले और इस प्रकार **प्रभृतस्य**=प्रजाओं का प्रकृष्ट भरण करनेवाले मेरे **अस्य वचसो बोध**=इस वचन को आप अवश्य जानिए कि २. इस कार्य में लगे हुए मेरी **त्वः**=कोई एक तो **पीयति**=हिंसा करता है और **अनु**=पीछे सामान्यतः मृत्यु के बाद **त्वः**=कोई **गृणाति**=प्रशंसा भी करता है। आपके निर्देशानुसार मैं प्रजाओं में ही अपना स्थान बनाकर ज्ञान-प्रचार में लग गया हूँ, परन्तु मैं जिनके हित में लगा हूँ वे ही मुझे गालियाँ देते हैं—मेरी हिंसा पर उतारू हैं। कोई प्रशंसा भी करता है, परन्तु वैरियों की संख्या अधिक है—मेरी हिंसा करनेवाले बहुत हैं। ३. अतः मैं तो **अग्ने**=हे मार्गदर्शक प्रभो! **ते**=तेरा **वन्दारुः**=अभिवादन व स्तुति करनेवाला बनता हूँ और **तन्वम्**=इस प्रजारूप तेरे शरीर को **वन्दे**=नमस्कार करता हूँ। इस प्रजा के अन्दर भी मैं आपका ही रूप देखने का प्रयत्न करता हूँ, अतः उनसे की गई हिंसा से घबराता नहीं।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे शक्ति दीजिए कि मैं प्रजाओं के लिए अपने सर्वस्व को दे सकूँ, उनका प्रकृष्ट भरण करनेवाला बनूँ। वे हिंसा भी करें तो भी मैं उनमें आपका ही रूप देखने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—सोमाहुतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सोमाहुति

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्।
युयोध्यस्मद् द्वेषाꣳसि विश्वकर्मणे स्वाहा॥४३॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार दीर्घतमा जब सब प्रजाओं में प्रभु का रूप देखता हुआ उनके प्रति आदर की भावनावाला होकर प्रचार-कार्य में लगता है तब यह विनीतता को धारण करने के कारण 'सोम' कहलाता है। सोम (वीर्य) की रक्षा के कारण भी यह 'सोम' कहलाता है और अपने जीवन को अर्पित करने के कारण 'आहुति' होता है। इस प्रकार इसका नाम 'सोमाहुति' हो जाता है। इस सोमाहुति से प्रभु कहते हैं कि (१) **सः बोधि**=वह तू समझदार बन—ज्ञानी बन। ज्ञानी बनकर ही तो यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनेगा। २. **सूरिः**=विद्वान् तू (सु प्रेरणे) प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला हो। ३. **मघवा**=तू ज्ञान के ऐश्वर्यवाला अथवा (मघ=मख) यज्ञशील हो। ४. **वसुपते**=हे वसु के पति—ज्ञानैश्वर्य देनेवाले! तू **अस्मत्**=हमसे **द्वेषांसि**=द्वेषों को **युयोधि**=दूर कर अथवा प्रभु के प्रति जो अप्रीति की भावना है (द्विष् अप्रीतौ) उसे तू दूर करनेवाला हो, अर्थात् तू लोगों को प्रकृति-प्रवण न रहने देकर उन्हें प्रभु-प्रवण बनानेवाला हो। ५. **विश्वकर्मणे**=इस प्रकार लोकहित (विश्व-हितकर्मणे, मध्यमपदलोपः) के लिए कर्म करनेवाले के लिए **स्वाहा**=(सु आह) प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं। यह लोकहित करनेवाला व्यक्ति प्रशंसा प्राप्त करता है। इसके लिए सभी शुभ शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—प्रचारक ने स्वयं 'ज्ञानी, प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला, यज्ञ की वृत्तिवाला' बनना है। ज्ञानैश्वर्य प्राप्त करके ज्ञानैश्वर्य को देनेवाला बनना है। प्रजाओं में से द्वेष को दूर करके प्रेम का प्रसार ही इसका मुख्य ध्येय होना चाहिए। हमारे सब कर्म लोकहित के लिए हों। हमारा जीवन त्यागवाला व प्रशंसनीय हो।

ऋषिः—सोमाहुतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सत्य-कामना

पुनस्त्वाऽऽदित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः।
घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥४४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'सोमाहुति' ज्ञानी बना है। ज्ञान ही उसका धन है। इस ज्ञानरूप धन को वह प्रजा में बाँटता है, उसके ज्ञान का स्रोत सूखे नहीं, अतः वह सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहता है। मन्त्र में कहते है कि **त्वा**=तुझे **आदित्याः**=ब्रह्मज्योति का आदान करनेवाले **रुद्राः**=ब्रह्म के नाम के जप व ध्यान से वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले (रोरूयमाणो द्रवति) **वसवः**=नियमित जीवन से अपने निवास को उत्तम बनानेवाले ज्ञानी लोग **पुनः समिन्धताम्**=फिर-फिर ज्ञान से समिद्ध करनेवाले हों। इनके सम्पर्क में आने से तेरी ज्ञान-ज्योति सदा बढ़ती रहे। **वसुनीथ**=हे ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले विद्वन्! **ब्रह्माणः**=ब्रह्मवेत्ता लोग **यज्ञैः**=यज्ञों से—अपने सम्पर्कों से तुझे समिद्ध व दीप्त बना डालें, अथवा यज्ञों के द्वारा तेरे जीवन को उज्ज्वल बना दें। ३. **घृतेन**=घृत के द्वारा **त्वम्**=तू **तन्वम्**=अपने शरीर को **वर्धयस्व**=बढ़ा। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' नैर्मल्य व दीप्ति का यह घृत तेरे शरीर में लगेगा। 'घृतमायुः' इस वाक्य के अनुसार घृत का ठीक प्रयोग दीर्घजीवन का कारण है। ३. **यजमानस्य** =यज्ञ के स्वभाववाले तेरी **कामाः**=कामनाएँ **सत्याः सन्तु**=सत्य हों, अर्थात् तेरी इच्छाएँ असत्य न हों। तू सदा शुभ कामनाओं का करनेवाला हो। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष की सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, अतः **सत्याः**=तेरी इच्छाएँ सत्य हों, अर्थात् पूर्ण हों।

भावार्थ—१. ज्ञानीपुरुष ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर अपने ज्ञान को सदा बढ़ाये, २. घृत आदि सात्त्विक वस्तुओं के प्रयोग से अपने शरीर व जीवन की वृद्धि करनेवाला हो तथा ३. यह कभी असत्य कामनाओं को करनेवाला न हो।

ऋषिः—सोमाहुतिः। देवता—पितरः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वासना-विनाश

अपे॑त॒ वी॒त॒ वि च॑ सर्प॒ता॒तो॒ येऽत्र॒ स्थ पु॑रा॒णा ये च॒ नूत॑नाः।
अदा॑द्य॒मो॒ऽव॒सानं॑ पृथि॒व्याऽअक्र॑न्नि॒मं पि॒तरो॑ लो॒कम॒स्मै॥४५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'सत्याः सन्तु.......कामाः' पर थी। हमारी इच्छाएँ सत्य हों, असत्य न हों। उसी के स्पष्टीकरण से प्रस्तुत मन्त्र प्रारम्भ होता है। यहाँ मन्त्र का ऋषि 'सोमाहुति' मन में उत्पन्न होनेवाली अशुभ इच्छाओं व वासनाओं से कहता है कि **ये**=जो भी **अत्र**=यहाँ—मेरे हृदय में **पुराणाः**=देर से चली आ रही अशुभ इच्छाएँ हैं **च**=और **ये**=जो **नूतनाःस्थ**=नवीन वासनाएँ हैं वे सब **अतः अप इत**=यहाँ से दूर चली जाओ। **च**=और **वि+इत**=विविध दिशाओं में भाग जाओ। **विसर्पत**=इधर-उधर विकीर्ण हो जाओ। २. **यमः**=जीवन को नियम में रखनेवाला व्यक्ति **पृथिव्याः**=शरीर से **अवसानम्**=वासनाओं की समाप्ति को **अदात्**=दे, अर्थात् नियमित जीवन के द्वारा इन वासनाओं का अन्त कर दे। वासनाओं को समाप्त करने का प्रकार यही है कि हम अपने जीवन की क्रियाओं को बड़ा नियमित कर लें। यह नियमित जीवन ही संयम को सिद्ध करेगा। ३. **पितरः**=ज्ञान देनेवाले लोग **अस्मै**=इस संयमी पुरुष के लिए **इमं लोकं अक्रन्**=इस लोक को करते हैं। यह संसार संयमी पुरुष के लिए है, वही इसका आनन्द उठा सकता है। असंयमी पुरुष को तो यह संसार खा जाता है।

भावार्थ—हम जीवन से वासनाओं को दूर भगा दें। नियमित जीवन से ही वासना दूर होती है। यह संसार संयमी पुरुष के लिए ही सुखद है।

ऋषिः—सोमाहुतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान व सेवा

सं॒ज्ञान॑मसि काम॒धर॑ण॒ं मयि॑ ते काम॒धर॑णं भूयात्।
अ॒ग्नेर्भस्मा॑स्य॒ग्नेः पुरी॑षमसि॒ चित॑ स्थ परि॒चित॑ऽऊर्ध्व॒चितः॑ श्रयध्वम्॥४६॥

१. प्रभु गत मन्त्र के अनुसार वासनाओं को दूर करनेवाले सोमाहुति से कहते हैं कि **संज्ञानम् असि**=तू उत्तम ज्ञानवाला है। उस ज्ञानवाला है जिस ज्ञान से देवलोग परस्पर प्रेमपूर्वक मिलकर चलते हैं, जिस ज्ञान से वासना 'प्रेम' में परिवर्तित हो जाती है। २. **कामधरणम्**=काम का तू धरणकर्त्ता है—काम को तू नियन्त्रणपूर्वक अपने में धारण करनेवाला है। **मयि**=मुझ प्रभु में **ते**=तेरा **कामधरणम्**=काम (इच्छा) का धारण **भूयात्**=हो, अर्थात् तू मेरी प्राप्ति की कामनावाला बन। जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति हो। सब क्रियाएँ इसी उद्देश्य से की जाएँ। ३. **अग्नेः**=अग्रेणी प्रभु का तू **भस्म**=दीपन करनेवाला **असि**=है, अर्थात् तू अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु की ज्योति को जगाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। ४. **अग्नेः पुरीषम् असि**=तू उस प्रभु के (पृ पालनपूरणयोः) पालनात्मक कर्म को करनेवाला है। ५. इस पालनात्मक कर्म को करनेवाले तुम लोग **चितःस्थ**=ज्ञानी हो। ज्ञानी पुरुष ही ठीक

पालन कर पाता है, अज्ञान में तो वह भला करना चाहता हुआ भी बुरा कर बैठता है। ६. **परिचितः**=तुम लोगों के परिचयवाले बनते हो, उनकी मनोवृत्ति को समझते हो। मनोविज्ञान को न समझनेवाले व्यक्ति कल्याण करने के प्रकार में ग़लती कर जाते हैं। ७. **ऊर्ध्वचितः**= उत्कृष्ट ज्ञानवाले हो, अथवा ज्ञान के द्वारा लोगों को उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त करानेवाले हो। ८. **श्रयध्वम्**=(श्रिञ् सेवायाम्) तुम लोगों की सेवा करनेवाले बनो। लोकहित ही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य हो।

भावार्थ—ज्ञानी बनो। प्रभु-प्राप्ति की कामना करो। ज्ञानी बनकर लोकसेवक बनो।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विश्वामित्र

अयꣳसोऽअग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः।
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः॥४७॥

१. गत मन्त्र के 'श्रयध्वम्'—'सेवा करो'—इस उपदेश को क्रिया में लानेवाला सोमाहुति प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन जाता है। यह सभी के साथ स्नेह करता है। २. **अयम्**=यह **सः अग्निः**=वह नेता होता है, **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **जठरे सुतम्**=जठर में उत्पन्न हुए **सोमम्**=सोम को **दधे**=धारण करता है। सोम की उत्पत्ति तो सभी में होती है, परन्तु उसका धारण सभी में नहीं होता। इसका धारण तो प्रभु-कृपा से ही होता है। प्रभु का स्मरण हमें वासनाओं से ऊपर उठाता है और हम सोम को सुरक्षित कर पाते हैं। इस सोमरक्षा से यह व्यक्ति भी इन्द्र=शक्तिशाली होता है। ३. **वावशानः**=सोम-रक्षा से शक्तिशाली बना हुआ यह सबका भला चाहनेवाला होता है (वश् कान्तौ) ४. यह अपने अन्दर **सहस्रियम्**=(स हस्) सदा उल्लासमय **वाजम्**=शक्ति को **दधे**=धारण करता है। सोम-रक्षा का यह परिणाम क्योंकर न होगा! ५. इस **अत्यं न सप्तिम्**=सतत गतिशील घोड़े के समान व्यक्ति को प्रभु **दधे**=धारण करते हैं। यह प्रभु की प्रजा का धारण करता है और प्रभु इसका धारण करते हैं। धारण के काम में लगा हुआ यह व्यक्ति सतत गतिशील होता है। ६. **ससवान्**=(ससं-अन्न—नि० २।६) यह सदा सस्य का सेवन करनेवाला होता है। 'विश्वामित्र' होता हुआ यह मांसाहार कर ही कैसे सकता है? ७. **जातवेदः**=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें, ऐसा यह व्यक्ति **स्तूयसे**=सदा स्तुत होता है, लोग इसकी प्रशंसा ही करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हम सोम को सुरक्षित करनेवाले बनें, आनन्दमय शक्ति को धारण करें। अन्नसेवी बनकर ज्ञानी बनें और स्तुत्य जीवनवाले बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

वह ज्ञान (सः भानुः)

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥४८॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार अन्नभोजन से यह विश्वामित्र स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनता है। उसी बात का ध्यान कराते हुए प्रभु इस विश्वामित्र से कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रजावर्ग की उन्नति के साधक! **यत्**=जो **ते**=तेरा **दिवि वर्चः**=मस्तिष्क में तेज

है, अर्थात् ज्ञान का प्रकाश है और **पृथिव्याम्** (पृथिवी शरीरम्)=शरीर में जो तेरा तेज है। २. **यत्**=जो तेज **ओषधीषु अप्सु**=ओषधियों व जलों के कारण है, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व पानी के सेवन से जो तेज उत्पन्न हुआ है। ३. **येन**=जिस तेज से **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयाकाश को हे **यजत्र**=यज्ञों द्वारा अपना त्राण करनेवाले! **आततन्थ**=तू विस्तृत करता है, अर्थात् जिस तेज के कारण तू अपने हृदय को विशाल बनाता है, ४. **सः भानुः**=वह ज्ञान का प्रकाश **त्वेषः**=(त्विष दीप्तौ) तेरे शरीर को तेजस्वी बनानेवाला है **अर्णवः**=गतिवाला है (ऋ गतौ), अर्थात् तुझे क्रियामय जीवनवाला बनाता है तथा **नृचक्षाः**=मनुष्यों को दृष्टि देनेवाला है—उन्हें अपना मार्ग दिखानेवाला है अथवा मनुष्यों का पालन (look after) करनेवाला है।

भावार्थ—वनस्पतियों व जलों का सेवन मनुष्य के शरीर व मस्तिष्क दोनों को तेजस्वी बनाता है, उनके हृदयों को भी विशाल बनाता है। यह सात्त्विक भोजन वह दीप्ति देनेवाला है जो दीप्ति हमारे शरीर को तेजस्वी, क्रियामय व लोकहित-परायण बनाती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

परस्तात्-अवस्तात्

अग्ने॑ दि॒वोऽअर्ण॒मच्छा॑ जिगा॒स्यच्छा॑ दे॒वाँ२॥ऽऊ॑चिषे॒ धिष्ण्या॒ ये।
या रो॑च॒ने प॒रस्ता॒त् सूर्य॑स्य॒ याश्चा॒वस्ता॑दु॒प॒तिष्ठ॑न्त॒ऽआपः॑॥४९॥

१. हे **अग्ने**=प्रजाओं की उन्नति के साधक ज्ञानिन्! तू **दिवः अर्णम्**=मस्तिष्क के जल की, अर्थात् ज्ञान की **अच्छ जिगासि**=ओर आता है, अर्थात् अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करता है। २. इस ज्ञान-प्राप्ति के लिए तू **देवान् अच्छ जिगासि**=देवों की ओर जाता है, विद्वानों के सम्पर्क में आता है। उन विद्वानों के सम्पर्क में आता है **ये**=जो **धिष्ण्या**=(दिधिषन्ति ब्रुवन्ति) ज्ञान के प्रतिपादन में उत्तम हैं। इन विद्वानों द्वारा **ऊचिषे** =ज्ञान दिया जाता है। ये ज्ञानी तुझे ज्ञान देते हैं। ३. ये ज्ञानी वे हैं **याः**=जो **आपः**=आप्त पुरुष होते हुए **रोचने**=ज्ञान द्वारा अन्धकार को दूर करके दीप्त करने में **सूर्यस्य परस्तात्**=सूर्य से भी परे हैं, अर्थात् सूर्य भौतिक संसार को उतना प्रकाशमय नहीं बनाता जितना कि ये आत्मिक संसार को प्रकाशमय बना देते हैं। ४. **याः च**=और ये ज्ञानी वे हैं जो **अवस्तात्**=अपने से निचले स्तरवाले लोगों को **उपतिष्ठन्ते**=सेवित करते हैं, अर्थात् जिन्हें सामान्यतः निचले स्तर पर समझा जाता है उन लोगों की ये सेवा करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग ज्ञान के दृष्टिकोण से सूर्य से भी ऊँचे होते हैं और सेवा करने के लिए अपने मापक को छोड़कर छोटे कहे जानेवाले लोगों में विचरते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

गुणाष्टक

पु॒री॒ष्या॒सोऽअ॒ग्नयः॑ प्राव॒णेभिः॑ स॒जोष॑सः।
जु॒षन्तां॑ य॒ज्ञम॒द्रुहो॑ऽनमी॒वाऽइषो॑ म॒हीः॥५०॥

१. ये विश्वामित्र लोग **पुरीष्यासः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण के कार्य में उत्तम होते हैं। लोकहित के कार्यों में इन्हें आनन्द का अनुभव होता है। २. **अग्नयः**=ये अग्रेणी होते हैं—अपने को उन्नत करते हुए औरों के लिए मार्गदर्शक होते हैं। ३. **प्रावणेभिः**=(प्रुङ्

गतौ) गतिशील व्यक्तियों के साथ **सजोषसः**=मिलकर प्रीतिपूर्वक सेवा-कार्य करनेवाले होते हैं। 'ये औरों के साथ मिलकर कार्य न कर सकें' ऐसा नहीं। जहाँ भी लोगों में उत्साह व गति देखते हैं उनके साथ इनका पूर्ण सहयोग होता है। ४. ये लोग सदा **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्मों का ही **जुषन्ताम्**=सेवन करें। इनका जीवन ही यज्ञमय बन जाए। ५. **अद्रुहः**=ये किसी से द्रोह नहीं करते। इनके मन में किसी की हानि की भावना नहीं होती। ६. **अनमीवाः**=मन में हानि व हिंसा की भावना न होने से ही इनके शरीर पूर्ण नीरोग होते हैं, इनके शरीर में आधि-व्याधि नहीं होती। इनके शरीर अमीव-रोग से आक्रान्त नहीं होते। ७. ये स्वस्थ मन व स्वस्थ शरीरवाले व्यक्ति **इषः**=सभी को सुन्दर प्रेरणा देते हैं। सभी का उत्तमता से मार्ग-दर्शन करते हैं और ८. **महीः**=(मह पूजायाम्) ये सदा प्रभु की पूजा करनेवाले होते हैं। प्रभु-पूजा ही इनके जीवनों को सुन्दर बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हम भी 'पुरीष्य-अग्नि-सजोषस्-यज्ञसेवी-अद्रुह-अनमीव-इष व मही' बनने का प्रयत्न करें। इन ८ गुणों का उपार्जन करके हम प्रभु-सम्पर्क के अधिकारी बनें। हमारे लिए ये ही योगमार्ग के आठ अङ्ग बन जाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेदवाणी

इडामग्ने पुरुदंसꣳसनिं गोः शश्वत्तमꣳहवमानाय साध।

स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥५१॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाश प्रदान करनेवाले परमात्मन्! **हवमानाय**=इस पुकारनेवाले—प्रार्थना करनेवाले विश्वामित्र के लिए **इडाम्**=वेदवाणी को **साध**=सिद्ध कीजिए, जो वेदवाणी (क) **पुरुदंसम्**=पालक व पूरक कर्मों का प्रतिपादन करती है (पुरूणि दंसानि कर्माणि या)। वस्तुतः वेदवाणी में ही तो सब कर्त्तव्य कर्मों का प्रतिपादन हुआ है। (ख) **सनिं गोः**=जो ज्ञान-रश्मियों को देनेवाली है। वेद द्वारा सारा ज्ञान व विज्ञान प्राप्त कराया जाता है। (ग) **शश्वत्तमम्**=जो वेदज्ञान अविनश्वर है अथवा (शश प्लुतगतौ) अधिक-से-अधिक क्रियाशील बनानेवाला है। २. हे प्रभो! यह वेदवाणी **नः**=हमें **सूनुः**=उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाली हो **तनयः**=हमारे शरीर की शक्तियों का विस्तार करनेवाली **स्यात्**=हो। **विजावा**=विविध शक्तियों के प्रादुर्भाववाली हो। इससे मानस व बौद्ध शक्तियों का भी उत्तम विकास हो। ३. हे प्रभो! **सा ते सुमतिः** =वह आपकी कल्याणी मति **अस्मे भूतु**=हमें भी प्राप्त हो। हम भी इस वेदज्ञान को प्राप्त करके शरीर, मन व बुद्धि का विकास करनेवाले हों।

भावार्थ—वेदज्ञान उत्तम कर्मों का प्रतिपादक है, ज्ञान-विज्ञान को बढ़ानेवाला है तथा हमें क्रियाशील बनानेवाला है। इसे प्राप्त करने से हम शारीर, मानस व बौद्धिक उन्नति करते हुए 'त्रिविक्रम' बनते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रचारक

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।

तं जानन्नग्नऽआ रोहाथा नो वर्धया रयिम्॥५२॥

१. **अयम्**=गत मन्त्र के अनुसार त्रिविध उन्नति करनेवाला **ते योनिः**=तेरा उत्पत्ति-स्थान व घर बनता है। इसके जीवन में प्रभु के प्रकाश का उदय होता है। २. **ऋत्वियः**=यह ऋतु

में होनेवाला होता है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को अपने समय पर करता है। अथवा ऋतु के अनुकूल कार्यों को करनेवाला होता है। ३. हे प्रभो! यह 'विश्वामित्र' वह है **यतः**=जिससे **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**=चमकते हो। आपका यह बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादन करता है और वास्तव में तो इसका जीवन ही आपका प्रकाश करता है। ४. हे **अग्ने**=नेतृत्व करनेवाले विद्वन्! **तम्**=उस प्रभु को **जानन्**=जानते हुए आप **आरोह** =उन्नति-पथ पर आरूढ़ होओ। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को निश्चय से उन्नत करता है। ५. हे विद्वन्! स्वयं उन्नत होकर **अथ**=अब **नः**=हमारी **रयिम्**=ज्ञान-सम्पत्ति को **वर्धय**=बढ़ाइए।

भावार्थ—हमारा हृदय प्रभु के प्रकाशवाला हो। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को उन्नत करे। स्वयं उन्नत होकर हम औरों की ज्ञान-सम्पत्ति को भी बढ़ाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

चित्-परिचित् पत्नी

चिद॑सि तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ।

परि॒चिद॑सि तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ॥५३॥

१. घर में पत्नी भी ज्ञानादि प्राप्त करके प्रभु-स्मरणपूर्वक ध्रुव निवासवाली होती हुई लोककल्याण करनेवाली हो। उसके लिए कहते हैं कि **चित् असि**=तू संज्ञानवाली है—उत्तम ज्ञान को प्राप्त है। २. **तया देवतया**=उस सर्वव्यापक (तन्=विस्तार) दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के साथ **अङ्गिरस्वत्**=प्राणशक्तिवाली—एक-एक अङ्ग में रसवाली होती हुई तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रह। प्रभु से दूर न होने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारे अङ्ग सूखे काठ की भाँति नहीं हो जाते। प्रभु-स्मरण हमें जीवन में ध्रुवता प्राप्त कराता है, हमारा मन डाँवाँडोल नहीं रहता। ३. **परिचित् असि**=घर में सभी के स्वभाव को पहचाननेवाली है। ठीक बर्ताव के लिए स्वभाव को समझना आवश्यक होता है। स्वभाव को समझकर उत्तमता से बरतती हुई तू **तया देवतया**=उस सर्वव्यापक प्रभु के साथ रहती है—प्रभु का स्मरण बनाये रखती है। ऐसी तू **अङ्गिरसवत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाली होती हुई **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रह।

भावार्थ—पत्नी संज्ञानवाली तथा स्वभाव के परिज्ञानवाली हो, प्रभु का स्मरण करनेवाली हो, जिससे शक्तिशाली बनी रहे। ध्रुवता से रहनेवाली हो। घर की मर्यादाओं का पालन करती हुई वह गृहस्थ की निरन्तर उन्नति का कारण बने।

ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

लोकं पृण, छिद्रं पृण

लो॒कं पृ॑ण छि॒द्रं पृ॒णाथो॑ सीद ध्रु॒वा त्वम् ।

इ॒न्द्रा॒ग्नी त्वा॒ बृह॒स्पति॑र॒स्मिन् योना॑वसीषदन् ॥५४॥

१. हे पत्नि! तू **लोकं पृण**=लोक को तृप्त करनेवाली हो। **छिद्रं पृण**=दोष को दूर करनेवाली हो—छेद को भर देनेवाली हो। आदर्श पत्नी अपने व्यवहार से असन्तोष पैदा करने का कारण नहीं बनती। घर में दोषों की वृद्धि नहीं होने देती। २. **अथ**=निश्चय से **त्वम्**=तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर इस घर में बैठ। ध्रुवता के लिए दो बातें आवश्यक हैं—वह अपने व्यवहार से सभी को अप्रसन्न न कर ले तथा दोषों को ही न उघाड़ती फिरे। अपने मधुर

शब्दों व व्यवहारों से सभी को सन्तुष्ट रक्खे तथा दोषों को दूर करने का प्रयत्न करे। ३. **इन्द्राग्नी बृहस्पतिः**=इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति **त्वा**=तुझे **अस्मिन् योनौ**=इस घर में अथवा सभी के उत्पत्ति स्थान प्रभु में **असीषदन्**=स्थित करें—बिठाएँ। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रियता की सूचना देता है—इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही 'इन्द्र' है। 'अग्नि' शब्द अग्रेणी को कहता हुआ अग्रगति=progress का बोध करा रहा है। 'बृहस्पति' ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का सूचक है। 'बृहस्पति' ब्रह्मणस्पति है—वेदज्ञान का पति है। एवं, पत्नि जितेन्द्रिय, उन्नति की भावनावाली तथा उच्च ज्ञान को प्राप्त करनेवाली होगी तभी वह घर में स्थिरतापूर्वक निवासवाली हो सकेगी।

भावार्थ—१. पत्नी घर में सभी को उत्तम भोजनादि व व्यवहार से तृप्त करनेवाली हो। २. दोषों का उद्घाटन न करती फिरे। ३. जितेन्द्रिय हो। ४. उन्नति की भावनावाली हो। तथा ५. ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करे।

ऋषिः—प्रियमेधाः। देवता—आपः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सूददोहसः-पृश्नयः

ताऽअस्य सूददोहसः सोमꣳश्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः॥५५॥

गत मन्त्र में वर्णन किये जा रहे पत्नी के कर्त्तव्यों के विषय में ही कहते हैं कि **ताः**=वे **अस्य**=इस घर की—जिस घर में उन्होंने स्थिर होकर रहना है और जिस घर का उन्होंने निर्माण करना है **सूददोहसः**=पाचिका व दोहन करनेवाली हैं, अर्थात् भोजन बनाने व गोदोहन के कार्य को अपने पास ही रखेंगी। भोजन पर सब घरवालों का स्वास्थ्य निर्भर है और गौ को जितने प्रेम से पाला जाएगा उतना ही वह अधिक व उत्तम दूध देगी। २. ये गृहिणियाँ **सोमं श्रीणन्ति**=सौम्य भोजन का ही परिपाक करती हैं। आग्नेय भोजनों से क्रोधादि में वृद्धि होती है, मनोवृत्ति राजस् बनती है, अतः समझदार पत्नी सौम्य भोजन ही पकाती है। ३. पाचन व दोहन की क्रियाओं को करनेवाली गृहिणियाँ इन्हीं कार्यों में ही नहीं उलझी रह जातीं, अपितु **पृश्नयः**=(संस्पृष्टो भासा—नि० २।१४) ये ज्ञान की ज्योति से युक्त होती हैं। घर के कार्यों से निपटते ही ये स्वाध्याय में प्रवृत्त होती हैं और इस प्रकार निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाली होती हैं। ४. **देवानां जन्मन्**=दिव्य गुणोंवाले सन्तानों को जन्म देने के निमित्त ये **त्रिषु विशः**=तीनों में प्रवेश करनेवाली होती हैं। शरीर, मन व बुद्धि तीनों का ही ये विकास करती हैं। नीरोगता के लिए शरीर का विकास, निर्मलता के लिए मन का विकास और बुद्धि की तीव्रता के लिए मस्तिष्क का विकास आवश्यक है। त्रिविध उन्नति को प्राप्त माता ही 'त्रिविक्रम' सन्तान को जन्म दे पाएगी। ५. इस प्रकार त्रिविध उन्नति में लगी हुई माता **दिवः आरोचने**=मस्तिष्करूप द्युलोक के आरोचन में प्रवृत्त होती है। यह ज्ञान-विज्ञान से अपने मस्तिष्क को दीप्त करती है। इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमकता है तो विज्ञानरूप नक्षत्र भी इसके आरोचन (adornment) का कारण बनते हैं।

भावार्थ—पत्नी ने घर के कार्यों के साथ ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित करने का प्रयत्न करना है। पत्नी पकाये, दूध दुहे और पढ़े। दिव्य सन्तानों के जन्म देने का यही उपाय है कि शरीर, मन व बुद्धि के विकास की ओर ध्यान दिया जाए। मस्तिष्करूप द्युलोक को

आरोचित करना पत्नी का मुख्य उद्देश्य हो। इसी उद्देश्य से वह सदा सौम्य भोजनों का परिपाक करे। ज्ञान-प्राप्ति को मुख्यता देनेवाली यह सचमुच 'प्रियमेधाः' है।

ऋषिः—सुतजेतृमधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

समुद्रव्यचसं प्रभु

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥५६॥

१. गत मन्त्र की मूल भावना यह है कि एक आदर्श गृहिणी ने अपना मन 'पाचन, गोपालन व पठन' में लगाना है। इस प्रकार उत्तम इच्छाओं के बनाये रखने के लिए मन का विजय अत्यन्त आवश्यक है। मनो-विजय के बिना यह सम्भव नहीं। मन का जीतनेवाला ही 'जेता' है। यह सदा **माधुच्छन्दस्**=अत्यन्त उत्तम इच्छाओंवाला होता है। २. ऐसा बना रहने के लिए यह प्रभु-स्तवन करता है और कहता है कि **विश्वः गिरः**=वेद की सब वाणियाँ **इन्द्रम्**=परमात्मा को **अवीवृधन्**=बढ़ाती हैं—उस प्रभु की स्तुति करती हैं जो प्रभु ३. **समुद्रव्यचसम्**=सदा आनन्दमय है (स+मुद्) तथा अधिक-से-अधिक **सम्**=विस्तारवाले हैं। वस्तुतः 'यो वै भूभा तत्सुखम्'=विस्तार ही आनन्द है। ४. **रथीनाम्**=रथवालों में **रथीतमम्**=सर्वोत्तम रथवाले हैं। इस प्रभु के रथ में बैठकर ही हम भी अपनी जीवन-यात्रा को सहज में पूरा कर सकते हैं। ५. **वाजानां पतिम्**=वे प्रभु सब वाजों=शक्तियों व ज्ञानों के **पतिम्**=पति हैं। वे प्रभु सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। हमारा भला करने में वे पूर्ण समर्थ हैं ६. **सत्पतिम्**=वे प्रभु सदा सज्जनों के रक्षक हैं। हम सत् बनें प्रभु हमारे रक्षक होंगे। 'सत्' बनने का संकेत यह है कि (क) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनो। (ख) **समुद्रव्यचसम्**=सदा आनन्द में रहो तथा दिल को छोटा न करो। (ग) **रथीतमम्**=इस शरीर को प्रभु का दिया हुआ रथ समझें और इसे ठीक रखते हुए इसके द्वारा पार पहुँचने पर पीड़ित लोगों का दुःख दूर करने में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—इस वासनामय जगत् में प्रभु का नाम-स्मरण ही हमें जेता बनाता है। उस प्रभु को ही हम अपना रथ जानें। वे प्रभु ही सत्पति हैं, वाजपति हैं। प्रभु-सम्पर्क से ही हमें शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

एकत्व का संकल्प

समितꣳसं कल्पेथाꣳसंप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ।
इषमूर्जमभि संवसानौ॥५७॥

१. 'प्रभु का स्तवन करते हुए ये पति-पत्नी क्या करें?' प्रभु कहते हैं कि **समितम्**=सं इतम्=मिलकर चलने का **संकल्पेथाम्**=संकल्प करें। इनके कर्म कभी विरोधी न हों। २. **संप्रियौ** =ये परस्पर उत्तम प्रेमवाले हों। ३. **रोचिष्णू**=संसार में शोभावाले हों। परस्पर प्रेम होने पर ही इनकी शोभा होती है। ४. **सुमनस्यमानौ**=सदा उत्तम मनवालों की भाँति आचरण करनेवाले, शुभ चिन्तन करनेवाले तुम होओ। ५. इस मन की उत्तमता के लिए (क) **इषम्**=अन्न को तथा **ऊर्जम्**=रस को **अभिसंवसानौ**=(अभ्यवहरन्तौ—उ०) सेवन करनेवाले बनो। अन्न-रस का सेवन ही हमें धर्म में स्थिर गति प्राप्त कराता है। आहारशुद्धि सत्त्वशुद्धि का कारण है। अथवा (ख) **इषम्**=उस प्रभु की प्रेरणा को तथा **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति

को अभिसंवसानौ=सम्यक्तया धारण करनेवाले बनो। उस प्रभु की प्रेरणा को सुनो। उसके अनुसार चलने से तुम्हें बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा'=उत्तम इच्छाओंवाले पति-पत्नी १. मिलकर चलते हैं २. परस्पर प्रेमवाले होते हैं ३. शोभा देनेवाले कार्यों को ही करते हैं ४. उत्तम मनवाले होते हैं ५. अन्न-रस का सेवन करते हैं अथवा प्रभु की प्रेरणा को सुनकर बल व प्राणशक्ति को धारण करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगुपरिष्टाद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

मनों, व्रतों व चित्तों की एकता

सं वां मनांꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।

अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं नऽइषमूर्जं यजमानाय धेहि॥५८॥

१. **वाम्**=तुम दोनों के **मनांसि**=मनों को **सम् आकरम्**=सङ्गत करता हूँ। तुम्हारे मन मिले हुए हों। उनमें परस्पर विरोध व वैमनस्य न हो। २. **वाम्**=तुम दोनों के **व्रता**=व्रतों को **सम् आ अकरम्**=एक करता हूँ। **'नियमः पुण्यकं व्रतम्'**=नियम ही व्रत हैं—दोनों के नियम एक-से हों। यदि एक-दूसरे के नियम परस्पर विरुद्ध होंगे तो घर कैसे चल पाएगा? ३. उ=और **चित्तानि**=तुम्हारे चित्तों को **सम् आकरम्**=मेलवाला करता हूँ। ४. अब पति के लिए विशेषरूप से कहते हैं कि हे **अग्ने**=सब घर की उन्नति करनेवाले! **पुरीष्यम्**=पालन करनेवालों में उत्तम! **त्वम्**=तू **नः अधिपाः**=हम सब घरवालों का अधिष्ठाता व रक्षा करनेवाला **भव**=हो। 'पति' शब्द का अर्थ ही रक्षा करनेवाला है। इसने अपने पति नाम को चरितार्थ करने के लिए गृहरक्षा के भार को अपने कन्धे पर लेना है। **यजमानाय**=अपने सम्पर्क में आनेवाले के लिए तू **इषम्**=अन्न को **ऊर्जम्**=रस को **धेहि**=धारण करनेवाला बन। घर के सभी सभ्यों को उचित खान-पान प्राप्त कराने का बोझ गृहपति के कन्धों पर ही होता है। घर में पत्नी है, सन्तान हैं, माता-पिता व अन्य आये-गये जो भी बन्धु हैं, सभी के भोजन का भार इसी ने वहन करना है। **यज**=(सङ्गतीकरण)

भावार्थ—पति-पत्नी के मन, व्रत व चित्त मिले हुए हों। पति 'अग्नि व पुरीष्य' होता हुआ गृह-रक्षक बने। घर में किसी को खान-पान में कमी न रह जाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

शिव-ही-शिव

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२॥ऽअसि।

शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः॥५९॥

पिछले मन्त्र की भावना को ही विस्तार से कहते हैं—१. **अग्ने**=हे घर की उन्नति के साधक पुरुष! **त्वम्**=तू **पुरीष्यः**=पालन करनेवालों में उत्तम है। २. **रयिमान्**=धनवाला है। बिना धन के यह पालन कैसे कर सकेगा? ३. **पुष्टिमान् असि**=तू पुष्टिवाला है। स्वयं निर्बल होने पर वह औरों के पालन के बोझ को अपने कन्धों पर कैसे ले सकता है? ४. तू **सर्वाः दिशः शिवाः कृत्वा**=सब दिशाओं को कल्याणमय करके, अर्थात् सब दृष्टिकोणों से घर का कल्याण सिद्ध करके **इह**=यहाँ **स्वं योनिम्**=अपने घर में **आसदः**=आसीन हो। खान-पान, वस्त्र-शिक्षा व घर की अन्य सब आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से घर में किसी

प्रकार की कमी न हो। यह सब दिशाओं का शिव करना है। यदि कोई बच्चा भूख से रो रहा हो, दूसरा ठण्ड में वस्त्राभाव से ठिठुर रहा हो और कोई बीमारी में औषध न मिल सकने से परेशान हो और चौथा स्कूल की फ़ीस के लिए आग्रह कर रहा हो तो यह घर तो सब दिशाओं में अशिव-ही-अशिववाला हो जाएगा। घर को मङ्गलमय बनाना पति का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

भावार्थ—गृह के मुखिया को 'रयि व पुष्टिमान्' होना चाहिए, जिससे घर में सर्वत्र शिव-ही-शिव हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का बनने का उपाय

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।

मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥६०॥

प्रभु कहते हैं कि १. **भवतं नः**=हे पति-पत्नी तुम दोनों हमारे बनकर रहो। २. हमारे बनने का उपाय यह है कि तुम **समनसौ**=समान मनवाले होओ। तुम्हारी इच्छाएँ एक-सी हों। दो पात्रों के जलों के मिलने की भाँति तुम्हारे मन मिल जाएँ। ३. तुम **सचेतसौ**=एक ही इष्टदेव का ध्यान करनेवाले होओ। तुम्हारा ज्ञान एक-सा हो। ४. **अरेपसौ**=तुम दोषरहित होकर क्रमशः पत्नीव्रत व पतिव्रत के पालन करनेवाले बनो। ५. अपने इस गृहस्थ जीवन में **यज्ञं मा हिंसिष्टम्**=यज्ञ की हिंसा न करो। तुम्हारा यज्ञ निर्विघ्न व अविच्छिन्न बना रहे। ६. **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक प्रभु को **मा**=मत हिंसित करो। प्रभु को भूलकर अपने को ही यज्ञों का करनेवाला मत समझ बैठो। ये सब उत्तम कार्य तो तुम्हारे माध्यम से प्रभु ही कर रहे हैं। ७. **जातवेदसौ** (वेदस्=wealth)=गृहस्थ के सञ्चालन के लिए उत्पन्न किये हुए धनवाले बनो, अर्थात् स्वयं पुरुषार्थ से धन कमानेवाले बनो। ८. **शिवौ भवतम्**=धन कमाकर लोककल्याण करनेवाले बनो। धन के मद में औरों का अशुभ न करो। ९. ऐसा करते हो तो **अद्य**=आज तुम **नः**=हमारे हुए हो। प्रभु का बनने के लिए 'समनसौ, सचेतसौ, अरेपसौ, यज्ञाहिंसकौ, यज्ञपतिस्मर्तारौ, जातवेदसौ व शिवौ' बनना है।

भावार्थ—प्रभु के वे ही बनते हैं जो पति-पत्नी समान मनवाले, समान चित्तवाले, निर्दोष, यज्ञशील, प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करनेवाले, धन को उत्पन्न करनेवाले व कल्याणकर होते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—पत्नी। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पत्नी-पति एक-दूसरे का ध्यान करें

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳस्वे योनावभारुखा।

तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु॥६१॥

पत्नी के लिए कहते हैं कि १. **उखा**=जिसके हृदय से वासना का उत्खनन हो गया है (उत्खन्यते) अर्थात् जिसका हृदय पवित्र है, वह **पृथिवी**=विशाल हृदयवाली पत्नी **पुरीष्यम्**=पालन करनेवालों में उत्तम **अग्निम्**=घर की उन्नति के साधक पति को **स्वे योनौ**=अपने घर में इस प्रकार उत्तम भोजनादि से **अभाः**=भृत व पोषित करती है **इव**=जैसे **माता पुत्रम्**=माता पुत्र को। माता पुत्र का अधिक-से-अधिक ध्यान करती है, इसी प्रकार पत्नी ने पति का ध्यान करना है। पति घर के पालन-पोषण के लिए धन कमाने में लगा हुआ

है, उसका यह कार्य तभी ठीक प्रकार से चल सकता है जब पत्नी उसके उचित भोजनादि का ध्यान करते हुए उसे अस्वस्थ व चिन्तित न होने दे।

पति के लिए कहते हैं कि २. **ताम्**=उस पत्नी को **विश्वैः देवैः ऋतुभिः संविदानः**=सब देवों व ऋतुओं से संज्ञान प्राप्त करता हुआ, अर्थात् उनकी अनुकूलता को सिद्ध करता हुआ, अतएव पूर्णतया स्वस्थ पति **प्रजापतिः**=प्रजा व सन्तान की रक्षा करता हुआ **विश्वकर्मा**=जीविकोपयोगी सब कार्यों को करनेवाला बनकर **विमुञ्चतु**=नमक, तेल व ईंधन आदि की चिन्ता से मुक्त कर दे। यहाँ यह स्पष्ट है कि (क) माता को नमक आदि की चिन्ता न करनी पड़े, उसे धनार्जन के लिए समय न देना पड़े। (ख) पति अस्वस्थ न हो। ऐसा होने की अवस्था में पत्नी का सारा समय उसकी सेवा में ही समाप्त हो जाएगा और वह बच्चों का ध्यान न कर पाएगी। (ग) स्वास्थ्य के लिए सूर्य, वायु आदि देवों की व ऋतुओं की अनुकूलता आवश्यक है।

भावार्थ—पत्नी पति की आवश्यकताओं का पूर्ण ध्यान करे। पति स्वस्थ रहता हुआ और उचित धनार्जन करता हुआ पत्नी पर घर की चिन्ता का भार न पड़ने दे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—निर्ऋतिः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

निर्ऋति का मार्ग

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य।
अन्यमस्मदिच्छ सा तऽइत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु॥६२॥

१. 'निर्ऋति' शब्द निरुक्त २।८ के अनुसार 'कृच्छ्रापत्ति'=मुसीबत का बोधक है। 'पाप्मा वै निर्ऋतिः' श० ७।२।१।११ 'घोरा वै निर्ऋतिः'—श० ७।२।१।११—इन शतपथ वाक्यों से भी वही भाव व्यक्त हो रहा है। इस 'निर्ऋति' को पुरुषविध (personify) करके सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे **निर्ऋते**=दुर्गते! तू **इच्छ**=इच्छा कर। किसकी? (क) **असुन्वन्तम्**=सोमाभिषव न करनेवाले की। 'जो सोमयज्ञ नहीं करता' उस पुरुष की तू कामना कर। बड़े-बड़े यज्ञ, जिनमें सोमाहुति दी जाती है, सोमयज्ञ कहलाते हैं। 'असुन्वन्तं' की भावना हृदयदेश में सोम-प्रभु का ध्यान न करनेवाले की भी है। जो प्रभु का ध्यान नहीं करते वे दुर्गति में पड़ते ही हैं। (ख) **अयजमानम्**=हे निर्ऋते! तू अयजमान की कामना कर। तेरा आक्रमण यज्ञ न करनेवाले पर हो। 'देवपूजा, सङ्गतीकरण व दान' से दूर रहनेवाला पुरुष ही दुर्गति को प्राप्त करे। २. हे निर्ऋते! तू **इत्याम् अनु इहि**=मार्ग के पीछे जा। किस मार्ग के? उस मार्ग के (क) **स्तेनस्य**=गुप्त चोर के पीछे। जो रात्रि के समय सेंध आदि लगाकर दूसरों के धन को चुराता है, वह दुर्गति को प्राप्त करे। (ख) **तस्करस्य**=प्रकट चोर के मार्ग के पीछे तू जा। लुटेरे-डाकुओं को दुर्गति प्राप्त हो। ३. **अस्मत् अन्यम्**=हम जो कि 'सोमाभिषव करनेवाले, यज्ञशील, अस्तेय धर्म का पालन करनेवाले, अहिंसक' हैं उनसे भिन्न व्यक्ति ही **इच्छ**=तेरी कामना का विषय बने। **सा ते इत्या**=वही तेरा मार्ग है, अर्थात् तुझे तो 'परमेश्वर को न माननेवाले अयज्ञशील, चोर व डाकुओं' के मार्ग पर ही जाना है। तेरे दण्डनीय वे ही व्यक्ति हैं। ४. हे **देवि**=दण्ड के द्वारा दमन करके सबको शुभ मार्ग पर लानेवाली कष्टदेवि! **तुभ्यं नमः अस्तु**=हम तुझे नमस्कार करते हैं। 'सम्यक् प्रणीत हुआ दण्ड सब प्रजाओं का रञ्जन करता है। एवं, प्रभु से दी गई आपत्तियाँ भी विशेष महत्त्व रखती हैं। वे मानव-जीवन के सुधार के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—दुर्गति के भागी वे होते हैं जो प्रभु का ध्यान नहीं करते, यज्ञशील नहीं होते, चोरी व डाका जिनका पेशा बन जाता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—निर्ऋतिः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

'यम-यमी' व निर्ऋति

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्।

यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽअधि रोहयैनम्॥६३॥

१. हे **तिग्मतेजः**=तीव्र तेजवाली **निर्ऋते**=आपत्ते! हम **ते**=तेरे लिए **सु**=उत्तमता से **नमः**=नतमस्तक होते हैं। तू **एतम्**=इस **अयस्मयं बन्धनम्**=लोहमय बन्धन को **विचृत**=छिन्न कर दे। आपत्ति व कष्ट का दर्शन यह है कि यह आपत्ति मनुष्य को पाप के बन्धन से मुक्त करने के लिए आती है। 'साम, दाम, भेद, दण्ड' ये चार ही उपाय हैं। जब इनमें से प्रथम तीन उपायों से कार्य नहीं चलता तब प्रभु 'दण्ड' रूप चौथे उपाय का प्रयोग करते हैं। इन्हीं दण्डों को हम कष्ट व आपत्ति कहते हैं। इस आपत्ति का तेज अत्यन्त तीव्र है। यह हमारे लोहे के समान दृढ़ विषय-बन्धनों को भी काट देता है। २. यह निर्ऋति=कृच्छ्रापत्ति उन्हीं को पीड़ित नहीं करती जिनका जीवन संयमी होता है। उनके साथ तो मानो आपत्ति का समझौता-सा हुआ हो। हे निर्ऋते! **त्वम्**=तू **यमेन**=संयमी जीवनवाले पुरुष से तथा **यम्या**=संयमी जीवनवाली स्त्री से **संविदाना**=संज्ञान व समझौते को प्राप्त हुई **एनम्**=इसे **उत्तमे नाके**=सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग में **अधिरोह**=स्थापित कर। वस्तुतः संयम ही वह गुण है जो हमें कष्टों से बचाकर सुखमय स्थिति में रखता है।

भावार्थ—प्रभु के दण्ड भी आदरणीय हैं। वे हमें विषयों के लोह-समान दृढ़ बन्धनों से भी मुक्त करते हैं। विषयों से मुक्त होकर संयमी जीवनवाले बनकर ही हम स्वर्ग के अधिकारी होते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—निर्ऋतिः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

कष्ट का उद्देश्य—बन्धावसर्जन

यस्यास्ते घोरऽआसन् जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय।

यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः॥६४॥

१. प्रभु निर्ऋति से कहते हैं कि **एषाम्**=इन **बन्धानाम्**=बन्धों के **अवसर्जनाय**=छुड़ाने के लिए **यस्याः ते**=जिस तेरे **घोरे आसन्**=भयंकर मुख में **जुहोमि**=इन प्राणियों की मैं आहुति देता हूँ, अर्थात् मैं प्राणियों को कष्ट केवल इसलिए प्राप्त कराता हूँ कि वे विषयों के बन्धन से मुक्त हो जाएँ। विषयभोग का परिणाम रोग है। यह अनुभव लेकर ही तो वे विषयों से भयभीत होते हैं और उनसे दूर होते हैं। २. **यां त्वा**='जिस तुझमें **जनः**=मनुष्य **भूमिः इति**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) पड़ते ही हैं' इस प्रकार **प्रमन्दते**=स्तुति करता है, अर्थात् मनुष्य सोचता है कि आपत्ति तो सबपर आती ही है, उससे तो कोई बच ही नहीं सकता। ३. परन्तु **अहम्**=मैं (प्रभु) **त्वा**=तुझे **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **निर्ऋतिं परिवेद**=दुर्गति के रूप में जानता हूँ। वस्तुतः दुर्गति=दुराचार के कारण ही तो होती है। दुराचार न होगा तो कष्ट भी क्यों होंगे? निर्ऋति का तो शब्दार्थ ही दुराचार है। दुराचार का परिणाम कष्ट है, अतः निर्ऋति 'कष्ट' बोधक हो गया है। यह समझकर कि 'ये तो होते

ही हैं', मनुष्य इनको दूर करने के लिए अपने आचरण को नहीं सुधारता। यह सुधार तो तभी आएगा जब मनुष्य कष्ट को दुराचार के परिणामरूप में देखेगा। इन शब्दों में प्रभु जीव से यह कहते प्रतीत होते हैं कि हे मनुष्य! तू कष्टों को भाग्य का खेल न समझ, ये तो निश्चितरूप से पाप का ही परिणाम हैं। तू पाप से ऊपर उठ, कष्टों से स्वतः ऊपर उठ जाएगा। विषय-बन्धनों के हटाने के लिए ही मैं तुझे आपत्ति के मुख में धकेलता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये सब दण्ड सुधारात्मक हैं। 'वे अवश्य आते ही हों' ऐसी बात नहीं हैं। मनुष्य का आचरणदोष होने पर ही वह निर्ऋति से आक्रान्त होता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—यजमानः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

निर्ऋति का पाश, निर्ऋति व भूति

यं ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ पाशं॑ ग्री॒वास्व॑विचृ॒त्यम्। तं ते॒ विष्या॒म्यायु॑षो॒ न मध्या॒दथै॒तं पि॒तुम॑द्धि॒ प्रसू॑तः। नमो॒ भूत्यै॒ येदं च॒कार॑॥६५॥

१. निर्ऋति=कृच्छ्रापत्ति=कष्ट की प्राप्ति भी 'देवी' है, क्योंकि यह मनुष्य को बुराइयों से हटाकर अच्छाइयों में प्रवृत्त करती है। प्रभु कहते हैं कि हे जीव! यह **देवी निर्ऋतिः**=दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली कृच्छ्रापत्ति **ते ग्रीवासु**=तेरी गर्दन में **यम्**=जिस **अविचृत्यम्**=अच्छेद्य **पाशम्**=बन्धन को **आबबन्ध**=बाँधती है, **ते**=तेरे **तम्**=उस बन्धन को **विष्यामि**=मैं समाप्त करता हूँ, जिससे **आयुषो न मध्यात्**=जीवन के मध्य से ही तू चला न जाए। असह्य कष्ट से कहीं मनुष्य अपने को समाप्त ही न कर ले, अतः प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे कष्ट में तो डालता हूँ, परन्तु इतना भी अच्छेद्य कष्ट नहीं दे देता कि कहीं तू जीवन को भार समझने लगे और उसे समाप्त ही कर डाले। निरन्तर कष्टों से आयुष्य भी तो क्षीण हो जाता है। २. **अथ**=अब, एक बार कष्ट का अनुभव ले-लेने के बाद तो **प्रसूतः**=वेदवाणी द्वारा प्रेरणा दिया हुआ तू **पितुम्**=अन्न को **अद्धि**=खा, क्योंकि इस अन्न से ही मन बनेगा। सात्त्विक अन्न से मन भी सात्त्विक बनेगा। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**। ३. सात्त्विक अन्तःकरणवाला बनकर यह 'मधुच्छन्दाः' कह उठता है कि **भूत्यै**=परमेश्वर के उस ऐश्वर्य व महिमा के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं **या**=जो प्रभु का ऐश्वर्य **इदम्**=इस अद्भुत संसारक्रम को **चकार**=बनाता है। जीवन का सामान्य क्रम यही होता है कि (क) मनुष्य विषयों की ओर झुकता है। (ख) कष्ट भोगता है। (ग) वास्तविकता को जानकर फिर विषयों से ऊपर उठ जाता है और सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हुए चित्तवृत्ति को सात्त्विक बना लेता है। बन्धन समाप्त हो जाते हैं। निर्ऋति का बन्धन तो विषयों से ऊपर उठाने के लिए ही है। एवं, प्रभु का दिया दण्ड भी हमारी अमरता के लिए ही है। **'मृत्युः अमृतम्'**=मृत्यु भी अमृत है, निर्ऋति भी भूति (कल्याण) हो जाती है।

भावार्थ—कष्टों का पाश सुगतमा से नहीं टूटता। यह तो विषय-पाश के छिन्न होने से ही छिन्न होगा। विषय-निवृत्ति कष्ट-निवृत्ति का कारण है।

ऋषिः—विश्वावसुः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'विश्वावसु' का जीवन

नि॒वेश॑नः स॒ङ्गम॑नो॒ वसू॑नां॒ विश्वा॑ रू॒पाऽभिच॑ष्टे॒ शची॑भिः।
दे॒वऽइ॑व सवि॒ता स॒त्यध॒र्मेन्द्रो॒ न त॑स्थौ स॒मरे॒ प॑थी॒नाम्॥६६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु से दी गई 'निर्ऋति'=कृच्छ्रापत्ति भी जीव की 'भूति'

का कारण बन जाती है। जीवन के अन्दर सब उत्तम गुणों को प्राप्त करके यह व्यक्ति 'विश्वावसु' बन जाता है—'सम्पूर्ण उत्तम ऐश्वर्योंवाला' अथवा 'विश्व को ही अपने में बसानेवाला'। यहीं से प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ होता है कि **निवेशनः** (निविशन्ते अस्मिन्)=इसमें सभी प्राणियों का समावेश हो जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का माननेवाला तो यह हो ही गया है। २. **सङ्गमनः**=सबके साथ मिलकर चलता है। यह विरोध की भावना को पैदा नहीं करता। इसकी क्रियाएँ वैर को दूर करके मेल करनेवाली होती हैं। ३. **शचीभिः**=अपने प्रज्ञानों व कर्मों से यह **वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक धनों के **विश्वा रूपा**='अन्न-वस्त्र-गृह-पशु' आदि सब रूपों को **अभिचष्टे**=देखता है, अर्थात् यह अपने जीवन में बुद्धिपूर्वक कर्म करता हुआ निवास के लिए आवश्यक विविध वस्तुओं को जुटानेवाला होता है। यह अन्याय्य उपायों से धनों के संग्रह में नहीं लगता। ४. इस प्रकार यह **देवः इव**=देवता-सा प्रतीत होने लगता है। लोग ऐसा अनुभव करते हैं और कहते हैं कि 'यह मनुष्य थोड़े ही है, यह तो देवता है'। ५. **सविता**=यह सदा ('सु'=sow उत्पादन) निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहता है—उत्तम गुणों के बीजों को ही सर्वत्र बोने का ध्यान करता है। ६. **सत्यधर्मे**=सदा सत्य-धारणात्मक कर्मों को करनेवाला होता है। ७. **इन्द्रः न**=इन्द्र के समान यह बन जाता है। प्रभु तो परमेश्वर्यशाली हैं ही, यह भी प्रभु का ही एक छोटा रूप प्रतीत होने लगता है, जितेन्द्रिय बनकर इसने त्रिभुवन को ही जीत लिया है। ८. यह **समरे**=आध्यात्मिक संग्राम में **पथीनाम्**=काम-क्रोधादि वैरियों का **तस्थौ**=डटकर मुक़ाबला करता है, उनसे पराजित नहीं होता। वस्तुतः इसीलिए तो यह 'विश्वावसु' बना है।

भावार्थ—हम सभी संसार को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करनेवाले बनें। काम-क्रोधादि को जीतें और अपने पिता प्रभु के अनुरूप होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—विश्वावसुः। देवता—कृषीवलाः कवयो वा। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

धीर कृषक

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वित॑न्वते॒ पृथ॑क्। धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥६७॥

१. गत मन्त्र में प्रज्ञापूर्वक कर्मों से धनों के अर्जन का उल्लेख है। सबसे अधिक समझदारी व ईमानदारी का काम 'कृषि' है। प्राचीन संस्कृति में वैश्य के कर्मों का प्रारम्भ 'कृषि' से ही था—'**कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्**'। वेद में कृषि को ही निर्माणात्मक कर्मों का प्रतीक माना गया है '**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**', अतः विश्वावसुओं के कृषिकर्म का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि २. **कवयः**=क्रान्तदर्शी व गहराई तक सोचनेवाले पुरुष जीवन-यात्रा के लिए **सीराः**=हलों को **युञ्जन्ति**=जोड़ते हैं। वस्तुतः यह कृषिकर्म अधिक-से-अधिक निर्दोष व अत्यन्त आवश्यक कर्म है—(क) इसमें एक मनुष्य पूर्ण परिश्रम से ही कमाई करता है। (ख) इसमें समाज में बेकारी का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। (ग) धनों के केन्द्रित हो जाने का भय भी उत्पन्न नहीं होता। (घ) उचित व्यायाम के कारण शरीर भी दृढ़ बना रहता है। (ङ) खुली वायु में रहने का प्रसङ्ग बना रहता है। (च) भूमि माता से व प्रकृति से हमारा सम्पर्क रहता है। उत्पन्न हुए विविध अन्न व वनस्पतियों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। ३. इन सब कारणों से ही **धीराः**=ये धीर विद्वान् **पृथक्**=अलग-अलग **युगा वितन्वते**=जुओं का विस्तार करते हैं। **देवेषु**=इन्हीं पृथिवी, जल व वायु आदि में ही, अर्थात् इन्हीं के सहारे **सुम्नया**=सुख की प्राप्ति के हेतु से वे कृषि करते हैं, देवों से उनका सम्पर्क बना रहता है। यह देवसम्पर्क

ही वस्तुतः उन्हें धीर बनाता है। ये बहादुर=brave होते हैं, स्थिर steady वृत्ति के बनते हैं, दृढ़निश्चयी strong minded होते हैं, शान्त composed होते हैं, गम्भीर grave बनते हैं, शक्तिशाली energetic होते हैं, समझदार sensible बनते हैं, शिष्टाचारवाले well behaved होते हैं (निरभिमानता के कारण) सभ्य gentle और सदा भद्रता से पेश आते हैं। ४. (क) मन्त्रार्थ में 'पृथक्' शब्द सामूहिक कृषि का कुछ विरोध-सा कर रहा है। सामूहिक कृषि में आलस्य की भावना तो उत्पन्न हो ही सकती है, अतः सभी को अपना कार्य स्वयं करना है। (ख) कृषक जीवन हमें 'धीर' बनाता है। धीर का विस्तृत अर्थ ऊपर अंक '३' में दिया गया है। कृषि उन्हीं को धीर बनाती है जो कवि=विद्वान् हों। आजकल ग़लती से हम कृषि को मूर्खों का पेशा समझ बैठे हैं। मूर्ख कृषि से जीवन का ऐसा निर्माण नहीं कर सकते।

भावार्थ—हम कवि बनकर कृषि करें। यह कृषि हमें धीर बनाएगी और हमारा जीवन सुखमय हो जाएगा।

ऋषिः—विश्वावसुः। देवता—कृषीवलाः कवयो वा। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वेदानुकूल कृषि

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीयऽइत्सृण्यः पक्वमेयात्॥६८॥

१. पिछले मन्त्र की कृषि का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—(१) **सीरा युनक्त**=हलों को जोतो। २. **युगा वितनुध्वम्**=जुओं का विस्तार करो। ३. **इह कृते योनौ**=इस संस्कृत भूमिक्षेत्र में **बीजम् वपत**=बीजों को बोवो। ३. **गिरा**=खेती-विषयक कर्मों की उपयोगी सुशिक्षित वाणी **च**=और सुविचार से **सभराः**=भरण-पोषण के तत्त्वोंवाले **श्रुष्टिः**=अन्न (अन्नं श्रुष्टिः—श०७।२।२।५) **नः असत्**=हमारे हों। हम वेदवाणी में प्रतिपादित भोज्य अन्नों को पैदा करनेवाले बनें, उन अन्नों को जिनमें कि भरण-पोषण के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। हमारी कृषि, चाय, तम्बाकू की न हो। ४. हम प्रयत्न करें कि **नेदीय इत्**=थोड़े-से-थोड़े समय में ही **पक्वम्**=पका हुआ धान्य **सृण्यः**=दराँत से कटा जाकर **नः**=हमें **आ इयात्**=सर्वतः प्राप्त हो। ५. 'नेदीय' शब्द कुछ वैज्ञानिक उपाय से कृषि का संकेत करता है जिससे कि फ़सल शीघ्र ही काटी जा सके और हम वर्ष में अधिक-से-अधिक फ़सलें काट सकें। जैसे सामान्यतः भोजन चार घण्टे में पचता है इसी प्रकार फ़सल चार मास में पक सके और हम साल में तीन फ़सलें ले-पाएँ।

भावार्थ—खेती ज्ञानपूर्वक करनी है। पौष्टिक अन्न ही उपजाने हैं। 'विश्वावसु' बनने के लिए यह आवश्यक है।

ऋषिः—कुमारहारितः। देवता—कृषीवलाः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सुपिप्पला-ओषधी

शुनꣳसु फाला वि कृषन्तु भूमिꣳशुनं कीनाशाऽअभि यन्तु वाहैः।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पलाऽओषधीः कर्त्तनास्मे॥६९॥

१. ये मन्त्र 'कुमारहारित' ऋषि के हैं। सीता=लाङ्गलपद्धति=हल चलाने से बनी रेखा इन मन्त्रों की देवता है। 'कुमार क्रीडायाम्' धातु से बना कुमार शब्द संकेत कर रहा है कि इस व्यक्ति ने कृषि को ही अपनी क्रीड़ा बना लिया है। यह पढ़ता-लिखता है और

फिर अपने मस्तिष्क को आराम देने (relaxation) के लिए खेती में लग जाता है। यह अपने हल इत्यादि को बड़ा ठीक बनाये रखता है और चाहता है कि—२. **सुफालाः**=हल के अग्र भाग में स्थित उत्तम फाल से **भूमिम्**=भूमि को **शुनम्**=आराम से **विकृषन्तु**=खोदें। भूमि बहुत कठोर न हो, कठोर भी हो तो फाल तेज़ हो जो भूमि को आराम से खोदता चले। **कीनाशाः**=(श्रमेण क्लिश्यन्ति) श्रम से अपने शरीर को थकानेवाले कृषक लोग **वाहैः**=बैलों के साथ **शुनम्**=सुख से **अभियन्तु**=खेत में चारों ओर चलें। हल को खेंचना तो बैलों ने ही है, परन्तु कृषक भी अपना पूरा योग दे। वह बैलों के उत्साह-वर्धन का कारण बने। ३. **शुनासीरा** =(शुनो वायुः शीर आदित्यः—नि० ९।४०) वायु और सूर्य **हविषा**=हवि के द्वारा—यज्ञ में डाली गई घृत आदि की आहुतियों द्वारा **तोशमाना** (तोशतिर्वधकर्मा)= रोगकृमियों—कृषिविनाशक कृमियों का नाश करते हुए **अस्मे**=हमारे लिए **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलवाली **ओषधीः**=ओषधियों को **कर्त्तन**=करें। वस्तुतः कृषि की उत्तमता के लिए अग्निहोत्र का महत्त्व दो कारणों से है (क) कृमि नष्ट होकर वायु शुद्ध होती है और (ख) वर्षा उचित समय पर होती है। वायु का उपयोग मुख्यरूप से यह है कि इसकी नत्रजन (नाइट्रोजन) भूमि का खाद बनती है। सूर्य का महत्त्व यह है कि यह भूमि में उत्पादक शक्ति को बढ़ाता है। मिट्टी के जो कण सूर्यसम्पर्क में आते हैं वे अधिक उत्पादक तत्त्व को वायु से आकृष्ट कर पाते हैं। एवं, कृषि में अग्निहोत्र में दी गई हवि तथा वायु और सूर्य का भाग है।

भावार्थ—हमारे हल सुफाल हों। हम बैलों का उत्साह-वर्धन करें। अग्निहोत्र में उत्तम हवि दें। ये हवि तथा वायु और सूर्य हमारी कृषि को उत्तम फलवाला करें।

ऋषिः—कुमारहारितः। देवता—कृषीवलाः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मधुर जल-सेचन

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्या ववृत्स्व ॥७०॥

१. **सीता**=लाङ्गलपद्धति, हल की रेखा **मधुना घृतेन**=मधुर जल से **समज्यताम्**=संसिक्त की जाए। खारे पानी से सेचन होने पर भूमि के शीघ्र ही ऊसर हो जाने की आशंका होती है। 'स्यादूषः क्षारमृत्तिका'=क्षारमृत्तिका ही ऊसर है, उसमें कोई अन्न उपजेगा नहीं, अतः मधुर जल से सेचन नितान्त आवश्यक है। 'घृतेन मधुना' का प्रसिद्ध अर्थ भी यहाँ अप्रासंगिक नहीं, परन्तु घृत और शहद की खाद डालना आर्थिक दृष्टिकोण से बड़ा कठिन है। महाराष्ट्र में पेशवाओं ने ऐसा करके देखा तो आम के पेड़ों पर अत्यन्त मधुर आमों का उद्भव हुआ। २. **विश्वैः देवैः** (ऋतवो वै देवाः—श० ७।२।४।२६)=सब ऋतुओं से तथा **मरुद्भिः**=वर्षा की ईश मानसून की वायुओं से **अनुमता**=अङ्गीकृत हुई हे **सीते**=लाङ्गलपद्धते! **पयसा**=जल से **पिन्वमाना**=पूरित होती हुई तू **ऊर्जस्वती**=बल व प्राणशक्तिप्रद अन्न-रसवाली होती हुई **अस्मान् अभि**=हमारी ओर **पयसा**=आप्यायन शक्ति से **आववृत्स्व**=सर्वथा वर्त्तमान हो, प्राप्त हो। ३. मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) मधुर जल से सिंचाई होनी चाहिए। (ख) ऋतुओं की अनुकूलता अत्यन्त वाञ्छनीय है। (ग) वर्षा की वायु (monsoon winds) का समय पर चलना तो नितान्त आवश्यक है ही। (घ) इस सबके होने पर जो अन्न उत्पन्न होगा वह निश्चय से हमारा आप्यायन करनेवाला होगा।

भावार्थ—खेतों का सेचन मधुर जल से हो, ऋतुओं व वर्षा की वायुओं की अनुकूलता को हम हवि के द्वारा उपस्थित करने का प्रयत्न करें। ऐसा होने पर अन्न सबल होंगे और उनसे हमारा उत्तमता से आप्यायन होगा।

ऋषिः—कुमारहारितः। देवता—कृषीवलाः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

लाङ्गलम्

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवꣳसोमपित्सरु।

तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहनम्॥७१॥

१. हल की मूठ को लाङ्गल कहते हैं। यह **लाङ्गलम्**=हल की मूठ **पवीरवत्**=उत्तम फालवाला हो। (पविः धारा, सोऽस्यास्तीति पवीरं फालः), **सुशेवम्**=शोभन—सुखकर हो। उसकी धारा खूब तेज़ हो, जिससे सरलता से भूमि को खोद सके। हमारा यह हल सरलता से चलनेवाला (facile) हो। हम अथवा बैल क्या हल चला रहे हों, हल स्वयं चल रहा हो। **सोमपित्सरु**=सोमादि ओषधियों के पालन करनेवाले का यह हल **त्सरु**=खड्गमुष्टि हो। जैसे क्षत्रिय के हाथ में तलवार की मूठ होती है और वह उसे पकड़कर शत्रुओं का संहार कर देता है उसी प्रकार कृषक के लिए यह लाङ्गल तलवार की मूठ ही है। उसके द्वारा यह सोमादि उत्तम ओषधियों के अभाव को नष्ट कर दें—राष्ट्र में अन्नाभाव को यह दूर करनेवाला हो। २. **तत्**=वह हल—हल द्वारा किया जानेवाला कृषि-कार्य (क) **प्रफर्व्यं च**=(प्रकर्षेण फर्वति गच्छतीति प्रफर्वी) खूब क्रियाशील—चुस्त गौ को—अथर्ववेद के शब्दों में **आस्पन्दमाना**=उछलती-कूदती गौ को **उद्वपति**=(गमयति) प्राप्त कराता है। ऋग्वेद के अक्षसूक्त में कहते हैं कि हे कितव 'तत्र गावः कितव तत्र जाया'। हे जूए की ओर झुकाववाले! तू इस बात को समझ ले कि इस कृषि-कार्य में गौवें हैं, इस कृषि-कार्य में उत्तम घर का निर्माण है। (ख) यह हल तुझे **पीवरीं अविम्** =पूर्ण स्वस्थ मोटी-ताज़ी भेड़ प्राप्त कराएगा, जो तुझे वस्त्रों के लिए उत्तम ऊन देनेवाली होगी। (ग) यह कृषि-कार्य तुझे **प्रस्थावत्**=प्रस्थानसंयुक्त, उत्कृष्ट वेग से युक्त, हर समय चलने के लिए तैयार-पर-तैयार, जिसे रोकने में कठिनता होती हो ऐसे **रथवाहनम्**=रथ के वाहनभूत घोड़े को प्राप्त कराता है। ३. एवं, कृषि-कार्य में गौवें हैं जो हमारे शरीर के पोषण के लिए दूध-घृत आदि प्राप्त कराती हैं। इस कार्य में भेड़े हैं जो वस्त्रों के लिए ऊन देती हैं। वेगवाले घोड़े हैं जो हमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले-जाते हैं। इस प्रकार यह कृषि हमें जीवन की सब आवश्यकताओं को प्राप्त कराती है और हमारे घरों को स्वस्थ व आनन्दमय बनाती है। मनुष्य का नाम ही वेद में 'कृष्टि' है—कृषि करनेवाला। वस्तुतः कृषि ही आजीविका के लिए सर्वोत्तम है।

भावार्थ—कृषि में गौवें हैं, भेड़े हैं व घोड़े हैं, अतः हम कृषि की ओर ध्यान दें। हमारा हल सुख से चलनेवाला व अन्नाभाव को समाप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—कुमारहारितः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

कामदुघा

कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च।

इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्यऽओषधीभ्यः॥७२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कृषि के लिए उपयुक्त हुई यह भूमि हमारे सब कामों का

पूरण करनेवाली होती है, इसी से इसे यहाँ 'कामदुघा' कहा है। हे **कामदुघे**=सब मनोरथों को पूरण करनेवाली भूमे! **कामं धुक्ष्व**=तू हमारे सब मनोरथों को पूरण कर। २. तू **ओषधीभ्यः**= अपने से पैदा की गई ओषधियों के द्वारा **मित्राय**=मित्र के लिए हो, अर्थात् हमारा जीवन इन सोमादि ओषधियों के सेवन से स्नेहवाला हो—मित्रभाववाला हो। ३. **वरुणाय**=तू हमें वरुण बनाने के लिए हो। हमारे जीवन में से द्वेष का निवारण करनेवाली हो। ४. **इन्द्राय**=तू हमें ऐश्वर्य को प्राप्त करने योग्य बनानेवाली हो। ५. **अश्विभ्याम्**=हमारे प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाली हो। ६. **पूष्णे**=तू पूषा के लिए हो, अर्थात् मेरे सब अङ्गों का पोषण करनेवाली हो। ७. तथा **प्रजाभ्यः** =सब प्रकार के विकासों के लिए हो। तुझसे उत्पन्न ओषधियाँ प्रयोगपूर्वक सेवित होती हुई मेरी सब शक्तियों का विकास करनेवाली हों।

भावार्थ—कृषि-कार्य में 'स्नेह है, द्वेष का अभाव है, ऐश्वर्य और प्राणापानशक्ति है तथा सब अङ्गों का पोषण व सब शक्तियों का विकास है।' कृषि के द्वारा यह भूमि कामदुघा बनती है।

ऋषिः—कुमारहारितः। देवता—अघ्न्याः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अन्धकार से प्रकाश की ओर

वि मुच्यध्वमघ्न्या देवयानाऽअगन्म तमसस्पारमस्य। ज्योतिरापाम॥७३॥

१. कृषि के द्वारा मनुष्य सब अङ्गों की शक्तियों का ठीक विकास करके पूर्ण नीरोग बनता है। प्रभु कहते हैं कि **विमुच्यध्वम्**=तुम सब आधि-व्याधियों से मुक्त हो जाओ। २. **अघ्न्याः**=रोगों से हनन के योग्य न होओ। कोई भी रोग तुम्हारे जीवन को असमय में ही नष्ट करनेवाला न हो। ३. **देवयानाः**=तुम सदा देवताओं के मार्ग से चलनेवाले बनो। तुम्हारे मनों में आसुर भावनाओं का विकास न हो। ४. तुम निश्चय करो कि **अस्य तमसः**=इस अन्धकार के **पारम् अगन्म**=पार को प्राप्त करें—अन्धकार में ही भटकते न रहें। और ५. **ज्योतिः आपाम्**=ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों। **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**='मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले-चलिए'—यही तुम्हारी प्रार्थना हो—इसी के लिए तुम्हारा प्रयत्न हो। ६. सोमादि उत्तम ओषधियों के सेवन से तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा, स्मृति ध्रुव होगी और वासनाएँ नष्ट होकर तुम्हारा जीवन सुन्दर बनेगा।

भावार्थ—कृषि से उत्पन्न ओषधियों के सेवन से हम नीरोग बनते हुए अन्धकार से परे प्रकाश को प्राप्त होंगे।

ऋषिः—कुमारहारितः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

अन्न व घृत

सजूरब्दोऽअयवोभिः सजूरुषाऽअरुणीभिः। सजोषसावश्विना दꣳसोभिः सजूः सूरऽएतशेन सजूर्वैश्वानरऽइडया घृतेन स्वाहा॥७४॥

१. हे प्रभो! **अब्दः**=वर्ष **अयवोभिः**=न विच्छिन्न होनेवाले काल-अवयवों से अथवा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष से **सजूः**=संयुक्त हो। हमारे जीवन में यह काल विच्छिन्नावयव न हो जाए। हमारा आयुष्य अविच्छिन्नरूप से चलता चले। २. हमारे लिए प्रतिदिन **उषाः**=उषाकाल **अरुणीभिः**=अरुणवर्ण किरणों से **सजूः**=संयुक्त हो। हम अरुण किरणोंवाली उषा का प्रतिदिन दर्शन करें। ३. **अश्विना**=हमारे प्राणापान **दंसोभिः**=उत्तम कर्मों से **सजोषसौ**=प्रीतियुक्त हों।

हम अपनी प्राणशक्ति से उत्तम कर्मों में आनन्द का अनुभव करें ४. **सूरः**=सूर्य **एतशेन**=अपने किरणरूप अश्वों से **सजूः**=युक्त हो। हम सदा सूर्य-किरणों का सेवन करनेवाले बनें। सूर्य-किरणें हमारे लिए सदा स्वास्थ्य व गतिशीलता देनेवाली हों। ५. **वैश्वानरे**=हमारी जाठराग्नि **इडया**=अन्न से **सजूः**=युक्त हो इस **वैश्वानरे**=वैश्वानर अग्नि में **घृतेन स्वाहा**=घृत से उत्तम आहुति दी जाए, अर्थात् घृत के (तौलस्य प्राशान) मपे-तुले प्रयोग से जाठराग्नि को दीप्त किया जाए। वैश्वानराग्नि (जाठराग्नि) का भोजन अन्न व घृत ही हैं। इसमें मद्य-मांस की आहुति न पड़े।

भावार्थ—हमारे जीवन के वर्ष अविच्छिन्न कालावयवोंवाले हों। हम उषा के प्रकाश का प्रतिदिन दर्शन करें। हमारे प्राणापान प्रीतिपूर्वक कर्मों में लगे रहें। हम ज्ञानी बनकर क्रियाशील हों, हम खाने में अन्न व घृत का प्रयोग करें।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

शतं सप्त च—त्रियुगं पुरा

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहꣳशतं धामानि सप्त च॥७५॥

१. पिछले मन्त्रों में कृषि का उल्लेख था। अब उस कृषि में उत्पन्न की जानेवाली ओषधियों का उल्लेख करते हैं। **याः**=जो **पूर्वाः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **जाताः**=उत्पन्न हुई हैं, ये ओषधियाँ **देवेभ्यः**=उस-उस ऋतु में प्रयोग करने के लिए हैं (ऋतवो वै देवाः—श० ७।२।४।२६)। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग होता है। २. **त्रियुगे**=(त्रयाणां युगानां समाहारः त्रियुगम्) ये ओषधियाँ तीन युगों में, तीन कालों में 'वसन्त, वर्षा व शरद्' में प्रयोज्य हैं। ३. परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि **पुरा**=उस ऋतु के प्रारम्भ से कुछ पहले ही इनका प्रयोग किया जाए। वसन्त में कफ़ का प्रकोप होता है, अतः वसन्त से कुछ पहले कफ़नाशक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। वर्षा में वातविकारों की आशंका है, अतः वातविनाशक ओषधियाँ प्रयोग में लानी चाहिएँ और शरद् पित्त-विकार का समय है, अतः पित्तशमन की ओषधियाँ लेनी आवश्यक हैं। उस ऋतु से कुछ पूर्व (पुरा) उस ओषधि के लेने पर हम सब विकारों से बचे रहेंगे। ४. इस ठीक प्रयोग के लिए **अहम्**=में **बभ्रूणाम्**=लोकपालन की क्षमता रखनेवाली इन ओषधियों का **मनै नु**=निश्चय से मनन करता हूँ। इनका विचार करके ही तो इनका ठीक प्रयोग कर पाऊँगा। ५. **शतं धामानि**=मैं इनके सौ धामों का मनन करता हूँ। यहाँ आयु का एक-एक वर्ष ओषधि का एक-एक स्थान है। अभिप्राय यह है कि मैं आयु का विचार करके औषध देता हूँ। बालक, युवक व वृद्ध को औषध-मात्रा अलग-अलग ही दी जाएगी। **सप्त च**=मैं इनके सात धामों का भी विचार करता हूँ। (य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह—श० ७।२।४।२६) इस शतपथ वाक्य से दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँख व एक मुख—ये ही सात धाम हैं। औषध-प्रयोग में यह भी ध्यान करना आवश्यक है कि औषध कान में डाली जा रही है या आँख में, जितनी कान में डाली जा सकती है उतनी आँख में नहीं।

भावार्थ—ओषधियाँ हमारी कमियों का फिर से पूरण करनेवाली हैं। ये वसन्त, वर्षा व शरद् से कुछ पहले प्रयोग में लानी चाहिएँ। उम्र व अङ्ग का ध्यान करके ही इनका

प्रयोग करना लाभकर है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

अगदता—अ-गद-ता (नीरोगता)

शतं वोऽअम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मेऽअगदं कृत ॥७६॥

१. ओषधियाँ मातृतुल्य हित करनेवाली हैं, अतः कहते हैं कि **अम्ब**=हे मातृभूत ओषधियो! **वः**=तुम्हारे **शतं धामानि**=सैकड़ों धाम—स्थान व तेज हैं। (क) शतशः स्थानों में ये ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। कोई पर्वतमूल में, कोई मध्यभाग में और कोई पर्वतशिखरों पर तो कोई समुद्रतट पर उगती हैं, कोई वनों में व कोई मैदानों में और कई ओषधियाँ किन्हीं विशेष पर्वतों में ही उपलभ्य हैं। (ख) इस प्रकार इन ओषधियों के स्थान तो सैकड़ों हैं ही इनके तेज भी, शक्तियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं। कई पित्तशमन करनेवाली हैं तो कई वात-विकार को शान्त करती हैं और दूसरी कफ़-प्रकोप को दूर भगानेवाली हैं। २. **उत**=और हे ओषधियो! **वः**=तुम्हारी **सहः**=प्रभाव शक्तियाँ **सहस्रमुत**=अनन्त प्रकार का है। जब वैद्य इन्हें रोगी को देता है तब इन ओषधियों के विचित्र-विचित्र परिणाम उसके शरीर पर होते हैं। ३. **अध**=अब **शतक्रत्वः**=सैकड़ों कर्मों को करनेवाली ओषधियो! **यूयम्**=तुम **मे**=मेरे **इमम्**=इस रोगी को **अगदम्**=रोग से रहित **कृत** =कर दो। तम्हारे प्रभाव से यह मुझसे चिकिस्यमान रोगी स्वस्थ हो जाए। इसके रोग को तुम दूर करनेवाली बनो। तुम्हारी कृपा से मेरा 'भिषक्' यह नाम यशोन्वित बना रहे।

भावार्थ—ओषधियों के अनन्त स्थान व तेज हैं। शतशः इनके परिणाम हैं। विचारपूर्वक दी गई ओषधियाँ रोगी को नीरोग करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

स-जित्वता=सह विजय

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः ॥७७॥

१. **पुष्पवतीः**=प्रशस्त फूलोंवाली **प्रसूवरीः**=प्रशस्त फलोंवाली **ओषधीः प्रति**=ओषधियों का लक्ष्य करके **मोदध्वम्**=आनन्दित होके वैद्य रोगियों से कहता है कि ये ओषधियाँ अपने फूलों व फलों से तुम्हें भी फूला-फला करनेवाली बनेंगी। तुम्हारे शरीर भी निर्दोष होंगे। जिस प्रकार ये ओषधियाँ प्रसन्न प्रतीत होती हैं तुम भी इसी प्रकार नीरोग होकर प्रसन्न हो जाओगे। २. ये ओषधियाँ **अश्वाः इव**=घोड़ों की भाँति—जिस प्रकार संग्राम में घोड़े विजय करानेवाले होते हैं उसी प्रकार **सजित्वरीः**=(सह विजयशीलाः) ये ओषधियाँ भी पथ्य के साथ रोगों को जीतनेवाली हैं। घोड़ा सवार के साथ युद्ध को जीतता है, इसी प्रकार ये ओषधियाँ पथ्य व उत्तम वैद्य के साथ रोगों को जीतती हैं। ३. **वीरुधः**=(विविधान् रोगान् सन्धन्ति इति) ये ओषधियाँ तुम्हारे विविध रोगों को रोकनेवाली हैं। ४. **पारयिष्णवः**=ये रोगरूप विघ्नों से हमें पार ले-जानेवाली हैं। रोगों से पार ले-जाकर ये हमें जीवन के अन्त तक ले-चलती हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ रोगों को नष्ट करनेवाली हैं। ये तो हैं ही वीरुध=विविध रोगों

को रोकनेवाली, और ओष=रोगदहन करने के कारण ओषधि हैं, परन्तु ये हैं सजित्वरी=साथ मिलकर जीतनेवाली। पथ्य और वैद्य इनके सहायक हों तभी ये रोगों को जीतती हैं।

ऋषिः—भिषक्। देवता—चिकित्सुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मातरः देवीः

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे।
सनेयमश्वं गां वासऽआत्मानं तव पूरुष॥७८॥

१. **ओषधीः इति**=ये जो ओषधियाँ हैं, वे **माताः**=मातृस्थानापन्न हैं—माता के समान कल्याण करनेवाली हैं। **तत्**=इसलिए मैं **वः**=आपको **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली **उपब्रुवे**=कहता हूँ। वस्तुतः ओषधियाँ हमारे सब रोगों को दूर करके हमारे जीवनों का सुन्दर निर्माण करती हैं। हमारे सब रोगों के जीतने की कामनावाली ये वस्तुतः 'देवी' हैं 'दिवु विजिगीषा', निर्माण करने से 'माता', रोगों को जीतने से 'देवी'। २. ओषधियाँ 'माता व देवी' इन नामों से पुकारी जाकर कहती हैं कि हे **पुरुष**=अपना पूरण करने की कामनावाले! (पूरयितुं वष्टि) और हमारा उचित प्रयोग करनेवाले पुरुष! हम **तव**=तेरे **अश्वं गां वासः**=घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को तथा **आत्मानम्**=शरीर को **सनेयम्**=प्राप्त करती हैं। हमारी शक्ति से नीरोग होकर तू घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को कमानेवाला तो बनता ही है, पर सबसे बड़ी बात यह है कि तू अपने शरीर को प्राप्त करनेवाला बनता है। ये रोग तेरे शरीर के पति ही बन गये थे। इसी से इन्हें 'सपत्न' कहने की परिपाटी हो गई। तेरे इस शरीर पर तेरा निर्द्वन्द्व राज्य न रहा था।

भावार्थ—ये ओषधियाँ माताएँ हैं, देवी हैं। इनकी कृपा से, अर्थात् इनके प्रयोग से स्वस्थ होकर हम घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को पाते हैं। इनकी शक्ति से हमारा शरीर हमारा ही बना रहता है, अन्यथा इसपर रोगों का अधिकार हो जाता है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अश्वत्थ पर्ण में निवास

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाजऽइत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्॥७९॥

१. ये ओषधियाँ किस प्रकार दिव्य गुणोंवाली होती हैं, इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुम्हारा **निषदनम्**=बैठना व ठहरना **अश्वत्थे**=आश्वत्थी—अश्वत्थ की बनी हुई उपभृत् व स्रुच् में है, अर्थात् पहले-पहले तुम अश्वत्थवृक्ष की लकड़ी से बने गोल प्याले में घृत व हवि के रूप में होती हो। २. **पर्णे**=पर्णमयी जुहू में **वः**=तुम्हारा **वसतिः कृता**=निवास किया गया है। घृत व हवि के बर्तन में से घृत और हवि जुहू=चम्मच में ली जाती हैं और अग्नि में डाली जाती हैं। ३. अब अग्नि में डाली हुई ये ओषधियाँ **इत् किल**=निश्चय से **गोभाजः**=(गाम् आदित्यं भजन्ति) सूर्य का सेवन करनेवाली **असथ**=होती हैं। **'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'** (मनु०)=अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ आदित्य के पास पहुँचती है। ४. वहाँ गर्मी से वाष्पीभूत जल आकाश में पहुँचकर जब फिर से घनीभूत होने लगता है तब हविर्द्रव्य के ये कण जल-बिन्दुओं का केन्द्र बनते हैं। ये बरसे और फिर सिक्तभूमि से जो ओषधियाँ उत्पन्न हुई, वे इन्हीं घृतकणों व हविष्कणों को

केन्द्र में लेकर उत्पन्न हुई, अतः इनमें दिव्य शक्ति का होना स्वाभाविक ही था। ५. अब ये 'देवीः'—दिव्य गुणवाली ओषधियाँ **यत्**=जब **पूरुषम्**=पुरुष का **सनवथ**=सेवन करती हैं तब सचमुच उनके रोगों को दूर करनेवाली होती हैं (वीरुधः) और उनके जीवन का सुन्दर निर्माण करती हैं (मातरः)।

भावार्थ—अग्निहोत्रादि यज्ञों के होने पर वृष्टि-जल से उत्पन्न ओषधियाँ सचमुच पुरुष का उत्तम कल्याण करती हैं।

ऋषिः—भिषक्। देवता—ओषधयः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

भिषक्

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः सऽउच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥८०॥

१. गत मन्त्र की दिव्य ओषधियों के प्रयोक्ता वैद्य का लक्षण कहते हैं कि **यत्र**=जिस पुरुष में **ओषधीः**=ओषधियाँ **समग्मत**=व्याधियों के जीतने के लिए इस प्रकार इकट्ठी होती हैं **इव**=जैसेकि **राजानः**=राजा लोग शत्रु को जीतने के लिए **समितौ**=युद्ध में सङ्गत होते हैं। राजा इकट्ठे होकर शत्रु का पराजय करते हैं, ओषधियाँ वैद्य के समीप एकत्र होकर रोग को पराजित करती हैं २. **सः**=वह **विप्रः**=शरीर में आ गई कमियों का फिर से (प्रा-पूरणे) पूरण करनेवाला व्यक्ति **भिषक्**=वैद्य **उच्यते**=कहलाता है। ३. यह वैद्य **रक्षोहा**=अपने रमण के लिए रोगी के शरीर का क्षय करनेवाले रोगकृमियों का नाश करता है। ४. रोगकृमियों के नाश के द्वारा यह **अमीवचातनः**=(अमीवान् चातयति) रोगों को नष्ट करता है। ५. एवं, वैद्य वह है—(क) जिसके पास ओषधियाँ हैं, (ख) जो उन ओषधियों के द्वारा रोगी की न्यूनता को दूर करता है, (ग) रोगकृमियों का संहार करता है, (घ) और रोगों को दूर करता है। इस वैद्य ने रोगों के साथ संग्राम करना है। इस संग्राम के लिए ओषधियाँ इसकी सहायता करती हैं।

भावार्थ—उत्तम वैद्य वह है जो ओषधियों के द्वारा रोगरूप शत्रुओं से युद्ध करके रोगों का नाश करता है और रोगी के शरीर में आ गई कमियों को दूर कर देता है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

चतुर्विधं भेषजम्

अश्वावतीꣳसोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आवित्सि सर्वाऽओषधीरस्मा अरिष्टतातये॥८१॥

१. गत मन्त्र का वैद्य कहता है कि मैं **अश्वावतीम्**=शक्ति देनेवाली ('अश्व' शब्द शक्ति का प्रतीक है), जो ओषधि मनुष्य को शक्ति-सम्पन्न बनाती है, उसको **आवित्सि**=अच्छी प्रकार जानता हूँ। २. **सोमावतीम्**=सौम्य रसों से युक्त, सोमरसवाली, जो मनुष्य की उत्तेजना व तिलमिलाहट को कम करती है उन ओषधियों को भी जानता हूँ। ३. मैं **ऊर्जयन्तीम्**=(ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल व प्राणशक्ति को देनेवाली ओषधियों को जानता हूँ। ४. **उदोजसम्**=उद्गत ओजवाली ओषधियों को भी जानता हूँ। ५. इस प्रकार इन चार गुणों से युक्त **सर्वाः ओषधीः**=सब ओषधियों को **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अरिष्ट-तातये**=रोग के विनाश के लिए—अहिंसा के लिए प्राप्त कराता हूँ। ६. ओषधियों के चार मुख्य गुण हैं—ये (क) पुरुष

को शक्तिशाली बनाती हैं, (ख) घबराहट को दूर कर शान्त करती हैं, (ग) बल और प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं, (घ) मनुष्य को ओजस्वी बनाती हैं। ६. वैद्य को इस प्रकार की सब ओषधियों को जानना व रखना है, तभी वह यथास्थान सबका प्रयोग करके रोगी को व्याधि का शिकार होने से बचा सकेगा।

भावार्थ—वैद्य सब ओषधियों को जाने और उनके ठीक प्रयोग से रोगी को सुखी करे।

ऋषिः—भिषक्। देवता—ओषधयः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ओषधियों की शक्तियाँ

उच्छुष्माऽओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते।
धनꣳ सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष॥८२॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित चार प्रकार की ओषधियाँ जब यथायथ वैद्य से प्रयुक्त होती हैं तब **ओषधीनाम्**=इन ओषधियों के **शुष्माः**=रोग-शोषक बल **उत् ईरते**=इस प्रकार बाहर प्रकट होते हैं, **इव**=जैसे **गावः गोष्ठात्**=गौवें गोष्ठ से बाहर निकलकर प्रकट होती हैं। रोगी का रोग दूर होता है और इन ओषधियों का प्रभाव चेहरे पर भी व्यक्त होने लगता है। २. किन ओषधियों का? हे पुरुष! जो ओषधियाँ **तव**=तुझे **धनम्**=धन **सनिष्यन्तीनाम्**=प्राप्त करानेवाली हैं। मन्त्र ७८ में इसी धन का उल्लेख 'अश्वं गां वासः' शब्दों से हुआ है। ये ओषधियाँ केवल धन ही प्राप्त कराती हैं ऐसा नहीं, ये ओषधियाँ **तव आत्मानम्**=तेरे शरीर को भी प्राप्त कराती हैं, अर्थात् तुझे पूर्ण स्वस्थ बनाती हैं।

भावार्थ—योग्य वैद्य से उपयुक्त होती हुई ओषधियों की शक्तियाँ उसके रोगी में प्रकट होती हैं। ये रोगी को नीरोग बनाकर उसे घोड़े, गौ, वस्त्र व उत्तम शरीर प्राप्त कराती है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्याः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

इष्कृति व निष्कृति

इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयꣳस्थ निष्कृतीः।
सीराः पतत्रिणी स्थन यदामयति निष्कृथ॥८३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब ओषधियों के शोषक बल उद्गत होते हैं तब रोग नष्ट हो जाते हैं। इसी बात को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि ये ओषधियाँ **इष्कृतिः**=(उपसर्गैकदेशलोप है, मूलशब्द निष्कृति है) व्याधि का विनाश करती हैं **नाम वः माता**=यह 'निष्कृति' तुम्हारी माता का नाम है। यह भूमि तुम्हारी माता है जो सचमुच आरोग्य का कारण है। २. **अथ उ**=और इसी कारण **यूयम्**=तुम भी **निष्कृतिः**=व्याधियों का निष्क्रमण करनेवाली **स्थ**=हो। तुम भी भूमिरूप माता से उत्पन्न होकर व्याधियों को दूर करनेवाली होती हो। २. **सीराः**=(सह इरया=अन्नेन वर्तन्ते) पथ्यान्न के साथ होनेवाली तुम **पतत्रिणीः स्थन**=(प्रसरणशीलाः) शरीर में व्याप्त होनेवाली हो। ३. **यत्**=जब ऐसा होता है तब **आमयति**=(रुजति आमयाविनि) रोगी में स्थित रोग को **निष्कृथ**=(निर्नाशयत) खूब नष्ट करती हो। ओषधियों का जब पथ्य के साथ प्रयोग होता है तब निश्चय से वे रोग को नष्ट करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—उत्तम भूमि में उत्पन्न ओषधियाँ रोग को नष्ट करनेवाली होती हैं। इसी से

इन्हें 'निष्कृति' नाम दिया गया है। ओषधि की गुणवत्ता के लिए उसके साथ पथ्य का प्रयोग भी आवश्यक है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

रोग-हरण (ज्वरचोरण), रोगरूप चोर का पलायन

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेनऽइव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः॥८४॥

१. पिछले मन्त्र की ही भावना को कि ये ओषधियाँ रोगों को निकाल देती हैं, प्रकारान्तर से पुनः कहते हैं कि **विश्वाः**=शरीर में प्रवेश करनेवाली (विश to enter), **परिष्ठाः**=(परि सर्वतः व्याधीन् अधिष्ठाय तिष्ठन्ति) प्रवेश करके शरीर में सर्वत्र व्याधियों पर अधिष्ठित होनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **अत्यक्रमुः**=रोगों पर इस प्रकार अतिशयेन आक्रमण करती हैं **इव**=जिस प्रकार **स्तेनः**=चोर **व्रजम्**=गोष्ठ पर। जैसे रात्रि में चोर गो-हरण के लिए गोशाला पर आक्रमण करता है और चुपके से गौ को चुरा ले-जाता है, इसी प्रकार ओषधियाँ शरीर में प्रवेश करके रोगों को चुपके से चुरा ले-जाती हैं। २. इस प्रकार ये ओषधियाँ **यत् किंच**=जो कुछ भी **तन्वः रपः**=शरीर का पाप, अर्थात् शिरोव्यथा गुल्म या अतिसार आदि रोगरूप पाप का फल होता है, उस सबको **प्राचुच्यवुः**=प्रच्यावित कर देती हैं, नष्ट कर देती हैं। शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं रह जाता। ३. 'स्तेन इव व्रजम्' इस उपमा को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार चोर व्रज में घुसा पर स्वामी के अचानक आ जाने पर उससे धमकाया जाकर भाग खड़ा होता है उसी प्रकार बीमारी शरीर में घुसी, परन्तु इतने में ओषधि आ गई और उससे धमकायी जाकर मानो बीमारी भाग गई। आचार्य दयानन्द ने उपमा का यही स्वरूप लिया है। गौ की चोरी नहीं हुई इसी प्रकार रोग शरीर के बल व किसी शक्ति को नष्ट नहीं कर पाया और भगा दिया गया। उव्वट आदि ने उपमा का पहला स्वरूप रखा है, आचार्य ने पिछला। पिछले का सौन्दर्य सुव्यक्त है।

भावार्थ—ओषधियाँ शरीर में प्रवेश करती हैं और रोगों को मार भगाती हैं। ओषधियाँ मानो चोर हैं जो रोगरूप गौ को हर लेती हैं अथवा ओषधियाँ मालिक हैं जो रोगरूप चोर को भगा देती हैं।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

यक्ष्म के आत्मा का नाश

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्तऽआदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा॥८५॥

१. 'ओषधियाँ रोग को धमकाकर भगा देती हैं', गत मन्त्र की इसी बात को और भी सुन्दर रूप में इस प्रकार कहते हैं कि **यत्**=ज्यों ही **वाजयन्**=रोगी को शक्तिशाली बनाता हुआ (बनाने की कामनावाला) मैं वैद्य **इमाः ओषधीः**=इन ओषधियों को **हस्ते**=हाथ में **आदधे**=धारण करता हूँ त्यों ही **यक्ष्मस्य**=रोग का **आत्मा**=स्वरूप **नश्यति**=नष्ट हो जाता है। औषध को खाने से पहले ही रोग नष्ट होने लगता है, खाने पर तो उसने बचना ही क्या है? २. यह वर्णन निःसन्देह काव्यात्मक है, इसमें अतिशयोक्ति अलंकार दिखता

है, परन्तु इसमें बहुत कुछ सत्यता भी है। रोगी के मन पर वैद्य की महिमा, उसके प्रति विश्वास से उत्तम प्रभाव पड़ने से वह अपने को स्वस्थ होता हुआ अनुभव करता है। रोगी को जब वैद्य कहता है कि 'मा बिभेः न मरिष्यसि'='डरता क्यों है, तू मरेगा नहीं। मैं अभी तेरे रोग को मारे डालता हूँ' हृदय में ऐसा विश्वास बैठने पर रोगी अपने को अच्छा अनुभव क्यों न करेगा? ३. उपमा से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **यथा**=जैसे **जीवगृभः**=(जीवन् सन्नेव यो हिंसार्थं गृह्यते स जीवगृप् तस्य) कोई व्यक्ति जीवित ही फाँसी दिये जाने के लिए पकड़ लिया जाता है और वधस्थली की ओर ले-जाया जाता है तो उस जीवगृभ् के प्राण अतिविषाद के कारण-'मैं अब मरा' इस प्रकार सोचने के कारण **पुरा**=फाँसी देने से पहले ही नष्टप्राय हो जाते हैं उसी प्रकार ओषधि के वैद्य के हाथ में धारण करते ही रोग को अपनी मृत्यु दिखने लगती है और रोग की आत्मा नष्ट हो जाती है। रोग का ज़ोर नहीं रहता, यही यक्ष्म की आत्मा का नाश है।

भावार्थ—सद्वैद्य आया, उसने औषध हाथ में पकड़ी और रोगी का रोग भागा। सद्वैद्य वही है जो रोगी की आत्मा को जिलाकर रोग की आत्मा को मार देता है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यक्ष्म-विबाधन (रोग-भङ्ग)

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ।

ततो यक्ष्मं विबाधध्वऽउग्रो मध्यमशीरिव ॥८६॥

१. वैद्य ओषधियों को सम्बोधित करके कहता है कि **ओषधीः**=हे ओषधियो! तुम **यस्य**=जिस रोगी के **अङ्गं अङ्ग**=अङ्ग-अङ्ग में **परुष्परुः**=और पर्व-पर्व में **प्रसर्पथ**=जाती हो या व्याप्त होती हो **ततः**=उस-उस अङ्ग व पर्व से उस रोगी के **यक्ष्मम्**=रोग को **विबाधध्वे**=बाधित करती हो, अर्थात् उस अङ्ग व पर्वसमुदाय से व्याधि को दूर करती हो। २. ओषधियों द्वारा रोगों के बाधन का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि **उग्रः**=गोधा व अंगुलित्राण को बाँधे हुए क्षत्रिय **इव**=जैसे **मध्यमशीः**=(देहमध्ये भवं मध्यमं मर्मभागं शृणाति हिनस्ति) देहमध्य में होनेवाले मर्मभाग को हिंसित करता है। मर्मघातक क्षत्रिय जैसे दुष्ट के लिए भयंकर होता है, उसी प्रकार ये ओषधियाँ रोगों के लिए भयंकर होती हैं। उग्र क्षत्रिय जैसे शत्रु के दो टुकड़े कर डालता है, इसी प्रकार यह ओषधि रोग के टुकड़े कर डालती है।

भावार्थ—एक सद्वैद्य से दी गई उत्तम ओषधि रोगरूप शत्रु को इस प्रकार नष्ट कर देती है जैसे कि उग्र क्षत्रिय से प्रयुक्त अस्त्र शत्रु को मार डालता है।

ऋषिः—भिषग्। देवता—वैद्यः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'वात-पित्त-कफ़'-विकार-ध्वंस

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना ।

साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥८७॥

१. वैद्य रोग को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **यक्ष्म**=रोग! तू **साकं प्रपत**=साथ-साथ भाग जा। (क) किसके साथ? **चाषेण**=(चषति व्याकुलं कृत्वा हन्ति= पित्तरोगः) उस पित्त विकार के साथ जो पीछा ही नहीं छोड़ता अपितु व्याकुल करके मार ही डालता है, (चष् to chase, वधे)। (ख) फिर किसके साथ? **किकिदीविना**=(कफ़ा-

वरुद्धकण्ठो, तद् ध्वनेरनुकरणार्थः किकिशब्दः, किकिना दीव्यतीति) कफ़ से अवरुद्ध कण्ठ से उठनेवाले 'किकि' शब्द के साथ रोगी को जीतने की कामना करनेवाले (दिव् विजिगीषा) श्लेष्मरोग के साथ तू यहाँ से भाग जा। (ग) और फिर **वातस्य ध्राज्या साकं** (प्रपत)=वात की विकृत गति, अर्थात् वातविकार के साथ तू यहाँ से नष्ट हो जा। २. और हे **यक्ष्म**=रोग! तू **निहाकया** (यया कया रुजा हा निहतोऽस्मि इति शब्दं करोति अथवा निहन्ति कायम् इति वा)=जिस पीड़ा से 'अरे मैं मरा' इस प्रकार शब्द करता है या जो पीड़ा शरीर को समाप्तप्राय-सा ही कर देती है, उस कृच्छ्रापत्ति के **साकम्**=साथ **नश्य**=तू इस शरीर से अदृश्य हो जा, भाग जा। ३. एवं, अर्थ यह हुआ कि यह **यक्ष्म**=राजरोग वात-पित्त-कफ़-विकारों के साथ तथा तीव्र पीड़ासहित नष्ट हो जाए। राजरोग जाए और ये विकार व पीड़ाएँ भी जाएँ।

मन्त्रार्थ इस रूप में भी हो सकता है (१) हे **यक्ष्म**=रोग! तू **चाषेण**=चाषपक्षी के साथ **किकिदीविना**='किकि' इस अव्यक्त ध्वनि करनेवाले पक्षी के साथ उड़ जा, तू उन्हीं के साथ रह। (२) तू **वातस्य ध्राज्या साकं नश्य**=वायु की गति के साथ भाग जा। (३) **निहाकया साकं नश्य**=(हा कष्टं निर्गतोऽहं कया ओषध्या) 'अरे मैं किस ओषधि से मार भगाया गया' इस शब्द के साथ फिर न लौटने के लिए चला जा।

यह अर्थ भी हो सकता है कि (१) **किकिदीविना** (किं किं ज्ञानं दीव्यति ददाति) किस-किस ज्ञान को देनेवाले, अर्थात् उत्तमोत्तम अद्भुत ज्ञानों के देनेवाले **चाषेण**=भक्षणीय आहार के साथ, अर्थात् इसका प्रयोग होते ही तू नष्ट हो जा। (२) **वातस्य ध्राज्या**=वायु की तीव्र गति से—प्राणायाम में तीव्रता से बाहर फेंके गये वायु के साथ तू अदृश्य हो जा। (३) और **निहाकया**=(नितरां हाकया त्यागेन) विषयों के नितरां त्याग के साथ तू भी नष्ट हो जा। (४) यह अर्थ आचार्य दयानन्द की शैली पर किया गया है। भाव यह है कि रोग के दूरीकरण के लिए तीन बातें आवश्यक हैं। (क) ज्ञानवर्धक सात्त्विक आहार। (ख) प्राणायाम व दीर्घश्वास (deep breathing) तथा (ग) विषयत्याग।

भावार्थ—१. हमारे रोग वात-पित्त-कफ़विकारों व पीड़ाओं के साथ दूर हो जाएँ। २. ये चाष के साथ आकाश में उड़ जाएँ। आँधी के साथ दूर देश में पहुँच जाएँ 'अरे मारे गये' ऐसा चिल्लाकर भाग चलें। ३. सात्त्विक आहार, दीर्घश्वास, व विषय-त्याग हमें रोगों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्याः। छन्दः—विराडनुष्टप्। स्वरः—गान्धारः॥

ओषधि-मिश्रण (Prescription)

अ॒न्या वो॑ऽअ॒न्याम॑वत्व॒न्यान्यस्या॒ऽ उपा॑वत ।
ताः सर्वाः॑ संविदा॒नाऽइ॒दं मे॒ प्राव॑ता॒ वचः॑ ॥८८॥

१. वैद्य गत मन्त्र में वर्णित 'वात-पित्त-कफ़' विकारों के दूरीकरण के लिए विविध ओषधियों का मिश्रण करता है और चाहता है कि ये एक-दूसरे के वाञ्छनीय प्रभाव को नष्ट न करती हुई अपना-अपना कार्य करें। इसी से वह कहता है कि हे ओषधियो! **वः**=तुममें **अन्या**=कोई एक ओषधि **अन्याम्**=दूसरी ओषधि को **अवतु**=रक्षित करे। उसके वाञ्छनीय प्रभाव को नष्ट न करे। २. इस प्रकार रक्षित हुई **अन्या**=यह दूसरी ओषधि **अन्यस्याः**=अपने से भिन्न तीसरी ओषधि के **उपावत**=समीप आकर उसका रक्षण करे, उसके प्रभाव को नष्ट न करे। ३. **ताः सर्वाः**=वे सब कफ़, वात व पित्तविनाशक ओषधियाँ

संविदानाः=परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुईं, अर्थात् मिलकर रोगनाशन का कार्य करती हुईं **मे**=मेरे **इदं वचः**=गत मन्त्र में कहे गये इस वचन को कि हे यक्ष्म! तू भाग जा' **प्रावत**=पूर्णतया रक्षित करें, अर्थात् तुम्हारे मिलकर कार्य करने से मेरा कथन सत्य ही सिद्ध हो। ओषधियों का परस्पर मिश्रण इस प्रकार हो कि उनमें फँसकर रोग पिस ही जाए।

भावार्थ—युक्ति से मिलाई हुई ओषधियाँ रोगों को नष्ट करती हैं। एक-दूसरे के प्रभाव को वे समावस्था में ले-आती हैं। उनकी उग्रता रोग को समाप्त करती हुई भी रोगी के लिए घातक नहीं रह जाती।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्याः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

बृहस्पति-प्रसूत चार ओषधियाँ

याः फुलिनीर्याऽअफुलाऽअपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वꣳहसः ॥८९॥

१. ओषधियों के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि (क) **याः**=जो ओषधियाँ **फलिनीः**=फलवाली हैं, अर्थात् जिनपर फल आता है। (ख) **याः**=जो **अफलाः**= फलरहित हैं, जिनपर फल नहीं आता। (ग) **अपुष्पाः**=जो फूलवाली नहीं है, जिनमें बिना ही फूल के सीधा फल आ जाता है। (घ) **याः च**=और जो **पुष्पिणीः**=फूलोंवाली हैं, फूल के द्वारा फल को पैदा करती हैं। २. **बृहस्पतिप्रसूताः** =(बृहतां पतिः तेन प्रसूताः) बड़े-बड़े लोकों के स्वामी परमेश्वर से उत्पादित **ताः**=वे ओषधियाँ **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से उत्पन्न रोग व रोगजन्य दुःख से **मुञ्चन्तु**=छुड़ाएँ। ३. 'बृहस्पतिप्रसूताः' की भावना एक और भी है। **बृहस्पति=ब्रह्मणस्पतिः**=सब ज्ञानों का पति है, विद्वान् है, यह इस **बृहती**= आयुष्यवर्धन करनेवाली (बृहि वृद्धौ) आयुर्वेदविद्या का भी पति है। आयुर्वेद में निष्णात इस बृहस्पति से **प्रसूत** =प्रेरित=प्रयोग में लायी गई ये ओषधियाँ हमें पापजन्य रोगों और रोगजन्य दुःखों से बचाएँ। (यह पिछला अर्थ श्री जयदेवजी ने अपने भाष्य में दिया है।) ४. एवं, ओषधियाँ स्थूलतया चार भागों में विभक्त हैं 'फलिनी, अफला, पुष्पिणी और अपुष्पा' ये सब सुयोग्य वैद्य ये प्रयुक्त होकर रोगी को रोगमुक्त करती हैं।

भावार्थ—मन्त्रोक्त चतुर्विध ओषधियाँ विद्वान् वैद्य से विनियुक्त होकर व्याधि-विनाश करनेवाली हों।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्याः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

चार पाप

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद् देवकिल्बिषात्॥९०॥

१. उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित ओषधियाँ **मा**=मुझे **शपथ्यात्**=क्रोध में आक्रोश (शप आक्रोशे) के कारण उत्पन्न हो जानेवाले पैत्तिक विकारों—रक्त दबाब (blood pressure) आदि से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। पित्त विकारवाले को ही क्रोध अधिक होता है और उस क्रोध में वह गाली आदि पर उतर आता है। इससे वे पैत्तिक विकार और बढ़ जाते हैं (उनसे ये फलिनी ओषधियाँ मुझे मुक्त करें)। २. **अथो**=और **वरुण्यात्**=वरुण जल देवता है, उनके प्रकोप से होनेवाले रोग वरुण्य रोग हैं। जलविकार से अभिप्राय कफ़-विकार ही है।

अतः कफ़जनित ज़ुकाम, खाँसी, क्षय आदि रोगों से भी ये (अफला) ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। ३. **उत**=और **अथो**=अब **यमस्य**=(अयं वै यमः यो यं पवते) इस बहनेवाले वायु के **पड्वीशात्**=बन्धन से—वात-विकार से उत्पन्न हो जानेवाले गठिया आदि अङ्गग्रहों से ये (अपुष्पा) ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। इन (अपुष्पा) ओषधियों के प्रयोग से मैं वातिक रोगों से बच जाऊँ। ४. और अन्त में **सर्वस्मात्**=सब **देवकिल्बिषात्**=इन्द्रियों के विषयों में किये गये पापों से—उस-उस इन्द्रिय के अपने-अपने विषय में आसक्ति से ये (पुष्पिणी) ओषधियाँ मुझे छुड़ाएँ। इन्द्रियाँ विषयासक्त होती हैं तो उनमें ह्रास—शक्ति की क्षीणता हो ही जाती है, उससे भी ये ओषधियाँ हमें बचाएँ।

भावार्थ—पिछले मन्त्र में चार प्रकार की ओषधियों का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में चार प्रकार के रोगों का वर्णन है। सम्भवतः इन्हें यथासंख्य ले-सकना सम्भव हो। चारों ओषधियाँ चारों विकारों को दूर करें।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वैद्याः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

रोग-निवारण

अवपतन्तीरवदन्दिवऽओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥९१॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि **भिषक्**=चारों रोगों का निवारण करता है, अतः 'वरुण' (निवारण करनेवाला) बन गया है। यह वरुण कहता है कि **दिवः परि**=द्युलोक के समीप से **अवपतन्तीः**= नीचे आती हुई, वृष्टि-बिन्दु के रूप में भूमि पर गिरती हुई **ओषधयः**=ओषधियाँ **अवदन्**=परस्पर बात-सी करती हैं कि २. **यम्**=जिस **जीवम्**=अनुत्क्रान्तप्राण पुरुष को **अश्नवामहै**=हम प्राप्त होती हैं **सः पुरुषः**=वह पुरुष **न रिष्याति**=हिंसित नहीं होता। ओषधियाँ मनुष्य की रक्षा करती हैं। ३. 'ये ओषधियाँ द्युलोक से नीचे आई हैं', अतः अलौकिक दिव्य गुणोंवाली हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ दिव्य हैं। वृष्टिजल से इनका उत्पादन हुआ है। ये यदि जीवित पुरुष तक पहुँच जाएँ तो फिर उसे जाने नहीं देतीं, उसे जिला ही देती हैं।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वैद्याः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उत्तम ओषधि के लक्षण

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳहृदे ॥९२॥

१. 'वरुण' (वैद्य) रोग का निदान करके ओषधि का चुनाव (वरण) करता हुआ कहता है कि **याः ओषधीः**=जो ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=सोमरूप राजावाली हैं, अर्थात् जिन ओषधियों का राजा सोम है—सोमलता सर्वोत्तम ओषधि मानी गई है। **बह्वीः**=संख्या में अनन्त-सी हैं, हमारे शरीर की वृद्धि का कारण हैं (वह to increase), अङ्ग-प्रत्यङ्ग को दृढ़ करनेवाली हैं (वह to strengthen)। **शतविचक्षणाः**=(क) बहुवीर्य हैं अथवा (ख) रोगनिवारण में अनन्त (शत) चतुर (विचक्षण) हैं। (ग) (चक्षण=appearance) अनन्त आकृतियों व रूपोंवाली हैं। (घ) अपने रसास्वाद से भूख को बढ़ानेवाली हैं (eating—a relish to promote appetite=चक्षण) **तासाम्**=उन ओषधियों में **त्वम्**=तू **उत्तमा असि**= सर्वोत्तम है। २. तू इस रोगी के **कामाय**=रोगनिवारणरूप ईप्सित (मनोरथ) के लिए **अरम्**=पर्याप्त

हो तथा **हृदे**=हृदय के लिए **शं भव**=शान्ति देनेवाली हो। तेरा इसके हृदय पर कुछ अशुभ प्रभाव न पड़े। तेरे प्रयोग से इसका दिल बैठने (heart sink न करे) न लगे।

भावार्थ—ओषधि की विशेषताएँ निम्न हैं। १. ये अपने सोम गुण से दीप्त हों, अर्थात् घबराहट को दूर करनेवाली हों। २. शरीर की वृद्धि व अङ्गों की दृढ़ता का कारण बनें। ३. बहुवीर्य हों—रोग को झट दूर करें। ४. रोगनिवारणरूप मनोरथ को पूरा करें। और ५. हृदय पर इनका कोई कुप्रभाव न हो।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वैद्याः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ओषधि को गुणवत्तर करना

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
बृहस्पतिप्रसूताऽअस्यै सन्दत्त वीर्यम्॥९३॥

१. **याः ओषधीः**=जो ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=सोमौषधिरूप राजावाली हैं—'सोम' जिनका मुखिया है, जो **पृथिवीम् अनु**=इस पृथिवी पर **विष्ठिताः**=विशेषरूप से स्थित हैं, जिनका इन पार्थिव ओषधियों में विशिष्ट स्थान है, वे **बृहस्पतिप्रसूताः**=प्रभु से उत्पन्न की गई अथवा चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् से प्रयुक्त की जाकर **अस्यै**=इस मुझसे दी जानेवाली औषध को **वीर्यम् संदत्त**=अधिक शक्ति दें। २. इस मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि कई ओषधियाँ ऐसी हैं जो इस पृथिवी पर अपना एक विशिष्ट ही स्थान रखती हैं और अन्य ओषधियों में मिलकर उनके गुणों को कई गुणा कर देती हैं। ३. 'अस्यै संदत्त वीर्यम्' का यह अर्थ भी हो सकता है कि इस रोगिणी स्त्री के लिए शक्ति दें। (जयदेवकृत—भाष्य में)

भावार्थ—ओषधियों के परस्पर गुण-वीर्य-विपाक की अनुकूलता से ही दातव्य ओषधि के योग बनाने चाहिएँ।

ऋषिः—वरुणः। देवता—भिषजः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

समीप व दूर की ओषधियाँ

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः।
सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोऽस्यै सन्दत्त वीर्यम्॥९४॥

१. ओषधियों को पुरुषविध करके सम्बोधन करता हुआ 'वरुण' कहता है कि हे ओषधियो! **याः च**=तुममें से जो **इदम्**=इस मेरे वचन को **उपशृण्वन्ति**=समीपता से सुनती हैं, **याः च**=और जो **दूरं परागताः**=अति दूर-दूर देश से व्यवहित होकर 'मेरे वचन को नहीं सुनती' वे **सर्वाः**=सब **सङ्गत्य**=मिलकर **वीरुधः**=विविध रोगों को रोकनेवाली ओषधियाँ **अस्यै**=इस रोगिणी स्त्री के लिए **वीर्यं संदत्त**=शक्ति दें।

भावार्थ—समीप व दूर स्थित सब ओषधियाँ मिलकर इस रोगिणी स्त्री को शक्ति प्रदान करें।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वैद्याः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ओषधि-खनन

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳसर्वमस्त्वनातुरम्॥९५॥

१. हे ओषधियो! (क) **वः**=आपका **खनिता**=खोदनेवाला **मा रिषत्**=मत हिंसित हो, अर्थात् तुम्हारे खोदने में खोदनेवाले को इस प्रकार की चोट आदि न आए जो अन्ततः उसकी हिंसा का कारण सिद्ध हो। (ख) अथवा **खनिता**=खोदनेवाला **वः**=आपको **मा रिषत्**=हिंसित न करे। तुम्हें जड़ से ही न उखाड़ दे। **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** का यही अभिप्राय है। २. **च**=और वह रोग भी नष्ट हो **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **वः**=तुम्हें **खनामि**=खोदता हूँ। जिस रोग के लिए मूल को भी खोदा जाता है, उससे रोगी पुरुष का रोग अवश्य दूर हो जाए। ३. हे ओषधियो! तुम्हारी इस कृपा से **अस्माकम्**=हमारे **द्विपात् चतुष्पात्**=दोपाये मनुष्य व चौपाये गवादिक पशु **सर्वम्**=सब **अनातुरम्**=नीरोग **अस्तु**=हों।

भावार्थ—हम ओषधियों के मूल को नष्ट न करें। हम सब नीरोग हों।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वैद्याः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ओषधियों की ओषधिराज से बातचीत

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳ राजन् पारयामसि॥९६॥

१. 'सोम' ओषधियों का राजा माना जाता है। यहाँ काव्यमय भाषा में उन ओषधियों को चेतन मानकर ओषधियों की ओषधिराज—सोम से वार्तालाप का उल्लेख करते हैं कि **ओषधयः**=ओषधियाँ **राज्ञा सोमेन सह**=अपने राजा सोम के साथ **समवदन्त**=बातचीत करती हैं कि २. **यस्मै**=जिस भी रोगी के लिए **ब्राह्मणः**=एक ज्ञानी वैद्य **कृणोति**=हमें करता है, अर्थात् हमारे पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि से जिस भी रोगी की चिकित्सा करता है, हे **राजन्**=सोम! **तं पारयामसि**=उस रोगी को हम रोग से पार कर देती हैं। उसके रोग को समाप्त करके उसे हम फिर से जिला देती हैं। ३. यहाँ मन्त्र में 'ब्राह्मणः' शब्द का बड़ा महत्त्व है। वैद्य के लिए विद्वान्—अपनी विद्या में निष्णात होना आवश्यक है। 'नीम हकीम तो खतराये जान ही है'। साथ ही उसे आस्तिक वृत्ति का भी होना चाहिए। अन्यथा वह रोगी के स्वास्थ्य की अपेक्षा अपनी जेब के स्वास्थ्य का अधिक ध्यान करेगा।

भावार्थ—वैद्य का विद्वान् व आस्तिक होना आवश्यक है। ऐसा ही वैद्य औषध-प्रयोग से रोगी को नीरोग कर पाएगा।

ऋषिः—वरुणः। देवता—भिषग्वराः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

विविध रोगों का नाश

नाशयित्री बलासस्यार्शसऽउपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी॥९७॥

१. पिछले मन्त्र का ब्राह्मण=ज्ञानी, आस्तिक वैद्य उस-उस ओषधि को हाथ में लेता है और कहता है कि तू **बलासस्य**=(बलम् अस्यति) बल को क्षीण करनेवाले क्षयरोग की **नाशयित्री असि**=नाश करनेवाली है। २. **अर्शसः**=मूलेन्द्रिय—गुदा की व्याधि बवासीर की तू नाशिका है। ३. **उपचिताम्**=(शरीरे ये उपचीयन्ते) शरीर को कुछ सोजवाला कर देनेवाले 'श्वयथु-गड्डु-श्लीपद' आदि रोगों की तू नाशिका है। ४. **अथो**=और **यक्ष्माणां शतस्य**=सैकड़ों ही रोगों की तू नाश करनेवाली है। **पाकारोः**=मुखपाक-क्षतादि की अथवा (अस=व्यथा) अन्नपाक की जो पीड़ा, अर्थात् मन्दाग्नित्व है, उसकी तू **नाशनी असि**=नाश

करनेवाली है।

भावार्थ—उस-उस रोग के नाश करनेवाली औषध को जानकर हम उस-उस रोग से मुक्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वैद्याः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ओषधि खननकर्त्ता

त्वां ग॑न्धर्वाऽअ॑खनँस्त्वामिन्द्र॒स्त्वां बृह॒स्पति॑: ।

त्वामो॑षधे॒ सोमो॒ राजा॑ वि॒द्वान् यक्ष्मा॑दमुच्यत ॥९८॥

१. हे ओषधे! **त्वाम्**=तुझे **गन्धर्वाः**=गन्धर्वों ने **अखनन्**=खोदा है, इष्ट-कार्य की सिद्धि के लिए भूमि से प्राप्त किया है। २. **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रः**=इन्द्र ने खोदा है। **त्वाम्**=तुझे **बृहस्पतिः**=बृहस्पति ने खोदा है। ४. हे **ओषधे**=ओषधे! **त्वाम्**=तुझे **विद्वान्**=अच्छी प्रकार जानता हुआ—तेरे सामर्थ्य को समझकर उपयोग करता हुआ **सोमः राजा**=सोम राजा **यक्ष्मात्**=रोग से **अमुच्यत**=छूट गया है। ५. यहाँ मन्त्र में ओषधि को खोदनेवाले या उसका समझकर प्रयोग करनेवाले चार व्यक्ति हैं—'गन्धर्व, इन्द्र, बृहस्पति, सोमराजा'। 'गन्धर्व' भूमिविज्ञानवित् विद्वान् हैं (गां भूमिं भूमिविज्ञानं धारयन्ति)। 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली राजा है (इदि परमैश्वर्ये)। 'बृहस्पति'=ब्रह्मणस्पति=चारों वेदों का विद्वान् पुरुष है और 'सोमराजा'=सौम्य स्वभाववाला व्यवस्थित जीवनवाला पुरुष है। पहले तीन ने खोदा है, चौथा उपयोग करके रोग से मुक्त हुआ है। सम्भवतः पहले तीन शब्द वैद्य की व औषधालय के प्रबन्धकों की विशेषताओं का संकेत करते हैं। इन्हें भूमिविज्ञानवित् व ज्ञानी होना चाहिए। रोगी जितना शान्ति धारण करेगा, क्रोधादि को छोड़कर सौम्य और नियमित जीवनवाला बनेगा, उतनी ही जल्दी रोग से मुक्त हो पाएगा। अथवा ये सब शब्द वैद्य के ही गुणों का प्रतिपादन करते हैं। (क) यह भूमिविज्ञानवित् (गन्धर्व) हो, जितेन्द्रिय हो (इन्द्र), ज्ञानी हो (बृहस्पति), सौम्य आकृति व स्वभाववाला हो (सोम) व्यवस्थित जीवनवाला हो (राजा)। ऐसा ही वैद्य रोगी को ठीक कर सकता है।

भावार्थ—वैद्य 'भूमिविज्ञानवित् व ज्ञानी हो, शान्त व व्यवस्थित जीवनवाला हो।

ऋषिः—वरुणः। देवता—ओषधिः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सहमाना

सह॑स्व मे॒ऽअरा॑ती॒: सह॑स्व पृतनाय॒तः ।

सह॑स्व॒ सर्वं॑ पा॒प्मान॒ꣳ सह॑मानास्योषधे ॥९९॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली (उष दाहे) ओषधे! **मे**=मेरे **अरातीः**=शत्रुभूत रोगों को **सहस्व**=तू पराभूत कर। इन्हें मेरे शरीर पर आधिपत्य न जमाने दे। २. **पृतनायतः**=सेना की भाँति आचरण करनेवाले, अर्थात् जैसे सेना अपने शत्रुओं पर आक्रमण करती है उसी प्रकार मुझपर आक्रमण करनेवाले इन रोगों को **सहस्व**=मसल डाल (षह मर्षणे)। २. इस प्रकार मेरे शरीर से सब रोगों को दूर करके मन में रहनेवाले **सर्वं पाप्मानम्**=सारे पापों को अथवा सब अशुभवृत्तियों को **सहस्व**=कुचल डाल। इन ओषधियों से शरीर की व्याधियाँ तो दूर हों ही, ये आन्तरिक—मन में रहनेवाली आधियों को भी समाप्त कर दें। ३. हे ओषधे! तू **सहमाना असि**=है ही रोगों का पराभव करनेवाली।

भावार्थ—ओषधियाँ शत्रुरूप रोगों को नष्ट करती हैं, उनपर आक्रमण करनेवाली होती हैं।

सूचना—सम्भवतः 'अराति' शब्द बहुत न फैलनेवाले रोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है और पृतनायतः=फैलनेवाले (epidemics) रोगों के लिए आया है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वैद्याः। छन्दः—विराड्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

वैद्य, रोगी, औषध

दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात्॥१००॥

१. हे **ओषधे**=रोगनाशकद्रव्य! **ते खनिता**=तेरा खोदनेवाला—भूम्यादि के गुणविज्ञान से युक्त वैद्य जो तुझे भूमि से प्राप्त करता है वह **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवनवाला हो, अर्थात् तुझे प्राप्त करने की प्रक्रिया में उसे किसी प्रकार की हानि न हो जाए। २. **च**=और **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **त्वा**=तुझे **खनामि**=खोदता हूँ, वह रोगी भी तेरे द्वारा—तेरा प्रयोग कराये जाने पर नीरोग होकर दीर्घ जीवनवाला हो। ३. **अथो** और निश्चय से **त्वम्**=तू भी **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवनवाली **भूत्वा**=होकर **शतवल्शा**=असंख्य अंकुरोंवाली होकर **विरोहतात्**= प्रादुर्भूत हो—फैल, अर्थात् **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** के अनुसार कोई भी खोदनेवाला तेरे मूल को नष्ट न कर दे। बचे हुए मूलवाली तू शतशः अंकुरोंवाली होकर फैलती रहे। तेरा अभाव न हो जाए।

भावार्थ—वैद्य, रोगी व औषध तीनों दीर्घ जीवनवाले हों।

ऋषिः—वरुणः। देवता—भिषजः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उपस्ति

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासति॥१०१॥

१. हे **ओषधे**=रोगदाहक औषध! **त्वम्**=तू=**उत्तमा असि**=उस-उस रोग को नष्ट करने में सर्वोत्तम है। २. **वृक्षाः**=शाल-ताल-तमाल-वट आदि वृक्ष **तव**=तेरे **उपस्तयः**=समीप संहत होकर विद्यमान हैं। 'उपस्त्यायन्ति' वे वृक्ष तुम्हारे उपकार के लिए और उपद्रव के निराकरण के लिए समीप ही संहत होकर ठहरे हैं। ३. (क) इसी प्रकार **यः**=जो **अस्मान्**= हमें **अभिदासति**=(दासतिः दानकर्मा—नि० ३।२०) उत्तमोत्तम पदार्थ देता है **सः**=वह पुरुष **अस्माकम्**=हमारा **उपस्तिः**=उपासन करनेवाला **अस्तु**=हो। जिस प्रकार ओषधि के समीप स्थित वृक्ष उसके लिए हितकर होते हैं, उसी प्रकार हमारे समीप स्थित व्यक्ति हमारे लिए हितकर हों। (ख) 'दासति' धातु हिंसा अर्थ में भी आती है तब अर्थ इस प्रकार होगा कि **यः**=जो **अस्मान् अभिदासति**=हमारी हिंसा करता है **सः**=वह हमारा विरोध छोड़कर **अस्माकम्**=हमारा **उपस्तिः अस्तु**=उपासक बन जाए। जो रोग हमें समाप्त कर रहा था, वह हमारे लिए कल्याणकर हो जाए।

भावार्थ—ओषधियाँ रोग-निवारण करनेवाली हैं, परन्तु हमें विरोधी से कभी औषध नहीं लेनी चाहिए, हितचिन्तक से ही औषध का ग्रहण करें।

सूचना—यहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध में ऐसा संकेत स्पष्ट है कि विरोधी व्यक्ति से ली गई औषध गुणकारी न होकर हमारी समाप्ति ही कर देगी। हम सदा औषध उसी वैद्य से लें जो हमारा उपासक व हितू हो।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—कः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

हविषा विधेम

मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१०२॥

१. पिछले मन्त्रों में भूमि से उत्पन्न होनेवाली तथा वृष्टि के कारणभूत सूर्यादि से परिपक्व की गई ओषधियों का सविस्तर वर्णन हुआ है, परन्तु भूमि-सूर्य आदि इन सबका उत्पादक भी तो वह प्रभु है, अतः प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि उस ज्ञान-धन प्रभु की उपासना करता है। वे प्रभु 'हिरण्यगर्भ' हैं। यह उपासक भी 'हिरण्यगर्भ' कहलाने लगता है। यह प्रार्थना करता है कि—२. **यः पृथिव्याः जनिता**=जो पृथिवी का उत्पादक प्रभु है, वह **मा**=मुझे **मा हिंसीत्**=नष्ट न होने दे। वह इस पृथिवी में ऐसी गुणकारी ओषधियों को जन्म देता है, जिससे मेरे सब रोग दूर हो जाते हैं। ३. वह **सत्यधर्मा**=सत्य से इन लोक व लोकान्तरों का धारण करनेवाला—अपनी अटल व्यवस्था से सब लोकों को हिंसित होने से रक्षित करनेवाला प्रभु **यः**=जो **वा**=निश्चय से **दिवम्**=द्युलोक को **व्यानट्**=व्याप्त कर रहा है अथवा (असृजत्) उत्पन्न करता है, मुझे हिंसित न होने दे। ४. (क) **च**=और वह प्रभु मुझे हिंसित न होने दे **यः**=जिसने **आपः**=जलों को तथा **चन्द्राः**=ओषधियों में उत्तम रसों का सञ्चार करनेवाले चन्द्रलोकों को **प्रथमः**=सबसे प्रथम होते हुए (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे) **जजान**=पैदा किया है। (ख) **यश्चापश्चन्द्राः**=का अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों में 'मनुष्य' किया गया है 'मनुष्य एव हि यज्ञेनासुवन्ति चन्द्रलोकम्' मनुष्य ही तो यज्ञों से चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं, अतः जिसने मनुष्यों को जन्म दिया है, वह प्रभु उन्हें हिंसित करनेवाला न हो। वह प्रभु 'भूमि, द्युलोक, जल, चन्द्र' आदि उन सब लोकों का निर्माण करता है जो उत्तम ओषधियों के उत्पादन में भाग लेते हैं। ५. इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब औषधों के देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। प्रभु तो उत्तमोत्तम ओषधियों से हमें नीरोग करने में लगे हैं। यदि हम दानवृत्ति को छोड़कर 'स्वोदरम्भरि' ही बन जाएँगे तो पेटू बनकर नीरोग कैसे हो सकेंगे! अतः प्रभु की पूजा इसी प्रकार होगी कि हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनकर रोगनिवारण में सहायक बनें।

भावार्थ—वे प्रभु पृथिवी, द्युलोक, जल व चन्द्रादि के निर्माता हैं। ये सब लोक हमारे कल्याण के लिए हैं। कल्याण तभी होगा जब हम दानपूर्वक खानेवाले बनें। ऐसा बनने में ही सच्ची प्रभु-पूजा है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

यज्ञ व पृथिवी की उत्पादन-शक्ति

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवी यज्ञेन पयसा सह। वपां तेऽअग्निरिषितोऽअरोहत्॥१०३॥

१. मन्त्र संख्या ७९ में यज्ञों से ओषधियों के उत्पादन का वर्णन हुआ है। पिछले मन्त्र में इसीलिए यज्ञिय वृत्तिका उपदेश हुआ है कि इसी से तुम प्रभु की सच्ची परिचर्या

करोगे। 'हविषा विधेम'=हवि के द्वारा ही उपासना होती है। यहाँ कहते हैं कि हे **पृथिवि**=भूमे! तू **यज्ञेन**=यज्ञ से **अभ्यावर्त्तस्व**=हमारे सम्मुख चारों ओर वर्त्तमान हो, अर्थात् हम तुझपर चारों ओर यज्ञों को होता हुआ देखें। २. और हे पृथिवि ! तू इन यज्ञों के द्वारा सदा **पयसा सह**=आप्यायन करनेवाले, उत्पादक शक्ति को बढ़ानेवाले मेघजलों के साथ वर्त्तमान हो। 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्'=अग्निहोत्र से वर्षा तो होगी ही। वह 'पयो-दों' (जल-द) से प्राप्त जल भूमि का सचमुच आप्यायन=वर्धन करनेवाला होगा। ३. इस प्रकार **इषितः अग्निः**= यज्ञकुण्डों में प्रेरित हुआ-हुआ यह अग्नि हे भूमे! **ते**=तेरी **वपाम्**=(बीजजन्म व प्रादुर्भाव) वपनशक्ति=बीज बोना व उनको शतगुणित करके प्रकट करने की शक्ति को **अरोहत्**=ऊँचा चढ़ा दे, बढ़ा दे। ४. एवं, स्पष्ट है कि जब नियमपूर्वक यज्ञ होते हैं तब वृष्टिजल से पृथिवी का आप्यायन होता है और इस प्रकार यह यज्ञाग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ानेवाली होती है। जो भी राष्ट्र इस प्रकार यज्ञ के महत्त्व को समझ लेता है, वह इस पृथिवि के गर्भ से हित-रमणीय अन्नों को प्राप्त करता है, अतः उसका नाम 'हिरण्य-गर्भ' हो जाता है।

भावार्थ—हम यज्ञ करें, बादल पृथिवी को सींचेंगे और इस प्रकार यह यज्ञाग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ा देगी।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिग्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

यज्ञिय अन्न

अग्ने॒ यत्ते॑ शु॒क्रं यच्च॒न्द्रं यत्पू॒तं यच्च॑ य॒ज्ञिय॑म्। तद्दे॒वेभ्यो॑ भरामसि ॥१०४॥

१. गत मन्त्र में कहा है कि अग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ा देता है। यज्ञाग्नि जिस अन्न के उत्पादन का कारण बनती है, 'वह अन्न कैसा होता है' इस बात का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में है। कहते हैं कि हे **अग्ने**=यज्ञिय अग्ने! **यत्**=जो **ते**=तेरी सहायता से उत्पन्न हुआ (क) **शुक्रम्**=शक्ति व वीर्य का जनक (ख) **यत् च**=और साथ ही जो **चन्द्रम्**=आह्लादजनक (चदि आह्लादे) सौम्यता को उत्पन्न करनेवाला, (ग) **यत्**=जो **पूतम्**=हृदय को पवित्र करनेवाला, (घ) **यत् च**=और जो **यज्ञियम्**=प्रभु से सङ्गतीकरण का साधनभूत अन्न है **तत्**=उस अन्न को **देवेभ्यः**=अपने अन्दर दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए **भरामसि**=धारण करते हैं। उस अन्न से हम अपना भरण-पोषण करते हैं, जिससे हम दिव्य गुणों को धारण कर सकें। २. एवं, मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि यज्ञों द्वारा वृष्टिजलों से उत्पन्न हुए-हुए अन्न (क) हमारे वीर्य के वर्धक होंगे (शुक्रं=वीर्यम्), (ख) वे हमारी क्रियाशीलता को बढ़ानेवाले होंगे (शुक् गतौ), (ग) ये अन्न हमारी मनोवृत्ति को सदा आह्लादमय बनाएँगे (चदि आह्लादे), हम ईर्ष्या-द्वेषादि की बुरी वृत्तियों से ऊपर उठेंगे, (घ) ये हमारे जीवनों को पवित्र बनाएँगे (पू=पवने=purify), हमारे शरीर व मन व्याधि व आधियों से रहित होंगे और (ङ) अन्ततः ये अन्न हमें परस्पर मिलकर चलना सिखाएँगे (यज्=सङ्गतीकरण) और उस प्रभु से भी हमारा मेल करानेवाले होंगे। (च) इन अन्नों के सेवन से हममें दिव्य गुणों की वृद्धि होगी, दैवी सम्पत्ति के हम स्वामी होंगे। (छ) इस प्रकार ये अन्न हमारा उत्तम भरण-पोषण करेंगे, अतः ये ही अन्न सेवनीय हैं, हमारे लिए हित-रमणीय=**हिरण्य** हैं। ये ही हमारे उदर=**गर्भ** में जाने योग्य हैं। ऐसा करके ही हम हिरण्यगर्भ होंगे।

भावार्थ—यज्ञिय अन्नों का सेवन हमें पवित्र करेगा।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—विद्वान्। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।।

यज्ञ के लाभ 'अन्नाभाव तथा रोग का विनाश'

इषमूर्जमहमितऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम्।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम्॥१०५॥

१. पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार मैं यज्ञादि करता हुआ, उनसे उत्पन्न अन्नों का ही सेवन करता हूँ। यहाँ कहते हैं कि **अहम्**=मैं **इतः**=इस नित्यप्रति सर्वत्र किये जानेवाले यज्ञ से **इषम्**=अन्न को व **ऊर्जम्**=रस को **आदम्**=ग्रहण करता हूँ। इस यज्ञिय चारे का भक्षण करनेवाली गौओं से प्राप्त गोरस (दूध) भी यज्ञिय होता है, उसी दूध का मैं स्वीकार करता हूँ। २. क्योंकि यह अन्न व रस **ऋतस्य योनिम्**=ऋत का कारण है, ऋत का जन्मस्थान है। इस अन्न-रस के सेवन से मुझमें 'ऋत' की भावना उत्पन्न होती है, मेरे सब कार्य बड़े ठीक—ऋत=[right] को लिये हुए होते हैं। मैं सब कार्यों को यथास्थान, यथासमय करनेवाला बनता हूँ। ३. यह अन्न **महिषस्य**=(मह पूजायाम्) पूजा के योग्य प्रभु का **धाराम्**=धारण करानेवाला है। इस अन्न के सेवन से बुद्धि सात्त्विक होकर मनुष्य के हृदय में प्रभु का दर्शन कराने में सहायक होती है। अथवा 'धारा' शब्द 'वाङ्' नामक है। यह अन्न हमें उस महनीय प्रभु की वेदवाणी को समझने के योग्य बनाता है। ४. यह अन्न **मा**=मुझे **गोषु**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के निमित्त, अर्थात् इन्द्रियशक्तियों के विकास के लिए **आविशतु**=प्राप्त हो, मेरे शरीर में अन्न का प्रवेश इन्द्रियों के बल को बढ़ाने के लिए हो। ५. यह अन्न **तनूषु**=पञ्चकोशों के स्वास्थ्य के लिए **आविशतु**=मुझमें प्रवेश करे। ६. मैं **अनिरां सेदिम्**=(इरा=अन्न) अन्नाभाव के कारण उत्पन्न अवसाद—विनाश को **जहामि**=छोड़ता हूँ। यज्ञों से देश में अन्नाभाव की स्थिति कभी उत्पन्न नहीं होती। **'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः'**=यज्ञ से बादल, और बादल से अन्न की उत्पत्ति होती है। ७. मैं इन यज्ञों से **अमीवाम्**=रोगों को **जहामि**=छोड़ता हूँ **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात-यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**=ज्ञान के द्वारा मैं तुझे अज्ञात रोगों व राजरोगों से मुक्त करता हूँ। एवं, यज्ञ से अन्नाभाव व रोग दोनों ही दूर होते हें और परिवार के भोजन की चिन्ता से उत्पन्न परेशानियों के कारण हमारे घरों में अन्धकार नहीं होता। 'हिरण्यं ज्योतिः गर्भे यस्य'=जिन घरों में प्रकाश-ही-प्रकाश है, ऐसे हिरण्यगर्भ हम बनते हैं।

भावार्थ—१. यज्ञ से वह अन्न-रस प्राप्त होता है जो १. हमारे जीवन को व्यवस्थित= ऋतवाला करता है, २. यह हमें पूज्य प्रभु के प्रति झुकाववाला करता है तथा उसकी वाणी को समझने के योग्य बनता है, ३. इससे हमारी इन्द्रिय-शक्तियों का विकास होता है और ४. हमारे शरीर अविकृत होते हैं। ५. इन यज्ञों से हमारे घरों में अन्नाभाव दूर होता है और रोग विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—पावकाग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।।

नातिमानिता Absence of Pride

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्तेऽअर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे॥१०६॥

१. 'मनुष्य अपने जीवन को उन्नत करके गर्वित न हो जाए', अतः वह प्रभु का

स्मरण करते हुए कहता है कि **अग्ने**=मेरी सब उन्नति के साधक प्रभो! **तव श्रवः**=मेरे जीवन में जो कुछ भी थोड़ी-बहुत अच्छाई आ पाई है वह तेरी श्री-कीर्ति है, उसमें मेरा कुछ नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि (तव) **वयः**=मेरा यह जीवन आपका ही है-आपकी कृपा से ही मैं जी रहा हूँ। यह जीवन प्राप्त भी आपकी कृपा से ही हुआ है। २. हे **विभावसो**=ज्ञान-धन प्रभो! **अर्चयः**=आपकी ज्ञानदीप्तियाँ **महि भ्राजन्ते**=ख़ूब ही चमकती हैं। मेरे हृदय में भी आपके ही ज्ञान का प्रकाश होता है। मैं अपनी मूर्खता से हृदय पर राग-द्वेष का ऐसा आवरण डाल बैठता हूँ जो मेरे हृदय को मलिन कर देता है और मुझे उस ज्ञान के प्रकाश को देखने के अयोग्य कर देता है। ३. हे **बृहद्भानो**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि के कारणभूत ज्ञानमय प्रभो ! आपके उस ज्ञान को प्राप्त करके ही तो मेरी सब प्रकार की उन्नति सम्भव होती है। आप **शवसा**=(शवतिर्गतिकर्मा) गति के हेतु से-मेरे जीवन को क्रियाशील बनाने के हेतु से **उक्थ्यं वाजम्**=स्तुत्य बल को **दधासि**=धारण करते हैं। आपकी कृपा से मुझे शक्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मैं सदा लोकहित में प्रवृत्त होता हूँ और इस प्रकार मेरी शक्ति मेरे यश का कारण बनती है। **उक्थ्यं वाजम्**=(यशो बलम्) आप मुझे यशस्वी बल प्राप्त कराते हैं। ४. हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन् प्रभो! आप प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता को जानते हैं-मेरी स्थिति को भी मुझसे अधिक अच्छी प्रकार आप समझते हैं और मुझ **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए-आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए-आप यशस्वी बल देते हैं। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर मैं संसार में शुभ कार्यों में प्रवृत्त हो पाता हूँ। इन सब कार्यों के अन्दर रहनेवाला यश आपका ही है। आपकी कृपा से मैं वस्तुतत्त्व को समझूँगा और किसी भी कार्य का गर्व न करूँगा।

भावार्थ-प्रभु ज्ञान देते हैं-वही यशस्वी बल प्राप्त कराते हैं। सब प्रभु की ही महिमा है-हमारा जीवन भी उस प्रभु की ही कृपा से है। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें और इस प्रकार उन्नत होकर अभिमान से फिर अवनत न हो जाएँ।

ऋषिः-पावकाग्निः। देवता-विद्वान्। छन्दः-भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः-पञ्चमः॥

पावकाग्नि

पावकवर्चाः शुक्रवर्चाऽअनूनवर्चाऽउदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसीऽउभे॥१०७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कोई मनुष्य खूब उन्नति करता है। 'अग्नि' बनता है, आगे बढ़ता है और साथ ही उस उन्नति का गर्व न करके अपने को पवित्र बनाये रखता है, अतः इसका नाम 'पावकाग्नि' हो जाता है। प्रभु इस पावकाग्नि से कहते हैं कि २. तू **पावकवर्चाः**=पवित्र करनेवाले वर्चस्‌वाला है। तेरा 'वर्चस्' तुझे पवित्र बनाता है। वस्तुतः शक्ति के अभाव में ही अपवित्रता आती है। शक्ति के साथ पवित्रता का निवास है। वीरत्व के साथ वर्चस् (virtue) रहता है। **शुक्रवर्चाः**=तेरा वर्चस्-तेरी शक्ति तुझे गतिशील बनाती है (शुक् गतौ) शक्ति के अभाव में क्रिया सम्भव ही नहीं रहती, शक्ति ही क्रिया में परिवर्तित होती है। ४. **अनून-वर्चा**=(न ऊन वर्चस्) इस शक्ति के कारण तुझमें किसी प्रकार की न्यूतना नहीं रह जाती। क्या शारीरिक, क्या मानस व क्या बौद्ध सभी न्यूनताएँ इस वर्चस् से दूर हो जाती हैं। ५. तू **भानुना**=इस वर्चस् के कारण प्राप्त ज्ञान की दीप्ति से उत् **इयर्षि**=ऊपर-ही-ऊपर उठता है। यह ज्ञान तेरी सब उन्नतियों का कारण बनता है।

ज्ञान ही तो वस्तुतः तुझे पवित्र जीवनवाला बनाता है। ६. **पुत्रः**=पवित्रतावाला (पुनाति) और वासनाओं से अपना त्राण करनेवाला (त्रायते) होकर तू **मातरा**=माता व पिता की **विचरन्**=विशेषरूप से सेवा करता हुआ, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने देता हुआ **उपावसि**=हमारे समीप (प्रभु के समीप) आता है (अव=मव=Move=गतौ)। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति माता-पिता को कष्ट पहुँचाकर प्रभु-भक्त नहीं बन पाता। क्या उपहास की बात है कि एक व्यक्ति समर्थ होकर पितृयज्ञ की तो पूर्ण उपेक्षा कर रहा है और प्रभु के नाम पर मन्दिर बनवा रहा है अथवा कितने ही घण्टे प्रभु-कीर्तन में बिता रहा है। माता-पिता की सेवा न करनेवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय नहीं हो सकता। ७. हे पावकाग्ने! तू अपने जीवन में **उभे रोदसी**=इन दोनों लोकों को—द्युलोक व पृथिवीलोक को, अध्यात्म में शरीर व मस्तिष्क को **पृणक्षि**=समृद्ध करता है। तू शरीर को स्वस्थ बनाता है और मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल करता है।

भावार्थ—पावकाग्नि के जीवन में माता-पिता की सेवा का प्रमुख स्थान है। इसी के द्वारा वह प्रभु की सच्ची उपासना करता है, स्वस्थ शरीरवाला बनता है और उज्ज्वल मस्तिष्कवाला।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पावकाग्नि का प्रभु-स्तवन

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।

त्वेऽइषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः॥१०८॥

१. पावकाग्नि प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **ऊर्जः नपात्**=हे प्रभो! आप मेरे बल व प्राणशक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही मेरी शक्ति स्थिर रहती है। आपका विस्मरण मुझे विषय-प्रवण व क्षीणशक्ति कर देता है। २. **जातवेदः**=हे प्रभो! सम्पूर्ण ज्ञान आपसे ही उत्पन्न होता है। मुझमें भी जो ज्ञान का लवलेश है, वह आपकी ही कृपा से है। ३. **सुशस्तिभिः**=उत्तम शंसनों के द्वारा—उत्तम स्तुति के द्वारा तथा **धीतिभिः**=ध्यान के द्वारा 'चित्तवृत्तिनिरोध' के द्वारा **हितः**=हृदय में स्थापित हुए-हुए आप **मन्दस्व**=(मन्दयस्व) हमारे जीवनों को उल्लासमय कीजिए। आपकी कृपा ही मेरे सब कष्टों को दूर करके मेरे जीवन में हर्ष को अंकुरित करनेवाली होगी। ४. हे प्रभो! जो भी व्यक्ति **त्वे**=आपमें **इषः**=अपनी इच्छाओं को **सन्दधुः**=धारण करते हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति ही जिनकी प्रबल कामना हो जाती है, वे (क) **भूरिवर्पसः**=(वर्पन्=form) बहुत आकृतियोंवाले होते हैं, अर्थात् वे अपने में बहुतों का समावेश करनेवाले— औरों से अपृथक् (अयुतोऽहम्) होते हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के उपदेश के अनुसार 'बह्वीः' बहुत बनते हैं, एक नहीं रह जाते। स्वार्थ से ऊपर उठ परार्थ में स्थित होते हैं, इसीलिए (वर्पन् praise) बड़े यशवाले होते हैं—इनका जीवन उत्तम कर्मोंवाला होकर परार्थ व यज्ञ का साधक होकर यशस्वी बनता है। (ख) **चित्रोतयः**=ये अद्भुत रक्षणवाले होते हैं—वासनाओं से आश्चर्यजनकरूप में अपनी रक्षा करते हैं। अथवा चित्र (चिती संज्ञाने) ज्ञान के द्वारा अपनी रक्षा करनेवाले बनते हैं तथा (ग) **वामजातः**=(वामेषु प्रशस्तकर्मसु जाताः प्रसिद्धाः) उत्तम कर्मों में प्रसिद्ध होते हैं। इनके जीवन से सदा उत्तम ही कर्म होते हैं। इनके जीवन में सब वस्तुएँ सुन्दर-ही-सुन्दर होती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तुति व ध्यान से अपने हृदयों में प्रभु की प्रतिष्ठा करें, तब १. हम अक्षीणशक्ति बनेंगे। २. हमारा ज्ञान बढ़ेगा। ३. हम एक-से बहुत हो जाएँगे अथवा प्रशंसात्मक कर्मों को ही करेंगे। ४. ज्ञान के द्वारा अपने को वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित कर पाएँगे तथा ५. हमारे जीवनों में सब वस्तुएँ सुन्दर-ही-सुन्दर होंगी।

ऋषिः—पावकाग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सानसि क्रतु

इ॒र॒ज्यन्न॑ग्ने प्रथयस्व ज॒न्तुभि॑र॒स्मे रायो॑ऽअमर्त्य।
स द॑र्श॒तस्य॒ वपु॑षो॒ विरा॑जसि पृ॒णक्षि॑ सा॒न॒सिं क्रतु॑म्॥१०९॥

१. प्रभु 'पावकाग्नि' से कहते हैं कि (क) इरज्यन् (इरज्यति ऐश्वर्यकर्मा—नि० २।२१) ऐश्वर्यवाला होता हुआ, अर्थात् सब इन्द्रियों, मन व बुद्धि का ईश्वर बनता हुआ, इनकी दासता से ऊपर उठता हुआ, अतएव (ख) **अमर्त्य**=विषयों के पीछे न मरनेवाले और (ग) **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अस्मे रायः**=हमारे इन धनों को **जन्तुभिः**=गौ इत्यादि पशुओं से **प्रथयस्व**=विस्तृत करनेवाला हो। गौ इत्यादि के पालन से मनुष्य अपने ऐश्वर्य की वृद्धि कर पाता है। गोशालास्थापन='डेरीफार्म' स्वयं एक उत्तम व्यापार है। इन प्राप्त धनों को तू **जन्तुभिः**=प्राणियों के हेतु से **प्रथयस्व**=विस्तृत कर, अर्थात् प्राणियों के हित के लिए तू इनका विनियोग कर। यह अर्जित धन विषय-भोग जुटाने का साधन न हो जाए। २. यदि तू ऐसा कर पाता है तो **सः**=वह तू **दर्शतस्य वपुषः विराजसि**=दर्शनीय शरीर का राजा बनता है—तू बड़े उत्तम शरीरवाला होता है और ३. उस शरीर में तू **सानसिम्**=(षण सम्भक्तौ) सम्भजन—उपासन से युक्त **क्रतुम्**=प्रज्ञान व कर्म को **पृणक्षि**=(पूरयसि) पूरित करता है, अर्थात् अपने सुन्दर शरीर से तू उपासना करनेवाला होता है—तेरी यह उपासना प्रज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से होती है। वस्तुतः सौन्दर्य इसी बात पर तो निर्भर है कि वहाँ 'उपासना, प्रज्ञान व कर्म' तीनों का समन्वय हो पाया है।

भावार्थ—हम अपने ईश्वर हों। प्राणिहित के उद्देश्य से धनों का विनियोग करें। हमारे शरीर सुन्दर हों। उनमें 'उपासना, प्रज्ञान व कर्म' का समुच्चय हो।

ऋषिः—पावकाग्निः। देवता—विद्वान्। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का धारणीय

इ॒ष्क॒र्त्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्त॒ꣳ राध॑सो म॒हः।
रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॒ दधा॑सि सान॒सिꣳ र॒यिम्॥११०॥

१. पावकाग्नि प्रभु से प्रार्थना करता है कि—आप **दधासि**=धारण व पोषण करते हो। किसका? (क) **अध्वरस्य इष्कर्त्तारम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों के सम्पादक का। जो व्यक्ति अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है वह प्रभु का धारणीय बनता है। (ख) **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले का। प्रभु उसे धारण करते हैं जो ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान ही तो उसे प्रभु के समीप पहुँचाता है। ज्ञानाभाव व अज्ञान मनुष्य को प्रभु से दूर करता है। अज्ञानियों से वह दूर है, ज्ञानियों के समीप। (ग) प्रभु उसे धारण करते हैं जो **राधसः क्षयन्तम्**=सफलता के, सिद्धि के साधनभूत धन का निवास-स्थान है (क्षि=निवास)। (घ) **महः**=(महस् power, light) जो शक्ति व प्रकाश का पुञ्ज है। (ङ) **वामस्य**

रातिम्=उत्तम प्रशस्य धन देनेवाले का। जो व्यक्ति सेवनीय सुन्दर धनों का दान करता है। २. उल्लिखत गुणों से युक्त पुरुष का हे प्रभो! आप धारण करते हो। ऐसे पुरुष के लिए आप **सुभगाम्**=उत्तम ऐश्वर्य के प्रापक **महीम्**=महनीय या पूजा की वृत्ति के जनक—**इषम्**=अन्न को **दधासि**=धारण करते हैं तथा **सानसिं रयिम्**=उस धन को धारण करते हैं जो सम्भजनीय है अथवा संविभागों के योग्य है, अर्थात् इस पुरुष को आप वह धन देते हैं जिसे यह सबके साथ बाँटकर खाता है।

भावार्थ—प्रभु 'यज्ञशील—ज्ञानी—सफलता के साधनाभूत धन के धारण करनेवाले, बल व प्रकाश के पुञ्ज और उत्तम वस्तुओं के दाता' का धारण करते हैं। इस पुरुष को प्रभु 'उत्तम ऐश्वर्य के प्रापक तथा पूजा की वृत्ति के जनक' अन्न को देते हैं तथा वह धन देते हैं जिसका वह दान करता है, जिसे बाँटकर खाता है।

ऋषिः—पावकाग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु-प्राप्ति का साधन

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निꣳसुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।
श्रुत्कर्णꣳसप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा॥१११॥

१. पावकाग्नि प्रभु का आराधन करते हुए कहता है कि **जनाः**=अपना विकास करनेवाले लोग **सुम्नाय**=सुख-प्राप्ति के लिए **त्वा**=आपको **पुरः**=अपने सामने **दधिरे**=स्थापित करते हैं, अर्थात् वे सदा आपका स्मरण करते हैं। आपके स्मरणपूर्वक ही सब काम करने के कारण उनके कार्य अपवित्र नहीं होते और उनका जीवन सुखी होता है। २. उन आपको वे धारण करते हैं, जो आप (क) **ऋतावानम्**=ऋतवाले हैं। प्रभु से होनेवाले सब कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान पर हो रहे हैं। वस्तुतः प्रभु के तीव्र तप से ही तो 'ऋत और सत्य' की उत्पत्ति हुई है। (ख) **महिषम्**=वे प्रभु महनीय, पूजनीय हैं, महान् हैं। (ग) **विश्वदर्शतम्**=सबके दर्शनीय हैं अथवा सब विज्ञानों के द्रष्टा हैं। (घ) **अग्निम्**=वे अग्रेणी हैं—सबको आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। (ङ) **श्रुत्कर्णम्**=(शृणोत्याह्वानम्) प्रार्थना को सुननेवाले हैं। (च) **सप्रथस्तमम्**=अतिशयेन विस्तारवाले हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक हैं—कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वे न हों। (छ) **दैव्यम्**=(देव एव दैव्यः—स्वार्थे यः) वे प्रभु देव हैं अथवा देवों का हित करनेवाले हैं। ३. इस प्रभु को **मानुषा युगा**=मनुष्यों के युग्म अर्थात् दम्पती—पति-पत्नी **गिरा**=इस वेदवाणी के द्वारा, ज्ञान की वाणियों के द्वारा धारण करते हैं। घर में पति-पत्नी प्रभु के दिये हुए ज्ञान—वेद के स्वाध्याय द्वारा प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु को आँख से ओझल न होने देनेवाले लोग पवित्र व सुखी जीवनवाले होते हैं। वेद के अध्ययन द्वारा पति-पत्नी प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

वाजस्य सङ्गथे

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य सङ्गथे॥११२॥

गत मन्त्र के अनुसार अपने आराधक से प्रभु कहते हैं—१. **आप्यायस्व**=तू समन्तात् वर्धनवाला हो। उन्नति तेरा स्वभाव हो। तेरा शरीर बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो, तेरा हृदय भी विशाल हो, तेरा ज्ञान भी खूब बढ़ा हुआ हो। २. हे **सोम**=सौम्य व विनीत! **ते**=तुझे

विश्वतः=सब ओर से, सब सेवनीय पदार्थों से—**वृष्ण्यम्**=(वीर्य) शक्ति **समेतु**=प्राप्त हो। इसी शक्ति से ही तो तेरा आप्यायन व वर्धन होता है। ३. इस शक्ति को प्राप्त करके तू **वाजस्य**=त्याग व ज्ञान के **सङ्गथे**=मेल में **भव**=हो। 'शक्ति' एक ओर तेरा आप्यायन करनेवाली हो और दूसरी ओर यह तुझे त्याग व ज्ञान से युक्त करे। ४. वस्तुतः प्रभु-भक्त वही होता है जो (क) बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो। (ख) सौम्य होता हुआ वीर्यवान् हो। (ग) त्याग व ज्ञान से युक्त हो। ऐसे पुरुष की सब इन्द्रियाँ बड़ी उत्तम होती हैं, इसी से वह 'गौतम' कहलाता है—अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला।

भावार्थ—प्रभु-शक्ति मनुष्य का वर्धन करनेवाली होती है। उसे सौम्य व सशक्त करती है। यह ज्ञानी बनकर त्यागशील होता है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सोमः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

गोदुग्ध-सेवन

सं ते पयांꣳसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानोऽअमृताय सोम दिवि श्रवांꣳस्युत्तमानि धिष्व॥११३॥

१. हे मेरे आराधक! **ते**=तुझे **पयांसि**=दूध **सम् यन्तु**=उत्तमता से प्राप्त हों, अर्थात् तू गौ इत्यादि पशुओं के पालन के द्वारा उत्तम दूध प्राप्त करनेवाला बन। २. **उ**=और इस दुग्ध-सेवन से **वाजाः**=तुझे शक्तियाँ **संयन्तु**=प्राप्त हों। ३. **वृष्ण्यानि**=वीर्य **सम्**=तुझे प्राप्त हों। ४. इस शक्ति को प्राप्त करके तू **अभिमातिषाहः**=अभिमान का धर्षण करनेवाला—समाप्त करनेवाला हो। ५. अभिमान को कुचलने के कारण **आप्यायमानः**=सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ हे **सोम**=विनीत! तू **अमृताय**=अमृतत्व की प्राप्ति के लिए **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **उत्तमानि श्रवांसि**=उत्तम ज्ञानों को **धिष्व**=धारण कर।

भावार्थ—१. दुग्ध-सेवन हममें वाजों, बलों तथा वीर्य को धारण करता है। २. गोदुग्ध से शक्ति प्राप्त करके हम निरभिमान बने रहते हैं। ३. हमारी सर्वतोमुखी उन्नति होती है। ४. हम अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। ५. हमारे मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि तीव्र होती है और हम उत्तम ज्ञानों को प्राप्त करके प्रभु के उपासक बनते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सोमः। छन्दः—आसुर्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

आनन्दमय

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरꣳशुभिः।
भवा नः सुप्रथस्तमः सखा वृधे॥११४॥

गोतम प्रभु से आराधना करता है कि—(१) हे **मदिन्तम**=अत्यन्त आनन्दमय प्रभो! **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो! अथवा शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **आप्यायस्व**=आप हमारा संवर्धन कीजिए। आपके द्वारा मैं इस संसार में सदा बढ़नेवाला बनूँ। प्रभु शान्त हैं, शक्ति के पुञ्ज हैं। इस शान्ति व शक्ति के कारण ही आनन्दमय हैं। हम भी प्रभु का इस रूप में स्मरण करते हुए शान्त बनें, सशक्त बनें और अपने जीवन को आनन्दमय बनाएँ। २. हे प्रभो! **सप्रथस्तमः**=आप अत्यन्त विस्तार-(प्रथ)-वाले हैं, सर्वव्यापक हैं। कोई भी स्थान आपसे खाली नहीं है। आप **विश्वेभिः अंशुभिः**=सब ज्ञान की किरणों से **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भव** =होओ। हम आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करें, और ज्ञान के द्वारा उन्नति

करनेवाले बनें। ३. **सखा**=हे प्रभो! आप ही हमारे सच्चे मित्र हैं। आपको प्राप्त करके क्या मैं अपने जीवन को आनन्दमय न बना पाऊँगा? क्या मेरा जीवन भी शान्त व शक्ति-सम्पन्न न होगा? अथवा उपासक होकर क्या मैं संकुचित हृदय रह जाऊँगा? नहीं, कभी नहीं, मेरा हृदय अत्यन्त विशाल होगा। मैं भी आपकी भाँति सभी का 'सखा' बनूँगा। मेरे मन में सभी के लिए प्रेम होगा। वस्तुतः उसी दिन मेरा यह 'गोतम' नाम सार्थक होगा। उस दिन मैं अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बन जाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं, शान्त व शक्ति-सम्पन्न हैं, अत्यन्त विस्तारवाले हैं, सभी के मित्र हैं। मैं भी ज्ञान प्राप्त करके ऐसा ही बनने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान की वृद्धि

आ ते॑ व॒त्सो मनो॑ यमत्पर॒माच्चि॑त्स॒धस्था॑त्।

अग्ने॒ त्वां का॑मया गि॒रा ॥११५॥

१. पिछले मन्त्र की बातों को अपने जीवन में लाने के लिए 'गोतम' अपनी शक्ति (वीर्य) की रक्षा करता है। शक्ति की रक्षा के कारण ही वह 'अवत् सार' कहलाता है—'सारभूत सोम (वीर्य) की रक्षा करनेवाला (अव रक्षणे)'। २. यह अवत्सार प्रभु से कहता है कि मैं **ते वत्सः**=तेरा प्रिय बनता हूँ। अथवा अपने जीवन से तेरा प्रतिपादन करता हूँ (वदतीति वत्सः), मेरा जीवन ऋत व सत्यवाला होता है। मेरी भौतिक क्रियाओं में ऋत (regularity) तथा आत्मिक क्रियाओं में सत्य होता है। ३. यह तेरा भक्त अवत्सार **परमात्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **सधस्थात् चित्**=आपके साथ रहनेवाले मोक्षस्थान से भी **मनः आयमत्**=अपने मन को रोकता है, अर्थात् मोक्ष की कामना से भी ऊपर उठता है। ४. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **गिरा**=ज्ञान की इन वेदवाणियों के हेतु से **त्वां कामया**=मैं तुझे चाहता हूँ। आपको प्राप्त करके मैं इन ज्ञान की वाणियों का प्राप्त करनेवाला बनूँगा। मेरा हृदय प्रकाशमय होगा। बस, मेरी तो यही कामना है कि आपकी कृपा से मेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाए। यह ज्ञान की वृद्धि ही मेरी सब उन्नतियों का मूल बनेगी।

भावार्थ—मैं प्रभु का प्रिय बनूँ। मेरा जीवन प्रभु का प्रतिपादन करनेवाला हो। मैं मोक्ष की रट न लगाकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु को चाहूँ। मेरा ज्ञान बढ़ेगा। यह ज्ञान ही मुझे बढ़ानेवाला होगा।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

सुक्षितयः

तुभ्यं॒ ताऽअ॑ङ्गिरस्तम॒ विश्वा॑: सुक्षि॒तय॒: पृथ॑क्। अग्ने॒ कामा॑य येमिरे ॥११६॥

१. पिछले मन्त्र का अवत्सार प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके विशिष्ट रूपवाला, ज्ञान-ज्योति से चमकते हुए चेहरेवाला—'विरूप' बन जाता है। यह विरूप प्रभु की आराधना करते हुए कहता है कि हे **अङ्गिरस्तम**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवालों में उत्तम प्रभो! **ताः**=वे **विश्वाः**=सब **सुक्षितयः**=उत्तम निवास व गतिवाले मनुष्य **पृथक्**=संसार की इच्छाओं से अलग होकर **अग्ने तुभ्यं कामाय**=हे अग्रेणी प्रभो! आपकी ही कामना के लिए **येमिरे**=अपने जीवन को नियमित करते हैं। 'यम-नियम' से ही योग-मार्ग का प्रारम्भ होता है। प्रभु के

साथ मेल 'यम-नियम' के बिना सम्भव नहीं। २. जिस समय हम चित्तवृत्ति को सब विषयों में जाने से रोक लेते हैं, उसी समय हम अपने स्वरूप को देख पाते हैं और उसी समय हम परमात्म-दर्शन के अधिकारी बनते हैं। इस संसार में हम (क) 'सुक्षिति'–उत्तम निवास व उत्तम गतिवाले बनें (ख) **पृथक्**=संसार के विषयों से अपने को अलग करने के लिए प्रयत्नशील हों। (ग) प्रतिदिन प्रभु-ध्यान व प्रभु-सम्पर्क द्वारा सब अङ्गों को रसमय बनाने का ध्यान रक्खें (अङ्गिरस्तम)। (घ) हममें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो (तुभ्यं कामाय)।

भावार्थ–सज्जन लोग 'यम-नियमों' को अपनाकर प्रभु-प्राप्ति के लिए अग्रसर होते हैं।

ऋषिः–प्रजापतिः। देवता–अग्निः। छन्दः–गायत्री। स्वरः–षड्जः॥

प्रजापतिः

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति ॥११७॥

१. गत मन्त्र का 'विरूप' आराधक प्रभु को सारे संसार के रक्षक के रूप में देखता है, अतः वह 'प्रजापति' हो जाता है। प्रजापति के रूप में यह प्रभु को देख रहा है। २. यह कहता है कि वह प्रभु ही **'अग्निः'**=अग्रेणी हैं, सारे संसार को आगे और आगे ले-चल रहे हैं। ३. **प्रियेषु धामसु**=प्रिय-प्रसन्न करनेवाले तेजों के लिए **कामः**=(काम्यते) वे चाहने योग्य हैं, अर्थात् प्रभु का आराधन करके हमें वह तेजस्विता प्राप्त होती है जो प्रिय-ही-प्रिय होती है। रक्षा के कार्यों में विनियुक्त होकर वह हमें संसार में यशस्वी बनानेवाली होती है। 'बाहुभ्यां यशोबलम्' यह प्रार्थना प्रभु के आराधन से ही पूर्ण होती है। ४. **भूतस्य भव्यस्य सम्राट्**=वे प्रभु भूत व भव्य के सम्राट् हैं, जो कुछ हो चुका है या होना है उसके शासक वे प्रभु ही हैं। ५. **एकः**=वे अद्वितीय हैं। वे अपने निर्माण, धारण, प्रलय व कर्मानुसार फल-व्यवस्थात्मक कार्यों में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। ६. **विराजति**=वे विशिष्टरूप से देदीप्यमान हैं और विशिष्ट रूप में ही सारे ब्रह्माण्ड-यन्त्र को नियमित गति दे रहे हैं (direct, regulate) उपनिषद् के शब्दों में सब नदियाँ उन्हीं के अनुशासन में बह रही हैं। सूर्य-चन्द्रादि उसी के अनुशासन में चमक रहे हैं। वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड व सारी प्रजाओं के पति हैं।

भावार्थ–वे प्रभु अग्नि हैं, प्रिय तेज को प्राप्त करनेवाले हैं, भूत-भव्य के सम्राट् हैं, अद्वितीय हैं और प्रजापति हैं–सूर्य-चन्द्रादि उसी के अनुशासन में गति कर रहे हैं।

॥ इति द्वादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

त्रयोदशोऽध्यायः

ऋषिः—वत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्चीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का ग्रहण

मयि गृह्णाम्यग्रेऽअग्निꣳरायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय।
मामु देवताः सचन्ताम्॥१॥

बारहवें अध्याय की समाप्ति पर प्रभु का स्मरण करते हुए कहा गया था कि **'सम्राडेको विराजति'**=वह प्रभु ही सम्राट् हैं, अद्वितीय हैं, सारे संसार का शासन करते हैं। उसी प्रभु का उपासन करता हुआ प्रभु-भक्त कहता है कि मैं **अग्रे**=सबसे पहले **मयि**=अपने अन्दर **अग्निं गृह्णामि**=सब उन्नतियों के साधक प्रभु का ग्रहण करता हूँ। मेरी सर्वोपरि इच्छा यही होती है कि मैं प्रभु को अपने अन्दर धारण कर सकूँ। २. **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए मैं प्रभु को धारण करता हूँ। वे प्रभु ही लक्ष्मी-पति हैं—मा-धव हैं। प्रभु को धारण करने से मैं भी लक्ष्मी को प्राप्त करता हूँ और वस्तुतः प्रभु अपने भक्तों के योगक्षेम का तो अवश्य ध्यान करते ही हैं। ३. **सुप्रजास्त्वाय**=उत्तम प्रजावाला होने के लिए मैं प्रभु का धारण करता हूँ। प्रभु के धारण से सब अशुभवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं और परिणामतः पवित्र हृदयोंवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देते हैं। ४. **सुवीर्याय**=उत्तम वीर्य के लिए मैं प्रभु का धारण करता हूँ। प्रभु का धारण मुझे वासनाशून्य बनाता है और इस वासनाशून्यता के परिणामरूप मैं उत्तम वीर्यवाला बनता हूँ। इस उत्तम वीर्यवाला होने से मैं प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' बनता हूँ। सुरक्षित किया है सारभूत शक्ति को जिसने। ५. मैं इस वीर्य-रक्षा को इसलिए चाहता हूँ कि **माम्**=मुझे **उ**=निश्चय से **देवताः**=सब दिव्य गुण **सचन्ताम्**=प्राप्त हों। प्रभु महादेव हैं। प्रभु के धारण से अन्य देवों का धारण तो हो ही जाता है।

भावार्थ—यदि हम अपने में प्रभु को धारण करेंगे तो १. हम धन का पोषण करनेवाले होंगे २. हमारी सन्तान उत्तम होगी ३. हम उत्तम वीर्य का पोषण करेंगे ४. दिव्य गुणों के धारणवाले होंगे।

ऋषिः—वत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु की महिमा

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२॥ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥२॥

१. मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' प्रभु को अपने में धारण करना चाहता है। गत मन्त्र में उसने स्पष्ट कहा है कि मेरी सर्वप्रथम इच्छा यही है कि मैं अपने अन्दर प्रभु को ग्रहण करूँ, अतः वह प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **अपां पृष्ठम् असि**=आप जलों के आधार हो। 'वरुण' नाम से आप जलों के पतिरूप में कहे जाते हो। आपका नाम ही 'अप्पति' हो गया है। ये जल अपनी अद्भुत रचना से हमें आपकी महिमा का स्मरण कराते हैं। जल की अवयवभूत 'उद्रजन' ज्वलनशील है 'अम्लजन' ज्वलन की पोषक है। इन्हें

मिलानेवाली विद्युत् है। एवं, सब अग्नि-ही-अग्नि है, परन्तु इनसे उत्पन्न होनेवाला जल अग्नि को शान्त करनेवाला है, इस प्रकार उष्णता से शीतता की उत्पत्ति होती है। कितना आश्चर्य है! २. **अग्नेः योनिः**=हे प्रभो! आप ही अग्नि के भी उत्पत्तिकारण हैं। अग्नि को भी आप ही जन्म देते हैं। द्युलोक में यह अग्नि सूर्यरूप से है, अन्तरिक्षलोक में विद्युद्रूप से और इस पृथिवी पर उसका नाम 'अग्नि' है। एवं, लोकत्रयी में व्याप्त होनेवाली अग्नि वस्तुतः 'जातवेद' है—प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। ३. **अभितः**=पृथिवी पर चारों ओर से **पिन्वमानम्**=नदी-जलों से सींचे जाते हुए अथवा बढ़ते हुए **समुद्रम्**=समुद्र को **वर्धमानः**=बढ़ानेवाले आप ही हो। वृष्टि के द्वारा नदियाँ प्रवाहित होती हैं। इन नदियों से समुद्र का पूरण होता है। ४. **महान्**=हे प्रभो! आप सचमुच महान् हो। क्या जल, क्या अग्नि, क्या समुद्र—सभी आपकी महिमा का गायन करते हैं। ५. हे प्रभो! आप **पुष्करे**=कमलवत् निर्लेप मेरे हृदयाकाश में, अथवा आपकी भावना का पोषण करनेवाले इस हृदय में **दिवः मात्रया**=ज्ञान की मात्रा से, ज्ञान की मापनशक्ति से तथा **वरिम्णा**=विस्तार से, उदारता से **आप्रथस्व**=व्याप्त होओ, प्रसिद्ध होओ, विस्तृत होओ, अर्थात् मैं ज्ञान तथा हृदय की विशालता और पवित्रता से आपका दर्शन कर पाऊँ।

भावार्थ—जलों में, अग्नि में व समुद्रों में प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। मैं अपने ज्ञान को बढ़ाकर पवित्र व विशाल हृदय में प्रभु का दर्शन करूँ।

ऋषिः—वत्सारः। देवता—आदित्यः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ब्रह्म-दर्शन

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेनऽआवः।
स बुध्न्याऽउपमाऽअस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः॥३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जिस प्रभु की महिमा का गायन जल, अग्नि व समुद्र कर रहे हैं, वह **ब्रह्म**=(बृहि वृद्धौ) सदा वृद्ध हैं, सदा से बढ़े हुए हैं, उनमें कोई वृद्धि नहीं होती रहती, क्योंकि वे तो पहले से ही पूर्ण हैं। २. **पुरस्तात् जज्ञानम्**=वे सृष्टि बनने से पहले ही जायमान हैं, अर्थात् वे कभी उत्पन्न नहीं हुए। यही भावना अगले मन्त्र में 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' शब्दों से कही जाएगी। ३. **प्रथमम्**=वे प्रभु सर्वत्र विस्तृत हैं, सर्वव्यापक हैं। एवं, प्रभु पूर्ण हैं, अनादि व आजन्मा है और सर्वव्यापक हैं। ४. इस प्रभु को **सुरुचः**=उत्तम रुचिवाला अथवा उत्तम ज्ञान-दीप्तिवाला **वेनः**=मेधावी पुरुष **सीमतः**=(मर्यादातः—उ०) सीमा में, मर्यादा में रहने के द्वारा **वि आवः**=अपने हृदयाकाश में प्रकट करता है, अर्थात् उस प्रभु के दर्शन कर पाता है। ५. **सः**=यह मेधावी पुरुष **बुध्न्याः**=(बुध्न=अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में होनेवाली भूमियों को, प्राणियों के निवास-स्थानों को भी **विवः**=अपने मस्तिष्क में प्रकाशित करता है, अर्थात् इन सब भूमियों के ज्ञान को प्राप्त करता है। इनके ज्ञान से ही तो वह इनमें प्रभु की महिमा व रचना-कुशलता को देख पाता है। ये मेधावी **विष्ठाः**=अन्तरिक्ष के विविध स्थानों—लोकों में स्थित **अस्य**=इस दृश्य कारणजगत् के **योनिम्**=आधारभूत उस प्रभु को **विवः**=अपने हृदय-देश में प्रकाशित करता है। 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' यह सारा जगत् तो उस प्रभु का उपव्याख्यान ही है।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण, अनादि व अजन्मा है। प्रभु का दर्शन परिष्कृत इच्छाओंवाले, ज्ञान से दीप्त मेधावी को होता है। वह मेधावी प्रभु के बनाये लोक-लोकान्तरों का ज्ञान प्राप्त

करता है और उन लोकों की अद्भुत रचना में परमेश्वर की महिमा को अनुभव करता है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।।

हिरण्यगर्भ

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'वत्सार' प्रभु का स्तवन 'हिरण्यगर्भ' शब्द से करता है और स्वयं भी 'हिरण्यगर्भ' नामवाला हो जाता है। यह हिरण्यगर्भ प्रभु द्वारा इस सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख करता हुआ कहता है कि **हिरण्यगर्भः**=सूर्यादि ज्योतिर्मय सब पदार्थ जिसके गर्भ में हैं, वह हिरण्यगर्भ=ज्ञान-धन प्रभु **अग्रे समवर्त्तत**=सृष्टि बनने से पहले से है। सृष्टि से पूर्व है, वह बनता नहीं, तभी तो सबको बनाता है। अनादि होता हुआ वह इन सूर्यादि सबका आदि है। स्वयं अयोनि होता हुआ 'जगद्योनि' हो रहा है—'जगद्योनिरयोनिरूपम्'। २. **भूतस्य**=प्रत्येक प्राणी का अथवा भूत-भव्य का **जातः**=(जनकः—द०) उत्पन्न करनेवाला वह प्रभु **एकःपतिः**=सहाय-निरपेक्ष, अद्वितीय (मुख्य) स्वामी व रक्षक **आसीत्**=था और है। इस चराचर जगत् के रक्षणकार्य में प्रभु को किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। ३. वह प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=सूर्यादि से जगमगाते द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवीलोक को **दाधार**=धारण करता है। सम्पूर्ण सृष्टि का धारण तो वह कर ही रहा है, साथ ही जैसे प्रारम्भ में यह सारी सृष्टि उस प्रभुरूप आधार से प्रकट होती है, उसी प्रकार अन्त में उसी में विलीन होकर प्रकृतिरूप से रहती है। प्रकृति का धारण करनेवाला भी वह प्रभु ही है। ४. **कस्मै**=उस जगद्रूप क्रीड़ा करनेवाले आनन्दमय प्रभु के लिए **देवाय**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज के लिए अथवा जीवों को सब उन्नति-साधनों को देनेवाले के लिए (देवो दानात्) **हविषा**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=पूजा करें। वह पूज्य प्रभु तो वस्तुमात्र के देनेवाले हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं। हम उस प्रभु की उपासना कुछ देकर ही तो कर सकेंगे, अतः प्रभु का उपासक यज्ञ करके सदा यज्ञशेष ही खाता है। यह यज्ञशेष उस उपासक के लिए 'अमृत' होता है।

भावार्थ—वे प्रभु जगत् की योनि, उत्पादक और धारक हैं। मैं उस आनन्दमय देव की उपासना स्वयं देव बनकर—देनेवाला, दानी व प्रकाशमय जीवनवाला बनकर करूँ।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।।

'द्रप्सोपासना'

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥५॥

१. **द्रप्सः**=(दृप=हर्ष) वे आनन्दमय प्रभु **पृथिवीम् अनु**=इस सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में (महीधर) व्याप्त होकर **चस्कन्द**=गति कर रहे हैं। **द्याम्**=द्युलोक में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। **इमं च योनिं अनु**=और इस सम्पूर्ण संसार के मिश्रण व अमिश्रण, संयोग और वियोग की कारणभूत पृथिवी में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। २. **यः च पूर्वः**=वे प्रभु इन सबसे पहले हैं, वे प्रभु सृष्टि बनने से भी पहले हैं, उनकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई। सदा से वर्त्तमान वे प्रभु इन लोकों का निर्माण करते हैं और इनमें व्याप्त होकर गति कर रहे

हैं। ३. उस **समानं योनिम्**=सब प्राणियों को प्राणित करनेवाले (सम् आनयति इति समानः) सबके उत्पत्ति-स्थान **अनुसञ्चरन्तम्**=सब लोकों में व्याप्त होकर गति करते हुए **द्रप्सम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **जुहोमि**=अपने अन्दर आहुत करता हूँ। जैसे अग्नि घृत को धारण करती है और उस घृत से दीप्त होती है, इसी प्रकार मैं प्रभु को धारण करता हूँ और उससे मेरा हृदयाकाश जगमगा उठता है। ४. हे प्रभो! आपकी कृपा से **सप्त होत्राः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवीं बुद्धि, ये सातों मुझमें ज्ञान की आहुति देनेवाले होकर **अनु**=मेरे अनुकूल हों। इनसे ज्ञान का भोजन ग्रहण करता हुआ मैं अपने ज्ञान को दीप्त कर सकूँ।

भावार्थ—वे प्रभु द्रप्स हैं, आनन्दमय हैं। सब लोकों में व्याप्त होकर गति कर रहे हैं। सभी प्राणियों को प्राणित करनेवाले हैं। उस प्रभु को मैं अपने अन्दर धारण करता हूँ, जिससे सब ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि मेरे अनुकूल हों और मेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—हिरण्यगर्भः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

सर्पेभ्यो नमः

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
येऽअन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में सर्प शब्द का अर्थ 'सर्पतिर्गतिकर्मा' २।१४—नि०, 'इमे लोकाः वै सर्पा यद्धि किञ्च सर्पस्येष्वेव वै लोकेषु सर्पति'—श० ७।४।१।१७ इन वाक्यों के अनुसार ये सब लोक-लोकान्तर हिरण्यगर्भ से ही बनाये गये हैं। ये गतिमय हैं, अतः सर्प कहलाते हैं। सब प्राणी भी इन्हीं में रहकर गति कर रहे हैं। २. **ये के च**=जो कोई भी लोक **पृथिवीम् अनु**=पृथिवी के अनुगत हैं, इस पृथिवी के समान ही प्राणियों की उत्पत्ति-स्थिति का स्थान बने हुए हैं, ३. **ये अन्तरिक्षे**=जो लोक इस विशाल अन्तरिक्ष में विद्यमान हैं, ४. **ये दिवि**=जो लोक देदीप्यमान द्युलोक में अवस्थित हैं, ५. **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन सब लोक-लोकान्तरों से हमें **नमः**=अन्न की प्राप्ति हो। **नमः सर्पेभ्यः अस्तु**=हम उन लोकों के प्रति नतमस्तक होते हैं। उन लोकों में विद्यमान प्रभु की महिमा को देखकर हमारा मस्तक झुक जाता है। ६. पृथिवी पर तो अन्न उत्पन्न होता ही है, अन्तरिक्षस्थ मेघ वृष्टि के द्वारा उस अन्न की उत्पत्ति का कारण बनता है और द्युलोकस्थ सूर्य अन्तरिक्ष में मेघों के निर्माण का कारण बनता है। इस प्रकार ये सब लोक हमें अन्न प्राप्त कराते हैं, अतः मन्त्र में कहा है कि 'इन लोकों' से हमें अन्न प्राप्त हो। इस सारी व्यवस्था को देखकर हमें उस प्रभु की महिमा का दर्शन व स्मरण होता है। हम नतमस्तक हो जाते हैं और 'नमोऽस्तु ते' कह उठते हैं।

भावार्थ—लोकत्रयी में निर्मित सभी पिण्ड प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं और उन लोकों के द्वारा हमारी अन्न-प्राप्ति की सुन्दर व्यवस्था हो रही है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—हिरण्यगर्भः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'असुर्य लोक'

याऽइषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ१॥ऽरनु।
ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥७॥

१. गत मन्त्र के 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में होनेवाले लोकों के अतिरिक्त कुछ वे लोक भी हैं जो **'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः'**=अन्ध-तमस् से

आवृत हैं। इन लोकों में वे जाया करते हैं जो आत्मघाती हैं। **याः**=जो **यातुधानानाम्**=औरों में पीड़ा का आधान करनेवाले लोगों के **इषवः**=गति-स्थान हैं (इष्यते गम्यते येषु, इषवः गतयः—द०)। २. **ये वा**=अथवा जो **वनस्पतीन् अनु**=वनस्पतियों के आश्रित हैं, अर्थात् घने जङ्गलों से जो लोक घिरे हैं। ३. **वा**=या **ये**=जो **अवटेषु**=गढों में **शेरते**=निवास करते हैं, अर्थात् सामान्य भाषा में जिन्हें पाताललोक व नागलोक कहते हैं **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन सब लोकों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ४. प्रभु ने राक्षसों-पिशाचों के हित के लिए इन 'असुर्य-अन्धकारमय' लोकों का निर्माण किया है। मृत्यु के बाद ये इन अन्धतमस् लोकों में जाते हैं और वहाँ एक बार सब अशुभ संस्कारों को भूलकर फिर इस पृथिवी पर जन्म लेते हैं।

भावार्थ—यातुधानों—राक्षसों के गतिरूप वे अन्धकारमय लोक हैं जहाँ घने जङ्गल व गर्त-ही-गर्त हैं। इनमें अन्य व्यक्तियों से दूर रहते हुए वे पीड़ा देने की वृत्ति को भूल रहे होते हैं।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रकाशमय लोक

ये वामी रौचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥८॥

१. गत मन्त्र में पृथिवीलोक से निचले असुर्यलोकों का वर्णन किया है। प्रस्तुत मन्त्र में उन प्रकाशमय लोकों का उल्लेख करते हैं जिनमें कि 'योगयुक्त परिव्राट् व रण में पीठ न दिखानेवाले क्षत्रिय' जाया करते हैं। २. **ये वा**=जो लोक **अमी**=दूर स्थित हैं, **दिवः**=द्युलोक के **रोचने**=दीप्त स्थान में हैं, जहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। ३. **वा**=अथवा **ये**=जो **सूर्यस्य रश्मिषु**=सूर्य की किरणों में ही स्थित हैं, जहाँ सदा सूर्य-किरणों का निवास है। ४. **येषाम्**=जिनका **सदः**=स्थापन-स्थिति **अप्सु कृतम्**=जलों में की गई है, अर्थात् जहाँ पानी की कमी नहीं अथवा जहाँ पृथिवी-तत्त्व की प्रधानता न होकर जल-तत्त्व की प्रधानता है **तेभ्यः सर्पेभ्यः**=उन लोकों के लिए **नमः**=हम झुकते हैं। उन लोकों में एक अद्भुत आकर्षण है। उनकी दीप्ति हमें नतमस्तक कर देती है। उनमें तो लोग 'स्वयैव प्रभया' अपने देह की प्रभा से ही प्रकाशित होते हैं। क्या आश्चर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही एक दीपक है!

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम उत्तम कर्म करके उन प्रकाशमय लोकों को प्राप्त करें, जिनमें सूर्य का प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है और जल शान्ति का। जहाँ ज्ञान है, शान्ति है।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

बन्धन-विनाश, ग्रन्थि-विनाश

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२॥ऽइभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥९॥

१. गत मन्त्र में हिरण्यगर्भ प्रकाशमय लोकों में पहुँचने की कामना करता है, जिन लोकों में 'ज्ञान है, शान्ति' है। ऐसा व्यक्ति ही वहाँ पहुँच सकता है जो प्रस्तुत मन्त्र के शब्दों में प्रभु की प्रेरणा को सुनकर 'वामदेव' बनता है—सारे दिव्य गुणों को अपनानेवाला बनता है। २. प्रभु इससे कहते हैं कि **पाजः**=बल को **कृणुष्व**=सम्पादित कर, शक्तिशाली बन। शक्ति ही तुझे वामदेव बनाएगी। ३. शक्ति के सम्पादन के लिए ही **पृथ्वीम्**=इस

पृथिवी को, इन पार्थिव भोगों को **प्रसितिं न**=बन्धन की भाँति **याहि**=प्राप्त हो। इन पार्थिव भोगों को तू बन्धन समझनेवाला हो। शरीर के लिए ये कुछ मात्रा में आवश्यक हो जाते हैं, परन्तु तूने इन्हें बन्धन समझते हुए इनमें फँसना नहीं। भूख को तू रोग समझकर उसके लिए भोजन को औषधवत् ही ग्रहण करना। ४. **राजा इव**=तू अपने इस जीवन में राजा की भाँति बन। तूने इन्द्रियों का ग़ुलाम नहीं बनना। ५. **अमवान्**=इन्द्रियों का ग़ुलाम न बनने के कारण तू 'अम' वाला हो (अम=strength, power; vital air), बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। ६. **इभेन**=(इभ=fearless power) अपनी निर्भीक शक्ति के द्वारा **तृष्वीम्**=शीघ्र ही **प्रसितिम्**=बन्धन को **अनुद्रूणानः**=तू क्रमशः विनष्ट करनेवाला हो। एक-एक करके तू सब शत्रुओं को नष्ट कर डाल। ७. तू सचमुच **अस्ता असि**=शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाला है। ८. **तपिष्ठैः**=अत्यन्त सन्तापक अस्त्रों से व प्राणायामादि परम तपों से **रक्षसः**=इन शत्रुओं को व राक्षसी वृत्तियों को **विध्य**=बींध डाल—राक्षसी वृत्तियों को तू समाप्त कर डाल।

भावार्थ—शक्तिशाली बन। सांसारिक भोगों को बन्धन समझ। जितेन्द्रिय बनकर बन्धनों को नष्ट कर डाल।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

क्रियाशील जीवन

तव भ्रमासऽआशुया पतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसन्दितो विसृज विष्वगुल्काः ॥१०॥

१. प्रभु वामदेव से ही कह रहे हैं कि **तव**=तेरे **आशुया**=शीघ्र गतिवाले **भ्रमासः**=पादविक्षेप, अर्थात् कार्यक्रम तुझे **पतन्ति**=प्राप्त होते जाते हैं। एक के बाद दूसरा कार्य तेरे जीवन में आता चलता है। तू किसी भी समय अकर्मण्य नहीं होता। २. इस प्रकार निरन्तर क्रियाशीलता से **शोशुचानः**=अपने को निरन्तर दीप्त व पवित्र करता हुआ तू **धृषता**=अपनी धर्षण-शक्ति से **अनुस्पृश**=एक-एक शत्रु को (अभिमृश—उ०) मसल डाल। काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को तू कुचल डाल। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **जुह्वा**=(हु दान-अदन) दानपूर्वक अदन—देकर खाने की प्रक्रिया से **तपूंषि**=काम-क्रोधादि सन्तापक शत्रुओं को **पतङ्गान्**=(पतन्तः सन्तो गच्छन्ति इति पिशाचाः—म०) निरन्तर आक्रमण करते हुए चलते हैं—ऐसे इन राक्षसी भावों से **असन्दितः**=बद्ध न होता हुआ **विसृज**=परे फेंक दे। इस प्रकार परे फेंक दे जैसे आकाश में **विष्वक्**=चारों ओर **उल्काः**=उल्काओं को फेंक दिया गया है। ये काम-क्रोधादि की वृत्तियाँ उल्काओं के समान हैं। इन्हें तू अपने से दूर फेंक दे। ये तेरी क्रियाशीलता से क्षीणशक्ति होकर भाग खड़ी हों।

भावार्थ—१. हम क्रियाशील हों। २. क्रियाशीलता से हममें वह धर्षण-शक्ति उत्पन्न हो जो सब शत्रुओं को कुचल डालती है। ३. हम दानपूर्वक अदन से सन्तापक व बारम्बार आक्रमण करनेवाले राक्षसी भावों को उल्काओं के तुल्य दूर विनष्ट कर दें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रजा-रक्षण, शत्रु-संहार

प्रति स्पशो विसृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशोऽअस्या अदब्धः।
यो नो दूरेऽअघशंसो योऽअन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरादधर्षीत् ॥११॥

१. जैसे वामदेव ने अध्यात्मक्षेत्र में कामादि शत्रुओं का संहार करना है, उसी प्रकार राजा ने आधिभौतिक क्षेत्र में राष्ट्र के शत्रुओं का संहार करना है। उसके लिए कहते हैं कि **स्पशः**=गुप्तचरों को **प्रतिविसृज**=प्रत्येक दिशा में भेज। प्रजा के गुण-दोषों के परिज्ञान के लिए ये गुप्तचर ही राजा की आँख होते हैं। २. **तूर्णितमः भव**=तू अपने कार्यों को त्वरा से करनेवाला हो। आलस्य कार्य-सफलता में महान् विघ्न है। ३. तू **अदब्धः**=स्वयं किन्हीं वासनाओं व आलस्यादि शत्रुओं से हिंसित न होता हुआ **अस्याः विशः**=इस प्रजा का **पायुः**=रक्षक हो। ४. **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला **नः**=हमारा **यः**=जो शत्रु **दूरे**=दूरी पर स्थित है **यः अन्ति**=जो समीप है, **अग्ने**=हे राष्ट्रोन्नति के साधक राजन्! वह **व्यथिः**=पीड़ित करनेवाला शत्रु **ते**=तेरा **माकिः आदधर्षीत्**=धर्षण न करे। राजा किसी भी शत्रु से पराजित न होता हुआ प्रजा की रक्षा करनेवाला हो। राजा से सम्यक्तया रक्षित प्रजा में ही सद्गुणों का विकास सम्भव है।

भावार्थ—राजा स्वयं आलस्यादि शत्रुओं से मुक्त होता हुआ प्रजा की शत्रुओं से रक्षा करे, जिससे सुरक्षित प्रजाएँ उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

शत्रु-दहन

उद॑ग्ने तिष्ठ॒ प्रत्यात॑नुष्व॒ न्यु॒मित्राँ॑२॥ऽओषतात्तिग्महेते।
यो नो॒ऽअरा॑तिꣳसमिधान च॒क्रे नी॒चा तं ध॑क्ष्यत॒सं न शुष्क॑म्॥१२॥

१. पिछले मन्त्र के ही विषय को इस रूप में कहते हैं कि **अग्ने उत् तिष्ठ**=हे राजन्! तू ऊपर उठ। आलस्य को छोड़कर प्रजा-रक्षण के कार्य के लिए उद्यत हो जा। अथवा हे राजन्! तू विषयों से ऊपर उठ। अपने महान् उत्तरदायित्व को समझ। २. **प्रति आतनुष्व**=एक-एक शत्रु के प्रति अपने शस्त्र को विस्तृत कर। ३. हे **तिग्महेते**=तीव्र अस्त्रोंवाले राजन्! तू **अमित्रान्**=शत्रुओं को **नि ओषतात्**=निश्चय से जलानेवाला हो। तेरे शस्त्रों की अग्नि में शत्रु दग्ध हो जाए। ४. हे **समिधान**=शक्ति से दीप्यमान राजन्! **यः**=जो भी **नः**=हमारे साथ **अरातिम्**=शत्रुता **चक्रे**=करता है, अर्थात् जो भी हमारा शत्रु है **तम्**=उसे **नीचा धक्षि** =(burn to the ground) भस्म करके भूमिगत कर दीजिए, जलाकर मिट्टी में मिला दीजिए। न=जिस प्रकार **शुष्कं अतसम्**=(a garment made of the fibre of flax) सूखे सन के बने कपड़े को जला देते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजा के शत्रुओं का दहन करता हुआ प्रजा को उन्नति का सु-अवसर प्राप्त कराए।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः॥

वेधन-मारण

ऊ॒र्ध्वो भ॑व॒ प्रति॑ वि॒ध्याध्य॒स्मदा॒विष्कृ॑णुष्व॒ दैव्या॒न्यग्ने।
अव॑ स्थि॒रा त॑नुहि यातु॒जूनां॑ जा॒मिमजा॑मिं॒ प्रमृ॑णीहि॒ शत्रू॑न्।
अ॒ग्नेष्ट्वा॒ तेज॑सा सादयामि॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही पुनः दुहराते हैं कि **अग्ने ऊर्ध्वः भव**=हे राजन्! तू आलस्य को छोड़कर उठ खड़ा हो। तुझे सदा 'जागृवि' बनना है—जागना है। २. **प्रतिविध्य**=

तू एक-एक शत्रु को बींध डाल। शत्रुओं को विद्ध करना ही तेरा मौलिक कर्त्तव्य है। ३. **अध्यस्मत्**=हमारे उद्देश्य से, हमारे कल्याण के लिए **दैव्यानि**=दिव्य कर्मों को **आविष्कृणुष्व**=प्रकट कर। तू इस प्रकार अद्भुत कर्मों को करनेवाला बन कि हमारा कल्याण-ही-कल्याण सिद्ध हो। ४. **यातुजूनाम्**=पीड़ा के लिए ही जिनकी गति है (यातु+जु), अर्थात् जिनके कर्म औरों को पीड़ित करने के लिए ही होते हैं, उन यातुधानों=राक्षसों के **स्थिरा**=दृढ़ धनुषादि अस्त्रों को भी **अवतनुहि**=ढीला कर दे। ५. **जामिम् अजामिम्**=रिश्तेदार हो, ग़ैर रिश्तेदार हो सभी **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणीहि**=कुचल डाल। जो भी राष्ट्र का शत्रु है उसे समाप्त करना ही है। ६. **त्वा**=तुझे **अग्नेः**=अग्नि के **तेजसा**= तेज के साथ **सादयामि**=इस सिंहासन पर बिठाता हूँ। जैसे अग्नि सब मलों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार राजा को भी राष्ट्र के सब शत्रुओं को भस्म करना है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के सब शत्रुओं का विध्वंस करके राष्ट्र का उत्थान करनेवाला बने। दण्ड-व्यवस्था में सम्बन्ध का विचार न करके न्याय-मार्ग से ही दण्ड देना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

शिखर पर

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः पृथि॒व्याऽअ॒यम्।
अ॒पाꣳरेता॑ꣳसि जिन्वति। इन्द्र॑स्य॒ त्वौज॑सा सादयामि ॥१४॥

१. पिछले मन्त्रों के अनुसार राष्ट्र-व्यवस्था के उत्तम होने पर प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह अपने अन्दर दिव्य गुणों को उपजाने के लिए यत्नशील हो। वह कैसा बने? इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=यह अग्रेणी हो, निरन्तर उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाला हो। २. यह उन्नति करते-करते **मूर्धा**=शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करे। 'आरोहणमाक्रमणम्' ऊपर चढ़ना, ऊपर उठना ही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। ३. **दिवः ककुत्**=ज्ञान से यह महान् बनता है (ककुत्=महान्)। ज्ञान को प्राप्त करते हुए यह ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है। ४. ज्ञान-प्राप्ति के साथ **अयम्**=यह **पृथिव्याः**=शरीर का **पतिः**=रक्षक बनता है। शरीर के स्वास्थ्य का भी यह पूरा ध्यान रखता है। वस्तुतः सब उन्नतियों का आधार यह शारीरिक स्वास्थ्य ही है। ५. शरीर का पति यह क्यों न बने? यह तो **अपां रेतांसि**=जल-सम्बन्धी रेतस् का **जिन्वति**=(पुष्णाति—म०) पोषण करता है। 'आपो रेतो भूत्वा'=जल शरीर में रेतस् के रूप में रहते हैं। यह वामदेव इन रेतःकणों का पोषण करता है, उन्हें विनष्ट नहीं होने देता। ६. इस रेतस् का पोषण करनेवाले वामदेव से प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **इन्द्रस्य ओजसा**=इन्द्र के ओज से **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। इन रेतःकणों की रक्षा से इन्द्रशक्ति का विकास होता है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, शिखर तक पहुँचें, ज्ञान से महान् बनें, शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा करें और इस प्रकार इन्द्रशक्ति के विकास के लिए रेतःकणों का अपने में पोषण करें।

ऋषिः—त्रिशिराः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

तीनों दृष्टिकोणों से शिखर पर=त्रिशिराः

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑।
दि॒वि मू॒र्द्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म् ॥१५॥

१. गत मन्त्र में शिखर पर पहुँचने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) यह स्वस्थ शरीर में उत्तम रचनात्मक कर्मों का करनेवाला होता है, (ख) मस्तिष्क को ज्ञान-प्रकाश में स्थापित करता है, (ग) वाणी से प्रभु के नाम का भजन करता है और इस प्रकार 'त्रिशिराः' त्रिविध उन्नति करनेवाला होता है। २. प्रभु कहते हैं कि हे त्रिशिरः! तू **भुवः**=इस पार्थिव शरीर से **यज्ञस्य**=लोकहित के लिए किये जानेवाले कर्मों का, और उन कर्मों के द्वारा **रजसः**=लोकरञ्जन का, लोकों के प्रसादन का **नेता**=प्राप्त करानेवाला होता है। संक्षेप में कहें तो यह कि तू शरीर को स्वस्थ बनाता है, उस स्वस्थ शरीर से तू यज्ञों को करता है और यज्ञों से लोकों के आनन्द को सिद्ध करनेवाला होता है। ३. यह वह मार्ग है **यत्र**=जिसमें तू **शिवाभिः**=कल्याणकर, मङ्गलमय **नियुद्भिः**=इन्द्रियरूप घोड़ों से **सचसे**=युक्त होता है, अर्थात् यज्ञों में प्रवृत्ति तेरी इन्द्रियों को बड़ा सुन्दर बनाये रखती है। ४. इस मार्ग पर चलता हुआ तू **मूर्धानम्**=अपने मस्तिष्क को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **दधिषे**=धारण करता है। तू अपने मस्तिष्क को ज्ञान-दीप्ति से अधिक-से-अधिक उज्ज्वल बनाता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **स्वर्षाम्**=(स्वः समोति भजति) उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को, प्रभु के नाम को भजनेवाली **जिह्वाम्**=जिह्वा को **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही वहन करनेवाली **चकृषे**=बनाता है, अर्थात् यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है। ६. एवं, त्रिशिरा के जीवन में (क) उसका स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ शरीर-रथ में जुती हुई कल्याणमयी इन्द्रियरूपी घोड़ियाँ सदा यज्ञ द्वारा, लोकहितकारी कार्यों के द्वारा, लोकरञ्जन में लगी रहती हैं। (ख) उसका मस्तिष्क सदा ज्ञान में अवस्थित होता है। (ग) उसकी जिह्वा पर प्रभु का नाम होता है और उसकी जिह्वा सात्त्विक भोजनों का ही स्वाद लेती है। एवं, त्रिशिरा का नाम पूर्णतया अन्वर्थक ही होता है।

भावार्थ—हमारे हाथ यज्ञात्मक कर्मों में लगे हों, मस्तिष्क ज्ञान में, तथा जिह्वा प्रभु-नामोच्चारण में और सात्त्विक अन्न के सेवन में।

ऋषिः—त्रिशिराः। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पत्नी भी त्रिशिराः हो, समुद्र व सुपर्ण

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा।
मा त्वा समुद्रऽउद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृꣳह ॥१६॥

१. स्त्री भी खूब उन्नत जीवनवाली हो। कैसी? **ध्रुवा असि**=तू घर में ध्रुव होकर रहनेवाली है। छोटी-छोटी बातों से रूठकर पितृगृह की ओर जानेवाली नहीं। साथ ही अपने जीवन की मर्यादाओं में स्थिरता से रहनेवाली है। २. **धरुणा**=घर में रहती हुई सबका धारण करनेवाली है। अन्न-वस्त्र आदि सब धारणात्मक वस्तुओं का पूर्णतया ध्यान करनेवाली है। ३. **विश्वकर्मणा**=गृह-सम्बन्धी सब कार्यों से तू **आस्तृता**=आच्छादित है, अर्थात् तू सदा घर के कार्यों में लगी रहती है, इसीलिए तो तेरे समीप पाप नहीं आ पाता, क्योंकि इसका मन तो घर के कार्यों में लगा है। ४. इस प्रकार कर्मों में लगा होने के कारण इसका जीवन वासनामय नहीं बनता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **समुद्रः**=(स मुद्) सदा मौज की मनोवृत्ति में रहनेवाला, मज़े उड़ानेवाला, जिसके दृष्टिकोण में संसार केवल मौज के लिए बना है, ऐसा जार (छैला) पुरुष **त्वा**=तुझे **मा**=मत **उद्वधीत्**=धर्म-मार्ग से बाहर करनेवाला हो

हो (उत्=out, हन्=गति)। **सुपर्णः**=जैसे एक सुन्दर पंखोंवाला पक्षी होता है, इसी प्रकार चमक-दमकवाले कपड़े पहनकर घूमनेवाला व्यक्ति **मा**=मत विचलित करनेवाला हो। तू इन समुद्रों और सुपर्णों=बांके-छैलछबीले व्यक्तियों के पाश में फँसनेवाली न हो। ५. **अव्यथमाना**=भय से विचलित न होती हुई तू **पृथिवीं दृंह**=अपने शरीर को दृढ़ बना। तेरे दृढ़ शरीर के साथ वे खिलवाड़ न कर सकेंगे।

भावार्थ—पत्नी ध्रुव हो, धरुण हो, कर्मों में लगी हो, बांके-छैले युवकों का शिकार न हो जाए। अविचलित होती हुई अपने शरीर को दृढ़ बनाये।

ऋषिः—त्रिशिराः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पृथिवी व शं-विस्तारिणी

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि ॥१७॥

१. पत्नी के लिए ही कहते हैं कि **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का पति प्रभु **त्वा**=तुझे **अपां पृष्ठे**=कर्मों के पृष्ठ पर, अर्थात् कर्मों पर **सादयतु**=बिठाये, अर्थात् तेरा जीवन सदा कर्मों में व्यापृत रहे। २. **समुद्रस्य**=तू आनन्दमय प्रभु के **एमन्**=प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त हो। अर्थात् तेरा लक्ष्य उस प्रभु को प्राप्त करना है। ३. **व्यचस्वती**=(व्यचस्=विस्तार) ज्ञान के विस्तारवाली तथा **प्रथस्वती**=हृदय के विस्तारवाली सन्तति को **प्रथस्व**=तू विस्तृत करनेवाली हो, अर्थात् सदा क्रियाशीलता के द्वारा प्रभु की ओर चलती हुई तू उस सन्तान को जन्म दे जो अधिक-से-अधिक विस्तृत ज्ञानवाली हो और जिसका हृदय विशाल हो। ४. ऐसी सन्तति को जन्म देनेवाली ही तू **पृथिवी**=पृथिवी **असि**=है। जैसे यह पृथिवी उत्तमोत्तम ओषधियों को जन्म देती है, इसी प्रकार तू उत्तम सन्ततियों को जन्म देती हुई वंश का विस्तार करनेवाली है। (पृथिवी=प्रथ विस्तारे)।

भावार्थ—पत्नी क्रियाशील हो, प्रभु के मार्ग पर चले। ज्ञानी, विशाल हृदय सन्तति को जन्म दे। वंश का विस्तार करनेवाली हो।

ऋषिः—त्रिशिराः। देवता—अग्निः। छन्दः—प्रस्तारपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

विश्वधाया

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः ॥१८॥

१. पत्नी के लिए ही कहते हैं कि **भूः असि**=(भवन्ति यस्याम्) तुझसे ही सन्तानों का जन्म होता है। २. **भूमिः असि**=(भवन्ति यस्याम्) उत्पन्न होकर सन्तान तेरे ही आधार से रहते हैं। ३. **अदितिः असि**=(अविद्यमानादितिः खण्डनं यया) तेरे कारण ही सन्तान अखण्डित स्वास्थ्य व चारित्र्यवाली बनती है। ४. तू **विश्वधायाः**=सब सन्तानों को उत्तम दूध पिलानेवाली है और इस प्रकार सबका पालन करनेवाली है। ५. **विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री**=सन्तान के निर्माण व पालन के द्वारा तू सारे लोक का धारण करनेवाली है। जिस भी राष्ट्र में माताएँ अपने सन्तानों को अदीन व दिव्य गुणोंवाला तथा स्वस्थ शरीरवाला बनाती हैं, वह राष्ट्र सदा उन्नत होता है। ६. एक देवमाता=दिव्य सन्तान का निर्माण करनेवाली माता को चाहिए कि वह **पृथिवीं यच्छ**=(पृथिवी शरीरम्) अपने शरीर का नियमन करे। **पृथिवीं**

दृंह=इस शरीर को दृढ़ बनाये और **पृथिवीम्**=शरीर को **मा हिंसीः**=हिंसित न होने दे। नियमित जीवन से शरीर दृढ़ होगा और असमय में समाप्त न हो जाएगा। वस्तुतः यह 'नियमन, दृढ़ीकरण व अहिंसन' ही 'त्रिशिरा ' बनना है, त्रिविध उन्नति करना है।

भावार्थ—एक माता 'अदिति' बनकर दिव्य सन्तानों को जन्म दे। इस प्रकार वह राष्ट्र का धारण कर सकती है। उसे अपने शरीर को व्यवस्थित, दृढ़ व स्वस्थ बनाना है। अव्यवस्थित, ढीली-ढाली व अस्वस्थ माता तो ऐसी ही सन्तानों को जन्म देगी जो राष्ट्र के लिए बोझ ही होंगे।

ऋषिः—त्रिशिराः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः॥

मही स्वस्ति-शन्तम छर्दि (उत्तम योगक्षेम, शान्त घर)

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥१९॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में पति को अग्नि कहा है। उसका कर्त्तव्य है कि वह पत्नी की रक्षा करे। **अग्निः**=घर की उन्नति को सिद्ध करनेवाला तथा अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाशवाला पति **त्वा**=तुझे **अभिपातु**=पालित करे, तुझे आन्तर व बाह्य आपत्तियों से बचाए। २. **मह्या स्वस्त्या**=(महत्या योगक्षेमसंपत्त्या) महती योगक्षेम सम्पत्ति के द्वारा वह तेरा रक्षण करे और **शन्तमेन छर्दिषा**=(अत्यन्तं सुखकारिणा गृहेण—म०) सब प्रकार से शान्ति देनेवाले घर से पति तेरी रक्षा करे। घर में किसी प्रकार के खान-पान की कमी न हो और घर सब ऋतुओं में सुखद हो। ३. इस घर में **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाले व्यक्ति के समान, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ व प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रहनेवाली हो। तेरा जीवन बड़ा मर्यादावाला हो। ४. ऐसा होने पर ही तू **विश्वस्मै प्राणाय**=सब प्राणशक्ति के लिए अथवा सब गृहसभ्यों की प्राणशक्ति के लिए होगी। **अपानाय**=अपान शक्ति के लिए होगी। प्राणशक्ति बल देनेवाली है तो अपान दोषों को दूर करनेवाली है। ५. तू **व्यानाय**=व्यानशक्ति के लिए होगी। व्यान शक्ति शरीर में सर्वत्र भ्रमण करके शरीर की व्यवस्था को ठीक रखनेवाली है। **उदानाय**=तू उदान के लिए होगी। यह उदान कण्ठदेश में रहकर कण्ठग्रन्थि को ठीक रखती हुई दीर्घ-जीवन का कारण बनती है। ६. **प्रतिष्ठायै**=तू घर की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए होगी। घर की नींव को दृढ़ करनेवाली होगी तथा **चरित्राय**=घर में आचरण के मापक को तू सदा ऊँचा रक्खेगी।

भावार्थ—पति का मुख्य कार्य यह है कि वह उत्तम घर तथा महनीय योगक्षेम (खान-पान की सामग्री) को प्राप्त कराने के लिए यत्नशील हो। पत्नी इस बात का ध्यान रक्खे कि गृहसभ्यों की प्राण, अपान, व्यान व उदान शक्तियाँ ठीक बनी रहें। घर की प्रतिष्ठा बढ़े तथा सदाचार का मापक ऊँचा बना रहे।

ऋषिः—अग्निः। देवता—पत्नी। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

दूर्वा

काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुषःपरुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ॥२०॥

१. पिछले मन्त्र में पति को 'अग्नि' कहा है। इस मन्त्र में यह अग्नि पत्नी को 'दूर्वा' नाम से सम्बोधित करके कहता है कि वह उसके वंश को सैकड़ों व हज़ारों पीढ़ियों तक ले-जाने में सहायक हो, अतः मन्त्र का ऋषि 'अग्नि' ही है, जो वंश को आगे और आगे ले-चलना चाहता है, जो यह नहीं चाहता कि उसका वंश-दीप कभी बुझ जाए। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**='प्रजाओं से मैं अमर बना रहूँ' यह उसकी कामना है। इसी कारण वह चाहता है कि उसके वंश में कोई रोग या अन्य कोई मानस विकार उत्पन्न न हो और उसका वंश चलता ही चले, इसीलिए वह पत्नी को 'दूर्वा' नाम से स्मरण करता है—'इति यदब्रवीद् धूर्वीन् मा इति तस्मात् धूर्वा। धूर्वा ह वै तां दूर्वा इत्याचक्षते परोक्षम्'—श० ७।४।२।१२। यह मुझे हिंसित मत करे (धूर्वी हिंसायाम्), अतः वह इसका नाम ही धूर्वा वा दूर्वा कह देता है। २. जैसे दूर्वा घास के काण्ड=तने हैं, उसी प्रकार यहाँ पत्नी के नर-सन्तान हैं, जिनसे घर 'कन दीप्तौ' चमकता है। इस दूर्वा के परु=पर्व, जोड़ हैं, उसी प्रकार पत्नी के स्त्री सन्तान लड़कियाँ हैं। इनसे अन्य घरों के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। दूर्वा घास प्रत्येक काण्ड पर अपने मूल जमाती हुई और प्रत्येक पोरु पर से अपनी जड़ पकड़ती हुई फैलती है, उसी प्रकार इस पत्नी के पुत्र अपने अगले सन्तानों को जन्म देनेवाले हों और पुत्रियाँ भी इस घर के सम्बन्ध को विस्तृत करनेवाली हों। ३. पति कहता है कि **काण्डात् काण्डात्**=वंश-वृक्ष के तनेरूप प्रत्येक तनय=पुत्र के द्वारा **प्ररोहन्ती**=इस वंश को आगे बढ़ाती हुई तथा **परुषः परुषः परि**=वंश-वृक्ष के प्रत्येक पर्व=जोड़ के समान पुत्रियों से सम्बन्ध को चारों ओर फैलाती हुई हे **दूर्वे**=सब रोगों व अशुभवृत्तियों का ध्वंस करनेवाली पत्नि! तू **एव**=इस प्रकार **नः**=हमें **प्रतनु**=विस्तृत कर। ४. **सहस्रेण**=हम हज़ारों पीढ़ियों से इस संसार में चलते चलें। **शतेन च**=और इस वंश में प्रत्येक व्यक्ति शतवर्ष के जीवनवाला हो।

भावार्थ—वंश के निर्दोष होने पर वंश हज़ारों पीढ़ियों तक चलता है तथा वंश में प्रायः शतायु पुरुष होते हैं। इसका बहुत-कुछ निर्भर पत्नी पर है जो 'दूर्वा' है, वंश के रोगों व बुराइयों का ध्वंस कर देती है।

ऋषिः—अग्निः। देवता—पत्नी। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

इष्टका

या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्॥२१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी को 'इष्टका' कहा है (यज्+क्त+इष्ट=यज्ञ) यज्ञों को करनेवाली। व्याकरण के अनुसार पत्नी शब्द की सिद्धि ही 'यज्ञसंयोग' में होती है 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'। वस्तुतः गृहस्थ में व्यक्ति ने यज्ञ के लिए प्रवेश किया है। यज्ञों में प्रवृत्त रहने के कारण इसका जीवन दिव्य बना रहता है, अतः इसे 'देवी' कहा गया है। पति धनार्जन करके उसे पत्नी के हाथ में दे। पत्नी इस धन को यज्ञों में विनियुक्त करती हुई यज्ञशेष से, अमृत से परिवार का पोषण करने के लिए प्रयत्न करे। पति जो देकर खाता है वही 'हवि' है, दानपूर्वक अदन। इसी प्रकार पति पत्नी का समुचित आदर करनेवाला होता है। ३. पति कहता है कि हे **देवि**=दिव्य गुणोंवाली! **इष्टके**=यज्ञ के स्वभाववाली पत्नि! **या**=जो तू **शतेन प्रतनोषि**=हमारी आयुओं को सौ वर्ष के परिमाण में फैलानेवाली होती है और

सहस्त्रेण विरोहसि=हमारे वंश को हज़ारों पीढ़ियों तक बढ़ानेवाली होती है **तस्याः ते**=उस तुझे **वयम्**=हम **हविषा**=सब सौंपकर तेरे द्वारा दिये हुए को खाने से **विधेम**=आदर करते हैं। पत्नी का सच्चा आदर यही है कि उसे ही गृह की 'साम्राज्ञी' समझा जाए। घर का सारा प्रबन्ध उसी के अधीन हो। वही व्यवस्थापिका हो। ३. इस व्यवस्था के होने पर घरों से यज्ञों का विलोप नहीं होता, परिणामतः उत्तमता का भी विलोप नहीं होता।

भावार्थ—पत्नी घर में यज्ञों की प्रवर्तिका, इष्टका है। यज्ञों द्वारा घर में दिव्य गुणों के व्यवस्थापन से यह देवी है। हम अपना सब धन इन्हें सौंपकर उनसे दिये गये को खाकर ही इनका समुचित आदर करते हैं। वे हमारे दीर्घ-जीवन का कारण बनती हैं और वंश को विच्छिन्न नहीं होने देतीं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सूर्य व अग्नि (स्वर्ग)

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥२२॥

१. २२ से २५ तक मन्त्रों का ऋषि 'इन्द्राग्नी' है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पति ही यहाँ इन्द्र है। इसने निरन्तर कर्म द्वारा, गति द्वारा, गृह-सञ्चालन के लिए धनार्जन करना है। निरन्तर गति के कारण इसे 'सूर्य' (सरति) कहा गया है। पत्नी यहाँ अग्नि है। घर की सब उन्नति का निर्भर इसी पर है। १९वें मन्त्र में इसी दृष्टिकोण से पति को भी अग्नि कहा गया था। यहाँ पति 'इन्द्र व सूर्य' है, पत्नी 'अग्नि'। २. पत्नी से कहते हैं कि हे **अग्ने**=गृहोन्नति साधिके! **याः**=जो **ते**=तेरी **सूर्ये**=निरन्तर श्रमशील पति में **रुचः** =दीप्तियाँ हैं अथवा रुचियाँ या प्रीतियाँ हैं (तेरी रुचियाँ हैं—द०) वे प्रीतियाँ **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से (रश्मि=किरण) तथा इन्द्रियों के नियन्त्रणों से (रश्मि=लगाम) **दिवम्**=स्वर्ग को **आतन्वन्ति**=विस्तृत करती हैं। स्पष्ट है कि घर स्वर्ग बन जाता है जब (क) पत्नी का सब प्रेम अपने पति के लिए ही हो। (ख) पति निरन्तर श्रम के द्वारा गृह-सञ्चालन के लिए पर्याप्त धनार्जन करनेवाला हो। (ग) घर में ज्ञान का प्रकाश हो, सब ज्ञान-सम्पन्न हों। (घ) और सबने इन्द्रियाश्वों को मनरूप लगाम से काबू किया हुआ हो। ३. पति-पत्नी की परस्पर प्रीतियों का परिणाम घर में कल्याण-ही-कल्याण होता है। आचार्य दयानन्द प्रस्तुत मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं—'यत्र स्त्रीपुरुषौ परस्परं प्रीतिमन्तौ स्यातां तत्र सर्वं कल्याणमेव'=पति-पत्नी के प्रीतिमान होने पर सब शुभ-ही-शुभ होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब प्रीतियों से **नः**=हमें (अस्मान्) **रुचे**=शोभा के लिए **कृधि**=कीजिए। इन परस्पर प्रीतियों से सन्तानों के सब लक्षण शुभ-ही-शुभ होते हैं। उस प्रीति को **नः**=हमारी **जनाय**=शक्तियों के विकास के लिए कीजिए, अर्थात् माता-पिता का परस्पर ठीक प्रेम होने पर सन्तानों की शक्तियों का विकास होता है। एवं, पति-पत्नी की परस्पर प्रीति के दो परिणाम सन्तानों में दृष्टिगोचर होते हैं। (क) शुभ लक्षण व दीप्ति (रुच)। (ख) शक्तियों का विकास (जन)।

भावार्थ—पति-पत्नी का कर्त्तव्य है कि अपने जीवनों को 'सूर्य व अग्नि' की भाँति बनाकर घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

माता-पिता व आचार्य

या वो॑ देवाः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु या रुच॑ः।

इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभि॒ः सर्वा॑भी॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते॥२३॥

१. 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस वाक्य के अनुसार उत्तम सन्तानों का निर्माण माता-पिता व आचार्य पर निर्भर करता है। ये तीनों देव हैं 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इस उपनिषद् वाक्य में तीनों को देव कहा गया है। इनका मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से चमकता होगा और इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों से चमकती होंगी तो सन्तानें भी उत्तम होंगी। २. मन्त्र के शब्दों में कहते हैं कि हे **देवाः**=माता-पिता व आचार्यो! **याः**=जो **वः**=आपकी **सूर्ये**=मस्तिष्करूप गगन में उदित ज्ञानसूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में, **अश्वेषु**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों में **याः**=जो **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्रतुल्य अथवा जितेन्द्रिय पितः तथा अग्नितुल्य मातः! तथा **बृहस्पते**=वेदज्ञान के पति आचार्य! **ताभिः सर्वाभीः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हम सन्तानों में भी **रुचम्**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। हमारे जीवनों को भी दीप्तिमय बनाओ। ३. माता-पिता व आचार्य ने ही तो सन्तानों का निर्माण करना है। माता चरित्र देती है, पिता शिष्टाचार तथा आचार्य ज्ञान।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य जब उत्तम मस्तिष्क, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाले होते हैं तब वे सन्तानों के जीवनों को भी ज्योतिर्मय बना पाते हैं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृद्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

विराट् (स्वराट्) + ज्योतिष्मती

वि॒राड् ज्योति॑रधारयत् स्व॒राड् ज्योति॑रधारयत्।

प्र॒जाप॑तिष्ट्वा सादयतु पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्या ज्योति॑ष्मतीम्।

विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नाय॒ विश्वं॒ ज्योति॑र्यच्छ।

अ॒ग्निष्टेऽधि॑पति॒स्तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द॥२४॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'सन्तानों में ज्योति के धारण पर' हुई थी। इस ज्योति को वही पति (पिता) धारण करा सकता है जो स्वयं ज्योतिर्मय व जितेन्द्रिय हो। मन्त्र में कहते हैं कि **विराट्**=विविध ज्ञानों की ज्योतियों से चमकनेवाला पिता ही **ज्योतिः**=प्रकाश को **अधारयत्**=सन्तान में धारण करता है, अतः पिता के लिए खूब ज्ञान की दीप्तिवाला होना आवश्यक है। २. **स्वराट्**=अपना राज्य व शासन करनेवाला जितेन्द्रिय पिता ही **ज्योतिः अधारयत्**=सन्तान में ज्योति को धारण करता है। एवं, पिता के लिए 'विराट् तथा स्वराट्' होना अत्यन्त आवश्यक है। ३. अब माता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक वह प्रभु **त्वा**=तुझ **ज्योतिष्मतीम्**=ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान को **पृथिव्याः पृष्ठे**=(पृथिवी शरीरम्) शरीर के ऊपर **सादयतु**=स्थापित करे, अर्थात् तू इस शरीर को पूर्णतया अपने वश में किये हुए हो। एवं, माता ने भी ज्ञान की ज्योति से दीप्त व अपने पर आधिपत्यवाला होना है। ३. **विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय**=सब प्राण, अपान व व्यान-शक्ति के लिए माता का भी ज्योतिर्मयी व जितेन्द्रिय होना अत्यन्त आवश्यक

है। माता का ही बच्चे पर अत्यधिक प्रभाव होता है। 'माँ पर पूत' यह लोकोक्ति ठीक ही है। माता से ही बच्चे को प्राण, अपान व व्यानशक्ति प्राप्त होती है। ४. माता से कहते हैं कि **विश्वं ज्योतिः यच्छ**=(निगृहणीष्व) सम्पूर्ण ज्योति को अपने में धारण करनेवाली बन। तू स्वयं ज्योति धारण करेगी, तभी तो सन्तानों को यह ज्योति दे पाएगी। ५. **ते अधिपतिः**=तुझसे अधिक गुणवाला तेरा पति **अग्निः**=इस घर की उन्नति करनेवाला हो। वह ज्ञान की ज्योति को धारण करनेवाला 'देव' हो (देवो दीपनाद्)। **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाले व्यक्ति की भाँति तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर, बड़े मर्यादित जीवनवाली होकर **सीद**=निवास कर। ६. वस्तुतः पति-पत्नी (माता-पिता) के जीवन के अनुपात में ही सन्तानों का भी जीवन बनता है, अतः ये अपने उत्तरदायित्व को समझें और अपने जीवनों को वेद के शब्दों में निम्न प्रकार से बनाने का यत्न करें—

पिता—१. **विराट्**=विविध ज्ञानों की दीप्तियों से दीप्त २. **स्वराट्**=अपने पर शासन करनेवाला ३. **अग्निः**=सदा घर को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला ४. **देवता**=दिव्य गुणों को अपनानेवाला।

माता—१. **ज्योतिष्मती**=ज्ञान के प्रकाशवाली, समझदार २. **पृष्ठे पृथिव्याः सादयतु**=शरीर पर पूर्ण प्रभुत्ववाली ३. **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाली ४. **ध्रुवा**=स्थिरता से रहनेवाली, मर्यादित जीवनवाली।

भावार्थ—विराट् पिता और ज्योतिष्मती माता ही सन्तानों में ज्योति का धारण कर सकते हैं।

ऋषिः—इन्द्राग्नी। देवता—ऋतवः। छन्दः—भुरिगतिजगती[क], भुरिग्ब्राह्मीबृहती[र]। स्वरः—निषादः[क], मध्यमः[र]॥

मधु+माधव

[क]मधु॑श्च॒ माध॑वश्च॒ वास॑न्तिकावृ॒तूऽअ॒ग्नेर॑न्तःश्ले॒षो॒ऽसि॒ कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ऽओष॑धय॒ः कल्प॑न्ताम॒ग्नय॒ः पृथ॒ङ् मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः। [र]येऽअ॒ग्नय॒ः सम॑नसो॒ऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वीऽइ॒मे। वास॑न्तिकावृ॒तूऽअ॑भि॒कल्प॑माना॒ऽइन्द्र॑मिव दे॒वाऽअ॑भि॒संवि॑शन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम्॥२५॥

१. 'इन्द्राग्नी' ऋषि का यह अन्तिम मन्त्र है। पत्नी ने अत्यन्त मधुर स्वभाववाला बनना है, अतः उसे यहाँ 'मधुः' कहा गया है। पति ने सदा गृहस्थ सञ्चालन के लिए धनार्जन करनेवाला होना है, अतः उसे 'मा-धव'=लक्ष्मी का पति कहा गया है। जिस समय ये पति-पत्नी **'मधुः च माधवः च'**=मधुर स्वभाव और लक्ष्मीपति बनते हैं, उस समय ये **वासन्तिकौ**=एक-दूसरे के समीप उत्तमता से निवास करनेवाले होते हैं। इनका परस्पर प्रेम ठीक बना रहता है। २. **ऋतू**=(ऋ गतौ) ये दोनों अपने कार्यों को बड़े नियम से करनेवाले होते हैं। ऋतुओं की भाँति इनके कार्य समय पर होते हैं। ३. पति के लिए कहते हैं कि तू **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु का **अन्तः** =हृदय में **श्लेषः**=आलिङ्गन करनेवाला है। उस प्रभु को तू कभी विस्मृत नहीं करता। तेरी प्रार्थना यही हो कि ४. **द्यावापृथिवी**=मेरा मस्तिष्क व शरीर दोनों ही **कल्पेताम्**=शक्तिशाली बनें, सामर्थ्यवाले हों। मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल हो तथा शरीर दृढ़ हो। ५. **आपः ओषधयः**=जल और ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनाएँ। पीने के लिए पानी हो, भोजन के लिए वनस्पतियाँ यह सीधा-सादा

भोजन मेरे शरीर को नीरोग बनाकर शक्तियुक्त करे। ६. **अग्नयः**=दक्षिणाग्निरूप माता, गार्हपत्याग्निरूप पिता, आहवनीयाग्निरूप आचार्य' ये सब **पृथक्**=अलग-अलग, ५ वर्ष तक माता, ८ वर्ष तक पिता, २५ वर्ष तक आचार्य **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनानेवाले हों। ७. ये तीनों ही **मम**=मेरे **ज्यैष्ठ्याय**=बड़प्पन व उत्कर्ष के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले हों। माता-पिता व आचार्य इन सबका एक ही कार्य व उद्देश्य हो कि हमें बालकों व युवकों के जीवन को बड़ा सुन्दर बनाना है। ८. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में, अर्थात् इस संसार में **ये अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ हैं वे **समनसः**=समान मनवाले हों, सन्तानों का उत्तम निर्माण ही इनका उद्देश्य हो। ९. इन अग्नियों से सुन्दर जीवनवाले ये पति-पत्नी **वासन्तिकौ**=परस्पर उत्तम निवासवाले हों **ऋतू**=बड़े नियमित व व्यवस्थित जीवनवाले हों। **अभिकल्पमाना**=ये अपने को दोनों ओर शक्तिशाली बनाएँ, शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल। १०. **इन्द्रमिव**=देवराट् इन्द्र को जैसे देव प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस जितेन्द्रिय पति को **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। इसमें दिव्य गुणों का प्रवेश हो। ११. हे पति-पत्नि! तुम दोनों **तया देवतया**=सदा उस प्रभु-स्मरण के साथ कार्य करने से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में प्राणशक्ति के सञ्चारवाले की भाँति **ध्रुवे**=मर्यादित जीवनवाले होकर स्थिरता से **सीदतम्**=ठहरो।

भावार्थ—पति-पत्नी १. मधु-माधव हों, २. वासन्तिक हों, ३. ऋतु हों, ४. हृदय में प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले हों, ५. शरीर व मस्तिष्क को सशक्त बनाएँ, ६. जलों व वनस्पतियों का ही सेवन करें, ७. उत्तम माता-पिता व आचार्यवाले हों, ८. इनके माता-पिता व आचार्य का ध्येय इन्हें ज्येष्ठ बनाना हो, ९. वस्तुतः सब माता-पिता व आचार्य परस्पर एक मनवाले होकर इनका निर्माण करें, १०. इन्द्र बनकर दिव्य गुणों को प्राप्त करें, ११. उस प्रभु का स्मरण करते हुए मर्यादित जीवनवाले हों।

ऋषिः—सविता। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पत्नी=सविता=जन्मदात्री

अषाढासि सहमाना सहस्वारातीः सहस्व पृतनायतः।
सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व॥२६॥

१. हे पत्नि! **अषाढा असि**=तू न कुचली जानेवाली है, शत्रु तेरा धर्षण नहीं कर सकते। २. **सहमाना**=तू शत्रुओं का पराभव करनेवाली है, अतः **अरातीः**=शत्रुओं को अथवा अदान की भावनाओं को तू **सहस्व**=नष्ट कर डाल। तुझ में देने की वृत्ति हो, यह देने की वृत्ति ही व्यसन-वृक्ष के तनेरूप लोभ को समाप्त करके मनुष्यों को सब वासनाओं से ऊपर उठाती है। एवं, दान=देना सचमुच दान=(दाप् लवने) बुराइयों का काटनेवाला हो जाता है और इस प्रकार यह दान=(दैप् शोधने) जीवन का शोधक होता है। ३. **पृतनायतः** =शत्रु-सैन्य की भाँति आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध-लोभ आदि को तू **सहस्व**=पराजित कर। ४. तू सचमुच इनका पराजय करनेवाली **सहस्रवीर्या**=अनन्त शक्तिवाली अथवा हास्ययुक्त-प्रसन्नतापूर्ण शक्तिवाली है, (स+हस्)। ५. **सा**=वह तू **मा**=मुझे **जिन्व**=प्रीणित करनेवाली हो। वस्तुतः उल्लिखित गुणों से युक्त पत्नी से ही पति प्रसन्नता का अनुभव कर पाता है। ऐसी ही पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देने के कारण प्रस्तुत मन्त्र की ऋषिका 'सविता' बनती है (सावित्री=सविता लिंगव्यत्ययः अथवा स्वसृ आदि में पाठ मानकर ङीप् नहीं हुआ)।

भावार्थ—पत्नी कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाली हो, तभी वह शक्तिसम्पन्न होगी और उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली बनेगी।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—२७,२९ निचृद्गायत्री, २८ गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मधुर-ही-मधुर

मधु वाताऽऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥२७॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥२८॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२॥ऽअस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥२९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार अपना सुन्दर जीवन बनानेवाले व्यक्ति ही 'ऋतायन्' हैं, ऋतम् आत्मन इछन्ति=जो अपने जीवन में सब क्रियाएँ ऋत के अनुसार करते हैं। **ऋत**=right=ठीक, उनकी सब क्रियाएँ ठीक स्थान व ठीक समय पर ही होती हैं। ऋत का अर्थ यज्ञ भी है। इनका जीवन यज्ञिय होता है। ये लोग स्वार्थ से ऊपर उठकर यज्ञमय जीवनवाले बनते हैं, सर्वभूतहिते रतः होते हैं। २. इस **ऋतायते**=ऋतमय जीवनवाले के लिए **वाताः**=वायुएँ **मधु**=मधुर होकर बहती हैं, हानिकर नहीं होती। **सिन्धवः**=नदियाँ भी इसके लिए **मधु**=मधुर बनकर **क्षरन्ति**=चलती हैं। इसके लिए नदियों का जल सदा स्वास्थ्यवर्धक ही होता है। **नः**=हम ऋत का पालन करनेवालों के लिए **ओषधीः**=ओषधियाँ **माध्वीः**= माधुर्यवाली **सन्तु**=हों। ३. मन्त्र में यह क्रम द्रष्टव्य है कि वर्षा की वायुएँ चलती हैं, नदियाँ बहती हैं और ओषधियाँ उत्तम होती हैं। ४. **नक्तं मधु**=रात्रि इसके लिए माधुर्यवाली हो **उत**=और **उषसः**=उषःकाल भी मधुर हों। रात्रि में यह मीठी नींद सोये, उषः इसके सब दोषों का दहन करती हुई इसे प्राणशक्ति-सम्पन्न बना दे। ५. **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिवलोक या पृथिवी की मिट्टी इसके लिए **मधुमत्**=माधुर्यवाली हो। इसके शरीर पर मलने से इसके सब विष दूर हों **पिता द्यौः**=पितृतुल्य यह द्युलोक **नः**=हमारे लिए **मधुः अस्तु**=माधुर्यवाला हो। पृथिवी माता हो और द्युलोक पिता। माता-पिता की भाँति ये ऋतायन् के लिए हितकारी हों। संक्षेप में दिन-रात तथा पृथिवी व द्युलोक सब इसके लिए हितकारी हों। ६. **नः**=हमारे लिए **वनस्पतिः**=सब वनस्पतियाँ **मधुमान्**=माधुर्य को लिये हुए हों, **सूर्यः मधुमान् अस्तु**=सूर्य माधुर्यवाला हो। **गावः**=गौवें भी **नः**=हमारे लिए **माध्वीः**=माधुर्यपूर्ण दूध देनेवाली **भवन्तु**=हों। वस्तुतः सूर्य किरणों से वनस्पतियाँ भी प्राणशक्ति-सम्पन्न होती हैं और उनका सेवन करनेवाली गौवें भी उत्तम दूध देनेवाली होती हैं। ७. एवं, हमारा जीवन ऋतमय हो तो सारा ही आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल होता है, हमारे लिए मधुर होता है। जीवन में से ऋत के चले जाने पर ही आधिदैविक कष्ट आया करते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन ऋतमय हो, जिससे हमारा संसार मधुर बने। ऋतमय जीवनवाला ही गोतम, प्रशस्तेन्द्रिय होता है। ऐसा होने पर ही इन्द्र की कृपा होती है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

कर्म व्यापृति

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः।

अच्छिन्नपत्राः प्रजाऽअनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥३०॥

१. **अपाम्**=कर्मों की **गम्भन्**=(गम्भीरे) गम्भीरता में **सीद**=तू स्थित हो, अर्थात् सदा

गम्भीरता से कर्मों में व्यापृत रह। गम्भीरता का अभिप्राय प्रसन्नता का अभाव नहीं है। इसका तात्पर्य है तेरे जीवन में उथलापन व विलास न आ जाए। २. गम्भीरता से कर्मों में लगे रहने पर **सूर्यः**=सूर्य **त्वा**=तुझे **मा अभिताप्सीत्**=समाप्त करनेवाला न हो। वस्तुतः क्रियाशून्य—आराम से लेटनेवाले को ही सर्दी–गर्मी लगा करती है। कार्यव्यापृत मनुष्य इनसे इतना व्याकुल नहीं होता। ३. **वैश्वानरः अग्निः**=देह में स्थित जाठराग्नि भी तुझे **मा**=सन्तप्त न करे। कर्म में लगे हुए व्यक्ति का अमाशय भी स्वस्थ रहता है। पाचनशक्ति की कमी आलसियों को ही सताती है। ४. कार्यव्यापृतता से पूर्ण स्वस्थ बनकर तू **अच्छिन्नपत्राः**=(अच्छिनानि पत्राणि अक्षयं वा यासाम्) अखण्डित अवयवोंवाली **प्रजाः**=सन्तानों को **अनुवीक्षस्व**=निरन्तर अपने पीछे आता हुआ देख, अर्थात् यह कर्मव्यापृति माता–पिता को पूर्ण स्वस्थ बनाकर अति सुन्दर सर्वांग सन्तानों को प्राप्त कराती है। ५. **अनु**=पीछे, अर्थात् अन्त में **त्वा**=तुझे **दिव्या वृष्टिः**=धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली आनन्द की वृष्टि **सचताम्**=सेवन करे। इस कार्यव्यापृति से तू चित्त की एकाग्रता के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग को प्राप्त होनेवाला हो और यह कर्म–कुशलतारूपी योग का अभ्यास तुझे अद्भुत आनन्द देनेवाला हो।

भावार्थ—प्रतिक्षण प्रसन्नता से स्वधर्म में लगे रहने से, आलस्य को त्यागकर मूर्त्तिमान् कर्म बन जाने से मनुष्य १. सर्दी–गर्मी को सहन कर पाता है। २. उसकी पाचनशक्ति ठीक बनी रहती है। ३. उसकी सन्तानें स्वस्थ, सर्वाङ्ग होती हैं। ४. उसे एक अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—वरुणः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

तीन समुद्र व तीन स्वर्ग—भूत, वर्त्तमान व भविष्यत् में,

त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभऽइष्टकानाम्।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः॥३१॥

१. मन्त्र का ऋषि 'गोतम' **त्रीन् समुद्रान्**=(समुद्द्रवन्ति पदार्था येषु तान् भूत-भविष्यद्वर्त्तमानान् समयान्—द०) भूत, वर्त्तमान व भविष्यत्—तीनों कालों में **समसृपत्**=सम्यक्तया गति करता है और इस प्रकार इन तीनों कालों को **स्वर्गान्**=स्वर्ग बना देता है। क्रियाशीलता जीवन को स्वर्ग बनाती है। क्रियाशील व्यक्ति के लिए तीनों काल सुखद बने रहते हैं। २. यह **अपां पतिः**=कर्मों का रक्षक, अपने जीवन में कर्मों को नष्ट न होने देनेवाला **इष्टकानाम्**=घरों में यज्ञशील पत्नियों का (यज्+क्त=इष्ट=यज्ञ) **वृषभः**=सुखों का सेचन करनेवाला बनता है, अर्थात् क्रियाशील व्यक्ति सारे घर को सुखी बना देता है। क्रियाशील गृहस्थ का घर स्वर्ग होता है। ३. प्रभु कहते हैं कि **पुरीषम्**=(पृ पालने) पालनात्मक कर्मों को **वसानः**=धारण करता हुआ, अर्थात् सदा पालनात्मक कर्मों में लगा हुआ तू **सुकृतस्य**=पुण्य के **लोके**=लोक में **तत्र** =वहाँ **गच्छ**=जा, **यत्र**=जहाँ कि **पूर्वे**=(पृ पूरणे) पालन–पूरण करनेवाले लोग **परेताः**=गये हैं। जो भी व्यक्ति पालनात्मक कर्मों में लगा रहता है वह पुण्यकृत् लोगों के उत्तम लोकों को प्राप्त होता है।

भावार्थ—१. मनुष्य तीनों कालों में—भूत, वर्त्तमान व भविष्यत् में अथवा बाल्य, यौवन व वार्धक्य में सदा कार्यों में लगा रहे, तभी इसके तीनों काल स्वर्ग बनते हैं। २. यज्ञशील पति घर में पत्नियों के जीवन को सुखी बनाता है। ३. यह पालनात्मक कर्मों को करनेवाला व्यक्ति सदा पुण्यकृत् लोगों के लोकों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—गोतमः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

यज्ञ-पूर्ति

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न॒ऽइ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम्। पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः ॥३२॥

१. 'द्यौष्पिता पृथिवी माता' इस वैदिक कथन के अनुसार पिता द्युलोक के समान है, माता पृथिवी के, अतः प्रभु कहते हैं कि—**मही द्यौः**=(मह पूजायाम्, दिवु=द्योतने) पूजा की मनोवृत्तिवाला तथा प्रकाशमय जीवनवाला पिता **च**=और **मही पृथिवी**=पूजा की मनोवृत्तिवाली तथा विस्तृत हृदयवाली माता **नः**=हमारे द्वारा वेदों में प्रतिपादित **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **मिमिक्षताम्**=(स्वैः स्वैः भागैः पूरयताम्—म०) अपने-अपने कर्त्तव्य भागों से पूर्ण करें। वेद में प्रभु ने नाना यज्ञों का उपदेश दिया है। इन्हीं यज्ञों से मनुष्य को फूलना-फलना है। प्रभु कहते हैं कि पति-पत्नी मिलकर इन यज्ञों को पूर्ण करने का प्रयत्न करें। २. इस प्रकार ये पति-पत्नी यज्ञों द्वारा **भरीमभिः**=भरणात्मक कर्मों से **नः**=हमें **पिपृताम्**=अपने में धारण करें। वस्तुतः ये इन यज्ञात्मक कर्मों से ही अपने में प्रभु के निवास का कारण बनते हैं। यज्ञ हमें प्रभु की प्राप्ति करानेवाले होते हैं। वस्तुतः इन यज्ञों में लगना अर्थात् लोकहित में लगे रहना ही सच्ची प्रभु-भक्ति है। 'सर्वभूतहिते रतः' ही तो भक्ततम है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो। यज्ञों से हम प्रभु को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

विष्णु बनना

विष्णो॒ः कर्मा॑णि पश्यत॒ यतो॑ व्र॒तानि॑ पस्प॒शे। इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥३३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञों पर बल दिया है। प्रस्तुत मन्त्र में सारे ब्रह्माण्ड का धारण करनेवाले प्रभु की ओर ध्यान दिलाते हैं और कहते हैं कि **विष्णोः**=(विष्णुर्वाव यज्ञः) उस यज्ञरूप प्रभु के **कर्माणि**=धारण के लिए किये जाते हुए कर्मों को **पश्यत**=देखो। २. **यतः**=प्रभु के कर्मों को देखने से मनुष्य **व्रतानि**=अपने कर्मों को भी **पस्पशे**=देखता है। उदाहरणार्थ—प्रभु दयालु हैं—यह भी दयालु बनने का ध्यान करता है। प्रभु न्यायकारी हैं—यह भी न्याय को अपनाता है। ३. इस प्रकार यह प्रभु के कर्मों से अपने कर्मों का निश्चय करनेवाला—प्रभु को ही अपना पुरोहित (model) बनानेवाला 'गोतम' उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली—सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु का **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला मित्र बनता है अथवा प्रभु को आदर्श मानकर कर्म करनेवाले **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का वह विष्णु **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाला—अटूट मित्र बनता है।

भावार्थ—प्रभु के कर्मों को देखकर हम अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण करें। ऐसा करने पर वे प्रभु सदा हमारे पूर्ण मित्र होते हैं।

ऋषिः—गोतमः। देवता—जातवेदाः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पत्नी व पति की विशेषताएँ

ध्रु॒वासि॑ ध॒रुणे॒तो ज॑ज्ञे प्रथ॒मम॒भ्यो योनि॑भ्यो॒ऽअधि॑ जा॒तवे॑दाः।
स गा॑य॒त्र्या त्रि॒ष्टुभा॑नु॒ष्टुभा॑ च दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्रजा॒नन् ॥३४॥

१. गत मन्त्र में प्रभु के कर्मों को देखकर कर्त्तव्य-निर्धारण की बात कही है। वैसा

करनेवाली एक गृहिणी के लिए कहते हैं कि **ध्रुवा असि**=तू अपने जीवन में ध्रुव बनती है, मर्यादा से कभी विचलित नहीं होती। २. **धरुणा**=प्रभु की भाँति ही तू घर के सभी सभ्यों का धारण करनेवाली बनती है। ३. **इतः**=इन धारणात्मक कर्मों से **प्रथमं जज्ञे**=सर्वोत्तम विकास को प्राप्त करती है (progress of the first rank)। वस्तुतः जीवन का इससे अधिक विकास हो ही क्या सकता है कि हम प्रभु की पद-पद्धति पर प्रयाण करनेवाले बनें। ४. **एभ्यः योनिभ्यः**=इन जन्म-मरण की कारणभूत योनियों से **अधि जातवेदाः**=वे प्रभु ऊपर स्थित हैं, वे प्रभु अजर व अमर हैं। एक कर्मयोगी भी उस प्रभु की महिमा को जानता हुआ पुण्यकर्मा बनकर, जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है। एक गृहिणी भी इसी प्रकार धारणात्मक कर्मों में लगी हुई उस प्रभु को पाती है। ५. पति के लिए कहते हैं कि **सः**=वह **गायत्र्या**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणशक्ति की रक्षा के साथ, **त्रिष्टुभा**= 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों के रोकने के साथ तथा **अनुष्टुभा**=प्रतिक्षण प्रभु का स्मरण करने के साथ **देवेभ्यः**=विद्वानों से **हव्यम्**=ग्रहणीय ज्ञान को **वहतु**=धारण करे और इस प्रकार **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला हो। **देवेभ्यः हव्यं वहतु**=इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है कि दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सदा हव्य को धारण करे, अर्थात् पवित्र पदार्थों को ही खाये और साथ ही दानपूर्वक बचे हुए को ही खानेवाला बने। यह वह मार्ग है जिसपर चलकर जीव भी प्रभु की भाँति इन योनियों से ऊपर उठ जाता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता।

भावार्थ—पत्नी ध्रुवा व धरुणा हो। पति हव्य का सेवन करनेवाला हो।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—जातवेदाः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सम्राट्-स्वराट्

इषे रा॒ये र॑मस्व॒ सह॑से द्यु॒म्नऽ ऊ॒र्जेऽअप॑त्याय।
स॒म्राड॑सि स्व॒राड॑सि सारस्व॒तौ त्वोत्सौ॒ प्राव॑ताम्॥३५॥

१. इस संसार के अन्दर पति-पत्नी क्या-क्या करें? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **इषे**=अन्न के लिए **राये**=धन के लिए **रमस्व**=तू क्रीड़ा कर, प्रसन्नतापूर्वक यत्न कर। वस्तुतः गृहस्थ का सारा खेल अन्न व धन जुटाने से ही प्रारम्भ होता है। अन्न और धन के बिना गृहस्थ नहीं चल सकता। २. **सहसे**=सहनशक्ति के लिए, सहनशक्ति देनेवाले बल के लिए **द्युम्ने**=यश के लिए **रमस्व**=यत्न कर। गृहस्थ में मनुष्य को बहुतों से मिलकर चलना है। कितनी ही बातों को सहन करना है। सहनशील व्यक्ति ही यशस्वी बन पाता है। असहनशील तो सभी को अपना शत्रु बना लेता है। ३. **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति के लिए **अपत्याय**=वंश को विच्छिन्न न होने देनेवाली (न+पत्) उत्तम सन्तान के लिए **रमस्व**=रमण कर, यत्नशील हो। बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ही स्वस्थ सन्तान को जन्म देता है, ४. परन्तु उल्लिखित सब बातों के लिए तू **सम्राट् असि**=सम्राट् बना है, शासक बना है। **स्वराट् असि**=अपना ही शासक बना है, किसी और का नहीं। स्वयं इन्द्रियों को वश में करनेवाला ही उत्तम सन्तान को जन्म देता है। ५. अपने पर शासन करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य मन व इन्द्रियों को वश में करे, अतः कहते हैं कि **सारस्वतौ उत्सौ**=(मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती एतौ सारस्वतौ उत्सौ—श० ७।५।१।३१) मन और वाणी—ये दोनों **त्वा प्रावताम्**=तेरी रक्षा करें, अर्थात् ये दोनों तुझे विषयप्रवण न होने दें। इन दोनों को ही

तू भक्ति व ज्ञान में लगानेवाला बन। यह 'स्वराट्' बनने का मार्ग है। मन भक्ति में लगा हो, वाणी ज्ञान-प्राप्ति में। बस, फिर विषय-पङ्क में मग्न होने की आशंका नहीं। तैत्तिरीय में 'ऋक्साम वै सारस्वतौ उत्सौ' कहा है—विज्ञान व उपासना ही 'सारस्वत उत्स' हैं। मन का उपासना से सम्बन्ध है, वाणी का ज्ञान से, अतः भाव में कोई अन्तर नहीं है। मन और वाणी को उपासना व ज्ञान में लगाना ही अपना रक्षण है। ऐसा करने से ही मनुष्य 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बना रहता है।

भावार्थ—हम स्वराट् बनें। मन और वाणी को उपासना व ज्ञान में लगाएँ।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

अश्वासः-मन्यवे

अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्ति मन्यवे॥३६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार मनुष्य 'स्वराट्'=जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनता है और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भारद्वाज' होता है—अपने में शक्ति को भरनेवाला। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप कृपा करके हमारे इस शरीररूप रथ में **हि**=निश्चय से **युक्ष्व**=उन घोड़ों—इन्द्रियरूप अश्वों को—जोतिए। **ये तव अश्वासः**=जो आपके घोड़े—अश्व हैं, (अश् व्याप्तौ), निरन्तर यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं। २. **साधवः** (साध्नुवन्ति परकार्याणि)=जो सदा उत्कृष्ट कार्यों को अथवा परार्थ को सिद्ध करनेवाले हैं। जो स्वार्थ के कारण दूसरों के हित का ध्वंस नहीं करते। ३. **अरम्**=(अलं—अत्यर्थम्) जो खूब ही **वहन्ति**=शरीररूप रथ को ले-चलते हैं, जो थकते नहीं। ४. और इस प्रकार निरन्तर अपने-अपने कार्य में लगे हुए **मन्यवे**=(दीप्तये—उ०) ज्ञान की दीप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं अथवा (यज्ञाय—म०) यज्ञों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त कराएँ और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगी रहें। ५. निरन्तर कर्मों में लगी हुई ये इन्द्रियाँ उसे शक्तिशाली बनाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ उसके अन्दर ज्ञान का वर्धन करती हैं। 'वाज' के शक्ति व ज्ञान दोनों ही अर्थ हैं, अतः ये इन्द्रियाँ इसे शक्ति व ज्ञान-सम्पन्न करके सचमुच 'भारद्वाज' बना देती हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ कर्मों में व्याप्त होनेवाली, परहित को सिद्ध करनेवाली, अनथक कार्य करनेवाली तथा हमें ज्ञान-दीप्ति व यज्ञादि उत्तम कर्मों को प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

होता-पूर्व्यः

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥ऽअश्वाँ२॥ऽअग्ने रथीरिव।
नि होता पूर्व्यः सदः॥३७॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार शरीर में उत्तम इन्द्रियाश्वों को जोतकर यह 'भारद्वाज' बड़े विशिष्ट रूपवाला बन जाता है—'विरूप' हो जाता है। इस विरूप से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपनी अग्रगति को सिद्ध करनेवाले जीव! तू **हि**=निश्चय से **अश्वान् युक्ष्व**=इस शरीर में उन घोड़ों को जोत जो सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं तथा **देवहूतमान्**=तुझमें अतिशयेन दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले हैं, अर्थात् तुझे दिव्य गुणों

से भर देनेवाले हैं। २. **रथीः इव**=तू एक उत्तम रथ-स्वामी के समान बन (रथोऽस्यास्तीति-ईर= मत्वर्थे)। जैसे एक उत्तम सारथि घोड़ों को न आलसी होने देता है और न ही उन्हें मार्ग-भ्रष्ट होने देता है, उन्हें लक्ष्य स्थान की ओर अग्रसर करता हुआ लक्ष्य पर पहुँचकर ही विश्राम लेता है, इसी प्रकार तू भी इन इन्द्रियाश्वों को न अकर्मण्य होने दे और न विषयासक्त होने दे। इनके द्वारा निरन्तर उन्नति करता हुआ तू भी मोक्ष तक पहुँच। ३. **होता**=इस संसार में दानपूर्वक अदन करनेवाला बन—यज्ञ-शेष का सेवन करनेवाला बन, अथवा अपने में ज्ञान की आहुति देनेवाला बन। ४. **पूर्व्यः**=तू सर्वप्रथम स्थान में पहुँचा हुआ होकर ही **निषदः**=नम्रता से आसीन हो। जब तक तू मोक्षरूप परम स्थान में न पहुँच जाए तब तक तेरा 'यज्ञों को करना—ज्ञान की दीप्ति को अपने में भरना' रूप पुरुषार्थ समाप्त न हो, तू बीच में ही बैठ न जाए। तू सबसे अग्र स्थान में पहुँचकर ही दम ले।

भावार्थ—विशिष्ट रूपवाला वही बनता है जोकि १. अपने में दिव्यता का अवतरण करता है। २. दानपूर्वक अदन करता है। ३. लक्ष्य स्थान पर पहुँचकर ही विश्रान्त होता है। ४. इन्द्रियाश्वों को पूर्णतया वश में करके उन्हें मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता और आगे-आगे बढ़ता चलता है।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

हिरण्यय वेतस्

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्येऽअग्नेः॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब एक व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को उत्तम सारथि की भाँति पूर्णतया वश में करके चलता है तब उसका ज्ञान इस प्रकार बढ़ता है कि उसमें **धेनाः**=(वाक्—नि० १।११) ज्ञान की वाणियाँ **सरितः न**=नदियों की भाँति **सम्यक् स्रवन्ति**= उत्तमता से प्रवाहित होती हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ **अन्तः**=उसके अन्दर **हृदा**=हृदय में निवास करनेवाली श्रद्धा से तथा **मनसा**=मननशक्ति से, ज्ञानवर्धक तर्क-वितर्क से **पूयमानाः**= पवित्र की जाती हैं, अर्थात् एक जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान की वाणियों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करता है और अपने उस ज्ञान को तर्क-वितर्क से सदा शुद्ध बनाये रखता है। तर्क उसके ज्ञान में किसी मलिनता को नहीं आने देता। श्रद्धा से उसका ज्ञानांकुर सिक्त होकर बढ़ता है तो तर्क से उसके ज्ञान-वृक्ष के पत्तों में कीड़े नहीं लगते। २. अब यह 'विरूप'=प्रत्येक पदार्थ का विशिष्ट प्रकार से निरूपण करनेवाला कहता है कि मैं अपने अन्दर **घृतस्य**=मलिनता का क्षरण करनेवाली ज्ञान-दीप्तियों की **धाराः**=वाणियों को (धारा=वाक्—नि०) अथवा धाराओं को **अभिचाकशीमि**=देखता हूँ। इस प्रकार इस विरूप को अपने अन्दर प्रकाश दिखता है। ३. **अग्नेः**=प्रकाशमय अन्तःकरणवाले, अग्रेणी पुरुष के **मध्ये**=हृदयाकाश में **हिरण्ययः**=वह ज्योतिर्मय **वेतसः**=सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाला (वी=क्षेपण) परमात्मा निवास करता है। वस्तुतः ज्ञान की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं—अतः ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला पुरुष प्रभु की ओर बढ़ रहा है और अन्त में यह प्रभु को पा लेता है। हृदयासीन प्रभु का यह दर्शन करता है।

भावार्थ—हममें ज्ञान की वाणियाँ बहें, अर्थात् हम निरन्तर स्वाध्याय करें। श्रद्धा व तर्क से ज्ञान को निर्मल करें। जब इस ज्ञान के प्रकाश को हम अपने में देखेंगे तब हृदय

में उस प्रभु का दर्शन करेंगे जो ज्योतिर्मय हैं और सब बुराइयों को परे फेंक देते हैं।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्बृहती। स्वरः—मध्यमः॥

वाजी=गति देनेवाला

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा।
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च॥३९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार हृदय में उस 'हिरण्यगर्भ' प्रभु का दर्शन करनेवाला 'विरूप' कहता है कि **ऋचे त्वा**=मैं स्तुति (ऋच् स्तुतौ) के लिए तुझे प्राप्त होता हूँ। आपका दर्शन मुझे स्तुतिमय जीवनवाला कर देता है—मुझे किसी की निन्दा करना व सुनना रुचिकर ही नहीं रहता। २. **रुचे त्वा**=उत्तम रुचि के लिए आपको प्राप्त होता हूँ। मेरी इच्छाएँ व मानस झुकाव उत्तम हों, इसके लिए मैं आपके समीप आता हूँ। ३. **भासे त्वा**=पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति की आँख में प्रकट होनेवाली चमक (दीप्ति) के लिए मैं आपको प्राप्त होता हूँ। आपका दर्शन मुझे पूर्ण स्वस्थ करता है और स्वास्थ्य की झलक मेरी आँख की दीप्ति में दिखती है। ४. **ज्योतिषे त्वा**=आपकी वाणी को सुनते हुए मैं ज्ञान की ज्योति प्राप्त करने के लिए आपको प्राप्त करता हूँ। आपकी उपासना मेरे श्रोत्रों को आपकी वाणी को सुनने के योग्य बनाती है और इस प्रकार मेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता है। ५. इस ज्ञान के बढ़ने से मैं देख पाता हूँ कि **इदम्**=यह ब्रह्म ही **विश्वस्य भुवनस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का **वाजिनं अभूत्**=प्रेरक बल है, गति देनेवाली शक्ति है (वाज=बल, वाजिनम्=बलवाला) सारा ब्रह्माण्ड इसी से गति दिया जा रहा है **'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'**=सब भूतों को प्रभु ही गति दे रहे हैं। ५. **च**=ब्रह्माण्ड को तो वे गति दे ही रहे हैं, इस प्राणियों के देह में स्थित **वैश्वानरस्य अग्नेः**=सब नरों की हितकारी जाठराग्नि को भी वे प्रभु ही गति दे रहे हैं। सब ब्रह्माण्डों व पिण्डों का सञ्चालन प्रभु ही कर रहे हैं।

भावार्थ—उस प्रभु की प्राप्ति से हमारी वाणी स्तुति ही करती है, निन्दा नहीं। हमारे मनों की रुचियाँ उत्तम ही होती हैं, हीन नहीं। हमारी आँख स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकती हैं और श्रोत्र ज्ञान-श्रवण से चमकते हैं। अन्ततः इस साक्षात् प्रभु को ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करते हुए देखते हैं और अपने शरीरों में वैश्वानररूप से अन्न-पाचन भी उसी से होता देखते हैं।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

अग्नि+रुक्म

अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्।
सहस्रदाऽअसि सहस्राय त्वा॥४०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार ज्योति प्राप्त करनेवाला व्यक्ति उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है, अतः कहते हैं कि **अग्निः**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व निरन्तर आगे बढ़नेवाला व्यक्ति **ज्योतिषा ज्योतिष्मान्**=ज्ञान की ज्योति से उत्तम ज्योतिवाला होता है और साथ ही **रुक्मः**=यह स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकनेवाला **वर्चसः**=शरीर में होनेवाली वर्चस् शक्ति से—रोगकृमियों का संहार करनेवाली शक्ति से **वर्चस्वान्**=वर्चस्वी बनता है। (प्रभा=ज्योतिः, शरीरगतकान्तिः=वर्चः)। संक्षेप में यह 'ब्रह्म और क्षत्र' दोनों का विकास करता है। इसकी बुद्धि ज्ञान से दीप्त है, तो शरीर स्वास्थ्य की दीप्ति से। २. ज्ञानी व स्वस्थ बनकर यह

संसार में धनार्जन करनेवाला होता है, परन्तु उस धन को यह जोड़ता नहीं रहता। **सहस्रदाः असि**=सहस्रसंख्यक धनों का देनेवाला होता है **'शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर'**=यह सैकड़ों हाथों से कमाता है, तो हज़ारों हाथों से देता भी है। ३. **त्वा**=इस देनेवाले तुझे **सहस्राय**=(स+हस्) मैं सदा आनन्दमयता प्रदान करता हूँ। वस्तुतः देने में ही आनन्द है। प्रभु पूर्णरूप से दाता है, अतः वे पूर्ण आनन्दवाले हैं। जीव भी जितने अंश में दान करनेवाला होता है, उतने ही अनुपात में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम अग्नि बनकर ज्ञान-ज्योति से चमकें और वर्चस्वी बनकर रुक्म (तेजस्वी) हों। खूब कमाएँ, खूब दें, जिससे हमारा जीवन आनन्दमय हो।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

क्रोध व अभिमान का त्याग

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
परिवृङ्धि हरसा माभि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः॥४१॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति इस बात पर थी कि 'खूब दें'। दे वही पाता है जो लोभ से ऊपर उठता है। लोभ से ऊपर उठकर ही मनुष्य हृदय को पवित्र बना पाता है। लोभ से शरीर का स्वास्थ्य नष्ट होता है। लोभ से बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार लोभ को छोड़ने से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी की उन्नति होती है। **पयसा**=इस आप्यायन-वर्धन-के द्वारा **आदित्यं गर्भम्**=उस ज्योतिर्मय गर्भवाले 'हिरण्यगर्भ' प्रभु को **समङ्धि**=(समञ्जयसि) तू अपने में व्यक्त करता है, तुझे प्रभु का दर्शन होता है। २. उस प्रभु का जो **सहस्रस्य प्रतिमाम्**=आनन्दमयता की मूर्त्ति हैं अथवा शतशः धनों के दाता हैं (बहुधनप्रद-म०) और **विश्वरूपम्**=सब रूपों के प्रकाशक हैं। सम्पूर्ण ज्ञानों का निरूपण करनेवाले है, अर्थात् उस प्रभु के दर्शन से (क) जीवन आनन्दमय होगा। (ख) सब आवश्यक धन प्राप्त होंगे तथा (ग) हमारा ज्ञान बढ़ेगा। ३. उस प्रभु के दर्शन के लिए तू (क) **हरसा**=मानस स्वास्थ्य का हरण करनेवाले क्रोध से **परिवृङ्धि**=अपने को बचा (परिवर्जय), अर्थात् सदा क्रोध से बच। (ख) **माभि मंस्थाः**=अभिमान मत कर। अभिमान सारी उन्नति को समाप्त करके हमें प्रभु से दूर ले-जाता है। प्रभु का सान्निध्य अहंभाव को समाप्त करनेवाला है। (ग) **चीयमानः**=स्वास्थ्य, सत्य व ज्ञान की वृद्धि करता हुआ तू **शतायुषम्**=पूर्ण आयुष्य का, शत वर्ष के जीवन का **कृणुहि**=सम्पादन कर। सौ वर्ष तक नीरोगता से जीनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु की भक्ति शरीर, मन व बुद्धि के आप्यायन से होती है। प्रभु-प्राप्ति के लिए साधना यह है कि हम क्रोध छोड़ें, अभिमान न करें, और उन्नति करते हुए सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें। प्रभु-प्राप्ति होने पर हमें आनन्द प्राप्त हो। इससे अनायास योगक्षेम चलेगा, ज्ञान बढ़ेगा।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मा हिंसीः

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानꣳसरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनाꣳहरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्॥४२॥

१. विरूप के लिए कहते हैं कि अपनी इस विरूपता को स्थिर रखने के लिए मा

हिंसीः=निम्नलिखित वस्तुओं को नष्ट मत होने दे—(क) **वातस्य**=वायु की **जूतिम्**=(जूतिर्गतिः, वायुवत् शीघ्रगतिम्—म०) गति को अर्थात् वायु की भाँति शीघ्रगति को। वायु की अविच्छिन्न गति के समान तेरे जीवन में सदा क्रिया हो, तू कभी अकर्मण्य न बने। (ख) **वरुणस्य नाभिम्**=द्वेष-निवारण की देवता के बन्धन (नह बन्धने) को—व्रत को। तू अपने को इस दृढ़ बन्धन में बाँध कि तूने कभी किसी से द्वेष नहीं करना। शक्ति की अल्पता के कारण हम सबका भला करने में समर्थ न हो सकेंगे, परन्तु 'किसी से द्वेष न करना, किसी के अहित की बात को मन में नहीं आने देना' इस व्रत का पालन तो असम्भव नहीं है। (ग) **सरिरस्य**=(सृ गतौ) गतिशीलता के तथा (सरिरं=जलं, 'सरस्वती'=ज्ञान-जल के प्रवाहवाली) ज्ञान-जल के **मध्ये**=बीच में **जज्ञानम्**=विकसित होते हुए **अश्वम्**=इन्द्रिय-समूह को। तू अपनी कर्मेन्द्रियों को सदा क्रिया में व्याप्त रख तथा ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-जल का ग्रहण करनेवाला बन। अपने-अपने कार्य में लगी हुई इन्द्रियाँ ही सबल बनती हैं। सबल बनने के साथ वे विषयों की ओर झुकाववाली भी नहीं होतीं। २. विरूप के लिए अन्तिम बात यह कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक विरूप! तू **नदीनाम्**=स्तोताओं के **शिशुम्**=सन्तान, उनके हृदयों में प्रकट होने के कारण उनके सन्तानतुल्य (हृदयात् अधिजायसे) अथवा (शो तनूकरणे) स्तोताओं की बुद्धि तीव्र करनेवाले **हरिम्**=बुद्धि देकर दुःखों का हरण करनेवाले **अद्रिबुध्नम्**=(अ+दृ) न विदारण के योग्य अथवा न नष्ट होनेवाले सबके आधारभूत **परमे व्योमन्**=तेरे उत्कृष्ट हृदयाकाश में स्थित प्रभु को **मा हिंसीः**=मत नष्ट कर, आँख से ओझल मत होने दे (नश अदर्शने)। अपने हृदय में सदा इस प्रभु का दर्शन कर और वायुवत् कार्यों में लगा रह।

भावार्थ—१. विरूप—विशिष्ट रूपवाले के लिए क्रिया इस प्रकार स्वाभाविक हो जाए जैसे वायु के लिए। २. वह किसी से द्वेष न करे। ३. इन्द्रियों को गति व ज्ञान में रखकर विकसित शक्तिवाला हो और ४. हृदयदेश में स्थित उस प्रभु को कभी भूले नहीं जो स्तोताओं के ज्ञान को बढ़ाते हैं, उनके कष्टों का निवारण करते हैं, और उनके न हिंसित होने का आधार बनते हैं।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः— निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मा हिंसीः

अजस्त्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम्॥४३॥

१. पिछले मन्त्र की प्रेरणा को सुनकर 'विरूप' कहता है कि मैं **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु की **नमोभिः**=नमनों के द्वारा, अभिमान को छोड़कर नम्रता धारण के द्वारा **ईडे**=स्तुति करता हूँ। जो प्रभु २. **अजस्त्रम्**=(अनुपक्षीणम्—द०) कभी क्षीण नहीं होते। मैं भी तो इस अनुपक्षीण प्रभु का स्तवन करता हुआ अक्षीण बन पाऊँगा। ३. **इन्दुम्**=(इन्द to be powerful) जो प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं अथवा जो प्रभु परमैश्वर्यवाले हैं। ४. **अरुषम्**=जो प्रभु (अ—रुष्) क्रोधशून्य हैं। वस्तुतः अनुपक्षीणता व शक्तिमत्ता का रहस्य है ही अक्रोध में। क्रोध से ऊपर उठकर मैं भी क्षय व निर्बलता से ऊपर उठता हूँ। ५. **भुरण्युम्**=सबका भरण करनेवाले हैं। वे प्रभु अपनी सर्वशक्तिमत्ता व परमैश्वर्य से सभी का भरण कर रहे हैं, मैं भी यथाशक्ति भरण करनेवाला बनूँ। ६. **पूर्वचित्तिम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि

ऋषियों को वेदज्ञान देनेवाले प्रभु को में उपासित करता हूँ। सच्चा उपासक बनकर मैं भी उस चिति व ज्ञान का अधिकारी बनता हूँ। ७. 'विरूप' के इस संकल्प को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **सः**=वह तू **पर्वभिः**=पर्वों से, पूर्णिमा व अमावास्या से तथा **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु से **कल्पमानः**=अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ **गाम्**=वेदवाणी को **अदितिम्**=अखण्डन व स्वास्थ्य को **विराजम्**=विशिष्ट शासन को **मा हिंसीः**=मत नष्ट होने दे, अर्थात् 'पूर्णिमा' के दिन 'मुझे पूर्ण बनना है—प्राणादि सोलह-की-सोलह कालाओं को अपने में संगृहीत करनेवाला होना है' इस भावना को दृढ़ कर। अमावस के दिन 'साथ रहने की भावना—मिलकर चलने की वृत्ति—को दृढ़ कर। ग्रीष्म में पसीने के साथ सब मलिनता को दूर करके पवित्र बनने की भावनावाला हो। वर्षा में सबपर सुखों की वृष्टि करने की भावनावाला हो।' सब मलों को शीर्ण करना सीख! हेमन्त तुझे गति व वृद्धि की प्रेरणा दे रहा है और शिशिर (शश प्लुतगतौ) तुझे स्फूर्ति से क्रिया करनेवाला बनाये। इस प्रकार पर्वों व ऋतुओं से प्रेरणा लेता हुआ तू अपने को शक्तिशाली बना। अपने जीवन में कभी वेदज्ञान की वाणियों को नष्ट न होने दे। तेरा स्वाध्याय सतत चले यही तेरा परम तप हो। ज्ञान के द्वारा विषयासक्ति को दूर करके तू अपने स्वास्थ्य को स्थिर रख। तेरा स्वास्थ्य खण्डित न हो (health का break down न हो)। इस स्वास्थ्य को—शारीरिक ही नहीं अपितु मानस स्वास्थ्य को भी नष्ट न होने देने के लिए तू विराजम्—अपनी इन्द्रियों व मन का उत्तम शासन करनेवाला बन। इस प्रकार ज्ञान (गौः) तेरे मस्तिष्क को, अदिति तेरे शरीर को तथा विराज तेरे मन को दीप्त करनेवाले होंगे और यही तेरा सच्चा स्तवन भी होगा।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें और ज्ञान, स्वास्थ्य व मानस शासन को नष्ट न होने दें।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

असुरस्य माया

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाꣳरजसः परस्मात्।
महीꣳसाहस्त्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्॥४४॥

१. हे विरूप! गत मन्त्र के अनुसार स्तवन करनेवाला बनकर विशिष्टरूपता को सिद्ध करनेवाला और **अग्ने**=आगे बढ़नेवाला! तू **परमे व्योमन्**=इस हृदयाकाश में प्रभु के स्थापन के कारण उत्पन्न हुई **असुरस्य मायाम्**=प्राणशक्ति देनेवाले (असून् राति) प्रभु की प्रज्ञा को, जहाँ प्रभु हैं वहाँ प्रभु का प्रकाश तो होगा ही, **मा हिंसीः**=नष्ट मत कर। अपने हृदय को उस प्राणों के प्राण प्रभु की प्रज्ञा से पूर्ण रख जो प्रज्ञा २. **त्वष्टुः वरुणस्य**=संसार के निर्माता प्रभु की **वरूत्रीम्**=वरण करनेवाली है। जो प्रज्ञा प्रभु को प्राप्त करानेवाली है। ३. जो प्रज्ञा **वरुणस्य नाभिम्**=श्रेष्ठता का केन्द्र है। प्रज्ञा ही मनुष्य को द्वेषादि से ऊपर उठाकर उत्तम जीवनवाला बनाती है। **अविम्**=जो रक्षण करनेवाली है तथा जो प्रज्ञा **रजसः परस्मात्**=रजोगुण से पर-देश में **जज्ञानाम्**=प्रादुर्भूत होती है, अर्थात् जो प्रज्ञा रजोगुण से ऊपर उठने पर प्राप्त होती है। ४. **महीम्**=यह प्रज्ञा तुझे 'मह पूजयाम्' पूजा की मनोवृत्तिवाला बनाती है। ५. **साहस्त्रीम्**=(सहस्त्रोपकारक्षमम्) यह प्रज्ञा तुझे हज़ारों के उपकार में सक्षम करती है। तू अधिक-से-अधिक कल्याण करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम हृदयाकाश में प्रकट होनेवाले प्रभु के प्रकाश को नष्ट न होने दें,

जिससे हम द्वेष व दुर्गुणों से ऊपर उठकर सहस्रशः प्राणियों का कल्याण करनेवाले बनें।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का प्रिय कौन?

योऽअग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्याऽउत वा दिवस्परि।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु॥४५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की प्रज्ञा को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को ऐसा बनाते हैं कि हमपर प्रभु का कोप नहीं होता, प्रत्युत हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तम्**=उस व्यक्ति को **ते हेडः**=तेरा क्रोध **परिवृणक्तु**=(परिवर्जयतु—उ०) छोड़ दे। वह व्यक्ति आपके कोप का पात्र न हो। कौन? २. **यः**=जो **अग्नेः**=दक्षिणाग्निरूप माता से, गार्हपत्याग्निरूप पिता से, आहवनीयाग्नि आचार्य से **अग्निः**=उन्नत जीवनवाला, अपने को अग्र स्थान में प्राप्त करानेवाला बनता है। वह **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'** उत्तम माता-पिता व आचार्यवाला होकर ज्ञान के प्रकाश से चमकता है। ३. **यः**=जो **पृथिव्याः**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर के **शोकात्**=(शुक् दीप्तौ) स्वास्थ्य की दीप्ति से **अध्यजायत**=प्रादुर्भूत होता है, प्रकट होता है। यह शरीर प्रभु ने 'ऋषियों के आश्रम' (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) व 'देवों के मन्दिर' (सर्वा यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते) के रूप में बनाया है। इसे स्वस्थ व निर्मल रखना हमारा मौलिक कर्त्तव्य है। ४. **यः**=जो **उत वा**=अपिच=**दिवः परि**=(द्युलोकोपरि स्थितात्—मा०) मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित **शोकात्**=ज्ञान की दीप्ति से **अध्यजायत**=प्रकट होता है। संक्षेप में जो स्वस्थ शरीरवाला तथा दीप्त मस्तिष्कवाला है, वही प्रभु का प्रिय होता है। यही आदर्श पुरुष है। इसी ने क्षत्र व ब्रह्म का अपने में समन्वय किया है। ५. प्रभु का प्रिय वह बनता है **येन**=जिससे **विश्वकर्मा**=सारे संसार को बनानेवाला प्रभु **प्रजाः**=उत्तम सन्तानों को **जजान**=उत्पन्न करता है, अर्थात् जो गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तान को जन्म देता है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वह होता है जो १. उत्तम माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर ज्ञानी बनता है। २. शरीर में स्वास्थ्य की कान्तिवाला होता है। ३. मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि से दीप्त होता है तथा ४. उत्तम सन्तान का निर्माण करता है और उस सन्तान को प्रभु की ही समझता है।

ऋषिः—विरूपः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वह प्रभु

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳसूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥४६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु का प्रिय बनने का उल्लेख था। यदि हम प्रभु के प्रिय बनते हैं तो प्रभु का तेज हममें भी प्रकट होता है। वे प्रभु सब देवों को देवत्व व द्युति प्राप्त कराते हैं। **देवानाम्**=सब देवों का **चित्रम्**=अद्भुत—पूजनीय **अनीकम्**=तेज (brilliance, splendour) **उदगात्**=उदय हुआ है। २. वे प्रभु ही **मित्रस्य**=दिवसाभिमानी इस दिन के देवता सूर्य के **वरुणस्य**=रात्र्यभिमानी—रात्रि के देवता चन्द्र के तथा **अग्नेः**=इस भौतिक पृथिवीस्थ अग्नि के **चक्षुः**=प्रकाशक हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि को प्रकाश देनेवाले प्रभु ही हैं। ३.

उस प्रभु ने **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक को **आप्राः**=समन्तात् पूर्ण किया हुआ है, वे प्रभु इनमें सर्वत्र व्याप्त हैं। उन्हीं की व्याप्ति से प्रत्येक पदार्थ विभूति से दीप्त हो रहा है। ४. **सूर्यः**=वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड के सूर्य हैं, प्रकाशक हैं अथवा गति देनेवाले हैं। ५. वे **जगतःतस्थुषः च**=जङ्गम व स्थावर जगत् के **आत्मा**=आत्मा हैं। इन सबमें स्थित होकर इनका नियमन कर रहे हैं।

भावार्थ—हम सब देवों के तेज प्रभु का सर्वत्र दर्शन करें और उसी को अन्तर्यामी जान अपने में 'पौरुष' के रूप में उस प्रभु को देखें।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

व्यापक दृष्टिकोण

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुꣳसहस्राक्षो मेधाय चीयमानः। मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सब जंगम स्थावर के अन्दर प्रभु व्याप्त हो रहे हैं। सबमें प्रभु की व्याप्ति को देखनेवाला कभी किसी की हिंसा नहीं कर सकता, अतः प्रभु कहते हैं कि २. **इमम्**=इस **द्विपादं पशुम्**=दो पाँववाले पुरुषरूप पशु को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। सभी मनुष्यों का तू भला चाहनेवाला बन, औरों के अहित से तेरा हित सिद्ध होनेवाला नहीं। ३. **सहस्राक्षः**=तू हज़ारों आँखोंवाला हो, व्यापक दृष्टिकोणवाला हो। ४. **मेधाय**=तू तो उस प्रभु के साथ सङ्गम (मेधृ सङ्गमे to meet) के लिए **चीयमानः**=अपने में शक्तियों का सञ्चय व वर्धन करनेवाला बन। जब मनुष्य का उद्देश्य भौतिक हो जाता है तभी वह संकुचित भी बनता है और औरों की हिंसा से अपने पोषण का विचार करता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **मयुं पशुम्**=यह जो मृगविशेष पशु है **मेधम्**=(शुद्धम्) जो बड़ा शुद्ध व निर्दोष—किसी का बुरा चिन्तन न करनेवाला है, उसे तू **जुषस्व**=प्रेम करनेवाला बन। **तेन**=उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=तू यहाँ स्थित हो। मयु कृष्णमृग है। ऋषियों के आश्रमों में इन मृगों का हम विशिष्ट स्थान देखते हैं, अतः यह हमारे जीवन के साथ निकटता से सम्बद्ध है। ६. हाँ, जो हरिण बहुत बढ़कर खेती आदि की हानि का कारण बनें उस **मयुम्**=हरिण को **ते**=तेरा **शुक्**=मन्यु **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **तम्**=उस हरिण को ही **ते शुक्**=तेरा क्रोध **ऋच्छतु**=प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे हम कृष्यादि विनाशक होने से अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—हम सब मनुष्यों का भला करें। व्यापक दृष्टिकोणवाले बनें। प्रभु-सङ्गम के लिए अपनी शक्तियों का वर्धन करें। मयु आदि पशुओं से भी, अपने जीवन के लिए उन्हें उपयोगी जानते हुए प्रेम करनेवाले बनें। नाशक प्राणियों पर ही हमारा क्रोध हो।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

घोड़ा व आरण्य गौर

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४८॥

१. गत मन्त्र की भावना का ही विकास करते हुए कहते हैं कि **इमं एकशफम् पशुम्**=इस एक खुरवाले पशु घोड़े को **मा हिंसीः**=मत नष्ट कर। वह जो **कनिक्रदम्**

(अत्यर्थं क्रन्दितारम्) खूब उत्साहपूर्वक हिनहिनानेवाला है तथा **वाजिनेषु वाजिनम्**=(वेगवत्सु वेगवन्तः—उ०) वेगवालों में वेगवाला है, बड़ी तीव्र गतिवाला है। यह घोड़ा तेरे लिए 'क्षत्र' की वृद्धि करनेवाला है। २. यह घोड़ा तेरे लिए अत्यन्त उपयोगी है। मैं **ते**=तेरे लिए इस **आरण्यम्**=वन में निवास करनेवाले **गौरम्**=मृगविशेष को भी **अनुदिशामि**=(ददामि—म०) देता हूँ अथवा उसका उपदेश करता हूँ। **तेन**=उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=तू निषण्ण हो, इस शरीर में स्वस्थ होकर रहनेवाला हो। इसका शृङ्ग तेरे पैत्तिक विकारों को दूर करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस मृग से तूने प्रेम ही करना, उसे मारना नहीं। ३. हाँ, **शुक्**=तेरा क्रोध **गौरम्**=हानिकर मृग को **ऋच्छतु**= प्राप्त हो, उसी मृग को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यम्**=जिसे कृष्यादि विनाशक होने के कारण **द्विष्मः**=हम अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—घोड़ा तेरे लिए अत्यन्त उपयोगी पशु है। आरण्य गौरमृग भी तेरे जीवन में उपयोगी है। यदि वह संख्या में बहुत बढ़कर तुम्हारी कृषि आदि के विनाशक हो जाएँ तभी तू उनपर क्रोध करना।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—कृतिः। स्वरः—निषादः॥

गौ—गवय

इमꣳसाहस्रꣳशतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳसरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥४९॥

१. **इमम्**=इस **साहस्रम्**=(सहस्रोपकारक्षमम्—म०) हज़ारों का उपकार करने में समर्थ **शतधारम्**=शतसंख्याक क्षीर-धाराओं से युक्त **उत्सम्**=दूध के कूएँ के समान अतएव **सरिरस्य**=(इमे वै लोकाः सरिरम्—श० ७।५।२।३४) इस लोक में **व्यच्यमानम्**=विविध रूप से उपजीव्यमान **घृतं दुहानाम्**=दूध के द्वारा घृत का प्रपूरण करती हुई **जनाय**=मनुष्यों के लिए **अदितिम्**=अदीना देवमाता के तुल्य अथवा (दो अवखण्डने) स्वास्थ्य को न खण्डित होने देनेवाली इस गौ को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। २. यह गौ तो तुझे **परमे व्योमन्**= उत्कृष्ट आकाश में प्राप्त करानेवाली है। इसके दूध से तेरा स्वास्थ्य उत्तम होगा, मन निर्मल होगा, बुद्धि तीव्र बनेगी। इस प्रकार तेरी स्थिति कितनी ऊँची हो जाएगी! ३. गौ का ही नहीं, मैं तो **ते**=तुझे **आरण्यं गवयम्**=इस जङ्गली गवय पशु को **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन**=उससे **तन्वः**=अपने शरीर की शक्तियों को **चिन्वानः**=बढ़ाता हुआ **निषीद**=निषण्ण हो। इस गवय के शृंग की भस्म तो तुझे कैन्सर से भी बचानेवाली होगी। ४. हाँ, **ते शुक्**=तेरा क्रोध **गवयम्**=हानिकर नील गाय को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, परन्तु उसी नील गाय को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यम्**=जिसे ध्वंसक होने से **द्विष्मः**=हम अवाञ्छनीय समझते हैं।

भावार्थ—गौ मनुष्य के लिए अत्यन्त उपकारी पशु है, इसे मारना नहीं, गवय से भी प्रेम करना है। हाँ, यदि वह ध्वंसक हो जाएँ तब उसे समाप्त करना ही है। यह न भूलना कि यह गौ तेरे लिए 'अदिति' है—तेरा किसी भी तरह खण्डन न होने देनेवाली है, अतः तू भी इसका खण्डन न करना, इसे 'अघ्न्या' समझना।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

ऊर्णायु+उष्ट्र (भेड़-ऊँट)

इ॒मम्मूर्णा॒युं वरु॑णस्य॒ नाभिं॒ त्वचं॑ पशू॒नां द्वि॒पदां॒ चतु॑ष्पदाम्। त्वष्टुः॑ प्र॒जानां॑ प्रथ॒मं ज॒नित्र॒मग्ने॒ मा हि॑ꣳसीः पर॒मे व्यो॑मन्। उष्ट्र॑मार॒ण्यमनु॑ ते दिशामि॒ तेन॑ चि॒न्वा॒नस्त॒न्वो॑ निषी॑द। उष्ट्रं॑ ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु॥५०॥

१. **इमम्**=इस **ऊर्णायुम्**=(ऊर्णावन्तं) ऊनवाली भेड़ को भी **मा हिंसीः**=मत मार। यह **वरुणस्य नाभिम्**=(वृ to cover) आच्छादक-साधनों का केन्द्र है। सर्दी के निवारण के लिए तुझे इसी से उत्तम आच्छादक वस्त्र प्राप्त होने हैं। यह भेड़ तो इस प्रकार **द्विपदाम्**=दो पाँववाले व **चतुष्पदाम्**=चार पाँववाले **पशूनाम्**=पशुओं के लिए **त्वचम्**=त्वचा की भाँति रक्षण करनेवाली है। मनुष्य तो इन ऊनी वस्त्रों को धारण करके शीत से अपनी रक्षा करते ही हैं—घोड़े आदि की पीठ पर भी मार्दव के लिए ऊनी वस्त्र डाला जाता है। २. यह भेड़ वस्तुतः **प्रजानां त्वष्टुः**=प्रजाओं के निर्माता उस प्रभु की **प्रथमं जनित्रम्**=बड़ी उत्तम रचना है (of the first water)। यह मानव-हित के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्त्रों का साधन बनती है। ३. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! यह भेड़ भी तुझे **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट आकाश में स्थापित करनेवाली है, स्वास्थ्य की रक्षिका होकर सचमुच कल्याण करनेवाली है। ४. भेड़ को तो तूने मारना ही नहीं, मैं **आरण्यं उष्ट्रम्**=इस वन्य उष्ट्र को **ते**=तुझे **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन**=उससे अपने हलों, कूओं व गाड़ियों को चलाता हुआ तू **तन्वः चिन्वानः**=अपने शरीर की शक्तियों को बढ़ाता हुआ **निषीद**=इस शरीर में निवास कर। ५. हाँ, **उष्ट्रम्**=उस आरण्य ऊँट को **ते शुक्**=तेरा क्रोध **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, परन्तु **तम्**=उसी आरण्य उष्ट्रं को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे हम नाशक होने से अप्रीतिकर समझते हैं।

भावार्थ—हम भेड़ की उपयोगिता समझें। ऊँट भी कितना उपयोगी है, परन्तु यदि वह पागल होकर ध्वंसक हो जाता है तब तो उसे समाप्त करना ही होता है।

ऋषिः—विरूपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

अज-शरभ

अ॒जो ह्य॒ग्नेरज॑निष्ट॒ शोका॒त्सोऽअ॑पश्यज्जनि॒तार॒मग्रे॑। तेन॑ दे॒वा दे॒वता॒मग्र॑माय॒ꣳस्तेन॒ रोह॑माय॒न्नुप॒ मेध्या॑सः। श॒र॒भमा॑र॒ण्यमनु॑ ते दिशामि॒ तेन॑ चि॒न्वा॒नस्त॒न्वो॑ निषी॑द। श॒र॒भं ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु॥५१॥

१. **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों को दूर निराकृत करनेवाला जीव **हि**=निश्चय से **अग्नेः शोकात्**=प्रभु की ज्ञान-दीप्ति से **अजनिष्ट**=विकास को प्राप्त होता है, अर्थात् जब जीव निरन्तर कर्मों में लगा रहकर अपने से मलों को दूर रखता है तब उसके हृदय में प्रभु के ज्ञान का प्रकाश होता है, इस ज्ञान-प्रकाश से इसकी शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। २. **सः**=यह विकसित शक्तियोंवाला जीव **अग्रे**=अपने सामने **जनितारम्**=अपने पिता प्रभु को **अपश्यत्**=देखता है। इसे प्रभु का साक्षात्कार होता है। ३. **तेन**=उस प्रभु से ही **देवाः**=सब देव **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में **देवताम्**=देवत्व को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सूर्यादि को वे प्रभु ही दीप्ति देते हैं। अग्नि आदि ऋषियों को भी

ज्ञान की दीप्ति देनेवाले वे प्रभु ही हैं। ४. **तेन**=उस प्रभु से ही **रोहम्**=वृद्धि को **आयन्**=प्राप्त होते हैं और **उप**=उस प्रभु के समीप रहते हुए **मेध्यासः**=पवित्र बने रहते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में इस मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ इस प्रकार है—१. **अजः**=यह उछलने-कूदनेवाली बकरी **अग्नेः शोकात्**=अग्नि की दीप्ति से प्रकट होती है—इसके शरीर व दूध आदि में उष्णता होती है। इसका सहवास—इनके बीच में उठना-बैठना—क्षयरोगी को भी फिर से शक्ति प्रदान करा देता है। २. **सः**=यह अजः=बकरी का दूध **अग्रे जनितारम्**=उस सृष्टि के उत्पादक प्रभु को **अपश्यत्**=दिखाता है (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र दृशिः)। अत्यन्त सात्त्विक होने से यह दूध मानव-मन को बड़ा निर्मल कर देता है, उस निर्मल मन में प्रभु-दर्शन सम्भव होता है। २. **तेन**=इसी अजा-पय से—बकरी के दूध से **देवाः**=सब देव—विद्वान् **देवताम्**=ज्ञान-दीप्ति को **अग्रे आयन्**=सर्वप्रथम प्राप्त करते हैं। इससे बुद्धि तीव्र होती है। ४. **तेन**=इस दूध से **रोहम्**=शक्ति की वृद्धि को अथवा सर्वाङ्गीण उन्नति को **आयन्**=प्राप्त होते हैं और **मेध्यासः**=पवित्र बनकर **उप**=उस प्रभु के समीप पहुँचते हैं। एवं, अत्यन्त उपयोगी होने से यह बकरी तो अहन्तव्य है ही। प्रभु कहते हैं कि ५. **आरण्यं शरभम्**=इस वन्य शरभ को **ते**=तुझे **अनुदिशामि**=देता हूँ। **तेन** =उससे **तन्वः**=शरीर की शक्तियों का **चिन्वानः**=चयन करता हुआ **निषीद**=तू इस शरीर में स्थित हो। ६. **ते शुक्**=तेरा क्रोध **शरभम्**=कृषि-विनाशक शरभ को **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **तम्**=उसी शरभ को **ते शुक् ऋच्छतु**=तेरा क्रोध प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसे कृष्यादि विनाश के कारण हम अप्रिय समझते हैं।

भावार्थ—हम 'अज' की रक्षा करें। अप्रीतिकर हानिकर शरभ को दूर करें।

सूचना—परमं वै एतत् पयः यदजाक्षीरम्—तै० ५।१।७=सबसे बढ़कर यह दूध है जो बकरी का दूध है।

आग्नेयी वा एषा यदजा—तै० ३।७।३।१—यह अजा अग्नितत्त्व प्रधान है। **सा अजायत् त्रिः संवत्सरस्य विजायते तेन परमःपशुः**—श० ३।३।३।८ यह अजा वर्ष में तीन बार जनती है, अतः परम पशु है।

अजा ह सर्वा ओषधीरत्ति—श० ६।५।४।१६ यह अजा सब ओषधियों का सेवन करती है, तभी इसका दूध 'सर्वरोगापह' होता है।

ऋषिः—उशनाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

उशना की जीवन-सिद्धान्त-त्रयी

त्वं य॑विष्ठ दा॒शुषो॒ नॄँः पा॑हि शृणु॒धी गिर॑ः। रक्षा॑ तो॒कमु॒त त्मना॑ ॥५२॥

१. पिछले मन्त्रों के अनुसार विरूप=पदार्थों का विशिष्ट रूप से निरूपण करनेवाला व्यक्ति सभी में प्रभु का वास अनुभव करता हुआ सभी का भला चाहता है—सबके साथ बन्धुत्व का अनुभव करता है। सभी का भला चाहने से ही 'उशनाः' (कामयमानः) नामवाला होता है। प्रभु इससे कहते हैं कि—२. **यविष्ठ**=हे बुराइयों को अपने से सुदूर करके अच्छाइयों को अपने से सम्पृक्त करनेवाले! (यु मिश्रणामिश्रणयोः) **त्वम्** =तू **दाशुषः नॄन्**=तेरे प्रति अपना समर्पण करनेवाले लोगों को **पाहि**=सुरक्षित कर। तू शरणागत की रक्षा करनेवाला बन। ३. **गिरः शृणुधी**=तू सदा ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला बन। ये ज्ञान की वाणियाँ तेरे जीवन में पवित्रता बनाये रक्खेंगी, ये तेरे मस्तिष्क का भोजन होंगी, तेरे विचार दुर्बल न होंगे। यह नैत्यिक स्वाध्याय ही तेरा अध्यात्म-भोजन होगा और तुझे बड़ा

ऊँचा उठानेवाला होगा। ४. **उत**=और **त्मना**=स्वयं **तोकम्**=सन्तान की **रक्ष**=रक्षा करनेवाला बन। अपने सन्तान की रक्षा का भार नौकरों पर मत डाल देना। अन्य कार्यों में लगे रहकर सन्तान-निर्माण की उपेक्षा से तेरी सन्तान विकृत जीवनवाली होकर समाज के लिए भार हो जाएगी, अतः समाज-निर्माण से तूने सन्तान-निर्माण को अधिक महत्त्व देना।

भावार्थ—उशना=हित की कामनावाले के तीन मौलिक सिद्धान्त होने चाहिए—(१) शरणागत की रक्षा (२) ज्ञान को नैत्यिक भोजन समझना। (३) स्वयं सन्तानों का संरक्षक बनना।

ऋषिः—उशनाः। देवता—आपः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः[उ], ब्राह्मीजगती[क], निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः[र]।
स्वरः—पञ्चमः[उ, र], निषादः[क]॥

ज्ञान-विज्ञान

[उ]अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन्त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन्त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि [क]सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि [र]गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥५३॥

१. प्रभु (सबका भला चाहनेवाले) उशना से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **अपाम् एमन्**=वायु में (वायुर्वा अपामेम—श० ७।५।२।४६) **सादयामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् तुझे वायु के ज्ञान में परिनिष्ठित करता हूँ। 'वायु' का मानव-जीवन से सर्वाधिक सम्बन्ध है। इसके बिना एक पल भी जीवन का चलना सम्भव नहीं रहता, अतः वायुविद्या को सम्यग् जानकर शुद्ध वायु के सेवन से हमें अपने जीवन को 'सत्य, शिव व सुन्दर' बनाना है। २. **त्वा**=तुझे **अपाम् ओद्मन्**=(ओषधयो वा अपामोद्म—श० ७।५।२।४७) ओषधियों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। ओषधि-विज्ञान में परिनिष्ठित करता हूँ। इनका विज्ञान तुझे इनके रसों के समुचित प्रयोग में समर्थ करेगा। इनके समुचित प्रयोग से तू मलों का दहन करता हुआ पूर्ण स्वस्थ बनेगा। ३. **त्वा**=तुझे **अपां भस्मन्**=(अभ्रं वा अपां भस्म—श० ७।५।२।४८) इन मेघों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इन मेघों की विद्या को समझने पर जहाँ इनमें तुझे प्रभु की महिमा दिखेगी, वहाँ तू इन मेघ-जलों को ही 'अमरवारुणी'=देवताओं की मद्य जानकर उसका प्रयोग करता हुआ हर्षयुक्त जीवनवाला होगा। ४. **त्वा**=तुझे **अपां ज्योतिषि**=(विद्युद्वा अपां ज्योतिः—श० ७।५।२।४९) विद्युत् में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। विद्युत् के ज्ञान का अधिपति बनकर तू विद्युत् द्वारा अपने यन्त्रों को चलाता हुआ ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाला बनेगा। ५. **त्वा**=तुझे **अपाम् अयने**=(इयं वा अपाम् अयनम्—श० ७।५।२।५०) इस पृथिवी के ज्ञान में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस पृथिवी के ज्ञान से तू इसके द्वारा सब वस्तुओं को, निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को—प्राप्त करेगा। यह पृथिवी तो 'वसुन्धरा' है। ६. **त्वा**=तुझे **अर्णवे सदने**=(प्राणो वा अर्णवः—श० ७।५।२।५१) इस प्राणरूप घर में

सादयामि=बिठाता हूँ। प्राणविद्या में परिनिष्ठत होकर तू इन प्राणों को प्रबल बनानेवाला होगा। ये प्रबल प्राण तुझपर होनेवाले रोगों के आक्रमणों से तुझे बचानेवाले होंगे। ७. **त्वा**=तुझे **समुद्रे सदने**=(मनो वै समुद्रः—श० ७।५।२।५२) मनरूप सदन में **सादयामि**=बिठाता हूँ। इस मन की विद्या को अच्छी प्रकार समझकर जहाँ मनोनिरोध से तू अपनी ऊँचे-से-ऊँची स्थिति को प्राप्त करनेवाला होगा, वहाँ तू व्यावहारिक दोषों से भी बचा रहेगा। तू औरों की मनोवृत्ति को ठीक समझने के कारण ठीक ही बर्ताव करने में समर्थ होगा। ८. **त्वा**=तुझे **सरिरे सदने**=(वाग् वै सरिरम्—श० ७।५।२।५३) वाणीरूप सदन में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस वाणी का पूर्ण प्रभु बनकर जहाँ तू शत्रुओं के लिए घोर स्थिति का सर्जन करनेवाला होता है (ययैव ससृजे घोरम्), वहाँ अपनों के लिए शान्त वायुमण्डल को प्रस्तुत करता है (तयैव शान्तिरस्तु नः) ९. **त्वा**=तुझे **अपां क्षये**=(चक्षुर्वा अपांक्षयः—श० ७।५।२।५४) चक्षु में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस चक्षु के रहस्य को तूने समझना है। इसके महत्त्व को जानकर तू निश्चय से बहु-द्रष्टा बनने का प्रयत्न करेगा। सब ज्ञानों के मूल में यह दर्शन (observastion) ही होता है। १०. **त्वा**=तुझे **अपां सधिषि**=(श्रोत्रं वा अपांसधिः—श० ७।५।२।५५) श्रोत्र में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। श्रोत्र के महत्त्व को जानकर तू 'बहुश्रुत' बनेगा। 'सुनना अधिक बोलना कम' इस रहस्य को हृदयङ्गम करके तू संसार में यशस्वी भी होगा। ११. **त्वा**=तुझे **अपां सदने**=(द्यौर्वा अपां सदनम्—श० ७।५।२।५६) द्युलोक में—शरीरस्थ मस्तिष्क में—**सादयामि**=स्थापित करता हूँ। मस्तिष्क के तत्त्व को समझकर तू इस मस्तिष्क के द्वारा अपने को ऊपर ले-जानेवाला बनेगा। १२. **त्वा**=तुझे **अपां सधस्थे**=(अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्—श० ७। ५।२।५७) अन्तरिक्ष में—शरीरस्थ इस हृदयान्तरिक्ष में—**सादयामि**=स्थापित करता हूँ। तू सदा मध्यमार्ग में चलता हुआ इस हृदयान्तरिक्ष को पवित्र करता है और वहाँ प्रभु का दर्शन करने के लिए प्रयत्नशील होता है। १३. **त्वा**=तुझे **अपां योनौ**=(समुद्रो वा अपां योनिः—श० ७।५।२।५८) समुद्र में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। समुद्र-विद्या में निपुण बनकर जहाँ तू विविध जलचरों का ज्ञान प्राप्त करता है, वहाँ इस रत्नाकर से विविध रत्नों का पानेवाला बनता है। १४. **त्वा**=तूझे **अपां पुरीषे**=(सिकता वा अपां पुरीषम्—श० ७।५।२।५९) इन रेत के कणों में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। इस रेत-विद्या को जानकर हम इससे विविध लाभों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। यह रेत जलों का मलरूप है—पत्थरों पर पानी पड़-पड़कर इसका निर्माण होता है। ये जहाँ मकान आदि के निर्माण में उपयुक्त होती है, वहाँ इसमें निहित स्वर्णकणों को भी हम प्राप्त करनेवाले बनते हैं। १५. **त्वा**=तुझे **अपां पाथसि**=(अन्नं वा अपां पाथः—श० ७।५।२।६०) अन्न में **सादयामि**=स्थापित करता हूँ। अन्न-विद्या को समझकर तू उपयुक्त अन्न का सेवन करता हुआ स्वस्थ बनता है। तू सात्त्विक अन्न के सेवन से अन्तःकरण को सात्त्विक बनाता है। १६. **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसा**=प्राण-रक्षा की इच्छा के साथ मैं **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। इस शरीर में रहने के लिए 'गायत्रछन्द'=प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल कामना के महत्त्व को मैं तुझे समझाता हूँ। १७. मैं **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**='काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों को रोकने की इच्छा के साथ **सादयामि**=बिठाता हूँ। जीवन के लिए 'काम, क्रोध व लोभ' को रोकने के महत्त्व को मैं तुझे हृदयङ्गम करा देता हूँ। १८. **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=लोकहित की प्रबल कामना के साथ **सादयामि**=इस शरीर में

बिठाता हूँ। यह तुझे अच्छी प्रकार स्पष्ट कर देता हूँ कि जीवन का अन्तिम उद्देश्य लोकहित की साधना ही है। १९. मैं **त्वा**=तुझे **आनुष्टुभेन छन्दसा**=प्रतिक्षण प्रभु-स्तवन की इच्छा के साथ **सादयामि**=इस शरीर में बिठाता हूँ। तुझे यह समझा देता हूँ कि 'प्रभु को भूले और ग़लती हुई', अतः इस जीवन में प्रभु का स्मरण करते हुए ही चलना है। २०. अन्त में **त्वा**=तुझे **पाङ्क्तेन छन्दसा**=पाँच को ठीक रखने की प्रबल कामना के साथ **सादयामि**=इस शरीर में स्थापित करता हूँ। तूने इस शरीर में अपने निवास को उत्तम बनाने के लिए पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखना है—पाँचों कर्मेन्द्रियों को उत्तम कर्मों में लगाये रखना है। पाँचों प्राणों की शक्ति को ठीक रखना है। पाँचभौतिक शरीर में पाँचों पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश की स्थिति को ठीक रखना है। 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच भागों में बटे हुए समाज की स्थिति को भी उत्तम बनाने का विचार करना है। मन की पञ्चतयी क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों को समझकर उन्हें अच्छा बनाना है। 'क्लेश, कर्म, विपाक, आशय व जन्म-मरण चक्र' से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील होना है। पञ्चधा विभक्त कर्मों में सदा अपने को व्यापृत रखना है।

भावार्थ—हम मन्त्र में वर्णित २० भागों में विभक्त ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। व्यर्थ की बातों में दिमाग़ को ख़राब करके 'मोघज्ञान' न बन जाएँ।

ऋषिः—उशनाः। देवता—प्राणाः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः॥

अग्नि (पुरो भुवः) प्राण-ग्रहण=वसिष्ठ

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपाꣳशुरुपाꣳशोस्त्रिवृत्त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५४॥

१. **अयम्**=यह **पुरः भुवः**=पूर्व दिशा में होनेवाला अग्नि है (भवति सर्वरूपेण, भवत्यस्मत् सर्वमिति वा भुवः अग्निः—श० ८।८।१।४। अग्निर्वै पुरः प्राञ्चं ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्ति, अग्निर्वै भुवः, अग्नेर्हीदं सर्वं भवति) वस्तुतः यह मनुष्य को अग्नितुल्य बनने का उपदेश दे रहा है। जब मनुष्य अपने अन्दर वीर्य की रक्षा करता है तब यह अग्नितत्त्व ठीक बना रहता है। २. **तस्य**=उसी अग्नि का अपत्य **प्राणः**=प्राण है। इसी से **भौवायनः**=भुव का अपत्य कहलाता है। अग्नि-तत्त्व के अनुपात में ही प्राणशक्ति बनी रहती है। ३. **प्राणायनः**=प्राण का पुत्र **वसन्तः**=वसन्त है। प्राणशक्ति के होने पर इसके जीवन में सर्वशक्तियों के पुष्प-फलों का विकास होता है। अथवा इस शरीर में इसका उत्तम निवास इस प्राणशक्ति से ही होता है। ४. **वासन्ती** =इस वसन्त की सन्तान **गायत्री**=इस शरीररूप गृह की रक्षिका है। (गय=गृह)। शरीर में सब अङ्गों की शक्तियों का समुचित निवास होने पर ही इस शरीररूप गृह की रक्षा सम्भव है। ५. **गायत्र्यै** (गायत्र्यः) इसी गायत्री से, शरीर-रक्षा से **गायत्रम्**='गायत्रसाम' उत्पन्न होता है। वह शान्ति उत्पन्न होती है जिसका मूल शरीर-रक्षा ही है। स्वस्थ शरीर में ही वस्तुतः स्वस्थ व शान्त मन का निवास है। ६. **गायत्रात्**=स्वास्थ्यजनित शान्ति से ही वस्तुतः **उपांशुः**=(उप+अंशु) उस परमेश्वर की उपासना द्वारा ज्ञान-किरणें उपलब्ध होती हैं। ७. **उपांशोः**=उपासना द्वारा प्राप्त ज्ञान-किरणों से **त्रिवृत्**=धर्म, अर्थ व काम तीनों का सुन्दर वर्तन होता है (त्रि+वृत्) (धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः) ८. **त्रिवृत्**=इस धर्मार्थकाम के समानुपात में होने से अथवा 'ज्ञान-कर्म-उपासना'

के ठीक रूप में चलने से **रथन्तरम्**=इस शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा की पूर्ति (भवसागर को तैर जाना) होती है। ९. रथन्तर सामवाला व्यक्ति 'वसिष्ठ ऋषि' (अतिशयेन वसति) अत्यन्त उत्तम निवासवाला—प्राणशक्ति-सम्पन्न (प्राणो वै वसिष्ठः—श० ८।१।१।६) तत्त्वद्रष्टा है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**= (प्रजापतिःगृहीतो यया) मुझ प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया** =तेरे साथ **प्राणं गृह्णामि**=मैं प्राणशक्ति का ग्रहण करता हूँ, जिससे **प्रजाभ्यः**=हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले पति को स्वीकार करे। दोनों ने मिलकर उत्तम सन्तानों को जन्म देना है। इसी उद्देश्य से वे अपनी प्राणशक्ति का निरोध करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम पूर्व दिशा के अधिपति अग्नि को अपनाकर अपने में प्राणशक्ति का धारण करते हुए उत्तम प्राणशक्ति-सम्पन्न सन्तानों को जन्म देनेवाले बनें।

ऋषिः—उशनाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

वायु (दक्षिणा विश्वकर्मा) मनो-ग्रहण=भरद्वाज

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्मी त्रिष्टुभः स्वारथंस्वारादन्तर्यामोऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाजऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५५॥

१. **अयम्**=यह **दक्षिणा विश्वकर्मा**=(अयं वै वायुर्विश्वकर्मा एष हीदं सर्वं करोति, तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति—श० ८।१।१।७) दक्षिणा का अधिपति सब कर्मों को करनेवाला वायु है। यह सब कालों में बहता ही रहता है, रुकता नहीं। २. **तस्य वैश्वकर्मणं मनः**=उस वायु-विश्वकर्मा का सन्तान मन है। सदा कर्मों में लगे रहना ही मन को स्वस्थ बनाये रखने का साधन है। ३. **मानसः ग्रीष्मः**=मन की सन्तान वाणी है, उत्साह है। सारा उत्साह मानस स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। ४. **ग्रैष्मी त्रिष्टुप्**=इस उत्साह की सन्तान त्रिष्टुप् है—काम, क्रोध व लोभ का रोकना है। अध्यात्म उन्नति का उत्साह बने रहने पर ही काम, क्रोध व लोभ का रोकना निर्भर है। इन्हें सरलता से रोका नहीं जा सकता, इनके रोकने के लिए निरन्तर दीर्घकाल तक प्रयत्न अपेक्षित है—वह प्रयत्न उत्साह बने रहने पर ही सम्भव होगा। ५. **त्रिष्टुभः**=इस काम, क्रोध व लोभ के रोकने (stopping) से **स्वारम्**=(स्वयं राजते) स्वयंराजमानता=स्वशासन=अपराधीनता—इन्द्रियादिकों की ग़ुलामी का न होना होता है। ६. **स्वारात्**=इस स्वयंराजमानता से **अन्तर्यामः**=अन्दर का नियमन होता है। वस्तुतः स्वयंराजमानता का ही स्पष्टीकरण 'अन्तर्यामः' है। इसी से मनुष्य अन्तःस्थ इन्द्रियादि का नियमन करता है। ७. इस **अन्तर्यामात्**=अन्तर्याम से **पञ्चदशः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को स्वाधीन करनेवाला यह व्यक्ति पञ्चदश बनता है। ८. **पञ्चदशात्**=इस पञ्चदश बनने से यह **बृहत्**=सदा वृद्धिशील होता है। ९. यह वृद्धिशील व्यक्ति **भरद्वाजः ऋषिः**=अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाला तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **मनः गृह्णामि**=मैं अपने मन का निग्रह करता हूँ, **प्रजाभ्यः**=जिससे हम उत्तम सन्तानों को जन्म दे सकें। विक्षिप्त मनवालों के सन्तान विक्षिप्त-से ही होंगे।

भावार्थ—हम इस दक्षिणा के अधिपति वायु के समान सदा, सब कर्मों के अधिपति होते हुए उत्तम क्रियाशील, जितमनाः=मनस्वी सन्तानों को ही जन्म देनेवाले हों।

ऋषिः—उशनाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

आदित्य (पश्चात् विश्वव्यचाः) चक्षु-ग्रहण=जमदग्नि

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जगत्याऽऋक्सममृक्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५६॥

१. **अयम्**=यह **पश्चात् विश्वव्यचाः**=(असौ वादित्यो विश्वव्यचाः यदाह मैवेष उदेति अथेदं सर्वं व्यचो भवति पश्चादिति एतं प्रत्यञ्चमेदमन्तं पश्यन्ति—श० ८।१।२।१) पूर्व में उदय होकर निरन्तर पश्चिम की ओर चलनेवाला, सम्पूर्ण संसार को व्यक्त करनेवाला सूर्य है। इस सूर्य का ध्यान करके मनुष्य ने भी सदा आगे बढ़ते हुए पीछे न लौटने का पाठ पढ़ना है—इन्द्रियों का प्रत्याहार करना है। २. **तस्य वैश्वव्यचसं चक्षुः**=उस मनुष्य की आँख भी इस सूर्य की सन्तान बनती है। सूर्य की भाँति ही वस्तुओं की प्रकाशक होती है। ३. **चक्षुष्यः वर्षाः**=इसकी चक्षु की सन्तान वर्षा होती है, अर्थात् इसका ज्ञान औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ४. **जगती वार्षी**=इसकी ज्ञान-वर्षा लोकहित करनेवाली होती है। ५. **जगत्या ऋक्समम्**=इस लोकहित के द्वारा ही (ऋच् स्तुतौ) इसका विज्ञान-पूर्वक स्तवन चलता है (वह साम जो विज्ञान के साथ है 'ऋक्सम्' कहलाता है)। ६. **ऋक्समात्** (ऋचः सन्ति सम्भजन्ति येन—द०)=इस विज्ञानपूर्वक स्तवन से ही **शुक्रः**=यह (शुच्) अत्यन्त शुद्ध बनता है। ७. **शुक्रात्**=इस शुद्ध बनने से **सप्तदशः**=यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन व बुद्धि इन १७ तत्त्वोंवाला होता है। इन सत्रह को यह उत्तम बना पाता है। ९. इस विशिष्ट रूप से ये **जमदग्निर्ऋषिः**=(जमति जगत् पश्यति इति जमद् अङ्गति सर्वत्र गच्छति इति अग्निः) केवल अपने हित को न देखकर सभी के हित को देखनेवाला क्रियाशील तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह जमदग्नि पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **चक्षुःगृह्णामि**=चक्षु का ग्रहण करता हूँ, जिससे हम **प्रजाभ्यः**=उत्तम सन्तान को प्राप्त करनेवाले हों। संसार में हमारा दृष्टिकोण ठीक हो, हमारा ज्ञान ठीक हो तथा ये चक्षु हमारे वश में हो तो सन्तानों का उत्तम होना स्वाभाविक ही है।

भावार्थ—हम निरन्तर पश्चिम की ओर चलनेवाले सूर्य के समान ज्ञान व प्रकाश के अधिपति हों। अपनी चक्षु को वश में करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—उशनाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

दिशाएँ (उत्तरात् स्वः) श्रोत्र-ग्रहण=विश्वामित्र

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रꣳसौवꣳशरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभऽऐडमैडान्मन्थी मन्थिनऽएकविꣳशऽएकविꣳशाद् वैराजं विश्वामित्रऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥५७॥

१. **इदम्**=यह **उत्तरात्**=उत्तर की ओर **स्वः**=दिशाएँ अधिपति रूपेण हैं। (स्वर्गो हि लोको दिशः—श० ८।१।२।४)। ये दिशाएँ निर्देशों का—उपदेशों का प्रतीक हैं—प्रत्येक दिशा एक बोध दे रही है 'प्राची' आगे बढ़ने का तो 'दक्षिणा'—दाक्षिण्य का, '**प्रतीची**'=प्रत्याहार का और उदीची (उत्तरा) उन्नति का तथा अन्त में 'ऊर्ध्वा'—सर्वोत्कृष्ट स्थिति का उपदेश

कर रही है, अतः २. **तस्य**=उपासक का **श्रोत्रम्**=श्रोत्र **सौवम्**=स्वः का सन्तान होता है—इसका श्रोत्र दिशाओं के उपदेश को सुनता है। ३. **श्रौत्री शरत्**=इसके जीवन में श्रोत्र—सुनने की सन्तान शरत् होती है, अर्थात् यह दिशाओं के इन उपदेशों को सुनता हुआ अपने सब पापों को शीर्ण करनेवाला होता है। ४. **शारदी अनुष्टुभः**=पापों की शीर्णता से प्रतिक्षण इसका प्रभु-स्तवन चलता है, अर्थात् इसका प्रभु-स्तवन यही है कि यह बुराइयों को अपने से दूर करता है। ५. **अनुष्टुभः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन से **ऐडम्**=(इडायाः ज्ञानम्)=इस वेदवाणी का ज्ञान होता है—हृदयदेश में ज्ञान का प्रकाश होता है। **ऐडात्**=इस वाणी के ज्ञान से यह **मन्थी**=मन्थन व चिन्तन करनेवाला बनता है। **मन्थिनः**=इस मन्थन से **एकविंशः**=यह त्रिगुणासप्त (ये त्रिषप्तः) शक्तियोंवाला होता है। ८. **एकविंशात् वैराजम्**=इन इक्कीस शक्तियों से यह विशिष्ट रूप से चमकनेवाला बनता है। ९. यह विशेष रूप से चमकनेवाला **विश्वामित्र ऋषिः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. और पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=प्रजापति का ग्रहण करनेवाली, प्रभु का ध्यान करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **श्रोत्रं गृह्णामि**=मैं इस कान को वश में करता हूँ, **प्रजाभ्यः**=जिससे हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—दिशाओं के उपदेश को सुनते हुए हम श्रोत्र को पूर्णरूप से वश में करके कभी अशुभ का श्रवण न करें, जिससे हमारी सन्तानें उत्तम ही हों।

ऋषिः—उशनाः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—विराडाकृतिः। स्वरः—पञ्चमः॥

मतिः (उपरिमतिः) वाग्-ग्रहण, विश्वकर्मा

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ् मात्या हैमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवतऽआग्रयणऽआग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यांᳬशाक्वररैवते विश्वकर्मऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः॥५८॥

१. **इयम्**=यह **उपरि मतिः**=ऊर्ध्वदेश में स्थित चन्द्रमा है (मन्येत यया—मतिः—उव्वट, 'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्', 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति')—मन सर्वोपरि है, वह मन जो आह्लादमय है २. **तस्य** (तस्याः) **वाङ् मात्या**=उसी की सन्तान यह वाणी है, इसी से इसे 'मात्या' कहा गया है (मतेः इयम्)। वस्तुतः वाणी सदा विचारपूर्वक ही उच्चरित होनी चाहिए। ३. **वाच्यः**=वाणी की सन्तान ही **हेमन्तः**=हेमन्त है (हि गतौ वृद्धौ) सब प्रकार की गति, कर्म व वृद्धि इस वाणी का ही परिणाम है (यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति)। ४. **पंक्तिः हैमन्ती**=हेमन्त का—गति व वृद्धि का ही परिणाम 'पंक्ति' है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ व पाँच प्राण ये गति से ठीक रहते हैं। क्रियाशीलता ही इनके स्वास्थ्य का रहस्य है। ५. **पङ्क्त्यै** =ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राण पञ्चकों के स्वास्थ्य से **निधनवत्**=निधनवत् साम उत्पन्न होता है। यह निधनवत् साम अध्यात्म-शत्रुओं का निधन ही है। ६. **निधनवतः**=इस शत्रु-निधन से ही **आग्रयणाः**=यह अग्रगति का सन्तान, अर्थात् अत्यन्त उन्नतिवाला होता है। ७. **आग्रयणात्**=इस निरन्तर अग्रगति से **त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ**=त्रि+णव अर्थात् बारह विश्वेदेवों की इसमें उत्पत्ति होती है। सब दिव्य गुणों का इसमें जन्म होता है और **त्रयस्त्रिंश**=(३+३०) ३३ प्राकृतिक देव इसमें विराजमान होते हैं। सूर्य चक्षुरूप से, चन्द्रमा मनरूप से और अग्नि वाणीरूप से इसमें निवास करती है। इसी प्रकार 'सर्वा

ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवसाते' सारे ही देवता इसमें आकर स्थित होते हैं। ८. **त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्याम्**=इन बारह अध्यात्म दिव्य गुणों से तथा ३३ प्राकृतिक देवों से **शाक्वररैवते**=शाक्वर व रैवत की स्थिति होती है। यह अध्यात्म-गुणों से शक्तिशाली बनता है तो प्राकृतिक शक्तियों से स्वास्थ्य की सम्पत्तिवाला होता है। ९. शक्ति व स्वास्थ्य को पाकर यह **विश्वकर्मा**=निर्माण के सब कर्मों को करनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा बनता है। १०. यह तत्त्वद्रष्टा अपनी पत्नी से कहता है कि **प्रजापतिगृहीतया**=मुझ प्रजापति का ग्रहण करनेवाली **त्वया**=तेरे साथ **वाचं गृह्णामि**=मैं वाणी का ग्रहण करता हूँ, ज्ञानोपार्जन व योगाभ्यास करनेवाला बनता हूँ, जिससे हम **प्रजाभ्यः**=उत्तम सन्तानोंवाले हों।

भावार्थ—हम सर्वोपरि स्थित मानस-आह्लाद (चन्द्र=चदि आह्लादे) को अपनाकर मधुर वाणीवाले हों। इस वाणी को वश में करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। यही मार्ग हमें उत्तम लोक व प्रभु को भी प्राप्त कराएगा।

सूचना—१. ऊपर के पाँच मन्त्रों में 'प्रजापतिगृहीतया' शब्द की भावना (प्रजापतिः ग्राहयति यां तया) यह भी है कि पत्नी का हाथ प्रभु ही पकड़ाते हैं। 'ये सब सम्बन्ध स्वर्ग में बनते हैं' का यही भाव है, अतः इस सम्बन्ध की पवित्रता को हमें समझना चाहिए।

२. सन्तानों की उत्तमता के लिए 'प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र व वाक्' इन पाँचों का निग्रह—वशीकरण आवश्यक है। इस निग्रह को करनेवाला ही क्रमशः 'वसिष्ठ, भरद्वाज, जमदग्नि, विश्वामित्र व विश्वकर्मा बनता है। ये ऋषि क्रमशः 'अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाओं व चन्द्र' के अधिपति होते हैं।

॥इति त्रयोदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

चतुर्दशोऽध्यायः

ऋषिः—उशनाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ध्रुव

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥१॥

१. तेरहवें अध्याय की समाप्ति पर पति पत्नी से कह रहा था कि हम 'प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र व वाणी' का निरोध करके उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। उसी प्रकरण को आगे चलाते हुए कहते हैं कि हे पत्नि! २. **ध्रुवक्षितिः**=(क्षिति=मनुष्य) ध्रुव मनुष्यवाली तू हो, अर्थात् तेरा पति ध्रुवता से चलनेवाला हो, मर्यादित ज़ीवनवाला हो। ३. **ध्रुवयोनिः**=(योनिः गृहम्) तू ध्रुव गृहवाली हो। जिस घर से तू आयी है उस घर के लोग भी ध्रुवतावाले हों, अर्थात् तेरे माता-पिता का जीवन भी मर्यादावाला हो। ४. परिणामतः **ध्रुवा असि**=तू स्वयं भी ध्रुव हो। पति का जीवन मर्यादित होने पर ही पत्नी का जीवन मर्यादित हो सकता है, उसे बीज में भी अमर्यादा न मिली हो, इसी से मन्त्र में माता-पिता के भी मर्यादित जीवन का उल्लेख है। बीज में भी मर्यादा हो, परिस्थिति में भी। ५. इस प्रकार **साधुया**=बड़ी उत्तमता से तू **ध्रुवं योनिम् आसीद**=इस मर्यादा-सम्पन्न घर में निवास करनेवाली हो, अर्थात् स्वयं ध्रुव बनकर अपने घर को भी ध्रुव ही बनाना। तेरी सब सन्तानें ध्रुव जीवनवाली हों। ६. इस सबके साथ **प्रथमम्**=मुख्य बात यह है कि (The first and foremost thing is this) **उख्यस्य**=(उखा=स्थाली=पतीली) उखा के, पाचन-पात्र के **केतुम्**=अन्न को **जुषाणा**=तू प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो। घर के सभी व्यक्तियों का स्वास्थ्य भोजन के पाचन पर ही निर्भर करता है। पत्नी ने बड़े प्रेम से भोजन तैयार करना है। प्रेम से बनाया गया भोजन ही स्वास्थ्य का साधक होता है। ७. **इह**=इस गृहस्थाश्रम में **अश्विनौ**=स्वयं कर्मों में व्याप्त होनेवाले **अध्वर्यू**=यज्ञ से अपना सम्बन्ध रखनेवाले माता-पिता **त्वा**=तुझे **सादयताम्**=बिठाएँ। माता-पिता का जीवन क्रियामय-यज्ञिय होगा तभी तो कन्या में भी वही वृत्ति उत्पन्न हो पाएगी।

भावार्थ—पति ध्रुव हो, कन्या के माता-पिता ध्रुव हों, पत्नी स्वयं भी ध्रुव हो। वह पाचन-कुशल हो। क्रियाशील-यज्ञशील माता-पिता उसे घर के निर्माण के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराएँ।

ऋषिः—उशनाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

कुलायिनी

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः। अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥२॥

१. **कुलायिनी**=(कुलायो नीडम्=गृहम्) तू उत्तम गृहवाली हो। पत्नी ने ही घर को बनाना है—जैसा वह चाहेगी वैसा ही घर वह बना लेगी। ताण्ड्य ब्राह्मण में 'प्रजा' वै 'कुलायम्' (१९।१५।१) सन्तान को कुलाय कहा है—इससे ही कुल आगे बढ़ता है

(कुलम्=प्रयते अनेन) अतः तू **कुलायिनी**=उत्तम प्रजावाली हो। सन्तान के उत्तम होने पर ही घर उत्तम बना रहता है। २. **घृतवती**=तू मलों के क्षरण के द्वारा (घृ=क्षरण) उत्तम स्वास्थ्यवाली तथा ज्ञान की दीप्तिवाली (घृ=दीप्ति) हो। शरीर में स्वास्थ्य की दीप्ति हो तो मस्तिष्क में ज्ञान की। ३. **पुरन्धिः**=(रूपिणी युवतिः—श० १३।१।९।६) स्वास्थ्य व ज्ञान को प्राप्त करके तू उत्तम रूपवाली हो। (पुरूणि बहूनि सुखानि दधाति—द०) तू बहुत सुखों को धारण करनेवाली बन। अथवा 'पृ पालनपूरणयोः' पालक व पूरक बुद्धि का धारण करनेवाली तू हो, तुझे घर के पालन व पूरण का ध्यान हो। ४. **पृथिव्याः**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत हृदयवाली श्वश्रू के **स्योने**=सुखमय **सदने**=घर में **सीद**=तू बैठ। तेरी सास उदार हृदयवाली हो, छोटी-छोटी बातों में व्यर्थ क्रोध करनेवाली न हो। वास्तव में तो अब तक उसने इस घर का निर्माण किया था अब तू घर की साम्राज्ञी बन (साम्राज्ञी श्वश्र्वां०)। ५. **त्वा**=तुझे **वसवः**=प्रारम्भिक शिक्षणालय के अध्यापक 'उत्तम निवास' की विद्या को **गृणन्तु**=उपदिष्ट करें तथा **रुद्राः**=उच्च विद्यालय के अध्यापक **त्वा अभिगृणन्तु**=तुझे बाह्य व अन्तः शत्रुओं को रुलाने का उपदेश करें। तुझे वसु प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कराएँ तो रुद्र विद्यालय की उच्च शिक्षा देनेवाले हों। इसके बाद महाविद्यालय में प्राप्त होनेवाली विशेष-शिक्षा सद्गृहिणी बनने के लिए उतनी उपयुक्त नहीं, अतः मन्त्र में यहाँ 'आदित्यों' का उल्लेख छोड़ दिया है। ६. **इमा ब्रह्म**=इन ज्ञानों को तू **सौभगाय**=सौन्दर्य के लिए, घर के प्रत्येक कार्य को समझदारी से करने के लिए **पीपिहि**=(प्राप्नुहि) प्राप्त हो। **अश्विना**=कार्यों में व्याप्त होनेवाले प्राणापानशक्ति-सम्पन्न **अध्वर्यू**=यज्ञशील माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=इस गृहस्थयज्ञ में **सादयताम्**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वह घर को उत्तम बनाये, स्वयं स्वस्थ व ज्ञान की दीप्तिवाली हो। घर के पालन व पूरण का ध्यान करे। प्राथमिक व विद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त करके वह अन्तः व बाह्य शत्रुओं को दूर कर सके। ज्ञानपूर्वक कार्य करनेवाली हो, जिससे उसके प्रत्येक कार्य में सौन्दर्य हो।

ऋषिः—उशनाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

यक्ष-पिता

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानाᳬसुम्ने बृहते रणाय। पितेवैधि सूनवऽआ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥३॥

१. **दक्षपिता**=(दक्षं वीर्यं पाति, वीर्यस्य पालयित्री—म०) अपने वीर्य=प्राणशक्ति की रक्षा करनेवाली तू **स्वैः दक्षैः**=(दक्षं वीर्यं बलम्) अपने बलों के साथ **इह**=इस गृहस्थ में **सीद**=स्थित हो, अर्थात् इस गृहस्थ में तू अपनी प्राणशक्ति की रक्षा का पूरा ध्यान करनेवाली बन। **देवानां सुम्ने**=तू सब देवों अर्थात् इन्द्रियों के सुख में स्थित हो। प्राणशक्ति की रक्षा से सब इन्द्रियों का सुख सम्भव क्यों न होगा? इन सब इन्द्रियों में प्राणशक्ति ही तो कार्य करती है। ३. इस प्राणशक्ति की रक्षा से तू **बृहते रणाय**=महती रमणीयता के लिए हो। वीर्य की रक्षा होने पर तेरा सारा शरीर सुन्दर बना रहेगा। ४. **इव**=जैसे पिता **सूनवे**=पुत्र के लिए सुख देनेवाला होता है, उसी प्रकार तू सारे घर के लिए **आ**=समन्तात् **सुशेवा**=उत्तम कल्याण के लिए हो। तू सबको सुख देनेवाली हो। ५. **स्वावेशा**=(सु=आविश) सर्वथा उत्तमता से घर में प्रवेश करनेवाली तू **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के साथ (तन् विस्तारे) **संविशस्व**=सम्यक्तया स्थित हो, (अवस्थानं कुरु—म०)। ६. **अश्विनौ**=स्वयं कार्यों में व्याप्त होनेवाले

अध्वर्यू=यज्ञ का सञ्चालन करनेवाले माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=इस गृहस्थ में **सादयताम्**=बिठाएँ। उनसे उत्तम संस्कारों को लेकर तू भी इस घर को उत्तम बनानेवाली हो।

भावार्थ—पत्नी शक्ति की रक्षा करनेवाली हो, जिससे उसकी सब इन्द्रियाँ उत्तम हों और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रमणीयता हो। घर में सभी के सुख का वह ध्यान करें, उसकी प्रत्येक क्रिया उत्तम हो। वह अपनी शक्तियों का ह्रास न होने दे।

ऋषिः—उशनाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

स्तोमपृष्ठा (वीर-जननी)

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥४॥

१. तू **पृथिव्याः**=विस्तृत हृदयान्तरिक्षवाली अपनी सास का **पुरीषम्**=पालन करनेवाली **असि**=है। 'उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे' इस बात का ध्यान करनेवाली है। २. **अप्सः नाम**=(रसो नाम, अपः सनोति इति अप्सः, अपां हि रसो गुणः—म०) तू रसमय होने के नाते प्रसिद्ध है। तेरे व्यवहार में कटुता न होकर रस-ही-रस है। (अप्स इति रूपनाम—नि० ३।७) वस्तुतः इस रसमयता के कारण तेरा रूप उत्तम है। ३. तेरे व्यवहार से प्रसन्न होकर घर में रहनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव—जिनमें कई अभी खेल ही रहे हैं (क्रीडन्ति), कई विद्यालय में प्रविष्ट होकर एक-दूसरे के जीतने में लगे हैं (विजिगीषा), दीक्षान्त को प्राप्त कर कई व्यवहार-क्षेत्र में प्रवेश कर गये हैं (व्यवहार), कई ज्ञान-ज्योति से द्योतित हो रहे हैं (द्युति), कई अत्यन्त वृद्ध होने से स्तुतिमात्र में लगे हैं (स्तुति), कुछ नौ-दस वर्ष की कन्याएँ खूब प्रसन्न हैं (मोद), दूसरी अठारह साल की युवतियाँ माद्यन्ती अवस्था में हैं (मद), कई विवाहित होकर नवजात सोते शिशु को गोद में लिये हैं (स्वप्न), कई पन्द्रह-सोलह साल की कन्याएँ घर के लिए नाना वस्तुओं की इच्छा कर रही हैं (कान्ति) और कई केवल चहल-पहल में ही हैं (गति), ये सब-के-सब **तां त्वा**=उस तेरी **अभिगृणन्तु**=सामने व पीछे प्रशंसा ही करें। ४. **स्तोमपृष्ठा**=(वीरजननं वै स्तोमः—तां० २१।९।३) वीरजननरूप बोझ को तू अपनी पीठ पर लिये हुए है। वीर सन्तानों को जन्म देना ही तेरा मौलिक उत्तरदायित्व है। ५. **घृतवती**=मलक्षरण से स्वास्थ्य तथा ज्ञान की दीप्तिवाली तू **इह**=इस घर में **सीद**=आसीन हो, और ६. **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावत् द्रविणम्**=उत्तम सन्तानवाले धन को **यजस्व**=हमारे साथ सङ्गत कर। हमें उत्तम सन्तान प्राप्त करा तथा मितव्ययिता से हमारे ऐश्वर्य को बढ़ानेवाली बन। ७. **अश्विनौ**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **अध्वर्यू**=यज्ञात्मक जीवनवाले माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=यहाँ इस प्रकार के सुन्दर गृहस्थाश्रम में **सादयताम्**=बिठाएँ।

भावार्थ—पत्नी सास के सुख का ध्यान करे। उसकी वाणी में रस हो। घर के सब व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें। यह वीर सन्तानों को जन्म दे। स्वस्थ व ज्ञान-दीप्त हो। घर में उत्तम सन्तानों व ऐश्वर्यों को लानेवाली हो।

ऋषिः—उशनाः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—भुरिक्शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

अपाम् ऊर्मिः

अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम्। ऊर्मिर्द्रप्सोऽअपामसि विश्वकर्मा तऽऋषिरश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥५॥

१. **त्वा**=तुझे **अदित्याः पृष्ठे**=अखण्डता के पृष्ठ पर **सादयामि**=बिठाता हूँ, अर्थात् पूर्ण स्वास्थ्यवाली बनाता हूँ। तेरे स्वास्थ्य का खण्डन नहीं होता। २. **अन्तरिक्षस्य धर्त्रीम्**=तुझे अन्तरिक्ष का धारण करनेवाली बनाता हूँ। 'अन्तरा क्षि' तू सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाली है। तू सदा अति को छोड़कर ही चलती है। ३. **दिशां विष्टम्भनीम्**=तू दिशाओं को थामनेवाली है। वेद में दिये गये जीवन निर्देशों को धारण करनेवाली है। ४. **भुवनानाम्**=लोकों की **अधिपत्नीम्**=तू अधिष्ठातृरूपेण रक्षिका है। इस शरीररूप पृथिवीलोक को, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक को तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को तू अधिष्ठात्री बनकर सुरक्षित रखती है। ५. **अपाम्**=तू प्राणशक्ति व कर्मों की **ऊर्मिः**=तरङ्ग है। तेरे जीवन में कर्मों का उत्साह है और प्राणशक्ति तुझमें तरङ्गित होती है, अतएव **द्रप्सः**=(दृप् हर्षे) तू हर्ष व आनन्द का पुञ्ज **असि**=है। तेरा जीवन नितान्त आनन्दमय व रसमय है। ६. वस्तुतः वह **विश्वकर्मा**=सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला प्रभु ही **ते**=तेरा **ऋषिः**=द्रष्टा है। उल्लिखित सुन्दर जीवन के कारण तू प्रभु की रक्षा का पात्र हुई है। ७. **अश्विनौ**=कर्म व्याप्तिवाले **अध्वर्यू**=यज्ञमय जीवनवाले माता-पिता तुझे **इह**=यहाँ **सादयताम्**=बिठाएँ, तुझे गृहस्थ में प्रविष्ट करानेवाले हों।

भावार्थ—पत्नी का जीवन स्वास्थ्य-सम्पन्न हो। यह मध्यमार्ग में चलनेवाली हो, वेद के आदेशों को ग्रहण करनेवाली, शरीर, हृदय व मस्तिष्करूप लोकों को धारण करनेवाली, कर्मों में उत्साह के कारण आनन्दमय जीवनवाली हो। प्रभु का इसपर अनुग्रह हो।

ऋषिः—उशनाः। देवता—ग्रीष्मर्तुः। छन्दः—निचृदुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

शुक्र+शुचि=ग्रीष्म

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। ग्रैष्मावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥६॥

१. पुरोहित वर-वधू को संकेत करता है कि—वर **शुक्रः**=(शुक गतौ) सदा क्रियाशील हो। पुरुषार्थ से धन कमानेवाला हो। उद्योग न करनेवाले गृहस्थ को तो समुद्र में डुबा देना चाहिए। २. पत्नी की ओर देखकर कहता है कि—**शुचिः**=वह बड़े पवित्र जीवनवाली हो। पति क्रियाशील है, पत्नी पवित्र जीवनवाली है तो वह घर स्वर्ग क्यों न बनेगा? यहाँ 'च' का प्रयोग अपि='भी' के अर्थ में आकर यह भाव प्रकट करता है कि पति गतिशील भी हो, अर्थात् पवित्र तो हो ही, गतिशील भी। इसी प्रकार पत्नी क्रियाशील तो हो ही, पवित्र भी। इस प्रकार दोनों में दोनों ही गुण अभीष्ट हैं। ३. क्रियाशीलता व पवित्रतावाले ये दोनों **ग्रैष्मौ**=ग्रीष्म के सन्तान हैं, इनमें प्राणशक्ति की गरमी है। ये उष्णिक-उद्योगी हैं। **ऋतू**=ये ऋतुओं के समान व्यवस्थित गतिवाले हैं, सब कार्यों को समय पर करनेवाले हैं। ५. इनमें से एक-एक **अग्नेः**=उस अग्नि नामक प्रभु को **अन्तःश्लेषः**=हृदय के अन्दर आलिङ्गन करनेवाला **असि**=है। ये हृदय में प्रभु का ध्यान करनेवाले हैं। ६. इस प्रकार इनके **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों **कल्पेताम्**=शक्तिशाली हों (कृपू सामर्थ्ये)। ७. इनके लिए **आपः ओषधयः**=जल व ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=शक्ति देनेवाली हों। ये पानी पीएँ, वनस्पति खाएँ और अपने को सबल बनाएँ। ८. पति-पत्नी चाहते हैं कि **मम**=मेरे **ज्येष्ठ्याय**=ज्येष्ठतारूप=श्रेष्ठ कर्म के सम्पादन के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर, अर्थात् मेरी ज्येष्ठता को ही अपना

लक्ष्य बनाकर **अग्नयः**=दक्षिणाग्निरूप माता, गार्हपत्याग्निरूप पिता तथा आहवनीयाग्निरूप आचार्य **पृथक्**=अलग-अलग—पाँच वर्ष तक माता, आठ वर्ष तक पिता तथा चौबीस वर्ष तक आचार्य **कल्पन्ताम्**=समर्थ हों। ये सब मिलकर हमें ज्येष्ठ बनानेवाले हों। ९. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **ये अग्नयः** =जो माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ हैं, वे **समनसः**=समान मनवाले हों, उन सबकी यह समान कामना हो कि हमें इन भावी नागरिकों को उत्तम बनाना है। १०. तुम दोनों पति-पत्नी **ग्रैष्मौ**=गरमी व उत्साहवाले बनो, **ऋतू**=नियमित गतिवाले होके **अभिकल्पमाना**= शरीर व अध्यात्म बल का सम्पादन करनेवाले बनो। ११. **इन्द्रमिव**=सब इन्द्रियों को जीतकर इन्द्र के समान बने हुए तुझे **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। १२. **तया देवतया**=उस प्रसिद्ध देवता परमात्मा के साथ सम्पर्क के द्वारा **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रस के सञ्चारवाले होकर **ध्रुवे सीदतम्**=तुम ध्रुव होकर इस मर्यादावाले घर में आसीन होओ। प्रभु-सम्पर्क से तुम्हें शक्ति प्राप्त हो। तुम्हारा जीवन मर्यादित हो और सारा घर मर्यादा में चलनेवाला हो।

भावार्थ—पति-पत्नी क्रियाशील व पवित्रतावाले हों। प्रतिदिन प्रभु-सम्पर्क से अपने को प्रकृष्ट बलवाला बनाते हुए ये मर्यादा का पालन करनेवाले होकर घर में निवास करें।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। देवता—वस्वादयो मन्त्रोक्ताः। छन्दः—भुरिक्प्रकृतिः[उ], स्वराट्पङ्क्तिः[क], निचृदाकृतिः[र]। स्वरः—धैवतः[उ], पञ्चमः[क, र]॥

'अग्नि—वैश्वानर'

[उ]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा [क]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा [र]सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥७॥

१. हे पत्नि! तू **ऋतुभिः सजूः**=ऋतुओं के साथ समान प्रीतिवाली है। ऋतुओं की भाँति ही तू बड़ी व्यवस्थित गतिवाली है। २. **विधाभिः सजूः**=(आपो वै विधाः, अद्भिर्हीदं सर्वं विहितम्—श० ८।२।२।८) जलों के साथ तू समान प्रीतिवाली है। ऋतुओं से तूने मर्यादा सीखी, तो जलों से तू शान्ति का पाठ लेती है, तेरा स्वभाव शीतलता व माधुर्य है। ३. **देवैः सजूः**=तू दिव्य गुणों के साथ समान प्रीतिवाली है। सब दिव्य गुणों को अपनाने का पूर्ण प्रयत्न करती है। ४. **वयोनाधैः देवैः सजूः**=(प्राणा वै वयोनाधाः प्राणैर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्—श० ८।२।२।८) तू देदीप्यमान प्राणों के साथ प्रीतिवाली है। तेरी प्राणशक्ति तुझे तेजस्विनी बनाती है। तू अपनी प्राणशक्ति से चमकती है। ५. **त्वा**=तुझे **अश्विनौ अध्वर्यू**=कर्मों में व्यापृत रहनेवाले यज्ञशील माता-पिता **इह**=इस गृहस्थ में **सादयताम्**=बिठाएँ। वे **त्वा**=तुझे **अग्नये**=प्रगतिशील व्यक्ति के लिए तथा **वैश्वानराय**=सबका भला करनेवाले के लिए देते हैं। आदर्श पति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—एक तो वह प्रगतिशील हो proggressive mentality को लिये हुए हो। दूसरा यह कि वह यथासम्भव सभी का भला करे। अग्नि

हो, वैश्वानर हो। किसी से वैर-विरोध करनेवाला न हो। ६. **ऋतुभिः सजूः**=ऋतुओं के साथ तेरी प्रीति हो। उनके समान तू सब कार्य समय पर करनेवाली हो। **विधाभिः सजूः**=जलों के साथ प्रीतिवाली हो, जलों की भाँति शान्त व मधुर बन। **वसुभिः सजूः**=वसुओं के साथ तेरा प्रेम हो, वसुओं के साथ अविरोध में चलती हुई तू अपने निवास को उत्तम बनानेवाली हो। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=(छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः छन्दाभिर्हीदं सर्वं प्रज्ञानं नद्धम्—श० ८।२।२।८) ज्ञान-ज्योति देनेवाले शब्दों से तेरी प्रीति हो, छन्दों के ज्ञान से अपने को आच्छादित करके वासनाओं के आक्रमण से तू अपने को सुरक्षित करनेवाली हो। **अश्विनौ अध्वर्यू**=कार्यों को कल पर न टालनेवाले यज्ञ के प्रवर्त्तक तेरे माता-पिता **त्वा**=तुझे **अग्नये वैश्वानराय**=अग्नि के समान प्रकाशमान (भद्रं वर्णं पुष्यन्) तथा सबको आगे ले-चलनेवाले (विश्वान् नरान् नयति) नेतृत्व देनेवाले व्यक्ति के लिए **इह**=यहाँ **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ। ऐसे ही व्यक्ति को तेरा जीवन-सखा बनाएँ। ७. **ऋतुभिः सजूः**=तू ऋतुओं की साथी बन। उनकी भाँति नियमित गतिवाली हो। **विधाभिः सजूः**=जलों की साथी हो। उनकी भाँति सब वस्तुओं का निर्माण करनेवाली हो (विदधति इति विधाः) **रुद्रैः सजूः**=एकादश रुद्रों की तू संगिनी हो। दस प्राण व आत्मा तुझे प्रिय हों, इनकी उन्नति में तू अपनी उन्नति समझे। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=इन शक्ति देनेवाले प्राणों के साथ तेरा साथ बना रहे। **अश्विनौ अध्वर्यू**=प्राणापान-शक्तिसम्पन्न परन्तु अहिंसात्मक (अ+ध्वर) जीवनवाले तेरे माता-पिता **त्वा**=तुझे **इह**=यहाँ गृहस्थ में **अग्नये वैश्वानराय** =(अगि गतौ) क्रियाशील व सर्वहितकर्त्ता व्यक्ति के लिए **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ। ८. **ऋतुभिः सजूः**=तू ऋतुओं की सखी हो, उनमें ग्रीष्म से शुचिता का, वर्षा से आनन्द वर्षण का, शरत् से वासनाओं के शीर्ण करने का, हेमन्त से वृद्धि का, शिशिर से द्रुतगति-स्फूर्ति का तथा वसन्त से चारों ओर सुगन्ध फैलाने का पाठ तू पढ़। **विधाभिः सजूः**=जलों की तू सखी हो। जलों के समान तू नैर्मल्यवाली हो। **आदित्यैः सजूः**=बारह आदित्यों की तू सखी बन। उनसे शिक्षा ग्रहण करके संसार वृक्ष की विशिष्ट शाखा बनने का निश्चय कर (विशाखा), ज्येष्ठ बनने का संकल्प रख (ज्येष्ठ), कामादि से पराभूत न हो (अ+षाढ़ा), सदुपदेशों का श्रवण कर (श्रवणा), तेरा मार्ग सदा कल्याण का हो (भाद्रपदा), कल-कल की उपासना करनेवाली न हो (अश्विनी), शत्रुओं का अभी से छेदन प्रारम्भ कर (कृतिका), अपने अन्दर छिपे हुए कामादि शत्रुओं को ढूँढनेवालों में तू अग्रणी बन (मृगशिरस्), इन्हें मारकर तू अपना वास्तविक पोषण साध (पुष्य), यह निश्चय कर कि तुझसे पाप न हो (मघा=मा अघ)। इसी निष्पापता को सच्चा ऐश्वर्य समझ (मघ=ऐश्वर्य) उस समय यह प्रलोभनमय संसार तेरे लिए तुच्छ हो जाएगा (फल्गुनी, फल्गु=फोक) इस आश्चर्य को अपने जीवन में करनेवाली तू चित्रा होगी। यही आदित्यों का सखित्व है। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=शक्तिप्रद प्राणों की तू सखी बन। आदित्य तो हैं ही प्राण। **त्वा**=ऐसी तुझे **अश्विनौ अध्वर्यू**=सदा क्रियाशील यज्ञमय जीवनवाले माता-पिता **अग्नये वैश्वानराय**=अग्निवत् सब दोषों का भस्म करनेवाले, सर्वहित साधक व्यक्ति के लिए **इह**=इस गृहस्थ में **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ। ९. **ऋतुभिः सजूः**= तू ऋतुओं के साथ मित्रतावाली हो, ऋतुगामिनी हो। **विधाभिः सजूः**=जलों की तरह निरन्तर कर्मों में व्याप्त होती हुई उनकी सखी बन। **विश्वैः देवैः सजूः**=इस कर्मव्याप्ति द्वारा सब दिव्य गुणों की सङ्गिनी बन। **देवैः वयोनाधैः सजूः**=उत्तम जीवन के साथ सम्बद्ध करनेवाले (वयः+न ह्) देवों के साथ तेरी मित्रता हो। **त्वा**=तुझे **इह**=इस गृहस्थाश्रम में **अश्विनौ अध्वर्यू**=प्राणापान शक्ति-सम्पन्न, यज्ञिय वृत्तिवाले माता-पिता **अग्नये वैश्वानराय**=आगे बढ़नेवाले, सर्वहित

साधक व्यक्ति के लिए ही **सादयताम्**=प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—पत्नी नियमित जीवनवाली, शान्त, मधुर स्वभाववाली, दिव्य गुणोंवाली, प्राणशक्ति-सम्पन्न हो (नाजुक नहीं) और पति 'अग्नि'=उन्नतिशील व 'वैश्वानर' सबका भला ही करनेवाला हो। ऐसा होने पर ही ये प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'विश्वेदेवाः' बन सकेंगे।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—दम्पती। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः॥

अपः+ओषधीः—आठ आदेश

प्राणम्मे पाह्यपानम्मे पाहि व्यानम्मे पाहि चक्षुर्मऽउर्व्या विभाहि श्रोत्रम्मे श्लोकय। अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरय॥८॥

१. गत मन्त्र के पति-पत्नी से प्रभु कहते हैं कि हैं कि—हे जीव! **मे प्राणं पाहि**=मेरे दिये हुए प्राण की तू रक्षा करना। प्राणशक्ति का अपव्यय न करना। २. **मे अपानं पाहि**= मुझसे दी गई अपानशक्ति को सुरक्षित रखना। यही तेरे दोषों को दूर करके तेरे शरीर को निर्दोष बनाएगी। ३. **मे व्यानं पाहि**=मेरी दी हुई व्यानशक्ति की भी रक्षा करना। यह सारे शरीर में गति करती हुई तेरे सारे स्नायुसंस्थान को ठीक रक्खेगी। तुझे किसी प्रकार का नर्वससिस्टम का रोग पीड़ित न करेगा। ४. **मे चक्षुः**=मुझसे दी गई आँख को **उर्व्या**=विस्तीर्णता से **विभाहि**=विशिष्ट दीप्तिवाला करना। तेरा दृष्टिकोण सदा विशाल हो, संकुचित न हो। ५. **मे श्रोत्रं श्लोकय**=मेरे द्वारा प्रदत्त श्रोत्र को तू उत्तम शब्दों का सुननेवाला बनाना (श्लोकः=यशः, पद्यम्)। यह यश की ही बातें सुनें तथा ज्ञान की वाणियाँ ही इसे प्रिय हों। ६. इस सबके लिए **अपः पिन्व**=(पुष्णीहि—म०) जलों का ही शरीर में पोषण कर—प्यास लगने पर जलों से ही गले को सींच। **ओषधीः जिन्व** (प्राप्नुहि)=भोजन के लिए ओषधियों को प्राप्त कर। वनस्पति ही तेरा भोजन हो। ७. इस सात्त्विक भोजन से सात्त्विक वृत्तिवाला बनकर तू **द्विपात् अव**=सब मनुष्यों की रक्षा कर, सभी का प्रीणन करनेवाला हो। **चतुष्पात् पाहि**=गौ आदि चौपायों का भी तू रक्षण करनेवाला बन। ८. **दिवः**=ज्ञान की **वृष्टिम् ऐरय**=वृष्टि को तू प्रेरित कर। स्वयं ज्ञान प्राप्त करके औरों को भी ज्ञान देनेवाला बन अथवा **दिवः वृष्टिम् ऐरय**=तू आकाश से वृष्टि को प्रेरित कर। नियमपूर्वक यज्ञादि कर्मों को करता हुआ तू **'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु'** इस प्रार्थना को क्रियान्वित करनेवाला बन।

भावार्थ—मन्त्र में उल्लिखित आठ आदेशों का हम पालन करें। प्राण, अपान, व्यान की रक्षा करें, विशाल दृष्टि व उत्तम श्रवणवाले बनें, जलों व ओषधियों का ही ग्रहण करें, मनुष्य व अन्य प्राणियों का ध्यान करें और अन्त में यज्ञादि से सामयिक वर्षा को सिद्ध करें।

ऋषिः—विश्वेदेवाः, प्रजापत्यादयः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः[क], शक्वरी[ख]। स्वरः—पञ्चम[क], धैवतः[ख]॥

वयः+छन्दः

[क]मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो वस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः [ख]पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्दः सिꣳहो वयश्छदिश्छन्दः पष्ठवाड् वयो बृहती छन्दऽउक्षा वयः ककुप् छन्दऽऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः॥९॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में 'वयः' शब्द जीवन का वाचक है और 'छन्दः' इच्छा या संकल्प का अथवा 'वीर्यं छन्दासि' शतपथ ४।४।३।१ के अनुसार 'छन्दः' का अर्थ वीर्य व शक्ति

है। वस्तुतः संकल्प में भी 'कृपू सामर्थ्ये' के अनुसार शक्ति की ही भावना है। प्रभु कहते हैं कि यदि तुम्हारा **वयः**=जीवन **मूर्धा**=शिर-स्थानापन्न है, अर्थात् यदि तुम समाज में सबसे ऊँचे स्थान पर हो तो **प्रजापतिः छन्दः**=तुम्हारा प्रबल संकल्प यह होना चाहिए कि तुम प्रजापति बनोगे, प्रजा का रक्षण करनेवाले बनोगे। समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च है, ब्राह्मण को प्रजा-रक्षण अपना मौलिक कर्त्तव्य समझना चाहिए। २. **क्षत्रं वयः**=यदि तुम्हारा जीवन क्षत्रिय का है तो **मयन्दं छन्दः**=तुम्हारी कामना यह होनी चाहिए कि (मयं ददाति इति-द०) तुम सबको सुख देनेवाले बनो। क्षत्रिय का कार्य 'क्षतात् त्राण' ही तो है। जो क्षत्रिय औरों को घावों से बचाकर उन्हें सुख नहीं पहुँचाता वह क्षत्रिय नहीं है। ३. **विष्टम्भः वयः**=(विष्टभ्नोति अन्नादिकं जगत् स्तम्भयति-म०) यदि तुम्हारा जीवन 'विष्टम्भ' का है, उस वैश्य का है जो अन्नादि को स्तम्भों [elevators] पर सुरक्षित रखता है तो **अधिपतिः छन्दः**=उसकी यही कामना होनी चाहिए कि वह अन्नादि का अधिष्ठाता होता हुआ प्रजा का रक्षक हो, दुर्भिक्षादि के समय अपने उन अन्न-भण्डारों से सभी को अन्न देनेवाला हो। ४. **विश्वकर्मा वयः**=यदि तुम्हारा जीवन सब कर्मों को करनेवाला है तो तुम्हारी **छन्दः**=यह कामना हो कि **परमेष्ठी**=मैं परम स्थान में स्थित होऊँ। बिना कर्मों में प्रवृत्त हुए, आलस्य में पड़े हुए तुम उच्च स्थान में स्थित नहीं हो सकते। ५. **वस्तः वयः**=(वस्त् to hurt, to kill) यदि तुम यह चाहते हो कि तुम्हारा जीवन सब बुराइयों का ध्वंस करनेवाला हो तो **विवलं छन्दः**=तुम्हारी सदा यह इच्छा रहनी चाहिए कि मैं (वल् to go) विशिष्ट कर्मों में लगा रहूँ। उत्तम कर्मों में लगे रहना ही बुराइयों को समाप्त करने का तरीका है। 'वस्त' यह संज्ञा बकरी की भी है, उसका दूध 'सर्वरोगापहा' सब रोगों का हनन करनेवाला है। वह इसीलिए कि 'व्यायामात्' बकरी दिनभर में खूब व्यायाम कर लेती है। मेरा जीवन भी 'वस्त'=बुराइयों को नष्ट करनेवाला तभी बनेगा जब मैं विशिष्ट गतिवाला, कर्मशील बनने का संकल्प रक्खूँगा। ६. **वृष्णिः वयः**=निरन्तर गतिशीलता से तुम्हारा जीवन **वृष्णिः**=खूब वीर्यवान् बना है तो **विशालं छन्दः**=अब तुम्हारी इच्छा यही हो कि मैं **वि**=विविध उत्तम कर्मों से (शालते) शोभायान होऊँ। शक्ति का विनियोग उत्तम कर्मों में ही होना ठीक है। ७. **पुरुषो वयः**=यदि तुम्हारा जीवन पौरुष सम्पन्न पुरुष का बना है तो **तन्द्रं छन्दः**=(क) तुम्हारी इच्छा यही हो कि मैं (पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः) पाँचों का धारण करनेवाला बनूँ 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' सभी का हित करना मेरा धर्म हो। अथवा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राण-पञ्चकों को वशीभूत करने का मेरा प्रयत्न हो। (ख) अथवा तन्द्रं=तन्त्रम्=कुटुम्ब का मैं धारण करनेवाला बनूँ। ८. **व्याघ्रः वयः**=यदि तुम्हारा जीवन 'पुरुषव्याघ्र' का हुआ है-तुम व्याघ्र के समान बने हो तो **अनाधृष्टं छन्दः**=प्रबल कामना करो कि मैं शत्रुओं से धर्षित न होऊँ। ९. **सिंहो वयः**=यदि 'पुरुषसिंह' के जीवनवाले हो तो **छदिः छन्दः**='नरसिंह' की भाँति प्राणिमात्र को सुरक्षित करनेवाले बनो। तुम्हारी शक्ति निर्बलों को सबलों के अत्याचार से बचानेवाली हो। १०. **पष्ठवाट् वयः**=(पष्ठे=पृष्ठभागे वहतीति-म०) यदि तुम्हारा जीवन पीठ पर खूब कार्यभार उठाने में समर्थ पुरुष का हुआ है तो **बृहती छन्दः**=(वाग् वै बृहती-श० १४।४।१।२२) वेदवाणी के अनुसार ही निरन्तर कार्यों को निभाने की तुम्हारी कामना हो। शक्ति है तो तुम मनमाने मार्ग से न चलने लग जाना। शास्त्रीय मार्ग से चलने से ही शक्ति बढ़ती है, शक्ति के मद में शास्त्रीय मार्ग छोड़ा और शक्ति का ह्रास हुआ। ११. **उक्षा वयः** =(उक्ष् to grow up, become strong) यदि तुम जीवन को शक्तिशाली पुरुष का जीवन बनाना चाहते हो, यदि निरन्तर उन्नति चाहते हो तो **ककुप् छन्दः**=दिशाएँ

ही तुम्हारे संकल्प हों, अर्थात् इन दिशाओं से तुम प्रेरणा लेकर चलो। 'प्राची' से आगे बढ़ना, 'दक्षिणा' से नैपुण्य प्राप्त करना, 'प्रतीची' से प्रत्याहार का पाठ पढ़कर, 'उदीची' से ऊपर उठना और 'ध्रुवा' से दृढ़ता व 'ऊर्ध्वा' से उन्नति के शिखर पर पहुँचने की भावना को लेना। 'ककुप्' शब्द का एक अर्थ 'शिखर' है। शिखर (summit) पर पहुँचना तुम्हारा ध्येय ही बन जाए। 'ककुप्' का अर्थ (a sacred treatise) धर्मशास्त्र भी है—शास्त्र के अनुसार चलने का संकल्प होने पर उन्नति होगी। १२. **ऋषभो वयः**=यदि श्रेष्ठ जीवनवाले 'पुरुषर्षभ' होना चाहते हो तो **सतोबृहती छन्दः**=सत् को=प्राप्त वस्तु को ही (बृहि वृद्धौ) बढ़ाने की कामना करो। सदा वर्त्तमान में चलो 'वर्त्तमानेन वर्त्तयन्ति मनीषिणः'। भूतकाल में रहकर 'था' को ही न बोलते रहो, भूतकाल ही के गीत न गाते रहो। न ही सदा भविष्यत् की बातें करते हुए 'गा' का ही प्रयोग करते रहो, और हवाई किले ही न बनाते रह जाओ। वर्त्तमान को ही उन्नत करने का प्रयत्न करो।

भावार्थ—मन्त्र के बारह आदेशों का ध्यान करके हम अपने जीवन को अधिकाधिक सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

लोकं ता इन्द्रम्

अनड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड् वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दस्त्रिवत्सो वयऽ उष्णिक् छन्दस्तुर्यवाड् वयोऽनुष्टुप् छन्दः ॥१०॥

१३. गत मन्त्र में १२ संख्या हो चुकी है, अतः १३ से यहाँ प्रारम्भ करते हैं कि **अनड्वान् वयः**=यदि जीवन को गृहस्थ की गाड़ी के वहन के योग्य बनाना है तो **पङ्क्तिः छन्दः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को वशीभूत करने की कामना करना। इस गृहस्थ में पाँच यज्ञों को विधिपूर्वक करने का संकल्प रखना। इन यज्ञों के अभाव में गृहस्थ-शकट उत्तमता से नहीं चलता। १४. **धेनुः वयः**=यदि तुम्हारा जीवन 'धेनु' का बना है—दुधारू गौ के समान तुम्हारे पास ऐश्वर्यरूप दुग्ध की कमी नहीं तो **जगती छन्दः**=लोकहित करने की कामना करना। १५. **त्र्यविः वयः**='धर्म, अर्थ व काम' तीनों का रक्षण (त्रि+अव) करनेवाला जीवन बनाना है तो **त्रिष्टुप् छन्दः**='काम, क्रोध व लोभ' तीनों को रोकने की तुम्हारी कामना हो। इन तीन शत्रुओं को रोककर ही तुम तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध कर सकते हो। कामात्मतारूप काम शत्रु है अन्यथा यह पुरुषार्थ है। 'अर्थलोभ ' शत्रु है, लोभ न होने पर 'अर्थ' पुरुषार्थ है। 'विचारशून्य क्रोध' शत्रु है—परन्तु विचारसहित मन्यु 'धर्म' है। मनुष्य 'त्रिष्टुप्' से ही त्र्यवि बनता है। 'काम, क्रोध व लोभ' को रोककर ही 'धर्मार्थकाम' की साधना होती है। १६. **दित्यवाट् वयः**=(दितेः कर्म दित्यम्=खण्डनम्) यदि तूने जीवन को दित्य=शत्रु-खण्डन का वहन करनेवाला बनाना है तो तू **विराट् छन्दः**=विशेषरूप से चमकनेवाला बनने की इच्छा कर। शत्रु-खण्डन करके ही तू चमक पाएगा, अन्यथा कामादि तेरी दीप्ति को समाप्त कर देंगे। १७. **पञ्चाविःवयः**=यदि पाँचों यमों व पाँचों नियमों की रक्षा करनेवाला तेरा जीवन है तभी तू **गायत्री छन्दः**=प्राण-रक्षण की इच्छा करना। (**गयाः प्राणाः**, त्र=रक्षा)। यम-नियम के पालन के बिना प्राण-रक्षण सम्भवं नहीं। उनके पालन के अभाव में प्राण-रक्षण की आवश्यकता भी नहीं। १८. **त्रिवत्सो वयः**='ज्ञान, कर्म व

उपासना' तीनों की साधना के लिए **उष्णिक् छन्दः**=(उत् स्निह्यति) तूने उत्कृष्ट स्नेह करने की कामना करनी। तेरा स्नेह सदा उत्कर्षवाला हो, तुझमें हीनाकर्षण न हो। १९. **तुर्यवाट् वयः**=(तुर्यं वहति) चतुर्थ अवस्था, अर्थात् संन्यास का वहन करनेवाला तेरा जीवन बने तो **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण तेरी कामना प्रभु के स्तवन की ही हो। प्रतिक्षण प्रभु- स्तवन ही तुझे इस तुरीयावस्था में दृढ़ रक्खेगा और तू सच्चा संन्यासी बन पाएगा।

भावार्थ—प्रस्तुतः मन्त्र के सात नियम अवश्य ध्यान में रखने चाहिएँ, जिससे हम उनके पालन में प्रवृत्त हो पाएँ।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। देवता—इन्द्राग्नी। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पृष्ठेन

इन्द्राग्नीऽअव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम्।
पृष्ठेन द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षं च विबाधसे॥११॥

१. प्रभु पति-पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—**'इन्द्रः अग्निःच'**=पति ने 'इन्द्र' बनना है—जितेन्द्रिय होना है तथा ऐश्वर्य को कमानेवाला बनना है, पत्नी ने 'अग्नि' बनकर घर को सदा आगे ले-चलना है। घर की उन्नति का बहुत कुछ निर्भर पत्नी पर ही होता है। हे **इन्द्राग्नी**=जितेन्द्रिय पति व अग्नितुल्य पत्नि! **युवम्**=तुम दोनों **अव्यथमानाम्**=(व्यथ् to change, to be disturbed) कभी विहत न होते हुए **इष्टकाम्**=यज्ञ को **दृंहतम्**=घर में दृढ़ करो। घर के अन्दर यज्ञ अविच्छिन्नरूप से अपने समय पर होता रहे। प्रातः का यज्ञ सायं तक, और सायं का यज्ञ प्रातः तक हम सबके मनों को सौमनस्य का देनेवाला हो। घर में यज्ञ के विच्छिन्न न होने से सन्तानों के चरित्र भी विच्छिन्न नहीं होते। २. घर के प्रत्येक व्यक्ति के लिए कहते हैं कि हे गृहजनो! तुम **पृष्ठेन**=('तेजो ब्रह्मवर्चसं श्रीवैं पृष्ठानि' ऐ० ६। ५) ब्रह्मवर्चस् के द्वारा **द्यावापृथिवी**=द्यावा=मस्तिष्क को तेज के द्वारा, पृथिवी—शरीर को, **च**=और **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को, श्रीः (श्रीञ् सेवायाम्=भज्) भक्ति व सेवा के द्वारा **विबाधसे**=विगत बाधावाला करते हो, निर्बाध करते हो। तुम्हारा मस्तिष्क ब्रह्मवर्चस् से दीप्त होता है, शरीर तेज से और हृदयान्तरिक्ष **श्री**=भक्ति से देदीप्यमान हो उठता है।

भावार्थ—पति जितेन्द्रिय हो, पत्नी घर की उन्नति-साधिका हो। घरों में यज्ञ अविच्छिन्न रूप से चलें। मस्तिष्क ज्ञानमय, शरीर तेजस्वी व हृदय भक्ति-सम्पन्न हो।

ऋषिः—विश्वकर्मा। देवता—वायुः। छन्दः—भुरिग्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः॥

मही-स्वस्ति-शन्तमछर्दि

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। वायुष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥१२॥

१. पत्नी के लिए कहते हैं कि **विश्वकर्मा**=सब कर्मों को करनेवाला प्रभु **त्वा**=तुझे **अन्तरिक्षस्य पृष्ठे**=हृदयान्तरिक्ष की श्री में (पृष्ठ=श्री—ऐ० ६।५) **सादयतु**=स्थापित करे, अर्थात् तुझमें सेवा की भावना को जन्म दे (श्रिञ् सेवायाम्)। अथवा **विश्वकर्मा**=आजीविका के लिए सब धर्म्य कर्मों को करने के लिए सदा उद्यत पति तुझे सेवा की वृत्तिवाला बनाये। पति को गृह-भार को वहन करते हुए देखकर पत्नी में इस वृत्तिका उत्पन्न होना स्वाभाविक

है। 'ध्रुवैधि पोष्ये मयि' पोषण करनेवाले पति में पत्नी ध्रुव होकर रहेगी ही। २. तू **व्यचस्वतीम्**=(वि अञ्च्) वस्तुओं को व्यक्त करनेवाले ज्ञानवाली है तथा **प्रथस्वतीम्**=(प्रथ विस्तारे) हृदय के विस्तारवाली है। जहाँ तेरा ज्ञान ऊँचा है वहाँ तेरा हृदय भी विशाल है। ३. **अन्तरिक्षं यच्छ**=तू अपने मन को नियमित कर, मन को काबू करनेवाली हो। **अन्तरिक्षं दृंह**=इस मन को दृढ़ बना तथा **अन्तरिक्षं मा हिंसीः**=अपने मन को नष्ट न होने दे। 'मन के हारे हार है'—मन का उत्साह गया तो जीवन समाप्त हुआ, मन के उत्साह में ही सब उन्नति है। ४. इस प्रकार मन को नियमित, दृढ़ व जीवित बनाकर तू **प्राणाय**=प्राणशक्ति के लिए, **अपानाय**=दोषों को दूर करनेवाली अपानशक्ति के लिए, **व्यानाय**=सर्वशरीर व्यापी व्यानशक्ति के लिए और उसके द्वारा सारे नाड़ी-संस्थान के स्वास्थ्य के लिए, **उदानाय**=कण्ठदेश में ठीक स्थिति को रखनेवाली उदानवायु के लिए, **प्रतिष्ठायै**=स्थिरता के लिए तथा **चरित्राय**=उत्तम आचरण के लिए, **विश्वस्मै**=इन सब बातों के लिए सन्नद्ध हो। ५. **वायुः** (वा गतौ)=क्रियाशील पति **त्वा मह्या**=तुझे गौ के द्वारा (मही गोनाम—नि० २।११) **शन्तमेन छर्दिषा**=सब ऋतुओं में अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाले घर से **स्वस्त्या**=सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने से अविनाश के द्वारा या उत्तम स्थिति के द्वारा **अभिपातु**=अन्दर व बाहर से सुरक्षित करे—इहलोक व परलोक के दृष्टिकोण से सुरक्षित करे। ६. **तया देवतया**=उस गौ, उत्तम घर व सम्पत्ति आदि को प्राप्त करानेवाले देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाली तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर **सीद**=इस गृह में बैठ। ६. जिस घर में गौ होगी वहाँ 'देवत्व—अङ्गिरसत्व व ध्रुवत्व' ये सभी बातें सम्भव होंगी। गोदुग्ध सेवन से मन सात्त्विक व दैवी सम्पत्तिवाला बनाता है—गोरस शीतवीर्य को जन्म देकर अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाला होता है।

भावार्थ—पत्नी हृदय में सेवा की वृत्तिवाली हो, ज्ञान के लिए विस्तारवाली, विशाल हृदयवाली हो। मन को दृढ़ व नियमित रक्खे। पति उत्तम गौ, उत्तम घर व समृद्धता का ध्यान करे।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—दिशः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

राज्ञी-अधिपत्नी

राज्ञ्य॑सि प्राची॒ दिग्वि॒राड॑सि दक्षि॑णा॒ दिक् स॒म्राड॑सि प्र॒तीची॒ दिक् स्व॒राड॒स्युदी॑ची॒ दिगधि॑पत्न्यसि बृह॒ती दिक् ॥१३॥

१. हे पत्नि! **राज्ञी असि**=तू (राज् दीप्तौ) शरीर में स्वास्थ्य की दीप्तिवाली है—मन में भक्ति की दीप्तिवाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तिवाली है। इसी से **प्राची दिक्**=तेरी दिशा (प्र अञ्च्) आगे बढ़ने की बनी है। इन दीप्तियों के बिना आगे बढ़ना सम्भव नहीं होता। २. तू **विराट् असि**=विशेषरूप से दीप्त हुई है, क्योंकि तू (विराधनाद्वा) कार्यों को सदा विशिष्टरूप से सिद्ध करने का ध्यान करती है—प्रत्येक कार्य को अप्रमाद व गम्भीरता से करती है। इसी से **दक्षिणा दिक्**=तेरी दिशा दाक्षिण्य की हुई है। तू अपने कार्यों में बड़ी कुशल हो गई है। ३. **सम्राट् असि**=तू घर पर उत्तम प्रकार से शासन करनेवाली है—सारे घर को बड़े व्यवस्थित ढङ्ग से चलाती है। इसी से तू स्वयं भी **प्रतीची दिक्**=(प्रति अञ्च्) इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत करनेवाली—इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाली बनी है। स्वयं अपना शासन न कर सकनेवाला औरों का शासन नहीं कर सकता। ४. **स्वराट्**

असि=तू अपना शासन करनेवाली बनी है अथवा स्व को—आत्मा को दीप्त करनेवाली हुई है। इसी से उदीची (उद् अञ्च) तेरी दिशा उन्नति की हुई है। बिना स्वशासन के कोई कभी उन्नत नहीं हुआ। ५. **अधिपत्नी असि**=तू घर की अधिष्ठातृरूपेण रक्षिका है, अतः **बृहती दिक्**=(बृहि वृद्धौ) घर को सब प्रकार से बढ़ाने की ही तेरी दिशा है। घर की सर्वतोमुखी उन्नति करने में ही तू प्रवृत्त है। जो उन्नति न करे वह 'अधिपत्नी' कैसी!

भावार्थ—पत्नी ने 'राज्ञी, विराट्, सम्राट्, स्वराड् व अधिपत्नी' बनना है।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। देवता—वायुः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

ज्योतिष्मती

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ। वायुष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥१४॥

१. **विश्वकर्मा**=सारे संसार के कर्मों का सञ्चालक वह प्रभु तुझे **अन्तरिक्षस्य**=हृदयान्तरिक्ष की **पृष्ठे**=पीठ पर **सादयतु**=बिठाये। जैसे घुड़सवार घोड़े की पीठ पर अविचल होकर बैठता है, उसी प्रकार तू मन पर अधिष्ठित हो। मन पूर्णरूप से तेरे वश में हो अथवा हृदयान्तरिक्ष की श्री (ऐ० ६।५) में तुझे स्थापित करे। तू **ज्योतिष्मतीम्**=ज्योतिर्मय है। तेरा जीवन ज्ञान की ज्योति से जगमगा रहा है। ३. ज्ञान की ज्योति से दीप्त होकर तू **प्राणाय**=प्राणशक्ति के लिए, **अपानाय**=दोषों को दूर करनेवाली अपानशक्ति के लिए तथा **व्यानाय**=सारे शरीर में व्याप्त होकर नाड़ीसंस्थान को उत्तम रखनेवाली व्यानशक्ति के लिए **विश्वस्मै**=इन सबके लिए समर्थ हो। ४. इस प्रकार प्राणापान, व्यान से 'भूर्भुवः स्वः' से अलंकृत होकर 'स्वस्थ, ज्ञानशीला व जितेन्द्रिय' बनकर तू अपने सन्तानों को भी **विश्वं ज्योतिः यच्छ**=सम्पूर्ण ज्ञान देनेवाली बन। ५. **वायुः ते अधिपतिः**=तेरा गुण-सम्पन्न पति क्रियाशील हो। क्रियाशीलता से दोषों का गन्धन—हिंसन करनेवाला हो। ६. **तया देवतया**=उस देवतुल्य पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले व्यक्ति की भाँति तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रहनेवाली बन।

भावार्थ—पत्नी का जीवन भी ज्योतिर्मय हो, जिससे वह सन्तानों को भी ज्ञान दे सके।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—ऋतवः। छन्दः—स्वराडुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

नभ+नभस्य

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। वार्षिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽ इन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥१५॥

१. हे पति-पत्नि! **नभः च**=तुम नभ बनो। निरुक्त के अनुसार तुम 'नेता भासाम्'=दीप्तियों के प्रणयन करनेवाले बनो। अपने को ज्ञान की दीप्ति से भरने का प्रयत्न करो। इसी से **नभस्यः**=(नभसि साधुः, नभ हिंसायाम्) सब बुराइयों के—काम, क्रोध, लोभ के हिंसन में तुम समर्थ बनोगे। संक्षेप में अपने को ज्ञान से परिपूर्ण करो और बुरांइयों को समाप्त कर

दो। २. इस प्रकार बुराइयों को समाप्त करके **वार्षिकौ**=एक-दूसरे पर आनन्द की वर्षा करनेवाले बनो। **ऋतू**=तुम दोनों पति-पत्नी का जीवन नियमित गतिवाला हो (ऋ+गतौ)। जिस प्रकार ऋतुएँ अपने समय पर आती हैं, उसी प्रकार तुम अपने कार्य को समयानुसार करनेवाले बनो। ३. ऐसा बनने पर ही तुम **अग्नेः**=प्रभु को **अन्तः**=हृदयान्तरिक्ष में **श्लेषः असि**=आलिङ्गन करनेवाले होते हो। ४. प्रभु के सम्पर्क में रहने से **द्यावापृथिवी**=तुम्हारे मस्तिष्क व शरीर **कल्पेताम्**=सामर्थ्य-सम्पन्न बनें। ५. इसके लिए **आपः ओषधयः कल्पन्ताम्**=जल और ओषधियाँ तुम्हारे लिए शक्तिशाली हों। ६. **अग्नयः**=माता (दक्षिणाग्नि), पिता (गार्हपत्य अग्नि) व आचार्य (आहवनीय अग्नि)—ये सब **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर **मम ज्यैष्ठ्याय**=मेरी ज्येष्ठता के लिए **पृथक्**=अलग-अलग, पाँच वर्ष तक माता, आठ वर्ष तक पिता आचरण व शिष्टाचार को तथा आचार्य मेरे ज्ञान को उन्नत करके मेरी ज्येष्ठता को सिद्ध करनेवाले हों। ७. वस्तुतः **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **ये अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्य हैं, वे **समनसः**=समान मनवाले हों। उनकी एक ही भावना हो कि हमें राष्ट्र के इन भावी नागरिकों को ज्येष्ठ बनाना है, खूब उन्नत करना है। ८. जब इस प्रकार उन्नत होकर व्यक्ति गृहस्थ में प्रवेश करेंगे तभी वे **वार्षिकौ**=आनन्द की वर्षा करनेवाले होंगे **ऋतू**=नियमित जीवनवाले होंगे तथा **अभिकल्पमाना**=शरीर व बौद्धिक उन्नति करनेवाले होंगे। शरीर व बुद्धि दोनों को शक्तिशाली बनाएँगे। इस लोक व परलोक दोनों को सफल करेंगे। शरीर व आत्मा दोनों का ध्यान करेंगे। ९. **इन्द्रम् इव**=जितेन्द्रियता के द्वारा इन्द्र के समान बने हुए इनको **देवाः**=सब देव **अभिसंविशन्तु**=प्राप्त हों। इनके अन्दर सारी अच्छाइयाँ हों। १०. ऐसे बने हुए ये पति-पत्नी **तया देवतया**=उस परमात्मा के साथ, देव बनकर महादेव के साथ रहते हुए, अर्थात् सशक्त शरीरवाले होते हुए **ध्रुवे**=ध्रुव बनकर—मर्यादित व स्थिर जीवनवाले होते हुए **सीदतम्**=इस घर में बैठें। इनका जीवन मर्यादामय व शान्त (still=स्थिर) हो।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञान-ज्योतियों का प्रणयन करनेवाले तथा बुराइयों को समाप्त करनेवालों में उत्तम बनकर, प्रभु-सम्पर्क से अपने को शक्ति-सम्पन्न करते हुए, ध्रुवता से, मर्यादा व शान्ति से घर में निवास करें।

सूचना—नभः=श्रावण मास का नाम है, नभस्य=भाद्रपद का, श्रवण ही ज्ञान-प्रणयन का उपाय है। बुराइयों को समाप्त करना ही भद्र का पद=कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। देवता—ऋतवः। छन्दः—उत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

इष+ऊर्ज=शरत्

इषश्चोर्जश्च शारदावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। शारदावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥१६॥

१. तुम **इषः**=(इष प्रेरणे=प्र+ईर=प्रकृष्ट गति) प्रकृष्ट गतिवाले होओ **च**=तथा **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न बनो। **'इष'** आश्विनमास का नाम है—इसी में क्षत्रिय घोड़ों को (अश्वों को) काठी लगाकर यात्राओं के लिए निकलते हैं, उसी प्रकार तुम्हारा जीवन भी इन्द्रियाश्वों

पर आरुढ़ होकर गतिवाला हो। आत्मवश्य इन्द्रियों से विचरण ही यात्रापूर्ति का साधन है। **'ऊर्ज'** कार्त्तिक मास का नाम है—'कृन्तन'=शत्रुओं का छेदन-भेदन करने के लिए तुम्हें भी बल व पराक्रमवाला बनना है। २. शक्तिशाली बनकर **शारदौ**=तुम शारद बनो—शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले बनों। जैसे शरद में सब पत्ते झड़ जाते हैं, उसी प्रकार तुमसे सब बुराइयाँ झड़ जाएँ। **ऋतू**=तुम नियमित गतिवाले बनो। ३. **अग्नेः अन्तः श्लेषः असि**=हृदय में प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनों। ४. **द्यावापृथिवी कल्पेताम्**=तुम्हारे शरीर व मस्तिष्क शक्तिशाली हों। ५. उसके लिए **आपः ओषधयः कल्पन्ताम्**=जल व ओषधियाँ तुम्हें शक्तिशाली बनाएँ। ६. **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **मम ज्यैष्ठयाय**=मेरी ज्येष्ठता के सम्पादन के लिए **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर **पृथक्**= अलग-अलग, क्रमशः ५, ८ व २५ वर्ष तक **कल्पन्ताम्**=समर्थ हों। ये मेरे जीवन को खूब उन्नत कर दें। ७. **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **अग्नयः**=जो भी माता-पिता व आचार्य हैं, वे **समनसः**=समान मनवाले हों। उनकी समानरूप से एक ही कामना हो कि इस राष्ट्र की भावी सन्तति को उत्तम-ज्येष्ठ बनाना है। ८. **शारदौ**=इस प्रकार उत्तम बने हुए युवक और युवति सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाले हों। **ऋतू**=नियमित गतिवाले हों। **अभिकल्पमाना**=शरीर व बुद्धि दोनों को समर्थ बनाएँ। अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का साधन करें। ९. **इन्द्रमिव**=इन्द्र की भाँति बने हुए इस व्यक्ति को **देवाः अभिसंविशन्तु**=सब देवता प्राप्त हों। १०. सब देवताओं के समावेश से देव बनकर **तया देवतया**=उस महादेव के साथ, अर्थात् उसकी उपासना करते हुए **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले की भाँति, अर्थात् शक्तिशाली अङ्गोंवाले होते हुए **ध्रुवे सीदतम्**=ध्रुव होकर—मर्यादित जीवनवाले होकर घर में विराजो।

भावार्थ—पति-पत्नी गतिशील हों। गतिशीलता से शक्तिशाली बनें। शक्ति से सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हों। नियमित गतिवाले होकर, प्रभु की उपासना से अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करें और ध्रुव होकर घर में निवास करें।

ऋषिः—विश्वेदेवाः। देवता—ऋतवः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

आयु-ज्योतिः

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचम्मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानम्मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ॥१७॥

१. गत मन्त्र के 'वार्षिक (आनन्द की वर्षा करनेवाले) व शारद (बुराइयों को शीर्ण करनेवाले)' पति-पत्नी प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **मे आयुः पाहि**=मेरे जीवन की रक्षा कीजिए। वस्तुतः इस प्रार्थना को करते हुए वे अपनी आयु की रक्षा के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं। पूर्ण प्रयत्न के साथ ही प्रार्थना शोभा देती है। २. इस जीवन में **प्राणं मे पाहि**=मेरी प्राणशक्ति की रक्षा कीजिए, **अपानं मे पाहि**=मेरी अपान-रोगनिराकरण-शक्ति की रक्षा कीजिए। **व्यानं मे पाहि**=मेरी इस सर्वशरीर-व्यापिनी व्यानशक्ति की रक्षा कीजिए। वस्तुतः 'प्राणापान, व्यान' से रहित जीवन कोई जीवन नहीं है। स्वस्थ जीवन ही जीवन है। ३. इस स्वस्थ जीवन में **मे चक्षुः**=मेरी आँख की **पाहि**=रक्षा कीजिए। मेरी दृष्टिशक्ति विकृत न हो जाए। मेरे जीवन का दृष्टिकोण ठीक बना रहे। इसके ठीक रहने पर ही सब कार्य ठीक होते हैं। ४. **श्रोत्रं मे पाहि**=मेरे श्रोत्र की रक्षा कीजिए। इससे मैं कभी अभद्र न सुनूँ। संसार में ये स्तुति-निन्दा को न सुनेंगे तो न झगड़ेंगे न पतित होंगे। ५. **वाचं मे पिन्व**=मेरी वाणी

को प्रीणित कीजिए। यह औरों का प्रीणन करनेवाली हो, इसमें कटुता न हो। ६. **मे मनः जिन्व**=मुझे मानस शक्ति दीजिए (जिव्=give)। मेरा मन प्रबल हो। ७. **मे आत्मानं पाहि**=मेरी आत्मा की रक्षा कीजिए, अर्थात् मेरी आत्मा, जो आप हैं, उन्हें मैं भूल न जाऊँ, इसीलिए मैं चाहता हूँ कि ८. **मे ज्योतिः यच्छ**=मुझे प्रकाश दीजिए। मुझे वह ज्ञान की ज्योति दीजिए, जिससे मैं आपका दर्शन कर पाऊँ।

भावार्थ—हमारा जीवन दीर्घ, शक्ति-सम्पन्न, शुद्ध इन्द्रियों व मनवाला तथा ज्योतिर्मय हो, जिससे हम प्रभु-दर्शन में समर्थ हों।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—छन्दांसि। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः।।

उत्तम इच्छाएँ

मा च्छन्दः प्रमा च्छन्दः प्रतिमा च्छन्दोऽअस्त्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्दऽउष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः ॥१८॥

१. प्रभु पति-पत्नी से कहते हैं कि तुम्हारी पहली **छन्दः**=इच्छा **मा**=लक्ष्मी की हो। तुम धन को धर्म्य मार्गों से कमाने का ध्यान करो। धन के बिना गृहस्थ व संसार नहीं चल सकता। तुम्हारे ध्येय 'मा+धव' हों, लक्ष्मीपति विष्णु हों, परन्तु धन को सुपथा कमाने का प्रयत्न करो। २. **प्रमा छन्दः**=ज्ञान-प्राप्ति की तुम्हारी कामना हो। कहीं धनोपासना में फँसकर 'लक्ष्मी के वाहन—उल्लू' ही न बन जाना। केवल लक्ष्मी की उपासना उल्लू बनना ही है, अतः धन के साथ ज्ञान को जोड़ने का प्रयत्न करना। ३. इस प्रकार **प्रतिमा छन्दः**=प्रभु की ही प्रतिमा (image) तदनुरूप ही बनने की इच्छा करना। 'धन व ज्ञान' ये हमें प्रभु के समीप पहुँचा देते हैं। ४. इन बातों के लिए **अस्त्रीवयः छन्दः**=(अस्यति क्षिपति, वेञ् तन्तु सन्ताने) उस अन्न की कामना करना जो सब बुराइयों को, रोगों व मानस विकारों को दूर फेंकता है और जीवनतन्तु का सन्तान करते हुए दीर्घ-जीवन का कारण बनता है। ५. इस उत्तम अन्न के प्रयोग से **पङ्क्तिः छन्दः**=पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को बढ़ाने की तुम्हारी कामना हो। इन सब पञ्चकों को बड़ा ठीक रखना है। ६. ऊपर के पञ्चकों को ठीक करके **उष्णिक् छन्दः**=(उत् स्निह्यति) उत्कृष्ट स्नेह की तुम्हारी इच्छा हो। तुम्हारा प्रेम हीन वस्तुओं के साथ न हो। ७. **बृहती छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि—उन्नति की ही तुम्हारी कामना हो। ८. इसके लिए **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की हम कामना करें। हमें कभी प्रभु-विस्मरण न हो। ९. तभी **विराट् छन्दः**=हम विशेषरूप से दीप्त होने की कामना कर सकेंगे। प्रभु-स्मरण हमारे चेहरों को आनन्द से दीप्त कर देता है। अथवा प्रभु-स्मरण ही हमें **विराट्**=विशिष्टरूप से व्यवस्थित (regulated) जीवनवाला बनाएगा १०. और हम **गायत्री छन्दः**=प्राण-रक्षण की इच्छा कर पाएँगे। व्यवस्थित जीवन में ही प्राण सुरक्षित रहते हैं। ११. इसके लिए तुमने **त्रिष्टुप् छन्दः**=काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की कामना करनी है। १२. **जगती छन्दः**=लोकहित में लगे रहने की इच्छा करनी। लोकहित में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं से बचा रहता है और दीर्घ-जीवन पाता है।

भावार्थ—इस मन्त्र का प्रारम्भ 'मा' से है। समाप्ति 'जगती' पर है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पत्ति का सर्वोत्तम विनियोग लोकहित ही है।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—पृथिव्यादयः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाच्छन्दोऽश्वश्छन्दः॥१९॥

१३. **पृथिवी छन्दः**=तुम्हारी इच्छा शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने की हो। इसकी शक्तियों का तुम विस्तार करो। १४. **अन्तरिक्षं छन्दः**=हृदयान्तरिक्ष को निर्मल बनाने की कामना करो। इसके अधिपति बनो, मन को वश में करके चलो, सदा मध्यमार्ग को अपनाओ। यह मन तुम्हें अति में ले-जानेवाला न हो जाए। १५. **द्यौः छन्दः**=मस्तिष्करूप द्युलोक की तुम कामना करो। इसे (दिव्=द्युति) प्रकाशमय बनाने के लिए प्रयत्नशील होओ। १६. **समाः छन्दः**=(समायन्ति ऋतवो यस्यां सा समाः) संवत्सर की तुम्हारी कामना हो, जैसे इसमें सब ऋतुएँ समय पर आती हैं, इसी प्रकार तुममें भी सब कर्त्तव्य समय-समय पर आते रहें। तुम अपने सब कार्यों को समय पर करते रहो अथवा **समाः**=काल जैसे सबके लिए सम है, उसी प्रकार तुम भी सबके लिए सम होओ। तुम्हारे व्यवहार में वैषम्य न हो। १७. **नक्षत्राणि छन्दः**=नक्षत्रों के समान (नक्ष गतौ) सदा क्रियाशीलता की भावना तुममें बनी रहे। 'न क्षिणोति हिनस्ति इति'=तुम नक्षत्रों से हिंसा न करने का पाठ सीखो। ये क़ल्याण-ही-कल्याण करते हैं, हिंसा नहीं। तुम भी लोगों को थोड़ा-बहुत प्रकाश देनेवाले होओ। १८. **वाक् छन्दः**=तुम्हारी इच्छा निरन्तर ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने की हो। १९. **मनः छन्दः**=मन को निरुद्ध करने की और इस प्रकार मानस-बल को बढ़ाने की तुम्हारी इच्छा हो। २०. इस मनो-निरोध के लिए तुम **कृषिः छन्दः**=कृषि आदि कार्यों की इच्छा करो। कृषि आदि कार्यों में लगा हुआ मन विषयों में जाने से रुका रहेगा। २१. इस कृषि से प्राप्य **हिरण्यं छन्दः**=धन की तुम कामना करो। कृषि से प्राप्य धन वस्तुतः मनुष्य के लिए बड़ा हितरमणीय है, अतः वस्तुतः यही धन 'हिरण्य' है। २२. **गौः छन्दः**=वहाँ खेती में गौओं की तुम इच्छा करो (तत्र गावः)। कृषि करते हुए गौएँ रखने में आर्थिक कष्ट नहीं होता। २३. **अजाः छन्दः**=वहाँ खेती में तू बकरियों को रखने की इच्छा कर तथा २४. **अश्वः छन्दः**=घोड़ों को रखने की तू कामना कर। ये गौ और घोड़े ही तेरे जीवन को उत्कृष्ट बुद्धि व बल से सम्पन्न करेंगे।

भावार्थ—यह मन्त्र 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यौ' से प्रारम्भ होता है, शरीर, मन व मस्तिष्क को उत्तम बनाने की कामना हमें करनी ही चाहिए। समाप्ति पर 'गौ-अजा व अश्व' हैं। गौ-दुग्ध हमारे मस्तिष्कों को सुन्दर बनाएगा, अजा दुग्ध हमारे मनों को तथा अश्व हमारे शरीर को सबल बनानेवाले होंगे।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—अग्न्यादयः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आराध्यदेवता

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥२०॥

१. **अग्निः देवता**=अग्नि तेरा देवता हो—तू अग्नि से प्रेरणा प्राप्त करनेवाला बन। अग्नि मलों का दहन कर देता है, तू भी सब मलिन वासनाओं को ज्ञानाग्नि में दग्ध

करनेवाला बन। २. **वातः देवता**=वायु तेरा देवता हो। वायु से तू कर्मफल की अपेक्षा न करते हुए कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करनेवाला बन। ३. **सूर्यः देवता**=सूर्य तेरा देवता हो। सूर्य की भाँति तेरी ज्ञान की ज्योति चमके। ४. **चन्द्रमाः देवता**=चन्द्र तेरा देवता हो। तू सदा आह्लादमय, सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न कर। ५. **वसवः देवता**=वसु तेरे देव हों। तू अपने निवास को उत्तम बनानेवाला हो। ६. **रुद्राः देवता**=रुद्र तेरे देव हों। 'रोरूयमाणो द्रवति' तू प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला हो। ७. **आदित्याः देवता**=आदित्य तेरे देव हों। इनसे तू सब स्थानों से अच्छाई के ग्रहण का नियम सीख। ये समुद्र में से भी खारेपन को न लेकर शुद्ध जल को लेते हैं, तू सब स्थानों से अच्छाई को ही ले। गुणग्राही बन, अवगुणों को त्याग। ८. **मरुतः देवता**=मरुत तेरे देव हों। 'मरुतः मितराविणः, महद् द्रवन्ति इति—नि० ११। १३' तू मरुतों की भाँति बहुत न बोलनेवाला तथा खूब कार्य करनेवाला बन। अथवा 'मा+रुद्' रोनेवाला न बन। ९. **विश्वेदेवाः देवता**=विश्वेदेव तेरे देवता हों। सब दिव्य गुणों को तू अपनानेवाला बन। १०. **बृहस्पतिः देवता**=ब्रह्मणस्पति तेरा देवता हो। तू ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करनेवाला हो। ११. **इन्द्रः देवता**=इन्द्र तेरा देवता हो। तू सब शत्रुओं का विद्रावण करने के हेतु जितेन्द्रिय बन। १२. **वरुणः देवता**=वरुण तेरा देवता हो। वरुण के पाश अनृतवादी को छिन्न करते हैं तथा सत्यवादी को उनमें बाँधते नहीं, अतः तू भी वरुण को देवता माननेवाला सत्यवादी बन। अथवा द्वेष का निवारण करनेवाला बन (वारयति)। इस प्रकार सत्यवादी तथा निर्वैर बनकर तू प्रभु को प्राप्त होनेवाला हो।

भावार्थ—हम अग्नि आदि देवों से प्रेरणा प्राप्त करके देव बनें और अन्त में प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—विदुषी। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मूर्धा-ध्रुवा-धर्त्री

मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा॥२१॥

१. **मूर्धा असि**=(एष वै मूर्धा य एष सूर्यः तपतिः—श० १३।४।१।१३) तू सूर्य की भाँति ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाली है, और अतएव **राट्**=बड़े व्यवस्थित (regulated) जीवनवाली है। ज्ञान हमारे जीवन को व्यवस्थित कर देता है। प्रभु के ज्ञानमय तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति होती है। हमारे जीवन में भी ज्ञान से इस ऋत और सत्य की उत्पत्ति क्यों न होगी? एवं, ज्ञान हमारे जीवनों में व्यवस्था लाता है। उस व्यवस्था के कारण जीवन चमक उठता है (राज् दीप्तौ) २. **ध्रुवा असि**=(इयं पृथिवी एव ध्रुवा—श० २।३।२।४) तू इस पृथिवी के समान ध्रुवा बनती है, मर्यादा में चलनेवाली होती है। स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ व जीवन-मरण के प्रलोभन तुझे नीति-मार्ग से विचलित नहीं कर पाते, अतएव तू **धरुणा**=सबका धारण करनेवाली बनती है। ध्रुव पृथिवी जैसे सबका धारण करती है, उसी प्रकार ध्रुव बनकर तू भी सबका धारण करनेवाली होती है। ३. **धर्त्री असि**=(वायुर्वाव. धर्त्रम्—श० ८।४।१।२६) तू वायु के समान सबके जीवन का धारण करनेवाली है, गति के द्वारा सब बुराइयों का गन्धन=हिंसन करनेवाली है (वा गतिगन्धनयोः), अतएव **धरणी**=स्वास्थ्य के धरण (रक्षण) से दीर्घायुष्य का धारण करनेवाली बनती है। ५. मैं **त्वा**=तेरा सखित्व **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए स्वीकार करता हूँ। **त्वा**=तेरा सखित्व **वर्चसे**=वर्चस के लिए

होता है। **कृष्यै त्वा**=मैं तेरा सखा बनता हूँ, जिससे हम मिलकर अपने इस कृषिकर्म को उन्नत कर पाएँ और इस प्रकार **क्षेमाय त्वा**=मैं तुझे योगक्षेम के साधन के लिए अपनाता हूँ। वस्तुतः आदर्श जीवन वही है जिसमें लोग श्रमपूर्वक योगक्षेम को सिद्ध करते हैं और इस प्रकार अपने जीवन को दीर्घ व शक्तिशाली बना पाते हैं।

भावार्थ—गृहपत्नी ज्ञान द्वारा सूर्य की भाँति चमके, पृथिवी के समान धारण करनेवाली हो और वायु के समान शरीर के स्वास्थ्य को सुरक्षित करनेवाली हो। वायु बनकर आयु का स्थापन करे।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—विदुषी। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

यन्त्री-यमनी

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥२२॥

१. तू **यन्त्री**=अपने जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण रखनेवाली है और इसी का परिणाम है कि तू **राट्**=चमकती है। जैसे नियमित गति के कारण सूर्य चमकता है, उसी प्रकार नियमित जीवनवाला व्यक्ति भी चमकता है। २. और वस्तुतः **यन्त्री असि**=तू अपने जीवन को नियन्त्रण में रखनेवाली है, अतएव **यमनी**=सबको नियमित जीवनवाला बनाती है। सबको नियम में वही रख सकता है जो स्वयं अपने को नियमित बनाये। ३. **ध्रुवा असि**= पृथिवी के समान तू ध्रुवा है (ध्रुवा=पृथिवी—श० १।३।२।४), अतएव **धरित्री**=सबका धारण व पोषण करनेवाली है। स्वयं अध्रुव जीवनवाला औरों का धारण नहीं कर सकता। ४. पत्नी कहती है कि मैं **त्वा**=तुझे अपना जीवन-सखा बनाती हूँ, **इषे**=अन्न-प्राप्ति के लिए। हमारे घर में 'अन्न की कमी न होने देना' यह आपका पहला कर्त्तव्य है। मैं **ऊर्जे त्वा**= आपको वरती हूँ, जिससे हमारा जीवन बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न बने। 'ऊर्ग् वै रसः'=हमारे घर में उस गोरस व दूध की कमी न हो जो हम सबके जीवनों को बल व प्राणशक्ति- सम्पन्न बनाएगा। **रय्यै त्वा**=मैंने आपका वरण इसलिए किया है कि आप घर के कार्य- सञ्चालन के लिए पर्याप्त धन का अर्जन करनेवाले होंगे। **पोषाय त्वा**=उचित धनार्जन के द्वारा सबका पोषण करने के लिए मैंने आपका वरण किया है।

भावार्थ—पत्नी को चाहिए कि अपने जीवन को नियमित बनाकर घर में सबके जीवन को व्यवस्थित करनेवाली हो। पति ने अन्न, रस, धन व पोषण का ध्यान करना है। इस प्रकार अपने-अपने कर्त्तव्य को करने से इनका यह लोक अच्छा बनेगा।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—यज्ञः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिः[क], भुरिगतिजगती[र]। स्वरः—पञ्चमः[क], निषादः[र]॥

आशुः, चतुष्टोमः

[क]आशुस्त्रिवृद्भान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धरुणऽएकविंशः प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्तः सविंशो वर्चो द्वाविंशः सम्भरणस्त्रयोविंशो योनिश्चतुर्विंशो [र]गर्भाः पञ्चविंशऽओजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशो नाकः षट्त्रिंशो विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिंशो धर्त्रं चतुष्टोमः॥२३॥

१. **आशुः** (अश्नुते कर्मसु)=तू सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला बनता है और आलस्य को छोड़कर शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला होता है। कर्मों में व्याप्त होते हुए तू **त्रिवृत्**=(त्रिषु

वर्त्तते) 'धर्म, अर्थ, काम' तीनों पुरुषार्थों में समरूप से वर्त्तनेवाला होता है। केवल 'धर्म' को अपनाकर, जटाधारी बन, अग्नि में आहुति ही नहीं देता रहता। केवल 'अर्थ' को अपनाकर 'मनी-मेकिंग-मशीन'=धनार्जन-यन्त्र ही नहीं हो जाता और केवल 'काम' को ध्येय बनाकर निकम्मा नहीं हो जाता। २. **भान्तः**='भा कान्तिरेव अन्तःस्वरूपं यस्य' तू कान्त रूपवाले चन्द्रमा के समान बनता है, सदा आह्लादमय तेरा रूप होता है (चदि आह्लादे) और **पञ्चदशः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को उत्तम बनाकर पन्द्रहवाला बनता है। ३. **व्योमा**='विविधम् अवति'=तू **वी**=प्रकृति **ओम्**=परमात्मा व **अन्**=जीव (वी+ओम्+ अन्=व्योमन्) इन सभी का अपने में समन्वय करता है और सचमुच इन विविध तत्त्वों का अपने में रक्षण करता है। प्रकृति के अवन से तेरा भौतिक (material) अंश ठीक बनता है, जीव के अवन से तेरा सामाजिक (social) अंश ठीक होता है और प्रभु के अवन से तेरा अध्यात्म (spiritual) अंश ठीक होता है। इस प्रकार तू **सप्तदशः** ='पाँच ज्ञानेन्द्रिय+पाँच कर्मेन्द्रिय+पाँच प्राण+मन व बुद्धि' इन सत्रह तत्त्वों को ठीक रखनेवाला होता है। ४. **धरुणः**=(धरुण आदित्यः–श० ८।१।१।१२) आदित्य के समान प्रकाश आदि उत्तम तत्त्वों का आदान व धारण करनेवाला बनता है। इसी से तू **एकविंशः**=शरीर के धारण करनेवाले २१ तत्त्वोंवाला होता है (ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः) ५. **प्रतूर्तिः**=(प्रकृष्टा तूर्तिः त्वरा यस्य) जिसके जीवन में शीघ्रता है व आलस्य का अभाव है, ऐसा तू **अष्टादशः**=अठारह तत्त्वोंवाले इस सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठाता **विराट्**=चमकनेवाला आत्मा बनेगा। ६. **तपः**=यदि तू तपस्या की प्रतिमूर्त्ति, खूब तपस्वी जीवनवाला बनेगा तो **नवदशः**=शरीर के नौ द्वारों (अष्टाचक्रा नवद्वारा०) तथा दश प्राणों का अपनानेवाला होगा। तपस्या तेरे इन इन्द्रिय-द्वारों व प्राणों को स्वस्थ व शक्ति-सम्पन्न बनाएगी। ७. **अभीवर्त्तः**= (अभि-वर्तते) उस प्रभु की ओर जानेवाला होगा तो **सविंशः**=तू बीस के साथ होगा। ये शरीर की दस इन्द्रियाँ व दस प्राण तेरे अधीन होंगे, ये तेरा साथ न छोड़नेवाले होंगे। प्रभु की ओर झुकाव से–प्रातः-सायं प्रभु-स्मरण से प्रभु की शक्ति हमारी इन्द्रियों व प्राणों को सशक्त बनाएगी। ८. **वर्चः**=प्रभु-स्मरणवाला तू तब वर्चस्वी=वर्चस् का पुतला ही बन जाएगा तो **द्वाविंशः**=दस इन्द्रियों, दस प्राणों व मन और बुद्धि को पूर्ण स्वस्थ बनानेवाला होगा। ९. **सम्भरणः**=अपने में शक्ति का सम्यक् भरण करनेवाला तथा शक्ति के द्वारा सबका सम्यक् भरण करनेवाला तू **त्रयोविंशः**=दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, मन-बुद्धि तथा चित्तवाला होगा। तेरे ये तेईस-के-तेईस तत्त्व ठीक होंगे। १०. **योनिः**=(यु=मिश्रण अमिश्रण) सब अच्छाइयों को अपने से संपृक्त व बुराइयों को असंपृक्त करनेवाला तू सर्वस्थानभूतः=सबको आश्रय देनेवाला **चतुर्विंशः**=चौबीस गुणोंवाला होगा। दर्शन में चौबीस ही गुण हैं, तथा मोक्ष में इन्हीं चौबीस शक्तियों से जीव सुख भोगता है। ११. **गर्भः**=(व्यत्ययेन बहुत्वम्) (गिरति अनर्थान् इति गर्भः)=सब अनर्थों को तू नष्ट करनेवाला हुआ है, इसी से तू **पञ्चविंशः**=चौबीस गुणों वा शक्तियों का अधिष्ठाता पच्चीसवाँ पुरुष हुआ है। १२. **ओजः**=तू ओजस्वी बना है (वज्रो वा ओजः) अनर्थों को दूर करनेवाले वज्र के समान तू हुआ है और इसी से चौबीस गुण तथा मन-बुद्धि व आत्म-तत्त्ववाला **त्रिणवः**=३ गुणा ९ सताईस तत्त्वोंवाला तू है। १३. **ऋतुः**=ओजस्वी बने रहने के लिए तू ऋतुमय जीवनवाला है, सदा यज्ञशील है और इसी से **एकत्रिंशः**=चौबीस गुणों तथा सात रत्नोंवाला (दमे-दमे सप्तरत्नं दधानम्) हुआ है। १४. **प्रतिष्ठा**=यज्ञों के द्वारा तू प्रभु में प्रतिष्ठित हुआ है और **त्रयस्त्रिंशः**=सब तेतीस देवोंवाला बना है। १५. **ब्रध्नस्य विष्टपम्**=(असौ वा आदित्यो ब्रध्नः–श० ८।४।१।२३) ब्रह्मरूप

आधारवाला होकर तू 'आदित्यलोक' वाला हो गया है (ब्रध्नस्य विष्टपं=स्वराज्यस्थापकम्) तू स्वतन्त्र, स्वराट् हो गया है। तुझमें किसी प्रकार की परतन्त्रता नहीं रह गई। इसी से **चतुस्त्रिंशः**=३३ देव व ३४ वें महादेववाला तू है। १६. **नाकः**=अब स्वतन्त्र होकर-स्वराट् बनकर (सर्वमात्मवशं सुखम्) तू दुःख के लवलेश से भी रहित स्वर्ग में पहुँच गया है (न अकं दुखं यत्र) और **षट्त्रिंशः**=तू तेतीस देवों तथा धर्मार्थ-कामरूप तीनों पुरुषार्थोंवाला हुआ है। १७. **विवर्त्तः**=आज तू विशिष्ट ही वर्त्तनवाला बना है, तेरे सब कर्म दिव्य हो गये हैं और **अष्टाचत्वारिंशः**=२७ भागों में बटी हुई दैवी सम्पत् तथा शरीर की २१ शक्तियों को अपने में धारण करनेवाला बना है। भौतिक व आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से तेरा जीवन ऊँचा बना है। १८. **धर्त्रम्**=(वायुर्वाव धर्त्रम्) विशिष्ट क्रियाओंवाला बनकर तू वायु की भाँति सबका धारण करनेवाला है। तेरी गति स्वाभाविक रूप से है और तू सभी का हित करने में प्रवृत्त है, तू सभी का धारण कर रहा है और **चतुष्टोमः**=(चतुर्भिः दिग्भिः स्तूयते) चारों दिशाओं में तेरा स्तवन-ही-स्तवन है, तेरी सर्वत्र कीर्ति हो रही है। अथवा चारों वेदज्ञानों के द्वारा तेरा स्तवन चल रहा है।

भावार्थ—हमारा जीवन, ऊपर की अठारह बातों को धारण करके, पूर्ण यज्ञिय बन जाए, हम 'आशु' से जीवन को प्रारम्भ करें, शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले बनें और 'चतुष्टोम' पर हमारे जीवन का अन्त हो। चारों वेदों से हमारा प्रभु-स्तवन चल रहा हो।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—मेधाविनः। छन्दः—भुरिग्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः॥

ब्रध्न+क्षत्र+जनित्र+वात

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षायाऽआधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोमऽइन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रꣳस्पृतं पञ्चदश स्तोमो नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यं जनित्रꣳस्पृतꣳसप्तदश स्तोमो मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृतऽएकविꣳश स्तोमः॥२४॥

१. **अग्नेः**=अग्नि का **भागः** (भज सेवायाम्)=भजन करनेवाला, अतएव अग्नि का ही अंश-छोटारूप तू **असि**=है। 'नाधः शिखा याति कदाचिदेव'=अग्नि की ज्वाला कभी नीचे की ओर नहीं जाती। इसी प्रकार अग्नि का उपासक भी कभी नीचे की ओर झुकाववाला नहीं होता। **दीक्षाया आधिपत्यम्**=(वाग्वै दीक्षा-श० ८।४।२।३) वाणी पर इसका आधिपत्य होता है। वस्तुतः 'अग्निर्वाग् भूत्वा०' अग्नि ही वाणी का रूप धारण करके मुख में प्रवेश करती है, अतः यह अग्नि की उपासना करता हुआ वाणी का अधिपति बनता है। वाणी का अधिपति बनकर **ब्रह्म स्पृतम्**=(स्पृ प्रीतिरक्षाप्राणनेषु) इसने ज्ञान के साथ प्रीति की है, ज्ञान की रक्षा की है तथा ज्ञान को ही अपना जीवन बनाने का प्रयत्न किया है। **त्रिवृत्स्तोमः** =ज्ञान प्राप्त करके यह (त्रिषु वर्त्तते) 'धर्मार्थ, काम' तीनों में वर्त्तनेवाला बना है और यह धर्म, अर्थ, काम का सम सेवन ही **स्तोमः**=इसकी स्तुति हुई है। २. **इन्द्रस्य**=इन्द्र का **भागः असि**=तू भजन व उपासन करनेवाला हुआ है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता पूर्ण जितेन्द्रिय बनकर **विष्णोः आधिपत्यम्**=तुझे व्यापकता, उदारता व यज्ञिय वृत्ति का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। तूने इस यज्ञिय भावना के द्वारा विषयासक्ति से बचकर **क्षत्रं स्पृतम्**=बल की रक्षा की है-बल को प्रिय वस्तु बनाया है सबल जीवन जीने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार **पञ्चदशः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँच प्राणों को तूने स्वस्थ किया है। उन्हें

अपनी सम्पत्ति बनाया है और यही तेरा **स्तोमः**=स्तवन हो गया है। इन्द्रियों व प्राणों का ठीक रखना वस्तुतः प्रभु-स्तवन है। ३. **नृचक्षसाम्**=(नृन् चक्षते—look after men=देवाः) मनुष्यों का रक्षण करनेवाले देवों का तू **भागः असि**=भजन करनेवाला है। इस भजन से तू उनका भाग—अंश वा छोटा रूप बना है। **धातुराधिपत्यम्**=तुझे धारण करनेवाले का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। धारक देवों का उपासक धारक क्यों न बनेगा? **जनित्रं स्पृतम्**=धारक बनकर तूने (विड् वै जनित्रम्—श० ८।४।२।५) प्रजा से प्रेम किया है, प्रजा की रक्षा की है और प्रजाओं को ही अपना प्राण बनाया है। **सप्तदश स्तोमः**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह तत्त्व तेरा स्तवन बने हैं। इनको ठीक रखना ही तेरा प्रभु-स्तवन बन गया है। ४. **मित्रस्य**=प्राण का व स्नेह की देवता का तू **भागः असि**=भजन करनेवाला है। वस्तुतः प्राणशक्ति के ठीक होने पर ही स्नेह की प्रवृत्ति होती है। इनमें कार्यकारण भाव है—प्राण की कमी स्नेहवृत्ति की न्यूनता का कारण बनती है। इस स्नेह की वृत्ति से तुझे **वरुणस्याधिपत्यम्**=अपान का व द्वेष-निवारण का आधिपत्य प्राप्त होता है। 'अपान' से दोषों का दूरीकरण होता है और मनुष्य निर्द्वेष बनता है। इस स्नेह व निर्द्वेष के होने पर **दिवः वृष्टिः**=मूर्धा में (मस्तिष्क में) होनेवाली आनन्द की वर्षा होती है अथवा प्रकाश की वृष्टि होती है, जीवन वस्तुतः आनन्दमय बनता है। इस उच्च्व स्थिति को स्थिर रखने के लिए तूने **वातः स्पृतः**=वायु की, निरन्तर क्रियाशीलता की रक्षा की है, क्रियाशीलता से ही प्रेम किया है तथा क्रियाशीलता से ही जीने का प्रयत्न किया है। क्रियाशीलता से **एकविंशः**=शरीर की इक्कीस शक्तियोंवाला तू होता है और यही तेरा **स्तोमः**=प्रभु-स्तवन है।

भावार्थ—अग्नि के उपासक बनकर हम ज्ञान की रक्षा करें। इन्द्र के उपासक बनकर हम बल की रक्षा करें। देवों के उपासक बनकर प्रजाओं की रक्षा करें। मित्र—स्नेह की देवता के उपासक बनकर हम क्रियाशीलता की रक्षा करें। हम ज्ञानी, सबल, प्रजारक्षक व क्रियाशील बनें।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—वस्वादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—निचृदभिकृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

चतुष्पात्+गर्भ+ओजस्+समीचीर्दिश

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विंश स्तोमऽआदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भा स्पृताः पञ्चविंश स्तोमोऽदित्यै भागोऽसि पूष्णऽआधिपत्यमोजं स्पृतं त्रिणव स्तोमो देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यंसमीचीर्दिश स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः ॥२५॥

१. तू **वसूनाम्**=वसुओं की **भागः**=उपासना करनेवाला है, निवास के लिए आवश्यक सब देवों का सेवन करनेवाला है और तुझे **रुद्राणाम्**=रुद्रों का **आधिपत्यम्**=स्वामित्व प्राप्त होता है। दस प्राण और आत्मा का स्वास्थ्य तुझे प्राप्त होता है। इस स्वास्थ्य को प्राप्त करके **चतुष्पात् स्पृतम्**=तूने 'स्वाध्याय+यज्ञ+तप+दान' रूप चतुष्पात् धर्म से प्रेम किया है, इसका रक्षण किया है। इस धर्म को जीने का प्रयत्न किया है और **चतुर्विंशः**=चौबीस-के-चौबीस गुणों की प्राप्ति ही **स्तोमः**=तेरा प्रभु-स्तवन हो गया है। २. **आदित्यानाम्**=तू आदित्यों का **भागः**=उपासक हुआ है। आदित्यों की आदानवृत्ति को धारण करके तूने दिव्य गुणों का आदान किया है और इससे **मरुतामाधिपत्यम्**=तुझे मरुतों का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। (मरुतः=ऋत्विजः० २।१८—नि०) ऋत्विजों का तू अधिपति बना है—ऋतु-ऋतु में, अर्थात् सदा यज्ञशीलों का तू अधिपति हुआ है। उन मरुतों का जोकि (मितराविणः, महद् द्रवन्तीति

वा—नि० ११।१३) बड़ा परिमित बोलते हैं और खूब गतिशील होते हैं अथवा वासनाओं पर खूब आक्रमण करनेवाले होते हैं। इसी से तूने **गर्भाः स्पृताः**=(इन्द्रियं वै गर्भः—तै० १।८।३।३) अपनी इन्द्रियों की रक्षा की है, इन्द्रिय-शक्तियों को नष्ट नहीं होने दिया है। **पञ्चविंशः स्तोमः** =इन्द्रियों को अनर्थों से बचाकर चौबीस गुणों के सम्पादन करनेवाला पच्चीसवाँ तू पुरुष हुआ है, पच्चीसवाँ बनना ही तेरा प्रभु-स्तवन है। ३. **आदित्यै भागः असि**=अदीना देवमाता का अथवा अखण्डन (दो अवखण्डने) की देवता का—पूर्ण स्वास्थ्य का—तू सेवन करनेवाला हुआ है। **पूष्णः आधिपत्यम्**=तूने पूषा का आधिपत्य प्राप्त किया है, अर्थात् सर्वोत्तम पोषण करनेवाला बना है। इस पोषण के द्वारा **ओजः स्पृतम्**=तूने ओजस्विता से प्रेम किया है, ओजस्विता का रक्षण किया है। वस्तुतः ओजस्वी जीवन जीने का ही ध्यान किया है। **त्रिणवः स्तोमः**=ओजस्विता से तीन गुणा नौ, अर्थात् चौबीस गुणों तथा मन, बुद्धि व आत्मतत्त्व का सम्पादन ही तेरा स्तवन बन गया है। इन २७ को प्राप्त करना ही तेरी स्तुति है। ४. **सवितुः देवस्य भागः असि**=उस उत्पादक देव का तू उपासक बना है। इसकी उपासना से तुझे **बृहस्पतेः आधिपत्यम्** =ब्रह्मणस्पति का आधिपत्य प्राप्त हुआ है। तू ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बना है। इस उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके **समीचीः दिशः स्पृताः**= (सम्+अञ्च) उत्तम गतिवाली दिशाओं से तूने प्रेम किया है, उनसे प्राप्त होनेवाले 'आगे बढ़ना', दाक्षिण्य प्राप्त करना, प्रत्याहार व उन्नति और ध्रुव तथा उच्चस्थिति के उपदेशों को तूने अपने जीवन में घटाया है और इस प्रकार इन वेदोक्त उपदेशों का रक्षण किया है। **चतुः स्तोमः**=वेदों का समूह जिनमें सब उपदेश दिये गये हैं वे वेद ही तेरे **स्तोमः**=स्तवन हुए हैं।

भावार्थ—हम उत्तम निवासवाले बनकर चतुष्पात् धर्म (स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान) की रक्षा करें। गुणों का आदान करनेवाले बनकर हम अपनी सब इन्द्रियों की अनर्थों से रक्षा करें। अदिति (पूर्ण स्वास्थ्य) के उपासक बनकर हम ओजस्वी बनें और उत्पादक देव की उपासना करते हुए दिशाओं से दिये गये उपदेशों को जीवन में अनूदित करें।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—ऋभवः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः।।

प्रजाः—भूतं यव व ऋभू की उपासना

यवानां भागोऽस्ययवानामाधिपत्यं प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिंश स्तोमऽ ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतꣳस्पृतं त्रयस्त्रिंश स्तोमः ॥२६॥

१. **यवानाम्**=(पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः—श० ८।४।२।११) तू चन्द्रमा की एक-एक कला को जोड़ते चलनेवाले शुक्लपक्षों का **भागः असि**=उपासक हुआ है। तू भी एक-एक कला को ग्रहण करते-करते १६ कलाओं से पूर्ण हुआ है। तूने **अयवानाम्**=अपरपक्षों का **आधिपत्यम्**=स्वामित्व प्राप्त किया है। इस अपरपक्ष में जैसे एक-एक कला न्यून व पृथक् होती चलती है, तूने भी एक-एक अवगुण व वासना को अपने से पृथक् किया है और सब अवगुणों को समाप्त करके अमावास्या=उस प्रभु के साथ रहने की स्थिति को पाया है (अमा=साथ, वस=रहना)। इस प्रकार तूने **प्रजाः स्पृताः**=सब प्रकृष्ट विकासों से प्रेम किया है, उनकी रक्षा की है, उन्हें अपने जीवन का अङ्ग बनाने का प्रयत्न किया है। **चतुः चत्वारिंशः स्तोमः**=इस प्रकार (आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः) चारों अङ्गों में चालीस वर्ष तक चलनेवाला विकास ही तेरा स्तवन हो गया है। तूने 'मुख, बाहू, उदर व पाद' सभी अङ्गों का चालीस वर्ष तक चलनेवाला विकास किया है और इस विकास द्वारा ही प्रभु की स्तुति की है। २. **ऋभूणां भागः असि** (उरु भान्ति—ऋतेन भान्ति—

ऋतेन भवन्ति—नि० ११।१६ ऋभवोः मेधाविनः—नि० ३।१५) तूने ज्ञान से दीप्त होनेवाले, ऋत से चमकनेवाले अथवा सदा ऋत के साथ रहनेवाले मेधावियों का उपासन किया है। इस उपासन का ही परिणाम है कि **विश्वेषां देवानामाधिपत्यम्**=सब देवों का तू अधिपति बना है। **भूतं स्पृतम्**=(भूतं=जन्म—नि० ३।१३) इस प्रकार तूने अपने जीवन की रक्षा की है और **त्रयस्त्रिंशः स्तोमः**=यह तेतीस देवों का धारण ही तेरा स्तवन हो गया है। सच्चा प्रभु-स्तवन यही होता है कि हम सब देवों को अपनाएँ। देवों को अपनाकर ही हम महादेव के समीप पहुँचेंगे।

भावार्थ—शुक्लपक्ष हमें गुण-कला वृद्धि का उपदेश दे रहा है और कृष्णापक्ष एक-एक करके अवगुणों को समाप्त करके प्रभु के समीप पहुँचने का संकेत करता है, अतः हम ज्ञानदीप्त, ऋतमय जीवनवाले मेधावियों के उपासक बनकर जीवन में सब दिव्य गुणों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—ऋतवः। छन्दः—भुरिगतिजगती [क], भुरिग्ब्राह्मीबृहती [र]। स्वरः—निषादः [क], मध्यमः [र]॥

सह+सहस्य=हेमन्त

[क]सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। [र]येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। हैमन्तिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽ इन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥२७॥

१. **सहः च**=तुम सहन शक्तिवाले बनो। संसार में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सहनशक्ति ही है। स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति मानापमान में तुल्य रहता है, स्तुति-निन्दा उसे विचलित नहीं करती। **सहस्यः च**=तुम बल में उत्तम बनो। 'सह' मार्गशीर्ष मास का नाम है। जो व्यक्ति (मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवालों का मूर्धन्य होगा वह अपने दोषों को जानता हुआ वस्तुतः सहनशील होगा। उसे अपनी निर्दोषता का अभिमान न होगा। 'सहस्य' पौष है—सबल व्यक्ति अपने में गुणों का पोषण करता है। २. इस प्रकार सहनशील व सबल बनकर आप दोनों (पति-पत्नी) **हैमन्तिकौ**=(हि गतौ वृद्धौ च) गतिशील व वृद्धिशील बनों। ३. **ऋतू**=आप दोनों बड़ी व्यवस्थित गतिवाले बनों। ऋतुओं की भाँति आपका जीवन व्यवस्थित हो। ४. **अग्नेः अन्तः श्लेषः असि**=अपने अन्दर हृदयाकाश में उस प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनों और इस प्रकार कामना करो कि ५. **द्यावापृथिवी कल्पेताम्**=मेरा मस्तिष्क व शरीर शक्तिशाली बने। **आपः ओषधयः कल्पन्ताम्**=जल व ओषधियाँ मुझे शक्तिशाली बनाएँ। ६. **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **सव्रताः**=समान व्रतवाले होकर—मेरी उन्नति के साधनरूप एक लक्ष्यवाले होकर—**मम ज्यैष्ठ्याय**=मेरी ज्येष्ठता—उन्नति के लिए **पृथक्**=अलग-अलग **कल्पन्ताम्**=समर्थ हों। पाँच वर्ष तक माता मेरे चरित्र के निर्माण के लिए यत्नशील हो। आठ वर्ष तक पिता मुझे शिष्टाचार सम्पन्न बनाएँ और पच्चीस वर्ष तक आचार्य मुझे ज्ञान से व्याप्त कर दें। ७. मेरे माता-पिता आचार्य ही क्या, सभी **अग्नयः**=पुरोहित, उपदेशक व विद्वान् आदि **ये**=जो **इमे द्यावापृथिवी अन्तरा**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में हैं, वे सब **समनसः**=समान मनवाले हों कि आगे आनेवाली इस पीढ़ी के जीवन को खूब सुन्दर बनाना है। ८. **हैमन्तिकौ ऋतू**=पूर्वोक्त प्रकार से माता-पिता व आचार्य से शिक्षित होकर गृहस्थ में प्रवेश करनेवाले पति-पत्नी क्रियाशील व वृद्धिशील हों। निरन्तर गतिवाले और सदा आगे बढ़नेवाले हों। **ऋतू**=ऋतुओं के अनुसार व्यवस्थित गतिवाले हों।

अभिकल्पमाना=अपनी ऐहिक व पारलौकिक उन्नति को सिद्ध करनेवाले हों। बाह्य व अन्तःशक्ति का साधन करें। इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयसवाले हों। ९. **इन्द्रम् इव**=इन्द्र के समान—पूर्ण जितेन्द्रिय के समान बने हुए तुझमें **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=प्रविष्ट हों। १०. इसी उद्देश्य से **तया देवतया**=उस महती देवता के साथ सम्पर्क से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले होकर **ध्रुवे सीदतम्**=इस घर में ध्रुव होकर स्थित होओ। घर ही तुम्हारा स्थान हो, न कि क्लब।

भावार्थ—सहनशक्ति व बल का सम्पादन करके हम गतिशील व प्रगतिशील बनें। हमारा जीवन व्यवस्थित हो। हम जलों व ओषधियों का ही सेवन करें। यह ध्यान रक्खें कि 'मांस' न खाएँ, क्योंकि वह तो मुझे ही खा जाएगा। प्रभु-उपासना करते हुए हम घर में ध्रुव निवासवाले हों, वहाँ हमारा जीवन बड़ा मर्यादित हो।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—ईश्वरः। छन्दः—निचृद्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः॥

एक-तीन-पाँच-सात

एकयास्तुवत प्रजाऽअधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत्॥२८॥

१. **प्रजाः अधीयन्त**=सब प्रजाएँ उस-उस शरीर में स्थापित की गईं। आत्माएँ पैदा तो कभी नहीं होतीं—ये सनातन हैं, परन्तु जब वे प्रभु कर्मव्यवस्थानुसार किसी शरीर में इनका स्थापन करते हैं तब यह स्थापन ही उनका जन्म व उत्पादन हो जाता है। ये शरीर में स्थापित जीव **एकयास्तुवत**=(वाग् वा एका वाचैव तदस्तुवत—श० ८।४।३।३) इस मुख्य वाणी से (एक=मुख्य) उस प्रभु का स्तवन करें कि **प्रजापतिः अधिपतिः आसीत्**=वह सब प्रजाओं का रक्षक ही सब प्रजाओं का अधिपति है। प्रजाओं का रक्षक होने से वह 'प्रजापति' नामवाला है। उस प्रभु ने ही हमें यह 'अद्भुत वाणी' प्राप्त करायी है। मनुष्य को ही व्यक्त वाणी दी गई है। अन्य सब प्राणियों की वाणी अव्यक्त है। २. प्रजाओं को इस प्रकार शरीरबद्ध करके प्रभु ने उन्हें ज्ञान दिया, जिसके अनुसार उन्हें अपना जीवन चलाना है। **ब्रह्म असृज्यत**=वेदज्ञान उत्पन्न किया गया। यह वेदज्ञान 'ऋग्-यजुः-साम' मन्त्रों में विभक्त था। ऋङ्मन्त्रों का सार 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' हुआ, यजुर्मन्त्रों का सार 'भर्गो देवस्य धीमहि' तथा साममन्त्रों का सार 'धियो यो नः प्रचोदयात्' हुआ। यही त्रिचरणा गायत्री थी। इस गायत्री के तीनों चरणों का सार 'भूः, भुवः, स्वः' था, और इन तीन महाव्यहृतियों का सार 'अ, उ, म्'—ये ओम् की तीन मात्राएँ हुईं। **तिसृभिः**=इन तीनों मात्राओं से ही **अस्तुवत**=प्रजाएँ उस प्रभु का स्तवन करें कि **ब्रह्मणस्पतिः अधिपतिः आसीत्**=यह वेदज्ञान का रक्षक प्रभु ही हम सबका अधिपति है। उसने ही इस त्रिविध मन्त्रों में विभक्त वेदज्ञान को हमारे रक्षण के लिए दिया है। वह 'ब्रह्मणस्पति' नामवाला है। ३. प्रभु के इस वेदज्ञान से ज्ञेय, **भूतानि**=पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश ये पाँच भूत **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। इन पञ्चभूतों के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श व शब्दरूप पाँच गुणों के ज्ञान प्राप्त करानेवाले **पञ्चभिः**=घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् व श्रोत्ररूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्रजाएँ उस प्रभु का **अस्तुवत**=स्तवन करें कि इन सब **भूतानां पतिः**=पाँच भूतों का रक्षक वह प्रभु ही **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिपति है। वह अधिपति ही 'भूतानां पति' नामवाला हो गया है। ४. इन

भूतों के ज्ञान के लिए साधनरूप से, कारणरूप से—**सप्त ऋषयः**=दो कान, दो नासिका, दो आँखें व मुख-(कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्)-रूप सात ऋषि **असृज्यन्त**=बनाये गये। इन सात ऋषियों से सब भूतों का ज्ञान प्राप्त करके—उन भूतों की रचना में रचयिता के महत्त्व का दर्शन करती हुई प्रजाएँ **सप्तभिः**=इन सात ऋषियों से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **धाता**=इन पदार्थों के निर्माण के द्वारा हम सबका धारण करनेवाला वह प्रभु ही **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिपति है। धारण करनेवाला होने से वह '**धाता**' नामवाला है।

भावार्थ—उस प्रभु का स्तवन हम 'प्रजापति, ब्रह्मणस्पति, भूतानांपति व धाता' इन नामों से करें।

ऋषिः—विश्वदेवः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीजगती[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], निषादः[र]।।

नौ-ग्यारह-तेरह-पन्द्रह-सत्रह

[क]नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदेकादशभिरस्तुवतऽ ऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवाऽअधिपतयऽआसंस्त्रयोदशभिरस्तुवत मासाऽअसृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥२९॥

१. **पितरः असृज्यन्त**=(पितरः=नव जगद्रक्षका रश्मयः। नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ—श० ८।४।३।७) ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ रक्षा करने के प्रमुख साधन होने से यहाँ 'पितरः' (पा रक्षणे) कही गई हैं। यद्यपि ये पाँच-पाँच होकर दस हैं तथापि 'जिह्वा' रस ग्रहण करने से ज्ञानेन्द्रियों में तथा शब्द बोलने से कर्मेन्द्रियों में परिगणित होती है, अतः यह दोनों ओर एक ही है। एवं, ये मिलकर वस्तुतः नौ हैं। ये नौ इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र में रश्मियाँ व किरणें हैं, कर्मेन्द्रियों की दृष्टि से ये रश्मियाँ लगामें हैं। ये सब रक्षक इन्द्रियाँ प्रभु से उत्पन्न की गई हैं। इनकी रचना के सौन्दर्य व अद्भुतता को देखकर **नवभिः**=इन नौ इन्द्रियों से प्रजाएँ **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **अदितिः**=इन इन्द्रियों के निर्माण से हमारा खण्डन न होने देनेवाली वह जगज्जननी ही हमारी **अधिपत्नी आसीत्**=पालिका अधिष्ठात्री देवी है। खण्डन न होने देने के कारण ही वह 'अदिति' नामवाली है। २. **ऋतवः**=ऋतुएँ **असृज्यन्त**=उत्पन्न की गईं। एक-एक ऋतु जीव को शक्ति देनेवाली है। ऋतुचर्या के ठीक पालन से जीव के सब प्राण व सब इन्द्रियाँ बड़े शक्तिशाली बने रहते हैं। इनको शक्ति प्राप्त कराने के लिए उस-उस ऋतु में वनस्पतियों से समपोषयुक्त वे-वे ओषधियाँ प्राप्त होती हैं। इसी से ब्राह्मणों में हम पढ़ते हैं कि 'ऋतवः वै पृष्ठानि' (श० १।३।३।२।१) 'वीर्यं वै पृष्ठानि' (ता० ४।८।७) ऋतुएँ हमारी पृष्ठ (backbone) व वीर्यशक्ति हैं, अतः जीव **एकादशभिः**=(दश प्राणा आत्मैकादशः—श० २।४।३।८) दश प्राणों व आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि किस प्रकार 'आर्तवाः'=(ऋतुषु भवा गुणाः—द०) उस-उस ऋतु के गुण-खूबियाँ **अधिपतयः आसन्**=हमारा सम्यक् पालन करनेवाले हैं। ३. **मासा असृज्यन्त**=महीने (वैशाख आदि बारह मास तथा १३वाँ मलमास, वेद के शब्दों में 'अहंसस्पति') उत्पन्न किये गये। 'मासो मानात्—नि० ४।२७' ये हमारे जीवन का निर्माण करते हैं। 'यव्या मासा—श० १।७।२।२६' ये हमारे शरीर के अवगुणों को दूर करनेवाले तथा गुणों का शरीर में उपचय करनेवाले हैं। यु=इस मिश्रण व अमिश्रण की क्रिया में ये उत्तम हैं। इस प्रकार ये हमारे जीवन को उत्तम बनाते हैं। हमें चाहिए कि

त्रयोदशभिः अस्तुवत=(दश प्राणाः प्रतिष्ठे एक आत्मा—श० ८।४।३।८) अपने दश प्राणों दो आधारभूत पाँव व आत्मा से उस प्रभु का स्तवन करें, जो इन तेरह मासों के द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनाने के कारण '**संवत्सरः**'=(उत्तम निवासक) संवत्सर नामवाला होता हुआ **अधिपतिः आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण रक्षक है। ये मास उस 'संवत्सर' के ही कर्मकर—रक्षणात्मक कर्म करनेवाले हैं। (मासाः संवत्सरस्य कर्मकराः—तै० ३।११।१०।३) ये उस प्रभु के कर्मकर हमारे जीवन को निरन्तर उन्नत करनेवाले हैं। उन्नत करने से ही 'उदाना मासाः—ता० ५।२०' इन्हें 'उदान' कहा गया है 'उत्कर्षेण आनयन्ति'। ४. ऋतुचर्या व मासचर्या के ठीक चलने के परिणामरूप ही अब **क्षत्रम्**=क्षत्रिय वर्ण की विशेषता का सम्पादक यह बल **असृज्यत**=उत्पन्न किया गया। सबल बनी हुई **पञ्चदशभिः**=(दश हस्त्या अंगुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत् पंचदशम्—श० ८।४।३।१०) हाथ की दस अंगुलियों, दो हाथों, दो बाहुओं तथा नाभि से उपरले शरीरभाग से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करो कि **इन्द्रः**=सब ऐश्वर्य का स्वामी, सब शक्तियों का स्रोत (इन्द to be powerful) वह प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिष्ठातृरूपेण रक्षक है। हमारे सब अङ्गों को वह सबल बनाकर हमारा पालन कर रहा है। ५. बल व शक्ति को प्राप्त कराने के लिए ही जीवन की आवश्यक सामग्रियों को—दूध तथा वस्त्रादि के लिए ऊन आदि को—प्राप्त करानेवाले **ग्राम्याःपशवः**=ग्राम्य पशु (जो संख्या में सम्भवतः सत्रह जातियों के हैं) **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। इन पशुओं के महत्त्व को समझते हुए हम **सप्तदशभिः अस्तुवत**=(दश पाद्या अंगुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ् नाभेस्तत् सप्तदशम्—श० ८।४।३।११) अपने पाँवों की दस अंगुलियों, दो घुटने, दो जाँघों, दो पाँव व सतरहवें नाभि के अधःदेश से उस प्रभु का स्तवन करें कि वह **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति प्रभु वेदज्ञान के देने से हमारा **अधिपतिः आसीत्**=रक्षक है। वह प्रभु वेद द्वारा इन सब पशुओं से उपयुक्त सामग्री प्राप्त करने का उपदेश देता है और इस प्रकार इन्हें हमारे जीवन के साथ जोड़ देता है।

भावार्थ—हमारा रोम-रोम उस प्रभु का स्तवन 'अदिति, आर्तव, संवत्सर, इन्द्र व बृहस्पति' इन नामों से कर रहा हो।

ऋषिः—विश्वदेवः। देवता—जगदीश्वरः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीजगती[क], ब्राह्मीपङ्क्तिः[र]।
स्वरः—निषादः[क], पञ्चमः[र]॥

उन्नीस-इक्कीस-तेईस-पच्चीस व सताईस

[क]नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रेऽअधिपत्नीऽआस्तामेकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् [र]पञ्चविंशत्यास्तुवताऽऽरण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्राऽआदित्याऽअनुव्यायँस्तऽएवाधिपतयऽआसन् ॥३०॥

१. अब गत मन्त्र के ग्राम्य पशुओं से सीधे कार्य लेनेवाले **शूद्रार्यौ**=शूद्र व वैश्य **असृज्येताम्**=उत्पन्न किये गये। शूद्रों व वैश्यों को 'कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य' आदि कार्यों में इन ग्राम्य पशुओं के प्रयोग के लिए नियुक्त किया गया। इस सारी व्यवस्था को देखते हुए **नवदशभिः**=(दश हस्त्या अंगुलयः नव प्राणाः—श० ८।४।३।१२) मेरे हाथ की दस अंगुलियों व नौ प्राण—इन्द्रियों—से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें। 'शूद्र वर्ण' 'अहन्' है, 'न

जहाति' यह 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' इन द्विजातियों की सेवा को नहीं छोड़ता—अनसूया से—दोषदर्शन के बिना यह इनकी सेवा में लगा रहता है। वैश्य 'रात्रि' है, रमयित्री—इसकी सम्पत्ति सभी को रमण करनेवाली होती है। यह अपनी सम्पत्ति से 'ब्राह्मण, क्षत्रिय व शूद्र' सभी का पोषण करता है, जैसे शरीर में उदर अन्य सब अङ्गों का अपने से उत्पादित रुधिर के द्वारा पोषण करता है। इन शूद्र व अर्यों को इन कार्यों में नियुक्त करनेवाला वह प्रभु **अहोरात्रे**=कभी हमारा साथ न छोड़नेवाला व उन-उन पदार्थों से हमारा रमण सिद्ध करनेवाला **अधिपत्नी आस्ताम्**=अधिष्ठातृरूपेण रक्षक है। उस 'अहोरात्र' नामवाले प्रभु ने दिन कार्य करने के लिए—अहन्—एक भी क्षण न खराब करने के लिए तथा रात्रि सब थकावट को दूर करके रमण के लिए बनायी है। इसी से उसका यह नाम हो गया है। २. **एकशफाः पशवः**=एक खुरवाले पशु (जो सम्भवतः संख्या में २१ जातियों के हैं) **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। मानव जीवन में अश्व व खच्चर की अत्यन्त उपयोगिता है, अतः **एकविंशत्या**=(दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशः—श० ८।५।३।१३) २१ अवयवों से—दस हाथ की अंगुलियों, दस पाँवों की अंगुलियों तथा २१ वें आत्मा से **अस्तुवत**=तुम प्रभु का स्तवन करो कि **वरुणः**=इन पशुओं की सहायता से हमारे कष्टों का निवारण करनेवाला प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण हमारा रक्षक है। ३. **क्षुद्राः पशवः**=(आनकुलात् क्षुद्रजन्तवः) कृमि, कीट, नेवला आदि क्षुद्र पशु जो सम्भवतः २३ जातियों में विभक्त हैं, **असृज्यन्त**=बनाये गये। इनकी भी उस-उस उपयोगिता का ध्यान करते हुए **त्रयोविंशत्या**=(दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविंशः) हाथ-पाँवों की अंगुलियों, पाँवों व आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करो कि **पूषा**=इन कृमियों के द्वारा भी हमारा पोषण करनेवाला वह प्रभु **अधिपतिः आसीत्**= अधिष्ठातृरूपेण हमारा रक्षक है। ४. **आरण्याः पशवः**=वन के पशु (जो सम्भवतः पच्चीस जातियों में विभक्त हैं) **असृज्यन्त**=उत्पन्न किये गये। इन आरण्य पशुओं की आवश्यकता को समझकर मनुष्य **पञ्चविंशत्या**=दस हाथ की अंगुलियों, दस पाँवों की अंगुलियों, शरीर के चारों अङ्गों (मस्तिष्क, उरस्, उदर व टाँग) तथा आत्मा से **अस्तुवत**=स्तुति करें कि **वायुः**=इन पशुओं के निर्माण द्वारा हमारी गति व गति द्वारा दोषों के हिंसन को बढ़ानेवाला (वा गतिगन्धनयोः) वायु नामक वह प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=हमारा अधिष्ठातृरूपेण रक्षक था। ५. अब इन सब पशुओं के निर्माण के बाद **द्यावापृथिवी व्यैताम्**=द्यावापृथिवी विशिष्ट रूप से गतिवाले हुए, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड का काम ठीक से चलने लगा। पृथिवी के **वसवः**=वसु नामक देव अन्तरिक्ष के **रुद्राः**=रुद्र नामक देव तथा द्युलोक के **आदित्याः**= आदित्य नामक देव **अनुव्यायन्**=ठीक-ठीक कार्य करने लग गये, अर्थात् संसार की सब प्राकृतिक शक्तियाँ ठीक-ठीक कार्य करने में प्रवृत्त हो गईं। वसुओं ने हमारे निवास को उत्तम बनाया—रुद्रों ने हमारे प्राणों को पुष्ट किया और आदित्यों ने हमें दिव्य गुणों से पूर्ण कर दिया, अतः हम **सप्तविंशत्या**=दस हस्तांगुलियों, दस पादांगुलियों—चार अङ्गों (मस्तिष्क, उरस्, उदर व टाँग) दो पाँवों तथा आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **ते एव अधिपतयः आसन्**=वसुओं के द्वारा रक्षा करनेवाले आप ही 'वसु' हैं। प्राणशक्ति देनेवाले आप 'रुद्र' हो तथा दिव्य गुणों से हमें परिपूर्ण करनेवाले आप 'आदित्य' हो। **ते एव**=वे 'वसु, रुद्र और आदित्य' नामवाले ही आप हमारे अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हो।

भावार्थ—हम 'एकशफ, क्षुद्र व आरण्य' पशुओं का भी उपयोग समझें और इनमें भी

प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करें। हमारा प्रत्येक अङ्ग प्रभु का स्तवन करनेवाला हो। हम उस प्रभु 'को 'अहोरात्र-वरुण-पूषा-वायु तथा वसु, रुद्र व आदित्य' नाम से स्मरण करें।

ऋषिः-विश्वदेवः। देवता-प्रजापतिः। छन्दः-निचृदतिधृतिः। स्वरः-षड्जः॥

उनत्तीस-इकतीस-तेतीस

नवविꣳशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदेकत्रिꣳशतास्तुवत प्रजाऽअसृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतयऽआसँस्त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्॥३१॥

१. प्रभु से **वनस्पतयः**=वनस्पतियाँ **असृज्यन्त**=बनाई गईं (जो सम्भवतः २९ प्रकार की थी—२९ जातियों में विभक्त थीं)। मानव जीवन में इन वनस्पतियों का स्थान स्पष्ट है। मनुष्य इन्हीं के उपयोग से अपने शरीर, मन व बुद्धि को पूर्ण स्वस्थ बनाता है। इन्हें वनस्पति नाम इसीलिए दिया गया कि ये मानवरूपी गृह (वन=a house) की रक्षा करती हैं। इस मानव-शरीर में वनस्=ज्ञानकिरणों की रक्षा करती हैं—बुद्धि को सात्त्विक बनानेवाली हैं। मनुष्य को चाहिए कि **नवविंशत्या**=हाथ-पैर की अंगुलियों व नौ प्राणों इन २९ से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि **सोमः**=हमारे जीवनों में इन वनस्पतियों के प्रयोग से सौम्यता का वर्धन करनेवाला वह 'सोम' नामक प्रभु **अधिपतिः आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण हमारा रक्षक है। २. अब इन वनस्पतियों के द्वारा **प्रजाः**=सब प्रकार के विकासों (प्र+जन्) का **असृज्यन्त**=सर्जन हुआ। मनुष्य को चाहिए कि **एकत्रिंशता** =बीस अंगुलियाँ, दस प्राण तथा इकतीसवें आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करे कि **यवाः च**=हमारे साथ सब अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले 'यवाः' नामवाले वे प्रभु तथा **अयवाः च**=हमारी सब बुराइयों को दूर करनेवाले 'अयवाः' नामवाले प्रभु **अधिपतयः आसन्**=हमारे अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार शुक्ल पूर्वपक्ष 'यव' हैं, कृष्ण अपरपक्ष 'अयव' हैं। वे प्रभु भी हमारे अन्दर शुक्लपक्ष की भाँति एक-एक गुणकला को भरनेवाले हैं तथा कृष्णपक्ष की भाँति एक-एक दोषकला को क्षीण करनेवाले हैं। ३. इस प्रकार सब विकासों के हो जाने पर—अथवा गुणपूर्ति व दोष-निराकरण हो जाने पर **भूतानि अशाम्यन्**=सब प्राणी पूर्णरूप से शान्ति का अनुभव करनेवाले हुए। हमें चाहिए कि हम **त्रयस्त्रिंशता**=सब अंगुलियों, प्राणों, दो आधारभूत पाँव तथा आत्मा से **अस्तुवत**=उस प्रभु का स्तवन करें कि वे प्रभु **प्रजापतिः**=हम सब प्रजाओं के रक्षक हैं, **परमेष्ठी**=सर्वोच्च स्थान में स्थित हैं—अपने भक्तों को भी सर्वोच्च स्थान में पहुँचानेवाले हैं, **अधिपतिः आसीत्**=वे ही हमारे अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं।

भावार्थ—प्रभु विविध वनस्पतियों के उत्पादन द्वारा हमारी सब शक्तियों के विकास का कारण बनते हैं और हमारे जीवनों में शान्ति उत्पन्न करते हैं। हम उस प्रभु का 'सोम, यव, अयव तथा प्रजापति, परमेष्ठी' नाम से स्तवन करें।

सूचना—गत मन्त्रों में यह भावना बारम्बार दोहराई गई है कि मेरा अङ्ग-अङ्ग उस प्रभु का स्मरण करनेवाला हो। हमारे अङ्गों से कोई ऐसा कार्य न हो जो प्रभु की सत्ता का इन्कार करनेवाला हो। हमारी वाणी मधुर शब्द बोले, कान भद्र शब्दों को ही सुनें, आँखें भद्रता से ही देखें।

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

पञ्चदशोऽध्यायः

जब हम प्रभु को पा लेते हैं तब वे प्रभु हमारे आतिथेय (host) होते हैं, हम उस प्रभु के अतिथि होते हैं और अब यह उस प्रभु का कार्य हो जाता है कि वह हमारी रक्षा करे, हमारे शत्रुओं को दूर करे। बस, इसी भावना से पञ्चदश अध्याय का प्रारम्भ होता है—

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

त्रिवरूथ शर्म

अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान्नुद जातवेदः।
अधि नो ब्रूहि सुमनाऽअहेडँस्तव स्याम शर्मं स्त्रिवरूथऽउद्भौ॥१॥

१. हे **अग्ने**=हमारे सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **जातान्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में उत्पन्न हुए **सपत्नान्**=काम, क्रोध, लोभादि शत्रुओं को **प्रणुद**=प्रकर्षेण धकेल दीजिए। हमारे जीवन से इन्हें दूर कर दीजिए। आपने इस शरीर की रचना करके मुझे यहाँ अधिष्ठातृदेव के रूप में नियत किया है, परन्तु ये कामादि इसमें अपने क़िले बनाकर इसपर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं, इस प्रकार ये मेरे सपत्न हो जाते हैं। आप इन्हें हमसे दूर भगाने की कृपा कीजिए। २. हे **जातवेदः**=भविष्य में आविर्भूत होनेवाले और इस समय बीजरूप में अंकुरित हो रहे कामादि को भी जाननेवाले प्रभो! आप **अजातान्**=अभी पूर्ण रूप से विकसित न हुए इन कामादि को **प्रतिनुद**=एक-एक करके धकेल दीजिए और इस प्रकार इनके विकास को सम्भव ही न होने दीजिए। ३. **सुमनाः**=हमारे प्रति सदा उत्तम विचारवाले हे प्रभो! सदा जीव का शुभ चाहनेवाले प्रभो! **अहेडन्**=क्रोध न करते हुए आप **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=अधिष्ठातृरूपेण हृदय में स्थित हुए उपदेश दीजिए। ४. उस उपदेश के अनुसार चलते हुए हम **तव**=तेरी **त्रिवरूथे**=इन्द्रिय, मन व बुद्धि तीनों की रक्षक-(वरूथ=cover)-भूत अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक त्रिविध सुखों के हेतुभूत **उद्भौ**=(उत्कृष्टानि वस्तूनि भवन्ति यस्मिन्—द०) उत्तम पदार्थों से युक्त आपकी **शर्मन्**=शरण में **स्याम**=सदा सुख से रहें। ५. आपके सम्पर्क में रहते हुए सदा आगे बढ़नेवाले 'अग्नि' बनकर हम भी परम स्थान में स्थित हों और आपके अनुरूप बनकर प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'परमेष्ठी' बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे दोष दूर हों, हम प्रभु के सन्देश को सुनें और प्रभु की उस शरण में सदा निवास करें, जो 'काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों का निवारण करके (त्रिवरूथ=निवारण) 'प्रेम, दया व दान' आदि उत्कृष्ट भावनाओं को हममें जन्म देती है और इसी कारण 'उद्भि' कहलाती है (भवतेर्डिः)।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वयं स्याम

सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयथंस्याम प्रणुदा नः सपत्नान्॥२॥

१. ये कामादि हमारी इच्छा से तो हममें उत्पन्न नहीं होते। ये तो हमारे न चाहते हुए भी हममें आ घुसते हैं। इसी से इन्हें 'विश्वानि' (विशन्ति) कहा गया है, अतः **सहसा**=बलपूर्वक **जातान्**=हममें उत्पन्न हो गये इन **नः**=हमारे **सपत्नान्**='काम, क्रोध व लोभ' आदि शत्रुओं को हमसे **प्रणुद**=प्रकर्षेण दूर धकेल दीजिए। २. हे **जातवेदः**=उत्पन्न हो रहे हमारे इन शत्रुओं को जाननेवाले प्रभो! **अजातान्**=पूर्णरूप से प्रादुर्भूत न हुए-हुए, बीजरूप से अवस्थित इन कामादि को **प्रतिनुदस्व**=एक-एक करके दूर प्रेरित कर दीजिए। ३. **सुमनस्यमानः**=हमारे लिए सदा शुभ चाहनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=अधिष्ठातृरूपेण हृदयस्थ आप उपदेश दीजिए। ४. **वयं स्याम्**=आपके उपदेशानुसार चलते हुए हम सदा बने रहें, कामादि शत्रुओं से आक्रान्त होकर समाप्त न हो जाएँ, अतः ५. आप **नः**=हमारे **सपत्नान्**=शत्रुओं को-चाहे वे 'जात' (fully developed) हैं, चाहे 'अजात' **प्रणुद**=हमसे दूर कीजिए। ६. इन शत्रुओं को दूर करके निरन्तर आगे बढ़नेवाले हम भी परम स्थान में स्थित होकर आपकी भाँति 'परमेष्ठी' नामवाले होंगे?

भावार्थ-कामादि अत्यन्त प्रबल हैं। हमारे न चाहते हुए भी ये हममें आ घुसते हैं। हम सबका भला चाहनेवाले प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे इन शत्रुओं को दूर प्रेरित करें, जिससे हम इस शरीर में सदा बने रहें। इन शत्रुओं से धकेले जाकर जीवन से दूर न कर दिये जाएँ, मार न दिये जाएँ।

ऋषिः-परमेष्ठी। देवता-दम्पती। छन्दः-ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः-धैवतः॥

दम्पती

षोडशी स्तोमऽओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिꣳश स्तोमो वर्चो द्रविणम्।
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभि गृणन्तु देवाः।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व॥३॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार शत्रुओं को दूर करके मनुष्य अपने जीवन में 'प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योतिः, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम (नम्रता)' इन सोलह कलाओं को विकसित करके **षोडशी**=सोलह कलाओंवाला बने। यह सोलह कलाओंवाला बनना ही **स्तोमः**=उसका स्तवन है। इस प्रकार वह प्रभु की स्तुति कर रहा होता है। इस क्रियात्मक प्रभु-स्तुति से **ओजः द्रविणम्**=ओजरूप धन प्राप्त होता है, यह स्तोता ओजस्वी बनता है। २. **चतुः चत्वारिंशः**=चवालीस संख्या को पूर्ण करनेवाला ब्रह्मचर्य का आचरण ही इसका **स्तोमः**=स्तुतिसमूह हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास से 'चारों अङ्गों में चवालीस वर्षों तक होनेवाली सम्पूर्णता का सम्पादन' सच्चा स्तवन है। इससे **वर्चः द्रविणम्**=अध्ययनरूप सम्पत्ति प्राप्त होती है। ३. एवं, पति ने ओजस्वी व वर्चस्वी बनना है। इस प्रकार बनना ही उसका सच्चा प्रभु-स्तवन है। ४. अब पत्नी के लिए कहते हैं कि **अग्नेः पुरीषं असि**=तू इस प्रगतिशील पति की पूर्तिकरी है (पृ=पूरण), पति के कार्य का पूरण करनेवाली है। पति-पत्नी से मिलकर ही घर की व्यवस्था पूर्ण होती है। पति कमाता है तो पत्नी उसका सद्व्यय करती हुई उस धन की रक्षा करती है। एवं, गृहस्थ में पत्नी पति के साथ मिलाकर क़दम रखती है। ५. **अप्सः नाम**=(प्सा भक्षणे) (न विद्यते परपदार्थभक्षणं यस्य-द०) तू कभी पराये पदार्थ का सेवन करने का विचार नहीं करती, इसी बात में तेरी प्रसिद्धि है। 'आत्मना भुजमश्नुताम्' इस वेदसन्देश का

ध्यान करते हुए तू स्वयं पुरुषार्थ से भोजन को जुटाना ही ठीक समझती है। ६. **तां त्वा**=उस तुझे **विश्वेदेवाः**=सब समझदार लोग **अभिगृणन्तु**=सामने व पीछे प्रशंसित ही करते हैं। तेरा व्यवहार तेरी प्रशंसा का कारण बनता है। ७. **स्तोमपृष्ठा**=(वीरजननम्=स्तोमः पृष्ठे यस्याः)=वीर सन्तानों को जन्म देने का तेरा दायित्व है। तूने 'वीरसूः' ही बनना है। ८. **घृतवती**=शरीर से मलों के क्षरणवाली और मल निराकरण से पूर्ण स्वास्थ्य का सम्पादन करनेवाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्तिवाली तू **इह**=इस घर में **सीद**=विराज। ९. इस प्रकार इस घर में निवास करती हुई तू **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावत् द्रविणा**=उत्तम सन्तानरूप धनों को **यजस्व**=सङ्गत करानेवाली हो, अर्थात् तेरे साथ इस गृहस्थ की मंज़िल को पूर्ण करते हुए हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—पति ओजस्वी व वर्चस्वी हो। पत्नी पति की पूरिका, किसी के आगे हाथ न फैलानेवाली तथा वीर सन्तानों को जन्म देने के व्रतवाली, स्वस्थ्य व ज्ञान-दीप्त हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—विद्वांसः। छन्दः—भुरिगाकृतिः। स्वरः—पञ्चमः॥

इस लोक से उस लोक तक

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्दऽआच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप् छन्दः काव्यं छन्दोऽअङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः ॥४॥

१. प्रभु 'परमेष्ठी'=परम स्थान में स्थित होने के निश्चयवाले से कहते हैं कि तेरी **एवः छन्दः**=ज्ञान की कामना हो। 'एव' की मूल भावना गति है—'गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च' इस आधार से गति का अर्थ ज्ञान हो जाता है। २. ज्ञान प्राप्त करके तेरी **वरिवः छन्दः**=(वरिवस्या तु शुश्रूषा) सेवा की कामना हो। ज्ञान प्राप्त करके तू अधिक-से-अधिक लोकहित करनेवाला हो। ३. **शम्भूः छन्दः**=शान्ति के उत्पादन की तेरी इच्छा हो, सबको सुखी करने की तेरी भावना हो। ४. **परिभूः छन्दः**=(सर्वतः पुरुषार्थी—द०) शारीरिक, मानस, बौद्धिक व सामाजिक विकास के लिए तेरी विविध पुरुषार्थों की कामना हो। ५. **आच्छत् छन्दः**=इस व्यापक पुरुषार्थ के द्वारा (दोषापवारणम्—द०) दोषों के दूर करने की तेरी कामना हो। निरन्तर पुरुषार्थ में लगा व्यक्ति दोषों से बचा रहता है। ६. **मनः छन्दः**= दोषापवारण द्वारा निर्मल मन से तू उत्तम मनन का संकल्प कर, तेरा विचार उत्तम हो। ७. **व्यचः छन्दः**=(शुभगुणव्याप्तिः—द०) इस मन को तू शुभ गुणों से व्याप्त करने की इच्छा कर अथवा विस्तृत मनवाला होने की इच्छा कर। ८. **सिन्धुः छन्दः**=(नदीव चलनम्—द०) नदी की भाँति स्वाभाविक कर्म की वृत्तिवाला बनने की इच्छा कर। ९. **समुद्रः छन्दः**=समुद्र के समान गम्भीर बनने की कामना कर अथवा सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न कर (स+मुद्र) १०. **सरिरं छन्दः** =बहनेवाले जल की भाँति तू शान्त होने की कामना कर। ११. उल्लिखित गुणों को धारण करके **ककुप् छन्दः**=शिखर तेरी इच्छा हो। तू शिखर पर पहुँचने का संकल्प कर। १२. **त्रिककुप् छन्दः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों दृष्टिकोणों से शिखर पर पहुँचने की तेरी कामना हो अथवा धन, बल व ज्ञान तीनों में तू अग्रणी बनने की भावना रख। 'प्रेम, दया व दान' ये तीनों तुझे उच्च स्थानों में स्थित करें। १३. **काव्यं छन्दः**=प्रभु का अजरामर वेदरूपी काव्य तेरी कामना का विषय बने। इसके द्वारा तू सब सत्य विद्याओं

का जाननेवाला बन, कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझ। १४. कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझकर **अङ्कुपं छन्दः**=कुटिलता से अपने को आक्रान्त न होने देने की कामना कर (अङ्कोःपाति)। 'अकुटिलता व आर्जव ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है' इस बात को न भूल। १५. अकुटिल व सरल बनकर तू **अक्षरपंक्तिः छन्दः**=उस अविनाशी परमात्मा में अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंवाला हो (अक्षरे पंक्तिः यस्य)। तेरी कामना यही हो कि सब ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक वस्तु में प्रभु महिमा को देखनेवाली हों। १६. **पदपंक्तिः छन्दः**=प्रभु का स्मरण करते हुए (पदे पंक्तिर्यस्य) तू सदा उत्तम मार्ग पर चलनेवाला बन। तेरी कामना यही हो कि मेरी कर्मेन्द्रियाँ धर्ममार्ग से रेखामात्र भी विचलित न हों। १७. इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हुए तथा कर्मेन्द्रियों से धर्ममार्ग पर चलते हुए तू यह कामना कर कि **विष्टारपंक्तिः छन्दः** =(विष्टारे पंक्तिः यस्य) सब शक्तियों के विस्तार में तेरे पाँचों प्राण विनियुक्त हों। तेरी सब शक्ति विस्तार व वृद्धि के लिए हो। १८. इस शक्तियों के निरन्तर विस्तार से **क्षुरोभ्रजः छन्दः**=(असौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्दः—श० ८। ५। २। ४) आदित्य बनने की तेरी कामना हो। आदित्य 'क्षुर' है। यह सब अन्धकार का छेदन—विलेखन करता है, यह भ्रज है 'भ्राजते' दीप्त होता है। तू भी अज्ञानान्धकार का विलेखन करके ज्ञान-दीप्ति से भ्राजमान होने के लिए प्रबल कामना व यत्नवाला हो।

१९. प्रस्तुत मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसका प्रारम्भ 'एवः' से है, जिसका अर्थ ज्ञान है—ज्ञान-प्राप्ति के लिए गतिशीलता है और मन्त्र की समाप्ति पर सूर्य की भाँति अन्धकार का विलेखन करके ज्ञान से दीप्त होने का उपदेश है। संक्षेप में ज्ञान से प्रारम्भ है और ज्ञान पर ही अन्त है। वस्तुतः मनुष्य को मनुष्य बनानेवाला यह ज्ञान ही है। ज्ञान ही उसे ऊँचा उठाता हुआ 'परमेष्ठी' बनाएगा।

भावार्थ—इस जीवन में मेरी कामना मन्त्र-वर्णित १८ शब्दों के अनुसार हो। 'ज्ञान, सेवा, शान्ति, पुरुषार्थ, दोषापावरण, मनन, आत्म-विस्तार एवं सद्गुण ग्रहण, सहज क्रियाएँ, गम्भीरता, शान्ति व माधुर्य, शिखर पर पहुँचना, स्वास्थ्य नैर्मल्य, प्रभु के काव्य को अपनाना, अकुटिलता, सदा प्रभु-स्मरण, न्यायमार्ग-प्रवृत्ति, शक्ति-विस्तार, अन्धकार विलेखन व ज्ञान-दीप्ति' ये मेरी कामना के विषय हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—विद्वांसः। छन्दः—निचृदभिकृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

आच्छत्+अङ्काङ्कम् (गोदों की गोद)

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरञ्छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सथंस्तुप् छन्दोऽनुष्टुप् छन्दऽएवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्द्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽअङ्काङ्कं छन्दः ॥५॥

१. **आच्छत् छन्दः**=(समन्तात् पापनिवारकं कर्म—द०) अच्छे प्रकार पापों की निवृत्ति करनेवाले कर्म की तुम्हारी कामना हो। अपने को पाप से बचाने के लिए हम सदा कर्मों में लगे रहें। २. **प्रच्छत् छन्दः**=(प्रयत्नेन दुष्टस्वभावदूरीकरणार्थं कर्म—द०) प्रयत्न से दुष्ट स्वभाव को दूर करनेवाले कर्म की तुम्हारी कामना हो। जहाँ हम पापकर्मों से अपने को बचाएँ, वहाँ अपने जीवन को इस प्रकार चलाने का ध्यान करें कि हमारा स्वभाव दुष्ट न हो जाए। ३. **संयत् छन्दः**=संयम की हमारी कामना हो। हम मन को पवित्र रखकर संयमी

बनने का प्रयत्न करें। ४. **वियत् छन्दः**=विविध यत्नों की हमारी इच्छा हो। हम अपने जीवन को सदा अच्छा बनाने का यत्न करें। ५. **बृहत् छन्दः**=(बृहि वृद्धौ) बहुत वृद्धि की हमारी कामना बनी रहे। हमारे सब यत्न वृद्धि के लिए हों। ६. **रथन्तरं छन्दः**=हमें यह ध्यान रहे कि इस शरीररूप रथ से हमने संसार को तैरना है। इस प्रकार जीवन-यात्रा को पूर्ण करने की हमारी प्रबल कामना हो। ७. **निकायः छन्दः**=(निकाय=The supreme being) जीवन-यात्रा को पूर्ण करके उस पुरुषोत्तम को, जो वास्तव में हमारा घर है, प्राप्त करने की हमारी कामना हो। निकाय शब्द का अर्थ गुणों का समूह भी है। हम अपने जीवन में अधिक-से-अधिक गुणों का संग्रह करने की कामनावाले हों। ८. **विवधः छन्दः**=(विशिष्टो वधः) अन्तःशत्रुओं का नाश ही 'विशिष्ट' वध है, उसकी हमें इच्छा करनी चाहिए। ९. **गिरः छन्दः**=इनका वध कर सकने के लिए वेदवाणियों की हमारी कामना हो। इन ज्ञानवाणियों को अपना व्यसन बनाकर ही हम काम-क्रोधादि से उत्पन्न व्यसनों का वध कर पाएँगे। १०. **भ्रजः छन्दः**=ज्ञान को अपना व्यसन बनाकर हम ज्ञान की दीप्ति से चमकने की कामना करें। (भ्राजृ दीप्तौ) ११. **संस्तुप् छन्दः**=इस ज्ञान-दीप्ति को प्राप्त करके अपनी देदीप्यमान ज्ञानाग्नि में हम कामादि को भस्म करने की कामनावाले बनें। कामादि को **सम्**=सम्यक्, पूर्णतया **स्तुप्**=रोक देने की इच्छा करें। इसी उद्देश्य से १२. **अनुष्टुप् छन्दः**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की हमारी कामना हो। इस प्रभु-स्मरण से हमें १३. **एवः छन्दः**=ज्ञान प्राप्त होगा। इस अन्तःज्ञानस्रोत को प्रवाहित करने की कामनावाले हम बनें। १४. **वरिवः छन्दः** =ज्ञान को प्राप्त करने के लिए 'गुरु-शुश्रूषा' की हमारी कामना हो। **'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सवेया'** यह ज्ञान प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा से प्राप्त होता है। १५. वस्तुतः मातृ-सेवा, पितृ-सेवा, आचार्य-सेवा व लोक-सेवा के लिए ही **वयः छन्दः**=जीवन-तन्तु का विस्तार हमारी इच्छा का विषय बने (वेञ् तन्तुसन्ताने)। १६. इस जीवन विस्तार के लिए **वयस्कृत् छन्दः**=हम उन्हीं अन्नों व भोज्यद्रव्यों की कामना करें जो जीवन-तन्तु को दीर्घ करनेवाले हों। १७. इस दीर्घ जीवन में **विष्पर्द्धाः छन्दः**=हम विशिष्ट स्पर्धा की कामना करें। गुणों के दृष्टिकोण से औरों से आगे बढ़ने का ध्यान करें। स्पर्धापूर्वक निरन्तर आगे बढ़ते हुए १८. **विशालं छन्दः**=हम अपने को विशाल बनाने की कामनावाले हों। १९. इस विशालता की ओर चलते हुए **छदिः छन्दः** (छद अपवारणे)=विघ्नों को दूर करने की हमारी कामना हो। विघ्न हमें हतोत्साह करनेवाले न हो जाएँ। २०. इन विघ्नों को दूर करते हुए हम ऊपर और ऊपर उठते चलें। वेद के 'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षम्, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहं दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्' इन शब्दों के अनुसार हम पृथिवी से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुँचनेवाले हों। **दूरोहणं छन्दः**=(दुःखेन रोद्धुं योग्यम्) जहाँ तक पहुँचना सुगम नहीं, उस आदित्य तक पहुँचने का संकल्प करें। (असौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दः—श० ८। ५। २।६)। २१. **तन्द्रं छन्दः**=हमारा एक ही ध्येय हो **तन्**=शक्तियों का विस्तार तथा **द्र**=विघ्नों का विद्रावण। हम शक्तियों के विस्तार व विघ्न-नाश की प्रबल कामना करें। २२. इस प्रकार निरन्तर उन्नति के लिए प्रयत्नशील होते हुए हम **'अङ्क+अङ्कं छन्दः'**=गोदों की भी गोद—उस सर्वोत्तम गोद में, अर्थात् प्रभु के समीप पहुँचने की इच्छावाले हों। यह गोद ही 'अभयम्'=पूर्ण निर्भयता देनेवाली है।

भावार्थ—हम आच्छत् छन्द से अङ्काङ्क छन्द तक पहुँचनेवाले बनें। पाप-निवारणात्मक कर्मों को करते हुए हम प्रभु की गोद में पहुँचने का ध्यान करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—विद्वांसः। छन्दः—विराडभिकृतिः। स्वरः—ऋषभः।।

रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्वान्वित्या दिवा दिवं जिन्व सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व प्रवयाऽह्नाहर्जिन्वानुया रात्र्या रात्रीं जिन्वोशिजा वसुभ्यो वसूञ्जिन्व प्रकेतेनादित्येभ्यऽआदित्याञ्जिन्व ॥६॥

१. **सत्याय**=सत्य के लिए (उपहिता सती—म० enjoined) आदिष्ट हुआ-हुआ तू **रश्मिना**=ज्ञान-किरणों से तथा मनरूप लगाम द्वारा इन्द्रिय-निरोध से (रश्मिः=किरण, लगाम) **सत्यं जिन्व**=सत्य को प्राप्त कर, सत्य को अपने अन्दर प्रीणित कर। ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र में 'रश्मि' किरण है और कर्मेन्द्रियों के क्षेत्र में यह लगाम है। ज्ञान-किरणों के प्राप्त करने में लगी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ असत्य से बची रहती हैं और सत्य का पोषण करती हैं, इसी प्रकार बुद्धिरूप सारथि से मनरूप लगाम द्वारा निरुद्ध कर्मेन्द्रियाँ असत्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होतीं। २. **धर्मणा**=(धर्मो धारयते प्रजाः) धारणात्मक कर्मों को करने के हेतु से इस मानव शरीर को प्राप्त कराया हुआ तू **प्रेतिना**=(प्रकृष्टा इतिः) प्रकृष्ट गति से, अर्थात् सदा गो-सेवा आदि उत्तम कर्मों में लगे रहने से **धर्मं जिन्व**=अपने अन्दर धर्म को प्रीणित कर। धन कमाने के कार्यों से निपटने पर गो-सेवादि कार्य ही तेरे आमोद-प्रमोद हों। ३. **दिवा**=ज्ञान के लिए सब साधनों को प्राप्त कराया हुआ तू **अन्वित्या**=(अनु+इति) माता-पिता व आचार्य के अनुकूल गति करने के द्वारा, अर्थात् उनकी आज्ञा के अनुसार चलता हुआ तू **दिवं जिन्व**=प्रकाश को प्राप्त कर। तू माता से चरित्र और पिता से आचार (Manners) तथा आचार्य से ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके प्रकाशमय जीवनवाला बन। ४. **अन्तरिक्षेण**=(अन्तरा क्षि) सदा मध्यमार्ग में चलने के हेतु से ही तुझे बुद्धि दी गई है। मध्यमार्ग में चलने के हेतु से इस मानव जीवन को प्राप्त कराया हुआ तू **सन्धिना**=शरीर व मन के बल का अपने में सम्यग् आधान (स्थापन) द्वारा **अन्तरिक्षं जिन्व**=इस मध्यमार्ग को प्राप्त करनेवाला बन। अथवा **सन्धिना**=दोनों अतियों के मेल के द्वारा तू मध्यमार्ग को प्राप्त कर। एक ओर अतियोग है—दूसरी ओर अयोग। दोनों का मध्य यथायोग है। इस यथायोग को तू अपनानेवाला हो। ५. **पृथिव्या**=(पृथिवी शरीरम्) इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आदिष्ट हुआ-हुआ तू **प्रतिधिना**=अङ्ग-अङ्ग में—प्रत्येक अङ्ग में शक्ति के आधान द्वारा (प्रति-धानं) **पृथिवीं जिन्व**=शरीर को पूर्ण स्वस्थ बना। ६. शरीर को स्वस्थ बनाकर अध्यात्म उन्नति करके **वृष्ट्या**=धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा को प्राप्त करने के हेतु से इस संसार में भेजा हुआ तू **विष्टम्भेन**=(वि+स्तम्भ्) विशिष्ट रूप से चित्तवृत्ति के स्तम्भन के द्वारा **वृष्टिं जिन्व**=इस आनन्द की वर्षा को प्राप्त करनेवाला बन। ७. **अह्ना**=(अहन्) जीवन के एक भी क्षण को नष्ट न करने के लिए भेजा हुआ तू **प्रवया** (प्रकर्षेण यानं प्रवा, वा गतिगन्धनयोः)=प्रकृष्ट गति के द्वारा **अहः**=अपने आयुष्य के दिनों को **जिन्व**=बड़ा क्रियामय बना। तेरे जीवन के दिन उत्साहपूर्ण प्रतीत हों। ८. **रात्र्या**=(रात्रिः रमयित्री) रात्रि को सचमुच आनन्दप्रद बनाने के लिए प्रेरित हुआ-हुआ तू **अनुया**=एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे इस प्रकार निरन्तर कर्मों में लगने के द्वारा **रात्रीं जिन्व**=रात्रि को आनन्दप्रद बना (to refresh, to animate)। ९. इस प्रकार दिन-रात्रि को ठीक बनाने के बाद **वसुभ्यः**=वसुओं के लिए आदिष्ट हुआ-हुआ तू **उशिजा**=(उशिक्=मेधावी, तथा

वष्टि कामयते) बुद्धिमता से उत्तम कामनाओं के द्वारा **वसून् जिन्व**=सब निवासक तत्त्वों को प्राप्त करनेवाला बन। इन वसुओं ने ही तो तेरे निवास को उत्तम बनाना है। इन वसुओं की अनुकूलता से ही पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है। १०. पूर्ण स्वस्थ बनकर **आदित्येभ्यः**=आदित्यों के लिए प्रेरित हुआ-हुआ तू **प्रकेतेन**=प्रकृष्ट ज्ञान से **आदित्यान् जिन्व**=आदित्यों को प्रीणित करनेवाला बन। आदित्य की भाँति ही तुझे ज्ञान की दीप्ति से चमकना है। यह ज्ञान 'प्रकेत' है 'प्रकर्षेण कं सुखं इष्यतेऽनेन'=इसी से प्रकृष्ट सुख की गति होती है। इसी से उस **क**=अनिर्वचनीय प्रजापति परमात्मा का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें प्रस्तुत मन्त्र में दस आदेश दिये हैं। उन आदेशों के अनुसार हमें सत्य, धर्म, प्रकाश, मध्यमार्ग, शरीर का स्वास्थ्य, आनन्द-वृष्टि की अनुभूति, समय की अव्यर्थता, रात्रि का रमयितृत्व—वासक तत्त्व तथा प्रकेत (=प्रकृष्ट ज्ञान) की साधना करनी है। हम इन आदेशों का पालन करते हैं तो वे ही हमारे स्तोम=प्रभु-स्तवन हो जाते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—विद्वांसः। छन्दः—ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

रायस्पोष से तेजस् तक २९ में से ११-१६ तक स्तोमभाग

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व सꣳसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥७॥

११. **रायस्पोषेण**=इस संसार में तू रायस्पोष के हेतु से, धन के पोषण के लिए भेजा गया है। इस धन के बिना लोकयात्रा चलना सम्भव नहीं, अतः तू **तन्तुना**=कर्मतन्तु के विस्तार के द्वारा **रायस्पोषं जिन्व**=धन के पोषण को प्राप्त कर। तू पुरुषार्थ से धनार्जन कर। १२. धन के साथ तू **श्रुताय**=शास्त्र-श्रवण व ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी उद्दिष्ट हुआ है, अतः तू **संसर्पेण** =सदा विद्यावृद्धों के समीप जाने से **श्रुतं जिन्व**=अपने शास्त्र-ज्ञान को बढ़ानेवाला बन। 'श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञानी बनो'—इस बात को तू भूलना नहीं। १३. **ओषधीभिः**=इस संसार में तुझे ओषधियों के ही सेवन का आदेश है, अतः **ऐडेन**=उन ओषधियों के गुण-स्तवन के द्वारा (आ-ईड् स्तुतौ=ऋच्), अर्थात् उनके गुणधर्मों के ज्ञान के साथ **ओषधीः जिन्व**=तू ओषधियों को प्राप्त हो। मांसाहार बुद्धि को राजस् बनाकर ज्ञान को विकृत कर देता है। १४. **तनूभिः** =शक्तियों के विस्तार (तन् विस्तारे) के हेतु तुझे यह जन्म मिला है, अतः **उत्तमेन**=(उद्गतं तमो यस्मात्—म०) तमोगुणरहित अन्नादि के सेवन से **तनूः जिन्व**=शक्तियों के विस्तार को प्राप्त हो। १५. **अधीतेन**=अध्ययन के हेतु तुझे यह मानव जीवन मिला है, अतः **वयोधसा**=(वयो दधाति पुष्णाति) आयुष्य के पोषक अन्न के सेवन से **अधीतं जिन्व**=अध्ययन को प्राप्त हो। आयुष्य का स्थापक अन्न तुझे दीर्घजीवी बनाकर दीर्घकाल तक अध्ययन के योग्य बनाएगा। १६. **तेजसा**=तेज के हेतु तुझे यह जीवन मिला है, अतः **अभिजिता**=अन्तरिन्द्रिय मन व बाह्येन्द्रियों के विजय से पूर्ण जितेन्द्रिय होकर **तेजः जिन्व**=तू तेज प्राप्त कर।

भावार्थ—मानव जीवन को प्राप्त करके हम 'धन, ज्ञान (श्रुत) सात्त्विक अन्न, शक्ति-विस्तार, अध्ययन व तेज' को सिद्ध करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रतिपद–अनुपद्–सम्पत्–तेज १७ से २० तक

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि
सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥८॥

१७. पति–पत्नी परस्पर कहते हैं कि **प्रतिपत् असि**=तू ज्ञान–सम्पन्न है (प्रतिपत्=बुद्धि) **प्रतिपदे त्वा**=ज्ञान के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। हम परस्पर ज्ञानचर्चाएँ करते हुए एक–दूसरे के ज्ञान को बढ़ानेवाले बन पाएँगे। १८. **अनुपद् असि**=तू अनुकूल चलनेवाली है। **अनुपदे त्वा**=अनुकूलता के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। १९. **सम्पत् असि**=तू लक्ष्मी है। **सम्पदे त्वा**=सम्पत्ति की वृद्धि के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। सप्तपदी में भी 'रायस्पोषाय त्रिपदी भव' इस वाक्य के अनुसार सम्पत्ति वृद्धि के लिए ही तीसरा पग है। यहाँ मन्त्र की समाप्ति इस रूप में है कि २०. **तेजः असि**=तू संयम के द्वारा तेज का पुञ्ज बना है, **तेजसे त्वा**=अपने तेज की स्थिरता के लिए मैं तेरा स्वीकार करता हूँ। इस तेजस्विता ने ही तो पति–पत्नी के जीवन को स्वस्थ बनाकर कल्याण का भावन (उत्पादन) करना है।

भावार्थ—गृहस्थ को स्वर्गतुल्य बनाने के लिए चार बातें आवश्यक है—१. ज्ञान (समझदारी), २. अनुकूलता, ३. कार्यसाधिका सम्पत्ति, ४. तेजस्विता (संयम के द्वारा)।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः॥

इक्कीस से उनतीस तक स्तोमभाग

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि
सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय
त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥९॥

२१. **त्रिवृत् असि**=तू 'धर्म, अर्थ व काम' तीनों में वर्त्तनेवाला है, तीनों का समानुपात में सेवन करनेवाला है। मस्तिष्क की उन्नति से ज्ञान–वृद्धि द्वारा तू धर्म को अपनाता है, हृदय के नैर्मल्य से मधुर व्यवहारवाला बनकर तू सुपथा अर्थ का अर्जन करता है और शारीरिक उन्नति के द्वारा स्वस्थ बनकर उचित आनन्द (=काम) को प्राप्त करनेवाला होता है। **त्रिवृते त्वा**=इस प्रकार धर्मार्थकाम तीनों में वर्त्तने के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २२. **प्रवृत् असि**=तू सदा उत्कृष्ट कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला है (प्रवर्त्तते), **प्रवृते त्वा**=सदा कार्य–प्रवृत्त होने के लिए, यज्ञादि उत्तम कर्मों में आलस्यशून्यता से सदा प्रवृत्त होने के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २३. **विवृत् असि**=(विशेषेण वर्त्तते भूतेषु) तू विशिष्टरूप से यज्ञादि उत्तम कर्मों से प्राणियों के हित में प्रवृत्त होनेवाला है। **विवृते त्वा**=इस विशिष्ट वर्त्तन के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। पति–पत्नी प्राणिमात्र के प्रीति–(आनन्द)–वर्धक कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए ही परस्पर सङ्गत हों। २४. **सवृत् असि**=(सह वर्त्तते) तू सदा साथ मिलकर चलनेवाली है, **सवृते त्वा**=इस सह वृत्ति के लिए ही मैं तुझे अङ्गीकार करता हूँ। २५. **आक्रमः असि**=(आक्रामति पराभवति अशुभम्) तू उद्योग से सब अशुभों का पराभव करनेवाला है, इस **आक्रमाय त्वा**=अशुभ–पराभवन के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २६. **संक्रमोऽसि**=(संक्रामति) सदा मिलकर क़दम रखनेवाला है, अकेला ही तेज़ी से आगे

बढ़ जानेवाला नहीं, अतः **संक्रमाय त्वा**=इस मिलकर उन्नति के मार्ग में क़दम रखने के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २७. **उत्क्रमः असि**=तू (उत्=out) विषयों से बाहर निकलने के लिए व विघ्नों के पार होने के लिए क़दम रखनेवाला है अतः **उत्क्रमाय त्वा**=इस उत्क्रमवृत्ति के लिए मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २८. **उत्क्रान्तिः असि**=(उत्कृष्ट क्रान्तिर्गमनं यस्य) तू सदा उत्कृष्ट क्रान्तिवाला है, अच्छाई के लिए क्रान्ति करनेवाला है। **उत्क्रान्त्यै त्वा**=अपने जीवन में उत्कृष्ट क्रान्ति लाने के लिए ही मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। २९. और तू सदा **अधिपतिना**=(अधिकं पाति) अधिष्ठातृरूपेण वर्त्तमान उस सर्वाधिक रक्षक प्रभु के साथ प्रातः-सायं सङ्गत होकर **उर्जा**=बल और प्राणशक्ति के प्रवाह के द्वारा **ऊर्जं जिन्व**=अपने बल व प्राण को प्रीणित क़रनेवाला बन। यह सन्धि-वेला की सन्ध्या तुझे उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से संहित करके फिर-फिर शक्ति से भरनेवाली होगी और अपने को शक्ति से भरने की क्रिया ही तेरे प्रभु-स्तवन की चरम कला होगी, जो तुझे अवश्य प्रभु-प्राप्ति के योग्य बना देगी। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** प्रभु निर्बल को नहीं मिलते, शक्ति-सम्पन्न बनकर उसे पाया जाता है।

भावार्थ—हम 'त्रिवृत्, प्रवृत्, विवृत् व सवृत्' बनकर 'आक्रम, संक्रम व उत्क्रम' हों और एक विशिष्ट (उत्कृष्ट) क्रान्ति के लिए प्रभु-सम्पर्क से अपने में शक्ति का सञ्चार करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—वसवः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीबृहती[र]। स्वरः—धैवतः[क], मध्यमः[र]॥

राज्ञी (गृहपत्नी)

[क]राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवाऽअधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳश्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरꣳसाम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१०॥

१. हे गृहपत्नि! तू **राज्ञी असि**=(राज्=दीप्तौ, to regulate, to direct) तू अपने व्यवहार से दीप्त होनेवाली है। तेरा जीवन बड़ा व्यवस्थित है, इसी से तो तू सारे घर को व्यवस्थित करनेवाली है। २. **प्राची दिक्**=प्राची तेरी दिशा है। यह दिशा तुझे तेरे मार्ग का संकेत करनेवाली है। (प्र अञ्च) यह तुझे निरन्तर आगे बढ़ने का निर्देश कर रही है। ३. **वसवः ते देवाः**=वसु तेरे आराध्य देव हैं, शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य के लिए तू निवासक तत्त्वों का ध्यान करनेवाली है। वे देव ही तेरे **अधिपतयः**=आधिक्येन रक्षा करनेवाले हैं। ४. **अग्निः**=उन्नतिशील, अग्रेणी यह तेरा पति **हेतीनाम्**=घर पर पड़नेवाले वज्रों (हेतिः=वज्रम्—नि० २।२०) का, कष्टों का **प्रतिधर्ता**=प्रतीकार करनेवाला है। घर पर होनेवाले आक्रमणों से बचाना पति का ही काम है, पति ही रक्षक है (हेतीनाम्=उपद्रवकारिणीनां परायुधानां प्रतिधर्ता निराकर्त्ता—म०)। ५. **त्रिवृत्**=धर्मार्थकाम तीनों का होना और इसी रूप में होनेवाला **स्तोमः**=यह प्रभु-स्तवन **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में **श्रयतु**=सेवन करनेवाला हो। धर्मार्थकाम में सम्यक् वृत्ति शरीर में उत्तम निवास के लिए तेरी सहायता करे। ६. **उक्थम्**=(वक्तुमर्हं) प्रशंसनीय, स्तुति के योग्य **आज्यम्**=घृत अर्थात् प्रशंसनीय गोघृत तुझे **अव्यथायै**=किसी प्रकार की व्यथा-पीड़ा न होने देने के लिए **स्तभ्नातु**=थामे, दृढ़ करे। प्रशस्य गोघृत के

सेवन से तू सब रोग व पीड़ाओं से ऊपर उठ। ७. **रथन्तरं साम**='मुझे शरीररूप रथ से इस भवसागर को तैरना है, जीवन-यात्रा को पूरा करना है' ऐसा निश्चय ही मानो प्रभु-स्तवन है। यह साम=प्रभु-स्तवन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्या**=प्रतिष्ठिति के लिए हो। यह निश्चय मन में स्थिरता से रहे। यह तेरे जीवन का मौलिक सिद्धान्त बन जाए। ८. **देवेषु**=विद्वानों में जो **प्रथमजाः**=प्रथम विभाग में होनेवाले उच्चकोटि के **ऋषयः**=ज्ञानी हैं, वे **दिवो मात्रया**=अपने-अपने ज्ञान के अंश से, **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार करें। ९. **विधर्त्ता**=आपत्तियों का प्रतीकार करनेवाला 'अग्निः', **च अयम् अधिपतिः**=और ये अधिष्ठातृरूपेण रक्षक निवासकदेव **ते त्वा सर्वे**=और वे सारे ऋषि **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **नाकस्य पृष्ठे**=जहाँ दुःख है ही नहीं, उस लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=उत्तम कर्मों से अर्जनीय लोक में **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और यज्ञशील गृहपति को **सादयन्तु**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी ज्ञान-दीप्त, निरन्तर उन्नति-पथ पर बढ़नेवाली हो, धर्मार्थ, काम का समानुपात में सेवन करती हो। घृतादि के प्रयोग से शरीर को स्वस्थ रक्खे। शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का निश्चय करे। पति 'अग्नि'=अग्रेणी हो। ऐसा होने पर घर स्वर्ग बन जाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—रुद्राः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीबृहती[र]। स्वरः—धैवतः[क], मध्यमः[र]॥

विराट् (गृहपत्नी)

[क]विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवाऽअधिपतयऽइन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪश्रयतु प्रऽउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥११॥

१. हे पत्नि! **विराट् असि**=जीवन को विशिष्टरूप से व्यवस्थित करने के कारण तू विशेषरूप से चमकनेवाली है २. **दक्षिणा दिक्**=दाक्षिण्य का उपदेश देनेवाली यह दक्षिणा तेरी दिशा है। ३. **ते देवाः रुद्राः**=ये रुद्र तेरे देव हैं। प्राणशक्ति को स्थिरता देनेवाले ये रुद्र देव ही **अधिपतयः**=तेरी आधिक्येन रक्षा करनेवाले हैं। ४. **इन्द्रः**=ऐश्वर्य को कमानेवाला, इन्द्रियों का विजेता यह पति **हेतीनां प्रतिधर्ता**=घर पर पड़नेवाले घातक अस्त्रों का प्रतीकार करनेवाला है। ५. पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों का यह **पञ्चदशः स्तोमः**=पन्द्रहवाला समूह **त्वा**=तुझे **पृथिव्यां श्रयतु**=इस शरीर में उत्तमता से आश्रय देनेवाला हो। ६. आज्यादि उत्तम वस्तुओं का **उक्थम्**=प्रशंसनीय **प्रउगम्**=प्रयोग **अव्यथायै स्तभ्नातु**=किसी प्रकार की पीड़ा न होने देने के लिए तुझे थामे, दृढ़ करे। प्रत्येक वस्तु का यथायोग शरीर को बिल्कुल ठीक-ठाक रखता है। ७. **बृहत्साम**=निरन्तर वृद्धि की भावनारूप प्रभु-स्तवन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्यै**=दृढ़ स्थिति के लिए हो, अर्थात् तू हृदय में 'वृद्धि' का ही संकल्प धारण कर। इस संकल्प को ही तू अपना प्रभु-स्तवन समझ। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि में होनेवाले तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी **दिवो मात्रया** =ज्ञान के उस अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=तेरे जीवन को प्रसिद्ध करें। तेरा जीवन मस्तिष्क में ज्ञान व हृदय में विशालता की कीर्तिवाला हो। ९. **विधर्त्ता**=आपत्तियों

का प्रतीकार करनेवाला तेरा पति 'इन्द्र', **च अयं अधिपतिः**=और ये अधिष्ठातृरूपेण रक्षक प्राण **ते च सर्वे**=और ज्ञान देनेवाले वे सारे ऋषि **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और इस घर के यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें, अर्थात् तुम्हारे गृहस्थ को दुःखरहित प्रकाशमय स्वर्ग-सा बना दें।

भावार्थ—पत्नी व्यवस्थित व दीप्त जीवनवाली हो। गृहकार्यों में बड़ी दक्षिण व निपुण हो, प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ व प्राण सभी स्वस्थ हों। उत्तम वस्तुओं का वह प्रशंसनीय प्रयोग करनेवाली हो। 'वृद्धि' को जीवन का सूत्र बनाकर चले। पति 'इन्द्र' हो, ऐश्वर्यशाली व जितेन्द्रिय। घर को स्वर्ग बनाने के लिए यह सब आवश्यक है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—आदित्याः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीजगती[क], ब्राह्मीबृहती[र]। स्वरः—निषादः[क], मध्यमः[र]॥

सम्राट्

[क]सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवाऽअधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याश्श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपꣳसाम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१२॥

१. **सम्राट् असि**=तू घर में उत्तमता से शासन करनेवाली है। २. **प्रतीची दिक्**=प्रतीची तेरी दिशा है। यह तुझे (प्रति अञ्च्) वापस लौटने का उपदेश दे रही है। दाक्षिण्य से ऐश्वर्य के बढ़ने पर इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाने की बड़ी आशंका है, अतः तूने इन्द्रियों को विषयों से वापस लौटाने का ध्यान करना है, यही 'प्रत्याहार' है। ३. **आदित्याः ते देवाः**=आदित्य तेरे देव हैं। इनकी आराधना से तू इनकी भाँति ही उत्तमता का आदान करनेवाली हो। इस उत्तमता का निरन्तर आदान **अधिपतयः**=तेरा आधिक्येन रक्षक हो। ४. **वरुणः**=सब प्रकार के द्वेषों का निवारण करनेवाला गृहपति **हेतीनाम्**=घर पर पड़नेवाले वज्रों व कष्टों का **प्रतिधर्त्ता**=प्रतीकार करनेवाला हो। वस्तुतः यह निर्द्वेषता ही घर के कल्याण का साधन हो जाए। ५. **सप्तदश स्तोमः**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि का समूह **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में सेवन करनेवाला हो। इनके द्वारा तेरा शरीर बड़ा ठीक बना रहे। ६. **मरुत्वतीय उक्थम्**=प्रशंसनीय मितभाषण (मरुतः मितराविणः, मरुत्वतीय=मरुतोंवाली मितभाषिता) **अव्यथायै**=पीड़ा न होने देने के लिए **स्तभ्नातु**=तुझे थामे, अर्थात् मितभाषण तेरी पीड़ा के अभाव का कारण बने। ७. **वैरूपं साम**='मुझे विशिष्ट रूपवाला बनना है' इस निश्चय-सम्बन्धी उपासना **अन्तरिक्षे**=हृदयाकाश में **प्रतिष्ठित्यै**=प्रतिष्ठा के लिए हो। तेरे हृदय में यह मूलभूत सिद्धान्त अंकित हो जाए कि 'इस मानव जीवन में मुझे विशिष्ट रूपवाला बनना है।' ८. **त्वा** =तुझे **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः**=प्रथम कोटि में होनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **दिवः मात्रया**=ज्ञान के अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय के विस्तार से **प्रथन्तु**=प्रसिद्ध करें, तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार करें। ९. **विधर्त्ता**=सब द्वेषों के निवारण से आपत्तियों का प्रतीकार करनेवाला यह 'वरुण', **च अयं अधिपतिः** =और अधिष्ठातृरूपेण रक्षक ये आदित्य देव, **ते सर्वे च**=और

वे सब प्रथमज ऋषि—उत्कृष्ट श्रेणी के ज्ञानी लोग **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=सुखमय लोक में **त्वा**=तुझे और **यजमानम्**=यज्ञशील गृहपति को **सादयन्तु**=बिठाएँ। इन सबकी कृपा से गृह स्वर्ग बन जाए।

भावार्थ—पत्नी घर में उत्तमता से शासन करनेवाली हो। अच्छाइयों के ग्रहण के स्वभाववाली, मितभाषिणी, विशिष्ट रूपता को ध्येय बनाकर चलनेवाली हो। पति सब प्रकार के द्वेष का निवारण करनेवाला हो। ये बातें घर को अवश्य स्वर्ग बनाएँगी।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—मरुतः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], ब्राह्मीबृहती[र]। स्वरः—धैवतः[क], मध्यमः[र]।।

स्वराट्

[क]स्वराडस्युदीची दिङ् मरुतस्ते देवाऽअधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्तैकविंशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳪश्रयतु निष्कैवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजᳪसाम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽ ऋषयस्त्वा [र]प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१३॥

१. सम्राट् औरों का शासन करता है। पत्नी को सम्राट् तो होना ही है, पर सम्राट् बनने के लिए तू **स्वराड् असि**=अपना शासन करनेवाली बनी है। **उदीची दिक्**=उत्तर तेरी दिशा हुई है। 'उद् अञ्च' ऊपर, और ऊपर उठते जाना ही तूने उदीची से सीखा है। ३. **मरुतः ते देवाः**=मरुत् तेरे आराध्य देव हैं—तूने उनकी भाँति ही (मितराविणः) मितभाषिणी बनने का संकल्प किया है। ये मरुत् ही तेरे **अधिपतयः** =अधिष्ठातृरूपेण रक्षक हैं। मितभाषिता जीवन को दीर्घ करनेवाली है। ४. **सोमः**=सौम्य व शान्त स्वभाववाला तेरा पति **हेतीनां प्रतिधर्ता**=घर पर होनेवाले घातक आक्रमणों से तेरी रक्षा करे। उसकी सौम्यता ही वस्तुतः घर की रक्षक बन जाए। ५. **एकविंशः स्तोमः**=शरीर का भरण करनेवाली इक्कीस शक्तियों का समूह तुझे **पृथिव्यां श्रयतु**=इस पृथिवीरूप शरीर में सेवित करे। इन इक्कीस शक्तियों से तेरी शारीरिक स्थिति उत्तम हो। ६. **उक्थम्**=प्रशंसनीय **निष्केवल्यम्** =(निः=बाहर, केवल=सुखरूप प्रभु में विचरना) विषयों से बाहर होकर उस आनन्दमय प्रभु में विचरना **अव्यथायै**=तुझे पीड़ा के अभाव के लिए **स्तभ्नातु**=दृढ़ करे, अर्थात् विषयासक्ति का अभाव तेरे जीवन को सुखी करे। ७. **वैराजं साम**=जीवन को विशिष्टरूप से व्यवस्थित बनाने की भावना ही तेरी प्रभु-उपासना हो और यह **अन्तरिक्षे प्रतिष्ठित्यै**=हृदयान्तरिक्ष में प्रतिष्ठा के लिए हो। यह भावना हृदय में सदा प्रतिष्ठित रहे। यह तेरे जीवन का एक मूलभूत सिद्धान्त बन जाए। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि के तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वा**=तुझे **दिवो मात्रया**=उस-उस ज्ञान के अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=प्रसिद्ध करें व विस्तृत जीवनवाला बनाएँ। ९. **विधर्त्ता च**=अपने सौम्य स्वभाव से घर का विशिष्टरूप से धारण करनेवाला पति 'मरुत्' **अयं अधिपतिः च**=ये मितरावी अधिष्ठातृरूपेण रक्षक मरुत् **ते च सर्वे**=और वे सब तत्त्वद्रष्टा ऋषि **संविदाना**=ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए **त्वा**=तुझे और **यजमानम्**=यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक के ऊपर **स्वर्गे लोके**=देदीप्यमान प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें। ये सब तेरे घर को स्वर्ग बनानेवाले हों।

भावार्थ—पत्नी स्वराट्—पूर्ण जितेन्द्रिय हो, मितभाषिता उसके दीर्घ जीवन का कारण बने। वह विशिष्टरूप से जीवन को व्यवस्थित करनेवाली हो। वह ज्ञान के साथ हृदय की विशालतावाली हो। पति सौम्य व शान्त स्वभाव हो—यही घर को स्वर्ग बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—ब्राह्मीजगती [क], ब्राह्मीत्रिष्टुप् [र]। स्वरः—निषादः [क], धैवतः [र]॥

अधिपत्नी

[क]अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवाऽअधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳश्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुतेऽ उक्थेऽअव्यथायै स्तभ्नीताꣳशाक्वररैवते सामनी [र]प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽ ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥१४॥

१. **अधिपत्नी असि**=हे स्त्रि! तू इस घर की आधिक्येन पालयित्री है। २. **बृहती दिक्**=यह प्रौढ़ा बृहस्पतिरूप अधिष्ठातावाली—बढ़ी हुई ऊर्ध्वा तेरी दिशा है। तेरे जीवन का लक्ष्य सर्वोच्च स्थिति में पहुँचना है, तूने ऊर्ध्वा दिशा का अधिपति बनना है। ३. **ते देवाः विश्वे**=बारह विश्वेदेव ही तेरे देव हैं। इन बारह–के–बारह मासों के नामों से तुझे 'इस संसार–वृक्ष की विशिष्ट शाख बनना है, ज्येष्ठ बनना है, कामादि से पराभूत नहीं होना, शुभ उपदेश का श्रवण करना है, इसे ही कल्याण का मार्ग समझना है—इसपर चलने के लिए कल का प्रोग्राम नहीं बनाना—कामादि का कृन्तन करना है—इन्हें आत्मालोचन द्वारा ढूँढ–ढूँढ कर मारना है—इस प्रकार अपना पोषण करना है—यही तेरा ऐश्वर्य है। इस एश्वर्य के सामने सांसारिक ऐश्वर्य तो नितान्त तुच्छ हैं—यही तेरे जीवन का आश्चर्य होगा। ये देव, ये मास इन बातों का बोध दे रहे हैं। यह बोध देकर ये देव ही तेरे **अधिपतयः** =अधिष्ठातृरूपेण रक्षक होंगे। ४. **बृहस्पतिः**=ऊँचे–से–ऊँचे ज्ञान का पति गृहपति **हेतीनाम्**=घर पर आनेवाली घातक बातों का **प्रतिधर्त्ता**=प्रतीकार करनेवाला है। ५. **त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ**=('त्रिणवस्तोमं पुष्टिरित्याहुः'—श० १०।१।१।५) पुष्टि तथा तेतीस देवों का धारण ही **स्तोमौ**=तेरा प्रभु–स्तवन हो और यह पुष्टि व तेतीस देवों का धारणरूप प्रभु–स्तवन **त्वा**=तुझे **पृथिव्याम्**=इस शरीर में **श्रयताम्**=सेवित करनेवाले हों। तेरे शरीर को ये पूर्ण स्वस्थ बनाएँ। ६. **उक्थे वैश्वदेवाग्निमारुते**=प्रशंसनीय विश्वेदेव, अग्नि तथा मरुत ये सब **अव्यथायै**=पीड़ा के अभाव के लिए तुझे **स्तभ्नीताम्**=थामें। तेरा मन दिव्य गुणों का अधिष्ठान बने तो तेरा देह वैश्वानर अग्नि व प्राणापानरूप मरुतों का स्थान बने। दिव्य गुण मन को स्वस्थ बनाएँ और यह वैश्वानर अग्नि व प्राणापान अन्न के ठीक पाचन से शरीर को स्वस्थ करें। ७. **शाक्वररैवते**=शक्ति को प्राप्त करने की भावना तथा धन और ज्ञानधन को प्राप्त करने की भावना **सामनी**=मेरे साम व उपासन हों। ये **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **प्रतिष्ठित्यै**=प्रतिष्ठिति के लिए हों। मेरे जीवन में ये सिद्धान्त बन जाएँ। इन्हें मैं अपने हृदय से कभी दूर न करूँ। ८. **देवेषु**=विद्वानों में **प्रथमजाः ऋषयः**=प्रथम कोटि के तत्त्वद्रष्टा विद्वान् **त्वा**=तुझे **दिवो मात्रया**=ज्ञान के अमुक–अमुक अंश से तथा **वरिम्णा**=हृदय की विशालता से **प्रथन्तु**=विस्तृत जीवनवाला बनाएँ। ९. **विधर्त्ता च**=घर को आपत्तियों से बचानेवाला ज्ञानी गृहपति **अयं च अधिपतिः**=और ये आधिक्येन रक्षक 'विश्वेदेव' **ते च सर्वे**=और वे सब ज्ञानी **संविदानाः**=ऐकमत्यवाले होकर **त्वा**=तुझे **यजमानं च**=और यज्ञशील गृहपति को **नाकस्य पृष्ठे**=दुःखाभाववाले लोक

के ऊपर **स्वर्गे लोके**=प्रकाशमय लोक में **सादयन्तु**=स्थापित करें।

भावार्थ—पत्नी घर की अधिपत्नी हो। उसका 'शरीर, मन व बुद्धि तीनों को नवीन (त्रि+नव) व पुष्ट बनाये रखना व मन में सब गुणों को धारण करना' ये मौलिक सिद्धान्त हो जाएँ। वह 'शरीर को शक्तिशाली बनाये, मस्तिष्क को ज्ञानधन सम्पन्न करे' इन्हीं को वह प्रभु-उपासन जाने। पति ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने का प्रयत्न करे।

सूचना—(१) १० से १४ तक मन्त्रों में पत्नी की विशेषताओं के सूचक '**राज्ञी, विराट्, सम्राट्, स्वराट् व अधिपत्नी**' शब्द हैं। पति की विशेषता को **अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम व बृहस्पति**—ये शब्द कह रहे हैं। इन विशषेताओं को धारण करके स्त्री दुःख से ऊपर उठकर स्वर्ग में स्थित हुआ करती है। (२) जीवन के मौलिक सिद्धान्तों की सूचना 'रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज व शाक्वररैवत' इन साम-संज्ञा शब्दों से होती है। (क) हमें शरीररूप रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करना है। (ख) वृद्धि को प्राप्त करना है। (ग) विशिष्ट रूपवाला बनना है। (घ) हमारा जीवन विशिष्ट रूप से दीप्त व व्यवस्थित हो। (ङ) हम 'शक्ति-धन' व 'ज्ञान-धन' का सम्पादन करनेवाले बनें।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—वसन्तर्तुः। **छन्दः**—विकृतिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

हरिकेश

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१५॥

१. राष्ट्र में राजा 'परमेष्ठी'=सर्वोच्च स्थान में स्थित है। **अयम्**=यह **पुरः**=राष्ट्र का पालन व पूरण करनेवाला है। (पृ पालनपूरणयोः) अथवा राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला है (पुरः=आगे, fore)। २. **हरिकेशः**=(केशाः रश्मयः काशनाद्वा—नि० १२।२६) इसकी ज्ञानरश्मियाँ राष्ट्र के कष्टों का हरण करनेवाली हैं। **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान इसकी ज्ञानरश्मियाँ सारे राष्ट्र को प्रकाशित करनेवाली हैं। स्वयं यह 'सर्ववेदवित्' बना है। इसने ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करके सारे राष्ट्र में ज्ञान के फैलाव की व्यवस्था की है। यह ज्ञान लोगों के दुःखों का हरण करनेवाला हुआ है। ३. **तस्य**=आगे ले-चलनेवाले राजा का **रथगृत्सः**=(रथेगृत्सः मेधावी) रथ में निपुण **सेनानीः**=सेनापति है तथा **रथौजाः**=(रथे ओजो यस्य) रथ के क्षेत्र में ओजस्वी **ग्रामणी**=ग्रामनायक है। इसके ये दोनों परिचारक 'वासन्तिकौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१६' प्रजा का उत्तम निवास करनेवाले तथा उनकी जीवन-मर्यादा को ऋतुओं की भाँति व्यवस्थित करनेवाले हैं। सेनापति ने रथगृत्स होना ही है। ग्रामणी ने भी प्रजा के निरीक्षण के लिए रथौजा ही होना है, कुर्सी के ओजवाला नहीं। ४. इस राजा की सेना के दृष्टिकोण से 'पुञ्जिकस्थला' अप्सरा है तथा ग्राम के दृष्टिकोण से 'क्रतुस्थला' अप्सरा है **पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला च अप्सरसौ**=(पुञ्जिकस्य स्थलं यस्याः) सेना को पुञ्जीभूत—न तितर-बितर हुआ-हुआ रखनेवाला अफ़्सर है तथा ग्राम को (क्रतूनां स्थलं यस्याः) यज्ञों का स्थल बनानेवाला अफ़्सर है (अप्सरस्=अफ़्सर, officer)। सेनानी का मुख्य कार्य सेना को सङ्गठित रखना है, ग्रामणी का मुख्य कार्य ग्राम में यज्ञादि उत्तम कार्यों

का प्रवर्त्तन है। ५. सेनानी के दृष्टिकोण से **दङ्क्ष्णवः पशवः**=दशनशील पशु=व्याघ्रादि की भाँति शत्रुसैन्य को चीर-फाड़ देनेवाले सैनिक **हेतिः**=वज्र हैं, प्रहार के साधन हैं तथा ग्रामणी के दृष्टिकोण से **पौरुषेयः**=फाँसी के लिए नियुक्त पुरुष के द्वारा किया जानेवाला **वधः**=वध **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र है। वस्तुतः इस पौरुषेय वध के द्वारा ही राष्ट्र में होनेवाले बड़े पापों की समाप्ति की जा सकती है। एक ब्लैकमार्केटिंग करनेवाले के फाँसी पर चढ़ते ही सब व्यापार शुद्ध हो जाता है—एवं यह 'पौरुषेय वध' सचमुच 'प्रहेति'=प्रकृष्ट वज्र है। ६. **तेभ्यः**=उनके पुरः=सामने यः=जो अग्नि है और उसके सेनानी व ग्रामणी हैं तथा उसके अप्सरस् हैं और जो हेति, प्रहेति हैं, इन सबके लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार है। **ते नः अवन्तु**=ये सब हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम सब **यं द्विष्मः**=जिस भी व्यक्ति को प्रीति नहीं कर पाते **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन सेनानी-ग्रामणी आदि के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्याय के जबड़ों में **दध्मः**=स्थापित करते हैं, स्वयं क़ानून को हाथ में न लेकर हम उसे इन न्यायाधीशों को सौंपते हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला, दुःख का हरणकारी, ज्ञान से परिपूर्ण, सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियों से प्रजा में प्रकाश फैलानेवाला हो। इसके परिचारक रथों से प्रजा में विचरण करनेवाले हों—कुर्सियों को ही सँभाले रखनेवाले नहीं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—ग्रीष्मर्तुः। छन्दः—निचृत्प्रकृतिः। स्वरः—धैवतः॥

विश्वकर्मा

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांᳬसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१६॥

१. **अयं दक्षिणा**=यह राजा दक्षिणा दिग् का अधिपति है, अर्थात् दाक्षिण्य का—नैपुण्य का—अधिपति है। २. दाक्षिण्य का अधिपति होता हुआ यह विश्वकर्मा—'विश्वस्मिन् करोति' सदा कार्यों का करनेवाला है, 'अयं वै वायु विश्वकर्मा०—श० ८।६।१।१७' वायु की भाँति सदा क्रियाशील है। ३. **तस्य**=उस राजा का **रथस्वनः**=(रथे स्थितः स्वनति) युद्ध-रथ पर आरुढ़ होकर शत्रुओं को ललकारनेवाला **सेनानीः**=सेनापति है तथा **रथेचित्रः**=(रथे स्थितः आश्चर्यकारी) सदा रथारुढ़ होकर आश्चर्यजनक शक्ति से निरन्तर कार्यों को करनेवाला एक **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। ग्रैष्मौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१७।—ये सदा सोत्साह हैं और बड़ी व्यवस्थित गतिवाले हैं। ४. शत्रु पराजय के द्वारा मान पानेवाला 'मेनका' (मानयन्ति एनाम्)=सम्मानित सेनानी **अप्सरसौ**=अफ़्सर है तथा ग्रामणी रूप अफ़्सर **सहजन्या**=लोगों के अन्दर मिलकर कार्यों को विकास करने की भावना को जन्म देनेवाला है। आजकल के कोऑपरेटिव सिस्टम तथा कम्युनिटी प्रोजेक्ट्स इस 'सहजन्या' शब्द से संकेतित हो रहे हैं। ५. सेनानी दृष्टिकोण से **यातुधानाः**=शत्रुओं में पीड़ा का आधान करनेवाले—प्रतिक्षण उनकी सिरदर्दी का कारण बननेवाले सैनिक **हेतिः**=वज्र हैं—राष्ट्र की बाह्य आक्रमणों से रक्षा के साधन हैं और ग्रामणी के दृष्टिकोण से रक्षांसि (रक्ष् resque) रक्षा के लिए नियत चौकीदार व पुलिस के व्यक्ति **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र हैं। ये सदा राष्ट्र को अन्दर की अव्यवस्था

से बचाते हैं। ६. **तेभ्यः**=इस वायु सदृश राजा, उन सेनानी, ग्रामणी, अप्सरस् व हेति और प्रहेति सबके लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=वे हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=वे हमारे जीवन को सुखी बनाएँ। **ते**=वे **यं द्विष्मः**=अवाञ्छनीय होने से जिसके प्रति हम सब प्रेम नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=जो हम सबके साथ द्वेष करता है **तम्**=उसको **एषाम्**=इन राजा व उसके अफ़्सरों के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्यायरूप जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा वायु की भाँति नैसर्गिकी क्रियावाला है—आलस्य से दूर है। इसके सेनानी शत्रु-पराजय द्वारा राष्ट्र का मान बढ़ाते हैं और ग्रामणी लोगों में मिलकर कार्य करने के द्वारा विकास की भावना को दृढ़-मूल करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—वर्षर्तुः। छन्दः—कृतिः। स्वरः—निषादः॥

विश्वव्यचाः

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ। प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१७॥

१. **अयं पश्चात्**=यह राजा इन्द्रियों को विषयों से पीछे खेंचनेवाला, **विश्वव्यचाः**=(असौ वा आदित्यो विश्वव्यचाः—श० ८।६।१।१८) उदय होते ही पश्चिम की ओर (प्रतीची की ओर) चलना प्रारम्भ करनेवाले सूर्य के समान है (विश्वं विचति व्याप्नोति प्रकाशयति)। जैसे सूर्य सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करता है, इसी प्रकार इसकी शासन-शक्ति भी सारे राष्ट्र में व्याप्त होती है। सूर्य की भाँति यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है—सूर्य की भाँति कररूप जल का ग्रहण करता है। सूर्य की भाँति मलों को नष्ट कर राष्ट्रीय नीरोगता उत्पन्न करता है। २. **तस्य**=इस राजा के **रथप्रोतः च**=रथ में प्रोत-स्थिर-सा हुआ-हुआ-सदा रथ से बँधा हुआ **सेनानीः**=सेनापति है। **असमरथः च**=अद्वितीय रथवाला—विशिष्ट गाड़ीवाला **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। सेनापति आवश्यकता पड़ते ही सदा युद्ध के लिए तैयार है, और ग्रामणी सदा रथ पर इधर-उधर घूमता हुआ व्यवस्था में लगा है—इसका रथ कभी विश्रान्त न होने से अद्भुत है। 'वार्षिकौ तौ ऋतू—श० ८।६।१।१८' ये अपनी निरन्तर क्रियाशीलता से प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं और बड़ी नियमित गतिवाले हैं। ३. प्रम्लोचन्ती (अहः—श० ८।६।१।१८) जैसे दिन में सब प्राणी गतिवाले होते हैं उसी प्रकार **प्रम्लोचन्ती**=सेनानी के दृष्टिकोण से सेना को प्रकृष्ट गति देनेवाले इसके **अप्सरस्**=ऑफ़िसर्स होते हैं और ग्रामणी के दृष्टिकोण से (अनुम्लोचनी रात्रिः—श० ८।६।१।१८) प्रति रात्रि की समाप्ति पर कार्यों में व्याप्त होनेवाले **अप्सरस्**=अफ़्सर होते हैं। सेना ने दिन-रात चौकन्ना रहना है, गति में रहना है। राष्ट्र के अन्य अध्यक्षों ने भी प्रतिदिन कार्य में व्याप्त होना है (म्लोचति=to go, move)। संक्षेप में सब अफ़्सरों क्या फौजी और क्या सिविलियन—सभी के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। ४. शत्रुओं से रक्षा करनेवाले **व्याघ्राः**=व्याघ्रों के समान सैनिक **हेतिः**=इसके राष्ट्र-रक्षक वज्र हैं तो **सर्पाः**=ग्रामणी के दृष्टिकोण से गुप्तचर रूप में सब न्यूनताओं का पता लगानेवाले **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र हैं। ये राष्ट्र को अन्तः उपद्रवों से बचाने में सहायक होते हैं। ५. **तेभ्यः**=इस आदित्यतुल्य राजा, उसके सेनानी, ग्रामणी, उसके

अप्सरस् तथा हेति-प्रहेति का **नमः अस्तु**=हम आदर करते हैं। **ते नः अवन्तु**=वे हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=वे हमें सुखी करें। **ते**=वे **यं द्विष्मः**=जिसे हम प्रीति नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=और जो हमारे साथ द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन अधिकारियों के **जम्भे**=दंष्ट्राकराल न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं, वे ही इन्हें उचित दण्ड देते हैं।

भावार्थ—राजा सूर्य की भाँति सर्वत्र प्रकाश फैलानेवाला हो, रोगकृमियों के नाश के लिए सफ़ाई का प्रबन्ध करे, सूर्यकिरणें जैसे जल को ले-जाती हैं, यह भी थोड़ा-थोड़ा कर ले। इसके कर्मचारी स्वयं क्रियाशील हों और प्रजा में भी क्रियाशीलता की प्रवृत्ति को पैदा करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—शरदृतुः। छन्दः—भुरिगतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

संयद् वसुः

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य ताक्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ। विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥१८॥

१. **अयम्**=यह राजा **उत्तरात्**=उत्तर दिशा में स्थित होता हुआ सचमुच राष्ट्र को उत्कृष्ट बनाता है। २. राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए ही यह **संयद्वसुः**=धन का नियमन करता है (वसु संयच्छति), करादि के उत्तम नियमों को बनाकर तथा व्यापार को भी व्यवस्थित करके यह धन को किसी एक स्थान में केन्द्रित नहीं होने देता। ३. **तस्य**=इसका **सेनानीः**=सेनापति **ताक्ष्यः**=शत्रुओं पर उसी प्रकार आक्रमण करनेवाला होता है जैसेकि गरुड़ सर्पों पर और इसका **ग्रामणीः**=ग्रामनायक **अरिष्टनेमिः**=धर्म-मार्गों की परिधि को या मर्यादा को हिंसित नहीं होने देता (**अ**=नहीं **रिष्ट**=हिंसित **नेमि**=मर्यादा) ४. सेनानी के दृष्टिकोण से इसके **अप्सरस्**=ऑफ़िसर्स **विश्वाची**=सारे राष्ट्र की सीमा पर, राष्ट्र के चारों ओर गतिवाले होते है तथा ग्रामनायक के **अप्सरस्**=अफ़्सर **घृताची**=घृतादि उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। इस प्रकार ये 'शारदौ ऋतू'=बाहर व अन्दर के उपद्रवों को शीर्ण करनेवाले व नियमित गति से राष्ट्र को चलानेवाले होते हैं। अन्दर के उपद्रव प्रायः तभी होते हैं, जब प्रजा को आवश्यक पदार्थ भी दुर्लभ हो जाते हैं। ५. **आपः**=सारे प्रान्त-भागों में व्याप्त हो जानेवाले (आप्लृ व्याप्तौ) सैनिक ही इसके **हेतिः**=शत्रुओं से रक्षक वज्र के समान हैं और **वातः**=वायु के समान प्रजा को जीवन देनेवाले ग्रामाध्यक्ष इसके **प्रहेतिः**=प्रकृष्ट वज्र है, क्योंकि ये ही राष्ट्र को अन्तःकोप का शिकार नहीं होने देते। ६. **तेभ्यः**=इन सबके लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=ये हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम **यं द्विष्मः**=जिससे प्रीति नहीं कर पाते **यः च नः द्वेष्टि**=और जो हम सबसे द्वेष करता है **तम्**=उसे **एषाम्**=इन अधिकारियों के **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा का यह महान् कार्य है कि वह राष्ट्र में धन का पूर्ण नियमन करे। इसी के विषम असम-विभाग से राष्ट्र में अतिभुक्त (overfed) व अल्पभुक्त (underfed) ये दो श्रेणियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और राष्ट्र रोगी हो जाता है। इसके सैनिक सारे प्रान्त-भाग में व्याप्त होकर देश की रक्षा करें और अन्य अध्यक्ष जीवन की आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने की व्यवस्था करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—हेमन्तर्तुः। छन्दः—निचृत्कृतिः। स्वरः—निषादः॥

अर्वाग् वसुः

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ। उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसावस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥१९॥

१. **अयम्**=यह राजा **उपरि**=ऊर्ध्व दिशा में स्थित है, राष्ट्र में सर्वोच्च स्थान में स्थित होने से यह सचमुच 'परमेष्ठी' है। २. इस उच्चस्थान में स्थित होता हुआ यह **अर्वाग् वसुः**=नीचे आनेवाले धनवाला है। जैसे सूर्य किरणों द्वारा जल लेता है, परन्तु सारे-के-सारे जल को पर्जन्य के रूप में करके बरसा देता है, उसी प्रकार यह राजा कर के रूप में प्रजा से धनों को लेता है, परन्तु उसे प्रजाहित के लिए ही बरसा देता है। यह राष्ट्रकोश को अपने लिए 'वशा गौ' (बाँझ गौ) के समान समझता है, उससे अपने महल नहीं बना लेता। कालिदास के शब्दों में 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'= यह प्रजाओं के कल्याण के लिए ही उनसे कर लेता है और सूर्य की भाँति सहस्र गुणा करके बरसा देता है, अतः यह सचमुच 'अर्वाग् वसु' है। ३. इस कार्य में **तस्य**=उसके सहायक **सेनजित् च**=सेना के द्वारा शत्रु का विजय करनेवाला **सेनानीः**=सेनापति है तथा **सुषेणः च**=ग्रामों से उत्तम सैनिकों को प्रस्तुत करके उत्तम सेना बनानेवाला **ग्रामणीः**=ग्रामनायक है। ४. **अप्सरसौ**=इसके सैनिक अफ़सर **उर्वशी**=खूब ही शत्रुओं को वश में करनेवाले हैं तथा ग्रामों के अफ़सर **पूर्वचित्तिः च**=प्रत्येक कार्य को पहले से सोचकर करनेवाले हैं। ५. **अवस्फूर्जन्**=(स्फूर्जा वज्रनिर्घोषे) शत्रु-सेना के समक्ष वज्र निर्घोष करते हुए सेनानायक इसके **हेतिः**=(शत्रुनाशक, राष्ट्र रक्षक) वज्र हैं तथा **विद्युत्**=राष्ट्र में सर्वत्र विशिष्ट द्युति को फैलानेवाले और इस प्रकार अपराधों की संख्या को कम करनेवाले ग्रामाध्यक्ष **प्रहेतिः**=पापनाशक प्रकृष्ट वज्र हैं। इस प्रकार ये सेनानी व ग्रामणी 'हैमन्तिकौ ऋतू—श० ८।६।१।२०' राष्ट्र की वृद्धि करनेवाले तथा उसे नियमित गतिवाला करनेवाले हैं। ६. **तेभ्यो नमः अस्तु**=हम इन सबका आदर करते हैं। **ते नः अवन्तु**=ये हमारी रक्षा करें। **ते नः मृडयन्तु**=ये हमें सुखी करें। **ते**=वे हम **यं द्विष्मः**=जिसे प्रीति नहीं करते **यः च नः द्वेष्टि**=जो हम सबके साथ द्वेष करता है, **तम्**=उसे **एषाम्**=इनके **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—राजा करादि से प्राप्त धन को प्रजाहित में ही विनियुक्त करे। राष्ट्र की सेना उत्तम हो। सेनानी शत्रुओं को वश में करे तो ग्रामनायक प्रत्येक कार्य को सोचकर करे। राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रजाजन क़ानून को अपने हाथ में न लें, इन अध्यक्षों को ही न्याय का कार्य सौंपा जाए।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ककुत्पतिः=सर्वोच्च रक्षक

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति ॥२०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित राजा **अग्निः**=अग्रेणी बनता है। यह स्वयं उन्नति करते हुए सारे राष्ट्र को आगे ले-चलता है। २. **मूर्धाः**=यह राष्ट्र का मूर्धा बनता है, मस्तिष्क से जैसे सारे शरीर की सारी क्रियाओं की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार यह राष्ट्र की सब क्रियाओं का व्यवस्थापन करता है। ३. **अयम्**=यह **दिवः**=प्रकाश का, मस्तिष्क में ज्ञान को परिपूर्ण

करने का तथा **पृथिव्याः**=शारीरिक स्वास्थ्य का **ककुत् पतिः**=चोटी का रक्षक—रक्षक शिरोमणि बनता है। यह इस बात का ध्यान करता है कि राष्ट्र में कोई व्यक्ति अनपढ़ न रह जाए तथा यह भी व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है कि सबके शरीर स्वस्थ हों। संक्षेप में, यह शिक्षा-विभाग व स्वास्थ्य-विभाग को सर्वाधिक महत्त्व देता है, अधिक-से-अधिक विद्यालयों की स्थापना तथा सफ़ाई का ध्यान करके यह लोगों के मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाने के लिए यत्नशील होता है। ४. यह **अपाम्**=प्रजाओं के (आपो नारा इति प्रोक्ताः) **रेतांसि**=शक्तियों को **जिन्वति**=प्रीणित करता है। उनके जीवन में स्वास्थ्य व संयम के महत्त्व को बढ़ाकर यह उन्हें शक्ति-सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—१. राजा को राष्ट्र का अग्रणी बनना है। २. यह राष्ट्र-शरीर का मस्तिष्क बने। ३. प्रजाओं के ज्ञान व स्वास्थ्य का ध्यान करे। ४. प्रजाओं को शक्ति-सम्पन्न बनाये।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अग्नि कौन है? मूर्धा

अयमग्निः सहस्त्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः। मूर्धा कवी रयीणाम्॥२१॥

१. पिछले मन्त्र में कहे गये अग्नि का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः अयम्**=आगे बढ़नेवाला यह वह है जोकि **सहस्त्रिणः**=(स हस्) सदा हास्य व आनन्द से युक्त **शतिनः**=सौ वर्ष तक चलनेवाले **वाजस्य**=बल का **पतिः**=रक्षक है, अर्थात् जो अपनी शक्ति को सौ-के-सौ वर्ष तक स्थिर रखता है और इस शक्ति के कारण ही प्रसन्न जीवनवाला होता है, खिझता नहीं। वीरत्व के कारण virtuous बना रहता है। २. **मूर्धा**=यह शिखर पर पहुँचता है क्योंकि **रयीणां कविः**=धनों का सूक्ष्मदर्शी होता है। धनों के वास्तविक रूप को समझकर वह उनका पति ही बना रहता है, कभी उनका दास नहीं हो जाता। इसे यह भूलता नहीं कि मैं धन का दास बना और मेरा निधन हुआ। धन की दासता ही उन्नति के मार्ग में सर्वाधिक रुकावट है। धन का दास लक्ष्मीपति नारायण को भी भूल जाता है, अतः धनों के तत्त्व को समझे रखना आवश्यक है। इनके स्वरूप को भूलना नहीं चाहिए। यही इनका 'कवि' बनना है। धन के दास न बनकर हम निरन्तर आगे बढ़ते हैं, हमारा ज्ञान बढ़ता है और प्रभु का दर्शन कर हम सर्वोच्च स्थिति में होते हैं।

भावार्थ—हम आनन्दयुक्त शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाली शक्ति के पति हों। शिखर पर पहुँचें। धन के वास्तविक स्वरूप को समझते हुए उसमें उलझें नहीं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अथर्वा

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥२२॥

१. धन में न उलझनेवाला आगे और आगे बढ़ता हुआ **अथर्वा**=धन की चमक से डाँवाँडोल न होनेवाला हे **अग्ने**=सर्वमहान् अग्रणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको **निरमन्थत**=मन्थन करके ग्रहण करता है। जैसे दधि के मन्थन से नवनीत के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी मन्थन से प्रभु का दर्शन होता है। २. कहाँ मन्थन से? **पुष्करादधि**=हृदयान्तरिक्ष में। 'पुष्कर' वह हृदय है जहाँ उत्तमोत्तम भावनाओं का पोषण (पुष्ट) किया गया है (क़र) और जो **पुष्कर**=कमल की भाँति धन के पानी में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।

३. फिर कहाँ से? **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से। जो मस्तिष्क **विश्वस्य वाघतः**=प्रभु की सम्पूर्ण रचना–कृति के ज्ञान को धारण किये हुए है। ५. एवं, प्रभु के ज्ञान के लिए हृदय को उत्तमोत्तम भावनाओं के पोषण से पानी में रहनेवाले कमल की भाँति निर्लेप बनाना चाहिए तथा मस्तिष्क को सब विज्ञानों का वहन करनेवाला। हृदय व मस्तिष्क दोनों का विकास ही प्रभु–दर्शन कराएगा, अतः हम 'मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्–अथर्व०' मस्तिष्क व हृदय दोनों को परस्पर सीं देनेवाले अथर्वा बनें।

भावार्थ–हृदय को हम पुष्कर=कमल बनाएँ, मस्तिष्क को सम्पूर्ण ज्ञान का वाहक और इस प्रकार प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः–परमेष्ठी। देवता–अग्निः। छन्दः–निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः–धैवतः॥

प्रभु-धारक के लक्षण, आत्मद्रष्टा के चिह्न

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्॥२३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु–दर्शन करनेवाला अपने जीवन में **यज्ञस्य**=श्रेष्ठतम कर्मों का **नेता भुवः**=प्रणयन करनेवाला होता है। २. उन यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए ही **रजसः च नेता**=(रजसस्त्वर्थ उच्यते) धन का उत्तम मार्ग से प्रणयन करनेवाला बनता है। 'अग्ने नय सुपथा राये' यह उसकी आराधना होती है। 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'=हम धनों के पति बने रहें। उनके दास बनकर कृपण वृत्तिवाले न हो जाएँ। उनके प्रभु होते हुए यज्ञों में उनका विनियोग करते रहें। ३. परन्तु ऐसा तू तभी कर सकता है **यत्र**=जिस काल में तू–**शिवाभिः**=कल्याण में प्रवृत्त होनेवाले **नियुद्भिः**=इस वायु नामक जीव के इन्द्रियरूप घोड़ों से जोकि सदा निश्चयपूर्वक उत्तम कर्मों में लगाये रक्खे जाते हैं (नि+यु) **सचसे**=युक्त होता है। तू वायु है–आत्मा है (वा गतौ=अत गतौ) ये इन्द्रियाँ तेरे घोड़े हैं। इनको तूने कर्मों में लगाये रखकर 'नियुत्' इस अन्वर्थक नामवाला बनाना है। यह ध्यान रखना है कि ये सदा शिवमार्ग में ही प्रवृत्त हों। ४. तू अपने **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **दधिषे**=धारण करता है। मस्तिष्क को सदा ज्ञान के प्रकाश से व्याप्त रखने के लिए यत्नशील होता है। ५. और **अग्ने**=हे अग्रेणी जीव! तू **जिह्वाम्**=अपनी जिह्वा को **स्वर्षाम्**=(स्वः सनोति) उस देदीप्यमान प्रभु का सम्भजन करनेवाली बनाता है, अथवा जिह्वा को ज्ञान का सेवन करनेवाली करता है और इसी उद्देश्य से ६. **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही वहन करनेवाली **चकृषे**=करता है। यह सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करती है।

भावार्थ–आत्मद्रष्टा पुरुष वह है जो १. यज्ञमय जीवनवाला होता है। २. यज्ञार्थ ही धनार्जन करता है। ३. शिव मार्ग में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों का स्वामी बनता है। ४. मस्तिष्क को ज्ञान में स्थापित करता है। ५. जिह्वा से प्रभु–नामोच्चरण करता है। ६. सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है।

ऋषिः–परमेष्ठी। देवता–अग्निः। छन्दः–निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः–धैवतः॥

उन्नति के चार प्रमाण

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाऽइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ॥२४॥

१. गत मन्त्र का आत्मद्रष्टा जिन प्रयाणों से चलकर उस स्थिति में पहुँचता है, उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **जनानाम्**=(जन् प्रादुर्भाव) प्रादुर्भाव व जीवन का विकास करनेवाले माता-पिता व आचार्यों की **समिधा**=सन्तान में रक्खी गई ज्ञान-दीप्ति से (इन्ध्=दीप्ति) **अग्निः**=अग्नि के समान ज्ञान के प्रकाशवाला युवक **अबोधि**=उद्बुद्ध जीवनवाला बनता है। ब्रह्मचर्याश्रम में यह 'मातृमान् पितृमान् व आचार्यवान् पुरुष' ज्ञान-सम्पन्न हो पाता है। २. अब यह आचार्यकुल से समावृत्त होकर जीवन-यात्रा के दूसरे प्रयाण गृहस्थ में प्रवेश करता है और **प्रति आयतीम् उषासम्**=प्रत्येक आनेवाले उषःकाल में यह **जनानाम्**=सब लोगों के—'ब्रह्मचारी, वनस्थ व संन्यासियों' के लिए **धेनुम् इव**=धेनु के समान होता है। ३. गृहस्थ-भार वहन कर चुकने के बाद सब सन्तानों को यथास्थान स्थापित कर देने पर **इव**=जैसे **यह्वाः**=(महान्तः जातपक्षाः—उ०) उत्पन्न पंखोंवाले पक्षी **वयाम्**=शाखा को छोड़कर आगे बढ़नेवाले होते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ **यह्वाः**=बड़े होकर (यातश्च हूतः च) प्रभु की ओर चलनेवाले व प्रभु को ही पुकारनेवाले होकर **वयाम्**=इस प्रजातन्तु सन्तानवाले आश्रम को **प्रउज्जिहानाः**=प्रकर्षेण छोड़ने की इच्छावाले होते हैं। नहीं छोड़ते तो जैसे पक्षी को उसी के माता-पिता चोचें मारकर निकाल देते हैं, उसी प्रकार यहाँ सन्तानें तङ्ग करके निकलने के लिए बाधित कर देती हैं। ४. अब वानप्रस्थ में निरन्तर स्वाध्याय से **प्रभानवः**=प्रकृष्ट ज्ञान-दीप्तिवाले बनकर **नाकम् अच्छ**=उस क्लेश लव से अपरामृष्ट, पूर्णानन्दमय रस नामवाले प्रभु की ओर **सिस्रते**=बढ़ चलते हैं (प्रसर्पन्ति—द०)। संन्यासी सब उत्तरदायित्वों से निपटकर भूतहित में प्रवृत्त हुआ-हुआ प्रभु की ओर ही तो बढ़ रहा है।

भावार्थ—जीवन के चार प्रयाण=पड़ाव हैं। प्रथम में ज्ञानदीप्त बनना है, द्वितीय में सभी का पालन करना है, तृतीय में घर को छोड़ वनस्थ हो उस प्रभु की ओर चलना है, उसी को पुकारना है और चतुर्थ में प्रकृष्ट दीप्तिवाले होकर प्रभु को पाना है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वन्दारु वचः

अवो॑चाम क॒वये॒ मेध्या॑य॒ वचो॑ व॒न्दारु॑ वृष॒भाय॒ वृष्णे॑।

गवि॑ष्ठिरो॒ नम॑सा॒ स्तोम॑म॒ग्नौ दि॒वी॑व रु॒क्मम॑ुरु॒व्यञ्च॑मश्रेत्॥२५॥

१. जीवन के इन प्रयाणों में चलते हुए हम उस प्रभु के लिए **वन्दारु वचः**=अभिवादन व स्तुति करनेवाला वचन **अवोचाम**=बोलें, जो प्रभु (क) **कवये**=सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले हैं 'कौति सर्वा विद्याः'। (ख) **मेध्याय**=जो पूर्ण पवित्र हैं और अतएव 'मेधृ सङ्गमे'=सङ्गम के योग्य हैं। (ग) **वृषभाय**=जो शक्तिशाली व श्रेष्ठ हैं। (घ) **वृष्णे**=सब सुखों का सेचन करनेवाले हैं। २. **गविष्ठिरः**=वेदवाणी व इन्द्रियों में स्थिर—पूर्ण जितेन्द्रिय व ज्ञानी व्यक्ति **नमसा**=नमन के द्वारा **अग्नौ**=उस अग्रेणी प्रभु में **स्तोमं अश्रेत्**=स्तुति का सम्भजन करता है। प्रभु का स्तवन करनेवाला वही है जो 'गविष्ठिर' है, ज्ञानी व जितेन्द्रिय है, जो विनीतता व नम्रता से युक्त है। ३. यह उसी प्रकार स्तवन करता है **इव**=जैसे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **रुक्मम्**=हिरण्य की भाँति देदीप्यमान ज्ञान की ज्योति को सम्बद्ध करता है। ४. और हाथों में **उरुव्यचम्**=(उरुषु बहुषु विशेषेण अच्छति—द०) बहुतों के कल्याण में प्रवृत्त होनेवाली गति को जोड़ता है। ५. एवं, इस संन्यस्त भक्त के जीवन में वाणी प्रभु नामोच्चारण करती है, हृदय प्रभु-स्तवन करता हुआ उसके प्रति नत होता है—मस्तिष्क

ज्ञान-दीप्ति का आश्रय करता है और हाथ लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—मेरी वाणी प्रभु नाम का उच्चारण करे। हृदय नम्रतापूर्वक प्रभु-स्तवन करता हो, मस्तिष्क प्रभु के साम्राज्य के ज्ञान से दीप्त हो और हाथ अधिक-से-अधिक प्राणियों के हित में लगे हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

(उस प्रभु के लिए) वनेषु चित्रम्

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥२६॥

१. **अयं प्रथमः**=यह आद्य पुरुष—सृष्टि बनने से पहले ही वर्त्तमान स्वयम्भू परमात्मा **इह**=इस मानव-जीवन में **धातृभिः**=धाताओं—लोकहित में लगे व्यक्तियों से **धायि**=धारण किया जाता है। प्रभु का धारण वही कर पाते हैं जो अधिक-से-अधिक लोकहित में प्रवृत्त होते हैं। २. इन धाताओं से अपने हृदयों में उस प्रभु का धारण होता है जो (क) **होता**=सब-कुछ देनेवाला है—उस दाता प्रभु का स्मरण करते हुए ये भी देनेवाले बनते हैं। (ख) **यजिष्ठः**= सर्वाधिक पूज्य है—सबके साथ सङ्गतीकरणवाला है और वस्तुतः संसार के सभी पदार्थों व इन्द्रियादि का देनेवाला है। जिसका दान निरतिशय है। इस प्रभु का स्मरण करते हुए ये भक्त भी अधिक-से-अधिक प्राणियों के सम्पर्क में आते हैं और उनके कष्टों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। (ग) **अध्वरेष्वीड्यः**=हिंसाशून्य महान् यज्ञों में वह प्रभु ही स्तुति के योग्य है। वस्तुतः उस प्रभु की कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण होते हैं। प्रभु का इस रूप में स्मरण करता हुआ भक्त यज्ञों की सफलता में गर्ववाला नहीं हो जाता। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको (क) **अप्नवानः**=उत्तम यज्ञिय कर्मोंवाले और अतएव उत्तम रूपवाले (अप्न=A sacrificial act; shape) **भृगवः**=ज्ञानविदग्ध (भ्रस्ज पाके) तेजस्वी पुरुष **विरुरुचुः**= (रोचयामासुः—म०) अपने हृदय-मन्दिर में दीप्त किया करते हैं। (ख) जो प्रभु **वनेषु**= सम्भजनशील भक्त पुरुषों में (वन=संभक्तौ) अथवा जितेन्द्रिय पुरुषों में (वन्=win) **चित्रम्**= (चित्+र) ज्ञान देनेवाले हैं तथा (२) **विशेविशे**=प्रत्येक प्रजा में **विभ्वम्**=व्यापक रूप से विद्यमान हैं अथवा प्रत्येक व्यक्ति में विभुत्व शक्ति से युक्त हैं। उस-उस को वह-वह शक्ति प्राप्त करा रहे हैं। बुद्धिमानों की वे बुद्धि हैं तो बलवानों के वे बल हैं।

भावार्थ—प्रभु धाताओं से—औरों का धारण करनेवालों से धारण किया जाता है। उपासकों को वे प्रभु ज्ञान देते हैं, वे सबको शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

गोपाः

जनस्य गोपाऽअजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः॥२७॥

१. प्रभु का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **जनस्य**=अपने जीवन में विकास करनेवाले के **गोपाः**=वे प्रभु रक्षक हैं। 'गोपाः' शब्द कुछ ऐसा संकेत करता है कि मनुष्य गौएँ हैं तो प्रभु उनके ग्वाले हैं। २. **जागृविः**=वह रक्षक सदा जागरणशील है—सदा सावधान है। ३. **अग्निः**=वह हमें निरन्तर आगे ले-चल रहा है। ४. **सुदक्षः**=(दक्ष to grow) वह

उत्तमता से उत्साहित करता हुआ हमारी वृद्धि का कारण है। ५. वह **सुवितय**=उत्तम आचरण के लिए और **नव्यसे**=(नु स्तुतौ) स्तुत्य आचरण के लिए **अजनिष्ट**=होता है। जब तक हम उस प्रभु को भूलते नहीं तब तक हमारी जीवन की गाड़ी पथभ्रष्ट नहीं होती। ६. वे प्रभु **घृतप्रतीकः**=दीप्त मुखवाले हैं। अपने इन दीप्तमुखों से वे अपना दीप्त ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को दे रहे हैं' यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'=प्रभु में सब इन्द्रियों के गुणों का आभास ही है—उस निराकार प्रभु के इन्द्रियाँ तो हैं ही नहीं। ७. वे **शुचिः**=पूर्ण पवित्र प्रभु **बृहता**=निरतिशय वृद्धिवाले **दिविस्पृशा**=द्युलोक को स्पर्श करनेवाले, अर्थात् व्यापक ज्ञान से **द्युमद्**=ज्योतिवाले होकर **भरतेभ्यः**=औरों का भरण करनेवालों के लिए, सदा परोपकाररूप यज्ञ करनेवालों के लिए **विभाति**=चमकते हैं, प्रकाशित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन उन भक्तों को ही होता है जो औरों का भरण करनेवाले—यज्ञिय जीवनवाले हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सहसस्पुत्रः

त्वाम॑ग्ने॒ऽअङ्गि॑रसो॒ गुहा॑ हि॒तमन्व॑विन्दञ्छिश्रिया॒णं वने॑वने।
स जा॑यसे म॒थ्यमा॑नः॒ सहो॑ म॒हत् त्वामा॑हुः॒ सह॑सस्पु॒त्रम॑ङ्गिरः ॥२८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी—सर्वोन्नति-साधक प्रभो! **गुहा हितम्**=हृदयरूप निगूढ प्रदेश में स्थित **त्वाम्**=आपको **अङ्गिरसः**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति **अनु अविन्दत्**=आत्मदर्शन के बाद (अनु) प्राप्त करते हैं। जब मनुष्य चित्तवृत्ति का निरोध करके अन्तर्यात्रा करता हुआ अपने स्वरूप में अवस्थित होता है तभी वह प्रभु-दर्शन कर पाता है। २. उस प्रभु को देख पाता है जो **वनेवने**=सब जितेन्द्रिय पुरुषों में तथा (वन= ray of light) ज्ञान के पुञ्ज बने हुए पुरुषों में **शिश्रियाणम्**=अवस्थित हैं, आश्रय किये हुए हैं। जितेन्द्रिय व ज्ञानी पुरुष ही प्रभु का आश्रय बनते हैं। सर्वव्यापकता के नाते सर्वत्र होते हुए भी प्रभु इन्हीं में प्रकट होते हैं। ३. हे प्रभो! **सः**=वे आप **जायसे**=प्रकट होते हैं। कब? जबकि **मथ्यमानः**=वे अङ्गिरस् आपका मन्थन करते हैं। जैसे दो अरणियों की रगड़ से अग्नि प्रकट होती है, इसी प्रकार हृदय व मस्तिष्करूप अरणियों के मन्थन से प्रभुरूप अग्नि का प्रकाश होता है। ४. **सहः महत्**=हे प्रभो! आप महान् बल हो। जिसमें भी आपका प्रकाश होता है, वह आपकी इस शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है। ५. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको **सहसः पुत्रम्**=बल का पुतला=बल का पुञ्ज **आहुः** =कहते हैं। अथवा **सहसः**=बल के द्वारा **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) पवित्र करनेवाला व रक्षा करनेवाला कहते हैं। 'सहस्' सर्वोत्तम शक्ति का वाचक है—यह आनन्दमयकोश का बल है। इसके साथ ही सब गुणों का वास है। इसके होने पर ही मनुष्य में सब उत्तमताओं का विकास होता है। इस 'सहस्' को प्राप्त करनेवाले 'अङ्गिरस्' लोग ही प्रभु का दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम अङ्गिरस् बनें। सहस् व बल का धारण करें। जितेन्द्रिय बनकर ज्ञानी बनें तभी हम हृदयस्थ प्रभु का दर्शन कर पाएँगे।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वर्षिष्ठ व ऊर्जो नपात्

सखा॑यः॒ सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिष॒ᳬ स्तोमं॑ चा॒ग्नये॑।
वर्षि॑ष्ठाय क्षिती॒नामू॒र्जो नप्त्रे॒ सह॑स्वते॥२९॥

१. **सखायः**=ज्ञान-सम्पादन के द्वारा प्रभु के मित्र बननेवालो! **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिए **सम्यञ्चम्**=(सम् अञ्च्) उत्तम पूजन को **इषम्**=गति को **स्तोमं च**=और स्तुति-समूह को **सम्**=(सम्पादयत) सिद्ध करो। प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम देवपूजा की वृत्तिवाले हों—उत्तम गतिवाले हों, प्रभु प्रेरणा को सुनकर तदनुसार कार्य करनेवाले हों और प्रभु के गुणों का स्तवन करते हुए उन्हीं गुणों को धारण करनेवाले बनें। २. उस प्रभु के लिए हम इस पूजा, गति व स्तुति का सम्पादन करें जो **वर्षिष्ठाय**=श्रेष्ठ व वृद्धतम हैं, पुराणपुरुष हैं अथवा अतिशयेन आनन्द की वर्षा करनेवाले हैं। ३. **क्षितीनाम्**=उत्तम निवास व गतिवाले पुरुषों के (क्षि निवासगत्योः) **ऊर्जः नप्त्रे**=बल व प्राणशक्ति के नष्ट न होने देनेवाले हैं (न पतियित्रे), ४. जो प्रभु **सहस्वते**=सहस्वाले हैं। वस्तुतः सहस् के पुञ्ज हैं—सहोरूप हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के साधन 'पूजा, गति व स्तुति' हैं। वे प्रभु १. अग्नि=हमारी उन्नति के साधक है। २. वृद्धतम व सर्वाधिक आनन्द के वर्षक हैं। ३. हमारी शक्तियों को नष्ट न होने देनेवाले हैं तथा ४. सहस् के पुञ्ज हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वृषन्

सᳬसमिद्यु॑वसे वृष॒न्नग्ने॒ विश्वा॑न्य॒र्यऽआ।
इ॒डस्प॒दे समि॑ध्यसे॒ स नो॒ वसू॒न्याभ॑र॥३०॥

१. हे प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **सं सं युवसे**=हम सबको उत्तमता से प्राप्त होनेवाले हो तथा हम सबको परस्पर सङ्गत करनेवाले हो। २. **वृषन्**=आप हमपर सुखों की वर्षा करते हो। ३. **अग्ने**=आप सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। ४. **अर्यः**=स्वामी व परमेश्वर होते हुए आप **विश्वानि**=सब आवश्यक वस्तुओं को **आ** (युवसे)=हमें प्राप्त कराते हो। ५. **इडः पदे**=वाणी के स्थान में **समिध्यसे**=आप समिद्ध होते हो। जितना-जितना हम अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं उतना-उतना आपके अधिकाधिक प्रकाश को देखते हैं। ६. **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **वसूनि**=उत्तम धनों—निवास के लिए आवश्यक पदार्थों को **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—वे प्रभु हमें परस्पर मिलाते हैं। हमपर सुखों की वर्षा करते हैं। हमें उन्नत करते हैं। परमेश्वर होते हुए सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। उस प्रभु का दर्शन ज्ञानवाणियों के अध्ययन से ज्ञान को बढ़ाकर होता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

चित्रश्रवस्तम

त्वां चि॒त्रश्र॑वस्तम॒ हव॑न्ते वि॒क्षु ज॒न्तवः॑।
शो॒चिष्के॑शं पुरुप्रि॒याग्ने॑ ह॒व्याय॒ वोढ॑वे॥३१॥

१. हे **चित्रश्रवस्तम**=(चित्+र, श्रवः=धनम्) ज्ञानयुक्त धन के अतिशयवाले प्रभो!

विक्षु=इस संसार में प्रविष्ट होनेवाले (विश्=to enter) प्राणियों में **जन्तवः**=अपना विकास (जन् प्रादुर्भाव) करनेवाले मनुष्य **त्वां हवन्ते**=तुझे पुकारते हैं। २. हे **पुरुप्रिय**=पालन व पूरण करनेवाले तथा इस पालन व पूरण से ही प्रीणित करनेवाले प्रभो! हे **अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान ज्ञान-रश्मियोंवाले आप (प्रभु) को उपासक **हवन्ते**=पुकारते हैं। ३. **हव्याय**=हव्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए, सात्त्विक भोजन के लिए और **वोढवे**=वहन के लिए। जैसे जब बच्चा थक जाता है तो माँ उसे उठा लेती है, इसी प्रकार पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त आपसे वहन किये जाने के लिए। आप ही मेरा वहन करेंगे तभी मैं लक्ष्य-स्थान पर पहुँच पाऊँगा।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हम विकास के मार्ग पर चलें, सदा आपकी आराधना करें। आपसे ज्ञान व धन प्राप्त करके हम आगे बढ़ें। आपकी कृपा से हमें सात्त्विक अन्न प्राप्त हो और आपसे लक्ष्य स्थान पर पहुँचाये जाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऊर्जो नपात् व चेतिष्ठ

एना वोऽअग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳस्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥३२॥

१. **एना नमसा**=इस नमन के द्वारा **आहुवे**=मैं पुकारता हूँ। नम्र हुआ मैं नतमस्तक होकर उस प्रभु की प्रार्थना करता हूँ जो २. **वः अग्निम्**=तुम सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। ३. **ऊर्जो नपातम्**=शक्ति को नष्ट न होने देनेवाले हैं। ४. **प्रियम्**=प्रीणित करनेवाले हैं, जिनको पाकर जीव एक तृप्तिकर आनन्द का अनुभव करता है। ५. **चेतिष्ठम्**=अतिशयेन ज्ञान-सम्पन्न हैं और अपने उपासकों को ज्ञान देनेवाले हैं। ६. **अरतिम्**=(रतिः उपरमः तद्रहितम्—म०) सदा उद्योगयुक्त हैं 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'=जिनकी क्रिया स्वाभाविक है। ७. **स्वध्वरम्**=उत्तम यज्ञोंवाले हैं। जीवों से किये जानेवाले सब यज्ञ उस प्रभु की कृपा से ही सिद्ध होते हैं। ८. **विश्वस्य दूतम्**=सबके प्रेरक है (messenger) अथवा सबके दोषों को दूर करनेवाले तथा धर्मार्थमोक्ष को प्राप्त करानेवाले हैं। (यो दोषान् दुनोति दूरीकरोति धर्मार्थमोक्षान् प्रापयति वा—द० ६।१५।९) जो अविद्या के पार ले-जानेवाले हैं (ऋ० ३।१२।२ अविद्यायाः पारे गमयिता) अथवा सब दुःखों का निवारण करनेवाले हैं। (दूतः वारयतेः—नि० ५।१) ९. **अमृतम्**=वे प्रभु अमृत हैं। उनको पाकर मनुष्य मृत्यु से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—वे प्रभु हमें आगे ले-चलते हैं, हमें अक्षीण शक्ति बनाते हैं, प्रीति को देनेवाले हैं, सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं, सदा सहायता के लिए उद्यत हैं, हमारे सब यज्ञ उन्हीं की कृपा से पूर्ण होते हैं, सब कष्टों व अज्ञानों को दूर करनेवाले व अमर हैं। हम उन्हीं को पुकारें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

विश्व का दूत

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम्।
स योजतेऽअरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः॥३३॥

१. वे प्रभु **विश्वस्य दूतम्**=(दूतः जवतेर्वा द्रवतेर्वा—वारयतेर्वा—नि० ५।१) सम्पूर्ण

संसार को गति देनेवाले हैं, सम्पूर्ण संसार के सञ्चालक हैं, सबके कष्टों व अज्ञानों का निवारण करनेवाले हैं। **अमृतम्**=इस प्रकार अमृतत्व को देनेवाले हैं। २. वे प्रभु सचमुच ही **विश्वस्य दूतम्**=विश्व के प्रेरक हैं **अमृतम्**=अमर प्रेरक हैं। ३. वे हमारे इन शरीररूप रथों में **अरुषा**=(अकोपनौ) क्रोधशून्य, अर्थात् सरल व **विश्वभोजसा**=सबका पालन करनेवाले ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **योजते**=जोड़ते हैं। कर्मेन्द्रियाँ अरुष हैं 'ऋच्छति अध्वानम्'=ये सरलता से मार्ग पर चल रही हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक वस्तु का ज्ञान देकर पालन करनेवाली हैं। ४. **सः**=वे प्रभु **स्वाहुतः**=(शोभनप्रकारेण हुतः—उ०) उत्तमता से आत्मार्पण किया हुआ अथवा (शोभनाह्वानः—द०) उत्तमता से पुकारा हुआ **दुद्रवत्**=शीघ्रता से प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें व उसे पुकारें तो प्रभु सहायता के लिए सदा उपस्थित होते हैं। वे हमारे शरीर-रथ में शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाले व ज्ञान-प्रकाश द्वारा पालक इन्द्रियाश्वों को जोतते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

स्वाहुतः दुद्रवत् देवराधः

स दु॒द्रव॒त् स्वाहु॑तः स दु॒द्रव॒त् स्वाहु॑तः।

सु॒ब्रह्मा॑ य॒ज्ञः सु॒शमी॒ वसू॑नां दे॒वꣳराधो॒ जना॑नाम्॥३४॥

१. **सः**=वह **स्वाहुतः**=उत्तमता से समर्पण किया हुआ, अथवा उत्तमता से पुकारा हुआ प्रभु **दुद्रवत्**=शीघ्रता से प्राप्त होता है। **स्वाहुतः स दुद्रवत्**=पुकारा हुआ वह प्राप्त होता ही है। ये शब्द ठीक ही हैं कि 'knock, and it will be opened to you' खटखटाओ और यह दरवाज़ा तुम्हारे लिए खुलेगा ही। २. प्रभु वहाँ अवश्य पहुँचते हैं, जहाँ **वसूनाम्**=इस शरीररूपी देवाश्रम में उत्तमता से निवास करनेवालों का **सुब्रह्मा**=उत्तम ज्ञानियों से युक्त अथवा (शोभनं ब्रह्म यस्मिन्) उत्तम ज्ञान से युक्त **सुशमी**=(शमी=कर्म) उत्तम कर्मोंवाला **यज्ञः**=यज्ञ प्रवृत्त होता है, अर्थात् जहाँ एक व्यक्ति युक्ताहार-विहार के द्वारा शरीर को नीरोग बनाता है, मस्तिष्क को ज्ञान-परिपूर्ण करता है तथा हाथों द्वारा सदा उत्तम कर्मों में लगा रहकर जीवन को एक यज्ञ ही बना देता है, वहाँ प्रभु अवश्य उपस्थित होते हैं। ३. फिर प्रभु वहाँ अवश्य उपस्थित होते हैं जहाँ कि **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवालों का **देवं राधः**=दिव्य व्यवहार से सिद्ध किया हुआ धन होता है। आसुर लोग ही अन्याय से अर्थसञ्चय के लिए यत्नशील होते हैं। दैवी प्रवृत्तिवाले लोग देवयान से, देवोचित व्यवहारों से ही **राधः**=कार्य-साधक धन जुटाते हैं। जहाँ धन न्याय-मार्ग से ही प्राप्त करने की वृत्ति होती है, वहीं प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु को वही पाता है जो १. स्वस्थ व ज्ञानी बनकर क्रियाशील होता है और इस प्रकार जीवन को एक यज्ञ बना देता है। तथा २. जो अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ देवोचित न्यायमार्ग से व्यवहार-साधक धन कमाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

गोमत वाज

अग्ने॒ वाज॑स्य॒ गोम॑त॒ऽईशा॑नः सहसो यहो।

अ॒स्मे धे॑हि जातवेदो॒ महि॒ श्रवः॑॥३५॥

१. हे **अग्ने**=सर्वोन्नति साधक प्रभो! हे **सहसः यहो**=बल के पुत्र, शक्ति के पुञ्ज प्रभो! आप **गोमतः**=उत्तम गौवोंवाले, उत्तम गौवें के द्वारा गोदुग्ध युक्त **वाजस्य**=शक्तिप्रद अन्न के **ईशानः**=ईश हैं—स्वामी हैं। २. अतः आप कृपा करके **अस्मे धेहि**=हमारे लिए इस गोदुग्ध युक्त अन्न को दीजिए। गो-दुग्ध से हमारे अन्दर सात्त्विकता की वृद्धि हो तो शक्तिप्रद अन्न से हमारे शरीर पुष्ट हों। इस गोदुग्ध युक्त पौष्टिक अन्न को प्राप्त करके हमारे मस्तिष्क ज्ञान से इस प्रकार चमकें जैसे अग्नि चमकती है, और हमारे शरीर सबल होकर हमें भी सहसस्पुत्र=शक्ति-पुञ्ज बनाएँ। ३. हे **जातवेदः**=सम्पूर्ण ज्ञान के उत्पत्ति-स्थल प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए आप **महि श्रवः**=महनीय अन्न प्राप्त कराइए (श्रवः=अन्ननाम्—नि० १०।३) उसके सेवन के द्वारा हमारे जीवन को प्रशंसनीय बनाइए (श्रवः प्रशंसा—नि० ४।२४) और आपकी कृपा से हम महनीय धन को (श्रवः=धनम्—नि० २।१०) प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हम गोदुग्ध का सेवन करें, शक्तिप्रद अन्नों का प्रयोग करें। इस संसार में उत्तम अन्न के द्वारा प्रशंसित जीवनवाले हों तथा प्रशस्त मार्ग से ही धन कमाएँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

धन+ज्ञान

सऽइ॑धा॒नो वसु॑ष्क॒विर॒ग्निरी॒डेन्यो॑ गि॒रा। रे॒वद॒स्मभ्यं॑ पुर्वणीक दीदिहि ॥३६॥

१. **सः**=वह प्रभु **इधानः**=स्वभावतः ही ज्ञान से दीप्यमान हैं। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। प्रभु स्वयं ज्ञान से दीप्त हैं। जीव को ज्ञान से दीप्त करते हैं। २. **वसुः**=ज्ञान देकर वे हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं। ३. **कविः**=(कौति सर्वा विद्याः) वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देते हैं। ४. विद्योपदेश देकर ही वे **अग्निः**=हमारी सब प्रकार की उन्नति को सिद्ध करते हैं, अग्रेणी होते हैं। ५. वस्तुतः ये प्रभु ही **गिरा**=इन सब वेदवाणियों से **ईडेन्यः**=स्तुति के योग्य हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** यह उपनिषद् वाक्य यही तो कह रहा है कि सारे वेद उस प्रभु का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**= सारी ऋचाएँ उस परम अक्षर में ही निषण्ण होती हैं। ६. हे **पुर्वणीक**=अनन्त सैन्य बलवाले प्रभो! अथवा पालक व पूरक बलवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रेवत्**= धनवाले होकर **दीदिहि**=दीप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से मैं धन प्राप्त करूँ, परन्तु मेरा वह धन ज्ञान की दीप्तिवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें धन दीजिए। धन के साथ प्रकाश भी प्राप्त कराइए।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

तिग्म-जम्भ—रक्षो-दहन

क्ष॒पो रा॑जन्नु॒त त्मनाग्ने॒ वस्तो॑रु॒तोषसः॑। स ति॑ग्मजम्भ र॒क्षसो॑ दह॒ प्रति॑ ॥३७॥

१. हे **तिग्मजम्भ**=(तिग्म—वज्र) वज्र के समान दंष्ट्रावाले अथवा तीक्ष्ण दंष्ट्रावाले! **राजन्**=राष्ट्र के जीवन को व्यवस्थित करनेवाले राजन्! **अग्ने**=राष्ट्र को उन्नत करनेवाले अग्रेणी! **सः**=वे आप **त्मना**=स्वयं **क्षपः**=रात्रि में (नि० १।७) उत=और **वस्तोः**=दिन में (नि० १।९) **उत**=और **उषसः**=उषःकालों में **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले लोगों को **प्रतिदह**=एक-एक को भस्म कर दीजिए। २. यहाँ 'तिग्मजम्भ' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि राजा को राक्षसी वृत्तिवालों के लिए तीव्र दण्डवाला होना है। ३. राजा ने उचित दण्ड-व्यवस्था के द्वारा प्रजा के जीवन को व्यवस्थित (regulated) करना है।

तभी तो वह 'राजा' कहलाने के योग्य होगा। ४. प्रजा के व्यवस्थित जीवन के द्वारा राष्ट्र की उन्नति करनेवाला, राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला यह राजा 'अग्नि' है। ५. यह सब कार्य उसे स्वयं करना है। ऐसा संकेत 'त्मना' शब्द कर रहा है। कर्मचारी वर्ग पर कार्यभार डालकर वह स्वयं आमोद-प्रमोद में ही न फँस जाए। ६. राजा ने अपने इस कार्य में क्या दिन क्या रात व क्या उषःकाल सदा लगे रहना है। उसे तो 'जागृवि' बनना है। सदा जागते रहकर प्रजा का हित-साधन करना है। ७. ऐसी सब व्यवस्था होने पर ही राष्ट्र में राक्षसी वृत्ति के लोग नहीं पनप पाते और राष्ट्र दिन-ब-दिन उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—राजा यथार्हदण्ड होकर राष्ट्र में राक्षसी वृत्ति का अन्त करे। इस सुरक्षित राष्ट्र में सब व्यक्ति उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

समर्पण-दान-यज्ञ-स्तवन

भद्रो नोऽअग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रोऽअध्वरः।
भद्राऽउत प्रशस्तयः ॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार उत्तमता से शासित और अतएव शान्त राज्य में सब आश्रमवासी अपने-अपने कार्य में दत्तचित्त हों, और स्वकर्त्तव्य पालन के द्वारा कल्याण व सुख का सम्पादन करें। २. ब्रह्मचारियों की प्रार्थना यह हो कि **अग्निः**=मातारूपी दक्षिणाग्नि, पितारूप गार्हपत्याग्नि, आचार्यरूप आहवनीयाग्नि **आहुतः**=आहुत हुआ-हुआ **नः**=हमारे लिए **भद्रः**=कल्याण व सुख देनेवाला हो। हम माता-पिता व आचार्य के प्रति समर्पण कर अपना कल्याण सिद्ध करें। हम इन अग्नियों के पूर्ण अनुकूल होंगे तो अपना कल्याण अवश्य सिद्ध कर पाएँगे। माता हमें चरित्रवान् बनाएगी तो पिता आचारवान् तथा आचार्य ज्ञानवान्। इस प्रकार से तीनों हमारे जीवन को भद्र बनाएँगे। ३. अब गृहस्थ प्रार्थना करता है कि हे **सुभग**=उत्तम ऐश्वर्यवाले प्रभो! इस गृहस्थ में **रातिः**=दान की वृत्ति **भद्रा**=हमारा कल्याण करनेवाली हो। हम धन को अपना समझें ही नहीं। वास्तव में तो यह धन है ही आपका। इस बात का स्मरण करते हुए हमें दान में किसी प्रकार का संकोच न हो। हम अपने को आपके इस धन का ट्रस्टी=धरोहर-रक्षक ही समझें और सदा दान देते हुए विषय-वासनाओं से बचकर अपने कल्याण को सिद्ध करें ४. अब तृतीयाश्रम में वनस्थ होकर हम चाहते हैं कि **अध्वरः**=हिंसा के लवलेश से शून्य यह यज्ञ **भद्रः**=हमारा कल्याण करे। वनस्थ होकर अन्य सब सम्भारों को छोड़कर हम 'अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्'=अग्निहोत्र व अग्निहोत्र के अन्य साधनभूत पात्रों को लेकर ही वनस्थ हों। वानप्रस्थ में भी यज्ञों को विधिवत् करते रहें। इन यज्ञों से अपने जीवन को सदा पवित्र और कल्याणमय बनाये रक्खें। ५. **उत**=और अब चतुर्थाश्रम में **प्रशस्तयः**=हमारे से दिन-रात की गई प्रभु की प्रशस्तियाँ **भद्रः**=हमारा कल्याण करें। हम श्वास-प्रश्वास के साथ प्रभु के गुणों का गान करें। उन गुणों के अनुरूप अपने जीवन को बनाने का निश्चय करके हम अपने कल्याण-सम्पादन में समर्थ हों।

भावार्थ—ब्रह्मचारी का मूलमन्त्र 'माता-पिता व आचार्य के प्रति अर्पण' हो। गृहस्थ का दान, वनस्थ का यज्ञ तथा संन्यास का प्रभु-स्तवन ही मुख्य ध्येय हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

वृत्र-तूर्य

भुद्राऽ उत प्रशस्तयो भुद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये । येना सुमत्सु सासहः ॥३९॥

१. **भद्राः उत प्रशस्तयः**=उस प्रभु की प्रशस्तियाँ तो निश्चय से हमारा कल्याण करें ही। २. हे उपासक! तू प्रभु-शक्तियों से **भद्रम्**=उत्तम बने हुए **मनः**=अपने मन को **वृत्रतूर्ये**=पाप के नाश के लिए अथवा बुरी वृत्तियों से संग्राम के लिए **कृणुष्व**=कर। अपने मन में दृढ़ निश्चय कर कि मुझे इस अध्यात्मसंग्राम में काम, क्रोध, लोभ का—ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का संहार (तूर्य—वध) करना है। ३. **येन**=जिस दृढ़ निश्चय के होने से ही **समत्सु**=संग्रामों में **सासहः**=तू शत्रुओं का पराभव करता है। ढिलमिल विचार हमें किसी भी कार्य में सफल नहीं बनाता। दृढ़ निश्चय ही—संकल्प ही वह शक्ति देता है जिससे शक्तिशाली बनकर हम शत्रुओं का शातन कर पाते हैं। ४. एवं, कामादि के पराजय के लिए दो बातें बड़ी आवश्यक हैं। (क) स्तवन तथा (ख) मन में इनके नाश के लिए दृढ़ संकल्प।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करें। मन को उत्तम बनाएँ। दृढ़ निश्चय करके कामादि से संग्राम में उनका पराजय करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

विजय

येना सुमत्सु सासहोऽव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम् ।
वनेमा तेऽअभिष्टिभिः ॥४०॥

१. हे प्रभो! हमें गत मन्त्र में वर्णित वह 'भद्र मन' दीजिए **येन**=जिससे **समत्सु**=संग्रामों में **सासहः**=शत्रुओं का पराभव कर सकें। २. आप कृपा करके **भूरि शर्धताम्**=नाना प्रकार से प्रभूत बल प्राप्त कराते हुए (अभिबलायमानानाम्—उ०) इन काम, क्रोध व लोभादि के **स्थिरा**=स्थिर धनुषों को **अवतनुहि**=ज्या-(डोरी)-रहित कर दीजिए, अर्थात् इनकी शक्ति को क्षीण कर दीजिए। इस पञ्चबाण (काम) के बाण मुझपर चल ही न सकें, इस प्रकार इसके धनुष को ढीला कर दीजिए। ३. हे प्रभो! **ते अभिष्टिभिः**=तेरे द्वारा इन कामादि पर किये गये आक्रमणों से **वनेम**=हम विजयी बनें (वन्=win) अथवा **अभिष्टिभिः**=अभीष्ट यागों के द्वारा **ते वनेम**=तेरा सम्भजन करें। यज्ञों के द्वारा हम आपका उपासन करें और 'त्वया स्विद् युजा वयम्'=आपको अपना साथी पाकर हम इन क्रोधादि का पराजय करने में समर्थ हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से अत्यन्त प्रबल भी इन काम, क्रोध आदि को हम जीतनेवाले बनें। इन अभिबलायमान कामादि के अस्त्र शिथिल हो जाएँ और हम इन्हें पराजित कर सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्निः अस्तम्

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।
अस्तमर्वन्तऽआशवोऽस्तं नित्यासो वाजिनऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर ॥४१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कामादि का पराजय करके **यः**=जो **वसुः**=शरीर में अपने

निवास को उत्तम बनाता है, अर्थात् शरीर को व्याधियों से शून्य और मन को आधियों से रहित करता है **तम्**=उसी वसु को **अग्निं मन्ये**=मैं अग्नि मानता हूँ, उसी को उन्नतिशील कहता हूँ। प्रभु की दृष्टि में अग्नि वही है जो आधि-व्याधिशून्य जीवनवाला है। २. ये 'अग्नि' जिन घरों में उत्पन्न होते हैं, उन घरों का लक्षण करते हुए कहते हैं कि **अस्तम्**=मैं घर उसी को कहता हूँ **यम्**=जिसकी ओर **धेनवः**=गौवें **यन्ति**=आती हैं। गृहसूक्त के शब्द स्मरणीय हैं कि 'आ धनेवः सायमास्पन्दमानाः' घरों में सायंकाल उछलती-कूदती गौवें आएँ। ३. **अस्तम्**=घर उसे मानता हूँ जिसमें **आशवः**=शीघ्रता से मार्गों के व्यापनेवाले **अर्वन्तः**=घोड़े **यन्ति**=जाते हैं। घरों में गौवे हों, घोड़े हों। गौवें सात्त्विकता की वृद्धि का कारण बनती हैं तो घोड़े शक्ति की वृद्धि में साधन बनते हैं। ४. **अस्तम्**=घर वह है जिसमें **नित्यासः वाजिनः**=स्थिर शक्ति देनेवाले अन्न प्राप्त होते हैं। (नि=in, त्य=होनेवाले, अर्थात् स्थिर पौष्टिक, वाज=शक्ति) ५. हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे वे स्तोता मन्त्र-वर्णित घर को ही बनानेवाले हों और उन घरों में 'अग्नि' बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—घर वही है, जिसमें १. दुधारू गौवें आती हैं। २. तीव्र गतिवाले घोड़े आते हैं, और ३. सदा यज्ञ की वृत्तिवाले लोग आते हैं। इन घरों में रहनेवाला **अग्नि**=उन्नतिशील पुरुष वही है जिसने अपने को पूर्ण स्वस्थ बनाकर उत्तमता से निवास किया है।

सूचना—'नित्यासः वाजिनः' का अर्थ यह भी हो सकता है कि सदा यज्ञिय कर्मों के करनेवाले (वाज =A sacrificial act)।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीपंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्नि

सोऽअग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सꣳसुजातासः सूरयऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर॥४२॥

१. **सः अग्निः**=उन्नतिशील पुरुष वह है **यः**=जो **वसुः**=उत्तम निवासवाला है। २. **गृणे** (गृणाति)=जो नित्य प्रभु का स्तवन करता है। ३. **यम्**=जिसको **धेनवः**=दुधारू गौवें **समायन्ति**=सम्यक्तया प्राप्त होती हैं। ४. **रघुद्रुवः**=(लघुद्रवाणाः) शीघ्र गतिवाले **अर्वन्तः**=घोड़े **समायन्ति**=प्राप्त होते हैं, और जिसे ५. **सुजातासः**=शोभन जन्मवाले अथवा उत्तम विकासवाले **सूरयः**=विद्वान् लोग **समायन्ति**=प्राप्त होते हैं। ६. हे प्रभो! आप इन अग्नि बनानेवाले **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा **आभर**=प्राप्त कराइए, जिससे उस प्रेरणा के अनुसार चलते हुए ये सचमुच अग्नि बन सकें।

भावार्थ—उन्नतिशील व्यक्ति के लक्षण ये हैं। १. स्वस्थ बनता है, शरीर में उत्तम निवासवाला होता है। २. गौवों के दुग्ध का प्रयोग करता है। ३. विकासशील विद्वानों का सङ्ग करता है। ४. प्रभु-स्तवन के द्वारा प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अग्निहोत्र

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीषऽआसनि।
उतो नऽउत्पुपूर्याऽउक्थेषु शवसस्पतऽइषꣳस्तोतृभ्यऽआ भर॥४३॥

१. हे **सुश्चन्द्र**=(शोभनं चन्दति आह्लादते आह्लादयति वा) उत्तम आनन्द को प्राप्त करने व करानेवाले स्तोतः! तू **उभे**=दोनों सन्ध्याकालों में **सर्पिषः दर्वी**=घृत की भरी कड़छियों को **आसनि**=अग्निकुण्ड में—प्रज्वलित अग्नि के मुख में **श्रीणीषे**=(श्रयसि आश्लेषसि—उ०) आश्रित करता है, अर्थात् घृत से अग्निहोत्र करता है। २. इस प्रकार प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए तू यही प्रार्थना करता है कि हे अग्ने! **उत उ**=और अब तू भी **नः**=हमें **उत्पुपूर्याः**=(उत्कर्षेण अन्नादिभिः पूरय—म०) उत्कृष्ट अन्नादि से पूर्ण करनेवाला हो। 'देहि मे ददामि ते'—'तू मुझे दे तो मैं भी तुझे देता हूँ,' इस अपनी प्रतिज्ञा को तू अब पूरा कर। वस्तुतः अग्निहोत्र में डाला हुआ घृतादि पदार्थ नष्ट न होकर सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर सारे वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है। वह वृष्टि-बिन्दुओं का केन्द्र बनकर इस पृथिवी पर आता है और अन्न के एक-एक कण को पौष्टिक बना देता हे। ३. **उक्थेषु**=स्तुतियों के होने पर स्तोताओं में **शवसस्पते**=बल की रक्षा करनेवाले प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—नियम से अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति सदा आनन्दमय जीवनवाला व सौमनस्यवाला होता है। वह अग्निहोत्र से अपने अन्न-भण्डारों को पूर्ण करता है और प्रभु-स्तवन से सशक्त बनता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

स्तुति+यज्ञ—शक्ति+उत्तम-संकल्प

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रꣳहृदिस्पृशम्।
ऋध्यामा तऽओहैः॥४४॥

१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **ते ओहैः**=(तव प्रापणैः) आपको प्राप्त करानेवाले **स्तोमैः**=स्तुतिसमूहों के साथ **अद्य**=आज हम **तम्**=उस—गत मन्त्र में वर्णित यज्ञ को **ऋध्याम्**=समृद्ध करें। २. उसी प्रकार समृद्ध करें **न**=जैसे (न=इव) **अश्वम्**=क्रियाओं में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों को। 'इन्द्रियाणि हयानाहुः'=हमारे इन्द्रियरूप अश्व खूब शक्तिशाली हों। ३. हम यज्ञ को उसी प्रकार समृद्ध करें **न**=जैसे **हृदिस्पृशम्**=(हृदिस्पृशति इति) हृदय में जँच जानेवाले **भद्रम्**=शुभ **क्रतुम्**=संकल्प को। हमारे संकल्प शुभ तो हों ही, ऐसे शुभ हों कि सुननेवाले को भी जँचें, उसके हृदय पर उनका उत्तम प्रभाव हो। ४. एवं, मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट हैं कि (क) हम स्तुति करें, वह स्तुति जो हमारे जीवनों में एक विशिष्ट परिवर्तन लाकर हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली हो। (ख) इन स्तुतियों के साथ हम पिछले मन्त्र में वर्णित यज्ञ को सिद्ध करनेवाले हों। (ग) इन स्तुतियों व यज्ञों के द्वारा हम अपनी इन्द्रियों को उत्तम शक्ति-सम्पन्न बनाएँ और (घ) साथ ही प्रभु-स्तवन व यज्ञों के कारण हमारे संकल्प भी सदा उत्तम हों, सुननेवाला भी उनकी प्रशंसा करे।

भावार्थ—हम स्तुति करें, यज्ञमय जीवनवाले हों, हमारी इन्द्रियाँ सशक्त हों, संकल्प उत्तम हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

संकल्प+बल+यज्ञ

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ॥४५॥

१. हे **अग्ने**=हमारे जीवन के अग्रेणी प्रभो! आप **अद्य**=अब हमारे स्तवन के बाद **हि**=निश्चय से **भद्रस्य क्रतोः**=शुभ संकल्प, प्रज्ञान व यज्ञरूप कर्म के **रथीः**=सारथि के समान निर्वाहक होते हो। आप हमें शुभ संकल्प, प्रज्ञान व कर्म प्राप्त कराते हो। (क्रतु=संकल्प, प्रज्ञान, कर्म—नि० ३।५)। २. आप **दक्षस्य**=उस बल के (नि० २।५) भी प्राप्त करानेवाले हो जो बल **साधोः**=(साध्नोति) लोकरक्षा व परहित को सिद्ध करनेवाला होता है, आप हमें वह शक्तिं देते हैं जो सदा उत्तम कार्यों की साधिका होती है और लोकरक्षण में विनियुक्त होती है। ३. आप उत्तम संकल्प व साधक शक्ति प्राप्त कराके **बृहतः**=सदा वृद्धि के कारणभूत **ऋतस्य**=यज्ञ के (नि० ८।२) और वस्तुतः सब ठीक कर्मों के **रथीः**=निर्वाहक **बभूथ**=होते हो।

भावार्थ—प्रभु हमें १. भद्र क्रतु=उत्तम संकल्पवाला बनाते हैं। २. कार्यसाधक शक्ति प्राप्त कराते हैं। ३. संकल्प और शक्ति प्रदान कर हमारी वृद्धि के कारणभूत यज्ञों के निर्वाहक होते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए पाँच बातें

एभिर्नोऽअर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः।
अग्ने विश्वेभिः सुमनाऽअनीकैः ॥४६॥

१. प्रभु कहते हैं कि **एभिः नः अर्कैः**=(अर्को मन्त्रः, अर्चन्त्येनन)=इन हमारे मन्त्रों के द्वारा—सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान के रूप में दिये गये इन मन्त्रों से तू **नः भव**=हमारा बन। प्रभुभक्त की सर्वोत्तम पहचान यही होनी चाहिए कि वह प्रभु की दी गई वाणी को पढ़ता हो। २. इस वाणी से ज्ञान प्राप्त करके तू **अर्वाङ्**=नीचा—नम्र बन। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति' ज्ञान से मनुष्य नम्र बनता ही है। 'विद्या ददाति विनयम्'=विद्या विनय देती है। 'अहंभावोदयाभावो ज्ञानस्य परमावधिः' ज्ञान की चरम सीमा अहंकार का नितान्त अभाव ही है। मूर्ख ही सर्वज्ञता का गर्व करता है। ज्ञानी अपने ज्ञान की सीमा व अल्पता को समझता हुआ गर्वित नहीं होता। ३. **स्वः न ज्योतिः**=(स्वः आदित्यः—म०) इस नम्रता के परिणामस्वरूप सूर्य के समान देदीप्यमान तेरा ज्ञान हो, अथवा तू स्वर्ण के समान चमकते हुए ज्ञानवाला हो। ४. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विश्वेभिः अनीकैः**=सम्पूर्ण तेजस्विताओं के साथ (अनीक=splendour, brilliance तेजस्) तू **सुमनाः**=उत्तम मनवाला हो, अर्थात् स्वस्थ तेजोमय शरीर में तू उत्तम स्वस्थ मनवाला बन।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए मन्त्र में पाँच बातों का संकेत है। १. वेद-मन्त्राध्ययन, २. नम्रता, ३. सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त होना औरों को भी अपने जीवन से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराना, ४. तेजस्विता और ५. सौमनस्य।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

होता 'अग्नि' का लक्षण

अग्निꣳहोतारं मन्ये दास्वन्तं वसुꣳसूनुꣳसहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्। यऽऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा। घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः ॥४७॥

१. **अग्निं मन्ये**=मैं उसको अग्नि=उन्नतिशील—अग्रेणी मानता हूँ जो **होतारम्**=(हु दानादनयोः) सदा दानपूर्वक अदन करता है, यज्ञशेष का ही सेवन करता है। **'केवलाघो भवति केवलादी'** इस बात को भूल नहीं जाता। **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** इस आदेश का पालन करता है। २. **दास्वन्तम्**=दानवन्तम्=जिसके जीवन में दान की वृत्ति कभी उच्छिन्न नहीं होती। ३. **वसु**=(वसति, वासयति) जो स्वयं उत्तम निवासवाला होता हुआ औरों के भी उत्तम निवास का कारण बनता है। ४. विलासवृत्ति से बचे रहने के कारण **सहसः सूनुम्**=जो बल का पुत्र—शक्ति का पुञ्ज बनता है। ५. **जातवेदसम्**=जीवन-यात्रा के लिए (जातं वेदो यस्मात्, वेदा धनम्) उचित धन को उत्पन्न करनेवाला है। ६. धनोत्पादन के साथ ही **विप्रं न**=यह विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ब्राह्मण के समान है और इसने **जातवेदसम्**=अपने में ज्ञान का विकास किया है। और ७. **यः**=ज्ञान से दीप्त जो **देवः**= दिव्य गुणोंवाला अग्निपुरुष **ऊर्ध्वया**=उत्कृष्ट, अर्थात् सात्त्विक **देवाच्या**=देवों की ओर ले-जानेवाले (देवान् अञ्चति) **कृपा**=सामर्थ्य से (कृपू सामर्थ्ये) **स्वध्वरः**=सदा उत्तम अहिंसात्मक कर्मों को करनेवाला होता है। दिव्य गुणोंवाला तथा शक्ति-सम्पन्न बनकर यह शक्ति का प्रयोग हिंसा में नहीं करता। इसकी शक्ति इसे देव बनाती है नकि असुर। ८. **आजुह्वानस्य**= (आहूयमानस्य—उ०) शरीर की वैश्वानर अग्नि में आहुति दिये जाते हुए, दानपूर्वक अदन किये जाते हुए, **सर्पिषः**=घृत की **शोचिषा**=दीप्ति से, अर्थात् 'घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व' इस वेदोपदेश के अनुसार घृत के उचित प्रयोग से शरीर को कान्ति-सम्पन्न बनाने से **घृतस्य**=मन की मलिनताओं के विनाश (क्षरण) तथा ज्ञान की दीप्ति की (घृ क्षरणदीप्तयोः) **विभ्राष्टिम् अनुवष्टि**=विशिष्ट चमक के बाद यह अग्नि प्रभु को प्राप्त करने की कामना करता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए निम्न बातें चाहिएँ—१. होता व दानशील बनना। २. उत्तम निवासवाला व शक्ति का पुञ्ज बनना। ३. उचित धनार्जन व खूब ज्ञानार्जन करना। ४. शक्तिशाली व देव बनकर अहिंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त होना। ५. घृत प्रयोग से शरीर को स्वस्थ बनाना और ज्ञान-दीप्ति से प्रभु-दर्शन की कामना करना।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अग्नि की अग्नि से प्रार्थना, He knocks

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳरयिन्दाः।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥४८॥

१. गत मन्त्र का अग्नि=प्रगतिशील जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **त्वं नः अन्तमः**=आप ही हमारे अन्तिकतम मित्र हो। सभी साथ छोड़ जाएँ तो भी आप सदा साथ होते हो। मैं आपका मित्र बनूँ या न बनूँ आप तो मेरे मित्र हो ही। २. **उत**=और **त्राता**=आप ही रक्षक हो। उचित अन्नादि प्राप्त कराके आप ही मेरा त्राण करते हो। ३. **शिवः**=आप सदा मेरा कल्याण करते हो। ४. **वरूथ्यः**=आप मेरे उत्तम आच्छादन (cover) **भव**=हो। 'अमृतोपस्तरणं, अमृतापिधानम्'=आप अमृत उपस्तरण व अपिधान हो। आपको अपना आवरण पाकर ही तो मैं 'सत्य, यश व श्री' को प्राप्त किया करता हूँ। ५. **वसुः**=इस प्रकार आप मेरे निवास को उत्तम बनाते हो। वस्तुतः मैं आपमें ही निवास पाता हूँ। ६. **अग्निः**=आप सब प्रकार से मुझे आगे ले-चलते हो। ७. आप **वसुश्रवाः**=निवास के

लिए आवश्यक धनों के देनेवाले हो। (श्रवः=धन–नि० २।२०) आप ही निवास के लिए आवश्यक अन्नों को देते हो (श्रवः=अन्न–नि० १०।३) ८. **अच्छ**=आप सदा मेरी ओर आते हो, आते ही नहीं **नक्षि**=(knock at) मेरे द्वार को खटखटाते भी हो, परन्तु मैं अभागा उस ब्राह्ममुहूर्त में सोया ही रह जाता हूँ और आपके लिए द्वार को खोलता नहीं। बाइबल तो कहती है कि 'knock and it will be opened to you' पर वेद कहता है कि 'He knocks, be wise to open it.' परमात्मा द्वार खटखटाता है, ज़रा जाग और खोल। ९. वे परमात्मा **द्युमत्तमं रयिन्दाः**=अधिक-से-अधिक ज्योतिर्मय धन देंगे। धन देंगे, साथ ही वे ज्ञान भी प्राप्त कराएँगे। १०. हे प्रभो! **तम्**=उस **त्वा**=आपको जो आप **शोचिष्ठ**=अतिशयेन तेजस्वी हैं, **दीदिवः**=(ये दीदयन्ति ते दीदयाः प्रकाशास्ते बहवो विद्यन्ते यस्मिन्–द०)=अतिशयेन ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, उन आपको **नूनम्**=निश्चय से **सखिभ्यः**=सब मित्रों के लिए नकि केवल अपने **सुम्नाय**=सुख के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। सुख की प्रार्थना केवल अपने लिए नहीं करनी, घर में रहनेवाले पत्नी, पुत्री, भाई आदि सबके लिए यह प्रार्थना करनी है।

भावार्थ–वे प्रभु हमारे अत्यन्त समीप हैं। वे हमारी रक्षा करते हैं, हमारे घरों पर आते हैं और यदि हम द्वार खोलें तो ज्ञानयुक्त धन देते हैं।

ऋषिः–परमेष्ठी। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

तप

येनऽऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धानाऽअग्निःस्वराभरन्तः।
तस्मिन्नहं निदधे नाकेऽअग्निं यमाहुर्मनव स्तीर्णबर्हिषम् ॥४९॥

१. **येन**=जिस **तपसा**=धर्मानुष्ठान से (द०) या चित्त की एकाग्रता से (मनसश्चेन्द्रियाणां च एकाग्र्यं परमं तपः–म०) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **सत्रम्**=(सत्रा सत्यं विद्यते यस्मिन् विज्ञाने–द०) सत्य ज्ञान को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। २. और जिस तप से **अग्निं इन्धानाः**=प्रतिदिन अग्निकुण्ड में अग्नि का समिन्धन करते हैं। ३. जिस तप से **स्वः आभरन्तः**=स्वर्गलोक को स्वीकार करनेवाले होते हैं। ४. **तस्मिन्**=उस तप के होने पर **नाके**=मोक्षसुख के निमित्त मैं **अग्निम्**=उस–सब साधकों की उन्नति के साधक प्रभु को **निदधे**=स्थापित करता हूँ। उस प्रभु को स्थापित करता हूँ **यम्**=जिसको **मनवः**=ज्ञानी लोग **स्तीर्णबर्हिषम्**=आच्छादित किया है हृदयान्तरिक्ष को जिसने, ऐसा **आहुः**=कहते हैं। (तस्मिन् तपसि सति स्वर्गलोकनिमित्तं अग्निमहं स्थापयामि–म०) ५. 'प्रभु स्तीर्णबर्हिषम्' हैं जब हमारा हृदय उस प्रभु से आच्छादित होता है तब इस हृदय में 'सत्य, यश व श्री' का ही निवास होता है, इसमें आसुर भावनाएँ प्रवेश नहीं कर पातीं। 'अमृतोपस्तरणम्–अमृतापिधानम्' के बाद 'सत्य, यशः, श्रीः' आते हैं। उस अमृत प्रभु से आच्छादित–पूर्ण रूप से सुरक्षित हृदय में अशुभ भावनाएँ आ ही कैसे सकती हैं? ६. इस प्रभु की प्राप्ति उस तप के द्वारा ही होती है जिस तप से ऋषि सत्यज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिस तप से नियमित रूप से अग्निहोत्र होता है और जिस तप से सुख का आभरण होता है।

भावार्थ–तप से ज्ञान, यज्ञ व सुख की प्राप्ति होती है। यही तप परमात्मा-प्राप्ति का साधन बनता है, उस परमात्मा की प्राप्ति का जो हृदय को आच्छादित करके आसुर वृत्तियों से बचाता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु चरणों में (सब मिलकर)

तं पत्नी॑भि॒रनु॑ गच्छेम देवाः पु॒त्रैर्भ्रातृ॑भिरु॒त वा॒ हिर॑ण्यैः।
नाकं॑ गृभ्णा॒नाः सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒के तृ॒तीये॑ पृ॒ष्ठेऽअधि॑ रोच॒ने दि॒वः॥५०॥

१. **देवाः**=देव बनकर, अर्थात् संसार को क्रीड़ा-स्थल समझते हुए, कामादि को जीतने की कामना करते हुए, संसार से न भागकर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए, ज्ञान से चमकते हुए, प्रभु का स्तवन करते हुए, सदा प्रसन्न रहते हुए, एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मस्त बने हुए, ऊँचे-से-ऊँचे स्वप्न लेनेवाले बनकर, उन स्वप्नों को क्रियान्वित करने की इच्छावाले और सतत गतिशील हम २. **पत्नीभिः**=पत्नियों **पुत्रैः भ्रातृभिः**=पुत्रों व भाइयों के साथ तथा **हिरण्यैः**=अपने धनों के साथ **तम्**=उस प्रभु के **अनुगच्छेम**=पीछे जाएँ, उसके अनुयायी बनें। सब मिलकर उस प्रभु के चरणों में उपस्थित हों और अपने धनों को उसके चरणों में अर्पित करें। ३. यहाँ 'भ्रातृभिः तथा पत्नीभिः' शब्द सम्मिलित परिवार (joint family) का संकेत करता है। अलग-अलग भी रहते हों तो समीप रहने से प्रार्थना के समय हम एकचित हो सकते हैं। 'हिरण्यैः' शब्द की भावना स्पष्ट है कि हम अर्जित धनों को 'अपना' न समझ 'प्रभु का दिया हुआ' ही समझें। वस्तुतः प्रभु ही हमारे लिए धनों का विजय करते हैं। ४. इस प्रकार (क) देव बनकर (ख) सम्मिलित प्रभु-उपासना से और (ग) धनों को उस प्रभु का ही दिया हुआ समझने से हम **नाकं**=मोक्षलोक का, दुःख के लेश से भी रहित सुखमय स्थिति का **गृभ्णानाः**=ग्रहण करनेवाले हों। ५. जो सुखमय स्थिति **सुकृतस्य लोके**= पुण्यकर्मों से अर्जित लोक में होती है, अर्थात् जिसकी प्राप्ति पुण्यकर्मों से होती है। **तृतीये पृष्ठे**=जो सुखमय स्थिति इस पृथिवी-पृष्ठ व अन्तरिक्ष-पृष्ठ से ऊपर उठकर तृतीय पृष्ठ में है। **दिवः अधिरोचने**=जो सुखमय स्थिति आधिक्येन दीप्यमान द्युलोक के पृष्ठ पर है। ६. इस सुखमयलोक की कामना ही **'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'**—इस मन्त्र में इस प्रकार की गई है कि मैं पृथिवी के पृष्ठ से अन्तरिक्ष में आरूढ़ होऊँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में आरूढ़ होऊँ और सुखमयलोक के पृष्ठभूत इस द्युलोक से भी ऊपर उठकर मैं स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करूँ। ७. पृथिवीलोक का विजय पहला क़दम है, इसके लिए साधन विज्ञान व मधुर भाषण हैं। अन्तरिक्षलोक का विजय दूसरा क़दम है, इसके विजय के लिए साधन यज्ञात्मक कर्म हैं। द्युलोक का विजय तीसरा क़दम है, इस विजय के लिए मुख्य साधन उपासना है। एवं, यह सुखमयलोक क्रमशः 'विज्ञान, मधुर-भाषण, यज्ञ व उपासनादि' उत्तम सुकृत कर्मों से ही प्राप्य है। इस सुख में भी आसक्ति न होने पर चौथा क़दम रक्खा जाता है, हम चतुष्पात् बनते हैं (सोऽयमात्मा चतुष्पात्) और प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—घर के सब व्यक्ति मिलकर प्रभु की उपासना करें। अपने धनों को प्रभु-चरणों में अर्पित करें और सुकृतों के द्वारा देदीप्यमान सुखमय स्थिति का लाभ करें।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सत्पतिः, वाचः मध्यम्

आ वा॒चो मध्य॑मरुहद् भुर॒ण्युर॒यम॒ग्निः सत्प॑ति॒श्चेकि॑तानः।
पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्या निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं कृ॑णुतां॒ ये पृ॑त॒न्यवः॑॥५१॥

१. **अयं अग्निः**=यह प्रगतिशील विद्वान् (द०) **वाचः मध्यम् अरुहत्**=वाणी के मध्य में अपने आसन पर आरोहण करता है, अर्थात् अपने स्वाध्याय (Study) के कमरे में इसके चारों ओर वाङ्मय-ही-वाङ्मय होता है, बीच में यह बैठा होता है। यह ज्ञान का ही केन्द्र बनने का प्रयत्न करता है, ज्ञान में ही विचरण करता है। २. परन्तु **भुरण्युः**=यह भरणशील भी बनता है। अपने ज्ञान के रसास्वाद में यह इतना आसक्त नहीं हो जाता कि लोकहित करना ही भूल जाए। ३. **सत्पतिः**=अपने जीवन में 'सत्' की रक्षा करता है। यह 'उत्तम कर्मों को', 'उत्तम भावना' से तथा 'उत्तम प्रकार' से करनेवाला बनता है। ४. **चेकितानः**=यह सदा चेतनायुक्त होता है, संसार में समझदारी से चलता है। ५. **पृष्ठे पृथिव्याः निहितः**=यह पृथिवी के पृष्ठ पर स्थित होता है। पृथिवी=शरीरम्। शरीररूप रथ पर यह आरूढ़ होता है। इसका शरीर इसके वश में होता है, यह स्वस्थ होता है। ६. **दविद्युतत्**=ज्ञान की दीप्ति से यह अत्यन्त देदीप्यमान होता है। ७. और **ये**=जो काम, क्रोध, लोभ आदि पाप-वृत्तियाँ **पृतन्यवः**=इसके साथ युद्ध की इच्छावाली होती हैं, अर्थात् इसपर आक्रमण करती हैं, उन्हें यह **अधस्पदं कृणुताम्**=पाँवों तले कुचल डाले।

भावार्थ—अग्नि 'ज्ञानी बनता है, औरों के भरण का भी ध्यान करता है' सत्कर्मों का रक्षक व समझदार बनता है। यह शरीर को पूर्ण स्वस्थ करके ज्ञान-दीप्त होता है और वासनाओं को कुचल डालता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वीरतमः

अ॒यम॒ग्निर्वी॒रत॑मो वयो॒धाः स॑ह॒स्रियो॑ द्योतता॒मप्र॑युच्छन्।
वि॒भ्राज॑मानः सरि॒रस्य॒ मध्य॒ऽउप॒ प्र या॑हि दि॒व्यानि॒ धाम॑॥५२॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार शत्रुओं को पाँव तले कुचल डालनेवाला **अयम् अग्निः**=यह शत्रुदाहक प्रगतिशील व्यक्ति **वीरतमः**=सर्वोत्तम वीर है। जिसने बाह्य शत्रुओं को जीता वह 'वीर' है। जिसने अपनों को जीता तथा भौतिक कष्टों को जीता वह 'वीरतर' है। कामादि अन्तःशत्रुओं का विजेता यह 'वीरतम' है। २. **वयोधाः**=वस्तुतः जीवन का धारण तो इसी ने किया है, वासनाओं से ऊपर उठा हुआ जीवन ही तो जीवन है। वासनामय जीवन भी कोई जीवन है? ३. यह सदा **सहस्त्रियः**=आमोद के साथ रहनेवाला है, सदा प्रसन्न रहता है (स+हस)। हास्य सदा इसके चेहरे पर स्थित होता है (always smiling)। ४. **द्योतताम्**=यह ज्ञान की ज्योति से चमकता है। ५. **अप्रयुच्छन्**=यह अपने कर्त्तव्यों में (अप्रमाद्यन्) कभी प्रमाद नहीं करता। ६. **सरिरस्य मध्ये**='इमे वै लोकाः सरिरम्'=पञ्चकोशों में अवस्थित हुआ-हुआ **विभ्राजमानः**=उस-उस कोश की शक्ति से चमकता है। ७. इस प्रकार के जीवनवाला अग्नि तू **दिव्यानि धाम**=(धामानि) दिव्य धामों को **उप प्रयाहि**=प्राप्त हो। (उप प्रयाहि स्वर्गलोकम्—श० ८।३।२।१) इस प्रकार के जीवनवाला बनकर ही तू स्वर्ग को, सुखमयलोक को प्राप्त होता है।

भावार्थ—कामादि शत्रु-विजेता अग्नि वीरतम है, उत्कृष्ट जीवनवाला है, प्रसन्न, ज्ञानी, अप्रमत्त है। इन कोशों में यह दीप्त जीवनवाला है और तभी स्वर्ग को प्राप्त करता है।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

तन्तु-सन्तान Rejuvenation

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयातान्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वाताꣳसीत् त्वयि तन्तुमेतम्॥५३॥

१. **सम्प्रच्यवध्वम्**=(सं गच्छध्वम्) तुम सब मिलकर चलो और मिलकर चलने के द्वारा २. **उप सम्प्रयात**=मेरे समीप आओ, मेरी उपासना करो। जो घर में मिलकर नहीं चल सकते, उन्हें प्रभु की उपासना का भी क्या अधिकार है? ३. हे **अग्ने**=दोषों का दहन करनेवाले विद्वन्! तुम सब **देवयानान् पथः कृणुध्वम्**=देवयान मार्गों को करो, अर्थात् देवयान मार्ग से चलनेवाले बनो। देवताओं के मार्ग को अपनाओ। ४. **पितरा युवाना कृण्वाना**=माता-पिता को अपने उत्तम कर्मों से फिर से युवा करने के हेतु वे अग्नि में यज्ञ करते हैं। **पुनः**=फिर-फिर **पितरा**=(वाक् चैव मनश्च पितरा युवाना—श० ८।६।३।२२) पालक होने से 'पितृ' शब्दवाच्य वाणी और मन को **युवाना**=(तरुणौ अयातयामौ अथवा अन्योन्यसंगतौ—म०) तरुण—अक्षीणशक्ति तथा परस्पर सम्बद्ध **कृणवाना**=करते हुए। ५. हे अग्ने! **त्वयि**=तुझमें **एतं तन्तुम्**=इस यज्ञ को **अन्वातांसीत्**=(अतानिषुः अनुक्रमेण विस्तारितवन्तः—म०) विस्तृत करते हैं, अर्थात् वाणी और मन के द्वारा यज्ञों को सिद्ध करते हैं। यज्ञों में लगे हुए वाणी और मन संयत रहते हैं—क्षीणशक्ति नहीं होते।

भावार्थ—हम मिलकर चलें, प्रभु के उपासक बनें, देवताओं के मार्ग पर चलें। वाणी व मन को संस्कृत करके यज्ञों का विस्तार करें। यज्ञों में लगे हुए वाणी और मन परिष्कृत बने रहते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इष्टापूर्त

उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥५४॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति यज्ञ का विस्तार करने पर हुई थी। उसी यज्ञ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! तू **उद्बुध्यस्व**=उद्बुद्ध हो। उद्बुद्ध अग्नि ही तो हमारे घृत व सामग्री आदि पदार्थों को देवों में ले-जाएगी। २. **त्वं प्रतिजागृहि**=तू प्रत्येक घर में जागरित हो। वैदिक राष्ट्र में कोई घर ऐसा नहीं होता जहाँ अग्निहोत्र न होता हो। अग्निकुण्ड में भी दाएँ-बाएँ, पूर्व-पश्चिम व मध्य सर्वत्र अग्नि प्रज्वलित हो जाए और सामग्री को छिन्न-भिन्न करके सर्वत्र विस्तृत करने के लिए उद्यत हो जाए। ३. हे अग्ने! **त्वम्**=तू **अयं च**=और यह यजमान दोनों मिलकर **इष्टापूर्ते**=इष्ट और आपूर्त को **सृजेथाम्**=सम्यक्तया करनेवाले होओ। यह यजमान 'इष्ट को करे', अर्थात् तेरे साथ घृत व हव्य का सम्पर्क करे। (यज्=सङ्गतीकरण) और तू उस घृत व हव्य को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके 'आ-पूर्त'=चारों ओर सारे वायुमण्डल में भर दे। ४. **अस्मिन् सधस्थे**=इस यज्ञस्थल में जोकि घर के सब व्यक्तियों का सधस्थ है, मिलकर बैठने का स्थान है तथा ५. **अध्युत्तरस्मिन्**=जोकि घर में सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वेद में **'हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां**

सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले' इन शब्दों में घर में सर्वप्रथम स्थान **'हविर्धान'**= अग्निहोत्र के कमरे को ही दिया है। ६. इस सर्वोत्कृष्ट स्थान में **विश्वेदेवाः**=घर के सब छोटे-बड़े व मध्यम आयुष्यवाले देव-दिव्य प्रवृत्तियोंवाले व्यक्ति **यजमानः च**=और घर का सबसे बड़ा यज्ञशील पुरुष भी **सीदत**=मिलकर बैठें और प्रेम से प्रभु-प्रार्थना करते हुए इस यज्ञ को सिद्ध करें।

भावार्थ—घर-घर में अग्निहोत्र हो। अग्नि में डाले हुए घृतादि पदार्थों को अग्नि सारे आकाश में भर देता है। (pours=पूरयति)। इस आपूर्ति के द्वारा यह यज्ञाग्नि वायुमण्डल को तो शुद्ध करता ही है साथ ही ये घृतादि पदार्थ सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर वृष्टिजल के बिन्दुओं का केन्द्र बनकर वृष्टि में भी सहायक होते हैं। यह बरसकर भूमि में होनेवाले अन्न-कणों का अंश बनते हैं और इस प्रकार फिर से हमें प्राप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

देवेषु गन्तवे सहस्रं सर्ववेदसम्

येन॒ वह॑सि स॒हस्र॒ं येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥५५॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! तू **येन**=अपने जिस सामर्थ्य से हमारे दिये हुए घृतादि पदार्थों को **सहस्रं वहसि**=सहस्रगुणा करके प्राप्त कराता है और **येन**=अपने जिस सामर्थ्य से तू **सर्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों को **वहसि**=प्राप्त कराता है। स्वास्थ्य व सौमनस्य के साथ उत्तम अन्नादि को प्राप्त कराता हुआ यह अग्नि हमें सब धनों को प्राप्त करने के योग्य करता है। २. **तेन**=अपने उसी 'सहस्र वहन' व 'सर्ववेदस् वहन' के सामर्थ्य से **नः इमं यज्ञम्**=हमारे इस यज्ञ को—यज्ञ में डाले गये पदार्थों को **स्वः**=आदित्य तक **नय**=ले-जा, जिससे **देवेषु गन्तवे**=ये पदार्थ देवों में जानेवाले हों, वायु आदि सारे देवों को प्राप्त हों। ये वायु आदि का मानो भोजन ही बन जाए। ३. मनु के अनुसार—**'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'**= अग्नि में विधिवत् डाली हुई आहुति सूर्य तक पहुँचती है और इस प्रकार पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के सब देवों में पहुँच जाती है। देव मानो इस अग्निरूप मुख से इन घृतादि पदार्थों को खानेवाले बनते हैं। ४. पिछले मन्त्रभाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि हे अग्ने! क्योंकि तू दत्तहवि को सहस्रगुणा करके इन सम्पूर्ण धनों को ही हमें प्राप्त करानेवाला है **तेन**=अतः **नः देवेषु**=हमारे देववृत्तिवाले—समझदार पुरुषों में **इमं यज्ञं नय**=इस यज्ञ को प्राप्त करा, वे सब इस यज्ञ को करनेवाले हों, जिससे **स्वः गन्तवे**=सुखमय स्थिति में पहुँच सकें। 'स्वर्गकामो यजेत'=यज्ञ से स्वर्ग मिलता है, अतः इन यज्ञों से हमारे घर स्वर्ग बन जाएँ। ५. **'येन वहसि सहस्रम्'** इस मन्त्रभाग के भाव से ही कालिदास ने 'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' ये शब्द लिखे हैं कि सूर्य जल को लेता है पर सहस्रगुणित-सा करके उसे फिर इस भूमि पर बरसा देता है। इसी प्रकार यह यज्ञाग्नि भी हमारे घृतादि पदार्थों को लेती है और सहस्रगुणित करके हमें लौटा देती है। सारे वायुमण्डल को शुद्ध करके और हमें स्वास्थ्य व सौमनस्य देकर यह सम्पूर्ण धनों का कारण बनती है।

भावार्थ—यज्ञाग्नि में डाले गये पदार्थ सहस्रगुणित होकर हमें फिर प्राप्त हो जाते हैं। ये हमारी सुखमय स्थिति का कारण हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

रयि-वर्धन

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽआ रोहाथा नो वर्धया रयिम्॥५६॥

१. पिछले मन्त्र की ही भावना को कि 'हममें यज्ञों का प्रणयन हो', घर-घर में यज्ञ हों, प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि हे **अग्ने! अयं ते योनिः**=यह घर तो तेरा ही है। यह हमारा घर न होकर तेरा ही है। २. तू यहाँ **'ऋत्वियः'**=(ऋतौ-ऋतौ प्राप्तः) समय-समय पर प्राप्त होता है। तू यहाँ प्रातः-सायं सदा अग्निकुण्ड में उद्बुद्ध होता है। **यतः**=क्योंकि **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **अरोचथाः**=(रोचयसि) हम सबके जीवनों को दीप्त करनेवाला होता है। जिस घर में भी तेरा प्रणयन होता है, वहाँ तू सब गृहवासियों को सौमनस्य देनेवाला होता है। उनके जीवन को तू रोचक व आनन्दयुक्त कर देता है। ३. **तं जानन्**=अपने उस घर को जानता हुआ, अर्थात् घर की रक्षा को न भूलता हुआ तू **आरोह**=(पुनरुद्धरणाय प्रविश—म०) सबके उद्धार के लिए यहाँ प्रवेश कर। इस घर में तेरा स्थान सर्वोपरि हो। तू ही तो सब घरवालों का रक्षक है। ४. **अथ**=और अब हमें स्वस्थ व सुमनस् बनाकर **नः**=हमारे **रयिम्**=धन को **वर्धय**=बढ़ा। अग्नि हमारी सम्पत्ति को कम न करके बढ़ाता ही है। यह समझना कि 'पचास ग्राम घी जल गया' ठीक नहीं। वह घृत सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर सर्वत्र फैल गया है, वह वायु में रोगकृमियों का नाशक बनता है, यही अग्नि का 'रक्षो-दहन' है। अग्नि हमें स्वस्थ बनाता है। ठीक समय पर वृष्टि आदि का कारण बनकर प्रचुर मात्रा में पौष्टिक अन्नों के उत्पादन का कारण बनता है। इस प्रकार हमारे धनों की वृद्धि का हेतु होता है। दवाइयों के व्यय को भी समाप्त करके हमारे धनों का रक्षक बनता है।

भावार्थ—हमारा घर यज्ञाग्नि का ही घर हो जाए—'यज्ञभवन' बन जाए। यह अग्नि हमारे स्वास्थ्य आदि का रक्षक और हमारे धनों का वर्धन करनेवाला हो।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—शिशिरर्तुः। छन्दः—स्वराडुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

तप+तपस्य=शैशिरौ ऋतू

तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे। शैशिरावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥५७॥

१. पति-पत्नी को चाहिए कि वे **तपः च**=(तप दीप्तौ) ज्ञान से दीप्त होने का प्रयत्न करें। जैसे सूर्यः तपति=सूर्य अपने प्रकाश से चमकता है, इसी प्रकार ये ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले हों। २. **तपस्यः च** (तपसि साधुः)=उत्तम तपस्यावाले हों। उत्तम तपस्या वही है जो शरीर को पीड़ित न करके की गई है। 'ब्रह्मचर्य' शारीरिक तप है तो 'मधुर भाषण' वाणी का तथा 'मनःप्रसाद' मन का। इन तपों में वे अग्रणी बनने का प्रयत्न करें। ३. **शैशिरौ** (शश प्लुतगतौ)=ये दोनों द्रुत गतिवाले हों। इनका जीवन क्रियाशील व स्फूर्तिमय हो। **ऋतू**=ये बड़ी नियमित गतिवाले हों। ऋतुओं के आने की भाँति ये अपने सब कार्यों को

समय पर करनेवाले हों। ४. **अग्नेः**=उस प्रभु का **अन्तः श्लेषः असि**=हृदयदेश में आलिङ्गन करनेवाला तू बनता है। ५. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों ही **कल्पेताम्**= सामर्थ्यवाले हों। ६. इसके लिए **आपः**=जल तथा **ओषधयः**=ओषधियाँ **कल्पन्ताम्**=हमें शक्तिशाली बनाएँ। जलों व ओषधियों का सेवन हमारे मस्तिष्क व शरीर को उत्तम व सशक्त बनाता है। ७. **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः**=मेरी ज्येष्ठता के लिए समानरूप से व्रत धारण किये हुए **पृथक्**=अलग-अलग, क्रमशः पाँच, आठ व चौबीस वर्ष तक **कल्पन्ताम्**=मेरे जीवन को सामर्थ्य-सम्पन्न करने में लगे रहें। ८. मेरे 'माता-पिता व आचार्य' ही क्या, **ये अग्नयः**=जो भी अग्नियाँ **इमे**=इन **द्यावापृथिवी अन्तरा**= द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में है, वे सब **समनसः**=समान मनवाली हों। सबका एक ही ध्येय हो कि आनेवाली पीढ़ी के जीवन को ज्येष्ठता तक पहुँचाना है। ९. इस प्रकार इन कर्मों से जिनके जीवन का निर्माण किया गया है वे **शैशिरौ ऋतू**=द्रुत गतिवाले तथा बड़ी नियमित गतिवाले होते हैं। १०. **अभिकल्पमानाः**=ये शारीरिक व बौद्धिक दोनों ही सामर्थ्यों का सम्पादन करते हैं। **इन्द्रम् इव**=इन्द्र के समान बनते हैं, इन्द्रियों के अधिष्ठाता होते हैं। तभी तो **देवाः**=सब दिव्य गुण **अभिसंविशन्तु**=इन्हें प्राप्त होते हैं। ११. इन पति-पत्नी से कहते हैं कि **तया देवतया** =उस देवाधिदेव परमात्मा के साथ, अर्थात् उसकी उपासना करते हुए **अङ्गिरस्वत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाले बनकर, अर्थात् शक्ति से परिपूर्ण होकर **ध्रुवे सीदतम्**=इस घर में ध्रुव होकर रहो।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्ञान से चमकें, उत्तम तपस्वी हों। तीव्र गतिवाले, अर्थात् सदा क्रियाशील और बड़ी नियमित गतिवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—विदुषी। छन्दः—ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

दिवः पृष्ठे ज्योतिष्मती

प॒र॒मे॒ष्ठी त्वा॑ सादयतु दि॒वस्पृ॒ष्ठे ज्योति॑ष्मतीम्। विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नाय॒ विश्वं॒ ज्योति॑र्यच्छ। सूर्य॒स्तेऽधि॑पति॒स्तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द॥५८॥

१. हे पत्नि! **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित प्रभु **त्वा**=तुझे **दिवः पृष्ठे**=ज्ञान के पृष्ठ पर **सादयतु**=बिठाए, अर्थात् प्रभु की कृपा से तू ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाली हो। **ज्योतिष्मतीम्**=प्रभु तेरे जीवन को ज्योतिर्मय करें। २. **विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय**=घर में तू सबके प्राण, अपान और व्यान को ठीक रखनेवाली हो। भोजनादि की उत्तम व्यवस्था से सबको नीरोग रखना पत्नी का ही कर्त्तव्य है। ३. **विश्वं ज्योतिः यच्छ**=तू सबको ज्योति प्राप्त करानेवाली हो। स्वयं ज्योतिर्मय बनकर यह औरों को भी ज्ञान की ज्योति देनेवाली हो। प्रारम्भ में माता ने ही सब सन्तानों को ज्योति प्राप्त करानी है। ४. **सूर्यः ते अधिपतिः**=(सरति इति सूर्यः) निरन्तर क्रियाशील व्यक्ति ही तेरा उत्कृष्ट पति हो, अर्थात् पति का जीवन सतत क्रियाशील हो। ऐसा ही व्यक्ति गृहस्थ-सञ्चालन के लिए सम्पत्ति को कमानेवाला होता है तथा अपवित्रता को भी उत्पन्न नहीं होने देता। ५. **तया देवतया**=इस देवतुल्य अपने उत्कृष्ट (अधि-पति) पति के साथ **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाली होती हुई तू—संयम के द्वारा शक्तिशालिनी बनी हुई तू **ध्रुवा**=ध्रुव होकर **सीद**=इस घर में निषण्ण हो। घर में तेरी स्थिति स्थिर हो।

भावार्थ—पत्नी का जीवन ज्योतिर्मय हो। वह सबके स्वास्थ्य का ध्यान करे। सन्तानों

को उत्तम ज्ञान देनेवाली हो। पति सूर्य की भाँति सतत क्रियाशील होकर घर का उत्कृष्ट रक्षण करनेवाला बने।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—इन्द्राग्नी। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

इन्द्र, अग्नि व बृहस्पति

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्॥५९॥

१. पत्नी के लिए कहते हैं कि तू **लोकं पृण**=प्रकाश को (लोकं=आलोकं) **पृण** (पिपूर्धि—म०) भरनेवाली हो और इस प्रकार सबको (लोकं) सुखी कर (पृण)। २. **छिद्रं पृण**=घर के दोषों को फिर से ठीक कर देनेवाली हो, छिद्र को भर दे, दोषों को दूर कर दे। ३. **अथ उ**=और अब प्रकाश को भरने व दोषों को दूर करने के साथ **त्वम् ध्रुवा सीद**=तू ध्रुव होकर यहाँ घर में रह। ४. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि तथा **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी **त्वा**=तुझे **अस्मिन् योनौ**=इस घर में **असीषदन्**=स्थापित करें—बिठाएँ, अर्थात् तेरे पति की तीन विशेषताएँ हों। (क) सर्वप्रथम वह 'इन्द्र' हो, जितेन्द्रिय हो। पति का असंयत जीवन पत्नी के जीवन पर एक ऐसा अशुभ प्रभाव उत्पन्न करेगा कि वह घर में ध्रुव होकर कभी न रह सकेगी। (ख) पति 'अग्नि' हो, उसके अन्दर गरमी व उत्साह हो। ऐसा ही पति घर की उन्नति का कारण बन सकता है और वही पत्नी के जीवन में उत्साह उत्पन्न करके उसे घर की उन्नति के कार्यों में व्यापृत रखनेवाला होता है। (ग) पति 'बृहस्पति हो, यह ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति हो। ऐसा ही पति पत्नी से उचित आदर पा सकता है और पत्नी के हृदय में अपने लिए स्थान बना सकता है। इस पति के साथ ही पत्नी अपने सम्बन्ध का ध्यान करती हुई अपने को गौरवान्वित अनुभव करती है। असंयमी, उत्साहशून्य, मूर्ख पति पत्नी की स्थिरता का कारण नहीं बन सकता। 'इन्द्र' बनकर यह शरीर को सुन्दर बनाता है, 'अग्नि' बनकर मन को शक्तिशाली बनाता है, बृहस्पति बनकर यह मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करता है। यही परमेष्ठी बनना है।

भावार्थ—पत्नी घर में अपने सौन्दर्य व ज्ञान से प्रकाश भर दे, दोषों को दूर करनेवाली हो, स्थिर वृत्तिवाली हो। पति 'जितेन्द्रिय, उत्साही तथा उत्कृष्ट ज्ञान-सम्पन्न' हो। ऐसा ही पति 'परमेष्ठी' कहला सकता है।

ऋषिः—प्रियमेधा। देवता—आपः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

सूद-दोहस

ताऽअस्य सूददोहसः सोमꣳश्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः॥६०॥

१. उल्लिखित मन्त्र में वर्णित प्रकार के **ताः**=वे व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु के होते हैं, दैवी वृत्तिवाले बनकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहे होते हैं। २. जो **सूददोहसः**=(षूद क्षरणे throw away, दुह प्रपूरणे) दोषों को दूर फेंकनेवाले तथा गुणों का अपने में पूरण करनेवाले होते हैं। ३. इसी उद्देश्य से ये **सोमं श्रीणन्ति**=अपने में वीर्यशक्ति का परिपाक करते हैं। इस शक्ति के परिपाक के लिए ही ये २४, ४४ व ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ४. और **पृश्नयः**=ज्ञान की दीप्तियों का अपने से संस्पर्श करनेवाले होते हैं। (संस्पृष्टा भासाम्—नि०) ५. **देवानां जन्मन्**=ये देवों के जन्म में स्थित होते हैं, अर्थात् अपने

जीवन में अधिकाधिक दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ६. **त्रिषु विशः**=कर्म-उपासना व ज्ञान में प्रवेशवाले होते हैं अथवा धर्मार्थकाम तीनों का समरूप से सेवन करनेवाले होते हैं। ७. **दिवः आरोचने**=ज्ञान की दीप्ति में पूर्णरूप से स्थित होते हैं। अपने जीवन को ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं। इनके व्यवहार में कहीं भी मूर्खता नहीं टपकती। इसी से इनका नाम ही 'प्रियमेधा'=(जिनको बुद्धि प्रिय है) हो जाता है।

भावार्थ—जो प्रभु के उपासक होते हैं वे १. अवगुणों को दूर करके गुणों का ग्रहण करते हैं। २. अपनी वीर्यशक्ति को संयमी जीवन से परिपक्व बनाते हैं। ३. ज्ञान-रश्मियों से सूर्य की भाँति चमकनेवाले बनते हैं। ४. दिव्य गुणों को धारण करके धर्मार्थकाम का समान रूप से सेवन करते हैं। ५. सदा ज्ञान के प्रकाश में रहते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

इन्द्र-वर्धन

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥६१॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रियमेधा' ने अपने ज्ञान का वर्धन किया। उस ज्ञान-वर्धन के प्रसङ्ग में उसे अनुभव हुआ कि ये **विश्वाः गिरः**=सब वेदवाणियाँ **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु का ही **अवीवृधन्** =वर्धन करती हैं। अन्ततोगत्वा सब वाणियाँ उस प्रभु में ही स्थित होती हैं। इस ब्रह्माण्ड के पदार्थों के वर्णन में भी उस कर्त्ता की रचना की कुशलता का उल्लेख होता है। २. उस प्रभु का ये वाणियाँ वर्णन करती हैं जो **समुद्रव्यचसम्**=(स+मुद्र) आनन्दमय तथा विस्तारवाले हैं। वस्तुतः विस्तार में ही आनन्द है—'यो वै भूमा तत्सुखम्'=विशालता ही सुख है। संकुचितता में निरानन्दता है। ३. उस प्रभु का वर्णन करती हैं जो **रथीतमं रथीनाम्**=रथवाहकों में सर्वोत्तम रथवाहक हैं। हम भी अपने शरीररूप रथ का वाहक उस प्रभु को बनाएँगे तो यात्रा को अवश्य निर्विघ्नरूप से पूरा कर पाएँगे। ४. वे प्रभु **वाजानाम्**=सब शक्तियों के **पतिम्**=पति हैं—सब शक्तियों के स्वामी हैं। उनके सम्पर्क में आकर मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' भी शक्तियों का पति बनता है। ५. वे प्रभु **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक हैं। सज्जन बनकर ही हम प्रभु की रक्षा के पात्र बन सकते हैं।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा' प्रभु का स्मरण 'इन्द्र, समुद्रव्यचस्, रथीतम, वाजपति व सत्पति' इन शब्दों से करता हुआ चाहता है कि वह भी शक्तिमान् व ऐश्वर्यशाली बने, आनन्दमय व उदार हो, अपने शरीररूप रथ का सारथि उस प्रभु को बना पाये, शक्तियों का पति बनकर अपने में सत्य को प्रतिष्ठित करे।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

संवरण से ऊपर उठना

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात्।
आदस्य वातोऽअनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति॥६२॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि सब वाणियाँ उस प्रभु की महिमा का वर्धन करती हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि मन्त्र का ऋषि **वसिष्ठ**='अपने जीवन को अत्यन्त उत्तम बनानेवाला' **प्रोथत्**=(प्रोथतिः शब्दार्थः—उ०) शब्दायते=वाणियों का उच्चारण करता है। वाणियों

का उच्चारण करता हुआ उनसे प्रेरणा प्राप्त करता है और उनके अनुसार अपना आचरण बनाता हुआ अपने जीवन को उच्च बनाता है। २. **अश्वः न**=यह अश्व के समान होता है। जैसे **अश्व**='अश्नुते अध्वानम्'=मार्ग का व्यापन करता है, इसी प्रकार यह भी अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है, कभी आलस्य नहीं करता। ३. आलस्य न करने से ही यह **यवसे**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) अपने जीवन में गुणों का मिश्रण व दोषों का अमिश्रण करने में समर्थ होता है। ४. **अविष्यन्**=वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता हुआ यह **यदा**=जब **महः**=उस प्रभु की पूजा करनेवाला होता है (मह पूजायाम्) तब यह **संवरणात्**=ज्ञानादि को आवृत करनेवाली कामादि वासनाओं से **व्यस्थात्**= अलग होकर ठहरता है। वासनाओं को परे फेंककर उठ खड़ा होता है। ये वासनाएँ संवरण व वृत्र हैं, यह ज्ञान पर पर्दा डाले रहती हैं। प्रभु-पूजन आरम्भ होते ही ये भाग खड़ी होती हैं। महादेव के सामने कामदेव भस्म हो जाते हैं। ५. **आत्**=अब **वातः अस्य अनुवाति**=वायु इसके अनुकूल बहती है, अर्थात् सारा वातावरण इसके लिए उत्तम होता है। अथवा '**वातः**=प्राणः (वायुः प्राणो भूत्वा) वात का अभिप्राय प्राण से है। अब जब प्राण भी उसके अनुकूल होता है, अर्थात् प्राण-साधना करके यह प्राणों को भी अनुकूल कर लेता है 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' प्राणापान की गति को सम कर लेता है तो **शोचिः**=यह दीप्त हो उठता है, इसका जीवन चमक जाता है। ६. हे वसिष्ठ! **अध स्म**=अब **ते व्रजनम्**=तेरी गति-चाल-ढाल **कृष्णम्**=(कर्षकम्-द०) बड़ी आकर्षक **अस्ति**=होती है। तेरा चरित्र बड़ा सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ-वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए जब हम उनके अनुसार आचरण करते हैं तब वासनाओं से बच जाते हैं। उपासक बनकर वृत्र को परे फेंक हम उठ खड़े होते हैं। प्राण-साधना करके अपने चरित्र को ऊँचा कर पाते हैं।

ऋषिः-वसिष्ठः। देवता-विदुषी। छन्दः-विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः-धैवतः॥

आयु-अवन् व समुद्र

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायाᳬसमुद्रस्य हृदये।
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम्॥६३॥

१. पत्नी से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **आयोः**=(एति) गतिशील पुरुष के **सदने**=घर में **सादयामि**=स्थापित करते हैं। पति की प्रथम विशेषता यही है कि वह क्रियाशील हो, आलसी नहीं। २. **अवतः**=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले पुरुष की **छायायाम्**=आश्रय में तुझे स्थापित करते हैं। वासनामय वृत्तिवाला पुरुष एकपत्नीव्रत न होकर गृहस्थ को नरक-सा बना देता है। विलास के कारण वह अपनी शक्ति को क्षीण करनेवाला होता है और पत्नी को भी रोगों का घर बना देता है। ३. **समुद्रस्य**=सदा आनन्दमय स्वभाववाले (स+मुद) पुरुष के **हृदये**=हृदय में तुझे स्थापित करते हैं। खिझनेवाला पति घर को सुखी नहीं बना पाता। आर्थिक दृष्टि से भी वह घर को उन्नत बनाने में समर्थ नहीं होता। संसार में आगे बढ़ने के लिए प्रसन्न मनोवृत्ति नितान्त आवश्यक है। प्रसन्न मनोवृत्तिवाला ही पत्नी से भी उचित प्रेम कर पाता है। ४. कैसी तुझको? जो तू **रश्मीवतीम्**=लगामवाली है, कर्मेन्द्रियों को मनरूप लगाम से काबू करके ही विषयों में विचरनेवाली है तथा **भास्वतीम्**=ज्ञानेन्द्रियों के उचित व्यापार से ज्ञान की खूब दीप्तिवाली बनी है। ५. **या**=जो तू **द्याम्**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **आभासि**=ज्ञान से खूब दीप्त कर लेती है और जो **पृथिवीम्**=

शरीररूप पृथिवीलोक को पूर्ण स्वास्थ्य से **आभासि**=तेजस्वी बनानेवाली है तथा उरु **अन्तरिक्षम्**=अपने विशाल हृदयान्तरिक्ष को **आभासि**=नैर्मल्य से चमका देती है।

भावार्थ—पति को गतिशील, वासनाओं से अपनी रक्षा करनेवाला व प्रसन्न स्वभाववाला होना है तथा पत्नी ने वश्येन्द्रिय व प्रकाशमय जीवनवाला बनकर मस्तिष्क, शरीर व हृदय तीनों को ही दीप्त करना है।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—परमात्मा। छन्दः—आकृतिः। स्वरः—पञ्चमः॥

व्यचस्वती-प्रथस्वती

प॒र॒मे॒ष्ठी त्वा॑ सादयतु दि॒वस्पृ॒ष्ठे व्यच॑स्वतीं॒ प्रथ॑स्वतीं॒ दिवं॑ यच्छ॒ दिवं॑ दृꣳह॒ दिव॒ं मा हिꣳसीः। विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नायो॑दा॒नाय॑ प्रति॒ष्ठायै॑ च॒रित्रा॑य। सूर्य॑स्त्वा॒भिपा॑तु म॒ह्या स्व॒स्त्या छ॒र्दिषा॒ शन्त॑मेन॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥६४॥

१. **परमेष्ठी**=परमस्थान में स्थित प्रभु **त्वा**=तुझे **दिवः पृष्ठे सादयतु**=(दिव् कान्ति) कमनीय गृहस्थ-व्यवहार के आधार में स्थापित करे। सारे गृहस्थ-व्यवहार को सुन्दर प्रकार से चलाती हुई तू सचमुच उत्तम गृहिणी बन। २. **व्यचस्वतीम्**=तू प्रशस्त विद्याओं का व्यापन=अध्ययन करनेवाली है, इसीलिए आयुर्वेदादि शास्त्रों को जानने से तू उचित आहार के प्रापण से घर में सभी को नीरोग रखने का कारण बनती है। ३. **प्रथस्वतीम्**=(बहु प्रथः प्रख्यातिः प्रशंसा विद्यते यस्यां ताम्) तू व्यवहार की कमनीयता व प्रशस्त विद्याध्ययन के कारण उत्तम प्रशंसावाली है। सब समाज में तेरी कीर्ति है। ४. **दिवं यच्छ**=तू अपने सन्तानों को ज्ञान का प्रकाश देनेवाली बन। **दिवं दृंह**=अपने ज्ञान को दृढ़ कर। **दिवं मा हिंसीः**=ज्ञान को नष्ट मत होने दे। ५. **विश्वस्मै प्राणाय**=समग्र जीवन के सुख के लिए **अपानाय**=दुःख निवृत्ति के लिए **व्यानाय**=नाना विद्याओं की व्याप्ति के लिए **उदानाय**=उत्तम बल के लिए **प्रतिष्ठायै**=सर्वत्र सत्कार की प्राप्ति के लिए और **चरित्राय**=सत्कर्मों के अनुष्ठान के लिए प्रभु ने तुझे इस गृह में स्थापित किया है। तूने गृहस्थ में रहते हुए सबकी प्राणापानव्यान व उदानशक्ति की वृद्धि का कारण बनना है। ६. **सूर्यः**=सूर्य के समान निरन्तर गतिशील जो तेरे पति हैं वे **त्वा अभिपातु**=तेरी रक्षा करें। किस प्रकार? सबसे प्रथम तो (क) **मह्या**=एक सुन्दर गौ के द्वारा। घर में सबके स्वास्थ्य व सात्त्विक मनोवृत्ति को पैदा करने में गोदुग्ध का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है। (ख) **स्वस्त्या**=स्वस्ति के द्वारा। कभी यह कहने का अवसर न आये कि 'अब तो इस घर की स्थिति ठीक नहीं'। घर सदा धन-धान्य से पूर्ण हो। (ग) **शन्तमेन छर्दिषा**=अधिक-से-अधिक शान्ति को देनेवाले घर से। घर का निर्माण इस प्रकार हो कि वहाँ सर्दियों में धूप का खूब प्रवेश हो और गर्मियों में धूप कम आये। घर में रहनेवालों के स्वास्थ्य पर किसी प्रकार का अवांच्छनीय (रद्दी) प्रभाव न हो। ७. इस घर में **तया देवतया**=उस प्रभु के सम्पर्क से **अङ्गिरस्वत्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले होकर तुम **ध्रुवे सीदतम्**=ध्रुव होकर निवास करो।

भावार्थ—पत्नी प्रशस्त विद्याओं का अध्ययन-मनन करनेवाली तथा उत्तम प्रशंसावाली व विशाल हृदयवाली हो। वह सबके प्राणापान आदि का वर्धन करनेवाली हो। पति सूर्य के समान सदा गतिशील होकर घर का रक्षण करे। घर में गौ हो, समृद्धि हो तथा घर स्वयं अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला हो। इस घर में पति-पत्नी प्रभु का उपासन करते हुए

अपनी शक्ति को अक्षीण रखते हुए ध्रुव होकर निवास करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—विद्वान्। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

साहस्त्र=सहस्त्रभक्त

सहस्त्रस्य प्रमासि सहस्त्रस्य प्रतिमासि सहस्त्रस्योन्मासि
साहस्त्रोऽसि सहस्त्राय त्वा॥६५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर 'तया देवतया'='उस देवता के साथ, उस देवाधिदेव प्रभु के सम्पर्क में' ये शब्द थे। उन्हीं का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि तू **सहस्त्रस्य**=सदा आनन्दस्वरूप (स+हस्) उस परमात्मा का **प्रमा असि**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। २. उसका ज्ञान प्राप्त करके **सहस्त्रस्य प्रतिमा असि**=तू उसकी प्रतिमा बना है। उस प्रभु का ही छोटा रूप बनने का तू प्रयत्न करता है। ३. उसका रूप बनने के लिए ही तू **सहस्त्रस्य**=उस सदा आनन्दमय परमात्मा का **उन्मा असि**=उत्तोलन करता है। उसके गुणों का चिन्तन करता हुआ उन गुणों को अपने में लेने का प्रयत्न करता है। ४. और वस्तुतः इस प्रकार होने से ही तू **साहस्त्रः**=उस सहस्त्र प्रभु का सच्चा भक्त **असि**=बनता है। भक्त तो वही है जो भक्तिभाजन के गुणों का उत्तोलन करके उन्हें अपने में धारण करे। ५. इस सहस्त्र के भक्त बने हुए **त्वा सहस्त्राय**=तुझे मैं उस सहस्त्र प्रभु को पाने के लिए नियुक्त करता हूँ, अर्थात् प्रभु-भक्त बनकर तू उस प्रभु को पानेवाला हो जाता है।

भावार्थ—हम आनन्दमय प्रभु का ज्ञान प्राप्त करें और प्रभु के अनुरूप बनने के लिए यत्नशील हों, प्रभु के गुणों का उत्तोलन करें और सच्चे प्रभु-भक्त बनकर प्रभु को पाने के पात्र बनें।

यहाँ पञ्चदशाध्याय की समाप्ति पर 'साहस्त्र' बनने का उल्लेख है। 'साहस्त्र' आनन्दमय प्रभु का भक्त है। यह साहस्त्र १६वें अध्याय में प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि—

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

षोडशोऽध्यायः

ऋषिः—परमेष्ठी वा कुत्सः। देवता—रुद्रः। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः।।

मन्यु-इषु-बाहू

नमस्ते रुद्र मन्यवऽउतो तऽइषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः ॥१॥

१. हे रुद्र=(रुत् ज्ञानं राति ददाति) ज्ञान देनेवाले और ज्ञान देकर (रुत्=दुःखं द्रावयति) सब दुःखों को दूर करनेवाले प्रभो! **ते मन्यवे**=आपसे दिये जानेवाले ज्ञान के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। (क) विनीत को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और (ख) ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य सब कष्टों से ऊपर उठता है। कष्टमात्र के लिए अविद्या, अज्ञान ही उर्वरा भूमि है। 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्' (योगदर्शन)। २. **उत उ**=और अब निश्चय से **ते इषवे**=(इष् प्रेरणे) आपसे दी गई प्रेरणा का **नमः**=हम आदर करते हैं। आपसे वेदज्ञान में दी गई प्रेरणाएँ हमारे लिए कितनी उपयोगी हैं। अथर्व के प्रारम्भ में कहा गया 'वाचस्पति' शब्द 'वाणी व जिह्वा का पति बनना, इन्हें काबू में रखना' हमारे अनन्त कल्याण का कारण बन जाता है। जिह्वा के रस में न फँसकर परिमित भोजन करते हुए हम सब रोगों से ऊपर उठ जाते हैं और इस जिह्वा को वश में करके नपे-तुले परिमित शब्द बोलते हुए हम पारस्परिक कलहों में नहीं फँसते। आपकी एक-एक प्रेरणा हमारा अनन्त उपकार करनेवाली है। ३. **उत**=और **ते बाहुभ्याम्**=(बाहृ प्रयत्ने) आपके इन दोनों प्रयत्नों के लिए हम **नमः**=नतमस्तक होते हैं। आपने हमें 'ऋग्वेद' के द्वारा विज्ञान दिया तो अथर्व के द्वारा ज्ञान। विज्ञान ने हमें अभ्युदय के साधन के योग्य बनाया तो ज्ञान से निःश्रेयस का पथिक। इस प्रकार हमारे जीवनों में आपने 'प्रेय व श्रेय' दोनों का समन्वय कर दिया। प्रकृति से हमने ऐहलौकिक उन्नति का साधन किया तो आत्मतत्त्व से परलोक का। इस प्रकार आपकी कृपा से हमारे जीवन में धर्म का उदय हुआ **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**। धर्म अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को ही सिद्ध करता है। धर्म के शिखर पर पहुँचनेवाला यह सचमुच 'परमेष्ठी' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि बनता है।

भावार्थ—प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान के लिए, उस ज्ञान द्वारा दी जानेवाली प्रेरणाओं, और उन प्रेरणाओं से सिद्ध होनेवाले अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए हम नतमस्तक होते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी वा कुत्सः। देवता—रुद्रः। छन्दः—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

गिरिशन्त

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ॥२॥

१. गत मन्त्र के ज्ञान का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **रुद्र**=ज्ञान देकर दुःखों का द्रावण करनेवाले प्रभो! **या**=जो **ते**=आपकी **तनूः**=सत्योपेदेशनीति (द०)=सत्योपदेश का मार्ग है वह (क) **शिवा**=अभ्युदय व निःश्रेयस के साधन से सचमुच हमारा कल्याण

करनेवाला है। (ख) **अघोरा**=हमारे जीवनों को विषयशून्य व सौम्य बनानेवाला है। (ग) यह सत्योपदेशनीति **अपापकाशिनी**=अपापों को—सत्यधर्मों को ही प्रकाशित करनेवाली है। आपके वेदज्ञान में सत्यधर्म का ही उपदेश है। २. हे **गिरिशन्त**=(यो गिरिणा सत्योपदेशेन शं सुखं तनोति—द०) सत्योपदेश की वाणी से सुख व शान्ति का विस्तार करनेवाले प्रभो! (गिरि वाचि स्थितः शं तनोति—म०) आप इस वाणी के द्वारा परिमित भोजन का उपदेश देते हुए (आज्यं तौलस्य प्राशान=घी को तोलकर खाओ, नपा-तुला खाओ) हमें नीरोग व सुखी करते हैं तथा परिमित मधुर बोलने का उपदेश देते हुए (वाचं स्वदतु=स्वादवाली, मधुरवाणी ही बोलो) हमारे जीवनों को कलहों से ऊपर उठाकर शान्त करते हैं। आप **तया तन्वा**=उस सत्योपदेश नीति से जो **नः**=हमारे लिए **शन्तमया**=अधिक-से-अधिक शान्ति का विस्तार करनेवाली है, **अभिचाकशीहि**=हमें देखिए, हमारी रक्षा का ध्यान कीजिए (चाकशीतिः पश्यतिकर्मा—नि० ३।११ देखना=to look after ध्यान करना) ३. हे प्रभो! आप **गिरिशन्त**='गिरीश' वेदवाणी में स्थित होनेवाले तथा 'अन्त' (अमति गच्छति जानाति) सर्वज्ञ हैं। आप सब सत्यविद्याओं की आश्रयभूत, अत्यन्त सुखकारिणी इस वेदवाणी से हमारा पालन कीजिए।

भावार्थ—उस प्रभु का दिया हुआ ज्ञान 'शिव, अघोर व पुण्य का प्रकाशक' है और शन्तम=अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला है। इस ज्ञान से ही प्रभु हमारा पालन करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी वा कुत्सः। देवता—रुद्रः। छन्दः—विराडार्ष्युनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अस्तवे (Broadcasting)

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंꣳसीः पुरुषं जगत्॥३॥

१. हे **गिरिशन्त**=वेदवाणी में स्थित होकर इस ज्ञानवाणी के द्वारा शान्ति का विस्तार करनेवाले प्रभो! **याम् इषुम्**=जिस प्रेरणा को **अस्तवे**=चारों ओर—सम्पूर्ण आकाशदेश में फेंकने (broadcast) के लिए **हस्ते बिभर्षि**=आप हाथ में धारण करते हैं। 'हाथ में धारण करना' यह प्रयोग 'ज्ञान के उपस्थित' होने का सूचक है (on the tip of fingers=सारे पाठ का अंगुलियों के अग्रभाग में उपस्थित होना) प्रभु तो ज्ञानमय हैं। इस ज्ञान के द्वारा वे निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। उस प्रेरणा को मानो वे सम्पूर्ण आकाश में फैला रहे हैं। जैसे एक ब्रॉडकास्टिङ्ग स्टेशन से किसी समाचार को सारे आकाश में फेंका जाता है, उसी प्रकार वे प्रभु सम्पूर्ण ज्ञान की प्रेरणा को हाथ में धारण किये हुए चारों ओर फैला रहे हैं। २. यदि उस प्रेरणा को हम सुनते हैं तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण होता है। हे **गिरित्र**=इस वेदवाणी में स्थित होकर हमारा त्राण करनेवाले प्रभो! **ताम्**=उस ज्ञान-प्रेरणा को आप हमारे लिए **शिवाम्**=कल्याणकारिणी **कुरु**=कीजिए। ३. आप उस प्रेरणा के द्वारा **जगत् पुरुषम्**=क्रियाशील पुरुष को **मा हिंसीः**=मत हिंसित होने दीजिए। जो उस प्रेरणा के अनुसार गति करता है, उसकी हिंसा नहीं होती। हे प्रभो! आप उसे और अधिक क्रियान्वित करने के लिए भी प्रेरणा दीजिए तभी तो हम नाश से अपनी रक्षा कर सकेंगे।

भावार्थ—हे प्रभो! आप वेदवाणी के ब्रॉडकास्टिङ्ग स्टेशन हैं, मैं उसका ग्रहण करनेवाला रेडियो सेट बनूँ। उस प्रेरणा को ग्रहण करके अपना कल्याण सिद्ध कर सकूँ।

ऋषिः—परमेष्ठी। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अयक्ष्मं+सुमना

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳसुमनाऽअसत्॥४॥

१. हे **गिरिश**=वेदवाणी में निवास करनेवाले प्रभो! सारी वाणियाँ आपका ही वर्णन कर रही हैं 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'। हम **शिवेन वचसा**=इस कल्याणकारिणी वेदवाणी से **त्वा अच्छ**=(अच्छ अभेदाप्तुम् इति शाकपूणिः—नि० ५।२८) आपको प्राप्त करने के लिए **वदामसि**=प्रार्थना करते हैं। अथवा इस वेदवाणी के अनुसार अपने जीवन को बनाते हुए, वेदवाणी को जीवन से कहते हुए, आपको प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। आपको प्राप्त करने का उपाय यही है कि हम वेदवाणी के अनुसार अपने जीवन को बनाएँ। २. **यथा**=जिससे **नः**=हमारा **सर्वं इत् जगत्**=सारा ही जगत्—हमारे सब क्रियाशील व्यक्ति **अयक्ष्मम्**=रोग से रहित तथा **सुमना**=उत्तम मनवाले=प्रसन्नचित्त **असत्**=हों। वेदवाणी के हमारे जीवनों पर दो परिणाम हैं। यह हमारे शरीरों को व्याधि-शून्य बनाती है (अयक्ष्मम्) तथा मन की आधियों को हरती है (सुमनाः)।

भावार्थ—हम अपने जीवन को वेदवाणी के अनुसार बनाते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। हमारे शरीर व्याधियों से शून्य हों और मन आधियों से।

ऋषिः—बृहस्पतिः। देवता—एकरुद्रः। छन्दः—भुरिगार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रथम दैव्य भिषक्

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव॥५॥

१. गत मन्त्र में आधि-व्याधियों के दूरीकरण का प्रसङ्ग था। इन आधि-व्याधियों को दूर करनेवाला **प्रथमः**=सबसे पहला **दैव्यः**=मन में दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाला तथा **भिषक्**=शरीर के रोगों का प्रतीकार करनेवाला वह प्रभु ही **अधिवक्ता**=(अधि=उपरिभाव व ऐश्वर्य का वाचक है) सबसे श्रेष्ठ उपदेष्टा है, वह गुरुओं का भी गुरु है 'सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योगदर्शन)। वह पूर्ण ज्ञानी होने से ऐश्वर्य के साथ, पूर्ण प्रभुत्व (full mastery) के साथ बोलनेवाला है। उसके प्रतिपादन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। २. वह प्रभु **अध्यवोचत्**=हमें आधिक्येन उपदेश करे, हमें खूब ही प्रेरणा प्राप्त कराता रहे। ३. हे प्रभो! आप हमारे मनों से **सर्वान् अहीन् च**=सब कुटिल वृत्तियों को (साँप कुटिलता का प्रतीक है) अथवा (आहन्ति) सब हिंसावृत्तियों को **जम्भयन्**=नष्ट करते हुए **सर्वाः च यातुधान्यः**=एक-दूसरे से बढ़कर पीड़ा (यातु) का आधान करनेवाली (धानी) सब बीमारियों को **अधराचीः** (अधः अञ्चति)=अधोगमनशील करके **परा सुव**=हमसे दूर कर दीजिए। ४. यहाँ 'अधराचीः' शब्द के महत्त्व को समझना चाहिए। सब रोग शरीर में मल-सञ्चित हो जाने से होते हैं। विरेचन के द्वारा इन्हें शरीर से पृथक् करना चाहिए। मल गया, रोग गया। एवं, विरेचन रोग को दूर भगाने में अत्यन्त सहायक है। ४. मलों के दूरीकरण से शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए मनों से कुटिलवृत्ति व हिंसा की वृत्ति को दूर करना है। यह स्वस्थ मन व स्वस्थ शरीरवाला व्यक्ति ही 'बृहस्पति' है, ऊर्ध्वा दिक्

का अधिपति है, यही तो सर्वोच्च स्थिति है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही अधिवक्ता हैं, प्रथम दैव्य भिषक् हैं। आप हमारे मनों से कुटिलता व हिंसा को भगाकर स्वस्थ कीजिए तथा रोगों को दूर करके शरीर की पीड़ा को दूर कीजिए।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

राजा ताम्रः अरुणः

असौ यस्ताम्रोऽअरुणऽउत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनꣳरुद्राऽअभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳहेडऽईमहे ॥६॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना थी कि हमारी सब 'आधि-व्याधि' दूर हो जाएँ। इन्हें दूर भगाने के लिए ही राजा एक राष्ट्र की व्यवस्था करता है। इस राज्य का मुखिया या राजा **असौ**=वह होता है **यः**=जो (क) **ताम्रः** =(ताम्रवत् कठिनाङ्गः—द०) ताम्र की तरह दृढ़ शरीरवाला होता है। अथवा 'तम्यते' (to wish, to desire) सब प्रजाओं से चाहा जाता है, अर्थात् अपने प्रजापालकत्वादि उत्तम गुणों के कारण जो सारी प्रजा का प्रिय है। यह अपने कान्त गुणों से सब प्रजा के लिए वैसे ही अभिगम्य बनता है, जैसे रत्नों के कारण समुद्र। (ख) **अरुणः**=(अग्निरिव तीव्रतेजाः—द०) जो अग्नि के समान तीव्र तेजवाला है। 'अरुणः आरोचनः' (नि० ५।२०) जो अपने तेज से सर्वतो देदीप्यमान है। उस तेज के कारण शत्रुओं से जिसका धर्षण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जैसेकि मगरमच्छों के कारण समुद्र का। (ग) वह **बभ्रुः**=प्रजा का खूब ही पालन व पोषण करनेवाला है। (घ) **सुमङ्गलः**= सदा उत्तम कल्याण को सिद्ध करनेवाला है। २. इस राजा ने राष्ट्ररक्षा के लिए कितने ही अध्यक्षों को नियत किया है। इनका कार्य (रुत्-र) प्रजा को ज्ञान देना है, प्रजा को राज्य के नियमों से भली-भाँति अवगत कराना है तथा (रुत्-द्रु) प्रजाओं के दुःखों के द्रावण के लिए (रोदयति) शत्रुओं को रुलाना है और नियम-भङ्ग करके औरों की असुविधा का कारण बननेवालों को भी पीड़ित करना है। एवं, ये अध्यक्ष 'रुद्र' हैं। ३. **ये च**=और जो **एनं अभितः** =इस राजा के चारों ओर **रुद्राः**=वे अधिकारी लोग **दिक्षु श्रिताः**=भिन्न-भिन्न दिशाओं में नियुक्त हुए-हुए हैं, **सहस्रशः**=जोकि हजारों की संख्या में हैं, **एषाम्**=इनके **हेडः**=क्रोध को **अव ईमहे**=(अवनयामः) हम अपने से दूर करते हैं। राज्य के नियमों के पालन का ध्यान करते हुए हम इनके क्रोध का पात्र नहीं बनते। ४. इस प्रकार उत्तम व्यवस्था करनेवाला राजा ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति, अर्थात् प्रजा का सच्चा रक्षक होता है'।

भावार्थ—राजा 'ताम्र, अरुण, बभ्रु व सुमङ्गल' हो। अध्यक्ष 'रुद्र' हों। प्रजा नियम-पालन करती हुई इनके क्रोध का पात्र न बने।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—रुद्रः। छन्दः—विराडार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

नीलग्रीवो विलोहित

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।
उतैनं गोपाऽअदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः ॥७॥

१. गत मन्त्र के राजा का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **असौ**=वह **यः**=जो

अवसर्पति=अपने उच्च सिंहासन से नीचे (अव) आता है, आसन पर ही नहीं जमा बैठा रहता, अपितु (अव=away) राष्ट्र में नियत किये हुए अध्यक्षों के कार्यों को देखने के लिए दूर-दूर तक गति करनेवाला होता है। इसके इस निरीक्षण-कार्य के कारण ही अध्यक्ष प्रमत्त व रिश्वत लेनेवाले नहीं होते। २. **नीलग्रीवः**=**कल्माषग्रीवः**=विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाला यह राजा है। 'शुद्धकण्ठस्वराय' (द० १६।८) बड़े शुद्ध कण्ठ स्वर से यह युक्त है। इसकी वाणी स्पष्ट व मधुर है। यह अपने शासनों को बड़ी स्पष्टता से देता है। ३. **विलोहितः**=(विविधैः शुद्धगुणकर्मस्वभावै रोहितो वृद्धः-द०) विविध शुद्ध गुण-कर्म व स्वभावों से यह खूब बढ़ा हुआ व उन्नत है। अथवा (विशिष्टं लोहितं यस्य) विशिष्ट रुधिरवाला है। शुद्ध क्षत्रियवंश में उत्पन्न हुआ है। ४. ऐसा होता हुआ भी यह प्रजाओं के लिए अनभिगम्य नहीं और तो और **एनं गोपाः उत**=इसको तो ग्वाले भी **अदृश्रन्**=देख पाते हैं-**उदहार्यः**=पानी ढोनेवाली कहारिन की भी **अदृश्रन्**=इस तक पहुँच हो सकती हैं। वे भी अपनी शिकायत को इस तक पहुँचाने के लिए इससे मिल सकती हैं। यह राजा राष्ट्र में छोटे-से-छोटे व्यक्ति की भी शिकायत सुनता है। ५. सुनकर अनसुना नहीं कर देता अपितु **दृष्टः सः**=देखा हुआ वह राजा जिसको मिलकर हमने अपनी दुःख की गाथा सुनाई है **नः मृडयाति**=हमारी शिकायतों को दूर करने की व्यवस्था करके हमें सुखी बनाता है।

भावार्थ-राजा प्रजा में विचरता है, खूब ज्ञानी व मधुर स्वरवाला है, खूब उन्नत व विशिष्ट रुधिरवाला तथा तेजस्वी है। छोटे-से-छोटे व्यक्ति के लिए अभिगम्य है। वह सबकी शिकायतों को दूर करके उन्हें सुखी करता है।

ऋषिः-प्रजापतिः। देवता-रुद्रः। छन्दः-निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः-गान्धारः॥

सहस्त्राक्षा मीढ्वान्

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्त्राक्षाय मीढुषे।
अथो येऽअस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः ॥८॥

१. इस **नीलग्रीवाय**=विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाले अथवा शुद्ध कण्ठ स्वरवाले **सहस्त्राक्षाय**=(चारैः चक्षुः) सहस्त्रों गुप्तचररूपी आँखोंवाले **मीढुषे**=सुखों का सेचन करनेवाले राजा के लिए **नमः अस्तु** =आदर हो। २. राजा ज्ञानी व मधुरभाषी हो। आधिपत्य का मद उसे कठोरभाषी न कर दे। वह राष्ट्र में स्वयं घूमेगा तो सही, फिर भी प्रजा की स्थिति के ठीक परिज्ञान के लिए उसे सहस्त्रों गुप्तचरों को नियत करना होगा। '**चारैः पश्यन्ति राजानः**' राजा लोग गुप्तचरों के द्वारा ही आँखोंवाले होते हैं। गुप्तचरों से ठीक स्थिति को जानकर उचित व्यवस्था करते हुए ये प्रजा के जीवन को सुखी बनाएँ। ३. **अथ उ**=और अब **ये**=जो **अस्य**=इस राजा के **सत्वानः**=प्राणी हैं, भृत्य हैं। बड़े अध्यक्ष 'रुद्र' हैं तो ये छोटे कर्मचारी 'सत्वानः' कहे गये हैं, 'सीदति राष्ट्रं येषु'=इन्हीं में राष्ट्र निषण्ण होता है, ये ही राष्ट्र की उत्तम स्थिति करने में सबसे अधिक सहायक हैं। **अहम्**=मैं **तेभ्यः**=इन सिपाही आदि छोटे कर्मचारियों का भी **नमः अकरम्**=उचित आदर करता हूँ। हमें चौराहे पर खड़े पुलिसमैन का भी आदर करना चाहिए। उसके दिये गये संकेत को हम न मानेंगे तो अवश्य दुर्घटना कराके अपने को घायल कर लेंगे, अतः हमें जैसे 'रुद्रों' का आदर करना है, वैसे ही इन 'सत्वानः' का भी आदर करना चाहिए।

भावार्थ-राजा चार-चक्षु होता है। प्रजा की स्थिति को उनके द्वारा जानकर वह

उचित व्यवस्था से सुखों का वर्षक होता है। व्यवस्था के लिए नियत उसके कर्मचारियों का भी हमें उचित आदर करना चाहिए।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—रुद्रः। छन्दः—भुरिगार्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

धनुः प्रमोचन

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरात्न्योर्ज्याम्। याश्च ते हस्तऽइषवः परा ता भगवो वप॥९॥

१. राजा को प्रस्तुत मन्त्र में 'भगवः' शब्द से सम्बोधन किया है। **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥'** इस वाक्य के अनुसार राजा ने राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाना है, राष्ट्र में धर्म व शक्ति की वृद्धि करनी है। राष्ट्र को यशस्वी बनाना है, श्रीसम्पन्न करना है। राष्ट्र के लोगों में ज्ञान का विस्तार करके उन्हें विषयों के प्रति अनासक्त बनाना है। **भगवः**=हे ऐश्वर्यादि के साधक राजन्! **त्वम्**=तू **धन्वनः उभयोः आत्न्योः**=धनुष की दोनों कोटियों पर **ज्याम्**=डोरी को, प्रत्यञ्चा को **प्रमुञ्च**=(put on) धारण कर, अर्थात् अपने धनुष को, अस्त्रों को ठीक-ठाक कर। २. **च**=और **ते हस्ते**=आपके हाथ में **या इषवः**=जो बाण हैं, **ताः**=उन्हें **परावप**=सुदूर शत्रुओं पर फेंक। यहाँ 'परा' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि राजा ने अस्त्रों का प्रयोग दूर शत्रुओं पर ही करना है न कि समीप अपनी ही प्रजाओं पर। अस्त्रों का प्रयोग शत्रुओं को दूर करने के लिए होना चाहिए, प्रजा की भावनाओं को कुचलने के लिए नहीं।

भावार्थ—राजा का धनुष शत्रुओं के निधन का कारण बने। शत्रुओं से देश को सुरक्षित कर राजा राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला हो।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—रुद्रः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

विज्यं धनुः आभुःनिषङ्गधिः

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२॥ऽउत।
अनेशन्नस्य याऽइषवऽआभुरस्य निषङ्गधिः॥१०॥

१. शत्रुओं को दूर भगाकर **कपर्दिनः**='केन सुखेन परं पूर्तिं ददाति'=प्रजाओं में सुख-विस्तार से तृप्ति देनेवाले, प्रजाओं में सुख को फैलानेवाले इस राजा का **धनुः**=धनुष, अब शत्रु-विजय के बाद **विज्यम्** =ज्यारहित हो जाता है। शत्रुओं को मारने के लिए गत मन्त्र में जिस धनुष पर ज्या को चढ़ाया था, वह धनुष अब विजय के बाद उतारी हुई ज्यावाला कर दिया गया है। २. **उत**=और **बाणवान्**=वह धनुष जोकि अब तक उत्तम बाणोंवाला था, अब **विशल्यः**=शल्यों से रहित हो गया है। ३. **अस्य**=इसके **याः इषवः**=जो शत्रु-शातन करनेवाले शर थे, वे सब अब **अनेशन्**=(णश् अदर्शन) अदृष्ट हो गये हैं। उन्हें अस्त्रागार में सुरक्षित रख दिया गया है। ४. **अस्य**=इसका **निषङ्गधिः**=(निषज्यते इति निषङ्गः खड्गः तद्यस्मिन् धीयते) म्यान, जिसमें कि अब तक तलवार विद्यमान थी, वह अब **आभुः**=रिक्त—खाली है। तलवार को भी ठीक-ठाक व तेज़ करने के लिए म्यान से निकाल कर अलग रख दिया गया है। ५. संक्षेप में, शत्रु को जीतकर यह राजा अब 'न्यस्तसर्वशस्त्र' हो गया है। अपनी प्रजा पर इसने अस्त्रों का प्रयोग थोड़े ही करना है।

भावार्थ—प्रजा में सुख-सञ्चार करनेवाले राजा का अस्त्रागार शत्रुओं के संहार के लिए है, प्रजा पर अत्याचार के लिए नहीं।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मीढुष्टम

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः। तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज ॥११॥

१. शत्रुओं के नाश व प्रजाओं के कल्याण के द्वारा यह राजा प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाला है। हे **मीढुष्टम**=अधिक-से-अधिक सुखों के वर्षक राजन्! **या**=जो **ते**=तेरा **हेतिः**=शत्रुओं का संहार करनेवाला वज्र (नि० २।२०) है और **ते हस्ते**=तेरे हाथ में जो **धनुः बभूव**=धनुष है। २. **तया**=उस **अयक्ष्मया**=(नास्ति यक्ष्मा यस्य) सब रोगों—उपद्रवों को दूर करनेवाले अस्त्र से **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **त्वं परिभुज**=आप परिपालित कीजिए। ३. राजा प्रान्तभागों पर इस प्रकार सशस्त्र सैन्य को सन्नद्ध रखता है कि राष्ट्र में किसी प्रकार का शत्रुजनित प्रकोप न हो, शान्त—बीमारियों से रहित राज्य में ही प्रजा उन्नत हो पाती है।

भावार्थ—'मीढुष्टम' वह राजा है जो हाथ में धनुष लिये हुए चारों ओर से होनेवाले आक्रमणों से राष्ट्र को सुरक्षित रखता (करता) है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

धन्वनो हेतिः इषुधिः

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः।
अथो यऽइषुधिस्तवारेऽअस्मन्निधेहि तम् ॥१२॥

१. हे राजन्! **ते**=तेरा **धन्वनः हेतिः**=धनुष-सम्बन्धी नाशक बाण **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिवृणक्तु**=शत्रु-संकट से मुक्त करे (परिवर्जयतु—उ०), अर्थात् सब प्रान्तभाग इस प्रकार शस्त्र-सन्नद्ध सेना से युक्त हों कि कोई भी शत्रु हमारे राष्ट्र पर आक्रमण न कर सके। राजा के ये शत्रु-शातक तीर हमें शत्रु-संकट से सदा सुरक्षित रक्खें। २. परन्तु हे राजन्! **अथ उ**=अब यह **यः**=जो तेरा **इषुधिः**=बाणों के रखने का तूणीर (तरकस) है **तम्**=उसे **अस्मत्**=हमसे **आरे**=दूर ही **निधेहि**=रख, अर्थात् तेरे ये बाण अपनी प्रजा पर ही न चलने लगें।

भावार्थ—अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग शत्रुओं के शातन के लिए हो। अस्त्र-शस्त्रों को प्रजा से दूर ही रखना है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

शतेषुधि

अवतत्य धनुष्ट्वꣳसहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥१३॥

१. हे शत्रुओं के विजेता **सहस्राक्ष**=गुप्तचररूपी हज़ारों आँखोंवाले! गुप्तचरों के द्वारा प्रजा की स्थिति या शत्रुओं की गतिविधि को भली प्रकार देखनेवाले! **शतेषुधे**=शत्रु-संहार के लिए अनन्त—बहुत अधिक तरकसोंवाले, अर्थात् अक्षीण अस्त्र-शस्त्रवाले राजन्! अब शत्रुओं को जीतकर **त्वम्**=तू **धनुः अवतत्य**=धनुष पर से डोरी को उतारकर और **शल्यानाम्**=बाणों के **मुखा**=मुखों को, अग्रभागों को, अर्थात् उनके फलाग्रों को **निशीर्य**=शीर्ण करके

नः=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला और **सुमना भव**=शोभन मनवाला हो। २. विजय से प्रसन्न राजा प्रजाओं से उत्साहित व अभिनन्दित किया जाता हुआ, प्रजाओं के कल्याण को सिद्ध करनेवाला हो। वह प्रसन्न मनवाला तथा उत्साहपूर्वक राजकार्य करनेवाला बने। शत्रु-विजय के लिए इसके शस्त्र पर्याप्त हों, अनन्त हों, परन्तु प्रजा पर अत्याचार के समय वे कुण्ठित हों।

भावार्थ—१. राजा शत्रु की गतिविधि के ज्ञान के लिए शतशः गुप्तचरों को नियत करता है, अनन्त अस्त्र-शस्त्रों को सुसज्जित करता है। एवं, राजा शत्रु के लिए भयंकर है. २. परन्तु प्रजा के लिए निरस्त्र होकर कल्याणकर व शोभन मनवाला है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—स्वराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अनातत आयुध

नमस्तुऽआयुधायानातताय धृष्णवे। उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने॥१४॥

१. हे राजन्! **ते**=तेरे **धृष्णवे**=धर्षणशील—शत्रुसंहार में निपुण, पर **अनातताय**=जिसकी धनुष पर आरोपित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, ऐसे उस **आयुधाय**=आयुध के लिए—शस्त्र-समूह के लिए अथवा जो प्रजा को दबाने के लिए कभी धनुष पर आरोपित नहीं किया जाता, उस आयुध के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, उसके महत्त्व की प्रशंसा करते हैं। २. हे राजन्! **उत**=और **ते**=तेरे **उभाभ्याम्**=दोनों **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों के लिए, अर्थात् बाह्यशत्रुओं के नाश तथा प्रजा-रक्षणरूप प्रयत्न के लिए **नमः** =हम तेरा आदर करते हैं। ३. इन दोनों प्रयत्नों में सहायभूत **तव धन्वने**=तेरे इस धनुष के लिए हम आदर करते हैं। ४. यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'आयुधाय' शब्द से आयुधों का होना तो आवश्यक है परन्तु 'अनातताय' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि यथासम्भव इनका प्रयोग न ही करना पड़े। ५. 'उभाभ्यां बाहुभ्यां' इन शब्दों से राजा के इन दोनों मौलिक कर्त्तव्यों का भी स्पष्ट प्रतिपादन है कि (क) उसने युद्ध द्वारा शत्रुओं को जीतना है, उनके आक्रमणों से देश की रक्षा करनी है, और (ख) प्रजा की अन्तः उपद्रवों से भी रक्षा करनी है। 'सेना पहला कार्य करेगी,' तो राजपुरुष (police) दूसरे कार्य को। राजा के ये दोनों कार्य आदरणीय होते हैं। इन कार्यों के साधक अस्त्र भी आदृत होते हैं।

भावार्थ—हम 'शत्रुनाशक, राष्ट्ररक्षक' राजा का आदर करें। राष्ट्र की रक्षा करनेवाला राजा ही प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'प्रजापति' कहलाने योग्य है।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सर्वरक्षण

मा नो महान्तमुत मा नोऽअर्भकं मा नऽउक्षन्तमुत मा नऽउक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥१५॥

१. राज्य-व्यवस्था के उत्तम होने पर अपने जीवनों को उत्तम बनाकर हम प्रभु से-प्रार्थना करें हे **रुद्र**=ज्ञान देनेवाले और उस ज्ञान के अनुसार आचरण करनेवालों के दुःखों को दूर करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **महान्तम्**=बड़े पुरुष को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए। आपकी कृपा से उनके दीर्घ जीवन के परिणामस्वरूप हमारे सिरों पर उनकी छत्रछाया बनी रहे। २. **उत**=और **नः**=हमारे **अर्भकम्**=छोटों को भी **मा रीरिषः**=मत हिंसित

कीजिए। बड़ों के निर्देश व निरीक्षण छोटों के कल्याण का कारण होते ही हैं। ३. **नः**=**उक्षन्तम्**=गृहस्थ में नव प्रवेशवाले—सन्तति के लिए वीर्यसेक्ता तरुण को **मा**=मत हिंसित कीजिए। वे संयमी जीवनवाले होकर दीर्घ जीवी बनें। ४. **उत**=और **नः**=हमारे **उक्षितम्**=सिक्त, गर्भस्थ बालक को **मा**=मत हिंसित कीजिए। वीर्यसेक्ता के परिपक्व वीर्यवाला होने पर गर्भस्थ सन्तान कभी विपन्न नहीं होती। ५. **नः**=हमारे **पितरम्**=पिता को **मा वधीः**=मत विपन्न कीजिए। पिता के चले जाने पर घर का रक्षण कैसे होगा? ६. **उत**=और **मातरं मा वधीः**=हमारी माता को भी सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः उसे सन्तानों में कुल-धर्मों की परम्परा को सुरक्षित करना है, सन्तानों के चरित्र का निर्माण माता ने ही करना है। ७. हे रुद्र! आप **नः**=हमारे **प्रियाः तन्वः**=जिनका तर्पण किया गया है (प्रीञ् तर्पणे) उचित भोजनादि के द्वारा जिनका ठीक पोषण किया गया है, जिन्हें हमने स्वास्थ्य की कान्ति प्राप्त कराने का प्रयत्न किया है, उन हमारे प्रिय शरीरों को **मा रीरिषः**=मत हिंसित होने दीजिए। ८. 'रुद्र' राजा का सेनापति भी है जो शत्रुओं को रुलाने का कारण बनता है। युद्ध के अवसर पर उन 'योद्धा लोगों को चाहिए कि वृद्धों, बालकों, युद्ध न कर रहे युवकों, गर्भों, योद्धाओं के माता-पिताओं, सब स्त्रियों, युद्ध के देखनेवालों और दूतों को न मारें' (द०)। यदि ये लोग कैदी बनाये जा सकें तो इनको वश में रक्खें, परन्तु मारें नहीं। सेनापति 'कुत्स' है (कुथ हिंसायाम्) वह राष्ट्र के शत्रुओं का संहार करता है, परन्तु युद्ध में भाग न लेनेवालों को नहीं मारता।

भावार्थ—प्रभु हम सबका रक्षण करनेवाले हैं। हमें भी चाहिए कि युद्ध उपस्थित होने पर भी युद्ध में भाग न लेनेवालों का हम संहार न करें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

हविष्मान् की आराधना

मा नस्तोके तनये मा नऽआयुषि मा नो गोषु मा नोऽअश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥१६॥

१. **नः**=हमारे **तोके**=पुत्र के विषय में **मा रीरिषः**=हिंसा मत कीजिए। **तनये**=वंश का विस्तार करनेवाले पौत्र के विषय में भी हिंसा न कीजिए। २. **नः आयुषि**=हमारे जीवन के विषय में भी हिंसा न कीजिए तथा ३. **नः**=हमारी **गोषु**=गौवों के विषय में **नः**=हमारे **अश्वेषु**=घोड़ों के विषय में (गोऽजाव्यादिषु, तुरङ्गहस्त्युष्ट्रादिषु—द०) गौ, बकरी, भेड़ आदि तथा घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि को **मा रीरिषः**=हिंसित मत कीजिए। ४. हे **रुद्र**=शत्रुओं के रुलानेवाले! तू **नः**=हमारे **भामिनः वीरान्**=(shining, beautiful) तेजस्वी, स्वास्थ्य के सौन्दर्यवाले वीरों को **मा वधीः**=मत नष्ट कर। ५. **हविष्मन्तः**=हवि=बचे हुए को खानेवाले होकर **सदम् इत्**=सदा ही हम **त्वां हवामहे**=आपकी प्रार्थना करते हैं। प्रभु की उपासना **'हविवाले'** बनने से ही होती है। ६. रुद्र की भावना सेनापति की लेने पर अर्थ होगा **हविष्मन्तः**=देव पदार्थों को लेकर **सदम्**=न्याय में आसीन **त्वा**=तुझे **इत्**=निश्चय से **हवामहे**=(स्वीकुर्महे) स्वीकार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारे पुत्र-पौत्र दीर्घजीवी हों। हमारे गवादि पशु सुरक्षित हों। हमारे तेजस्वी युवक असमय में न चले जाएँ।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

नमः=आदर

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥१७॥

१. राष्ट्र में सबसे पहले हम **हिरण्यबाहवे**=हितरमणीय प्रयत्नवाले (हिरण्य=हितरमणीय, बाहु प्रयत्ने) अथवा भुजाओं में शक्ति को धारण करनेवाले (द०) अथवा (हिरण्यालंकार-भूषितबाहवे) स्वर्णाभूषण से अलंकृत भुजावाले **सेनान्ये**=सेनापति के लिए **नमः**=आदर देते हैं। उस सेनापति के लिए जो **दिशां च पतये**=राष्ट्र की सब दिशाओं में रक्षा करनेवाला है, हम **नमः**=नमन करते हैं। एवं, सेनापति का कार्य राष्ट्र-रक्षा करने के लिए सदा हित-रमणीय प्रयत्नों में प्रवृत्त रहना है। २. उन **वृक्षेभ्यः**=वृक्षों के लिए जो **हरिकेशेभ्यः**=हरित वर्ण के पत्र-केशोंवाले हैं, अथवा जिनमें हरणशील सूर्य-किरणें प्राप्त हैं, (द०) **नमः**=हम आदर करते हैं, इस बात का हम पूर्ण ध्यान करते हैं कि राष्ट्र में वृक्षों की कमी न हो जाए। इन वृक्षों के साथ **पशूनां पतये नमः**=राष्ट्र के उस अधिकारी का भी हम आदर करते हैं जो पशुओं का रक्षण करता है, जो राष्ट्र में गवादि उत्तम पशुओं की कमी नहीं होने देता। सेनापति ने देश की सब दिशाओं से रक्षा करनी है तो वनाध्यक्ष ने वृक्षों का रक्षण करना है और पशुओं के अध्यक्ष ने राष्ट्र की पशु-सम्पत्ति को नष्ट नहीं होने देना। ३. हम **शष्पिञ्जराय**=(शडुत्प्लुतं पिञ्जरं बन्धनं येन-द०) विषयादि के बन्धनों से पृथक् **त्विषीमते**=(बह्व्यस्त्विषयो न्यायदीप्तयो विद्यन्ते यस्य-द०) न्याय के प्रकाशों से युक्त राष्ट्र के न्यायाधीश के लिए **नमः**=नतमस्तक होते हैं। उस न्यायाधीश के लिए जो **पथीनां पतये**=न्याय के द्वारा मार्गों का रक्षक है हम **नमः**=नतमस्तक होते हैं। जिस भी राष्ट्र में दण्ड का प्रणयन न्यायपूर्वक होता है, उस राष्ट्र में ही प्रजा धर्म के मार्ग पर चलती है। 'दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः'=न्याय-प्रणीत दण्ड को ही विद्वान् लोग धर्म का रक्षक जानते हैं। ४. अन्त में **नमः**=उसका हम आदर करते हैं जो **हरिकेशाय**=प्रजाओं के दुःखहरण से 'हरि' है, सुखप्रापण से 'क' और न्यायशासन करने से 'ईश' है। **उपवीतिने**=प्रशस्त यज्ञोपवीतवाले के लिए, अर्थात् जिसने उपवीत के तीन तारों को धारण करते हुए तीन व्रत लिये हैं कि (क) शरीर को वज्रतुल्य बनाऊँगा। (ख) मन की वासनाओं को छेदने के लिए 'परशु' बनूँगा। (ग) मेरा जीवन अविच्छिन्न ज्ञान का होगा (अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतं भव)। उसके लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं जो **पुष्टानां पतये**=(पुष्+क्त भावे)=सब पोषणों का पति है। शारीरिक, मानस व बौद्ध पोषण करनेवाला है, इस आदर्श राष्ट्रपुरुष, के लिए भी हम आदर देते हैं। ५. सेनापति, वनाध्यक्ष, पश्वाध्यक्ष, न्यायाधीश व मुख्य राष्ट्रपुरुष, अर्थात् राजा ये सब 'कुत्स' हैं, ये सब राष्ट्र की खराबियों को दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम राष्ट्र के मन्त्र-वर्णित अधिकारियों के उचित आदर से राष्ट्रोन्नति में सहायक हों।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

अन्न-क्षेत्र-वन

नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमो नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः ॥१८॥

१. **बभ्लुशाय** (बभ्लुषु राज्यधारकेषु शेते कर्मसु—द०)=सदा राज्यधारक कर्मों में निवास करनेवाले, **व्याधिने** (विध्यति—उ०)=शत्रुओं का वेधन करनेवाले के लिए, राष्ट्र-रक्षा के लिए शत्रुओं का संहार करनेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। शत्रु-संहार के साथ **अन्नानां पतये**=अन्नों के रक्षक के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं। राजा ने जहाँ शत्रु-संहार के लिए सेना व अस्त्रादि पर ध्यान देना है वहाँ उसने अन्न की भी पूर्ण व्यवस्था करनी है। शत्रुओं से बची हुई प्रजा कहीं अन्न-संकट का शिकार न हो जाए। राष्ट्र में गोलियाँ-ही-गोलियाँ (bullets and bullets) न हों, भोजन (bread) भी हो। २. **भवस्य**=संसार के ऐश्वर्य की (भूतिः भव=ऐश्वर्य) **हेत्यै**=(हि वृद्धौ) वृद्धि करनेवाले का हम **नमः**=आदर करते हैं। राजा का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाए और इस ऐश्वर्य वृद्धि के द्वारा **जगतां पतये नमः**=क्रियाशील पुरुषों की रक्षा करनेवाले के लिए हम नतमस्तक होते हैं। राष्ट्र में कोई भी आलसी, अकर्मण्य व याचक नहीं होना चाहिए। ३. **रुद्राय**=शत्रुओं के रुलानेवाले **आततायिने**=(आ समन्तात् ततं शत्रुदलमेतुं शीलमस्य—द०) चारों ओर फैले हुए शत्रुदलों पर आक्रमण करनेवाले के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं, परन्तु साथ ही **क्षेत्राणां पतये**=अन्न-क्षेत्रों की रक्षा करनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। शत्रुनाश के साथ क्षेत्रों के नाश होने पर शत्रुनाश से बची हुई प्रजा अन्नाभाव से मृत हो जाएगी। ४. अन्त में **सूताय**=उत्तम प्रेरणा देनेवाले और उस उत्तम प्रेरणा के द्वारा **आहन्त्यै**=न नष्ट होने देनेवाले धर्माध्यक्ष को **नमः**=हम आदर देते हैं। अथवा **सूताय** =उस सारथि के लिए जो **आहन्त्यै**=(हन्=गति) युद्ध में सर्वत्र घोड़ों को ले-जानेवाला है हम आदर देते हैं और **वनानाम्**=(Those who win) विजेताओं के **पतये**=मुखिया के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। अथवा **वनानाम्**=(वन=light) प्रकाश की किरणों के **पतये**=स्वामी के लिए, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानियों के लिए हम आदर देते हैं। वन 'शब्द का अर्थ घर' भी है। राष्ट्र में घरों के पति (Housing administrator) के लिए हम आदर देते हैं, उस अध्यक्ष के लिए जिसका काम घरों की उचित व्यवस्था करना है। अथवा वनों—जङ्गलों के रक्षक का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—हम राष्ट्र-रक्षक पुरुषों का उचित आदर करें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्रः। छन्दः—विराडतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

शिल्पी-कृषक-व्यापारी

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो नमऽ उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥१९॥

१. **रोहिताय**=(वृद्धिकराय—द०) राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ानेवाले **स्थपतये**=गृहादि के बनानेवाले शिल्पियों का **नमः**=हम आदर करते हैं। इसी शिल्प की उन्नति के लिए **वृक्षाणां पतये**=शिल्पोपयोगी काष्ठों को प्राप्त करानेवाले वृक्षों के रक्षकों का **नमः**=हम आदर करते हैं। घर आदि के निर्माण में लकड़ी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, घर का सारा परिच्छद (Furniture) लगभग इसी पर आश्रित है। २. **भुवन्तये**=भुवं तनोति=कृषि-योग्य भूमि का विस्तार करनेवाले के लिए, भूमि जोतनेवाले के लिए, और इस प्रकार **वारिवस्कृताय** (वरिवः=धनं वरिवस्कृदेव वारिवस्कृतः स्वार्थे अण्) धन के उत्पादक के लिए **नमः**=हम

नमस्कार करते हैं। इस कृषि के द्वारा **ओषधीनां पतये**=विविध ओषधियों के रक्षक व स्वामी के लिए हम **नमः**=आदर देते हैं। यहाँ 'भुवन्तये' शब्द से साम्राज्य-वृद्धि की भावना लेना उपयुक्त नहीं। ३. अब शिल्प व कृषि से उत्पन्न पदार्थों को विचारपूर्वक मण्डियों (Market) में ले-जानेवाले **मन्त्रिणे**=विचारशील **वाणिजाय**=व्यापारी के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं और व्यापार की रक्षा के लिए **कक्षाणां पतये** (कक्ष=Gate)=सब द्वारों के रक्षकों का हम **नमः**=आदर करते हैं। इन द्वारों की रक्षा न होने पर तस्कर-व्यापार (Smuggling) बढ़ जाता है। इसके रोकने के लिए देश में प्रविष्ट होने के साधनभूत सब द्वारों की रक्षा होनी चाहिए। कक्ष शब्द का अर्थ 'वनलतागुल्मवीरुध आदि' भी है। इनसे नाना प्रकार की ओषधियों का निर्माण होता है, अतः इनके रक्षक का हम आदर करते हैं। ४. 'कक्ष' का अर्थ सामन्त (border) प्रदेश भी है। व्यापार की रक्षा के लिए और विशेषतः तस्कर व्यापार को रोकने के लिए सामन्त देश में नियुक्त सेना का जो सेनापति है जो **उच्चैःघोषाम्**=खूब गर्जती हुई आवाज़वाला है और **आक्रन्दयते**=युद्ध में शत्रुओं का सामना करनेवाला है तथा **पत्तीनां पतये**=जो पत्तियों का स्वामी है उसका हम आदर करते हैं। 'एको रथो गजश्चाश्वस्त्रयः पंच पदातयः। एष सेनाविशेषोऽयं पत्तिरित्यभिधीयते'=एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े, पाँच प्यादे-ये मिलकर 'पत्ति' कहलाती है। सामन्त प्रदेश में स्थान-स्थान पर इस प्रकार की पत्ति की व्यवस्था होती है। इन पत्तियों के स्वामी को हम आदर देते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में 'शिल्पी, कृषक या व्यापारी' ये सब उचित आदर पाएँ तथा प्रान्तभाग पर रक्षा के लिए नियत पत्तियों के पति का भी हमें आदर करना है।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—अतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

रक्षक पुरुष

नमः॑ कृत्स्नाय॒तया॒ धाव॑ते॒ सत्व॑नां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नम॒ः सह॑मानाय निव्या॒धिन॑ऽआव्या॒धिनी॑नां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ ककु॒भाय॑ स्ते॒नानां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निचे॒रवे॑ परिच॒रायार॑ण्यानां॒ पत॑ये॒ नमः॑ ॥२०॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'प्रान्तभाग पर नियुक्त रक्षकों के आदर' से हुई थी। उसी प्रसङ्ग को आगे कहते हैं कि **कृत्स्नायतया**=पूर्णरूप से (कृत्स्न) आयत खेंचे हुए आकर्णपूर्ण धनुष् के साथ **धावते**=रक्षा के लिए इधर-उधर भागते हुए अथवा सबके (आय) लाभ के दृष्टिकोण से गति करते हुए **सत्वनां पतये**=प्राणियों के रक्षक का **नमः**=हम आदर करते हैं। २. **सहमानाय**=(अरीन् सहते अभिभवति) शत्रुओं का पराभव करनेवाले **निव्याधिने**=(नितरां विध्यति) शत्रुओं का खूब वेधन करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, और **आव्याधिनीनाम्**=समन्तात् शत्रुओं का वेधन करनेवाली शूर सेनाओं के **पतये**=पति का **नमः**= हम आदर करते हैं। **निषङ्गिणे**=तलवारवाले के लिए (द०) अथवा बाण, असि, बन्दूक, तोप व तोमर आदि शस्त्रवाले के लिए **ककुभाय**=महान् के लिए (द०), प्रसन्नमूर्त्ति के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। **ककुभाय** =जो देखने में शानदार (Grand) लगता है, उसके लिए, और **स्तेनानां पतये**=अन्याय से परस्व-पराये धन को लेनेवालों को (पातयिष्णवे-द०, दण्डादिशोषकाय) दण्डादि से शोषित करनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। ४. **निचेरवे**=(नितरां पुरुषार्थे चरति-द०) निरन्तर पुरुषार्थ के साथ विचरनेवाले **परिचराय**=धर्म, विद्या, माता-पिता, स्वामी व मित्रादि की सेवा करनेवाले के लिए तथा **अरण्यानां पतये**=अरण्य में निवास

करनेवाले वानप्रस्थों के रक्षक के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—चोरों व शत्रुओं से बचाकर सब वनस्थों की रक्षा करनेवाले राजपुरुषों को हम उचित आदर देते हैं।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदतिधृतिः। स्वरः—षड्जः॥

वञ्चन् परिवञ्चन

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥२१॥

१. (क) **वञ्चते**=गति करनेवाले के लिए और **परिवञ्चते**=राष्ट्र में सर्वत्र विचरनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। राजपुरुष व राजा वही ठीक है जो कुर्सी पर ही न बैठा रहे, अपितु सर्वत्र घूमे। सर्वत्र घूमकर **स्तायूनाम्**=चोरों को **पतये**=दण्डप्रहार से गिरानेवाले का हम **नमः**=आदर करते हैं। स्तेन और स्तायु में यह भेद है कि घर में सेन्ध आदि लगाकर रात्रि में द्रव्यहरण करनेवाला 'स्तेन' है, अपने ही नौकर-चाकर दिन-रात अज्ञातरूप से द्रव्यहरण करनेवाले 'स्तायु' हैं। (ख) 'वञ्चते' का अर्थ छल से पर-पदार्थों का हरण करनेवाला भी है तब 'परिवञ्चते' का अर्थ होगा सब प्रकार से कपट के साथ व्यवहार करनेवाला। इनके लिए **नमः**=(वज्रादिशस्त्रप्रहरणम्—द०) वज्रादि शस्त्रों से प्रहार हो। २. **निषङ्गिणे**=चोरों से रक्षा के लिए तलवार आदि अस्त्रों का धारण करनेवाले का **इषुधिमते**=उत्तम तरकसवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं और **तरस्कराणां**=डाकुओं का **पतये**=पतन करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ३. **सृकायिभ्यः**=वज्र के साथ गति करनेवालों के लिए (सृकेण एतुं शीलं येषाम्) और उस वज्र से **जिघांसद्भ्यः**=शत्रुओं को नष्ट करने की इच्छावालों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। भ्रमण करते हुए, गश्त लगाते हुए जब कभी ये क्षेत्रों से अन्नापहरण करते हुए लोगों को देखते हैं तब उन **मुष्णताम्**=खेतों से चोरी करनेवालों के **पतये**=पतन करनेवालों का **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **नक्तंचरेभ्यः**=रात्रि में विचरनेवालों के वध के लिए **असिमद्भ्यः**=तलवार से सुसज्जित पुरुषों का **नमः**=हम आदर करते हैं और इस प्रकार रात्रि में पहरा देते हुए **विकृन्तानाम्**=छेदन-भेदन करनेवालों को **पतये**=दण्ड से गिरानेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। 'विकृन्तानां' का अर्थ आचार्य ने 'गठकतरे' किया है, वह अर्थ भी बड़ा उपयुक्त है। रक्षापुरुषों ने 'स्तायु, तस्कर, मुष्णताम् व विकृन्तों' से प्रजा-जनों की रक्षा करनी है।

भावार्थ—रक्षापुरुषों का कार्य है कि वे १. घर में ही रहनेवाले और चोरी कर लेनेवाले नौकरों से, २. लुटेरों से, ३. खेत आदि से धान का अपहरण करनेवालों से तथा, ४. गठकतरों व छेदन-भेदन करनेवालों से प्रजा-जनों की रक्षा करें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदष्टिः। स्वरः—मध्यमः॥

उष्णीषिणे व गिरिचर—ग्रामणी व गिरिचर

नमऽउष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नमऽइषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नमऽआतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नमऽआयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥२२॥

१. **उष्णीषिणे**=जिसके माथे पर पगड़ी रक्खी गई है, उस प्रशस्त पगड़ीवाले ग्रामणी के लिए जो **गिरिचराय**=वेदवाणी में स्थित होकर विचरण करनेवाला है, अर्थात् शास्त्रानुकूल ग्राम की सब व्यवस्था करनेवाला है, उसके लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। इस 'गिरिचर ग्रामणी' के लिए जो **कुलुञ्चानाम्** (**कुत्सितं लुञ्चन्ति**)=बुरी तरह से अपहरण करनेवालों का अथवा कुलानि लुञ्चन्ति=कुलों को बरबाद करनेवालों का अथवा कुशीलेन लुञ्चन्ति (द०)=बुरे स्वभाव से धनों के नष्ट करनेवालों का **पतये**=दण्ड से पतन करनेवाला है, उस गिरिचर ग्रामणी के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। २. ग्राम आदि की रक्षा के लिए नियत **वः**=तुम **इषुमद्भ्यः**=प्रशस्त बाणोंवालों के लिए, **धन्वायिभ्यः च**=(धन्वना यन्ति—म०) धनुष के साथ विचरनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। ३. **आतन्वानेभ्यः**=धनुष पर ज्या को चढ़ानेवालों के लिए **च**=और उन धनुषों पर **प्रतिदधानेभ्यः**= बाण सन्धान करनेवाले **वः**=तुम्हारे लिए **नमः**=नमस्कार हो। ४. **आयच्छद्भ्यः**=इन धनुषों का आकर्षण करनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो, **च**=और **वः**=तुम्हारे **अस्यद्भ्यः**=बाणादि को फेंकनेवाले रक्षापुरुषों के लिए **नमः**=नमस्कार हो।

भावार्थ—ग्राम के मुखिया को शास्त्रानुसार व्यवहार करना है और कुलुञ्चों का नाश करने के लिए रक्षा-पुरुषों को नियत करना है।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदतिजगती। स्वरः—निषादः॥

कार्य व विश्राम

नमो विसृजद्भ्यो विद्ध्यद्भ्यश्च वो नमो नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो नमः शयानेभ्यऽआसीनेभ्यश्च वो नमो नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः ॥२३॥

१. **विसृजद्भ्यो नमः**=शत्रुओं पर बाणों को छोड़ते हुओं का हम आदर करते हैं (Honour to those) **विद्ध्यद्भ्यः च वः**=और तुममें से शत्रुओं का वेधन करते हुओं के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं। २. अपना कार्य करने के बाद **स्वपद्भ्यः**=सोते हुओं का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=उनके लिए भी **नमः**=आदर करते हैं जो **वः**=आपमें से **जाग्रद्भ्यः**=जाग रहे हैं—अपने कार्य में जागरूक हैं। ३. **शयानेभ्यः** =थककर लेटे हुओं का हम आदर करते हैं और **वः**=तुममें से **आसीनेभ्यः च**=बैठे हुओं का हम **नमः**=आदर करते हैं। ४. **वः**=आपमें से **तिष्ठद्भ्यः**=खड़े हुओं के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं **च धावद्भ्यः**=और कार्यवश इधर-उधर भागते हुओं का हम **नमः**=आदर करते हैं।

भावार्थ—हम उन सब रक्षा-पुरुषों का आदर करते हैं जो कार्य पर उपस्थित हैं या कार्य के बाद विश्राम की स्थिति में हैं।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

सभा-सभापति (war-council)

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नमऽआव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नमऽउगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्च वो नमः ॥२४॥

१. **सभाभ्यः**=शान्ति व युद्ध के समय देश की समृद्धि व रक्षा के विषय में विचार करने के लिए (सह भान्ति) एकत्र हुए विद्वानों का हम **नमः**=आदर करते हैं, **च**=और **वः**=आप **सभापतिभ्यः च**=उन सभा के सञ्चालकों का हम नमः=आदर करते हैं। २. **अश्वेभ्यः**=युद्ध में प्रमुख स्थान रखनेवाले तथा शान्ति के समय भी यातायात के प्रमुख साधनभूत घोड़ों को हम **नमः**=आदर देते हैं, **च**=और **वः**=आप **अश्वपतिभ्यः**=घोड़ों के रक्षकों व स्वामियों के लिए भी हम **नमः**=आदर का भाव रखते हैं। युद्ध का विजय करनेवाले इन घुड़सवार सैनिकों का आदर होना ही चाहिए। शान्ति के समय भी सामान को इधर-उधर पहुँचानेवाले इन अश्वस्वामियों को हम आदर प्राप्त कराते हैं। ३. **आव्याधिनीभ्यः**=समन्तात् शत्रुओं का वेधन करनेवाली सेनाओं के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं **च**=और **वः**=आपकी इन **विविध्यन्तीभ्यः**=विशेषरूप से शत्रुओं का वेधन करनेवाली सेनाओं का हम **नमः**=आदर करते हैं। ५. **उगणाभ्यः**=(उत्कृष्टा गणा यासां) उत्कृष्ट सैनिकगणोंवाली सेनाओं का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **वः**=आपकी **तृंहतीभ्यः**=शत्रु-हिंसन करती हुई सेनाओं का **नमः**=आदर होता है।

भावार्थ—राष्ट्र की सभाओं, सभापतियों, अश्वों, अश्वपतियों व अन्य शत्रुसंहारक सेनाओं का हम आदर करें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—भुरिक्शक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

गण-गणपति

नमो॑ ग॒णेभ्यो॑ ग॒णप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ व्राते॑भ्यो॒ व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ गृत्से॑भ्यो॒ गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ विरू॑पेभ्यो वि॒श्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥२५॥

१. **गणेभ्यः**=एक स्थान पर रहनेवालों ने जो सहकर्मकर्तृ संघ (Co-operative societies) बना लिये हैं, उन 'संघों' का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **वः**=आप **गणपतिभ्यः**=इन संघों के अध्यक्षों के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं। २. **व्रातेभ्यः**=एक प्रकार के काम करनेवालों ने (जैसे टाङ्गेवाले, मोटरवाले, रिक्शावाले) जो संघात (unions) बना लिये हैं, उन संघातों का हम **नमः**=आदर करते हैं **च**=और **वः**=आप **व्रातपतिभ्यः**= इन संघातों के मुखियाओं के लिए हम **नमः**=उचित सम्मानभाव रखते हैं। ३. **गृत्सेभ्यः**=(गृणन्ति) औरों के लिए सदा हित का उपदेश देनेवाले मेधावी पुरुषों के लिए **नमः**=नमस्कार हो, **च**=और **वः**=आपके इन **गृत्सपतिभ्यः**=विद्वानों के रक्षकों का (जो धनी पुरुष इन विद्वानों को वृत्ति देकर परिपालित करते हैं, उनका) **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **विरूपेभ्यः**=तेजस्विता के कारण विशिष्ट रूपवाले क्षत्रियों का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **वः**=आप **विश्वरूपेभ्यः**=सबको अपना ही रूप समझनेवाले, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त माननेवालों के लिए हम **नमः**=नतमस्तक होते हैं।

भावार्थ—हम राष्ट्र में बने हुए गणों व व्रातों को उचित सम्मान दें। मेधावी पुरुष व तेजस्वी पुरुष तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को माननेवाले पुरुष आदरणीय हैं।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः॥

सेना-सेनापति

नमः॒ सेना॑भ्यः सेना॒निभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ र॒थिभ्यो॑ऽअर॒थेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ क्ष॒त्तृभ्य॑: संग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ म॒हद्भ्यो॑ऽअर्भ॒केभ्य॑श्च वो॒ नमः॑ ॥२६॥

१. **सेनाभ्यः नमः**=हम राष्ट्र की सेनाओं का आदर करते हैं, **च**=और **वः**=आप **सेनानिभ्यः नमः**=सेनानायकों का हम आदर करते हैं। २. **रथिभ्यः**=सेना के अङ्गभूत रथियों के लिए **नमः**=आदर हो तथा **वः**=आप **अरथेभ्यः**=अविद्यमान रथवालों का भी **नमः**=हम आदर करते हैं। ३. **क्षत्तृभ्यः**='क्षिपन्ति प्रेरयन्ति सारथीन्' रथों के अधिष्ठाताओं के लिए **नमः**=आदर हो, **च**=और **वः**=आपके **संग्रहीतृभ्यः**=अश्वों की लगामों का संग्रहण करनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। ४. **महद्भ्यः**=वर्ण, विद्या, स्थिति आदि की दृष्टि से बड़ों के लिए **नमः**=आदर हो **च**=और **वः**=आपके **अर्भकेभ्यः**=छोटे, निचले कर्मचारियों के लिए **नमः**=आदर हो।

भावार्थ—राष्ट्र-रक्षा करनेवाली सेनाओं, सेनापतियों, रथियों, पैदलों, अश्वाध्यक्षों, अश्वचालकों तथा बड़े-छोटे सभी का प्रजाजन आदर करें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृच्छक्वरी। स्वरः—धैवतः॥

तक्षा-रथकार (शिल्प-जातियाँ)

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः॥२७॥

१. राष्ट्र के अन्य सेवकों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **तक्षभ्यः**=(काष्ठं तक्ष्णुवन्ति) रन्दा चलानेवाले बढ़ई आदि के लिए हम **नमः**=आदरभाव रखते हैं, **च**=और **वः**=इन बढ़इयों में **रथकारेभ्यः**=विविध प्रकार के रथों के निर्माताओं के लिए **नमः**=हम आदर का भाव प्रदर्शित करते हैं (विमानादि यान बनानेवालों के लिए—द०)। २. **कुलालेभ्यः**= मिट्टी के बर्तन बनानेवालों के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **वः**=आपके इन **कर्मारेभ्यः**=लोहारों (खड्ग, बन्दूक और तोप आदि शस्त्र बनानेवालों) का **नमः**=हम आदर करते हैं। ३. **निषादेभ्यः**=(मात्सिकाः—द०, गिरिचरा भिल्लाः—म०) मछियारों का या गिरिचर, गेंडे, शेर आदि के शिकारी भीलों का **नमः**=हम आदर करते हैं। (पर्वतादि में रहकर दुष्ट जीवों को ताड़ना देनेवालों के लिए—द०) **च**=और **वः**=आपके इन **पुञ्जिष्ठेभ्यः**=(पक्षिपुञ्ज-घातकाः पुल्कसादयः—म०) पक्षियों के शिकारियों का **नमः**=हम आदर करते हैं। कृषिरक्षा के लिए कितने ही पक्षियों का शिकार आवश्यक हो जाता है। ४. **श्वनिभ्यः**=(शुनो नयन्ति इति श्वगणिकाः—उ०) वराहादि के शिकार के लिए श्वगणों का, कुत्ते रखनेवालों का हम **नमः**=आदर करते हैं **च**=और **वः**=आपके इन **मृगयुभ्यः**=अन्य कृषि-विनाशक पशुओं का संहार करनेवालों के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के सब शिल्पकारों व शिकारियों का भी हम उचित मान करें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

भव-रुद्र

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च॥२८॥

१. राष्ट्र में शिकार व पहरे आदि में उपयोगी, चोरी आदि के अन्वेषण में पुलिस की मदद करनेवाले **श्वभ्यः**=कुत्तों को **नमः**=अन्नादि द्वारा उचितरूप से आदृत करते हैं, **च**=और **वः**=आपके इन **श्वपतिभ्यः**=कुत्तों (Dog squads) को शिक्षित करनेवालों को

नमः=हम आदर देते हैं। २. हम **नमः**=उस श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न ब्राह्मण का भी आदर करते हैं जो **भवाय**=(शुभगुणादि-द०) सदा उत्तम गुणों में ही निवास करता है **च**=और **रुद्राय**=(रुत् दुःखं द्रावयति) दुःख को दूर भगानेवाला है। ३. उस ब्राह्मण का **नमः**=आदर करते हैं जो **शर्वाय**=(शॄ हिंसायाम्) सब अशुभ वृत्तियों का संहार करनेवाला है **च**=तथा **पशुपतये**=(कामः पशुः, क्रोधः पशुः) काम, क्रोध आदि पाशव वृत्तियों को पूर्णरूप से अपने वश में रखता है, अथवा गवादि पशुओं का पालक है। ४. हम उस ब्राह्मण के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं जो **नीलग्रीवाय**=विविध विद्याओं से सुभूषित ग्रीवावाला है **च**=तथा **शितिकण्ठाय**=शुद्ध कण्ठ-स्वरवाला है। जो कभी अपशब्दों का प्रयोग न करता हुआ सदा शुद्ध शब्दों का ही प्रयोग करता है।

भावार्थ—हम राष्ट्र के उन ब्राह्मणों का आदर करते हैं जो सदा शुभ गुणों में निवास करनेवाले, ज्ञान देनेवाले, बुराइयों का संहार करनेवाले, काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाले, विद्याविभूषित कण्ठवाले तथा शुद्ध कण्ठ स्वरवाले हैं।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्रः। छन्दः—भुरिगतिजगती। स्वरः—निषादः॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च ॥२९॥

१. **कपर्दिने**=(क-पर-द्) सुख की पूर्ति को देनेवाले—ज्ञान-प्रचारक ब्राह्मण का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **व्युप्तकेशाय**=जिसने सब बालों को मुण्डित करा दिया है उस ज्ञान-प्रचारक संन्यासी का **नमः**=हम आदर करते हैं। २. **सहस्राक्षाय**=गुप्तचररूपी हज़ारों आँखोंवाले राजा का हम आदर करते हैं, **च**=और राष्ट्र-रक्षा के लिए **शतधन्वने च**=सैकड़ों धनुर्धारी पुरुषोंवाले इस राजा के लिए **नमः**=हम आदरभाव रखते हैं। ३. **गिरिशयाय**=वाणी में शयन करनेवाले ज्ञानी के लिए **च**=और **शिपिविष्टाय**='यज्ञो वै शिपिः'=यज्ञों में प्रविष्ट व्यक्ति के लिए, सदा यज्ञों में जीवन बितानेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। 'ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार यज्ञादि उत्तम कर्मों को करना' ऐसा जीवन-सूत्र बनाकर चलनेवाले पुरुष का हम आदर करते हैं। ४. (क) रक्षा के द्वारा **मीढुष्टमाय**=अधिक-से-अधिक सुखों का सेचन करनेवाले राजपुरुष के लिए **च**=और **इषुमते**=रक्षा के लिए प्रशस्त बाणों को धारण करनेवाले पुरुष का **नमः**=हम आदर करते हैं। (ख) **मीढुष्टमाय**=वृक्षों के खूब सेचक माली आदि के लिए तथा बाणादि का धारण कर पहरा देनेवाले के लिए **नमः**=हम आदर करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मणों का तथा रक्षक क्षत्रियों का सदा मान करना चाहिए।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ह्रस्व-वामन

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च ॥३०॥

१. उस **ह्रस्वाय**=छोटी उम्रवाले के लिए **च**=परन्तु **वामनाय**='वामं प्रशस्तं विज्ञानं विद्यते यस्य-द०' प्रशस्त विज्ञानवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं अथवा छोटी उम्रवाले

और अतएव छोटे-छोटे अङ्गोंवाले को हम आदर देते हैं, उसे भी बीजरूप में व अंकुररूप में विद्यमान 'राष्ट्र का भावी उत्तम नागरिक' ही समझते हैं २. उस **बृहते**=प्रौढ़ अङ्गोंवाले के लिए **च**=और **वर्षीयसे**=अतिशयेन विद्या-वयोवृद्ध को **नमः**=हम आदर देते हैं। ३. **वृद्धाय च**=विद्या-विनयादि गुणों से बढ़े हुए के लिए **च**=और **सवृधे च**='समानैः सह वर्धते'=समान पुरुषों के साथ बढ़नेवाले का, अर्थात् मिलकर चलनेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **अग्र्याय च**='अग्रे भवाय सत्कर्मसु पुरःसराय-द०' आगे होनेवाले के लिए, अर्थात् सत्कर्मों में सदा आगे चलनेवाले का **च**=और **प्रथमाय**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। शक्तियों के विस्तार के कारण ही **प्रथमाय**=प्रसिद्ध (प्रख्याताय) को हम आदर देते हैं।

भावार्थ-आयु की दृष्टि से विविध स्थितियों में स्थित, राष्ट्र के अङ्गभूत सब व्यक्तियों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः-कुत्सः। देवता-रुद्राः। छन्दः-स्वराडार्षीपङ्क्तिः। स्वरः-पञ्चमः॥

आशु-अजिर या नादेय-द्वीप्य

नमऽआशवे चाजिराय च नमः शीघ्र्याय च शीभ्याय च नमऽऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च ॥३१॥

१. **आशवे**='अश्नुते कर्मसु' कर्मों में व्याप्त होनेवाले के लिए **च**=और **अजिराय**='अज गतिक्षेपणयो' क्रियाशीलता के द्वारा विघ्नों को दूर फेंकनेवाले को **नमः**=हम आदर देते हैं। २. **शीघ्र्याय च**=(शिंघति व्याप्नोति कर्मसु)=शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाले के लिए **च**=और **शीभ्याय च**=(To tell, to say, to speak) कर्मों द्वारा अपनी शक्ति का प्रतिपादन करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ३. **ऊर्म्याय** ='ऊर्मिषु भवाय' मन में उत्साह-तरङ्गों से युक्त के लिए **च**=और **अवस्वन्याय**='अर्वाचीनेषु स्वनेषु भवाय'=सदा नीचे स्वर में बोलनेवाले के लिए, अर्थात् उत्साहयुक्त होते हुए भी व्यर्थ में शोर न मचानेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ४. **नादेयाय**=नदियों में रहनेवाले के लिए, अर्थात् सदा सामुद्रिक व्यापारादि के कार्य में प्रवृत्त का हम **नमः**=आदर करते हैं **च**=और **द्वीप्याय**=जलान्तर्वर्ति प्रदेशों में रहकर कार्य करनेवालों के लिए हम आदर देते हैं।

भावार्थ-सदा राष्ट्र-हित के उद्देश्य से विविध संस्थानों में कार्यों में रत पुरुषों को हम आदृत करते हैं।

ऋषिः-कुत्सः। देवता-रुद्राः। छन्दः-स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः-धैवतः॥

छोटे-बड़े

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥३२॥

१. **ज्येष्ठाय**=अत्यन्त प्रशस्य ज्येष्ठ के लिए-आयुष्य के दृष्टिकोण से सबसे बड़े के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **कनिष्ठाय**=आयुष्य के दृष्टिकोण से छोटे के लिए युवा व अल्प के लिए नमस्कार हो। **पूर्वजाय**=सबसे प्रथम उत्पन्न हुए के लिए **च**=तथा **अपरजाय**=अपर काल में उत्पन्न हुए के लिए **नमः**=हम आदर का भाव रखते हैं। ३. **मध्यमाय**=पूर्वज व अपरज के मध्य में होनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं,

च=और **अपगल्भाय**=(अपगतो गल्भो यस्मात्, गल्भः=व्युत्पन्नता धाष्ट्र्यम्) अव्युत्पन्नेन्द्रिय–सांसारिक बातों में अप्रवीण छोटे बच्चे का भी हम आदर करते हैं। ४. **जघन्याय च**=जघन=पश्चाद्भाग में होनेवाले के लिए, अर्थात् शूद्रादि के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **बुध्न्याय**=बिल्कुल मूल में होनेवाले–सबसे अन्तिम स्थानवाले अन्त्यजों का भी हम आदर करते हैं।

भावार्थ–राष्ट्र में उत्पन्न छोटे–बड़े तथा छोटे–बड़े कुलों में उत्पन्नों के लिए नमस्कार हो।

ऋषिः–कुत्सः। देवता–रुद्राः। छन्दः–आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः–धैवतः॥

ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नमऽउर्वर्याय च खल्याय च ॥३३॥

१. **सोभ्याय**=(उभाभ्यां सहितः सोभः तत्र साधुः) परा तथा अपरा–विद्या से युक्त पुरुषों में उत्तम ब्राह्मण के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं। **च**=फिर **प्रतिसर्याय**=प्रत्येक उत्तम कर्म में गतिशील पुरुषों में उत्तम ब्राह्मण के लिए (प्रति+सर्+य) हम आदरवान् होते हैं। २. **याम्याय च**=प्रजाओं के नियमन करनेवालों में उत्तम क्षत्रिय का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और उस क्षत्रिय का आदर करते हैं जो **क्षेम्याय**=योग–क्षेम को उत्तमता से प्राप्त करानेवाला है, अर्थात् जिस क्षत्रिय के राष्ट्र में सभी का क्षेम चलता है, कोई भूखा नहीं मरता। ३. **श्लोक्याय नमः** (श्लोकः यशस्)=उस वैश्य के लिए हम नमस्कार करते हैं जो अन्नादि के वितरण के कारण अति यशस्वी बना है। वैश्य कमाता है, परन्तु सभी का पालन भी करता है। इस पालन से ही वैश्य का जीवन यशस्वी बनता है। **च**=और उस वैश्य को हम आदर देते हैं जो **अवसान्याय**=कर्मों को अवसान तक पहुँचाने में उत्तम हैं। ये स्वार्जित धन का ठीक प्रयोग करते हुए राष्ट्रहित के सभी कार्यों को पूर्णता तक पहुँचानेवाले होते हैं। धन के बिना किसी भी कार्य की पूर्ति सम्भव नहीं है। ४. **नमः**=हम राष्ट्र में उन शूद्रों का भी आदर करते हैं जो **उर्वर्याय**=(उर्वरायां भवः) सर्वसस्य से आढ्य भूमियों पर उन्हें हलादि से जोतने के लिए निवास करते हैं, तथा **खल्याय**=धान्य विवेचन–(छिलके से अलग करना)–देशों में कुटाई आदि द्वारा धान्य को छिलके से अलग करने में लगे हैं।

भावार्थ–हम सोभ्य व प्रतिसर्य ब्राह्मणों का आदर करें। याम्य–क्षेम्य क्षत्रियों का, श्लोक्य व अवसान्य वैश्यों का तथा उर्वर्य व खल्य शूद्रों का भी हम उचित आदर करें। जीविका के लिए किये गये किन्हीं भी शास्त्रीय कर्मों से कोई छोटा–बड़ा नहीं होता।

ऋषिः–प्रजापतिः। देवता–रुद्राः। छन्दः–स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः–धैवतः॥

श्रव–प्रतिश्रव राजा

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नमऽआशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥३४॥

१. **वन्याय**=वन–प्रदेश में भी रक्षा की व्यवस्था करनेवाले राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं **च** =और **कक्ष्याय**=झाड़ी–झंकाड़मय प्रदेशों में भी उत्तमता से रक्षा करनेवाले का

हम आदर करते हैं। २. **श्रवाय**=सबकी बात सुननेवाले राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं **च**=और **प्रतिश्रवाय**=सबकी शिकायतों को दूर करने की प्रतिज्ञा करनेवाले राजा का हम **नमः**=आदर करते हैं ३. **आशुषेणाय** (आशुः शीघ्रा सेना यस्य)=शीघ्रता से मार्गों का व्यापन करनेवाली सेनावाले राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **आशुरथाय** =शीघ्रगामी रथवाले का हम आदर करते हैं। ४. उस राजा के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं जो **शूराय**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला है **च**=और **अवभेदिने**=शत्रुओं का अवभेदन करनेवाले का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—हम उस राजा का आदर करें जो वनों व कक्ष-प्रदेशों का भी उत्तम रक्षक है, जो प्रजा की बात सुनता है और शिकायतों को दूर करता है। शीघ्रगामी सेनावाला और शत्रुओं का संहार करनेवाला है।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

क्षत्रिय

नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च ॥३५॥

१. **बिल्मिने च नमः**=(बिल्मं शिरस्त्राणमस्यास्तीति—म०) शिरस्त्राण (Helmet) को धारण किये हुए योद्धा को हम आदर देते हैं, **च**=और **कवचिने**=(पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्—म०) कपड़े के, रुई से भरे, सीये हुए देहरक्षक कवच को धारण करनेवाले के लिए हम नमस्कार करते हैं। (रुई में गोली उसी प्रकार धँस जाती है, जैसेकि मिट्टी में तोप का गोला)। २. **वर्मिणे च नमः**=लोहमय शरीररक्षक चर्म को धारण किये हुए सैनिक का हम आदर करते हैं, **च**=और **वरूथिने**=(वरूथ=रथगुप्ति) उत्तम रथ-गोपनवाले का भी हम आदर करते हैं। ३. **श्रुताय च**=अपने गुणों व विजयों के कारण प्रसिद्ध राजा का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **श्रुतसेनाय**=अपनी वीरता व विजयों के कारण प्रसिद्ध सेनावाले का **नमः**=हम आदर करते हैं। ४. **दुन्दुभ्याय च**=और युद्ध के समय उत्तम दुन्दुभिवादक को **नमः**=हम आदर देते हैं, **च**=और **आहनन्याय**=उत्तम वादन-साधन दण्डादिवाले का भी हम आदर करते हैं। ये दुन्दुभि (drums) व आहनन-(drum-sticks)-वाले पुरुष युद्ध-वाद्य को बजाकर जहाँ शत्रुसैन्य को भयभीत करते हैं, 'दुन्दुशब्दने भावयति' दुन्दु शब्द से भयभीत करने से यह दुन्दुभि है, वहाँ यह 'आनक' शब्द स्वसैन्य को सोत्साह भी करता है, आनयति=उत्साहयति। युद्ध में इसी कारण इनका भी प्रमुख स्थान है। विजय का बहुत कुछ श्रेय इन्हें भी मिलता है।

भावार्थ—राष्ट्र की रक्षा करनेवाले क्षत्रियों का हमें उचित मान अवश्य करना चाहिए।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

शस्त्रास्त्र

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च ॥३६॥

१. **धृष्णवे च**=बाह्य शत्रुओं तथा अपने काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं का धर्षण करनेवाले (धृष्णोतीति एवं शीलः) राजा के लिए **नमः**=हम आदर का भाव धारण करते हैं, **च**=और **प्रमृशाय**=(प्रमृशति विचारयति) सदा विचारशील राजा के लिए, कामादि से

प्रेरित न होकर विचारपूर्वक सन्धि-विग्रह आदि अपने कार्यों को करनेवाले के लिए हम सम्मान देते हैं। २. **निषङ्गिणे च**=तलवार धारण करनेवाले के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **इषुधिमते**=तीरों से भरे तरकसों को धारण करनेवाले का हम सत्कार करते हैं। ३. **तीक्ष्णेषवे च**=और तेज़ बाणोंवाले के लिए हम आदर देते हैं **च**=तथा **आयुधिने च**=अच्छे प्रकार तोप आदि से लड़नेवाले वीरों से युक्त अध्यक्ष पुरुष का भी हम मान करते हैं। ४. **स्वायुधाय च**=उत्तम आयुधों से युक्त (त्रिशूलधारी महादेव के समान प्रतीत होनेवाले) इन सैनिकों का **नमः**=हम आदर करते हैं, **च**=और **सुधन्वने**=उत्तम धनुष धारण किये हुए सैनिक का भी हम मान करते हैं।

भावार्थ—विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सैनिकों का हमें सदा सम्मान करना चाहिए और इनके मुखिया शत्रुधर्षक, विचारशील राजा को भी आदर के भाव से देखना चाहिए।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जलाध्यक्ष

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥३७॥

१. **स्रुत्याय च नमः**=स्रोतों—नाले आदि में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं **च**=और **पथ्याय च**=उन वारिप्रवाहों के साथ-साथ बने हुए मार्गों के शोधक पुरुष के लिए हम आदर देते हैं। २. **काट्याय च नमः**=कूप आदि में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **नीप्याय**=(नीचैः पतन्त्यापो यत्र) बड़े गहरे जलाशयों में नियुक्त पुरुष का भी हम सम्मान करते हैं। ३. **कुल्याय च नमः**=नहरों का प्रबन्ध करनेवाले के लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **सरस्याय**=तालाब (Tanks) आदि के काम में प्रसिद्ध होनेवाले के लिए हम मान का भाव धारण करते हैं। ४. **नादेयाय च नमः**=नदियों के विषय में नियुक्त पुरुष के लिए हम नमस्कार करते हैं, **च**=तथा **वैशन्ताय च**=छोटे-छोटे जोहड़ों—अल्पसरः (ponds) का ध्यान करनेवाले का हम सत्कार करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में भिन्न-भिन्न स्थानों में नियुक्त जलाध्यक्षों का उचित आदर करना चाहिए। इनके कार्य की शुद्धि पर ही राष्ट्र में सारे क्षेत्रों की सिंचाई निर्भर है, अतः अन्नोत्पादन में इनका स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

देश-भेद

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥३८॥

१. **कूप्याय**=कूओं से सिंचाई करने योग्य देश के अध्यक्ष के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं, **च**=तथा **आवट्याय**=गर्तबहुल (अव=गड्ढा=गर्त) देश में कृषि की ठीक व्यवस्था करनेवाले पुरुष का **नमः**=हम आदर करते हैं। २. **वीध्र्याय च नमः**=(विगत इध्रो दीप्तिः यस्मात् स वीध्रो घनागमः) खूब बादलोंवाली वर्षाऋतु के प्राचुर्यवाली भूमि में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **आतप्याय**=(आतपे भवः) खूब प्रचण्ड गरमीवाले प्रदेशों में नियुक्त पुरुष का भी हम मान करते हैं। ३. **मेघ्याय च नमः**=मेघोंवाले प्रदेश में नियुक्त

पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **विद्युत्याय च**=विद्युत् की विद्या में निपुण व विद्युत्-विभाग में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं। ४. **वर्ष्याय च नमः**=उत्तम वृष्टि की व्यवस्था करनेवाले के लिए या वृष्टिकाल में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **अवर्ष्याय**=वर्षा के प्रतिबन्ध में निपुण पुरुष का हम आदर करते हैं।

भावार्थ—विविध देशों में नियुक्त राजपुरुषों के लिए हम उचित मान दें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—रुद्राः। छन्दः—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

स्वभाव-भेद व कार्यभेद

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥३९॥

१. **वात्याय च नमः**=वायु-विद्या में कुशल अतएव वायु के रुख की सूचना देने के कार्य में नियुक्त मेटेरौलौजिकल विभाग के अध्यक्ष के लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **रेष्म्याय**=(रिष हिंसायाम्) रेष्म में होनेवाले=डिस्ट्रक्शन के कार्य में नियुक्त स्लम क्लियरैन्स आदि कार्यों में नियुक्त व्यक्ति का भी हम आदर करते हैं। २. **वास्तव्याय च नमः**=गृहों में नियुक्त, अर्थात् गृहों के निर्माण में नियुक्त पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और **वास्तुपाय**=निर्मित गृहों के रक्षण-कार्य में (मैण्टिनैन्स में) नियुक्त पुरुष के लिए भी हम सम्मान का भाव धारण करते हैं। ३. **सोमाय च नमः**=सोमादि ओषधियों के विज्ञान व प्रयोग में कुशल शरीरभूत औषध ही बने हुए वैद्य के लिए हम नतमस्तक होते हैं, **च**=और उन औषधों के द्वारा **रुद्राय**=(रुत् रोगं द्रावयति) रोगों को दूर भगानेवाले के लिए हम आदर देते हैं। ४. **ताम्राय च नमः**=ताम्र आदि धातुओं से निर्मित भस्मादि के प्रयोग में कुशल व्यक्ति का भी हम आदर करते हैं, **च**=और इन धातुओं के कुशल प्रयोग से **अरुणाय**=(प्रापकाय—द०) स्वास्थ्य को फिर से प्राप्त करानेवाले वैद्य के लिए हम आदर की भावनावाले होते हैं। ५. मन्त्र के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले **रुद्राय**=ज्ञान देकर औरों के दुःखों को दूर करनेवाले का हम आदर करते हैं। हम उस पुरुष का आदर करते हैं जो **ताम्राय**=(ताम्यति ग्लायति) बुरे कर्मों के करने से ग्लानि करता है तथा **अरुणाय**=शुभ कर्मों को प्राप्त कराने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—राष्ट्र के उत्थान में भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हुए सब व्यक्तियों का—विशेषतः रोगों को दूर करके प्रजा के जीवन को सुखी बनानेवाले औषध-विज्ञान के पण्डित व प्रयोग में कुशल वैद्यों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—अतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः॥

शान्तेन्द्रिय-शत्रुहन्ता

नमः शङ्गवे च पशुपतये च नमऽउग्राय च भीमाय च नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ॥४०॥

१. **शङ्गवे च नमः**=(शं गावः यस्य, गावः=इन्द्रियाणि) शान्त इन्द्रियोंवाले व्यक्ति के लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **पशुपतये**=(कामः पशुः, क्रोधः पशुः) काम, क्रोध आदि पाशववृत्तियों को पूर्णरूप से वशीभूत करनेवाले के प्रति हम सम्मान की भावना रखते

हैं। २. **उग्राय च नमः**=हम तेजस्वी पुरुष के लिए नमस्कार करते हैं, **च**=और **भीमाय**=जिससे शत्रु भयभीत होते हैं, उसका हम आदर करते हैं। ३. **अग्रेवधाय च नमः**=सेना के अग्रभाग में स्थित हुआ जो शत्रुओं का वध करता है, उसके लिए हम आदर देते हैं, **च**=और **दूरेवधाय**=(यो अरीन् दूरे बध्नाति—द०) शत्रुओं को दूर ही बाँधने व मारनेवाले के लिए हम नमस्कार करते हैं। ४. **हन्त्रे च नमः**=(यो दुष्टान् हन्ति तस्मै—द०) दुष्टों को नष्ट करनेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **हनीयसे** (दुष्टानामतिशयेन हन्त्रे)=दुष्टों का अत्यन्त विनाश करनेवाले के लिए हम सम्मान का भाव रखते हैं। ५. **वृक्षेभ्यः नमः**=(ये शत्रून् वृश्चन्ति—द०) शत्रुओं को काट डालनेवालों के लिए हम आदर देते हैं, तथा शत्रुओं का सफ़ाया करके **हरिकेशेभ्यः**=(हरि क ईश) दुःखों के हरण व सुख-प्रापण के ईश पुरुषों को हम नमस्कार करते हैं। ६. **ताराय नमः**=(दुःखात् सन्तारकाय—द०) दुःखों से तरानेवाले सभी राष्ट्र-पुरुषों का हम मान करते हैं।

भावार्थ—'शान्तेन्द्रिय', 'वशीभूत काम-क्रोधादि वृत्ति' पुरुषों का आदर तो करना ही चाहिए साथ ही वीरतापूर्वक शत्रुओं का हनन करते हुए हमारे दुःखों को दूर करके सुखों के प्राप्त करानेवाले पुरुषों का भी हम आदर करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—स्वराडार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

शान्ति व सुख का राज्य Peace, (Plenty) Pleasure

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥४१॥

१. **शम्भवाय च नमः**=(शम्भावयति तस्मै परमेश्वराय सेनाध्यक्षाय वा—द०) राष्ट्र में सब उपद्रवों को शान्त करके शान्ति का स्थापन करनेवाले प्रभु व सेनापति का हम आदर करते हैं **च**=और **मयोभवाय**=(pleasure, delight, satisfaction) शत्रुओं के नाश के द्वारा सब सुखों का उत्पादन करनेवाले प्रभु व सेनापति का हम सम्मान करते हैं। २. **शङ्कराय च नमः**=(शं लौकिकं सुखं करोति—म०) शान्ति-स्थापन के द्वारा सब सांसारिक सुखों को देनेवाले राष्ट्र के मुख्य पुरुष का हम आदर करते हैं, **च**=और उन्नति का वातावरण प्राप्त कराके **मयस्काराय**=मोक्षसुख को प्राप्त करानेवाले के लिए हम सम्मान का भाव रखते हैं (मयः=मोक्षसुखं करोति—म०) ३. **शिवाय च नमः**=कल्याणरूप निष्पाप के लिए हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **शिवतराय च**=अत्यन्त कल्याणरूप के लिए हम मान देते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में 'शं, मयः व शिव'=शान्ति, सुख व कल्याण करनेवालों का हम मान करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पारोवर्यवित्

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥४२॥

१. **पार्याय च नमः**=(परायां साधु) पराविद्या, अर्थात् ब्रह्मविद्याओं में निपुण आचार्य का हम आदर करते हैं, **च**=और **अवार्याय**=(अवरायां साधु) अपराविद्या, अर्थात् प्रकृतिविद्या में निपुण आचार्य के लिए हमारा आदर हो। अपराविद्या से मनुष्य संसार-सागर के इस किनारे पर ही रहता है और पराविद्या से पार पहुँचता है २. **प्रतरणाय च नमः**=अपराविद्या

से मृत्यु को तैरने व तैरानेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **उत्तरणाय**=पराविद्या के द्वारा संसारोत्तरण हेतु—संसार से तरानेवाले आचार्य को हम आदर देते हैं। ३. **तीर्थ्याय च नमः**=ज्ञानादि के द्वारा सब पापों से तरानेवाले तीर्थों में उत्तम आचार्य के लिए हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **कूल्याय च**=(कूल् To protect, to prevent) ज्ञान के द्वारा ही मानस विकारों से रक्षा करनेवालों तथा रोगों को शरीर में प्रवेश से रोकनेवालों में उत्तम इन 'कूल्य' आचार्यों के लिए हमारा आदर का भाव हो। ४. इन आचार्यों के 'पार्य व अवार्य' आदि बन पाने का रहस्य इस बात में है कि ये वनस्पति भोजन पर ही प्राणयात्रा करते हैं, अतः कहते हैं कि **शष्प्याय च नमः**=घास-तृण आदि, अर्थात् वानस्पतिक भोजन पर ही गुज़र करनेवालों का हम आदर करते हैं, **च**=और **फेन्याय**=फेनमय दुग्धादि का सेवन करनेवालों के लिए हमारा नमस्कार हो।

भावार्थ—पारोवर्यवित् आचार्यों का हम सदा मान करनेवाले बनें। हम भी इनकी भाँति वनस्पति व दुग्ध पर ही जीवन-निर्वाह करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

गृह आदि निर्माण

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किꣳशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नमऽइरिण्याय च प्रपथ्याय च ॥४३॥

१. **सिकत्याय च नमः**=(सिकतासु भवः) बालू (रेता) के विज्ञान को जाननेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **प्रवाह्याय**=(प्रवाहे स्रोतसि भवः) जलधारा में बहकर आनेवाली मिट्टी, रेत आदि के विज्ञान में निपुण पुरुष का भी हम आदर करते हैं। २. **किंशिलाय च नमः**=(कुत्सिताः क्षुद्राः शिलाः शर्करारूपाः पाषाणाः तेषु भवः) पत्थर झुर-झुरकर बनी हुई बजरी के प्रयोग को समझनेवाले का हम आदर करते हैं, **च**=और **क्षयणाय**=(क्षियन्ति निवसन्त्यापो यत्र) 'जिनमें जलों का निवास सम्भव है' इस प्रकार के सीमैण्ट आदि के द्वारा गृह-निर्माण-कुशल पुरुष के लिए भी हम मान देते हैं। ३. **कपर्दिने च नमः**=कौड़ी, सीप, शंख आदि के अध्यक्ष के लिए हम आदर देते हैं, **च**=तथा **पुलस्तये**=बड़े-बड़े भारी पदार्थों को उठानेवाले यन्त्रों के निर्माता (महाकायक्षेप्त्रे—द०) के लिए भी हममें सम्मान का भाव हो। ४. **इरिण्याय च नमः**=(इरिणम् ऊषरम् तत्र भवः) ऊसर भूमियों के अधिकारी व विज्ञाता का हम आदर करें, **च**=तथा **प्रपथ्याय**=(प्रकृष्टः पन्थाः तत्र भवः) प्रकृष्ट मार्गों के निर्माता का भी हम मान करें।

भावार्थ—घरों के बनाने में प्रयुक्त होनेवाले रेता, मिट्टी, बजरी व सीमैण्ट आदि के विज्ञाता तथा शंखादि के प्रयोगकर्त्ता, भारवाहक यन्त्रों के निर्माता, ऊसर भूमि के प्रयोगज्ञ तथा बड़े-बड़े मार्गों के निर्माताओं का हम मान करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विविध कर्मकर

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥४४॥

१. **व्रज्याय च नमः**=(व्रजे गोसमूहे भवः) गोचारण में कुशल पुरुष के लिए नमस्कार हो, **च**=और **गोष्ठ्याय**=गोशालाओं के अध्यक्ष के लिए आदर हो। २. **तल्प्याय**

च नमः=(तल्प शय्या) शयनागार के कर्मों में कुशल पुरुष के लिए आदर हो, उत्तम शय्यादि बनानेवाले का आदर हो, **च**=और **गेह्याय**=गृहकार्य में कुशल पुरुष के लिए भी आदर हो। ३. **हृदय्याय च नमः**=हृदय को प्रसन्न करनेवाले खिलौने आदि बनाने में कुशल पुरुष के लिए आदर हो, **च**=और **निवेष्याय**=उत्तम वेश (dresses) बनानेवाले का आदर हो। ४. **काट्याय च नमः**=कुओं के बनाने में कुशल पुरुष का आदर हो, **च**=और **गह्वरेष्ठाय**=कन्दराओं व गम्भीर जलाशयों के निर्माण में कुशल पुरुष का हम आदर करें। (गह्वरं गिरिगुहा, महदुदकं वा—उ०)।

भावार्थ—राष्ट्र में गडरिये से लेकर गम्भीर जलाशयों के निर्माता आदि मन्त्र-वर्णित सभी कर्मकरों का हम आदर करें, उन्हें तुच्छ न समझें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

व्यापारी व कृषक

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पाꣳसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नमऽऊर्व्याय च सूर्व्याय च ॥४५॥

१. **शुष्क्याय च नमः**=शुष्क पदार्थों (सूखे मेवों) के व्यापारी के लिए आदर हो, **च**=और **हरित्याय**=शाक आदि हरे पदार्थों के व्यापारी के लिए भी आदर हो। २. **पांसव्याय च नमः**=मिट्टी ढोनेवाले के लिए भी हम नमस्कार करते हैं, **च**=और **रजस्याय**=सूक्ष्म धूल का व्यापार करनेवाले का भी मान करते हैं। ३. **लोप्याय च नमः**=(लुप् छेदने) घास व लकड़ी आदि काटनेवाले के लिए आदर हो, **च**=और **उलप्याय**=(उलप=बल्वजादि तृणानि) तृण-विशेषों का संग्रह करनेवाले के लिए भी मान हो। ४. **ऊर्व्याय च नमः**=विशाल खेतों के स्वामियों का आदर हो (ऊर्व्या भूमौ भवः—म०) **च**=और **सूर्व्याय**=शोभन भूस्वामियों के लिए हमारा मान हो।

भावार्थ—राष्ट्र के सब व्यापारियों व कृषकों का हम आदर करें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**—रुद्राः। **छन्दः**—स्वराट्प्रकृतिः। **स्वरः**—धैवतः॥

ओषधि-विक्रेता व काष्ठवाहक

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नमऽउद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नमऽआखिदते च प्रखिदते च नमऽइषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानाꣳहृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नमऽआनिर्हतेभ्यः ॥४६॥

१. **पर्णाय च नमः**=सोमादि ओषधियों के पत्तों के व्यापारी का आदर हो, **च**=और **पर्णशदाय**=इन पत्तों को काटकर लानेवाले के लिए आदर हो। २. **उद्गुरमाणाय**=काष्ठभार उठानेवाले के लिए सत्कार हो, **च**=और **अभिघ्नते**=काष्ठछेदक (wood cutter) के लिए आदर हो। ३. **आखिदते च नमः**=खेतों को चर जानेवाले पशुओं को खदेड़नेवालों, अर्थात् क्षेत्ररक्षकों का भी हम आदर करते हैं **च**=और **प्रखिदते च नमः**=तोते आदि पक्षियों के खदेड़ने (खिद=To strike) से बागों की रक्षा करनेवालों का हम आदर करते हैं। ४. **इषुकृद्भ्यः च नमः**=बाणों के बनानेवालों का हम आदर करते हैं, **च**=और **धनुष्कृद्भ्यः**=धनुष्

बनानेवालों का भी हम मान करते हैं। ५. **किरिकेभ्यः वः नमः**=(कुर्वन्ति इति–उ०) विविध वस्तुओं के निर्माता आप सबका हम आदर करते हैं। ६. **देवानां हृदयेभ्यः नमः**=देवताओं के हृदयवालों के लिए, अर्थात् जिनका हृदय आसुर भावनाओंवाला न होकर दैवी भावनाओं से भरा है उनके लिए हम नमस्कार करते हैं। ७. देव-हृदयवाला बनने के लिए **विचिन्वत्केभ्यः**= अपने हृदय में दैव व आसुर भावनाओं का विवेचन करनेवालों के लिए आदर हो। सदा हृदय की पड़ताल करनेवालों का हम सम्मान करें। ८. आसुर भावनाओं का **विक्षिणत्केभ्यः**= विशेषरूप से (क्षिण्वन्ति हिंसन्ति) हिंसन करनेवालों का आदर हो। ९. **आनिर्हतेभ्यः नमः** =(आ समन्तात् निर्हतं येषां) समन्तात् इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि-सबमें से इन कामादि को दूर भगा देनेवालों का हम आदर करें। ७, ८, ९ की भावना बाह्य शत्रुओं के विषय में भी हो सकती है कि छिपें हुए शत्रुओं को ढूँढनेवालों, उनका हिंसन करनेवालों व समन्तात् दूर भगा देनेवालों का हम आदर करते हैं।

भावार्थ–ओषधि-विक्रेताओं, क्षेत्र-रक्षकों, शस्त्र-निर्माताओं तथा विविध शिल्पियों और निर्मल हृदयवाले, आत्म-निरीक्षण के अभ्यासियों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः–परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। **देवता**–रुद्राः। **छन्दः**–भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**–मध्यमः॥

दरिद्र : आदर्श राजा

द्रापे॒ऽअन्ध॑सस्पते॒ दरि॑द्र॒ नील॑लोहित।

आ॒सां प्र॒जाना॑मे॒षां प॑शू॒नां मा भे॒र्मा रो॒ङ् मो च॑ नः॒ किं च॒नाम॑मत्॥४७॥

१. गत मन्त्र में राष्ट्र के सब अधिकारियों व अन्य कर्मकरों का उल्लेख करके कहते हैं कि **द्रापे**=(द्रा कुत्सायां गतौ, तस्याः पाति) कुत्सित गति से सबकी रक्षा करनेवाले! वस्तुतः राजा का मौलिक कर्त्तव्य यही है कि वह सभी को स्वधर्म में स्थापित करे और कुत्सित आचरण से बचाये। २. **अन्धसस्पते**=(क) हे अन्नों के पति! (अन्धस्=अन्न) राजा का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि राजा राष्ट्र में किसी को भूखा न मरने दे ('नास्य विषये क्षुधा अवसीदेत्'–आपस्तम्ब)। धान्यों के अष्टम भाग को कर रूप में लेनेवाला राजा अन्नों का स्वामी तो बनता ही है। अचानक वृष्ट्यभाव में अन्न की कम उत्पत्ति होने पर राजा के वे अन्नकोश प्रजा के अन्नाभाव के कष्ट को दूर करनेवाले होते हैं। (ख) 'अन्धसस्पते' का अर्थ 'सोमपते' भी है (अन्धस्=सोम)=राजा अपने **सोम**=वीर्य-शक्ति की रक्षा करनेवाला हो। स्वयं संयमी राजा ही औरों का भी संयमन कर पाता है। ३. **दरिद्र**=निष्परिग्रह! राजा का यह सम्बोधन स्पष्ट कर रहा है कि राजा को प्रजा से कर प्रजा के कल्याण के लिए ही लेना है। उस कर का विनियोग उसे अपने लिए नहीं करना है। 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्'='प्रजाओं के ही कल्याण के लिए वह उनसे कर लेता था– यह राजा के जीवन का आदर्श होना चाहिए।' सारे कोश का स्वामी होते हुए भी राजा स्वयं निष्परिग्रह ही बना रहे। यह कोशरूप धेनु प्रजा के लिए धेनु=दूध पिलानेवाली हो, राजा के लिए तो यह 'वशा' बाँझ गौ ही हो। ४. **नीललोहित** =(कण्ठे नीलः, अन्यत्र लोहितः–म०) कण्ठ में नील हो, अर्थात् विविध विद्याओं से विभूषित कण्ठवाला हो और शरीर में अत्यन्त तेजस्वी हो। एवं, ब्रह्म व क्षत्र के उचित विकासवाला हो। ५. हे राजन्! तू ऐसी व्यवस्था कर कि **आसां प्रजानाम्**=इन प्रजाओं में से तथा **एषां पशूनाम्**=इन पशुओं में से **मा भेः**=कोई भयभीत न हो। सब प्रजाओं व पशुओं का सारे राष्ट्र में अकुतोभय सञ्चार हो।

मार्गों में व अन्धकार के समय चोर-डाकुओं आदि का ख़तरा न हो। ६. **मा रोक्**=(रुजो भङ्गे) इनका किसी प्रकार का भङ्ग न हो। ऐसी उत्तम व्यवस्था कर कि न्यायमार्ग पर चलनेवाले किसी का भी कार्य असफल न हो। ७. **उ**=और **च**=फिर **नः**=हममें से **किंचन**=कोई भी **मा आममत्**=रोगी न हो (अम रोगे)। एवं, राजा तीन व्यवस्थाएँ अवश्य शीघ्रातिशीघ्र करे (क) सब निर्भीक होकर आवागमन कर सकें, न्याय्यकार्यों में असफलताएँ न हों तथा रोग न फैलें।

भावार्थ—राजा 'द्रापि-अन्धसस्पति-दरिद्र व नीललोहित' हो और उसकी व्यवस्था इतनी उत्तम हो कि किसी को मार्गों में भय न हो, असफलताएँ न हों और रोग न फैलें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

शम्-पुष्टम्-अनातुरम्

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामेऽअस्मिन्ननातुरम्॥४८॥

१. **रुद्राय**=(रुत् ज्ञानं राति, रुतं दुःखं द्रावयति) ज्ञान देनेवाले—सारे राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करनेवाले और प्रजा के दुःखों को दूर करनेवाले राजा के लिए, २. **तवसे**=महान् व बलवान् राजा के लिए (तवस्—महान्=बलवान्) अथवा (तु To thrive) राष्ट्र की सर्वतोमुखी वृद्धि करनेवाले राजा के लिए। ३. **कपर्दिने**=प्रजाओं के लिए (क) सुख की (ख) परं=पूर्ति को (ग) देनेवाले राजा के लिए। राजा को चाहिए कि वह सदा अपनी उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था से सभी के कष्टों को दूर करके उनके जीवन को सुखी बनाये। ४. **क्षयद्वीराय**=(क्षयन्तो वीरा यस्मिन्) जिसके समीप वीर पुरुषों का निवास है, अर्थात् जिस राजा की सेना वीरपुरुषों से परिपूर्ण है, उस राजा के लिए हम **मतीः**=(याभिः मन्यते स्तूयते) इन स्तुतियों व बुद्धियों को **प्र भरामहे**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हैं। ५. **यथा**=जिससे इस राजा के द्वारा बुद्धिपूर्वक की गई व्यवस्था से **द्विपदे चतुष्पदे**=दोपायों व चौपायों—मनुष्यों व पशुओं सभी के लिए **शम्**=शान्ति व सुख **असत्**=हो ६. **अस्मिन् ग्रामे**=इन राष्ट्र के नगरों में **विश्वम्**=सब कोई **पुष्टम्**=समृद्ध (possession वाला) हो और साथ ही **अनातुरम्**=आपद्रहित, स्वस्थ हो।

भावार्थ—राजा 'रुद्र, तवस्, कपर्दी व क्षयद्वीर' हो। उसकी उत्तम व्यवस्था से सब शान्त, समृद्ध व नीरोग जीवनवाले हों (शम्-पुष्टं-अनातुरम्)।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

शिवा तनूः

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥४९॥

१. हे **रुद्र**=राष्ट्र के दुःखों को दूर करनेवाले राजन्! **या**=जो **ते**=तेरी **शिवा**=कल्याणकर **तनूः**=विस्तृत राजनीति है (द०) वह **शिवा**=सचमुच कल्याणकर हो। २. **विश्वाहा**=सदा **भेषजी**=कष्टों की औषधरूप हो, अर्थात् सब कष्टों को दूर करनेवाली हो। ३. **शिवा**=वह कल्याणकर नीति **रुतस्य**=रोगों की **भेषजी**=औषध हो, सब रोगों को दूर करनेवाली हो। ४. **तया**=अपनी उस नीति से **नः**=हमें **मृड**=सुखी कीजिए तथा ५. **जीवसे**=हमारे दीर्घ जीवन

का कारण बनो।

भावार्थ—राजा की राजनीति ऐसी सुन्दर हो कि उससे १. प्रजा के कष्ट दूर हों। ३. वह कल्याणकर होती हुई सब रोगों को दूर करनेवाली हो। २. उससे प्रजा के जीवन सुखी हों। ४. प्रजा दीर्घजीवी बने।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

दण्ड व अपराध-शून्यता

परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परि त्वेषस्य दुर्मतिरघायोः।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड॥५०॥

१. **नः**=हमें **रुद्रस्य**=अन्यायकारियों को रुलानेवाले (रोदयति) राजा का **हेतिः**=अस्त्र **परिवृणक्तु**=छोड़ दे। हमपर दण्ड देनेवाले राजा का वज्र न गिरे, अर्थात् हम राजनियमों का पालन करते हुए राजा के प्रकोप से बचे रहें। २. और इस राजा की उचित व्यवस्था से हमें **त्वेषस्य**=(त्वेषति क्रोधेन ज्वलति, red with anger) क्रोध की ज्वाला से तमतमाते हुए **अघायोः** (अघं परस्य इच्छति)=सदा औरों का अशुभ चाहनेवाले अघायु पुरुष की **दुर्मतिः**=बुरी बुद्धि **परि**=(वृणक्तु) छोड़ दे। हम उसकी बुरी बुद्धि का शिकार न हो जाएँ, अर्थात् उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के परिणामस्वरूप दुष्ट लोग सज्जनों को पीड़ित न कर पाएँ। ३. **स्थिरा**=अपने दृढ़ शस्त्रों को तू **मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) यज्ञशील जीवनवालों के लिए **अवतनुष्व**=शिथिल कर दे—धनुष की डोरी को उतार दे। ४. **मीढ्वः**=हे सब सुखों की वर्षा करनेवाले राजन्! तू **तोकाय**=हमारी सन्तानों के लिए तथा **तनयाय**=सन्तानों की भी सन्तानों के लिए **मृड**=सुख देनेवाला हो।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ऐसी उत्तम दण्ड-व्यवस्था करे कि दुर्जन सज्जनों को तङ्ग न कर सकें। यज्ञशीलों पर दण्डपात न हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्षीयवमध्यात्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वृक्ष पर आयुधस्थापन

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव। परमे वृक्षऽआयुधं निधाय कृत्तिं वसानऽआ चर पिनाकम्बिभ्रदा गहि॥५१॥

१. **मीढुष्टम**=अतिशयेन मीढ्वान्=सर्वाधिक सुखों का सेचन करनेवाले **शिवतम**=अधिक-से-अधिक कल्याण करनेवाले राजन्! **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाले **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **भव**=होओ। राजा का मन सदा प्रजा के हित की कामनावाला हो तथा उसके सारे प्रयत्न प्रजा को सुखी बनाने के लिए हों। २. **परमे**=अत्यन्त प्रबल **वृक्षे**=(व्रश्चनीये छेदनीये शत्रुसैन्ये—द०) काटने योग्य शत्रुसैन्य पर **आयुधं निधाय**=खड्ग, भुशुण्डी और शतघ्नी आदि शस्त्रों को रखकर, अर्थात् इन आयुधों का शत्रुओं पर प्रयोग करते हुए, ३. **कृत्तिं वसानः**=छेदनक्रिया को धारण करता हुआ, अर्थात् शत्रुओं पर प्रयोग करता हुआ तू **आचर**=समन्तात् विचरण कर। ४. राष्ट्र की रक्षा के लिए **पिनाकम्**=(पाति रक्षति आत्मानं येन तद्धनुर्वर्मादिकम्—द०) रक्षा के साधनभूत धनुष को **बिभ्रत**=धारण किये हुए **आगहि**=तू आ।

भावार्थ—राजा ने प्रजा पर सुखों की वर्षा करनी है—प्रजा का कल्याण सिद्ध करना है। शत्रुओं पर शस्त्र-प्रयोग द्वारा उनका छेदन करते हुए प्रजा के रक्षण के लिए धनुर्धर

बनकर विचरना है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

दण्ड

विकिरिद्र विलोहित नमस्तेऽअस्तु भगवः।
यास्ते सहस्रꣳहेतयोऽन्यमस्मन्नि वपन्तु ताः ॥५२॥

१. **विकिरिद्र**=(विकिरन् इषून् द्रावयति इति—उ०) बाणों की विशिष्ट वर्षा के द्वारा शत्रुओं को भगानेवाले राजन्! २. **विलोहित**=विशिष्टरूप से प्रवृद्ध शक्तियोंवाले व विशिष्ट तेजवाले राजन्! ३. **भगव** =ऐश्वर्य व शक्ति आदि भगों से युक्त राजन्! ते **नमः अस्तु**=हम तेरे लिए नमस्कार करते हैं। ४. हे राजन् ! **याः**=जो **ते**=आपके **सहस्रं हेतयः**=हज़ारों अस्त्र व वज्र हैं **ताः**=वे **अस्मत् अन्यः**=हमसे भिन्न व्यक्ति को **निवपन्तु**=छिन्न करनेवाले हों, अर्थात् आपके अस्त्र नियमानुकूल चलनेवाले हम लोगों से भिन्न लोगों को ही नष्ट करनेवाले हों। आपका दण्ड दण्डनीय पुरुषों को ही दण्डित करनेवाला हो। वह दण्ड असमीक्ष्य प्रणीत होकर प्रजाओं के उद्वेग का कारण न बन जाए।

भावार्थ—राजा विचार करके दण्ड को दण्ड्यों पर ही डाले, जिससे वह दण्ड सारी प्रजाओं के रञ्जन का कारण बने।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

सहस्राणि सहस्रशः

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥५३॥

१. हे **भगवः**=समग्र ऐश्वर्य—सम्पन्न राजन्! **तव बाह्वोः**=आपकी भुजाओं में **सहस्राणि**=हज़ारों प्रकार के **सहस्रशः**=संख्या में हज़ारों **हेतयः**=हनन—साधन शस्त्र हैं। २. **तासाम् ईशानः**=उनके पूर्ण प्रभु होते हुए, अर्थात् उनके चलाने व रोकने में पूर्ण अभ्यस्त होते हुए आप **तासाम्**=उन शस्त्रों के **मुखा**=मुखों को **पराचीना**=हमसे दूसरी ओर गया हुआ, अर्थात् हमसे विपरीत दिशा में **कृधि**=कर दीजिए। अपनी तोपों का मुख हमसे दूर दूसरी ओर कर दीजिए। आपके ये अस्त्र आपकी प्रजा को ही न भूनने लगें। ३. (क) ये अस्त्र प्रकारों के दृष्टिकोण से सहस्रों हैं, और प्रत्येक संख्या में हज़ारों में है। (ख) राजा व राजपुरुष इन अस्त्रों के प्रयोग में पूर्ण निपुण हैं। (ग) इन अस्त्रों का प्रयोग वे शत्रुओं पर ही करते हैं, अपनी प्रजा पर नहीं।

भावार्थ—शतशः शस्त्रों के प्रयोग में निपुण राजा शत्रुओं पर ही शस्त्र—प्रयोग करता है, उसके शस्त्र प्रजापीड़न का कारण नहीं बनते।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।।

अधि भूम्याम्

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽअधि भूम्याम्।
तेषाꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५४॥

१. राष्ट्र में राजपुरुषों की नियुक्ति की कोई निश्चित संख्या नहीं है। राष्ट्र छोटा होगा

तो राजपुरुषों की संख्या भी थोड़ी होगी। राष्ट्र के बड़े होने पर यह संख्या भी बड़ी हो जाती है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ये रुद्राः**=(रुत् दुःखं द्रावयन्ति) जो प्रजा के कष्टों को दूर भगाने में नियुक्त राजपुरुष हैं, (क) **असंख्याता**=जिनकी कोई संख्या निश्चित नहीं है जो (ख) **सहस्राणि**=हजारों ही हैं तथा (स हस्) प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हैं, सड़ियल मिज़ाज के नहीं है, (ग) **अधि भूम्याम्**=(भूमि=पृथिवी शरीरम्) शरीर पर पूर्ण आधिपत्य रखते हैं, जिन्होंने शारीरिक उन्नति अधिक की है। २. **तेषाम्**=उन रुद्रों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=सुदूर विस्तृत करते हैं। ३. अभिप्राय यह कि राष्ट्र-रक्षा में विनियुक्त राजपुरुषों को शरीर के दृष्टिकोण से पूर्ण होना चाहिए तथा वे शस्त्रास्त्र की विद्या में निपुण बनकर दूर-दूर तक अस्त्रों का प्रयोग करनेवाले हों।

भावार्थ—राजपुरुष १. स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से शरीर के पूर्ण प्रभु हों, तथा २. अस्त्र-चालन-विद्या में निपुण हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—भुरिगार्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

अधि अन्तरिक्षे

अस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवाऽअधि।
तेषाꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५५॥

१. हे **भवाः**=(भवति अस्मिन्) जिनके रक्षाकार्य में ही राष्ट्र की स्थिति सम्भव है वे राजपुरुष, जो **अस्मिन्**=इस **महति**=विशाल **अर्णवे**=दया के जलवाले **अन्तरिक्षे अधि**=हृदयान्तरिक्ष पर पूर्ण आधिपत्य रखते हैं, अर्थात् (क) जिनका हृदय विशाल है। (ख) दुःखियों को देखकर जिनका हृदय दयार्द्र हो उठता है। (ग) जिनके हृदय में वासनाओं के तूफ़ान नहीं उठते, जो सदा मध्यमार्ग में चलते हैं। २. **तेषाम्**=उनके **धन्वानि** =अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=सुदूर विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. हृदय के दृष्टिकोण से सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाले हों। २. और अस्त्र-विद्या में पारङ्गत हो।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—बहुरुद्राः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

दिवं श्रिताः

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवꣳरुद्राऽउपश्रिताः।
तेषाꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥५६॥

१. जो **रुद्राः**=दुःखद्रावक राजपुरुष **नीलग्रीवाः**=विविध विद्याओं से सुभूषित ग्रीवावाले हैं। २. **शितिकण्ठाः**=(शितिः श्वेत=शुद्ध) शुद्ध कण्ठ स्वरवाले हैं। ३. **दिवं उपश्रिताः**=ज्ञान के प्रकाश को जिन्होंने समीपता से सेवन किया है, अर्थात् खूब ऊँचे ज्ञानी बने हैं। ४. **तेषाम्**=उनके **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. मस्तिष्क के दृष्टिकोण से विविध विद्याओं से सुभूषित, खूब ज्ञानी हों। इनका कण्ठस्वर भी बड़ा शुद्ध हो। २. अस्त्र-विद्या के पारङ्गत तो हों ही।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अधः क्षमाचराः

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाऽअधः क्षमाचराः।
तेषांᳶसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५७॥

१. **नीलग्रीवाः**=विविध विद्याओं से सुभूषित गर्दनवाले, २. **शितिकण्ठाः**=शुद्ध कण्ठस्वर-वाले, ३. **शर्वाः**=(शृणन्ति) शत्रुओं का संहार करनेवाले रुद्र, अर्थात् राजपुरुष, ४. **अधः**= सर्वदा अधोदृष्टिवाले, अर्थात् अपनी शक्ति आदि का गर्व न करनेवाले, सदा ५. **क्षमाचराः**= सहनशक्ति के साथ विचरनेवाले हैं, प्रजा से मूर्खतावश दी गई गालियों से उत्तेजना में नहीं आ जाते। ६. **तेषाम्**=उनके **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. उद्धत न होकर विनीत हो। २. प्रजा की गालियों से तैश में न आनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

शष्पिञ्जराः (उत्प्लुत बन्धनवाले)

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः।
तेषांᳶसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५८॥

१. **ये**=जो **वृक्षेषु**=(व्रश्चनीय छेदनीय) छेदन के योग्य काम, क्रोध व लोभ आदि शत्रुओं के विषय में **शष्पिञ्जराः**=(शङ् उत्प्लुतं बन्धनं पिञ्जरं येन) बन्धन से ऊपर उठ गये हैं, अर्थात् कामादि के बन्धन से जो ऊपर उठ गये हैं २. **नीलग्रीवाः**=विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाले हैं। ३. **विलोहिताः**=विशिष्ट रूप से उन्नति को प्राप्त (रोहित) अथवा तेजस्वी हैं। ४. **तेषाम्**=इन रुद्रों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=सहस्रों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं। ५. रुद्रों=अर्थात् प्रजा के दुःखद्रावण में विनियुक्त पुरुषों को चाहिए कि वे (क) इन छेदनीय कामादि शत्रुओं के बन्धन से ऊपर उठे हुए हों, (ख) विद्या-विभूषित कण्ठवाले हों। (ग) तेजस्वी हों तथा (घ) दूर-दूर तक अस्त्रों के प्रयोग में निपुण हों।

भावार्थ—राजपुरुष विषयों के बन्धनों को परे फेंक चुके हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

विशिखासः (विशिष्ट ज्ञान की ज्वालावाले)

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः।
तेषांᳶसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥५९॥

१. **ये**=जो **भूतानाम् अधिपतयः**=शरीर के अङ्गभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' इन पाँचों भूतों के अधिपति हैं, अर्थात् इन्हें जिन्होंने पूर्णतया अपने अनुकूल बनाया है, अर्थात् जो पूर्ण स्वस्थ हैं २. **विशिखासः**=(शिखा=ज्वाला) विशिष्ट ज्ञान की ज्योतिवाले हैं ३. **कपर्दिनः**=प्रजाओं के लिए सुख की पूर्ति करनेवाले हैं, अर्थात् विशिष्ट व्यवस्थाओं के द्वारा प्रजा के जीवन को सुखी बनानेवाले हैं। ४. **तेषाम्**=उन रुद्रों के—प्रजा के दुःखों का द्रावण करनेवाले राजपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=सुदूर विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुषों को (क) पूर्ण स्वस्थ होना चाहिए, (ख) ज्ञान की ज्योतिवाला होना चाहिए तथा (ग) उनका ध्येय प्रजा के जीवन को सुखी करना हो (कपर्दिनः)।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पथिरक्षयः (मर्यादा-पालक)

ये पथां पथिरक्षयऽऐलबृदाऽआयुर्युधः।
तेषांᳪसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥६०॥

१. **ये**=जो **पथां पथिरक्षयः**=मार्गों के रक्षक हैं, लौकिक व वैदिक मार्गों का अपने जीवन में पालन करते हैं तथा सुशासन से प्रजाओं के जीवन में भी मर्यादाओं को लुप्त नहीं होने देते। राजा का मुख्य कार्य यही है कि 'राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत'=वह सब वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करे। २. **ऐलबृदाः** =(ऐलभृतः—म०) (इलानां अन्नानां समूह ऐलम्)=अन्नसमूह का ये धारण करनेवाले हैं। (ऐले बिभ्रति) राष्ट्र में अन्न की कमी नहीं होने देते। घर में पति-पत्नी का पहला क़दम यही होता है कि 'अन्न की कमी न हो' (इषे एकपदी भव), इसी प्रकार राष्ट्र में राजा का सर्वप्रथम यह प्रयत्न होना चाहिए कि राष्ट्र में अन्न की कमी न हो जाए। लोग भूख से न कराह उठें। ३. **आयुर्युधः**=ये (आयुर्जीवनं पणीकृत्य युध्यन्ते) राष्ट्र की उन्नति के लिए विरोधी तत्त्वों व विघ्नों के साथ युद्ध में अपने प्राणों की बाज़ी लगा दें, अर्थात् प्राणपन से राष्ट्रोन्नति में लगे रहें। ४. **तेषाम्**=इन रुद्रों=प्रजा-दुःखद्रावक राजपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुष १. मार्ग-रक्षक (मर्यादा-पालक) हों, २. अन्न के धारण करनेवाले—अन्न की कमी न होने देनेवाले हों ३. प्राणपन से राष्ट्रोन्नति में लगे हुए हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

तीर्थ-प्रचरण (आचार्योपासन)

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः।
तेषांᳪसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥६१॥

१. **ये**=जो **तीर्थानि**=अविद्यादि से तरानेवाले (तारयन्ति—द०) आचार्यों का **प्रचरन्ति**= उपासन करते हैं, आचार्य-चरणों में पहुँचकर सदा उत्तम उपदेश लेते रहते हैं। २. **सृकाहस्ता**= (सृका=आयुधम्) हाथों में आयुधों का ग्रहण करनेवाले, ३. **निषङ्गिणः**=प्रशस्त तलवारोंवाले हैं। ४. **तेषाम्**=उन प्रजा-दुःखद्रावक रुद्रों=राष्ट्रपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों कोसों की दूरी तक **अवतन्मसि** =विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के रक्षापुरुष (क) आचार्य-चरणों में उपस्थित होकर अपने कर्त्तव्य को सदा समझनेवाले हों, विद्या-वयोवृद्धों के ये उपासक हों। (ख) रक्षा के लिए अस्त्रों के धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

खान-पान के विषय में प्रेरणा (स्वास्थ्य विभाग)

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।
तेषांᳪसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥६२॥

१. **ये**=जो **अन्नेषु**=अन्नों के विषयों में **विविध्यन्ति**=(विध्=To administer, govern)

विविध निर्देश देते हैं तथा २. **पात्रेषु**=पात्रों में **पिबतः**=दुग्ध, लस्सी आदि पीते हुए **जनान्**=लोगों को **विविध्यन्ति**=विशेषरूप से शासित करते हैं कि 'इस प्रकार के पेय के लिए इन पात्रों का प्रयोग करना है और इनका नहीं' (लस्सी के लिए बिना कलईवाले पात्र का प्रयोग नहीं करना)। ३. **तेषाम्**=उन रुद्रों के, प्रजा के रोगों को दूर करनेवाले राजपुरुषों के **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—राजपुरुषों को प्रजा के अन्दर 'खान-पान' के नियमों का भी विशेषरूप से अनुशासन करना है, जिससे सब प्रजाएँ नीरोग होकर सुखी हो सकें।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

एतावन्तः—भूयांसः

यऽएतावन्तश्च भूयाᳬसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे।
तेषाᳬसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥६३॥

१. **ये**=जो **एतावन्तः च**=इतने, जिनका कि ऊपर मन्त्रों में उल्लेख किया गया है, **च**=अथवा **भूयांसः**=और भी जिनका स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ—वे सबके सब **रुद्राः**=प्रजा-दुःखद्रावक राजपुरुष जोकि **दिशः वितस्थिरे**=भिन्न-भिन्न दिशाओं में अपने-अपने नियुक्ति स्थानों में स्थित हैं। २. **तेषाम्**=उन सबके **धन्वानि**=अस्त्रों को **सहस्रयोजने**=हज़ारों योजनों की दूरी तक **अवतन्मसि**=हम सुदूर विस्तृत करते हैं, इनके दूर-दूर तक शत्रुओं का संहार करनेवाले अस्त्र प्रजा-रक्षण व प्रजा के सुख-वर्धन का साधन बनते हैं।

भावार्थ—सब राजपुरुषों का एक ही ध्येय होना चाहिए कि शस्त्र-प्रयोग के नैपुण्य से शत्रुओं का शातन (नाश) करके प्रजा के दुःखों को दूर करें और उसके सुख का वर्धन करें। इसी में 'रुद्र' नाम की सार्थकता है।

सूचना—'एतावन्तः भूयांसः' शब्द स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि राजपुरुषों की संख्या कार्यानुसार बढ़ सकती है।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—निचृद्धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

ये दिवि येषां वर्षम् इषवः

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥६४॥

१. **रुद्रेभ्यः नमः अस्तु**=रुद्रों के लिए, राजा की ओर से नियुक्त (रुत्=ज्ञानं राति=ददति) ज्ञान देनेवाले पुरुषों के लिए नमस्कार हो। उन रुद्रों के लिए **ये**=जो **दिवि**=(दिव=प्रकाश) प्रकाश फैलाने के कार्य में नियुक्त हैं, जिन्होंने **दिवि**=प्रकाश के क्षेत्र में द्युलोक व मस्तिष्क पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त किया है। २. **वर्षम्**=ज्ञान की वर्षा ही **येषाम्**=जिनके **इषवः**=बाण हैं, अर्थात् जो ज्ञान की वर्षा के द्वारा लोगों के दुःखों को दूर करने में लगे हैं। ३. **तेभ्यः**=इन ज्ञानवर्षणरूप बाणोंवाले रुद्रों के लिए **दश**=दस **प्राचीः**=पूर्वाभिमुख, पूर्व की ओर अंगुलियों को करता हूँ, अर्थात् बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम करता हूँ। **दश दक्षिणाः**=इसी प्रकार से दक्षिणाभिमुख दस अंगुलियों को करता हूँ। **दश प्रतीचीः**=पश्चिमाभिमुख दस अंगुलियों को करता हूँ। **दश उदीचीः**=उत्तराभिमुख दस अंगुलियों को करता हूँ **दश ऊर्ध्वाः**=और ऊपर की ओर दस अंगुलियों को करता हूँ, अर्थात् इन ज्ञानप्रसारक

रुद्रों के लिए सब दिशाओं में नमस्कार करता हूँ। ४. **तेभ्यः नमः अस्तु**=इन रुद्रों के लिए अञ्जलिपूर्वक हमारा नमस्कार हो। 'दश वा अञ्जलेरंगुलयो, दिशि दिश्येवैभ्यः एतदञ्जलिं करोति'—श० ९।१।१।३९। **ते नः अवन्तु**=ये रुद्र ज्ञान देकर हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=इस ज्ञान-प्रदान द्वारा वे रुद्र हमारे जीवन को सुखी करें। ५. **ते**=वे रुद्र तथा हम सभी **यं द्विष्मः**=जिस ज्ञान में रुचि न रखनेवाले मूर्ख व्यक्ति को प्रीति के अयोग्य समझते हैं (द्विष अप्रीतौ) **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबसे द्वेष करता है, अर्थात् सारे समाज का विरोध करता है और वस्तुतः उस विरोध के कारण ही द्वेष्य हो गया है, **तम्**=उसे **एषाम्**=इन रुद्रों के ही **जम्भे दध्मः**=दंष्ट्राकराल मुख में स्थापित करते हैं, (जम्भे=विडाल के मुख में मूषक के समान पीड़ा में—द०) इसे न्यायोचित दण्ड देने के लिए व इसकी मनोवृत्ति को सुधारने के लिए उन्हें सौंपते हैं।

भावार्थ—वे राज्याधिकारी, जो प्रजा के मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाने के लिए, ज्ञानवर्षण के लिए नियुक्त हुए हैं, उन राज्याधिकारियों का हम आदर करते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

ये अन्तरिक्षे येषां वात इषवः

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥६५॥

१. **रुद्रेभ्यः नमः अस्तु**=रुद्रों के लिए, राजा की ओर से नियुक्त (रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु का नाम लेकर वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले पुरुषों के लिए नमस्कार हो। उन रुद्रों के लिए **ये**=जो **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष को निर्मल बनाने के लिए नियुक्त हुए हैं, 'अन्तरा क्षि'=जो लोगों को सदा मध्यमार्ग में चलने का उपदेश देते हैं, जो 'अति' की हानियों का उद्घोषण करते हुए लोगों के जीवनों को नीरोग व सुखी बनाने का यत्न करते हैं। २. **वातः इषवः**=निरन्तर क्रियाशीलता ही **येषाम्**=जिनके बाण हैं। ये लोगों के जीवन को क्रियाशील बनाकर उन्हें सुखी बनाने में लगे हुए हैं। इनका मुख्य प्रचार यही है कि सदा क्रिया में लगे रहो, जिससे तुम्हारे हृदयों में अशुभ वासनाएँ उत्पन्न ही न हों। हृदय की पवित्रता का मार्ग एक ही है, और वह यह कि वायु की भाँति सदा अपने जीवन को गतिमय बनाये रक्खो। ३. **तेभ्यः**=इन क्रियाशीलतारूप बाणवाले रुद्रों के लिए मैं **दश**=दस अंगुलियों को **प्राचीः**=पूर्वाभिमुख करता हूँ। **दश दक्षिणाः**=दस अंगुलियों को दक्षिणाभिमुख करता हूँ। **दश प्रतीचीः**=दश अंगुलियों को पश्चिमाभिमुख करता हूँ। **दश उदीचीः**=दस अंगुलियों को उत्तराभिमुख करता हूँ। **दश ऊर्ध्वाः**=और दस अंगुलियों को ऊर्ध्वाभिमुख करता हूँ, अर्थात् सब दिशाओं में इनके लिए मैं नमस्कार करता हूँ। ४. **तेभ्यः नमः अस्तु**=इन रुद्रों के लिए हमारा नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=वे रुद्र हमारी रक्षा करें। **ते नो मृडयन्तु**=क्रियाशीलता की प्रेरणा से हमारे जीवनों को पवित्र बनाकर ये उन्हें मङ्गलमय बनाएँ। मङ्गल भी तो उन्हीं का होता है जो सदा गतिशील हों (मगि गतौ)। ५. **ते**=वे रुद्र तथा हम सभी **यम्**=जिस अक्रियाशील, परन्तु खूब खानेवाले और अतएव राष्ट्र पर भारभूत व्यक्ति को **द्विष्मः**=प्रीति के अयोग्य समझते हैं, **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबसे द्वेष करता है, **तम्**=उस अकर्मण्य बहुभुक् पुरुष को **ऐषाम्**=इन रुद्रों के **जम्भे**=न्याय के जबड़े

में **दध्मः**=स्थापित करते हैं। वे ही उचित दण्ड-व्यवस्था करके इनके जीवन को सुधारेंगे और इन्हें क्रियाशील बनाकर इनके हृदयों को निर्मल करेंगे।

भावार्थ—उन राजाधिकारियों को, जो प्रजा को वायु की भाँति निरन्तर क्रियाशीलता का उपदेश करके पवित्र-हृदय बनाने में लगे हैं, हम आदर देते हैं।

ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवाः। देवता—रुद्राः। छन्दः—धृतिः। स्वरः—ऋषभः॥

ये पृथिव्याम् येषाम् अन्नमिषवः

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥६६॥

१. **रुद्रेभ्यः नमः अस्तु**=उन राज्याधिकारियों के लिए हम नमस्कार करते हैं, **ये**=जो **पृथिव्याम्**=(पृथिवी शरीरम्) लोगों के शरीरों के विषयों में नियुक्त हुए हैं, जिनका कार्य यह है कि वे आहारादि का उचित ज्ञान देकर (रुत्+र) लोगों को शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्तियों के विस्तार के योग्य बनाएँ (प्रथ विस्तारे)। २. उन रुद्रों के लिए हम नमस्कार करते हैं **येषाम्**=जिनका **अन्नम् इषवः**=अन्न ही बाण है। वे सर्वत्र लोगों को यह स्पष्ट करने में लगे हैं कि यह अन्न शरीर-रक्षा के लिए खाया जाता है (अद्यते), परन्तु यही अन्न जब स्वादवश शरीर-रक्षा का ध्यान न करते हुए खाया जाता है तो यह हमारे शरीरों को ही खा जाता है, 'अत्ति च भूतानि'। इनका प्रचार यही होता है कि तुमने खाने के लिए जीवन को प्राप्त नहीं किया, जीवन धारण के लिए ही तुम्हें इस अन्न का ग्रहण करना है। तुम अन्न के लिए नहीं हो, अन्न तुम्हारे लिए है। ३. **तेभ्यः**=इन रुद्रों के लिए **दश प्राचीः**=दस पूर्वाभिमुख अंगुलियों को करता हूँ। **दश दक्षिणाः, दश प्रतीचीः, दश उदीचीः, दश ऊर्ध्वाः**=दस दक्षिणाभिमुख, दस पश्चिमाभिमुख, दस उत्तराभिमुख तथा दस ऊपर की ओर अंगुलियों को करता हूँ, अर्थात् इन्हें सब दिशाओं में बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम करता हूँ। ४. **तेभ्यः नमः अस्तु**=इन रुद्रों के लिए नमस्कार हो। **ते नः अवन्तु**=ये अन्न के उचित प्रबन्ध व ज्ञान देने से हमें रोगों से बचाएँ। हमारे शरीरों को विस्तृत शक्तिवाला बनाएँ। **ते नः मृडयन्तु**=नीरोग बनाकर वे हमारे जीवनों को सुखी करें। ५. **ते**=वे रुद्र तथा हम **यं द्विष्मः**=अन्न के विषय में ठीक आचरण न करनेवाले पुरुष को अप्रीति के योग्य समझते हैं, **यः च**=और जो **नः द्वेष्टि**=हम सबको द्वेष्य समझता है **तम्**=उस अन्न का अतियोग करनेवाले व विकृत अन्न को व्यापार की वस्तु बनानेवाले पुरुष को हम **एषाम्**=इन अन्न के विषय में नियुक्त राजपुरुषों के **जम्भे दध्मः**=न्याय की दंष्ट्रा में स्थापित करते हैं। वे ही इसका सुधार करेंगे।

भावार्थ—उन राज्याधिकारियों का हम आदर करें जो अन्न के विषय में उचित व्यवस्थाएँ करते हुए हमारे शरीरों को स्वस्थ व विस्तृत शक्तिवाला बनाने का प्रयत्न करते हैं।

सूचना—इस रुद्राध्याय को 'अन्न के उचित सेवन' के उपदेश के साथ समाप्त किया गया है। इस अन्न-सेवन के विषय से सप्तदशाध्याय का प्रारम्भ करते हैं—

॥ इति षोडशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

सप्तदशोऽध्यायः

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—मरुतः। छन्दः—भुरिगतिशक्करी। स्वरः—पञ्चमः॥

मेधातिथि का खान-पान

अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्यऽओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽअधि सम्भृतं पयः। तां नऽइषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणाऽअश्मँस्ते क्षुन् मयि तऽऊर्ग्यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥१॥

१. हे **संरराणाः**=(संरममाणाः) आकाश में सम्यक् रमण करते हुए, अर्थात् ठीक समय पर गति करते हुए, अथवा सम्यक् रान्ति=सम्यक् वृष्टि करनेवाले **मरुतः**=वायुओ! (monsoon winds) **अश्मन्**=(अशनवति) सब भोजनों को प्राप्त करानेवाले इस मेघ में तथा **पर्वते**=पर्वतों पर **शिश्रियाणाम्**=आश्रित—इन पर्वतों पर वृष्टि होकर विविध ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा वहाँ से नदियों के रूप में यह जल बहकर मैदानों में भी अन्न इत्यादि की उत्पत्ति का कारण बनता है। एवं, हमारा सारा अन्न इन मेघों एवं पर्वतों पर ही आश्रित है। इस मेघ व पर्वतों पर आश्रित **ऊर्जम्**=(ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल व प्राणशक्ति के बढ़ानेवाले अन्न को **नः**=हमारे लिए दो। २. हे मरुतो! आपसे कराई गई वृष्टि के इन **अद्भ्यः**=जलों से **ओषधीभ्यः वनस्पतिभ्यः**=ओषधियों व वनस्पतियों से **पयः**=दूध **अधिसम्भृतम्**=गौ इत्यादि पशुओं में आधिक्येन संभृत होता है। जल पीकर ओषधि-वनस्पतियों का सेवन करके ये गौवें हमारे लिए उत्कृष्ट दूध का पोषण करती हैं। ३. हे **मरुतः**=वायुओ! **ताम्**=उस **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व रस का **नः**=हमारे लिए **धत्त**=धारण करो। ४. **अश्मन्**=हे भक्षक अग्ने (उ०)! **ते क्षुत् मयि**=तेरे—वैश्वानर अग्नि के रूप में जठर में स्थित होकर भोजन के ठीक पाचन से होनेवाली भूख मुझमें हो, अर्थात् मेरी जठराग्नि ठीक हो और मैं उचित भूख को अनुभव करूँ। हे **अश्मन्**=सब भोजनों को प्राप्त करानेवाले (अशनवति) मेघ **ते ऊर्क्**=तेरा यह शक्तिप्रद अन्न मुझमें हो। ५. **ते शुक्**=तेरा शोक व सन्ताप, अन्न के अधिक खाजाने से होनेवाला कष्ट **तं ऋच्छतु**=उसी को प्राप्त हो जो सबके साथ द्वेष करता रहता है और परिणामतः हम सब भी **यं द्विष्मः**=जिसे अप्रीतिकर समझते हैं। इस वैर-रुचि पुरुष को ही अन्न सन्तापकारी हो।

भावार्थ—१. हम वृष्टि से उत्पन्न अन्न व रस को प्राप्त करें। २. हमें इन ओषधियों का सेवन करनेवाली गौवों का दूध प्राप्त हो। ३. हमें सदा उचित भूख लगे। ४. अन्न हमारे लिए सन्तापकारी न हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः॥

यज्ञ

इमा मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके ॥२॥

१. गत मन्त्र में वृष्टि से होनेवाले 'अन्न-रस का' उल्लेख था। वस्तुतः 'पर्जन्यादन्नसम्भवः'

सब अन्न का सम्भव पर्जन्य से ही होता है, परन्तु यह पर्जन्य 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' इस वाक्य के अनुसार यज्ञ से होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में इस यज्ञ के पालकत्व का प्रतिपादन करते हुए मेधातिथि के मुख से प्रार्थना कराते हैं कि हे **अग्ने**=यज्ञादि में विनियुक्त होकर बादलों को जन्म देनेवाले अग्ने! **इमाः**=ये **ये**=इस देह से किये जानेवाले **इष्टकाः**=यज्ञ (यज्+क्त=इष्ट, इष्ट+टाप्) **धेनवः सन्तु**=दुधारू गौवों के समान हमारा पालन करनेवाले हों। वस्तुतः यज्ञ बादलों की उत्पत्ति द्वारा अन्नादि का कारण बनकर सदा हमारा पालन करता है तथा रोगकृमियों के संहार के द्वारा भी यह यज्ञ हमारा रक्षक होता है। २. ये यज्ञ तो मेरे जीवन में निरन्तर चलें, मेरा जीवन ही यज्ञमय हो जाए। **एका च**=यह यज्ञ प्रत्येक प्रातःकाल में एक संख्यावाला होता हुआ भी **दश च**=प्रतिदिन होने से दस संख्यावाला हो, **दश च**=दस संख्यावाला ही क्या **शतं च**=यह सौ संख्यावाला हो। **शतं च**=सौ क्यों? **सहस्रं च**=मेरा जीवन हज़ारों यज्ञों से युक्त हो। **सहस्रं च**=सहस्र ही क्यों? **अयुतं च**=मेरा जीवन दस हज़ार यज्ञोंवाला हो। **अयुतं च नियुतं च**=दस हज़ार यज्ञोंवाला होता हुआ यह मेरा जीवन एक लाख यज्ञोंवाला हो। **नियुतं च प्रयुतं च**=एक लाख से भी अधिक दस लाख इन यज्ञों की संख्या हो। **अर्बुदं च**=ये यज्ञ एक करोड़ हो जाएँ। **न्यर्बुदं च**=दस करोड़ तक इनकी संख्या हो। प्रत्येक घर में होने पर इनकी संख्या दस करोड़ ही क्यों? **समुद्रश्च**=ये यज्ञ अरब संख्या तक पहुँचे, **मध्यं**=दस अरब, तथा **अन्तः च**=खरब तथा **परार्धश्च**=ये यज्ञ तो दस खरब हो जाएँ। ३. मैं तो यह चाहता हूँ कि **अग्ने**=सब यज्ञों के प्रवर्तक प्रभो! **एता मे इष्टकाः**=ये मेरे यज्ञ **अमुत्र**=परलोक में **अमुष्मिन् लोके**=उस दूर लोक में भी **धेनवः सन्तु**=मेरा पालन करनेवाले हों। इस लोक में तो ये यज्ञ कल्याण करते ही हैं, ये परलोक में भी कल्याणकारक हों।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को यज्ञमय बनाएँ। यज्ञ इस लोक में सात्त्विक अन्न व नीरोगता देनेवाला होकर कल्याण करता है तथा यज्ञ में निहित त्याग की भावना परलोक में कल्याण करनेवाली होती है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ऋतवः-ऋतुष्ठाः

ऋतव स्थऽऋतावृधऽऋतुष्ठा स्थऽऋतावृधः ।
घृतश्च्युतो मधुश्च्युतो विराजो नाम कामदुघाऽअक्षीयमाणाः ॥३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञ का वर्णन था। उन यज्ञिय स्वभाववाले पुरुषों से कहते हैं कि **ऋतवः स्थ**=तुम अपने जीवन में बड़ी नियमित गतिवाले बनो (ऋ गतौ)। ऋतुएँ जैसे समय पर आती हैं उसी प्रकार तुम अपने सब कार्य समय पर करनेवाले बनो। २. **ऋतावृधः**=इस ऋत से प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से बढ़नेवाले बनो। 'ऋत' तुम्हारी वृद्धि का कारण बने। ३. **ऋतुष्ठाः स्थ**=तुम ऋतुओं में स्थित होओ, अर्थात् तुम्हारा आहार-विहार ऋतुओं के अनुकूल हो तथा **ऋतावृधः**=उस-उस ऋतु में किये जानेवाले यज्ञों से अथवा समय-समय पर होनेवाले सत्यानुष्ठान से तुम्हारा वर्धन हो। ४. इस ऋतुचर्या के ठीक पालन से तुम **घृतश्च्युतः**=घृत के स्वामी बनो। तुम्हारे मस्तिष्क में ज्ञान-दीप्ति हो। तुम्हारे चेहरे पर स्वाथ्य व ज्ञान की आभा टपकती हो तथा **मधुश्च्युतः**=तुम मधुस्रावी बनो। तुम्हारे व्यवहार में तुम्हारी वाणी से माधुर्य टपकता हो। 'अन्दर ज्ञानाग्नि, बाहर माधुर्यमयी वाणी की शीतलता' ये हो तुम्हारा जीवन। ५. **विराजो नाम**=(विशेषेण राजते, नाम इति प्रसिद्धौ) इस ज्ञान व माधुर्य के कारण तू 'विराज' नाम से प्रसिद्ध हो। अथवा इन्द्रियों को

विशेषरूप से शासित करनेवाले के रूप में तुम्हारी प्रसिद्धि हो। ६. **कामदुघाः**=इन्द्रियों को वश में करके काम्य=चाहने योग्य पदार्थों का ही अपने में प्रपूरण करनेवाले तुम बनो। ७. और इस प्रकार अनिष्ट वस्तुओं के सेवन से दूर रहकर तुम **अक्षीयमाणाः**=कभी क्षीणशक्ति न होवो। जीर्णता का मूल अनिष्ट वस्तुओं का स्वादवश सेवन ही है। स्वाद से ऊपर उठकर हम स्वनाश से भी ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—हमारी गति नियमित हो। यज्ञों से हम शक्तियों का वर्धन करें। अनिष्ट पदार्थों के सेवन से शक्तियों का क्षय न होने दें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

समुद्र की अवका (रक्षा-शक्ति)

समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परि व्ययामसि। पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव ॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जीवन-निर्माण से शरीर का स्वास्थ्य ही नहीं, मनःस्वास्थ्य भी प्राप्त होता है। 'प्रसन्न मन' सर्वोत्तम रक्षण-साधन है। मन के प्रसन्न होने पर रोग भी शरीर में प्रवेश नहीं कर पाते। 'मनःप्रसाद' मनुष्य को सर्वोत्तम स्थिति प्राप्त कराता है, अतः प्रभु जीव से कहते हैं हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **समुद्रस्य**=(स+मुद्) सदा प्रसन्नता के साथ रहनेवाले मन की **अवकया**=रक्षाशक्ति से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से आच्छादित करते हैं। यह 'मनःप्रसाद' तुझे सब आधि-व्याधियों के आक्रमण से बचाएगा। २. **पावकः**= मनःप्रसाद के द्वारा अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला बन। तू अपने जीवन से कभी किसी का अशुभ न कर।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के साधन निम्न हैं—१. मनःप्रसाद के द्वारा अपने को आधि-व्याधियों से बचाना। २. ज्ञान के द्वारा जीवन को पवित्र बनाना। ३. सभी का कल्याण करना।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

हिम का जरायु

हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परि व्ययामसि। पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव ॥५॥

१. गत मन्त्र में 'मनःप्रसाद' का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसके कभी क्षुब्ध न होने का उल्लेख है। प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **हिमस्य**=शीतलता के **जरायुणा**=आवरण से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से आच्छादित करते हैं। थोड़े से मानापमान से तू क्षुब्ध नहीं हो उठता। तुझमें क्रोधाग्नि नहीं भड़क उठती। तू सदा शान्त रहता है। २. इस शीतलता के द्वारा **पावकः**=अपने हृदय को पवित्र करनेवाला तू ३. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर हो। तू मन, वाणी व कर्म से कभी किसी का अशुभ करनेवाला न हो। शिव बनकर ही तू 'शिव' को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—१. हम अपने व्यवहार में सदा शान्त रहें। २. पवित्र जीवनवाले हों। ३. सभी का कल्याण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अपां पित्तम्

उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा। अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णꣳशिवं कृधि ॥६॥

१. गत मन्त्र की भावना, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के प्रकरण को ही आगे इस रूप में कहते हैं कि **उप**=उस परमेश्वर के समीप रहता हुआ तू **ज्मन्**=पृथिवी में **अवतर**=अवतीर्ण हो। 'ज्मा' पृथिवी को कहते हैं 'जमतेर्गतिकर्मण:'=गत्यर्थक 'जमं' धातु से यह शब्द बना है, अतः अभिप्राय यह है कि जब तू इस पृथिवी पर शरीर धारण करे तो 'गतिशील' बनना। गतिशीलता तो तेरा अध्यात्म स्वभाव ही हो। २. **उप**=उपासना करता हुआ तू **वेतसे**=बेंत में **अवतर**=अवतीर्ण हो। वेतस की भाँति तुझमें नम्रता हो, अकड़ न हो। अथवा 'वयति तन्तून् सन्तनोति' यज्ञतन्तु का तू विस्तार करनेवाला हो। क्रियाशील बन, तेरे कर्म यज्ञात्मक हों। इन उत्तम कर्मों से ही तो तू अपनी शक्तियों का भी विस्तार करेगा। ३. **नदीषु**=(नदतेः स्तुतिकर्मण:) विविध नामों के उच्चारण द्वारा प्रभु की स्तवन क्रियाओं में तू **आ**=सर्वथा अवतर, अवतीर्ण हो। कर्मों को करते हुए तुझे प्रभु का विस्मरण न हो जाए। ४. हे **अग्ने**= प्रगतिशील जीव! तू **अपां पित्तम् असि**=कर्मों का तेज है। क्रियाशीलता ने तुझे तेजस्वी बनाया है। सदा कर्म करने से तेरे सब अङ्गों की शक्ति बढ़ी है। ५. अतः हे **मण्डूकि**=उत्तम गुणों से अपने को मण्डित करनेवाले व्यक्ति! **ताभिः**=उन कर्मों से **आगहि**=तू हमें प्राप्त हो। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'**=अपने कर्मों से ही प्रभु की अर्चना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। ६. **सः**=वह तू **इमम्**=इस **नः**=हमारे लिए **यज्ञम्**=वेद में प्रतिपादित यज्ञ को, जोकि **पावकवर्णम्**=अग्नि के समान तेजस्वी व **शिवम्**=कल्याणकर है, **कृधि**=कर। यह यज्ञ तुझे तेजस्वी व सुखी करेगा। यज्ञों में निरन्तर प्रवृत्त हुआ तू बुरे कामों से बचा रहेगा, विषय-वासनाओं में न फँसने से तू जहाँ तेजस्वी बनेगा वहाँ औरों का कल्याण सिद्ध करता हुआ अपना भी कल्याण सिद्ध करेगा।

भावार्थ—१. तू गतिशील, नम्र, यज्ञशील व स्तोता बन। २. कर्मों में लगा रहकर तेजस्वी बन। ३. अपने को सद्गुणों से सुभूषित करके कर्मों द्वारा प्रभु को प्राप्त हो। ४. ये यज्ञ तुझे पावकवर्ण व शिव बनाएँगे।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीबृहती:। **स्वरः**—मध्यमः॥

समुद्र-निवेशनम्

अपामिदं न्ययनꣳसमुद्रस्य निवेशनम्।

अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥७॥

१. 'गत मन्त्र की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति कैसा बनता है' इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अपाम् इदं नि अयनम्**=कर्मों का यह निश्चय से निवास स्थान बना है। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता। २. **समुद्रस्य**=(स मुद्) आनन्दयुक्त मन का यह **निवेशनम्**= निश्चय से आयतन बना है। इसका मन सदा प्रसन्न रहता है। ३. **अस्मत्**=हमसे प्राप्त **ते हेतयः**=(हि to urge) तेरी ये प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु** =(तप् दीप्तौ) दीप्त व पवित्र करनेवाली हो, अर्थात् क्रियाशील व प्रसन्न मनवाला बनकर तू प्रभु से प्राप्त प्रेरणाओं को औरों तक पहुँचानेवाला बन। ४. **पावकः**=अपने जीवन को नि:स्वार्थ वृत्ति व लोकहित की भावना के द्वारा पवित्र रखते हुए तू ५. **अस्मभ्यम्**=हमारी (प्रभु) प्राप्ति के लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला **भव**=बन। तू कभी औरों की हिंसा का कारण न हो। तेरे प्रत्येक कर्म से औरों का भला ही हो।

भावार्थ—१. हम कर्मों के तो निवास-स्थान बन जाएँ। २. सदा प्रसन्न मन का हममें प्रवेश हो। ३. प्रभु-प्राप्त प्रेरणाओं को औरों तक पहुँचानेवाले बनें। ४. पवित्र जीवनवाले

होकर। ५. सभी का कल्याण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—वसुयुः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीगायत्रीः। स्वरः—षड्जः॥

मन्द्र-जिह्वा

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥८॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले! **देव**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले! तू २. **रोचिषा**=ज्ञान की दीप्ति के साथ तथा ३. **मन्द्रया जिह्वया**=आनन्दित करनेवाली रस से परिपूर्ण जिह्वा के द्वारा ४. **देवान् आवक्षि**=दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला बन, **च**=और **यक्षि**=सब प्रजाओं के साथ सङ्गतीकरणवाला हो। ५. उल्लिखित अर्थ में ये बातें स्पष्ट हैं कि (क) एक प्रचारक व नेता सबसे प्रथम अपने जीवन को 'प्रगतिशील' (अग्नि), पवित्र (पावक) व दिव्य (देव) बनाता है। (ख) इसने प्रचारकार्य में तभी प्रवृत्त होना है जब अपनी ज्ञान की दीप्ति को उज्ज्वल कर चुका हो (रोचिषा) तथा वाणी के माधुर्य का इसने सम्पादन किया हो (मन्द्रजिह्वा) प्रचारकार्य में वाणी का माधुर्य अत्यन्त आवश्यक है। (ग) इसने ज्ञानप्रचार के द्वारा प्रजाओं में दिव्य गुणों की वृद्धि का प्रयत्न करना है। (देवान् वक्षि) तथा प्रजाओं के साथ स्वयं मेल का प्रयत्न करना है (यक्षि)। प्रजाओं के पहुँचने की आशा-प्रतीक्षा में अपनी सुदूर कुटी व आश्रम में ही शान्तभाव से नहीं बैठे रहना। यह सभी के जीवनों को उत्तम बनाने की कामनावाला सचमुच 'वसुयु' (उत्तम निवास को चाहनेवाला) प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वही है जो ज्ञान-दीप्त व मधुर वाणीवाला बनकर लोकहित में प्रवृत्त होता है और प्रभु के सन्देश को मधुर शब्दों में उन तक पहुँचाता है।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

यज्ञ+हविः

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ२॥ऽइहावह। उप यज्ञꣳहविश्च नः ॥९॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही अधिक विस्तृत करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले तथा **दीदिवः**=ज्ञान-ज्योति से देदीप्यमान मेधातिथे! **नः**=हमारा बना हुआ तू, अर्थात् प्रकृति में न फँसा हुआ तू **इह**=इस मानव जीवन में **देवान्**=दिव्य गुणों को **आवह**=समन्तात् प्राप्त करनेवाला बन। २. **च**=और **नः**=हमारा बना हुआ तू **यज्ञं उप**=सदा यज्ञों के समीप होनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन यज्ञों से कभी दूर न हो। ३. और इस प्रकार **हविः**=तू हविरूप बन जा। अधिक-से-अधिक त्याग करनेवाला बन। (हु दानादनयोः) 'दानपूर्वक अदन' तो तेरा व्रत ही बन जाए। (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः=त्यागपूर्वक उपभोग कर)—इस उपदेश को तू अपने जीवन में मूर्त्तरूप दे। 'केवलाघो भवति केवलादी'='अकेला खानेवाला पाप ही खाता है' तेरा सिद्धान्त बन जाए।

भावार्थ—प्रभु का प्यारा दिव्य गुणों को अपनाता है, यज्ञशील होता है और अपने जीवन को हविरूप बना देता है, सदा दानपूर्वक यज्ञशेष को ही खानेवाला होता है।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

भारद्वाज

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचऽउषसो न भानुना।
तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रणऽआ यो घृणेन ततृषाणोऽअजरः ॥१०॥

१. पिछले मन्त्रों की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति अपने में शक्ति को भरनेवाला 'भारद्वाज' बनता है। प्रस्तुत मन्त्र में इस भारद्वाज का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि भारद्वाज वह है **यः**=जो **पावकया**=जीवन को पवित्र बनानेवाली **चितयन्त्या**=(चेतयन्त्या) संज्ञान से परिपूर्ण करनेवाली **कृपा**=(कृप् सामर्थ्ये) शक्ति से **क्षामन्**=इस पृथिवी में, अर्थात् इस शरीर में (पृथिवी शरीरम्) **रुरुच**=इस प्रकार शोभायमान होता है **न**=जैसे **उषसः**=उषःकाल **भानुना**=सूर्य की प्रारम्भिक किरणों से। यह उषःकाल का प्रकाश मनों में पवित्र भावनाओं का सञ्चार करने से 'पावक' है, अन्धकार को दूर करने से 'चेतयन्' है, यह सबको जागने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकार भारद्वाज की शक्ति भी पवित्रता व चेतना से युक्त है। २. यह भारद्वाज वह है **यः**=जो **नू**=निश्चय से **एतशस्य रणे**=इन इन्द्रियाश्वों के संग्राम में **यामन्**=जीवनयात्रा के मार्ग में **तूर्वन् न**=हिंसा न करता हुआ चलता है। इन्द्रियाँ विषयों में जाने लगती हैं, यह भारद्वाज उन इन्द्रियों को विषयों में जाने नहीं देता। यही इसका इन्द्रियाश्वों का संग्राम है। इस संग्राम में यह इनको मार लेता है, जीत लेता है। इन्द्रियों को निर्बल नहीं होने देता, परन्तु उनको अपने पर प्रबल भी नहीं होने देता। ३. यह भारद्वाज वह है **यः**=जो **आघृणेन**=समन्तात् ज्ञान की दीप्ति से **ततृषाणः**=अत्यन्त पिपासित होता है, अर्थात् जिसको प्रकृतिविद्या में व आत्मविद्या में सब ओर ही ज्ञान की प्यास है (अपराविद्या व पराविद्या) दोनों में ही अपने ज्ञान को यह बढ़ाने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः इन्द्रिय-संग्राम में विजय का रहस्य इस ज्ञान की पिपासा में ही है। ४. इस ज्ञान की प्यास से विषयों से बचकर यह **अजरः**=अजीर्णशक्ति बना रहता है और अपने 'भारद्वाज' नाम को सार्थक करता है।

भावार्थ—१. भारद्वाज पवित्र व ज्ञान-सम्पन्न शक्ति से चमकता है। २. यह इन्द्रिय-संग्राम में विजयी होता है। ३. इसकी ज्ञान की प्यास प्रबल होती है। ४. ज्ञान की प्यास इसे विषयों से बचाकर अजीर्णशक्ति बनाये रखती है।

सूचना—वेद के शब्दों में शक्ति वही प्रशंसनीय है, जिसके साथ पवित्रता व ज्ञान का समन्वय है। 'शरीर में शक्ति, मन में पवित्रता, मस्तिष्क में ज्ञान' ये ही मनुष्य के जीवन को उत्तम बनाते हैं।

ऋषिः—लोपामुद्रा। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

हरस्-शोचिस्-अर्चिस्

नम॑स्ते॒ हर॑से शो॒चिषे॒ नम॑स्तेऽअस्त्व॒र्चिषे॑।

अ॒न्याँस्ते॑ अ॒स्मत्त॑पन्तु हे॒तय॑: पाव॒कोऽअ॒स्मभ्य॑ꣳशि॒वो भ॑व॥११॥

१. पिछले मन्त्र का 'भारद्वाज' अपने जीवन को शक्तिसम्पन्न, पवित्र व ज्ञानमय बनाकर सब वासनाओं का विलोप करने लगता है, इन्द्रिय-संग्राम में जीतता है। वासनाओं का विलोप करने के कारण यह 'लोपा' कहलाता है और वासना-विनाश से ही सदा प्रसन्न रहने के कारण 'मुद्रा' नामवाला होता है, अतः इसका पूरा नाम 'लोपामुद्रा' हो जाता है। इसके जीवन के लिए प्रभु कहते हैं कि २. **ते हरसे**=तेरी इस बुराइयों के हरण की शक्ति के लिए **नमः**=तेरा आदर करते हैं। ३. **शोचिषे**=तेरी इस मानस शुचिता के लिए आदर करते हैं। ४. **ते अर्चिषे नमः अस्तु**=तेरी इस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि की ज्वाला के लिए आदर हो। **अस्मत्**=हमसे प्राप्त **ते**=तेरी ये **हेतयः**=प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=दीप्त करनेवाली हों, अर्थात् तू मुझसे ज्ञान प्राप्त करके इस ज्ञान को औरों तक पहुँचानेवाला बन। ५. **पावकः**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाला तू ६. **अस्मभ्यम्**=हमारी प्राप्ति के लिए

शिवः भव=कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ–'लोपा-मुद्रा' के जीवनवाला व्यक्ति अवश्य प्रभु को प्राप्त होता है। यह बुराइयों का हरण करता है, मन को शुचि बनाता है, मस्तिष्क को दीप्त ज्ञानाग्नि की ज्वाला। औरों को ज्ञान प्राप्त कराता हुआ यह अपने जीवन को पवित्र करता है, सभी का कल्याण करता है।

ऋषिः–लोपामुद्रा। देवता–अग्निः। छन्दः–निचृद्गायत्री। स्वरः–षड्जः॥

ब्रह्मचर्य से ब्रह्म

नृषदे वेडप्सुषदे वेड् बर्हिषदे वेड् वनसदे वेट् स्वर्विदे वेट्॥१२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'लोपामुद्रा' बनने के लिए मार्ग बताया है कि अपनी जीवन-यात्रा की प्रथम मंज़िल में **नृषदे**=(नृषु सीदति) नायकों में स्थित होनेवाले के लिए आगे ले-चलनेवाले माता-पिता व आचार्यों में स्थित होनेवाले के लिए, अर्थात् पूर्णरूप से उनकी आज्ञा में चलनेवाले के लिए **वेट्**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. **अप्सुषदे**=अब गृहस्थ में आने पर निरन्तर कर्मों में आसीन होनेवाले के लिए, अर्थात् उस गृहस्थ के लिए जो कि कुटुम्ब-भरण का सतत पुरुषार्थ करता है, जिसको आलस्य छू भी नहीं गया उस गृहस्थ का **वेट्**=हम आदर करते हैं। ३. अब वानप्रस्थाश्रम में **बर्हिषदे**=वासना-शून्य हृदय में स्थित होनेवाले के लिए **वेट्**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। जिसमें वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है वही हृदय बर्हि कहलाता है। एक वानप्रस्थ का सतत प्रयत्न यही होता है कि वह अपने हृदय को वासनाओं से शून्य बना सके। ४. **वनसदे**=(वननं=वनः=संभजन) सदा सम्भजन में स्थित होनेवाले संन्यासी के लिए हम **वेट्**=आदर के शब्द कहते हैं। यह संन्यासी प्रतिक्षण परमेश्वर का स्मरण करता है। अपनी सब क्रियाओं को करते हुए इसके मुख में प्रभु का नाम ही उच्चरित होता रहता है। ५. यह संन्यासी **स्वर्विदे**=उस स्वयं देदीप्यान प्रभु को प्राप्त करनेवाला (विद् लाभे, स्वयं राजते इति स्वरः) होता है। इस प्रभु को प्राप्त करनेवाले संन्यासी के लिए **वेट्**=हम आदर के शब्द कहते हैं। ६. इस प्रकार जीवन-यात्रा को क्रमशः पूर्ण करता हुआ यह व्यक्ति अपनी छोटी उम्र में माता-पिता व आचार्य में स्थित होता है। आगे चलकर सदा क्रियाशील बनता है। फिर वासनाओं के उखाड़ने में लगकर यह सतत उस प्रभु का भजन करता है। यही व्यक्ति हम सबके आदर का पात्र होता है।

भावार्थ–हम 'नृषद्, अप्सुषद्, बर्हिषद्, वनसद् तथा स्वर्वित् का आदर करते हैं।'

ऋषिः–लोपामुद्रा। देवता–प्राणाः। छन्दः–निचृदार्षीजगती। स्वरः–निषादः॥

'लोपा-मुद्रा' का जीवन

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानाꣳसंवत्सरीणमुप भागमासते।
अहुतादो हविषो यज्ञेऽअस्मिन्त्स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य॥१३॥

१. **ये**=जो **देवानां देवाः**=देवों में भी देव हैं, विद्वानों में भी विद्वान् हैं, अर्थात् उच्च कोटि के ज्ञानी हैं। २. **यज्ञियानां यज्ञियाः**=यज्ञशीलों में भी यज्ञशील हैं, अधिक-से-अधिक यज्ञिय वृत्तिवाले हैं। ३. **संवत्सरीणम्**=संवत्सर में होनेवाले, अर्थात् वर्षभर के **भागम्**=अपने कर्त्तव्यभाग की **उपासते**=उपासना करते हैं, अर्थात् प्रतिवर्ष का अपना कार्यक्रम बनाकर उसे पूरा करने का ध्यान करते हैं। ४. **अहुतादः**=दान दिये हुए को (हु दान) नहीं खाते, अर्थात् कभी दानवृत्ति पर आश्रित नहीं होते, अपितु ५. **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में

हविषः=सदा हविरूप बनने का प्रयत्न करते हैं, (जुहोति इति हविः=जो देता है) सदा देते हैं, प्रतिग्रह से नहीं जीते। ५. **स्वयम्**=अपने पुरुषार्थ से **मधुनः**=मधु का व **घृतस्य**=घृत का **पिबन्तु**=पान करनेवाले बनते हैं, अर्थात् स्वयं पुरुषार्थ से कमाकर शहद व घृत आदि उत्तम पदार्थों का ही प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—उत्तम जीवन के लक्षण ये हैं १. ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान। २. यज्ञिय वृत्ति। ३. जीवन को कार्यक्रम के साथ चलाना। ४. दान से जीविका न करना। ५. जीवन-यज्ञ में हविरूप बनना। ६. स्वयं पुरुषार्थ से कमाकर घृत, शहद आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करना।

ऋषिः—लोपामुद्रा। देवता—प्राणाः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

न स्वर्ग में न पर्वत-शिखरों पर

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन्ये ब्रह्मणः पुरऽएतारोऽअस्य।
येभ्यो नऽऋते पवते धाम किं चन न ते दिवो न पृथिव्याऽअधि स्नुषु ॥१४॥

१. **ये**=जो **देवाः**=विद्वान् लोग **देवेषु**=विद्वानों में **अधिदेवत्वम्**=आधिक्येन विद्वत्ता को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। जो ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हैं और इस ज्ञान को प्राप्त करके २. **ये**=जो **अस्य ब्रह्मणः**=इस ज्ञान को **पुरः**=आगे **एतारः**=ले-जानेवाले होते हैं (एतार इति अन्तर्भावितण्यर्थः प्रापयितारः गमयितारः)। ये विद्वान् ज्ञान प्राप्त करके इसे दूसरों को प्राप्त करानेवाले होते हैं, उसी प्रकार जैसेकि 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' ने प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके अपने अन्य अज्येष्ठ, अकनिष्ठ भ्राताओं को ज्ञान दिया। चार सर्वोत्कृष्ट बुद्धिवालों ने हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुना और उस प्रेरणा को औरों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार ये उत्कृष्ट ज्ञानी सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करते हैं, जहाँ ये जाते हैं वहीं वातावरण को बड़ा पवित्र बना डालते हैं। इसी लिए मन्त्र में कहते हैं कि २. **येभ्यः ऋते**=जिनके बिना **किञ्चन धाम** =कोई भी स्थान **न पवते**=पवित्र नहीं होता। ये लोग ज्ञान की चर्चा के द्वारा पवित्रता का सञ्चार करनेवाले होते हैं। जहाँ इस प्रकार के ज्ञानी नहीं पहुँचते वहाँ अज्ञानान्धकार फैलकर वातावरण को बड़ा दूषित कर देता है। ४. ये विद्वान् प्रजा के हित के लिए प्रजाओं में ही विचरण करते हैं। ये संसार को मायाजाल व अशान्ति का स्थान मानकर इससे दूर नहीं भाग जाते। **ते**=वे विद्वान् **दिवः**=द्युलोक के अथवा **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अधिस्नुषु**=पर्वत-शिखरों पर **नः**=नहीं भाग जाते, इसी प्रकार ये विद्वान् संन्यासी भी अशान्ति के भय से कहीं स्वर्गलोक में व पर्वत-शिखरों पर नहीं भागे फिरते। 'स्वर्गलोक में या पर्वत-शिखरों पर' यह मुहाविरा है, केवल इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कि ये विद्वान् यहीं लोगों में ही रहते हैं। दूर शान्त स्थानों को नहीं ढूँढते रहते। दूर भागनेवाले संन्यासी ने क्या लोकहित करना?

भावार्थ—हम ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी बनें। ज्ञान को चारों ओर फैलाने का प्रयत्न करें। ज्ञान को फैलाकर वातावरण को पवित्र बनाएँ। अज्ञानावृत लोगों से घृणा करके सुदूर पर्वत-शिखरों पर न भागे फिरें।

ऋषिः—लोपामुद्रा। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

व्याख्यानों के विषय

प्राणदाऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव ॥१५॥

१. लोगों में रहकर तू **प्राणदाः**=उन्हें प्राणशक्ति का ज्ञान देनेवाला हो। तेरे व्याख्यान प्राणशक्ति की वृद्धि के साधनों पर हों। प्राणशक्ति के बढ़ाने के लिए समुचित आहार-विहार का तू प्रतिपादन करनेवाला बन। २. इसी प्रकार **अपानदाः**=तू उनको दोषों के दूर करनेवाली अपानशक्ति का ज्ञान दे। 'किन-किन वस्तुओं के सेवन करने से यह शक्ति ठीक बनी रहती है' इसका तू प्रतिपादन कर। 'कौन से भोजन किस रूप में किये गये इसके लिए हानिकर हैं' इस बात को तू लोगों को समझानेवाला हो। ३. **व्यानदाः**=व्यानशक्ति के ज्ञान का तू उन्हें देनेवाला बन। 'वह सर्वशरीर-सञ्चारी—वायु सारे नाड़ी-संस्थान को स्वस्थ रखनेवाला वायु कैसे ठीक रहता है' इस बात को तू लोगों को समझानेवाला हो। ४. इन विषयों के प्रतिपादन के द्वारा तू लोगों के लिए **वर्चोदाः**=शक्ति को देनेवाला हो। 'शरीर में किस प्रकार वर्चस् का संयम किया जा सकता है' इस विषय को तू लोगों को समझानेवाला हो। ५. इन सब बातों के साथ **वरिवोदाः**=तू धन को भी देनेवाला बन (वरिवः=wealth)। 'धन-प्राप्ति के क्या उचित उपाय है' इसका प्रतिपादन करनेवाला बन। 'वरिवः' शब्द का अर्थ worshipping=पूजा भी है, अतः तू लोगों को प्रभु की पूजा का ठीक प्रकार समझानेवाला हो और इस प्रकार उनके जीवनों में (वरिवः=Happiness) आनन्द का सञ्चार करनेवाला बन। ६. प्रभु कहते हैं कि **अस्मत्**=हमसे **ते**=तुझे प्राप्त **हेतयः**=ये प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=दीप्त करनेवाली हों। तू इन प्रेरणाओं को आगे पहुँचानेवाला बन। ७. **पावकः**=अपने जीवन को निरन्तर पवित्र बनानेवाला तू **अस्मभ्यम्** =हमारी प्राप्ति के लिए **शिवः भव**=सबका कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—विद्वान् संन्यासियों के व्याख्यान के विषय निम्न होने चाहिएँ। १. प्राण, अपान व व्यान की शक्तियों की वृद्धि। २. शरीर को कैसे वर्चस्वी बनाना? ३. 'धन-प्राप्ति के उचित उपाय क्या हैं?' ४. प्रभु-उपासना का प्रकार क्या है? ५. आनन्द-प्राप्ति का मार्ग क्या है? इस प्रकार विद्वान् लोग वैदिक प्रेरणाओं से औरों के जीवनों को दीप्त करें। प्रभु-प्राप्ति उन्हें तभी होगी जब वे पवित्र बनकर सभी के कल्याण में प्रवृत्त होंगे। 'लोपा-मुद्रा' बनने का यही मार्ग है।

ऋषिः—भारद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

'अग्नि' का लक्षण

अ॒ग्निस्ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ यास॒द्विश्व॒ꣳ न्य॒त्रिण॑म्। अ॒ग्निर्नो॑ वनते र॒यिम्॥१६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नि' का लक्षण दिया है। 'अग्नि' वह पुरुष है जिसने अपने को अग्र स्थान पर प्राप्त कराया है तथा औरों को अग्र स्थान पर पहुँचाने में सहायक हो रहा है। इसी उद्देश्य से यह ज्ञान-प्रसार के कार्य में प्रवृत्त हुआ है। इस ज्ञान-प्रसार के कार्य में लगने से पहले यह **अग्निः**=अग्रेणी पुरुष **तिग्मेन शोचिषा** =बड़ी तीव्र ज्ञान की ज्योति से **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हममें घुस आनेवाली **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाली 'काम, क्रोध, लोभ' आदि वृत्तियों को **नियासत्**=नितरां क्षीण करता है (यास् उपक्षये) 'काम, क्रोध, लोभ' आदि वृत्तियों पर पूर्ण प्रभुत्व पाने का प्रयत्न करता है। इन्हें वशीभूत करके ही यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनेगा। २. यह **अग्निः**=अग्रेणी पुरुष **नः रयिम्**=हमारे धन को **वनते**=संविभागपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। (वनतिर्दानार्थः—उ०) यह धन को देकर बचे हुए को ही सदा खाता है। यह धन को प्रभु का ही समझता है। परिणामस्वरूप इसका जीवन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—१. 'अग्नि' वह है जो तीव्र ज्ञान से कामादि वासनाओं को क्षीण कर देता

है। वासनाओं को क्षीण करके यह 'भारद्वाज' अपने में शक्ति भरनेवाला बनता है। २. यह धन कमाता है, परन्तु उसे प्रभु का समझता हुआ सदा संविभागपूर्वक सेवन करता है।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रथमच्छद

यऽइ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि॒ जुह्व॒दृषि॒र्होता॒ न्यसी॑दत्पि॒ता नः॑ ।

सऽआ॒शिषा॒ द्रवि॑णमि॒च्छमा॑नः प्रथम॒च्छदव॑राँ२॥ऽआवि॑वेश ॥१७॥

१. गत मन्त्र में अग्नि की 'तिग्मशोचिः'=तीव्र ज्ञान-ज्योति का उल्लेख है। यह ज्ञान-ज्योति क्या है? इसी का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्रों में है। 'यह सृष्टि कैसे बनी?' इसमें हमारा क्या स्थान व कर्त्तव्य है? इन विषयों को समझनेवाला (भुवनं पुनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला, वासनाओं से रक्षित करनेवाला तथा विश्वकर्मा=सदा कर्मों में व्यापृत रहनेवाला ही इन मन्त्रों का ऋषि है। यह उपासना करता हुआ इस प्रकार ध्यान करता है कि २. **यः**=जो **इमा**=इन **विश्वा भुवनानि**=सब दृश्यमान लोकों को **जुह्वत्**=प्रलय काल में अपने में आहुत करता हुआ **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **होता**=सृष्टिकाल में सब पदार्थों का देनेवाला **नः**=हम सबका **पिता**=रक्षक **न्यसीदत्**=निश्चय से विराजमान है, २. **सः**=वह हमारा पिता प्रभु **आशिषा** ='बहुः स्यां प्रजायेय'=मैं फिर बहुतों-से जाना जाऊँ, अतः इस सृष्टि को उत्पन्न करूँ, इस कामना से **द्रविणम्**=इसी गतिमय संसार को (द्रु गतौ से 'द्रविणं,' सृ गतौ से संसार) **इच्छमानः**=चाहता हुआ **प्रथमच्छद्**=(प्रथ विस्तारे, छादयति) अपने विस्तार से सारे संसार को आच्छादित करनेवाला **अवरान् आविवेश**=इन अवर जीवों में प्रविष्ट हो रहा है। वह सबका अन्तर्यामी है। प्रभु पर (श्रेष्ठ) हैं, जीव अवर है, प्रभु जीवों में प्रविष्ट होकर उन्हें अन्तःप्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। ३. प्रभु जीवों को आच्छादित भी किये हुए हैं (प्रथमच्छद्) और उनमें प्रविष्ट भी हो रहे हैं (आविवेश)। यह 'भुवन पुत्र विश्वकर्मा' अपने को प्रभु से आच्छादित अनुभव करके निर्भयता को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रलयकाल में ये सब लोक-लोकान्तर प्रकृतिरूप होकर प्रभु के गर्भ में रहते हैं। सृष्टि बनने पर प्रभु सब लोकों को आच्छादित करके उनमें व्याप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

अधिष्ठान-आरम्भणम्

किथंस्विदासीदधि॒ष्ठान॑मा॒रम्भ॑णं कत॒मत् स्वि॑त्कि॒थासी॑त् ।

यतो॒ भूमिं॑ ज॒नय॑न्वि॒श्वक॑र्मा॒ वि द्यामौर्णो॑न्महि॒ना वि॒श्वच॑क्षाः ॥१८॥

१. गत मन्त्र में कहा है कि विश्वकर्मा ने सृष्टि का निर्माण किया। संसार में अधिष्ठानरहित लोग किसी वस्तु को करते हुए नहीं देखे जाते, अतः प्रश्न करते हैं कि **अधिष्ठानं किं स्वित् आसीत्**=(अधितिष्ठत्यस्मिन् इति) अधिकरण क्या था? कहाँ स्थित होकर प्रभु ने इस सृष्टि का निर्माण किया। २. फिर जैसे घटादि के निर्माण के लिए मिट्टी उपादान होती है इसी प्रकार इस सृष्टि के निर्माण के लिए (आरभ्यते अस्मात् इति) **आरम्भणं कतमत् स्वित्**=उपादानकारण कौन-सा था? ३. जैसे चक्र, मृत्तिका, सलिल आदि से घट का निर्माण होता है, इसी प्रकार यहाँ सृष्टि-निर्माण में **कथा आसीत्**=(कथंभूता क्रिया आसीत्) क्रिया किस प्रकार हुई? ४. एवं अधिष्ठान, आरम्भण व क्रिया के विषय में प्रश्न करके कहते हैं कि **यतः**=जिनके होने पर, अर्थात् जिनसे विश्वकर्मा—उस संसार

के निर्माता प्रभु ने **भूमिं द्यां च जनयन्**=पृथिवी और द्युलोक का उत्पादन करते हुए **महिना**=अपनी महिमा से **वि और्णोत्**=इनको विशिष्ट रूप से आच्छादित किया, इस प्रकार जैसे माता बच्चे को गोद में लेकर सुरक्षित करती है, उसी प्रकार वे प्रभु **विश्वचक्षाः**=इस संसार का ध्यान कर रहे हैं (चक्ष् to look after)।

भावार्थ—प्रभु अपनी महिमा से प्रकृति को इस विकृति व विसृष्टि का रूप देते हैं। इस सृष्टि का धारण भी वे प्रभु ही कर रहे हैं। वे सारे ब्रह्माण्ड का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विश्वतश्चक्षुः पतत्रै

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देवऽएकः॥१९॥

१. गत मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वह विश्वकर्मा **विश्वतश्चक्षुः**=सब ओर चक्षु-शक्तिवाला है, उत **विश्वतोमुखः**=और सब ओर वे प्रभु मुख की शक्तिवाले हैं। **विश्वतोबाहुः**=उनमें सब ओर बाहुओं की ग्रहणशक्ति है **उत**=और **विश्वतस्पात्**=सब ओर पाँवों की शक्ति है। वस्तुतः उस-उस इन्द्रिय से रहित होते हुए भी वे प्रभु उस-उस इन्द्रिय की शक्तिवाले हैं। वे सर्वव्यापक हैं। अव्यापक व एकदेशी को ही आधार की आवश्यकता होती है। सर्वव्यापक प्रभु के लिए किसी ऐसे आधार की आवश्यकता नहीं है। २. ये प्रभु इस सृष्टि का निर्माण क्यों करते हैं? इस प्रश्न का भी प्रसङ्ग-वश उत्तर देते हुए कहते हैं कि **बाहुभ्याम्**=(बाहुस्थानीयाभ्यां धर्माधर्माभ्याम्) जीवों के धर्माधर्म के कारण संधमति (धमतिर्गत्यर्थः) इस सृष्टि-निर्माण की क्रिया को सम्यक्तया करते हैं। यदि जीव का धर्माधर्म न हो तो इस सृष्टि के बनाने का प्रयोजन ही न रह जाए। प्रभु कोई अपनी क्रीड़ा के लिए इस संसार को नहीं बना देते। ३. उपादान क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं वह **एकः देवः**=चक्र, सूत्र आदि उपकरणों से रहित अकेला देव ही **पतत्रैः**=(पतनशीलैः परमाण्वादिभिः—द०) निरन्तर गति में वर्त्तमान अथवा गति-स्वभाववाले परमाणुओं से **द्यावाभूमी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **सं जनयन्**=सम्यक् आविर्भूत करता है। ४. एवं गत मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर यह हुआ कि (क) सर्वव्यापक होने के कारण उस प्रभु का कोई अधिष्ठान नहीं है। (ख) निरन्तर गतिशील परमाणु ही वे उपादान हैं जिनसे प्रभु सृष्टि को बनाते हैं। (ग) सर्वशक्तिमान् व सर्वव्यापक होने के कारण प्रभु को चक्र, सूत्रादि उपकरणों की आवश्यकता नहीं है। केवल जीवों के धर्माधर्म, इष्टानिष्ट प्रयत्न (बाहु=प्रयत्न) ही अपेक्षित हैं। इनके न होने पर तो यह सृष्टि प्रभु की एक वैषम्य व नैर्घृण्य (पक्षपात व क्रूरता) से भरी क्रूर-क्रीड़ा ही प्रतीत होने लगती।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक प्रभु, अपने स्वरूप में ही स्थित हुए, जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा से निरन्तर क्रियाशील परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण कर देते हैं। उन्हें किन्हीं उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—स्वाराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वनं-वृक्षः

किंस्विद्वनं कऽउ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥२०॥

१. **वनम्**=वे संभजनीय प्रभु **किं स्वित्**=कैसे हैं व कौन हैं? २. उ=तथा **सः वृक्षः**=(वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षः) वह छेदनयोग्य यह संसार क्या है? ३. उत्तर देते हुए कहते हैं कि ये प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **निष्टतक्षुः**=गत मन्त्र में वर्णित पतत्रों (परमाणुओं) से घड़े गये हैं। ४. **मनीषिणः**=हे मन का शासन करनेवाले विद्वानो! **मनसा पृच्छत इत् उ**=मन से ही उसे जानने की इच्छा करो **तत्**=उसे **यत्**=जो **भुवनानि**=सब लोकों को **धारयन्**=धारण करता हुआ **अध्यतिष्ठत्**=अधिष्ठातृ रूपेण वर्त्तमान है। ५. 'वे संभजनीय प्रभु कैसे हैं?' इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि (क) उनसे ये द्युलोक व पृथिवीलोक घड़कर बनाये गये हैं। (ख) वे मन से ही जानने योग्य हैं, इन्द्रियों का विषय नहीं हैं (ग) सब भुवनों का धारण कर रहे हैं। (घ) और सारे ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हैं। ६. यह संसार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (क) यह छेदनीय (वृक्ष) है। दृढ़, असङ्ग (Non attachment) शस्त्र से ही इसका छेदन हो सकता है। (ख) इसका एक सिरा पृथिवी है तो दूसरा सिरा द्युलोक है। दूसरे शब्दों में यह सान्त है। विशाल होते हुए भी इसका अन्त तो है ही। (ग) इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में कितने ही भुवन (लोक-लोकान्तर) हैं, अनगिनत लोकों से बना हुआ यह संसार है। (घ) परमेश्वर से यह अधिष्ठित है।

भावार्थ—वे प्रभु वन=उपास्य हैं, यह संसार वृक्ष=छेदनीय है।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परम-अवम-मध्यम धाम

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥२१॥

१. हे **विश्वकर्मन्**-सारे संसार के निर्माण करनेवाले! **स्वधावः**=अपनी धारण शक्तिवाले! और किसी से न धारण किये जानेवाले प्रभो! **ते**=आपके **या**=जो **परमाणि धामानि**=उत्कृष्ट धाम (property, wealth) ज्ञानरूप सम्पत्तियाँ हैं, **या**=जो **अवमा**=ये सबसे कनिष्ठ **धामानि**=लक्ष्मीरूप सम्पत्तियाँ हैं **उत**=और **या मध्यमा**='बल व शक्ति'रूप सम्पत्तियाँ हैं **इमा**=इन सबको **सखिभ्यः**=अपने इन सदा सयुज सखाओं=जीवों के लिए **हविषि**=हवि के निमित्त **शिक्ष**=दीजिए (शिक्ष=देहि—म०) आपसे ज्ञान, धन व बल को प्राप्त करके आपके सखा ये जीव इनका हविरूप में ही प्रयोग करें। इनसे वे औरों का कल्याण करनेवाले बनें। २. अपने सखा जीव की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **तन्वम्**=अपने शरीरों की शक्तियों को **वृधानः**=बढ़ाते हुए स्वयं **यजस्व**=तू इन वस्तुओं से स्वयं सङ्गत हो। जब मनुष्य पुरुषार्थ करता है, शान्त होकर रुक नहीं जाता तब वह अवश्य ही प्रभु को पानेवाला बनता है। जीव को चाहिए कि संयम से सबल होकर स्वयं ही प्रभु को प्राप्त करे और प्रभु के सब धामों को प्राप्त करने का अधिकारी बने।

भावार्थ—प्रभु के सब धाम=सम्पत्तियाँ=ज्ञान, धन व बल अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवालों को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मघवा-सूरिः

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्येऽअभितः सपत्नाऽइहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥२२॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम शब्दों में प्रभु जीव से शक्तिधामों को स्वयं प्राप्त करने के लिए कह रहे थे। उसी प्रसङ्ग को प्रस्तुत मन्त्र में चलाते हुए प्रभु कहते हैं कि हे **विश्कर्मन्**=सब कालों में सदा कर्म करनेवाले मेरे मित्र! तू **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, अर्थात् स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा **वावृधानः**=शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से खूब उन्नति करता हुआ **स्वयम्**=अपने पुरुषार्थ से ही **पृथिवीम्**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर को **उत**=और **द्याम्**=प्रकाशमय मस्तिष्क को **यजस्व**=अपने साथ सङ्गत कर। (क) तेरा जीवन क्रियाशील हो (विश्वकर्मन्) (ख) दानपूर्वक अदन करनेवाला बन (हविषा) (ग) सब प्रकार से खूब उन्नति कर (वावृधानः) और इस प्रकार (घ) शरीर की शक्तियों को प्रथित कर (पृथिवीम्) तथा मस्तिष्क को प्रकाशमय बना (धाम्)। २. **अन्ये**=तुझसे भिन्न **अभितः सपत्नाः**=तेरे आन्तर व बाह्य शत्रु **मुह्यन्तु** =वैचित्य को प्राप्त करें। उनके तो होशो-हवास भी गुम हो जाएँ। तेरे शत्रु घबराकर तुझे दूर से छोड़ दें। ३. प्रभु कहते हैं कि **इह**=इस संसार में **मघवा**=(मघ=मख) यज्ञशील **सूरिः**=विद्वान् पुरुष **अस्माकम् अस्तु**=हमारा बनकर रहे। वह प्रकृति का दास न बन जाए। प्रभु की मित्रता के लिए आवश्यक है कि हमारा जीवन यज्ञमय हो और हम ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। यह प्रभु का प्यारा स्वयं यज्ञशील व ज्ञानी बनकर औरों को भी (षू प्रेरणे) सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला हो। (सूरिः=आत्मज्ञानोपदेशकः—म०)।

भावार्थ—१. हम क्रियाशील हों। २. दानपूर्वक अदन ही हमारा स्वभाव हो। ३. सदा उन्नति के मार्ग पर चलें। ४. शरीर की शक्तियों को बढ़ाएँ, मस्तिष्क को प्रकाशमय करें। ५. बाह्य व आन्तर शत्रुओं को जीतें। ६. यज्ञशील हों। ७. ज्ञानी बनकर औरों को भी उत्तम प्रेरणा देनेवाले हों।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वशम्भूः-साधुकर्मा

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥२३॥

१. **वाचस्पतिम्**=वाणी के पति, वेदज्ञान के स्वामी **विश्वकर्माणम्**=सब कर्मों को करानेवाले अथवा इस संसाररूप कर्मवाले, सृष्टि के निर्माता **मनोजुवम्**=सबके मनों में स्थित होकर प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए—आधि-व्याधियों से बचने के लिए तथा **वाजे**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **अद्या**=आज **हुवेम**=पुकारते हैं। (क) प्रभु वेदज्ञान के पति हैं, उस प्रभु से ही हम सब ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनेंगे। (ख) वे प्रभु विश्वकर्मा हैं, हमें भी कर्म करने की सब शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। (ग) **मनोजुवम्**=हृदयस्थ रूपेण वे प्रभु मुझे सदा प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। (घ) यदि हम इस प्रेरणा को सुनेंगे तो अवश्य आधि-व्याधियों से बचेंगे और शक्ति को प्राप्त करेंगे (ऊतये, वाजे)। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **विश्वानि**=सब **हवनानि**=आह्वानों को **जोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें, अर्थात् हमारी पुकार को सुनें। ३. **विश्वशम्भूः**=वह सारे संसार का कल्याण करनेवाले हैं। ४. **अवसे**=वे प्रभु अन्नादि प्रापण के द्वारा हमारी रक्षा करते हैं। ५. **साधुकर्मा**=वे प्रभु सदा उत्तम व सिद्ध कर्मोंवाले हैं। प्रभु का उपासक बनकर मैं भी 'साधुकर्मा' बन पाऊँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मेरा जीवन शान्त होगा, मेरा योगक्षेम ठीक चलेगा

(अवसे) मेरे कर्म सदा उत्तम व सफलतावाले होंगे।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

उग्र-विहव्य=अधृष्य, अभिगम्य

विश्वकर्मन् हुविषा वर्द्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्।

तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्॥२४॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=सम्पूर्ण सृष्टिरूप कर्म करनेवाले प्रभो! आप **हविषा**=दानपूर्वक अदन—त्यागपूर्वक भोग की वृत्ति से तथा **वर्द्धनेन**=सब शक्तियों के वर्धन से (वर्धते) या काम-क्रोधादि शत्रुओं के छेदन से (वर्धयति=to cut, shear) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **त्रातारम्**=अपना रक्षक, शरीर व मन को व्याधि व आधियों से बचानेवाला तथा **अवध्यम्**=वृत्रादि शत्रुओं से वध के अयोग्य **अकृणोः**=बना दीजिए। २. उत्तम जीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) दानपूर्वक अदनवाले हों (हविषा)। (ख) काम-क्रोधादि का छेदन करें (वर्धनेन)। (ग) इन्द्रियों के अधिष्ठाता हों (इन्द्रम्)। (घ) अपने को रोगाक्रान्त न होने दें (त्रातारम्)। (ङ) वासनाओं से वध योग्य न हो जाएँ (अवध्यम्)। ३. **तस्मै**=उल्लिखित जीवनवाले व्यक्ति के लिए **पूर्वीः विशः**=उत्कृष्ट प्रजाएँ **समनमन्त**=झुकती हैं, अर्थात् उसका आदर करती हैं। ४. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **यथा**=जिससे **अयम्**=यह **उग्रः**=तेजस्वी तथा **विहव्यः**=विविध कार्यों में आह्वान के योग्य हो। यह सबका आदरणीय हो।

भावार्थ—हमारा जीवन तेजस्वी और विहव्य हो। हम तेजस्वी हों, परन्तु भयंकर न हों। लोगों की दृष्टि में हम आदरणीय हों। तेजस्विता के कारण हम 'अधृष्य' हों, परन्तु क्रोधादि से ऊपर उठे होने के कारण 'अभिगम्य' हों।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

अन्तों की दृढ़ता

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेनेऽअजनन्नम्नमाने।

यदेदन्ताऽअददृहन्त पूर्वऽआदिद् द्यावापृथिवीऽअप्रथेताम्॥२५॥

१. गत मन्त्र का 'उग्र और विहव्य' व्यक्ति **चक्षुषः पिता**=चक्षु आदि इन्द्रियों का पालक बनता है। यह इन्द्रियों को विषयों में भटकने से रोकता है। २. **मनसा हि धीरः**=मन से यह अत्यन्त धैर्यवाला होता है (धैर्यवान्—द०)। ३. इसकी **घृतम्**=तेजस्विता व ज्ञान-दीप्ति **एने**=इसके पृथिवी व द्युलोक को—शरीर व मस्तिष्क को **नम्नमाने**=नम्रतावाला **अजनत्**=करते हैं। इसके शरीर में तेजस्विता के कारण अकड़ नहीं होती, अर्थात् इसके अङ्ग लोच=लचकवाले होते हैं और इसका मस्तिष्क ज्ञान के कारण अकड़ व घमण्ड से रहित होता है। ४. **यदा इत्**=ज्योंही **पूर्वे**=शरीर में प्रथमस्थान में स्थित, अर्थात् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **अन्तः**=अन्त-प्रदेश, आशा-स्थान **अददृहन्त**=दृढ़ हो जाते हैं **आत् इत्**=त्योंही **द्यावापृथिवी अप्रथेताम्**=मस्तिष्क व शरीर दोनों ही विस्तृत शक्तियोंवाले हो जाते हैं। ५. यहाँ 'अन्तः' शब्द जिन अन्त-प्रदेशों व आशा-स्थानों (आशा=दिशा) का उल्लेख करता है उनका वर्णन अथर्व १।३१।२। में इस प्रकार हुआ है **'य आशानामाशापालाश्चत्वारः स्थन देवाः।ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः।'** अर्थात् हे देवो! जो तुम दिशाओं के चार दिशा-पालक हो वे तुम हम

सबको अवनति के पाशों से तथा हरेक पाप से छुड़ाओ। यहाँ पूर्वद्वार 'मुख' है और इसके सम्मुख पश्चिम द्वार 'गुदा' है। इन दोनों का अभिप्राय यह है कि मुख से कोई भी अपथ्य भोजन व अतिमात्र भोजन प्रवेश न कर सके तथा गुदा से प्रत्येक मलांश का बहिष्करण होता रहे। इसी प्रकार उत्तर द्वार 'विदृति'=ब्रह्मरन्ध्र है और इसके ठीक सुदूर नीचे की ओर दक्षिण द्वार 'शिश्न' है। शिश्न के दृढ़ होने का अभिप्राय यह है कि यह मूत्र का ही त्याग करनेवाला हो, रेतस् का रक्षक हो। ऐसा होने पर ही 'विदृति' द्वार हमारे लिए प्रकाशमय होकर हमारे बन्धन से मोक्ष का कारण बनेगा। ६. इन अन्तों का दृढ़ीकरण आवश्यक है। इनके दृढ़ीकरण के बिना शरीर स्वस्थ नहीं हो पाता और मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि बुझी रह जाती है।

भावार्थ—हम शरीर में चारों अन्तों को दृढ़ करके तेजस्वी व ज्ञान-दीप्त बनें।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विश्वकर्मा-विमनाः

विश्वकर्मा विमनाऽआद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् परऽएकमाहुः॥२६॥

१. वे प्रभु **विश्वकर्मा**=(विश्वं कर्म यस्य) इस सृष्टिरूप कर्मवाले हैं, इस ब्रह्माण्ड के निर्माता हैं। २. **विमनाः**=(विविधं मनो विज्ञानं यस्य—द०) विविध व विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। अपनी उत्कृष्ट ज्ञानमयता से ही प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं। प्रभु के विशिष्ट ज्ञान के कारण ही यह सृष्टि पूर्ण है। ३. **आत्**=और (अपि च) **विहायाः**=वे प्रभु महान् हैं, सर्वव्यापाक हैं। सर्वत्र प्राप्त होने से ही वे सृष्टिरूप कार्य के करनेवाले हैं। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया सम्भव नहीं है। ४. **धाता**=वे प्रभु धर्त्ता व पोषक हैं। ५. **विधाता**=उत्पादक हैं, जीवों को कर्मानुसार शरीरों के देनेवाले हैं। ६. **परमः**=प्रकृति 'पर' है, जीव 'पर-तर' है और परमात्मा 'परतम' व 'परम' है, सबसे उत्कृष्ट हैं। प्रकृति से पुरुष=जीव उत्कृष्ट है, परन्तु प्रभु जीवों से भी उत्तमपुरुष हैं, इसी से 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। ७. **उत**=और **सन्दृक्**=वे प्रभु सम्यग् द्रष्टा हैं। अपने उपासकों के योगक्षेम का ध्यान करनेवाले हैं। ८. **तेषाम्**=उन लोगों को ही **इष्टानि**=इष्टसुख प्राप्त होते हैं और वे ही **इषा**=प्रभु प्रेरणा से **संमदन्ति**=उत्तम आनन्द को अनुभव करते हैं। **यत्र**=जबकि **सप्तऋषीन्**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=कान, नासिका, आँखों व मुख—इन सप्त-ऋषियों को **पर**=उस परब्रह्म में **एकम्**=एकीभाव को प्राप्त हुआ-हुआ **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् जब ये सब इन्द्रियाँ उस उत्कृष्ट परब्रह्म में एकाग्र हो जाती हैं तब प्रभु-प्रेरणा के सुनने से ये ध्यानी लोग एक आनन्द-विशेष का अनुभव करते हैं और इन्हें सब इष्टसुख प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को एकाग्र करके उस परमात्मा का चिन्तन करें जो 'विश्वकर्मा— विमना—विहाया—धाता—विधाता—परम व सन्दृक्' है, जो 'पर' हैं। ऐसा करने पर हम प्रेरणा के सुननेवाले होंगे और आनन्द का अनुभव करेंगे।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

संप्रश्न

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधाऽएकऽएव तꣳसम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥२७॥

१. **यः**=जो परमात्मा **नः**=हम सबका **पिता**=पालक, रक्षक है २. **जनिता**=सबका

प्रादुर्भाव करनेवाला है। ३. **यः**=जो **विधाता**=कर्मानुसार विविध शरीरों का देनेवाला है। ४. जो **धामानि**=सब तेजों को तथा **विश्वा भुवनानि**=सब पदार्थों के अधिकरणभूत इन सब लोकों को **वेद**=जानता है अथवा (विद् लाभे) प्राप्त कराता है। ५. **यः**=जो **देवानाम्**=सब देवों के **नामधाः**=नाम का धारण करनेवाला है, परन्तु है **एकः एव**=एक ही। 'सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत्' आदि सब देवों के नाम परमात्मा के भी हैं, इतना ही नहीं मुख्यरूप से ये नाम परमात्मा के ही हैं। वे प्रभु सरति=सारे संसार को गति देते हैं, अतः सूर्य हैं। चन्दति 'आह्लादयति' सबको प्रसन्न करने के कारण, सदा आनन्दमय रहने के कारण प्रभु चन्द्र नामवाले हैं। गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले ये प्रभु वायु हैं और ज्ञान से विशिष्ट रूप में चमकनेवाले ये प्रभु विद्युत् हैं। ६. **तम्**=उस **संप्रश्नम्**=(सम्यक् प्रश्नः यस्मिन्) जिज्ञास्य प्रभु को **विश्वा**=सब **अन्या** =दूसरे **भुवना**=लोक-लोकों में रहनेवाले प्राणी **यन्ति**=जाते हैं, सज्जन सर्वदा उसका स्मरण करते हैं, परन्तु दुर्जन भी मुसीबत आने पर उसी के नाम का स्मरण करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब तेजों व लोकों के देनेवाले हैं। वे प्रभु ही **संप्रश्न**=सम्यग् जिज्ञास्य हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मर्यादित धनसंग्रह

तऽआयजन्त द्रविण्ꣳसमस्माऽऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि॥२८॥

१. **ये**=जो **ऋषयः**=तत्त्वज्ञानी होते हैं **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले होते हैं **जरितारः**=प्रभु के स्तोता होते हैं तथा २. **असूर्ते**=(असुभिः ईरिते) प्राणों से प्रेरित, अर्थात् प्राण-साधना के द्वारा प्रभु की ओर लगाये गये **सूर्ते**=(सु ईरिते) उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करनेवाले **रजसि**=हृदयान्तरिक्ष में **निषत्ते**=(निषत्ते जस एकारः—म०) निश्चय से स्थित होते हैं, अर्थात् जिन्होंने प्राण-साधना के द्वारा हृदय की वृत्ति को प्राकृतिक विषयों से हटाकर आत्मस्वरूप में अवस्थित करने का प्रयत्न किया है, अतएव जिनका हृदय प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बनता है (सूर्त)। ३. **ये**=जो **इमानि भूतानि**=इन पृथिवी आदि शरीर के उपादानकारणभूत पञ्चभूतों को **समकृण्वन्**=उत्तम बनाते हैं, अर्थात् इनकी अनुकूलता से पूर्ण स्वस्थ बनते हैं। ४. **ते**=वे **द्रविणम्**=धन को **अस्मै**=इस प्रभु के लिए—प्रभु-प्राप्ति के लिए **सम् आयजन्त**= सम्यक्तया अपने साथ सङ्गत करते हैं। शरीर के योगक्षेम के लिए वे धन का ग्रहण तो करते हैं, परन्तु **न भूना** (न भूम्ना)=बाहुल्येन नहीं। धन को बहुत अधिक नहीं जुटाते। ५. धन का संग्रह ये क्यों करते हैं? (क) (ऋषयः) तत्त्व ज्ञानी बनने के लिए, ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करने के लिए। ज्ञान-प्राप्ति के साधनों के जुटाने में यह धन सहायक होता है। (ख) (पूर्वे) अपना पूरण करने के लिए। यह शरीर भौतिक है, इसके पालन-पोषण के लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता है। उनका जुटाना धन से ही सम्भव है, परन्तु ये धन को विलास की सामग्री जुटाकर अपनी शक्तियों की क्षीणता का कारण नहीं बनने देते। (ग) (जरितारः) प्रभु की स्तुति के लिए। धनाभाव में नमक, तेल, ईंधन की परेशानी ही मनुष्य को अशान्त किये रक्खेगी, वह प्रभु-भजन क्या कर पाएगा? (घ) ये धन को इसलिए जुटाते हैं कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर से निश्चिन्त-से होकर ये (असूर्ते

सूर्ते रजसि निषत्तः) प्राण-साधना कर सकें। योग की ओर प्रवृत्त हो सकें। योगाभ्यास में अपना अधिक समय दे सकें। धनाभाव व परिवार का बोझ भी मनुष्य को उस मार्ग पर नहीं चलने देता। (ङ) धन को इसलिए जुटाते हैं कि ये (भूतानि समकृण्वन्) पाँच भौतिक शरीर की आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से जुटा सकें और पूर्ण स्वस्थ बन सकें। ६. यह धन का संग्रह उनका नाश करनेवाला न हो जाए इसके लिए वे इस बात का सदा ध्यान रखते हैं कि 'न भूना' यह बाहुल्येन न जुट जाए। उस स्थिति में यह प्यास को और बढ़ाता है और मनुष्य इसी का गुलाम बन जाता है। सब बौद्धिक व आध्यात्मिक उन्नति धरी रह जाती है। इसलिए धन को जुटाना है, परन्तु मर्यादा में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नकि विलास की सामग्री जुटाने के लिए। आदर्श Simple living ही रहे 'सादा जीवन,' नकि Standard of living को ऊँचा करना', अर्थात् आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना।

भावार्थ—पूर्व श्रेष्ठ ऋषि भी प्रभु-प्राप्ति के लिए, योगादि में निश्चिन्ततापूर्वक प्रवृत्त होने के लिए मर्यादित धन-संग्रह करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।।

परो दिवा—परःपृथिव्या

परो दिवा परऽएना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
किंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्रऽआपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे॥२९॥

१. वह परमात्मा **दिवा परः**=द्युलोक से भी दूर है, **एना पृथिव्या**=इस पृथिवी से भी **परः**=दूर है। २. **देवेभिः**=देवों से भी **परः**=वह दूर है, देव भी उस तक नहीं पहुँच पाते 'नैनद् देवा आप्नुवन्' (यजुः० ४०।४) और **असुरैः परः**=असुरों से भी वह दूर है। देवों व असुरों से वह विलक्षण प्रभु दुर्ज्ञेय है। ३. **यद् अस्ति**=ऐसा जो प्रभु है वह द्युलोक से परे है, अध्यात्म में मस्तिष्क से परे है। मस्तिष्क के तर्क का वह विषय नहीं बनता। इसीलिए मस्तिष्क प्रधान देवों की पहुँच से भी वह बाहर है। पृथिवी से भी वह परे है, अध्यात्म में पृथिवी 'शरीर' है। इस शरीर के विकास में लगे हुए असुरों से भी वह प्रभु प्राप्य नहीं। ४. **किं स्वित्**=उस विलक्षण अनिर्वचनीय **गर्भम्**=(ग्रहीतुं योग्यं—द०) ग्रहण के योग्य **प्रथमम्**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत—सर्वव्यापक प्रभु को **आपः**=प्राण **दध्रे**=धारण करते हैं। प्राणायाम द्वारा प्राणों की साधना होने पर चित्तवृत्ति का निरोध होता है। चित्तवृत्ति का निरोध होनेपर द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान होता है। इसी समय प्रभु का दर्शन होता है। इसी से मन्त्र में कहते हैं कि **यत्र**=प्राणों के स्वाधीन होने पर **पूर्वे देवाः**=(अधीतपूर्ण विद्याः—द०) पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होनेवाले विद्वान् **समपश्यन्त**=उस प्रभु का सम्यग् दर्शन करते हैं।

भावार्थ—१. मस्तिष्क व मस्तिष्क की साधना करनेवाले देवों से वह प्रभु दूर है। २. शरीर व शरीर की साधना करनेवाले असुरों से तो वह निश्चित ही दूर है। ३. उस ग्रहणीय व्यापक प्रभु को प्राण ही धारण करते हैं। ४. इस प्राण-साधना के होने पर अधीतपूर्णविद्या देव उस प्रभु का सम्यग् दर्शन करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।।

भूतभृन्न च भूतस्थः

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्रऽआपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥३०॥

१. **तम् इत गर्भं प्रथमम्**=उस आश्चर्यभूत, निश्चय से ग्रहणीय, व्यापक परमात्मा को **आपः दध्रे**=प्राण धारण करते हैं, अर्थात् प्राण-साधना होने पर ही, चित्तवृत्ति के निरोध से हम स्वरूप में स्थित होते हैं और प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। २. **यत्र**=इस प्राण-साधन के होने पर **विश्वे**=(विशन्ति) उस प्रभु में प्रवेश करनेवाले जैसे नदियाँ समुद्र में, **देवाः**=ज्ञान-ज्योति से द्योतित हृदयवाले विद्वान् **समगच्छन्त**=सम्यक्तया प्रभु से सङ्गत होते हैं। ३. **अजस्य**=उस अजन्मा (न जायते) अथवा गति के द्वारा सब बुराइयों का प्रक्षेपण=नाश करनेवाले (अज् गतिक्षेपणयोः) प्रभु की **नाभौ**=(नह बन्धने) बन्धनशक्ति में **एकम्**=यह नाना पुष्परूप लोक-लोकान्तरों से बना हुआ सुव्यवस्थित ब्रह्माण्डरूप हार **अध्यर्पितम्**=अर्पित हुआ-हुआ है। ये सब लोकलोकान्तर उस प्रभु में इस प्रकार प्रोत (पिराये हुए) हैं जैस सूत्र में मणियों के गण प्रोत होते हैं। वे प्रभु सूत्र हैं, सूत्रों के भी सूत्र हैं। सब लोक उसी प्रभु में बद्ध हैं। ४. इस प्रकार वे प्रभु वे हैं **यस्मिन्**=जिनमें **विश्वानि भुवनानि**=सब भूतजात **तस्थुः**=स्थित हैं। 'वे प्रभु किसी में स्थित हों' ऐसी बात नहीं। वे सर्वाश्रय हैं, उनका कोई अन्य आश्रय नहीं। वे प्रभु सचमुच 'भूतभृन्न च भूतस्थः' सब भूतों का भरण करनेवाले, पर उनपर अनाश्रित हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब भूतों का भरण करनेवाले हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड उन्हीं में अर्पित हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

नीहार-निराकरण

न तं विदाथ यऽइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृपऽउक्थशासश्चरन्ति ॥३१॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को **न विदाथ**=तू नहीं जान पाता। उस परमात्मा को **यः इमा जजान**=जिसने इन सब लोक-लोकान्तरों वा तुम्हारे शरीरों को भी जन्म दिया है। कितना आश्चर्य है कि अपने जनिता (उत्पादक) को भी हम नहीं जानते। २. **अन्यत्**=वे प्रभु तो अत्यन्त विलक्षण हैं। सामान्य वस्तु को जाना जाए या न जाना जाए, परन्तु जो अत्यन्त विलक्षण है, वह तो दिखनी ही चाहिए। ३. और वह कहीं दूर हो यह बात भी नहीं, **युष्माकं अन्तरं बभूव**=वह तो तुम्हारे अन्दर ही व्याप्त हो रहा है। ४. ऐसा होते हुए भी उसको न देख सकने का कारण यह है कि **नीहारेण प्रावृताः**=कुहरे के समान अज्ञान से आवृत होकर **चरन्ति**=लोग संसार-व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। जब ज्ञानरूप सूर्य का उदय होगा और यह अज्ञान का कुहरा विलीन होगा तभी हम प्रभु का दर्शन कर पाएँगे। ५. **जल्प्या 'प्रावृताः'**=हम गप-शप में, प्रवृत्त रहते हैं, इससे भी प्रभु-दर्शन नहीं कर पाते। थोड़े सत्य-असत्य, वादानुवाद में स्थिर रहनेवाले हम हो जाते हैं। यह **जल्पि**=वादानुवाद (Debates व Discussions) भी हमें प्रभु-दर्शन से दूर रखते हैं। हम शास्त्रार्थों में विजय की इच्छा से सरगर्मी से प्रवृत्त रहते हैं और तत्त्वज्ञान तक नहीं पहुँच पाते। व्यर्थ की बातें हमें प्रभु-दर्शन से वञ्चित करनेवाली होती हैं। ६. **च**=और इसलिए भी हम प्रभु-दर्शन नहीं कर पाते कि हम **असुतृपः**=प्राणों के पोषण में ही लगे रह जाते हैं। हमारा सारा समय भोजन जुटाने, उसे तैयार करने व खाने में ही लग जाता है। चिन्तन का समय ही हमें नहीं होता। कुछ समय मिलता भी है तो वह आमोद-प्रमोद में व्यर्थ हो जाता है। हमारा उद्देश्य

सांसारिक सुख-साधनों का बढ़ाना ही लगता है। ७. कुछ अच्छी वृत्ति हुई तो हम सांसारिक सुख-साधनों से कुछ ऊपर उठकर परलोक-सुखों के सम्पादन के लिए **उक्थशासः**=यज्ञों में, उक्थों का शंसन करने में **चरन्ति**=लगे रहते हैं। 'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः' 'ये यज्ञरूप बेड़े दृढ़ नहीं है' यह उपनिषद् वाक्य हमें भूल जाता है और हम प्राण-साधना व योगाभ्यास में प्रवृत्त नहीं होते। परिणामतः प्रभु के दर्शन से दूर ही रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए आवश्यक है कि १. हम अज्ञान को दूर करें। २. गपशप न मारते रहें। ३. सांसारिक सुख-साधनों का ही संग्रह न करते रह जाएँ और ४. यज्ञों द्वारा स्वर्ग प्राप्ति ही हमारा ध्येय न बन जाए।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

लोक-वेद-ओषधि-पर्जन्य

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देवऽआदिद् गन्धर्वोऽअभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा॥३२॥

१. **विश्वकर्मा**=इस सारे ब्रह्माण्ड को व जीव-शरीरों को उत्पन्न करनेवाले **देवः**=प्रभु ने **हि**=निश्चय से **अजनिष्ट**=सब लोक-लोकान्तरों व जीवों के शरीरों को उत्पन्न किया, लोक-लोकान्तर बनाये और उनमें कर्मानुसार जीवों को शरीर धारण कराये। २. **आत् इत्**=जीवों को उस-उस लोक में शरीर देने के बाद विश्वकर्मा अब **द्वितीयः**=दूसरे स्थान को पूरण करनेवाला **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला **अभवत्**=हुआ, अर्थात् जीवों को जन्म देने के बाद प्रभु ने सबसे प्रथम उन्हें वेदज्ञान दिया। हृदयस्थरूपेण 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' को सम्पूर्ण वेदज्ञान देकर उनके द्वारा सभी को प्रकाशमय जीवनवाला किया। ३. **तृतीयः**=तीसरे स्थान को पूरण करनेवाला यह परमात्मा **पिता**=सबका रक्षक हुआ। रक्षण के उद्देश्य से ही **ओषधीनां जनिता**=ओषधियों को उत्पन्न करनेवाला हुआ। ४. इस तृतीय वाक्य की रचना व स्थिति से दो बातें स्पष्ट हैं—(क) स्वाध्याय का स्थान भोजन से भी प्रथम है तथा (ख) भोजन के लिए—भोजन के द्वारा शरीर-पालन के लिए प्रभु ने ओषधियों को जन्म दिया है। ये ही मनुष्य के मुख्य भोजन हैं। ५. इन ओषधियों के उत्पादन के लिए प्रभु ने **अपां गर्भम्**=जलों को अपने में धारण करनेवाले पर्जन्य=मेघ को उत्पन्न किया, जो मेघ **पुरुत्रा**=पुरुत् त्रायते=बहुतों की रक्षा करता है अथवा पालन व पूरण करता है (पुरु) और रक्षा करता है (त्रा)। इस प्रकार प्रभु की कितनी कृपा है? उसकी अनन्त कृपा का स्मरण करता हुआ 'भुवनपुत्र विश्वकर्मा' उस प्रभु का स्तवन करता है और तदनुरूप बनने का प्रयत्न करता है। यह भी भुवनों को पवित्र करनेवाला तथा सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला बनता है। इस प्रभु-उपासन के परिणामरूप वह अनुपम शक्ति प्राप्त करके जीवन-संग्राम में विजयी होता है और अगले मन्त्रों का ऋषि 'अप्रतिरथ'=अद्वितीय योद्धा बन जाता है। इस अप्रतिरथ का चित्रण अगले मन्त्रों में द्रष्टव्य है।

भावार्थ—१. प्रभु सारे लोक-लोकान्तरों को जन्म देते हैं। जीवों को कर्मानुसार शरीर देते हैं। २. शरीर देते ही जीवों को वेदज्ञान देते हैं, जिससे वे प्रकृति के प्रयोग में व परस्पर व्यवहार में ग़लती न करें। ३. उनके शरीरों के रक्षार्थ ओषधियों को जन्म देते हैं। ४. ओषधियों की उत्पत्ति के लिए बादलों की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

शतसेना पराजय

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिषऽएकवीरः शतꣳसेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः॥३३॥

१. प्रभु के उपासक का प्रकरण चल रहा था। 'यह उपासक कैसा बन जाता है।' प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आशुः**=(अश्नुते व्याप्नोति) यह सदा कार्यों में व्यापृत रहता है। 'विश्वकर्मा' की उपासना करके यह 'विश्वकर्मा' क्यों न बनेगा? 'आशु' शब्द में शीघ्रता की भी भावना है। यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। इसमें आलस्य नहीं होता। २. **शिशानः**=(शो तनूकरणे) यह अपनी बुद्धि को खूब ही तीव्र बनाता है। इस तीव्र बुद्धि ने ही तो उसे प्रभु का दर्शन कराना है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**=प्रभु सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही देखे जाते हैं। ३. **वृषभः**=यह वृषभ के समान शक्तिशाली होता है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=निर्बल से प्रभु की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। ४. **न भीमः**=शक्तिशाली होते हुए भी यह भयंकर नहीं होता। अपितु शक्ति के साथ इसमें शान्ति व सौम्यता होती है। सौम्यता शक्ति को अलंकृत करनेवाली है। यह शक्ति से पर-पीड़न न करके पर-रक्षण ही करता है। ५. **घनाघनः**=यह काम, क्रोधादि आन्तर शत्रुओं का पूर्णरूपेण हनन करनेवाला होता है। ६. **चर्षणीनां क्षोभणः**=मनुष्यों को उत्तम प्रेरणा देकर उनमें अध्यात्म-संग्राम के लिए हलचल उत्पन्न कर देता है। वे कामादि शत्रुओं से युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। ७. **संक्रन्दनः**=यह सदा प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है। प्रभु के नामों का उच्चारण इसे कामादि शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है। ८. **अनिमिषः**=यह एक पलक भी नहीं मारता। सदा जागरित—सावधान रहता है। ज़रा-सा प्रमाद किया तो वासनाओं का शिकार हुआ। ९. **एकवीरः**=इन 'प्रद्युम्न' प्रकृष्ट बलवाली वासनाओं से संग्राम करनेवाला यह अद्वितीय वीर है। १०. **इन्द्रः**=यह सब इन्द्रियों को वासनाओं के आक्रमण से बचाकर उनका सच्चा अधिपति बनता है। ११. **शतं सेनाः साकम् अजयत्**=और अब वासनाओं की एक साथ आई हुई सैकड़ों सेनाओं भी को जीत लेता है। अथवा **साकम्**=उस प्रभु के साथ रहनेवाला यह 'अप्रतिरथ' **शतं सेनाः अजयत्**=वासनाओं की शतशः सेनाओं को भी जीत लेता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बने हुए इसको कामादि की सेनाएँ पराजित नहीं कर पातीं।

भावार्थ—मन्त्र-वर्णित लक्षणों को अपने में विकसित करके हम सच्चे प्रभु-भक्त प्रमाणित हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वाराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

युधः-नरः

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥३४॥

१. वासनाओं को जीतना अत्यन्त कठिन है। इनके साथ युद्ध करनेवाला मनुष्य सचमुच 'युधः' है। यह निरन्तर आगे बढ़ने के कारण 'नरः' है। यह अपने को एक आदर्श उपासक बनाने का प्रयत्न करता है और इस 'उपासक आत्मा' से वासनाओं का पराभव

करता है। कैसी आत्मा से? २. **संक्रन्दनेन**=सदा प्रभु का आह्वान करनेवाली आत्मा से। प्रभु के नामोच्चरण से यह अपने में शक्ति भरता है और वासनाओं को भयभीत करता है। ३. **अनिमिषेण**=कभी भी पलक न मारनेवाली, अर्थात् सदा सावधान रहनेवाली आत्मा से। प्रमाद मनुष्य को वासनाओं का शिकार बना देता है। ४. **जिष्णुना**=विजयशील आत्मा से। वस्तुतः प्रभु का आह्वान करनेवाली अप्रमत्त आत्मा कभी हार ही नहीं सकती। ५. **युत्कारेण**=युद्ध करनेवाली आत्मा से। यह वासनाओं के साथ संग्राम को कभी निरुत्साह होकर छोड़ नहीं देता। ६. **दुश्च्यवनेन**=युद्ध के निश्चय से विचलित न की जानेवाली आत्मा से। अवान्तर पराजयों से भी यह युद्ध को समाप्त नहीं कर देता (Loses battles, but wins the war.) यह अन्त में अवश्य विजयी होता है। ७. **धृष्णुना**=दुश्च्यवन होने से ही धर्षण करनेवाली आत्मा से यह युद्ध में लगा ही रहता है और अन्त में शत्रुओं को कुचल डालता है। ८. **इषुहस्तेन** =प्रेरणा को हाथ में लेनेवाली आत्मा से, अर्थात् प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाला यह बनता है। ९. **वृष्णा**=शक्तिशाली आत्मा से। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलनेवाला अपने में शक्ति का अनुभव करता ही है। १०. हे **युधः नरः**=युद्ध करनेवाले और आगे बढ़नेवाले वीरो! **तदिन्द्रेण**=(स चासौ इन्द्रः) ऐसी आत्मा से **जयत**=तुम विजयी बनो। और **तत्**=उस वासना-समूह को **सहध्वम्**=पराभूत कर डालो।

भावार्थ—हम अपनी आत्मा को 'संक्रन्दन-अनिमिष-जिष्णु-युत्कार-दुश्च्यवन-धृष्णु-इषुहस्त व वृषण' बनाएँगे तो इस आत्मा से शत्रुओं को अवश्य पराभूत करेंगे।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रत्याहार

सऽइषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सꣳस्रष्टा स युधऽइन्द्रो गणेन।
सꣳसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥३५॥

१. **सः**=वह 'अप्रतिरथ' अद्वितीय योद्धा **इषुहस्तैः**=प्रेरणारूप हाथों से, अर्थात् प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाले हाथों से और **सः**=वह **निषङ्गिभिः**=अनासक्ति-(नि-सङ्ग)-रूप अस्त्रों से युक्त हुआ-हुआ २. **वशी**=अपनी इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाला तथा ३. **गणेन संस्रष्टा**=(गण संख्याने) संख्यान व चिन्तन से सदा संसृष्ट रहनेवाला, अर्थात् सदा चिन्तनशील अथवा **गणेन संस्रष्टा**=सारी समाज के साथ मिलकर चलनेवाला ४. **सः युधः**=वह निरन्तर युद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव ५. **संसृष्टजित्**= विषयेन्द्रिय-सम्पर्क को जीतनेवाला होता है। ६. विषयेन्द्रिय-सम्पर्क को जीतकर यह **'सोमपा'**=सोम का पान करनेवाला होता है। अपनी वीर्यशक्ति की रक्षा करता है। ७. **बाहुशर्धी**=सोम-रक्षण से यह बाहुबल से युक्त होता है (शर्धः=बलम्) इसकी भुजाओं में शक्ति होती है। ८. और यह **उग्रधन्वा**=(उग्र=उदात्त) उत्कृष्ट प्रणव-ओम्-रूप धनुष को धारण करता है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'=ओ३म् का ही जप करता है, ओ३म् के ही अर्थ का भावन करता है। ९. और अब यह **प्रतिहिताभिः**=(प्रत्याहृतिभिः) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने के द्वारा **अस्ता** =कामादि शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाला होता है। इन्द्रियों को वापस लाता है, शत्रुओं को दूर फेंकता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम 'असङ्ग-शस्त्र' से संसार-वृक्ष का छेदन कर सकें। इन्द्रियों के प्रत्याहार से वासनाओं को दूर करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

रथों का रक्षण

बृह॑स्पते॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हामित्राँ॑२॥ऽअप॒बाध॑मानः। प्र॒भ॒ञ्जन्त्सेनाः॑ प्रमृ॒णो यु॒धा जय॑न्न॒स्माक॑मेद्ध्यवि॒ता रथा॑नाम्॥३६॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! तू **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **परिदीया**=(दी to shine) चमकनेवाला बन, अर्थात् तेरा यह शरीर पूर्ण स्वस्थ हो। यह स्वास्थ्य की दीप्तिवाला हो। इस स्वस्थ, चमकते हुए शरीररूप रथ से **परिदीया**=तू आकाश में उड़नेवाला बन (दी to soar), अर्थात् तेरी गति सदा उन्नति की दिशा में हो। उन्नति करते हुए तूने ऊर्ध्वा दिक् का, सर्वोच्च स्थिति का अधिपति बनना है। २. इस उन्नति को स्थिर रखने के लिए तू **रक्षोहा**=राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाला बन। इसी उद्देश्य से तू **'अमित्रान्'**=अस्नेह व द्वेष की भावनाओं को **अपबाधमानः**=अपने से सदा दूर रखनेवाला हो। ईर्ष्या तो तेरे मन को मृत कर देगी फिर तू क्या उन्नति कर पाएगा? अतः इसे तो पास फटकने ही नहीं देना। ३. **सेनाः**=वासनाओं की सेनाओं को **प्रभञ्जन्**=प्रकर्षेण पराजित करता हुआ तू **प्रमृणः**=इनको कुचल डाल। ४. इस प्रकार **युधा**=इन वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा **जयन्**=इनको पराजित करता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारे (प्रभु से) दिये हुए इन **रथानाम्**=स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीररूप रथों का **अविता**=रक्षा करनेवाला **एधि**=हो। यह ध्यान रखना कि लोभ तेरे आनन्दमयकोश व शरीर को विकृत कर देगा। क्रोध तेरे सूक्ष्मशरीर (बुद्धि, मन) का नाशक होता है और काम इस स्थूलशरीर को जीर्ण कर देता है। इन शत्रुओं के आक्रमण से तूने हमारे दिये हुए इन रथों की रक्षा करनी है।

भावार्थ—हम अपने शरीररूप रथों से चमकें, उन्नति करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जैत्र रथाधिष्ठान=रथारोहण

ब॒ल॒वि॒ज्ञा॒यः स्थवि॑रः॒ प्रवी॑रः॒ सह॑स्वान् वा॒जी सह॑मानऽउ॒ग्रः। अ॒भिवी॑रोऽअ॒भिस॑त्वा सहो॒जा जैत्र॑मिन्द्र॒ रथ॒मा ति॑ष्ठ गो॒वित्॥३७॥

१. अप्रतिरथ वह है जो **बलविज्ञायः**=अपने बल के कारण प्रसिद्ध है। २. **स्थविरः**=स्थिरमति=स्थितप्रज्ञ है, विषयों से डाँवाँडोल होनेवाला नहीं है। ३. **प्रवीरः**=प्रकृष्ट वीर है, यह वैषयिक वृत्तियों को विशेषरूपेण कम्पित करनेवाला है (विशेषेण ईरयति) ४. **सहस्वान्**=सहन-शक्तिवाला है। लोगों की अभिशस्तियों (गालियों) से तैश में आजानेवाला नहीं। ५. **वाजी**=बलवाला है अथवा त्याग-वृत्तिवाला है (वाज=Sacrifice) ६. **सहमानः**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है अथवा सर्दी-गर्मी आदि को सहने की शक्तिवाला है। ७. **उग्रः**=तेजस्वी है ८. **अभिवीरः**=वीरता की ओर चलनेवाला है और **अभिसत्वा**=सत्त्वगुण की ओर चलनेवाला है। यह वीरता व ज्ञान (सत्त्वस्य लक्षणं ज्ञानम्) का समन्वय करता है। ९. **सहोजाः** =यह प्रभु के साथ सम्पर्क के कारण ओजस्वी होता है। १०. हे **इन्द्र**= इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू ऐसा बनकर **जैत्रं रथम् आतिष्ठ**=विजयशील रथ पर आरोहण कर, अर्थात् तू कभी वासनाओं से पराजित न हो। इसी अपराजय के लिए तू ११. **गोवित्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला बन। जब तुझमें वीरता व ज्ञान का समन्वय होगा तभी तेरी

निश्चित विजय होगी। १२. यहाँ मन्त्र का प्रारम्भ 'बलविज्ञायः' से है और समाप्ति 'गोवित्' पर है। वस्तुतः हमें 'बल व ज्ञान' दोनों का ही सम्पादन करना है। यही भावना 'अभिवीरः व अभिसत्वा' शब्द भी दे रहे हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में बल और ज्ञान का समन्वय करके विजयी बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

लोभ का विदारण

गो॒त्र॒भिदं॑ गो॒विदं॒ वज्र॑बाहुं॒ जय॑न्त॒मज्म॑ प्रमृ॒णन्त॒मोज॑सा।
इ॒मꣳ स॑जाता॒ऽअनु॑ वीरयध्व॒मिन्द्र॑ꣳ सखायो॒ऽअनु॒ सꣳर॑भध्वम्॥३८॥

१. प्रभु कहते हैं—हे **सजाताः**=समान जन्मवाले जीवो! **इमम्**=इस इन्द्र के **अनु-वीरयध्वम्**=अनुसार तुम भी वीरतापूर्ण कर्म करो। उस इन्द्र के अनुसार जो **गोत्रभिदम्**=(गोत्र= wealth) धन का विदारण करनेवाला है, अर्थात् हिरण्मयपात्र से डाले जानेवाले आवरण को सुदूर नष्ट करनेवाला है। २. **गोविदम्**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। धन के लोभ को दूर करके ही ज्ञान प्राप्त होता है। ३. **वज्रबाहुम्**=जिसकी बाहु में वज्र है। 'वज गतौ' से वज्र शब्द बना है और 'बाहृ प्रयत्ने' से बाहु, अतः 'वज्रबाहु' शब्द की भावना यह है कि जो अपने प्रयत्नों में सदा गतिशील है, अपने प्रयत्नों को कभी ढीला नहीं करता, ४. इसलिए **अज्म जयन्तम्**=संग्राम को जीतनेवाला है। वासना-संग्राम क्रियाशीलता से ही जीता जाता है। ५. **ओजसा प्रमृणन्तम्**=क्रियाशीलता से प्राप्त हुई ओजस्विता से यह शत्रुओं को कुचल डालता है। ६. वस्तुतः इन्द्र वही है जो उल्लिखित पाँच विशेषणों से युक्त है। जन्म लेनेवालों को चाहिए कि **अनुवीरयध्वम्**=वे भी इन्द्र के समान ही वीर बनें और संग्राम में शत्रुओं को कुचल दें। ७. प्रभु कहते हैं कि **सखायाः**=इन्द्र के समान ख्यान, ज्ञान व नामवाले जीवो! **अनु**=इस इन्द्र के अनुसार ही तुम सब भी **संरभध्वम्**=बहादुर बनो। इन्द्र की भाँति तुम भी असुरों का संहार करनेवाले होओ। इन्द्र बनकर धन के लोभ से ऊपर उठो।

भावार्थ—इन्द्र बनकर हम धन के लोभ का विदारण करें। ज्ञानी बनकर इस अध्यात्म-संग्राम में शत्रुओं को कुचल दें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर

अ॒भि गो॒त्राणि॒ सह॑सा॒ गाह॑मानोऽद॒यो वी॒रः श॒तम॑न्युरिन्द्रः॑।
दु॒श्च्य॒व॒नः पृ॑तना॒षाड॑यु॒ध्यो॒ऽस्माक॒ꣳ सेना॑ अवतु॒ प्र यु॒त्सु॥३९॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **गोत्राणि**=धनों को **सहसा**=अपनी शक्ति से, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से **अभिगाहमानः**=सर्वतः अवगाहन करता हुआ, अर्थात् सुपथों से कमाता हुआ **अदयः**=(देङ् रक्षणे) उनको अपने पास रखनेवाला नहीं होता। कमाता है पर जोड़ता नहीं, उन धनों को दे डालता है। अपने पुरुषार्थ से इतना कमाता है कि धन में लोटता है (rolls in wealth) पर अनासक्ति के कारण उनका दान कर देता है। यह इन्द्र धन को अपने पास न रखकर ही इन्द्र बना रहता है। यह अपनी शक्ति को खोता नहीं, धनासक्ति व्यक्ति को क्षीण-शक्ति कर देती है, 'कुबेर' बना देती है, कुत्सित शरीरवाला। २. **वीरः**=यह दानवीर इन्द्र धन के दान के कारण सचमुच वीर=शक्तिशाली बना रहता है।

३. **शतमन्युः**=अपने धनों से वह शतशः यज्ञों का करनेवाला होता है। ३. **दुश्च्यवनः**=इसे यज्ञमार्ग से कोई भी बात गिरा नहीं पाती। वस्तुतः धन का लोभ ही इस यज्ञिय मार्ग से विचलित कर सकता था। उसे छोड़कर यह दृढ़ता से यज्ञिय मार्ग पर चल रहा है। ४. **पृतनाषाट्**=इस यज्ञ–मार्ग पर चलते हुए यह काम–क्रोध आदि को संग्राम में पराभूत करनेवाला होता है (पृतनां संग्रामं सहते) ५. **अयुध्यः**=काम–क्रोधादि इसके प्रतियोद्धा नहीं बन पाते। (नास्ति युध्यः अस्य) ६. यह अयुध्य इन्द्र **अस्माकम्**=हमारी दिव्य गुणों की **सेनाः**=सेनाओं को **प्रयुत्सु**=इन प्रकृष्ट आध्यात्मिक संग्रामों में **अवतु**=सुरक्षित करे। काम–क्रोधादि का पराजय होकर, प्रेम व मित्रता का विकास हो।

भावार्थ—हम धनों का अवगाहन करें, परन्तु उनमें ही आसक्त न हो जाएँ। हममें दिव्य गुणों का विकास हो। लोभ ही दिव्य गुणरूप पुरुषों के लिए तुहिनरूप होता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

देवसेना

इन्द्रऽआसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुरऽएतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥४०॥

१. पिछले मन्त्र में देव–सेनाओं की रक्षा का उल्लेख हुआ है। **देवसेनानाम्**=इन देव–सेनाओं के **अभिभञ्जतीनाम्**=जो चारों ओर आसुर सेनाओं का विदारण कर रही हैं, **जयन्तीनाम्**=और असुरों पर विजय पाती चलती हैं, उन देव–सेनाओं के **अग्रम्**=आगे **मरुतः**=प्राण **यन्तु**=चलें। स्पष्ट है कि ये देव–सेनाएँ प्राणों के पीछे चलती हैं। प्राण–साधना ही इस देवसेना को जन्म देती है। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषक्षीण होते हैं, मन का मैल नष्ट होता है और आसुर वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। एवं, स्पष्ट है कि देवसेनाओं के आगे मरुत् चलते हैं। **इन्द्रः आसां नेता**=इन विजयशील देवसेनाओं का सेनापति इन्द्र है। **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, हृषीकेश है, हृषीक=इन्द्रियों का ईश। यह इन्द्र ही तो देवराट् है। यदि जीभ ने चाहा और हमने खाया तब तो धीरे–धीरे हम इन इन्द्रियों के दास ही बन जाएँगे। हम इन्द्र बनकर देवसेनाओं के सेनापति बनें। ३. इस देवसेना के **पुरः**=आगे **एतु** =ये व्यक्ति चलें। कौन? (क) **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति ज्ञान का स्वामी, देवताओं का गुरु—ज्ञानियों का भी ज्ञानी। दिव्य गुणों में ज्ञान का सर्वोच्च स्थान है। ज्ञानाग्नि कामादि वासनाओं को भस्म कर देती है। (ख) **दक्षिणा** =दान। यह दान लोभ का नाश करता है। लोभ व्यसनवृक्ष का मूल है, अतः देव सदा देते हैं (देवो दानात्) (ग) **यज्ञः**=दिव्य गुणों में प्रथम स्थान ज्ञान का, दूसरा दान का तथा तीसरा स्थान यज्ञ का है। ये यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म हैं। देव सदा 'हविर्भुक्' होते हुए यज्ञशील बनते हैं। (घ) **सोमः**=चौथा देव सोम है, सौम्यता। सारे दिव्य गुणों के होने पर भी यदि यह सौम्यता न हो तो सब दिव्य गुण अदिव्य बन जाते हैं। दैवी सम्पत्ति का चरमोत्कर्ष 'नातिमानिता' में ही तो है। सोम की भावना 'वीर्य–शक्ति' भी है। मनुष्य ने देव बनने के लिए इस वीर्य–शक्ति की रक्षा करके सोम का पुञ्ज बनना है। सोमशक्ति की रक्षा ही 'ब्रह्मचर्य' है, यही ब्रह्म–प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्राण-साधना करें, जिससे हममें दिव्य गुणों का विकास हो। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर हम देवसेनाओं के सेनापति बनें। हमारे जीवन में 'ज्ञान–दान–यज्ञ–सौम्यता व सोमरक्षा' को महत्त्व प्राप्त हो।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जयघोष

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ऽआदि॒त्यानां॑ म॒रुता॒छ्ंशर्द्ध॑ऽउ॒ग्रम्।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वानां॒ घोषो॑ दे॒वानां॒ जय॑ता॒मुद॑स्थात्॥४१॥

१. गत मन्त्र की विजयशील देवसेनाओं के जयघोष का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **वृष्णः इन्द्रस्य**=शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले इन्द्रियों के अधिष्ठाता इस इन्द्र का तथा २. **वरुणस्य राज्ञः**=अति नियमित जीवनवाले (well regulated) वरुण का, जिसने कि सब बुराइयों का वारण किया है ३. तथा, **आदित्यानां मरुताम्**=अपने अन्दर निरन्तर उत्तमताओं का ग्रहण करनेवाले (आदानात् आदित्यः) प्राणसाधक मरुतों का (मरुतः प्राणाः) **शर्द्धः**=बल **उग्रम्**=बड़ा उत्कृष्ट व तीव्र होता है। ४. इन्द्र, वरुण व आदित्य ही देवताओं के महारथी हैं। 'जितेन्द्रिय बनना, बुराइयों को रोकना, तथा अच्छाइयों को अपने अन्दर लेते चलना' ये ही बातें हैं जो हममें दैवी सम्पत्ति का वर्धन करेंगी। ५. इन महारथियों का अनुगमन करनेवाले **महामनसाम्**=विशाल व उदार मनवाले **भुवनच्यवानाम्**=भुवनों का भी त्याग कर देनेवाले, अर्थात् लोकहित के लिए अपने जीवन (भुवन) का भी त्याग कर सकनेवाले **जयताम्**=सदा विजयी बननेवाले **देवानाम्**=देवताओं का, दैवी सम्पत्ति के प्रार्जयिता पुरुषों का **घोषः**=विजयघोष **उदस्थात्**=हमारे जीवनों से सदा उठे। ६. यहाँ प्रसङ्गवश विशेषणों के रूप मे कही गई ये दो बातें ध्यान देने योग्य हैं कि देव 'विशाल मनवाले' तथा 'अधिक-से-अधिक कल्याण करनेवाले' होते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र, वरुण व आदित्य' बनने का प्रयत्न करें। विशाल हृदयवाले हों, अधिक-से-अधिक त्याग की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आयुध-दीपन

उद्ध॑र्षय मघव॒न्नायु॑धा॒न्युत्सत्व॑नां माम॒कानां॒ मनां॑छ्ंसि।
उद् वृ॑त्रहन्वा॒जिनां॒ वाजि॑ना॒न्युद्रथा॑नां॒ जय॑तां यन्तु॒ घोषाः॑॥४२॥

१. विजय के लिए अस्त्रों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यात्म संग्राम के अस्त्र—'शरीररूप रथ, इन्द्रिरूप घोड़े तथा बुद्धिरूपी सारथि जिसने कि मनरूप लगाम को पूर्णरूप से हाथ में ग्रहण किया हुआ है'—ही तो हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि २. हे **मघवन्**=उच्च ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले व (मा+अघ) पापरूप मैल को दूर रखनेवाले **वृत्रहन्**=सब प्रकार की वासनाओं का विनाश करनेवाले 'अप्रतिरथ'! तू **आयुधानि**=इन शरीर, इन्द्रियादिक आयुधों को **उद्हर्षय**=खूब दीप्त करनेवाला बन। ३. प्रभु जीव से कहते हैं कि **मामकानाम्**=जो मेरे बने रहते हैं, अर्थात् प्रकृति के भोगों में नहीं फँस जाते उन **सत्वनाम्**=सत्त्वगुण प्रधान मेरे भक्तों के **मनांसि**='मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' **उत्**=उत्कृष्ट बनें। वस्तुतः मनों के उत्कर्ष का मार्ग प्रभु-भक्त बने रहना ही है। इसके उपासक का हृदय वासनाक्रान्त नहीं होता। ४. हे **वृत्रहन्**=वासना का हनन करनेवाले जीव! **वाजिनाम्**=तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों के **वाजिनानि**=वेग व बल **उत्**=उत्कृष्ट हों। वृत्र ही इन इन्द्रियरूप घोड़ों के वेग का विनाशक है। वासना इन्हें क्षीण-शक्ति कर देती है। ५. आगे बढ़ते हुए **जयताम्**=विजयशील बनते हुए **रथानाम्**=शरीररूप रथों के **घोषाः**=विजयघोष

उत्=ऊपर उठें। ये शरीररूप रथ पूर्ण स्वस्थ हों, जिससे जीवन-यात्रा अधूरी न रह जाए।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में विजय के लिए हमारे मन, इन्द्रिय व शरीररूप सब आयुध ठीक हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आस्तिक मनोवृत्ति

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीराऽउत्तरे भवन्त्वस्माँ२॥ऽउ देवाऽअवता हवेषु॥४३॥

१. **ध्वजेषु समृतेषु**=ध्वजाओं व पताकाओं के ठीकरूप से प्राप्त कर लेने पर **अस्माकम्**=हम आस्तिक बुद्धिवालों का नियामक **इन्द्रः**=परमात्मा हो, अर्थात् हम प्रभु को अपना आश्रय मानकर चलें। 'ध्वजा' एक लक्ष्य का प्रतीक है जब हम एक लक्ष्य बनालें तब प्रभु को अपना आश्रय बनाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाएँ। संसार में प्रभु का आश्रय मनुष्य को कभी निरुत्साहित नहीं होने देता। आस्तिक मनुष्य सदा प्रभु को अपनाता है और किसी प्रकार से निरुत्साहित न होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है। २. **अस्माकम्**=हम आस्तिक्य वृत्तिवालों की **याः**=जो **इषवः**=प्रेरणाएँ हैं, अन्तःस्थित प्रभु से दिये जा रहे निर्देश हैं **ताः**=वे निर्देश और प्रेरणाएँ ही **जयन्तु**=जीतें। प्रभु की प्रेरणा होती है कि 'उषःकाल हो गया, उठ बैठ क्या सो रहा है?' उसी समय एक इच्छा पैदा होती है कि 'कितनी मधुर वायु चल रही है, रात को नींद भी तो पूरी नहीं आई। दिन में अलसाते रहोगे, ज़रा सो ही लो।' सामान्यतः यह इच्छा उस प्रेरणा को दबा देती है और मनुष्य सोया रह जाता है। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आपकी प्रेरणाए ही विजयी हों, हमारी इच्छाएँ नहीं। ३. **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों में **वीराः**=वीरत्व की भावनाएँ, न कि कायरता की वृत्ति **उत्तरे भवन्तु**=उत्कृष्ट हों, प्रबल हों। दबकर कोई कार्य करना मनुष्यत्व से गिरना है। हमारे कार्य वीरता का परिचय दें। ४. **देवाः**=हे देवो! **अस्मान्**=हम आस्तिकों को **हवेषु**=(आहवेषु) संग्रामों में **उ**=निश्चय से **अवत**=रक्षित करो। देव हमारे रक्षक हों। वस्तुतः (क) जब हम प्रभु में पूर्ण आस्था से चलेंगे, (ख) सदा अन्तःस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे, (ग) सदा वीरता के ही कार्य करेंगे तब देवताओं की रक्षा के पात्र क्यों न होंगे?

भावार्थ—१. जीवन-लक्ष्य को ओझल न होने देते हुए हम प्रभु को अपना आश्रय समझें। २. हमारे जीवन में हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा की विजय हो, न कि हमारी इच्छा की। ३. हम सदा वीरतापूर्ण कार्य ही करें और ४. हम सदा अध्यात्म-संग्रामों में देवों की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

लोभ का परिणाम

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥४४॥

१. लोभ की प्रवृत्ति बड़ी विचित्र है (क) यह कम-से-कम प्रयत्न से अधिक-से-अधिक लेना चाहती है। (ख) यह प्रवृत्ति आवश्यकता को नहीं देखती। इससे धन के प्रति एक प्रेम-सा होता है जिसके कारण लोभी किसी अन्य बन्धु-बान्धव या प्राणी से प्रेम नहीं कर पाता। २. इतना ही नहीं यह किसी अन्य की सम्पत्ति को देखकर जलता है। एवं, लोभ

ईर्ष्या का जनक होता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अप्वे**=हे (आप्=प्राप्त करना) अधिक-और-अधिक प्राप्त करने की इच्छा ! तू **अमीषाम्**=इन तेरे शिकार बने हुए लोगों के **चित्तम्**=चित्त को **प्रतिलोभयन्ती**=प्रत्येक ऐश्वर्य के प्रति लुब्ध करती हुई **अङ्गानि गृहाण**=इनके अङ्गों को जकड़ ले, इनको अपने वश में कर ले। लोभाविष्ट हुआ मनुष्य इस प्रकार धन का दास बन जाता है कि उसे धन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता। यह धन के लिए अपने आराम को समाप्त कर देता है। यह धन के लिए अपने बन्धुत्व की बलि दे देता है, आत्मा-परमात्मा के स्मरण का तो प्रश्न ही नहीं रहता। एक ही इच्छा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों को जकड़े रखती है और वह है 'धन की इच्छा।' २. यह धन की इच्छा हमारा तो पीछा छोड़ दे। हे अप्वे ! **परा इहि**=तू हमसे परे जा। ३. जो **अमित्राः**=किसी से स्नेह न करनेवाले लोग हैं उनको **अभि प्र इहि**=लक्ष्य करके तू खूब गतिशील हो, अर्थात् उनको तू प्राप्त कर। ४. उनको ही तू **हृत्सु**=हृदयों में **शोकैः**=शोकाग्नियों से **निर्दह**=नितरां जलानेवाली बन। लोभी, ईर्ष्यालु पुरुषों के ही मन जलते रहें। हे अप्वे ! हमपर तो तू कृपा कर और हमें जलानेवाली न हो। ५. **अमित्रः**=प्राणियों के प्रति स्नेहशून्य हृदयवाले लोग ही **अन्धेन तमसा**=इस अन्धी इच्छा से **सचन्ताम्**=संयुक्त हों। लोभ के कारण आवश्यकता से अधिक धन की इच्छा अन्धी तो है ही। यह साध्य व साधन का विचार न करती हुई साधन को ही साध्य समझ लेती है और परिणामतः धन की ही उपासना करने लगती है। अर्थसक्त को मनु के शब्दों मे 'धर्मज्ञान' नहीं हो पाता, अतः हे अप्वे ! धनाहरणाभिलाष ! तू कृपा करके हमसे दूर रह।

भावार्थ—हम लोभ की भावना से ऊपर उठें, जिससे हृदयों में शोकाग्नि से सन्तप्त न होते रहें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इषुः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

लक्ष्य दृष्टि

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।

गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिषः॥४५॥

१. संसार में न फँसने व निरन्तर आगे और आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने सामने एक लक्ष्य (ध्येय) रखे। लक्ष्य ओझल हुआ और मनुष्य भटका। यह लक्ष्य ही 'शरव्या' है। २. यह लक्ष्य बड़ा सोच-समझकर बनाया जाना चाहिए। मन्त्र में कहते हैं कि यह 'ब्रह्मसंशित' हो, ज्ञान से तीव्र बनाया जाए। हे **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान से तीव्र बनाये गये **शरव्ये**=लक्ष्य ! तू **अवसृष्टा** (अवसृज् to make, create)=हमारे जीवनों से उत्पन्न होकर **परापत**=खूब दूर बढ़ चल। लक्ष्य के सदा सामने होने पर हमारी तीव्र गति व शीघ्र प्रगति क्यों न होगी? लक्ष्य का न होना अथवा लक्ष्य का भूला हुआ होने के कारण ही प्रगति रुकी रहती है। ३. लक्ष्य का संकेत उत्तरार्ध में इस प्रकार करते हैं कि **गच्छ**=तू जा **अमित्रान्**=स्नेह न करने की भावना को, ईर्ष्या-द्वेषादि की भावना को, औरों से जलने की भावना को **प्रद्यस्व**=विशेषरूप से आक्रान्त कर। **मामीषाम्**=इन द्वेषादि की निकृष्ट भावनाओं में से **कञ्चन**=किसी को **न उच्छिषः**=शेष मत छोड़। इन भावनाओं में से एक-एक को ढूँढकर तू समाप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—१. हमारा जीवन लक्ष्य-दृष्टि से शून्य न हो। २. हम द्वेषादि की भावना को समूल नष्ट कर दें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—योद्धाः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रेत जयत=आगे बढ़ो, जीतो

प्रेता जयता नरऽइन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥४६॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार हमारे जीवन का लक्ष्य बनता है 'वासनाओं का समूल उन्मूलन'। यह वासनाओं का उन्मूलन करनेवाला व्यक्ति 'न रम्' है, 'न रम्'=न फँस जानेवाला। प्रभु कहते हैं कि हे **नराः**=(नृ नये) अपने को आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! **प्रेत**=आगे बढ़ो। वासनाएँ तुम्हारी उन्नति को विहत न कर दें। **जयत**=इन वासनाओं को जीतनेवाले बनो। इनको जीते बिना यात्रा की पूर्ति सम्भव नहीं। २. **इन्द्रः**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाला वह प्रभु **वः**=तुम्हें इन वासनाओं के संहार के द्वारा **शर्म**=कल्याण **यच्छतु**=प्राप्त कराए। वासनाओं से होनेवाले विनाश से प्रभु ही तुम्हें बचाएँगे। ३. **वः बाहवः**=तुम्हारी भुजाएँ **उग्रः**=तेजस्वी हों। 'बाहृ प्रयत्ने'=तुम्हारे प्रयत्न भी बड़े उग्र होने चाहिएँ, क्योंकि इन वासनाओं का विनाश कोई सुगम कार्य नहीं है। प्रभु की सहायता के बिना इन्हें तुम जीत ही न सकोगे और 'उत्तम प्रयत्नों में लगे रहना' यह वासना-विजय के लिए आवश्यक है। ४. इसी से मन्त्र में कहते हैं कि सदा उत्तम प्रयत्नों में लगे रहो **यथा**=जिससे **अनाधृष्याः**=वासनाओं से न धर्षण के योग्य **असथ**=हो सको। काम में न लगे हुए व्यक्तियों को ही वासनाएँ सताती हैं। क्रियाशील का ये धर्षण नहीं कर पातीं।

भावार्थ—हम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ें, विघ्नों को जीतें। प्रयत्न में लगे रहें, जिससे वासनाओं का शिकार न हों। प्रयत्न में लगे हुए को प्रभु भी कल्याण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वासना-विजय

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति नऽओजसा स्पर्द्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामीऽअन्योऽअन्यन्न जानन्॥४७॥

१. **असौ**=वह **या**=जो **परेषाम्**=पराये, अर्थात् शत्रुभूत कामादि की सेना **स्पर्द्धमाना**=परस्पर स्पर्द्धा-सी करती हुई **नः ओजसा अभ्येति**=हमारी ओर प्रबलता से आती है, हमपर आक्रमण कर देती है। **ताम्**=उस शत्रुसैन्य को **अपव्रतेन तमसा**=(अप=away) दूर फेंकने के व्रत की इच्छा से **गूहत** =संवृत कर दो, उसे अपने तक न आने दो। २. हम इन्हें अपने से इस प्रकार दूर भगा दें **यथा**=जिससे **अमी अन्यः**=इनमें से एक **अन्यम्**=दूसरे को **न जानन्**=न जान सकें। समान्यतः लोभ से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध और इस प्रकार ये 'काम, क्रोध, लोभ' एक-दूसरे को बढ़ाते हुए, परस्पर स्पर्द्धा-सी करते हुए अर्थात् एक-दूसरे से अधिक प्रबल आक्रमण की कामनावाले होकर हमें आक्रान्त करते हैं। ३. हमने 'अपव्रत तमस्' के द्वारा इन्हें अपने तक नहीं आने देना। हमारा यह दृढ़ निश्चय हो कि 'हम लोभ न करेंगे' काम के वश में न होंगे, क्रोध को प्रबल न होने देंगे।

भावार्थ—वासनाओं के त्याग के दृढ़ निश्चय से ही हम वासनाओं को जीत सकेंगे।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रबृहस्पत्यादयः। छन्दः—पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

बाणों का सम्पतन

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाऽइव।
तन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥४८॥

१. **यत्र**=जहाँ, अर्थात् जिस स्थान से **बाणाः**=(शरो ह्यात्मा) प्रणवरूप धनुष के शर बने हुए आत्मा, निरन्तर प्रणव-जप में लगे आत्मा अथवा 'वण् to sound' प्रभु के नाम का निरन्तर जप करनेवाले आत्मा **सम्पतन्ति**=सम्यक् गतिशील होते हैं और अपने को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रखते हैं, इसीलिए २. **कुमाराः**=कामादि वासनाओं को बुरी तरह से नष्ट करनेवाले होते हैं ३. **विशिखा इव**=ये आत्मा प्रतिज्ञापूर्ति तक अपनी शिखा के न बाँधने का निश्चय किये हुए विशिख-से प्रतीत होते हैं, अथवा ये ज्ञानाग्नि की विशिष्ट ज्वालाओंवाले बनते हैं। ४. **तत्**=तब **नः**=हमें **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का स्वामी परमात्मा **अदितिः**=जिसकी उपासना से खण्डन का भय ही नहीं रहता वह प्रभु **शर्म यच्छतु**=कल्याण व सुख प्राप्त कराये। **विश्वाहा शर्म यच्छतु**=यह हमें सदा सुख प्राप्त कराए। ५. वस्तुतः सुख-प्राप्ति का साधन 'इन्द्र, बृहस्पति, व अदिति' शब्द से सूचित हुआ है। 'हम जितेन्द्रिय बनें, ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी बनें, तथा अपने मनों को वासनाओं से खण्डित न होने दें' तभी कल्याण होगा। जितेन्द्रियता से इन्द्रियों का शोधन करके, ज्ञान से बुद्धि को पवित्र करके तथा वासना-खण्डन से निर्मल मन होकर ही हम सदा कल्याण मार्ग पर आरूढ़ हो सकते हैं। ६. साथ ही हम (क) **बाणाः**=प्रभु-स्तवन में रत रहें। (ख) **सम्पतन्ति**=सम्यक् क्रियाशील हों। (ग) **कुमाराः**=वासनाओं को कुचलनेवाले बनें। (घ) **विशिखा इव**=वासना-विनाश के लिए बद्ध-प्रतिज्ञ हों तथा विशिष्ट ज्ञान-ज्वालाओं को अपने में दीप्त करें।

भावार्थ—हम बाण हों, प्रभु लक्ष्य हों। हम शर की भाँति ब्रह्मरूप लक्ष्य में तन्मय हो जाएँ। यही कल्याण-प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—सोमवरुणदेवाः। छन्दः—आर्चीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वर्म (कवच) छादन

मर्मा॑णि ते॒ वर्म॑णा छादयामि॒ सोम॒स्त्वा॒ राजा॒मृते॒नानु॑ वस्ताम्।
उ॒रोर्वरी॑यो॒ वरु॑णस्ते कृणोतु॒ जय॑न्तं॒ त्वानु॑ दे॒वा म॑दन्तु॥४९॥

१. इस वासना-संग्राम में **ते मर्माणि**=तेरे मर्मस्थलों को **वर्मणा**=कवच से **छादयामि**=आच्छादित करता हूँ। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' इस मन्त्र में 'ब्रह्म' (ज्ञान) ही आन्तर कवच है। इस ज्ञानरूप कवच को पहन लेने पर वासनाओं के आक्रमण का भय जाता रहता है। इस ज्ञानरूप कवच पर टकरा कर वासना-शर टूट जाते हैं और हमारे हृदय-मर्म को विद्ध नहीं कर पाते। २. **त्वा**=तुझे **राजा**=स्वास्थ्य के द्वारा शरीर की दीप्ति देनेवाला **सोमः**=वीर्य **अमृतेन**=रोगों के अभाव से **अनु वस्ताम्**=अनुकूलता से आच्छादित करे। वासना-शरों से हृदय के विद्ध न होने पर शरीर में सोम सुरक्षित रहता है और यह सुरक्षित सोम हमारे शरीरों को रोगाक्रान्त नहीं होने देता। ३. अब **वरुणः**=शरीर से रोगों को निवारण करनेवाली तथा मनों से द्वेष का दूरीकरण करनेवाली देवता **ते**=तुझे व तेरे हृदय को **उरोर्वरीयः**=विशाल से भी विशाल **कृणोतु**=करे, तेरे हृदय को विशाल बनाए। ईर्ष्या-द्वेषादि की भावनाएँ मन को संकुचित करती हैं। साथ ही रोग भी मनुष्य को खिझनेवाला व असहिष्णु बना देते हैं। ४. इस प्रकार द्वेषादि का निवारण करनेवाले **जयन्तम्**=शत्रुओं को जीतनेवाले **त्वा**=तुझे **देवाः अनुमदन्तु**=सब देव हर्षित करें। तेरे अन्दर दिव्य गुणों का विकास हो और ये दिव्य गुण तेरे मनःप्रसाद का कारण बनें।

भावार्थ—१. हम ज्ञान के कवच को धारण कर वासना-शरों से अभेद्य हों। २.

वीर्य-रक्षा से शरीर को नीरोग बनाएँ। ३. द्वेष-निवारण से हमारा हृदय विशाल हो। ४. दिव्य गुण हमारे जीवन को आनन्द-मय बनाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उत्कर्ष की प्राप्ति

उदेनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत।
रायस्पोषेण सꣳसृज प्रजया च बहुं कृधि॥५०॥

१. **एनम्**=गत मन्त्र के अनुसार ब्रह्मरूप कवच के धारण करनेवाले और सोम-रक्षा से अपने को अमर बनानेवाले को **उत्**=इन प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठाकर (उत्=out) **उत्तराम्**=(अतिशयेन उत्=उत्तराम्) उत्कृष्टत्व को, उत्कृष्ट ऐश्वर्य को **नय**=प्राप्त कराइए। २. **अग्ने**=सब उत्कर्षों के प्रापक हे प्रभो। **घृतेन**=मलों के क्षरण (घृ=क्षरण) व ज्ञान की दीप्ति से **आहुत** (हूयमान)=जिसके प्रति अपना अर्पण किया गया है, ऐसे प्रभो! आप इस 'ब्रह्म-कवची, सोम-रक्षक' को उत्कर्ष की ओर ले-चलिए। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने का अभिप्राय है—'अपने जीवन में से मलों को दूर करना और ज्ञान को खूब दीप्त करना'। निर्मल व ज्ञानी बनकर हम प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं। प्रभु का सच्चा उपासक बनने पर वे प्रभु हमारा उद्धार करते हैं। हम प्रकृति के हीन भोगों से ऊपर उठकर उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। ३. हे प्रभो! आप इस उपासक को **रायस्पोषेण संसृज**=संसार-यात्रा को चलाने के लिए आवश्यक धन के पोषण से संसृष्ट कीजिए। यह इतना धन अवश्य प्राप्त करे कि परिवार को, अपने को तथा आये-गये को उत्तमता से पाल सके और सामाजिक कार्यों में भी उचित सहयोग दे पाये ४. **च**=और हे प्रभो! आप इस आपकी शरण में आये हुए को **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **बहुम्**=(बृंहते वर्धते) ख़ूब वृद्धि क़ो प्राप्त हुआ-हुआ, समाज में बढ़े हुए नामवाला, अर्थात् यशस्वी **कृधि**=कीजिए। इसकी सन्तान ऐसी उत्तम हो कि इसका यश चारों ओर फैले। यह यशस्वी सन्तानवाला हो।

भावार्थ—१. प्रभु को अपना कवच बनानेवाला व्यक्ति वासनाओं को जीतकर उत्कर्ष प्राप्त करता है। २. उत्तम धन का संचय करनेवाला होता है। ३. और अपनी सन्तान से यशस्वी बनता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

वशित्व

इन्द्रेमं प्रतरां नय सजातानामसद्वशी।
समेनं वर्चसा सृज देवानां भागदाऽअसत्॥५१॥

१. हे **इन्द्र**=सम्पूर्ण शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **इमम्**=इस अपने उपासक को **प्रतरां नय** =(अतिप्रकर्षः प्रतराम्) प्रकृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। यह प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर ब्रह्मदर्शन का आनन्द प्राप्त करनेवाला हो। बाह्य समृद्धि के स्थान में यह आत्म-सम्पत्ति को प्राप्त क़रनेवाला बने। २. **सजातानाम्**=अपने साथ ही उत्पन्न हुए-हुए काम, क्रोध, लोभ आदि भावों का यह **वशी**=वश में करनेवाला हो; अर्थात् कामादि की प्रबलता न होने देकर यह उनका उचित प्रयोग करनेवाला बने। इसका काम (चाह) इसके वेदाध्ययन का कारण बने। इसका क्रोध बुराई को दूर भगाने के लिए हो। इसका लोभ अधिक-से-अधिक यज्ञों के कर सकने का हो, इन यज्ञों के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के लिए इसमें

प्रबल तृष्णा–पिपासा हो। ३. इस प्रकार **एनम्**=कामादि को वशीभूत करनेवाले इसे **वर्चसा**=वर्चस्=शक्ति से **संसृज**=संसृष्ट कीजिए। कामादि वासनाएँ ही इसकी शक्ति को क्षीण करनेवाली थीं। उनको वश में करके यह शक्ति को पूर्णरूप से सुरक्षित कर सका है। ४. शक्तिशाली बनकर यह **देवानाम्**=देवों का **भागदा**=अंश को देनेवाला **असत्**=हो। देवांश को अलग करके यह सदा यज्ञशेष को खानेवाला हो।

भावार्थ–१. हम उत्कृष्ट अध्यात्म–सम्पत्ति को प्राप्त करें। २. काम, क्रोध आदि सहज भावों को वशीभूत करनेवाले हों। ३. 'अक्षीण वर्चस्' बनें। ४. यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों।

ऋषिः–अप्रतिरथः। देवता–अग्निः। छन्दः–निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः–गान्धारः॥

अतिथियज्ञ

यस्य कुर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्द्धया त्वम्।
तस्मै देवाऽअधि ब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः॥५२॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'देवानां भागदा असत्' शब्दों पर हुई है। यह 'अप्रतिरथ' लोभादि में नहीं फँसता और देवांश को सदा अलग करनेवाला होता है। ये देव प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **यस्य गृहे**=जिसके घर में **हविः कुर्मः**=हम हवि का सेवन करते हैं, अर्थात् यज्ञ करके यज्ञशेष के रूप से भोजनादि करते हैं **तम्**=उस यजमान को **त्वम् वर्द्धय**=आप बढ़ाइए। वह शरीर, मन व बुद्धि तीनों के दृष्टिकोण से उन्नति करनेवाला हो। २. **तस्मै**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले के लिए **देवाः** =समय–समय पर आनेवाले सब विद्वान् **अधि ब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश दें। देवता तो इसे उपदेश दें ही, **च** =और **अयं ब्रह्मणस्पतिः**=यह ज्ञान का पति परमात्मा हृदयस्थरूपेण इसे सदा प्रेरणा प्राप्त कराए। इस अतिथियज्ञ करनेवालें व्यक्ति को विद्वान् अतिथियों से उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है और इसे प्रभु की प्रेरणा सुनने की शक्ति भी मिलती है।

भावार्थ–जिस घर में विद्वान् अतिथि आते रहते हैं, उसे सदा उत्तम उपदेश मिलता है और यह 'शुद्ध हृदय' होकर प्रभु की प्रेरणा को भी सुन पाता है।

ऋषिः–अप्रतिरथः। देवता–अग्निः। छन्दः–विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः–गान्धारः॥

सुप्रतीको विभावसुः

उदु त्वा विश्वे देवाऽअग्ने भरन्तु चित्तिभिः।
स नो भव शिवस्त्वꣳसुप्रतीको विभावसुः॥५३॥

१. गत मन्त्र से '**तस्मै**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले के लिए **देवाः**=विद्वान् लोग **अधिब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश दें' ऐसा कहा था। उसी भावना को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **विश्वेदेवाः**=सब विद्वान् **चित्तिभिः**=ज्ञान के द्वारा **उ**=निश्चय से **उद् भरन्तु**=(ऊर्ध्वं धारयन्तु) ऊपर धारण करें। तुझे विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो। वे विद्वान् तुझे ज्ञान देनेवाले हों। ज्ञान के द्वारा तुझे वासनाओं से ऊपर उठाकर उत्कृष्ट अध्यात्म मार्ग में धारण करें। २. **सः त्वम्**=वह तू **नः**=हमारे लिए, अर्थात् हमारी प्राप्ति के लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला बन। कम–से–कम तू किसी की हानि करनेवाला न हो। ३. **सुप्रतीकः**=तू शोभन मुखवाला हो। तेरे चेहरे पर क्रोध के कारण सदा त्योरियाँ न चढ़ी रहें। ४. **विभावसुः**=तू सदा (विविधासु भासु वसति–द०) नाना प्रकार के विज्ञानों

में निवास करनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन ज्ञान-प्रधान हो।

भावार्थ—१. देवता तुझे ज्ञान के द्वारा विषय-वासनाओं से ऊपर उठाएँ। २. तू सबका कल्याण करनेवाला हो। ३. तेरा मुख मुस्कराहट से युक्त, अतएव सुन्दर हो। ४. विविध विज्ञानों में तू निवास करनेवाला बने।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—दिक्। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अमति-दुर्मतिबाधनम्

पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषेऽअधि यज्ञोऽअस्थात्॥५४॥

१. वैदिक साहित्य में राष्ट्र को पाँच भागों में बाँटा है। 'प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची तथा ऊर्ध्व' इन पाँच दिशाओं के दृष्टिकोण से उनमें रहनेवाले लोगों को भी 'पञ्च दिशः' कहा गया है। इन पाँचों दिशाओं में रहनेवाले लोग **देवीः**=उस देव के उपासक हैं। ये प्रभु की उपासक प्रजाएँ **यज्ञम् अवन्तु**=यज्ञ की रक्षा करें। इनका जीवन यज्ञमय हो। २. **देवीः**=ये ज्ञान के प्रकाशवाली दिव्य गुणसम्पन्न प्रजाएँ **अमतिम्**=अमनन व अज्ञान को, अर्थात् तमोगुण को तथा **दुर्मतिम्**=दुष्ट बुद्धि को, अयथार्थ ज्ञान के कारण पाप में प्रवृत्त होनेवाली राजस् बुद्धि को **अपबाधमानाः**=ये अपने से दूर रोकनेवाली हों। ३. ये प्रजाएँ **रायस्पोषे**=धन का पोषण होने पर **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के पति उस प्रभु की **आभजन्तीः**=उपासना करेनवाली हों। उन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ ये अनुभव करें। उन यज्ञों का इन्हें अहंकार न हो जाए और न ही धन कमाने का अहंकार हो। वे धन को प्रभु का ही समझें, अपने को ट्रस्टी मात्र। ४. और **रायस्पोषे**=धन का पोषण होने पर **यज्ञः**=यज्ञ इनके घरों में **अधि अस्थात्**=आधिक्येन स्थित हो। धन की वृद्धि यज्ञियवृत्ति की कमी का कारण न बन जाए। प्रायः सांसारिक ऐश्वर्य की वृद्धि संसार के विलास का कारण बन जाती है। हममें तो यह श्रेष्ठतम कर्मों की वृद्धि का ही कारण बने।

भावार्थ—१. हमारे राष्ट्र के सब लोग परमेश्वर के उपासक हों। २. यज्ञ की रक्षा करें। ३. प्रकाशमय जीवनवाले होकर तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठें। ४. धन की वृद्धि होने पर यज्ञपति प्रभु की उपासना से दूर न हो जाएँ। ५. धनी होकर अधिक यज्ञिय वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

तप्त घर्म

समिद्धेऽअग्नावधि मामहानऽउक्थपत्रऽईड्यो गृभीतः।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः॥५५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर यज्ञों के खूब होने की बात कही है। उसी से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि अप्रतिरथ **समिद्धे अग्नौ**=खूब दीप्त अग्नि में, यज्ञों के द्वारा उस प्रभु की **अधि-मामहानः**=(उपरिभावेन देवानामत्यर्थं पूजकः—उ०) अतिशयेन पूजा करता है। यज्ञों के द्वारा—श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा ही वस्तुतः प्रभु की उपासना होती है। हम यज्ञों को अपनाकर प्रभु के निर्देश का पालन करते हैं। २. **उक्थपत्रः**=(उक्थानि पत्रं वाहनं यस्य) यह प्रभु के स्तुतिपरक मन्त्रों को ही अपना वाहन बनाता है। उनपर आरूढ़ होकर यह अपनी जीवन-यात्रा को पूरा करता है। यह प्रभु का स्मरण करता है और

जीवन-संग्राम को जारी रखता है। ३. **ईड्य:**=(ईड्=स्तुति, तत्र साधु) स्तुति में उत्तम होता है? इसका प्रभु-स्तवन आडम्बरमात्र न होकर वास्तविक होता है। यह स्तुति से अपने सामने एक लक्ष्य-दृष्टि को उपस्थित करता है। ४. **गृभीत:**=(गृभीतं ग्रहणमस्यास्ति इति-द०) यह ज्ञान के ग्रहणवाला होता है अथवा मनरूप लगाम को सम्यक्तया पकड़े हुए होता है। ५. ये मन को वश में करनेवाले लोग **तप्तं घर्मम्**=(तप्=दीप्तौ) खूब दीप्त शक्ति को (घर्म=शक्ति की उष्णता) **परिगृह्य**=ग्रहण करके **अयजन्त**=सर्वथा यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। इनका ज्ञान (तप्तं) व इनकी शक्ति (घर्म) दोनों यज्ञों का साधन बनते हैं। ६. **यत्**=जब-तब **देवा:**=ये ज्ञानदीप्त लोग **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के हेतु से **यज्ञम्**=उस यजनीय प्रभु को (यज्ञो वै विष्णु:) **अयजन्त**=अपने साथ सङ्गत करते हैं। इस प्रभु-सङ्ग से ही ये अपने अन्दर शक्ति को भरनेवाले होते हैं।

भावार्थ-१. यज्ञों द्वारा प्रभु-पूजन होता है। २. प्रभु-स्तवन ही जीवन-यात्रा में वाहन बने। ३. हम उत्तम स्तुति करनेवाले बनें। ४. ज्ञान का ग्रहण करें। ५. ज्ञान-दीप्त शक्ति प्राप्त करके यज्ञशील हों। ६. प्रभु के मेल से अपने में शक्ति का सञ्चार करें।

ऋषि:-अप्रतिरथ:। देवता-अग्नि:। छन्द:-विराडार्षीपङ्क्ति:। स्वर:-पञ्चम:॥

देवश्री:-श्रीमना:-शतपया:

दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्री: श्रीमना: शतपया:।
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्योऽअध्वर्यन्तोऽअस्थु: ॥५६॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु के साथ सङ्गतीकरण' पर थी। इसी बात से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि **दैव्याय**=देवों का हित करनेवाले, **धर्त्रे**=सबका धारण करनेवाले तथा **जोष्ट्रे**=पिता के नाते जीवों की अपने पुत्रों की भाँति प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाले प्रभु के लिए (जुषी प्रीतिसेवनयो:) **देवश्री:** =(देवान् श्रयति) दिव्य गुणों का सेवन करनेवाले बनो। प्रभु दैव्य हैं, देवों का हित करनेवाले हैं। हम भी दिव्य गुणों का धारण करनेवाले बनेंगे और प्रभु से किये जानेवाले हित के पात्र होंगे। २. प्रभु-अर्चन के लिए **श्रीमना:** (श्रयषां श्री:=सेवनम्)=सेवा की मनोवृत्तिवाला बनता है, प्रभु भी तो 'धर्त्रे' सबका धारण करनेवाले हैं, यह भी औरों के धारण का प्रयत्न करता है। ३. प्रभु **जोष्ट्रे**=सभी का प्रीतिपूर्वक सेवन कर रहे हैं, यह भी 'शतपया:'=सैकड़ों आप्यायनों=वर्धनोंवाला बनता है। अपना आप्ययन करता हुआ यह औरों का भी आप्यायन करता है। ४. इस प्रकार दिव्य गुणों को **परिगृह्य**=ग्रहण करके **देवा:**=ये देववृत्तिवाले लोग **यज्ञम्**=यज्ञ को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सदा यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। ५. ये **देवा:**=देव **देवेभ्य:**=देवों के लिए, अर्थात् अपने में निरन्तर दिव्य गुणों की वृद्धि के लिए **अध्वर्यन्त:**=(अध्वरम-हिंसा कर्तुमिच्छन्त:) अहिंसा को चाहते हुए **अस्थु:**=ठहरते हैं। 'अहिंसा' ही अन्य सब यम-नियमों के मूल में है। ये अहिंसा ही हमें 'देवश्री:-श्रीमना:-व शतपया:' बनाएगी।

भावार्थ-१. हम दिव्य गुणों का आश्रय करके ''दैव्य'' प्रभु के हित के पात्र बनें। २. हम श्रीमना: सेवावृत्तिवाले बनकर औरों का धारण करते हुए ''धर्ता'' प्रभु का अर्चन करें। ३. औरों की सेवा के लिए सैकड़ों आप्यायनोंवाले बनें और इस प्रकार प्रेम से सबका भला करते हुए 'जोष्ट्रे' प्रभु की पद-पद्धति पर चलें। ४. यज्ञशील हों। ५. दिव्य गुणों की वृद्धि के लिए 'अहिंसा' को मौलिक आधार बनाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्षीबृहती:। स्वरः—मध्यमः॥

सात्त्विक अन्तः शान्ति

वीतꣳहुविः शमितꣳशमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति।
ततो वाकाऽआशिषो नो जुषन्ताम्॥५७॥

१. **हविः वीतम्**=गत मन्त्र के 'अध्वर्यन्'=अहिंसा को चाहनेवाले से हवि का ही भक्षण किया गया है। इसने सदा 'हु दानादनयोः' दानपूर्वक ही अदन किया है। सदा यज्ञशेष खानेवाला ही बना है, अथवा पवित्र पदार्थों का ही भक्षण किया है। २. **शमितम्**=सात्त्विक भोजन से इसने अपने मन को शान्त बनाया है। ३. **शमिता**=यह शम को धारण करनेवाला **यजध्यै** (यष्टुम्)=यज्ञों के लिए प्रवृत्त हुआ है। ४. **तुरीयः** =(तुरीयमस्यास्तीति) यह चौथे कदमवाला हुआ है, **यत्र**=जहाँ कि **यज्ञः**=वह पूजनीय, सङ्गति व समर्पण के योग्य प्रभु **हव्यम्**=इस अर्पण करनेवालों में उत्तम पुरुष को **एति**=प्राप्त होता है। माण्डूक्य में 'सोयमात्मा चतुष्पात्'=यह आत्मा चतुष्पात् है, ऐसा कहा है। वेद में 'पृथिवी का विजय,' अन्तरिक्ष का विजय, द्युलोक का विजय व स्वयं देदीप्यमान ज्योति की प्राप्ति' इन चार कदमों का वर्णन हुआ है। चौथे कदम में उस 'स्वर्ज्योति' की प्राप्ति होती है। ५. **ततः**=इस ज्योति के प्राप्त होने पर **वाकाः**=(वचनानि ऋग्यजुःसामलक्षणानि—द०) सब ज्ञान की वाणियाँ इसे प्राप्त होती हैं और **आशिषः**='अभीष्ट अर्थशंसन', अर्थात् उत्तम इच्छाएँ **नः**=हमें **जुषन्ताम्**=सेवन करती हैं, अर्थात् हमारी सब उत्तम कामनाएँ पूर्ण होती हैं। ब्रह्म के प्राप्त होने पर सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है और सब कामनाएँ सत्य हो जाती हैं।

भावार्थ—१. हम सात्त्विक भोजनवाले हों। २. शुभ गुणयुक्त, ३. यज्ञशील हों। ४. परमात्मा-प्राप्तिरूपं चौथे कदम को रखनेवाले बनें। ५. जिससे हम ज्ञानी व सत्य कामनाओंवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सूर्यरश्मिः

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ऽअजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः॥५८॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि उसे वेदवाणियाँ प्राप्त होती हैं। वहीं से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हैं कि यह अप्रतिरथ **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान की रश्मियोंवाला बनता है। **हरिकेशः**='हरि' दुःखहरण व 'क'=सुख का ईश होता है। यह यथासम्भव औरों के दुःखों को हरनेवाला तथा सुख प्राप्त करानेवाला होता है। ३. **पुरस्तात्**=यह निरन्तर आगे बढ़ता है। ४. **सविता**=(सु=अभिषव) यह उत्पादक होता है, सदा निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहता है औरों को भी उत्तम कार्यों की प्रेरणा देता है। (षू प्रेरणे)। ५. इसके जीवन से **अजस्रम्**=निरन्तर **ज्योतिः**=प्रकाश **उदयाम्**=(उद्गच्छति) उद्गत होता है। ६. यह **पूषा**=अपनी शक्तियों का ठीक से पोषण करनेवाला **तस्य**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **प्रसवे**=अनुज्ञा में **याति**=चलता है। सब कार्यों को प्रभु की प्रेरणा के अनुसार करता है। ७. **विद्वान्**=अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझता है। ८. **विश्वा भुवनानि सम्पश्यन्**=सब प्राणियों को देखता है (look after), उनका ध्यान करता है। ९. **गोपाः**=इन्द्रियों का रक्षक होता है, उन्हें विषय-पंक में फँसने से बचाता है।

भावार्थ—'अप्रतिरथ' ऋषि वह है जो सूर्य के समान ज्ञान की किरणोंवाला है।

'दुःखहरण व सुखप्रापण' जिसका ध्येय है। वह निरन्तर आगे और आगे बढ़ रहा है, उत्पादन के कार्य में लगा है, निरन्तर ज्ञान की ज्योति को बढ़ाता हुआ, शक्तियों का पोषण करता हुआ प्रभु की अनुज्ञा में चल रहा है, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझता हुआ, सभी का ध्यान करता हुआ, जितेन्द्रियता से जीवन यापन करता है।

ऋषिः—विश्वावसुः। देवता—आदित्याः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पूर्व व अपर केतु

विमानऽएष दिवो मध्यऽआस्तऽआपप्रिवान्रोदसीऽअन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्॥५९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'अप्रतिरथ' सब वासनाओं को जीतकर 'सब वसुओं को प्राप्त करनेवाला बनता है' और 'विश्वावसु' हो जाता है। यह 'विश्वावसु' **विमानः**='विशेषेण मिमीते' प्रत्येक क्रिया को बड़ा माप-तोल कर करता है। २. **एषः**=यह विश्वावसु **दिवो मध्ये**=ज्ञान के प्रकाश में **आस्ते**=निवास करता है। ३. **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष=हृदय को **आपप्रिवान्**=(प्रा पूरणे) न्यूनताओं से रहित करके शक्ति-सम्पन्न बनाता है। मस्तिष्क को ज्ञान से, शरीर को शक्ति से तथा हृदयान्तरिक्ष को 'नैर्मल्य' व सत् (सत्य) से पूरण करता है। इसके मस्तिष्क में ज्योति है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इसके शरीर में नीरोगता उभरती है 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'। इसके हृदय में सत्य है 'असतो मा सद्गमय'। ४. **सः**=वह विश्वावसु **विश्वाचीः**=(विश्वं अञ्चन्ति) सर्वव्यापक प्रभु की ओर ले-जानेवाली क्रियाओं को **अभिचष्टे**=देखता है, अर्थात् प्रभु की ओर ले-जानेवाली क्रियाओं को ही करता है। **घृताचीः**=(घृ क्षरणदीप्तिः) यह उन क्रियाओं को करता है जो उसे शरीर के मल के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति की ओर ले-जाती हैं, और इस प्रकार यह ५. **अन्तरा**=अपने हृदयदेश में **पूर्वं केतुम्**=उत्कृष्ट ज्ञान को पराविद्या व ब्रह्मविद्या को **च**=तथा **अपरं केतुम्**=अपराविद्या को, प्रकृति-ज्ञान को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह अपराविद्या से ऐहलौकिक वसु को प्राप्त करता है तो पराविद्या से 'पारलौकिक वसु' को। इस प्रकार दोनों वसुओं को प्राप्त कर यह सचमुच 'विश्वावसु' बन जाता है।

भावार्थ—'विश्वावसु' वह है १. जो सब क्रियाओं को माप-तोलकर करता है। २. सदा ज्ञान में निवास करता है। ३. शरीर-मन व मस्तिष्क का पूरण करता है। ४. उन क्रियाओं को करता है जो इसे प्रभु व ज्ञान की ओर ले-जाएँ। ५. अपने हृदय में 'परा व अपरा' विद्या को—ज्ञान-विज्ञान को स्थान देता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—आदित्याः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पितृगृह-प्रवेश (अन्तरक्षण)

उक्षा समुद्रोऽअरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥६०॥

१. गत मन्त्र के अन्त में विश्वावसु के ज्ञान-विज्ञान के धारण का उल्लेख है। उसे धारण करके यह **उक्षा** =उस ज्ञान का सेचन करनेवाला बनता है, उस ज्ञान को प्रजाओं में फैलाता है। २. **समुद्रः**=इस कार्य को करता हुआ यह सदा आनन्द में निवास करता है (स+मुद्)। हर्ष-शोक के वश में न होकर आनन्दमय बना रहता है। ३. **अरुणः**=अपनी तेजस्विता से 'आ-रक्त' वर्णवाला होता है। ४. **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला होता है। ऐसा बनकर ५. **पूर्वस्य पितुः**=उस सबके प्रथम पिता प्रभु के **योनिम्**= स्थान में

आविवेश=प्रवेश करता है, अर्थात् उस प्रभु की उपासना करता हुआ प्रभु से मेल करने का प्रयत्न करता है। ६. **मध्ये दिवः निहितः**=यह सदा ज्ञान के मध्य में निवास करता है। ७. **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासाम्) सब ज्ञान-रश्मियों का सम्पर्क करनेवाला होता है अथवा 'अल्पतनु' होता है, शरीर को बड़ा मोटा-ताज़ा करने में नहीं लगा रहता, परन्तु ८. **अश्मा**=शरीर को पत्थर-जैसा दृढ़ बनाता है। ९. शरीर की दृढ़ता के लिए ही **विचक्रमे** =विशिष्ट पुरुषार्थ करनेवाला होता है और **रजसः**=इस शरीररूप लोक के **अन्तौ**=अन्तों को, मस्तिष्क व चरणों को **पाति**=बड़ा सुरक्षित रखता है। इसका ज्ञान उत्तम व पवित्र होता है और उस ज्ञान के अनुसार इसके आचरण भी पवित्र होते हैं। विचार और आचार दोनों पवित्र होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान का प्रसार करनेवाला, सदा आनन्दमय, तेजस्वी, उत्तमता से अपना पूरण करनेवाला 'अप्रतिरथ' परमात्मा में पहुँचता है। सदा ज्ञान में स्थित (नित्य सत्यस्थ) ज्योतियों के स्पर्शवाला, दृढ़ शरीर यह निरन्तर पुरुषार्थ करता है और अपने विचार-आचार की बड़ी रक्षा करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दा सुतजेताः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रथीनां रथीतम

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥६१॥

१. गत मन्त्र में 'पूर्व पिता के गृह में प्रवेश' का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी पूर्व पिता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **विश्वाः गिरः**=सब वेदवाणियाँ उसी का **अवीवृधन्**=वर्धन करती हैं, अर्थात् सारी वाणियाँ प्रभु की महिमा का गायन करती हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'=सारे वेद उसी परमात्मा का वर्णन करते हैं। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'=सारी ऋचाएँ उस परम अविनाशी सर्वव्यापक प्रभु में ही स्थित हैं। उस प्रभु में २. जो **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली व सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। ३. **समुद्रव्यचसम्**=(स-मुद्) सदा आनन्द में निवास करनेवाले तथा अत्यन्त विस्तारवाले हैं। वस्तुतः सर्वव्यापकता व विस्तार के कारण ही आनन्दमय हैं। ४. **रथीनां रथीतमम्**=रथों के सर्वोत्तम रथी हैं। सर्वोत्तम रथ-संचालक हैं, इसीलिए एक सच्चा भक्त अपने शरीररूप रथ की बागडोर भी उस प्रभु के हाथ में सौंप देता है। ५. **वाजानां पतिम्** =सब शक्तियों के वे स्वामी हैं। उनका भक्त बनकर मैं भी इन शक्तियों को क्यों न प्राप्त करूँगा? ६. **सत्पतिम्** =वे प्रभु सज्जनों के रक्षक हैं। हम भी 'सत्' को अपनाकर, सद्भाव से सत्कर्मों को करते हुए उस प्रभु से रक्षणीय बनें।

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ उस प्रभु का वर्णन कर रही हैं जो प्रभु 'इन्द्र, समुद्रव्यचस, रथीनां रथीतम, वाजानां पति व सत्पति' है। हम भी 'वासनारूप शत्रुओं का नाश करनेवाले 'इन्द्र' बनें, मन को महान् बनाकर मनःप्रसाद का साधन करें। शरीररूप रथ की बागडोर प्रभु को सौंपकर शक्तियों के पति बनें। जीवन में 'सत्' के रक्षक हों। इन उत्तम इच्छाओं के द्वारा जन्म-मरण के विजेता हम इस मन्त्र के ऋषि 'जेता मधुच्छन्दा हों'।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

देवहूः सुम्नहूः

देवहूर्यज्ञऽआ च वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञऽआ च वक्षत्।
यक्षदग्निर्देवो देवाँ२॥ऽआ च वक्षत्॥६२॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवहूः**=(देवान् वक्षत्) देवों को पुकारनेवाला है, अर्थात् यज्ञ से हम

में दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। **च**=वह यज्ञ हमें दिव्य गुणों को **आवक्षत्**=(आवहतु—म०) प्राप्त कराए। २. **यज्ञः**=यह यज्ञ **सुम्नहूः**=(सुम्नं ह्वयति) सुख को घर में पुकारनेवाला है। **च**=और यह **आवक्षत्**=सुख को हमारे घरों में प्राप्त करानेवाला है। एवं, यज्ञों के दो परिणाम हैं—(क) दिव्य गुणों की वृद्धि तथा (ख) सुखों की प्राप्ति। ३. **अग्निः यक्षत्**=(यजतु) यह आगे बढ़ने की वृत्तिवाला व्यक्ति यज्ञ करे **च**=और **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **देवान् आवक्षत्**=इसे दिव्य गुणों को प्राप्त कराए। इस वाक्य शैली से यह स्पष्ट है कि हम यज्ञ करते हैं और हमें दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। 'यज्ञ' 'ऋतुओं की अनुकूलता, वायुशुद्धि व नीरोगता' आदि के द्वारा इस लोक के सुखों को देता है, साथ ही लोभ की वृत्ति पर कुठाराघात करता हुआ यह हमारी सब अशुभ-वृत्तियों को भी समाप्त करता है और हममें दिव्य गुणों का विकास करता है। दिव्य गुणों का प्रारम्भ 'धृति' से है, अतः मन्त्र का ऋषि 'विधृति' है, विशिष्ट धृतिवाला।

भावार्थ—१. यज्ञ हमारे लिए सुखमय स्थिति उत्पन्न करके इस लोक को अच्छा बनाते हैं। २. हमारी अशुभ-वृत्तियों को समाप्त करके, दिव्यता को जन्म देकर आमुष्मिक निःश्रेयस के साधक होते हैं।

ऋषिः—विधृतिः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उद्ग्राभ-निग्राभ

वाजस्य मा प्रसवऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत्।

अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२॥ऽअकः ॥६३॥

१. **वाजस्य प्रसवः**=सब शक्तियों का उत्पत्तिस्थान प्रभु **मा**=मुझे **उद्ग्राभेण**=उत्कृष्ट वसुओं के ग्रहण से **उदग्रभीत्**=ऊपर ग्रहण करे, अर्थात् विषय-वासनाओं से ऊपर उठाकर अपने समीप प्राप्त कराए। वस्तुतः शक्ति की उत्पत्ति व रक्षा से ही शरीर में नीरोगता उत्पन्न होती है। मन की पवित्रता के लिए भी यह अत्यन्त आवश्यक है। शक्ति में ही सब गुणों का वास है और अन्त में यह विषय-वासनओं से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति प्रभु से ग्रहण के योग्य होता है, प्रभु इसको स्वीकार करते हैं। २. **अध**=अब **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **मे**=मेरे **सपत्नान्**=काम, क्रोधादि शत्रुओं को **निग्राभेण**=निग्रह, वशीकरण के द्वारा **अधरान् अकः**=पराजित करने का अनुग्रह करें। प्रभुकृपा से मैं इन शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला बनूँ। ३. इन शत्रुओं के साथ संग्राम में बड़े धैर्य से चलता हुआ यह व्यक्ति सचमुच 'वि-धृति' है। इस विधृतित्व के कारण ही अन्त में यह विजयी बनता है।

भावार्थ—१. प्रभु मुझमें शक्ति उत्पन्न करें, जिससे उत्कृष्ट गुणों के ग्रहण से मैं प्रभु का प्रिय बन पाऊँ। २. प्रभु काम-क्रोधादि सपत्नों को मेरे वशीभूत करें।

ऋषिः—विधृतिः। देवता—इन्द्राग्नी। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ब्रह्म-वर्धन

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवाऽअवीवृधन्।

अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम् ॥६४॥

१. **देवाः**=विद्वान् लोग **उद्ग्राभं च**=उत्कृष्ट वसुओं के बारम्बार ग्रहण से **च**=तथा **निग्राभम्**=वासनाओं के निग्रह से (आभीक्ष्ण्ये णवुल्) **ब्रह्म अवीवृधन्**=अपने अन्दर ज्ञान का व प्रभु का वर्धन करते हैं। ज्ञान व प्रभु-वर्धन का मुख्य उपाय यही है कि हम उत्कृष्ट

सत्य आदि गुणों का ग्रहण करते चलें और निकृष्ट कामादि का निग्रह करनेवाले बनें। 'सत्य को ग्रहण करें, असत्य को छोड़ें' यही तो प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। २. **अध**=अब **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि=जितेन्द्रियता (इन्द्र) व आगे बढ़ने की वृत्ति व बुराइयों को भस्म करने की वृत्ति (अग्नि) **मे**=मेरे **विषूचीनान्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में विचरनेवाले (विष्वग् अञ्चनान्) **सपत्नान्**=काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं को **व्यस्यताम्**=विशेषरूप से दूर फेंक दें। वस्तुतः 'इन्द्र-शक्ति का विकास व आगे बढ़ने की प्रबल कामना' ये दो बातें ऐसी हैं जिनके होने पर वासनाओं का जन्म सम्भव ही नहीं होता। मैं जितेन्द्रिय बनकर अपने अन्दर बने हुए असुरों के दुर्गों का दहन कर डालता हूँ। ब्रह्म का वर्धन करता हुआ मैं भी 'त्रिपुरारि' का छोटा रूप बन जाता हूँ।

भावार्थ—१. हम सत्य का ग्रहण व असत्य का त्याग करके ब्रह्म वर्धन करनेवाले बनें। २. जितेन्द्रियता व अग्नित्व के द्वारा हम विरोधी वासनाओं का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—विधृतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मुक्ति में स्थिति

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यꣳहस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठꣳस्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥६५॥

१. **अग्निना**=यज्ञ की अग्नि से, अर्थात् अग्निहोत्र की अग्नि के द्वारा **नाकं क्रमध्वम्**=स्वर्ग का आरोहण करनेवाले बनो। यह यज्ञाग्नी तुम्हारे जीवन को स्वर्ग का जीवन बनाये। यह तुम्हारे सब इष्ट-कामों का दोहन करता हुआ तुम्हें सुखी करे। २. **उख्यम्**=उखा से=स्थाली से संस्कृत किये हुए अन्न को **हस्तेषु बिभ्रतः**=हाथों में धारण करते हुए, अर्थात् यह अन्न तुम्हारे हाथों की कमाई से प्राप्त किया गया हो। ३. **दिवःपृष्ठम्**=ज्ञान के पृष्ठ पर, अर्थात् सदा ज्ञानारूढ़ हुए-हुए **स्वर्गत्वा**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करके **देवेभिः**=दिव्य गुणों से मिलकर **आध्वम्**=ठहरो। अथवा **देवेभिः**=ब्रह्म में ही रमनेवाले, परमात्मा के साथ विचरनेवाले मुक्तात्माओं के साथ **मिश्राः**=मिलकर **आध्वम्**=ब्रह्म में स्थित होओ। ४. एवं, प्रस्तुत मन्त्र में मुक्ति का निम्नक्रम प्रदर्शित हुआ है। (क) हम यहाँ यज्ञमय जीवन बनाकर स्वर्ग को पाने का प्रयत्न करें। (ख) अपने हाथों से कमाकर संस्कृत अन्नों का सेवन करनेवाले बनें (पहले यज्ञ, पीछे खाना) यह क्रम भी महत्त्वपूर्ण है। (ग) ज्ञान के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करना। (घ) इस प्रकार उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति के समीप पहुँचना। (ङ) और उस ब्रह्म से ही अन्य मुक्तात्माओं के साथ मिलकर आसीन होना। जीवन्मुक्त पुरुष यहाँ भी प्रभु-निष्ठ होते हुए परस्पर प्रेम से मिलकर ज्ञान-चर्चाएँ करते हैं। ऐसी ही ज्ञान-चर्चाओं के परिणामरूप 'उपनिषद्' आदि ग्रन्थ बनें।

भावार्थ—१. यज्ञाग्नि हमारे जीवनों को नीरोग व सुखी बनाये। २. हम पुरुषार्थ से अन्नों का अर्जन करें। ३. ज्ञानप्रधान जीवन बिताएँ। ४. उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति के समीप उपस्थित हों। ५. देवों से मिलकर उस प्रभु में स्थित हुए-हुए ज्ञानचर्चाएँ करें।

ऋषिः—विधृतिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

पूर्व दिशा को लक्ष्य करके

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरोऽअग्निर्भवेह।
विश्वाऽआशा दीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥६६॥

१. पिछले मन्त्र के 'क्रमध्वम्' का व्याख्यान प्रस्तुत मन्त्र में है। **क्रमध्वम्**=पुरुषार्थ करो। क्या पुरुषार्थ करें? प्रभु कहते हैं कि **प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि**=प्राची जोकि प्रकृष्ट दिशा है, उसका लक्ष्य करके आगे और आगे बढ़। पूर्व दिशा में सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्ड उदय होकर आगे और आगे बढ़ते प्रतीत होते हैं, अतः यह आगे बढ़ने की दिशा है (प्र=अञ्च)। तू भी इस दिशा से यही प्रेरणा ले कि मुझे निरन्तर आगे बढ़ना है। २. सबसे पहला काम तो यह कर कि हे **अग्ने**=आगे बढ़नेवाले जीव! **विद्वान्**=तू ज्ञानी बन। अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला बन। ३. इन ज्ञान प्राप्त करनेवाले अग्नियों में तू **इह अग्नेः पुरः अग्निः भव**=यहाँ—इस जीवन में, प्रगतिशील साथियों के अग्रभाग में होनेवाला अग्निः अग्रेणी=अपने को प्रथम स्थान में प्राप्त करानेवाला बन। ४. तू अपने ज्ञान से **विश्वाः आशाः दीद्यानः**=सब दिशाओं को दीप्त करता हुआ **विभाहि** =विशेष रूप से दीप्तिवाला बन। ५. और **नः ऊर्जम्**=हमारे इस बल व प्राणशक्ति देनेवाले अन्न को **द्विपदे चतुष्पदे**=दोपाये व चौपायों के लिए **धेहि**=धारण कर। अन्न का सेवन तूने अकेले नहीं करना। 'अकेला खानेवाला पापी होता है', इस बात को भूलना नहीं।

भावार्थ—१. हम पूर्व दिशा को लक्ष्य बनाकर आगे और आगे बढ़ें। २. आगे बढ़नेवालों में भी आगे बढ़कर 'शिरोमणि' (topmost) बनने का प्रयत्न करें। ३. अपने ज्ञान से सब दिशाओं को दीप्त करें। ४. सभी के लिए अन्न का धारण करते हुए अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—पिपीलिकामध्याबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऊपर और ऊपर

पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥६७॥

१. पिछले मन्त्र में 'पूर्व दिशा का लक्ष्य करके आगे बढ़ने' का उल्लेख था। उसी आगे बढ़ने को स्पष्ट करके कहते हैं कि **अहम्**=मैं **पृथिव्याः**=इस पृथिवी से **उत्**=ऊपर उठकर **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक में **आरुहम्**=आरोहण करूँ। २. इसी प्रकार **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर **दिवम् आरुहम्** =द्युलोक में आरोहण करूँ। ३. **दिवः**=द्युलोक का **नाकस्य**=जो सुखमय प्रदेश है, जिसमें दुःख नहीं है उस स्वर्गप्रदेश के **पृष्ठात्**=पृष्ठ से **स्वर्ज्योतिः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को **अहम्**=मैं **अगाम्** =प्राप्त होऊँ। ४. इस जीवन-यात्रा में हमें आगे और आगे बढ़ना है। 'आरोहणमाक्रमण'—'चढ़ना और आगे कदम रखना' यही तो जीवित पुरुष का मार्ग है। जितने-जितने हमारे कर्म उत्तम होते हैं उतना-उतना हमारा जन्म उत्कृष्ट लोकों में होता है—(क) सामान्यतः ५० पुण्य व ५० पाप होने पर हम इस पृथिवीलोक पर जन्म लेते हैं। (ख) पुण्य ८० व पाप २० रह जाने पर हमारा जन्म चन्द्रलोक में होता है, वहाँ सुख अधिक और दुःख बहुत कम हो जाता हैं। (ग) अब पुण्य ९९ तथा पाप एक-आध रह जाने पर हमारा जन्म द्युलोक में होता है जहाँ सुख-ही-सुख है। (घ) इस जीवन-यात्रा की पूर्ति उस दिन होती है जब हम १०० के १०० पुण्यकर्म करते हुए उनके अभिमान से ऊपर उठे हुए द्युलोक से भी ऊपर उठकर उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ब्रह्म को प्राप्त करने पर यह आने-जाने का चक्र समाप्त होता है। ५. पृथिवी आदि से ऊपर उठने का भाव इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है (क) 'हम पृथिवी पृष्ठ से उठकर अन्तरिक्ष में पहुँचें' अर्थात् 'पृथिवी शरीरम्'

शरीर की शक्तियों का विस्तार करें, परन्तु शरीर में ही न उलझे रह जाएँ। केवल शारीरिक उन्नति सम्भवतः हमें 'हाथी' की योनि में भेज देगी। (ख) अतः हम शरीर के साथ हृदयान्तरिक्ष का भी ध्यान करें। हम अपने हृदय को बड़ा निर्मल बनाने का यत्न करें, परन्तु हृदय की निर्दोषता पर ही रुक गये तो भी गौ का जीवन मिल जाएगा। (ग) हृदय से ऊपर उठकर हम द्युलोक का आरोहण करनेवाले बनें। यह द्युलोक 'मूर्धा' है। हम मस्तिष्क की उन्नति करनेवाले बनें। (घ) और अब मस्तिष्क को खूब विकसित करके हम अपनी इस अग्र्या बुद्धि से, तीक्ष्ण व सूक्ष्म बुद्धि से उस प्रभु का दर्शन करें।

भावार्थ—हम पृथिवी से अन्तरिक्ष को, अन्तरिक्ष से द्युलोक को, तथा द्युलोक से स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उपायत्रयी

स्व॒र्यन्तो॒ नापे॑क्षन्त॒ऽआ द्याᳪं॑रोहन्ति॒ रोद॑सी।
य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑धार॒ᳫंसुवि॑द्वाᳪंसो वि॒तेनि॒रे ॥६८॥

१. गत मन्त्र में स्वर्ज्योति की प्राप्ति का उल्लेख है। उसी के साधनों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **स्वर्यन्तः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर जाते हुए योगवृत्तिवाले पुरुष **नापेक्षन्ते**=सांसारिक वस्तुओं की बहुत अपेक्षा नहीं करते, अर्थात् भौतिक आवश्यकताओं को कम और कम करते चलते हैं। २. **रोदसी**=जरा-मृत्यु शोकादि का निरोध करनेवाले (रुणद्धि जरामृत्युशोकादीन्—म०) **द्याम्**=प्रकाशमयलोक में **आरोहन्ति**=आरोहण करते हैं। अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। यह ज्ञान इनका **रोदसी**=रोध्री= जन्म-मरणचक्र का निरोध करनेवाला बनता है। ३. **ये सुविद्वांसः**=ज्ञान-वृद्धि करनेवाले उत्तम ज्ञानी **विश्वतोधारं यज्ञम्**=जगत् के धारणहेतु, यज्ञ को **वितेनिरे**=विस्तृत करते हैं, अर्थात् ये विद्वान् लोकहित के कार्यों में लगे रहते हैं।

भावार्थ—स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर चलनेवाले लोग। १. भौतिक आवश्यकताओं को कम करते हैं। २. दुःख-शोक निरोधक ज्ञान का अपने में वर्धन करते हैं और ३. जगत् के धारणहेतुभूत यज्ञों को विस्तृत करते हैं।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देवयतां प्रथमः 'भृगुभिः सजोषाः'

अग्ने॒ प्रेहि॑ प्रथ॒मो दे॑वय॒तां चक्षु॑र्दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम्।
इय॑क्षमाणा॒ भृगु॑भिः स॒जोषा॒ः स्व॒र्यन्तु॒ यज॑मानाः स्व॒स्ति ॥६९॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—**अग्ने**=हे अग्रगति को सिद्ध करनेवाले जीव! तू **प्रेहि**= आगे बढ़। २. **प्रथमः देवयताम्**=दिव्य गुणों की कामना करनेवालों में तू प्रथम बन। ३. इस संसार में तू **देवानाम्**=सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि सब देवों का **चक्षुः** (चष्टे)=देखनेवाला बन। इनका तत्त्वज्ञान प्राप्त कर। इनका तत्त्वज्ञान ही तुझे इनके ठीक उपयोग से स्वस्थ बनाएगा। ४. **उत**=और **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के भी **चक्षुः**=व्यवहार को तू सम्यक् देखनेवाला बन। उनकी मनोवृत्ति को समझने पर ही तू सबके साथ उत्तमता से वर्त्तता हुआ व्यर्थ के वैर-विरोध से बचा रहेगा। ५. **इयक्षमाणाः**=(यष्टुम् इच्छन्तः)

यज्ञों के करने की इच्छावाले होते हुए तथा **भृगुभिः सजोषाः**=(भ्रस्ज पाके) उत्तम परिपक्व विद्वानों के साथ प्रीतिपूर्वक ज्ञान-चर्चाओं का सेवन करते हुए **यजमानाः**=पूजा-सङ्गतीकरण व दान वृत्तिवाले लोग **स्वस्ति**=रोग व शोकादि से आहत न होते हुए **स्वःयन्तु**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति को प्राप्त करें।

भावार्थ—१. हम अग्नि बनें, आगे बढ़ें, दिव्य गुणों का वर्धन करनेवालों में प्रथम हों। २. प्राकृतिक देवों का ज्ञान प्राप्त करें, जिससे उनके ठीक उपयोग से स्वस्थ हों। मनुष्यों का ज्ञान प्राप्त करें, जिससे उनके स्वभाव को समझकर वर्त्तते हुए झगड़ों में न उलझ जाएँ। ३. यज्ञशील बनकर ज्ञानियों के साथ ज्ञानचर्चाओं का सेवन करते हुए स्वस्थ बनकर प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आदर्श पति-पत्नी

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳसमीची।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवाऽअग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥७०॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि 'विधृति'=विशिष्ट धैर्य के साथ आगे बढ़ता हुआ सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला बनता है और 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) कहलाता है। जो पति-पत्नी परस्पर सहायता करते हुए 'कुत्स' बनते हैं, उनका चित्रण करते हुए कहते हैं कि २. **नक्तोषासा**=(ओलस्जी व्रीडे, उष दाहे) पत्नी 'नक्त' है 'व्रीडा' उसका मुख्य गुण है, वह उचित लज्जा को कभी नहीं त्यागती। पति 'उषस्' है, यह सब बुराइयों को जलाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार ये उचित लज्जाशील व दोष दहनवाले पति-पत्नी ३. **समनसा**=समान मनवाले होते हैं। इनके मनों में कभी विरोधी भावनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। ४. **विरूपे**=ये दोनों विशिष्ट रूपवाले होते हैं, अत्यन्त तेजस्वी होते हैं। ५. **समीची**=(सम्यक् अञ्चतः) ये मिलकर उत्तम गतिवाले होते हैं। इनकी क्रियाओं में विरोध न होकर सामञ्जस्य होता है। ६. ये दोनों **एकं शिशुं धापयेते**=अद्वितीय सन्तान का पालन करते हैं। (यहाँ एक सन्तान का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। महाभारत में कृष्ण और रुक्मिणी की भी एक सन्तान है, 'प्रद्युम्न'। रामायण में कौसल्या की भी एक ही सन्तान है, 'राम'। महाभारत में युधिष्ठिर की भी एक ही सन्तान है, 'श्रुतकीर्ति'।) ७. **द्यावाक्षामा**=पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त बनता है तो पत्नी पृथिवीलोक के समान सहनशील (क्षम्)। इन दोनों के **अन्तः**=मध्य में **रुक्मः**=चमकता हुआ वह सन्तान **विभाति**=शोभता है। ८. उत्तम गुणों को धारण करनेवाले **देवाः**=इस घर के सब व्यक्ति **अग्निं धारयन्**=उस अग्रेणी प्रभु को अपने अन्दर धारण करते हैं और ९. **द्रविणोदाः**=(द्रव्यप्रदातारः—द०) धनों का दान देनेवाले होते हैं। प्रभु को अपनाने-वाला त्यागवृत्तिवाला होता है। धन व प्रभु दोनों की उपासना सम्भव नहीं। प्रभु की उपासना की पहचान ही यह है कि धनासक्ति कम हुई या नहीं। प्रभुसक्त धनासक्त नहीं होता।

भावार्थ—१. पति-पत्नी ने उचित व्रीडाशील व दोष-दहनवाला होना है। २. समान मनवाला ३. विशिष्ट रूपवाला। ४. ये दोनों (समीची) सङ्गतिवाले होकर एक सन्तान का सुन्दर पालन करते हैं। ५. इनके दीप्त मस्तिष्क व दृढ़ शरीर के मध्य में निर्मल मन चमकता है। ६. ये देव बनकर प्रभु को अपने निर्मल मन में धारण करते हैं और ७. धनों का दान देनेवाले होते हैं। ये प्रभु की निम्न शब्दों से उपासना करते हैं—

ऋषिः—कुत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

उपासना व स्तवन

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वꣳसाहस्रस्य रायऽईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा॥७१॥

१. **अग्ने**=(पावक इव प्रकाशमय—द०) हे प्रभो! आप अग्नि के समान प्रकाशमय हो, मुझे भी अपनी इस ज्ञानाग्नि से दीप्त कीजिए। २. **सहस्राक्ष**=अनन्त आँखोंवाले आप हैं। ३. **शतमूर्द्धम्**=असंख्यात मस्तिष्कवाले आप हैं (सहस्रशीर्षा पुरुषः)। ४. **शतं ते प्राणाः सहस्रं व्याना**=अनन्त आपके प्राण हैं और अनन्त ही आपके व्यान हैं। (मैं भी आपकी कृपा से बहुद्रष्टा, दीप्त मस्तिष्क व प्रबल प्राणशक्ति-सम्पन्न बनूँ)। ५. **त्वम्**=आप **साहस्रस्य**=अनन्त प्राणियों के धारण करनेवाले **रायः**=ऐश्वर्य के **ईशिषे**=ईश हैं। वस्तुतः 'लक्ष्मी' तो आपकी पत्नी ही है, वह सभी का पालन कर रही है। आपकी कृपा से मेरा धन भी सभी का धारण करनेवाला बने, मैं कृपणता की वृत्ति से ऊपर उठूँ। ६. **तस्मै ते**=उस आपकी हम **विधेम**=पूजा करते हैं और **वाजाय**=शक्ति की प्राप्ति के लिए तथा त्याग की भावना (वाज=sacrifice) की वृद्धि के लिए **स्वाहा**=(स्व, हा) हम अपने को आपके प्रति अर्पित करते हैं। आपके सम्पर्क से ही हममें शक्ति व सद्गुणों का सञ्चार होगा।

भावार्थ—हे प्रभो! आप अनन्त सिर, आँखों व प्राणोंवाले हैं। आपकी कृपा से हम भी अपनी शक्तियों को बढ़ानेवाले हों। आपका धन सभी का पालन करता है, हम भी कृपण न होकर औरों का पालन करनेवाले हों। आपके सम्पर्क से शक्तिलाभ करें और त्यागशील हों।

सूचना—आचार्य ने भावार्थ में लिखा है कि योगी अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर, नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि के कार्यों को कर सकता है।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सुपर्ण

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद।
भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिशऽउद् दृꣳह॥७२॥

१. गत मन्त्र के उपासक को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **सुपर्णः असि**=(शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य—द०) तू अच्छे-अच्छे पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त है। २. **गरुत्मान्**=(गुर्वात्मा—द०) बड़े मन व आत्मा के बल से युक्त है। ३. **पृथिव्याः पृष्ठे सीद**=इस शरीररूप पृथिवी के पृष्ठ पर तू आसीन हो, अर्थात् शरीर पर तेरा पूर्ण आधिपत्य हो, यह तेरे शासन में हो। ४. **भासा**=अपनी दीप्ति से **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **आपृण**=(आपूरय—द०) पूरित कर। तेरा हृदय निर्मल हो, चमकता हुआ हो, वहाँ प्रभु का व प्रेम का प्रकाश हो। उसमें ईर्ष्या-द्वेषादि की कुटिलता न हो। ५. **ज्योतिषा**=तू ज्ञान की ज्योति से **दिवम्**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **उत्तभान**=ऊपर थाम=उन्नति को पहुँचा। तेरा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से अधिकाधिक उन्नत होता चले। ६. **तेजसा**=तेजस्विता से **दिशः**=तू चारों दिशाओं को ('य आशानां आशापालाः' अर्थव०, आशाः=दिशा) अपने शरीर के चारों द्वारों को **उद् दृंह**=उत्कृष्टता से दृढ़ कर। तेरा (क) मुखद्वार अनिष्ट भोजन

को अन्दर न जाने दे और तेरा (ख) मलद्वार मल को बाहर फेंकता हुआ सचमुच 'पायु'=रक्षक हो। (ग) तेरा 'शिश्न' (मूत्रद्वार) मूत्र को ही बाहर फेंकनेवाला हो, रेतस् को नहीं और इस प्रकार (घ) तेरा 'विदृतिद्वार' अन्त में तुझे इस ब्रह्म की ओर ले-जानेवाला बने। यह 'ब्रह्मरन्ध्र' इस नाम को सार्थक करे।

भावार्थ—हम सुपर्ण बनें। गरुत्मान् बनकर शरीर पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करें। हृदय को दीप्त करके मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करें। हमारे इस शरीर-दुर्ग के चारों द्वार दृढ़ हों।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्ः। **स्वरः**—धैवतः॥

आजुह्वान-सुप्रतीक

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमासीद साधुया।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॥७३॥

१. गत मन्त्र की ही प्रेरणा इस मन्त्र में इन शब्दों से दी जा रही है—**आजुह्वानः**=तू सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बन (हु दान-अदन)। आचार्य के शब्दों में 'सत्कारेण आहूतः'=तू इस प्रकार से शोभन आचरणवाला हो कि तुझे सब सत्कार से बुलाएँ। २. **सुप्रतीकः**=तू शोभन मुखवाला हो। तेरा चेहरा तेजस्वी हो। ३. **पुरस्तात्**=तू निरन्तर आगे बढ़नेवाला बन। **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **स्वं योनिम्**=अपने घर में **साधुया**=श्रेष्ठ कर्मों से **आसीद**=आसीन हो। गृहप्रवेश के समय तूने व्रत लिया था कि 'शिवं प्रपद्ये' में कल्याणकर कर्मों को ही करूँगा, अतः तूने घर में कभी अशुभ व्यवहार नहीं करना। ५. **अस्मिन् सधस्थे** =यह घर तुम्हारा मिलकर (सह) रहने का स्थान हो, यहाँ कभी कलह न हों **अधि उत्तरस्मिन्**=इस उत्कृष्ट गृह में **विश्वे देवाः**=घर के सब लोग देव=विद्वान् व उत्तम गुणोंवाले बनकर **सीदत**=बैठो **च**=तथा **यजमानः**=प्रत्येक व्यक्ति यज्ञ के शीलवाला होकर यहाँ निवास करे। 'यजमानः' यह एकवचन इस बात का सूचक है कि सभी अपने-अपने को यज्ञशील बनाने का प्रयत्न करें—दूसरों के सुधार में ही न लगे रहें।

भावार्थ—हम आजुह्वान व सुप्रतीक बनकर उन्नति करते हुए घरों में उत्तम कर्मों में आसीन हों। मिलकर चलें, देव बनें, यज्ञशील हों। यज्ञ ही तो हमें बुराइयों से बचाकर 'कुत्स' बनाएगा। यज्ञ से हम बुराइयों को भी भस्म कर देंगें।

ऋषिः—कण्वः। **देवता**—सविताः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुमति-वरण

ताँ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाँ सहस्रधारां पयसा महीं गाम्॥७४॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि 'कुत्स' बुराइयों के संहार के लिए प्रस्तुत मन्त्र में सुमति का वरण करता है। सुमति-वरण के कारण ही इसका नाम 'कण्व'=मेधावी हो जाता है। यह कहता है कि **सवितुः**=सब ऐश्वर्यों के दाता—सबके उत्पादक सविता की, **वरेण्यस्य**=वरने के योग्य प्रभु की, प्रकृति और प्रभु में प्रभु ही तो वरने योग्य हैं, **ताम्**=उस **चित्राम्**=अद्भुत अथवा चेतना देनेवाली **विश्वजन्याम्** =सब जनों का हित करनेवाली **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **अहम्**=मैं **आवृणे**=सर्वथा वरता हूँ। २. **अस्य** =इस प्रभु की **याम्**=जिस **प्रपीनाम्**=प्रकृष्ट आप्यायन, वर्धनवाली, **सहस्रधाराम्**=शतशः वेदवाणियोंवाली (धारा =वाक्) अथवा

सहस्रों का धारण करनेवाली, **पयसा महीम्**=आप्यायन के कारण महनीय **गाम्**=तत्त्वार्थ की गमयित्री–ज्ञापिका सुमति को **कण्वः**=मेधावी पुरुष **अदुहत्**=अपने में दोहन करता है, अपने में भरता है। ३. प्रभु के 'सवितुः तथा वरेण्यस्य' ये दो नाम यह सूचना दे रहे हैं कि यह सुमति तुम्हें सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त कराएगी, तथा सचमुच यह वरणीय है, हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाली है। ४. इस सुमति के विशेषण पद इसके निम्न लाभों का संकेत कर रहे हैं (क) **चित्राम्**=यह अद्भुत योगैश्वर्यों को देनेवाली है तथा हमें उत्कृष्ट चेतना प्राप्त करानेवाली है (चित्+रा)। (ख) **विश्वजन्याम्**=यह सब लोकों का हित करनेवाली है। (ग) **प्रपीनाम्**=यह प्रकृष्ट आप्यायन व वर्धनवाली है। (घ) **सहस्रधाराम्**=शतशः वेदवाणियों में इसका प्रतिपादन हुआ है। (ङ) **पयसा महीम्**=अपनी आप्यायन-शक्ति से यह महनीय है, पूजनीय है। (च) **गाम्**=तत्त्वार्थ की गमयित्री है, वास्तविकता का ज्ञान देनेवाली है।

भावार्थ—हम प्रभु की सुमति का ही वरण करें और सचमुच 'कण्व'=मेधावी बनें। मेधावी बनकर निम्न शब्दों से प्रभु स्तवन करें—

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

परम-जन्म

विधेम॑ ते पर॒मे जन्म॑न्नग्ने वि॒धेम॒ स्तोमै॒रव॑रे स॒धस्थे॑।
यस्मा॒द्योने॑रु॒दारि॑था॒ यजे॒ तं प्र त्वे ह॒वींषि॑ जुहु॒रे समि॑द्धे ॥७५॥

१. हे **अग्ने**=(योग-संस्कारों से अथवा) सुमति से दुष्ट कर्मों को दहन करनेवाले प्रभो! हम **परमे जन्मन्** =सर्वोत्कृष्ट जन्म के होने पर **ते विधेम**=आपकी पूजा (उपासना) करें। सुमति की प्राप्ति ही सर्वोत्कृष्ट जन्म है। इस सुमति का विकास करता हुआ पुरुष प्रभु की सर्वोत्तम पूजा करता है। २. हे अग्ने! हम **अवरे**=इस सबसे अवर स्थान में स्थित शरीर से जोकि **सधस्थे**=सब कोशों के एक स्थान में स्थित होने की जगह है अथवा जहाँ इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी एकचित्त हैं, उस शरीर में **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों से **ते विधेम**= तेरी पूजा करते हैं। हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन व हमारी बुद्धि ये सब-के-सब इस शरीर में स्थित होकर तेरा ही स्तवन करते हैं। ३. **यस्मात् योने**=जिस भी कारण से **उदारिथाः**=आप उत्कृष्टता से प्राप्त होते हो **तम्**=उसको **यजे**=अपने साथ सङ्गत करता हूँ। मैं आपकी प्राप्ति के लिए (क) बुद्धि का विकास करता हूँ, यही 'परम जन्म'='उत्कृष्ट विकास' है। (ख) शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने का यत्न करता हूँ। इस स्वस्थ शरीर में ही सह स्थित होकर बुद्धि, मन व इन्द्रियाँ आपका स्तवन करेंगी। (ग) आपकी प्राप्ति के जो और भी साधन हैं उन्हें मैं अपने में ग्रहण करता हूँ। ४. **त्वे समिद्धे**=आपके समिद्ध होने पर ये स्तुति करनेवाले 'गृत्स' लोग **हवींषि प्रजुहुरे**=हवियों को अपने में आहुत करते हैं। हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हैं। सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से सात्त्विक वृत्तिवाले बनकर सदा आपका स्तवन करते हुए कर्त्तव्य का पालन करते हैं।

भावार्थ—१. हम प्रभु की उपासना ज्ञान के विकास के द्वारा करें, यही परम उपासना है। २. मन, बुद्धि व इन्द्रियों से प्रभु का स्मरण करें यही मध्यम उपासना है। तथा ३. प्रभु-प्राप्ति के उपायों को अपनाएँ, यही उपासना का प्रारम्भ है। इस सबके लिए मैं हवियों का ग्रहण करूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

शश्वन्तः वाजाः

प्रेद्धोऽअग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ।
त्वाᳪशश्वन्तऽउपयन्ति वाजाः॥७६॥

१. प्रभु-स्तवन करनेवाला (गृत्स) वासनाओं को वश में करके 'वशिष्ठ' बनता है और प्रभु से कहता है कि **प्रेद्धः**=मेरे हृदय में दीप्त हुए-हुए **अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! **दीदिहि**=आप मुझे खूब ही दीप्त कर दीजिए। प्रभु का प्रकाश होते ही हृदय जगमगा उठता है। २. हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **पुरः**=आगे **अजस्रया सूर्म्या**=अनुपक्षीण प्रकाश से (सूर्मि=Radiance, lustre) प्रस्तुत होओ। आपका अनुगामी बनकर मैं निरन्तर आगे बढ़ता चलूँ। हे प्रभो! आप **यविष्ठ**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) बुराइयों को दूर करनेवाले और अच्छाइयों का मेरे साथ सम्पर्क करानेवाले हैं। इसी प्रकार तो आपके प्रकाश में मैं उन्नत और उन्नत होता चलता हूँ। ३. हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **शश्वन्तः**=द्रुतगतिवाले, अर्थात् निरन्तर अनालस्य से कर्म में लगे हुए लोग **वाजाः**=(वाज=power) जो शक्ति के पुञ्ज हैं तथा (वाज=sacrifice) त्याग की वृत्तिवाले हैं, वे **उपयन्ति**=समीप प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति का उपाय यही है कि (क) मनुष्य अपने नियत कर्म में लगा रहे। (ख) शक्तिशाली बने। (ग) त्याग की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—हम अपने हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले बनेंगे तभी हमारी बुराइयाँ समाप्त होंगी और हम अच्छाइयों को प्राप्त होंगे। हम क्रियाशील बनें, शक्तिशाली हों, त्याग की वृत्ति को अपनाएँ। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—परमेष्ठीः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

क्रतु + भद्र

अग्ने तमद्याश्वन्न स्तोमैः क्रतुन्न भद्रᳪहृदिस्पृशम्। ऋध्यामा तऽओहैः॥७७॥

१. गत मन्त्र का वसिष्ठ प्रभु के नेतृत्व में, उसी की प्रेरणा के प्रकाश में चलता हुआ उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और 'परमे-ष्ठी' नामवाला होता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले हे प्रभो! **ते ओहैः**=तेरे प्राप्त करानेवाली (वह प्रापणे) **स्तोमैः**=स्तुतियों से **अद्य**=आज **अश्वं न क्रतुम्**=अश्व के समान शक्ति को **ऋध्याम**=अपने में बढ़ाएँ। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है, हम प्रभु के उपासन से शक्ति का लाभ करें। वस्तुतः प्रभु का उपासन हमारे हृदयों को पवित्र करता है, वासना न रहने से हम शक्तिशाली बनेंगे ही। २. **क्रतुम्**=शक्ति के अनुसार **भद्रम्**=कल्याण को **ऋध्यामा**=अपने में बढ़ाएँ, अर्थात् शक्तिशाली हों और शक्ति को लोगों के कल्याण में विनियुक्त करें। उस कल्याण में जोकि **हृदिस्पृशम्**=लोगों के हृदयों को स्पर्श करनेवाला है, अर्थात् हमारी भद्रता लोगों के हृदयों को प्रभावित करे। ३. वस्तुतः परमेष्ठिता=उच्च स्थान में स्थिति यही है कि मनुष्य (क) घोड़े के समान शक्तिशाली बने। घोड़ा 'अश्नुते अध्वानम्' मार्ग का व्यापन करनेवाला है, इसी लिए शक्तिशाली है। मैं भी सदा कर्मों में व्याप्त जीवन बिताऊँ और शक्तिशाली बनूँ। (ख) शक्तिशाली बनकर भद्र=कल्याण करनेवाला बनूँ और इस प्रकार कल्याण करनेवाला बनूँ कि सबके हृदयों में अपना स्थान बना लूँ।

भावार्थ—१. कर्मों में लगे रहकर हम घोड़े की भाँति शक्तिशाली बनें। २. शक्ति प्राप्त करके सभी का कल्याण करें। सभी के हृदयों में हमारे लिए स्थान हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वकर्मा। छन्दः—विराडतिजगती। स्वरः—निषादः।।

वीतिहोत्र-ऋतावृध्

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवाऽइहागमन्वीतिहोत्राऽऋतावृधः। पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यꣳहविः ॥७८॥

१. वसिष्ठ प्रार्थना करता है कि मैं **मनसा**=मननशक्ति के साथ तथा **घृतेन**=शरीर के मलों के क्षरण द्वारा स्वास्थ्य की दीप्ति के साथ **चित्तिम्**=विज्ञान को **जुहोमि**=ग्रहण करता हूँ, अपने अन्दर आहुत करता हूँ, अर्थात् (क) मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करता हूँ। (ख) मन को मनन से व चिन्तन से युक्त करता हूँ, तथा (ग) शरीर को मलों के क्षरण द्वारा स्वास्थ्य की दीप्तिवाला करता हूँ। २.ऐसा इसलिए करता हूँ **यथा** =जिससे कि **इह**=इस—मेरे जीवन में **देवाः**=दिव्य गुण **आगमन्**=आएँ। दिव्य गुणों की वृद्धि हो, जिन दिव्य गुणों के कारण **वीतिहोत्रा**='वीतिः सर्वतः प्रकाशिता होत्रा वाग् येषाम्' मैं प्रकाशमय वाणी को प्राप्त करता हूँ तथा **ऋतावृधः**=मुझमें ऋत का वर्धन होता है। ये देव 'वीतिहोत्र व ऋतावृध' हैं। ३. **भूमनो विश्वस्य पत्ये**=इस महान् संसार के पति के लिए **विश्वकर्मणे**=सारे विश्व के निर्माण करनेवाले के लिए **जुहोमि**=मैं अपने को अर्पित करता हूँ। उस प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करके मैं और भी अधिक प्रकाशमय व ऋतमय जीवनवाला होता हूँ। ४. मेरे जीवन से **विश्वाहा**=सदा **हविः**=यह दानपूर्वक अदन **अदाभ्यम्**=अहिंसित होता है, अर्थात् मेरी दानपूर्वक अदन की वृत्ति कभी नष्ट नहीं होती। 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपदेश को मैं भूलता नहीं। अपने पर पूर्ण प्रभुत्व पानेवाला ही ऐसा कर सकता है, अतः यह आत्मवशी व्यक्ति 'वसिष्ठ' कहलाता है, यह इस वशित्व के कारण ही उत्तम निवासवाला होता है।

भावार्थ—१. मैं ज्ञान—मननशक्ति व स्वास्थ्य को धारण करता हूँ। २. मैं अपने जीवन में दिव्य गुणों को अपनाकर प्रकाशमय ज्ञानवाणी को प्राप्त करता हूँ व अपने में ऋत का वर्धन करता हूँ। ३. उस विश्वकर्मा विश्वपति के लिए अपना अर्पण करता हूँ। ४. मेरा जीवन सदा हवि को ग्रहण करनेवाला होता है। मैं केवलादी नहीं बनता।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः।।

सप्त

सप्त तेऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा ॥७९॥

१. पिछले मन्त्र में 'चित्तिं जुहोमि' शब्दों से अपने में ज्ञान की आहुति देने का उल्लेख है। इस ज्ञानयज्ञ के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपने को ज्ञान से प्रकाशित करनेवाले जीव! अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले जीव! **ते**=तेरी **सप्त समिधः**=सात प्राण ही समिधाएँ हैं। अग्नि को समिधाएँ समिद्ध करती हैं, तेरे ज्ञानाग्नि को सात प्राण (प्राणा वाव इन्द्रियाणि, कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) समिद्ध करते हैं, अतः ये प्राण ही उस अग्नि की समिधाएँ हैं (प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येते समिन्धते श० ९।२।३।४४)। २. **सप्त जिह्वाः**=सात ही इस ज्ञानाग्नि की ज्वालाएँ हैं। 'महत्तत्व' का ज्ञान एक ज्वाला है तो 'अहंकार' का ज्ञान दूसरी ज्वाला है और 'पंचतन्मात्राओं' का ज्ञान अगली पाँच ज्वालाएँ हैं। ये सात ही प्रकृति-विकृतियाँ हैं, इनका ज्ञान ज्ञानाग्नि की सप्त ज्वाला के रूप से यहाँ कहा गया है। ३. **सप्त ऋषयः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन तथा बुद्धि ये सात ऋषि इस ज्ञानयज्ञ

को चलानेवाले हैं। ४. **सप्त धाम प्रियाणि**=सात तेरे प्रियधाम हैं। यह ज्ञान वेद के सात गायत्र्यादि छन्दों में रक्खा गया है, अतः ये सात छन्द उस ज्ञान के प्रिय निवास-स्थान हैं। (छन्दांसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि श० ९।२।३।४४।) ५. **सप्त होत्राः**=ये वेद की गायत्र्यादि सात छन्दों में विभक्त सात वाणियाँ **सप्तधा**=सात प्रकार से **त्वा यजन्ति**=तेरे साथ सङ्गत होती हैं। ६. तू इन **सप्त योनीः**=ज्ञान की उत्पत्ति की कारणभूत सात वाणियों को **घृतेन**=मलों के क्षरण व दीप्ति के द्वारा **आपृणस्व**=(आपूरयस्व- उ०) अपने में पूरित कर। ७. **स्वाहा**=इस अपने में आपूरणरूप क्रिया के लिए तू (स्व) अपना (हा) त्याग करनेवाला बन। जितनी-जितनी त्यागवृत्ति बढ़ेगी उतना-उतना ही तू ज्ञान को अपने में आपूरित करने में समर्थ होगा।

भावार्थ—प्राण ज्ञानाग्नि को समिद्ध करते हैं, क्योंकि इन प्राणों के द्वारा इन्द्रियों के मल दग्ध होकर इन्द्रियाँ ज्ञानयज्ञ को करने में अधिक समर्थ हो जाती हैं।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। देवता—मरुतः। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

प्राणसाधना से ज्ञान+क्रिया की शुद्धि

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्मांश्च।
शुक्रश्चऽऋतपाश्चात्यंहाः ॥८०॥

१. गत मन्त्र में प्राणसाधना के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करने का उल्लेख हुआ है। प्राणायाम से इन्द्रियों के मल दग्ध हो जाते हैं, 'पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि' चमक उठते हैं। ये ही सात ऋषि बन जाते हैं जो इस साधक के ज्ञान को बढ़ानेवाले होते हैं। इनसे समुचित कार्य लेनेवाले ये साधक भी 'सप्त ऋषयः' बन जाते हैं। उनका वर्णन इन मन्त्रों में दिया गया है। उन प्राणों के साधन से साधक जैसा बनता है उसी आधार पर प्राणों का भी नाम रक्खा गया है। इस मन्त्र में सात मरुतों=प्राणों का वर्णन है। इनकी साधना से साधक (क) **शुक्रज्योतिः च**=(शुक्रं ज्योतिर्यस्य) दीप्त ज्ञान की ज्योतिवाला बनता है। (ख) **चित्रज्योतिः च**=(चित्रं ज्योतिर्यस्य) यह अद्भुत=असाधारण ज्ञान की ज्योतिवाला होता है। (ग) **सत्यज्योतिः च**=(सत्यं ज्योतिर्यस्य) इसका ज्ञान सत्य होता है। योगदर्शन में इसी ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली बुद्धि को 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा गया है। (घ) **ज्योतिष्मान् च**=यह सदा प्रकाशमय अन्तःकरणवाला होता है। इसके मस्तिष्क में किसी प्रकार की उलझन व अन्धकार नहीं होता। ३. ज्ञान को प्राप्त करके यह क्रियाओं को समाप्त नहीं कर देता। यह (क) **शुक्रश्च** (शुक् गतौ) खूब क्रियाशील बनता है (क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः)। (ख) यह अपनी क्रियाओं से **ऋतपाः च**=ऋत का पालन करता है। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति बड़ी नियमित, ठीक (right) इसकी गति होती है। (ग) और इस गतिशीलता व नियमितता से यह **अत्यंहाः**=पाप को लाँघ जाता है। (अंहः अतिक्रान्तः)। एवं, इस प्राणसाधना करनेवाले का जीवन ज्योतिर्मय व क्रियामय होता है। इसका ज्ञान उज्ज्वल होता है और क्रियाएँ निष्पाप।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारी ज्योति व क्रिया का वर्धन करनेवाली हो।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। देवता—मरुतः। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

प्राणसाधना से युक्ताहारविहार

ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च। मितश्च सम्मितश्च सभराः॥८१॥

१. गत मन्त्र का प्राणसाधक संसार के स्वरूप को भी ठीक-ठीक समझता है। वह यह जान लेता है कि यह संसार (क) **ईदृङ् च**=(अनेन तुल्यः) ऐसा ही है। संसार के अन्दर मुझे कृतघ्नता व पिशुनता लगती है। कई बार मैं इस संसार से घृणा करने लगता हूँ, परन्तु प्राणसाधना करने पर मुझे ये सब-कुछ स्वाभाविक-सी दिखती हैं और मैं संसार को उसके ठीक रूप में देखने लगता हूँ और कह उठता हूँ कि **ईदृङ् च**=यह तो ऐसा है ही (ख) **अन्यादृङ् च**=(अन्येन समानः) दूसरे-जैसा भी तो है ही। इसमें कुछ 'दुर्हृद्' हैं तो 'सुहृद्' भी हैं ही। दुर्जन हैं तो सज्जन भी हैं। (ग) **सदृङ् च**=(समानं पश्यति) बहुत-से व्यक्ति ठीक मेरे-जैसे भी यहाँ दिखते हैं। (घ) और **प्रतिसदृङ् च**=(तं तं प्रतिसदृशं पश्यति) ऐसे भी लोग हैं जोकि उस-उस व्यक्ति के अनुकूल अपने को बना लेते हैं। संसार में मेधावी पुरुष अपने सम्पर्क में आनेवाले पुरुषों के साथ अपने को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता ही है। २. इस प्रकार संसार के स्वरूप को ठीक-ठीक देखता हुआ, लोगों की मनोवृत्तियों को समझता हुआ यह अपने निजू व्यवहार में **मितः च**=(मितं अस्य अस्ति) प्रत्येक वस्तु को मितरूप से, अर्थात् माप-तोलकर करनेवाला होता है। **संमितश्च**=खान-पान में तो पूर्णतया मित होता है। सम्यक्तया मित आहार-विहार के कारण यह पूर्ण स्वस्थ रहता है। ३. सब कर्मों में युक्त चेष्ट तथा मित आहार-विहारवाला होने के साथ यह **सभराः**=(सह बिभर्ति) मिलकर भरण-पोषण करनेवाला होता है, कभी अकेला खानेवाला नहीं बनता।

भावार्थ—प्राणसाधना से १. यह संसार को ठीक रूप में देखता है। २. मपी-तुली क्रियाओंवाला होता है। ३. सबके साथ मिलकर खाता है, 'केवलादी' नहीं बनता। दूसरे शब्दों में यज्ञशेष खानेवाला होता है।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। देवता—मरुतः। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ऋत+सत्य

ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च। धर्त्ता च विधर्त्ता च विधारयः ॥८२॥

१. यह प्राणसाधना करनेवाला **ऋतश्च**=अपनी भौतिक क्रियाओं में ऋत का पालन करनेवाला होता है। इन क्रियाओं को ठीक समय व स्थान पर करता हुआ यह शारीरिक स्वास्थ्य को सिद्ध करता है। २. **सत्यश्च** =अन्य प्राणियों के साथ अपने व्यवहार में यह सत्य का पालन करता है। नैतिक नियमों का पालन करता हुआ यह अपने सामाजिक आचरण को सत्य व शुद्ध रखता है। इसी से यह सभी का प्रिय होता है। ३. **ध्रुवश्च**=यह अपने 'ऋत व सत्य' से ध्रुव होता है। किसी प्रकार के आलस्य व आराम की वृत्ति इसे विचलित नहीं कर पाती। यह राग-द्वेष से प्रेरित होकर सत्य को नहीं छोड़ देता। ४. **धरुणश्च**=यह अच्छाइयों को अपने अन्दर धारण करनेवाला बनता है। अच्छाइयों का आधार होता है। ५. **धर्त्ता च**=सब उत्तमताओं का धरुण बनता हुआ यह औरों का भी धारण करनेवाला बनता है। इसके जीवन में लोकहित की भावना कभी नष्ट नहीं हो जाती। ६. **विधर्त्ता च**=(विधृ=to catch; to restrain) अपने जीवन से धर्तृत्व की भावना को नष्ट न होने देने के लिए यह अपनी इन्द्रियों व मन को वश में करता है, इन्हें विषयों की ओर जाने से रोकता है। ७. **विधारयः**=इन्द्रियों व मन को विषयों से रोकने के लिए यह उन्हें विशिष्ट कर्त्तव्यों में धारण किये रखता है। इन्द्रियों व मन के दमन व शमन का सरल व प्रभावशाली प्रकार यही है कि उन्हें सदा विविध यज्ञादि क्रियाओं में व्यापृत रक्खा जाए।

भावार्थ—प्राणसाधक का जीवन ऋत व सत्यमय होता है। वह नीति-मार्ग में ध्रुवता से चलता है। अच्छाइयों का धरुण बनता है। सभी का धारण करता है। इन्द्रियों व मन को वशीभूत करता है और इन्हें विविध उत्तम क्रियाओं में लगाये रखता है।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। देवता—मरुतः। छन्दः—भुरिगार्च्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

सेनजित्-सुषेण

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च।
अन्तिमित्रश्च दूरेऽअमित्रश्च गणः॥८३॥

१. यह प्राणसाधक **ऋतजित् च**=(ऋतेन जयति) ऋत के द्वारा, भौतिक क्रियाओं में अत्यन्त नियमितता के द्वारा रोगों का पराजय करनेवाला तथा स्वास्थ्य का विजय करनेवाला होता है। २. **सत्यजित् च**=(सत्येन जयति) इसी प्रकार अपने सत्य व्यवहार से यह सबके हृदयों को जीतनेवाला होता है। ३. **सेनजित् च**=(सेनां जयति) यह काम, क्रोधादि की सेना को जीतनेवाला होता है (शतसेना अजयत् साकमिन्द्रः) शतशः वासनाओं के बल को यह पराजित करनेवाला होता है और स्वयं ४. **सुषेणः च**='धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य व अक्रोध' आदि उत्तम गुणों की सेनावाला होता है। ५. **अन्तिमित्रश्च** =(मिद्-स्नेहने) सबके साथ स्नेह की भावना इसके हृदय में अन्तिकतम होती है (अन्तौ=समीपे मित्रा यस्य—द०) अथवा 'प्रमीतेः त्रायते'=अपने को पाप से बचाने की भावना इसके समीप होती है, इस भावना को यह विस्मृत नहीं होने देता। ६. **दूरे अमित्रश्च**=अमित्रता व शत्रुता की भावना को यह अपने से दूर रखता है। किसी के प्रति राग-द्वेष को यह अपने में नहीं आने देता। साथ ही पाप की भावना को अपने से परे रखता है। ७. इस प्रकार 'अच्छाई को लेते हुए और बुराई को दूर करते हुए यह **गणः**='गण्यते' प्रभु-भक्तों में गिना जाता है। प्रभु महादेव है, तो यह उनका 'गण' होता है।

भावार्थ—हम ऋत से स्वास्थ्य का विजय करें। सत्य से हृदय की वासना-सैन्य को जीतनेवाले बनें। धृति आदि उत्तम गुणों की सेनावाले हों। स्नेह की भावना हमारे समीप हो और द्वेष की भावना दूर हो। इस प्रकार हम सच्चे प्रभु-भक्तों में परिगणित हों।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

ईदृक्ष-एतादृक्ष

ईदृक्षासऽएतादृक्षासऽऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षासऽएतन मितासश्च
सम्मितासो नोऽअद्य सभरसो मरुतो यज्ञेऽअस्मिन्॥८४॥

१. ये प्राणसाधक **ईदृक्षासः**=(इदं पश्यन्ति)=इस संसार को देखते हैं। इस संसार को ठीक रूप में देखने के कारण वे संसार को घृणा से देखनेवाले व हर समय घबराये हुए-से नहीं होते। २. **एतादृक्षासः**=(एतान् पश्यन्ति) ये प्राणसाधक इन जीवों को भी ठीक रूप में देखते हैं और उनकी मनोवृत्ति को समझने के कारण इनका व्यवहार सदा ठीक होता है, ये शुष्क वाद-विवादों में नहीं फँस जाते। ३. **सदृक्षासः**=(समानं पश्यन्ति) ये सबको समानरूप में देखते हैं। इनका बर्ताव पक्षपातशून्य होता है, और ४. **प्रतिसदृक्षासः**= उस-उस व्यक्ति के प्रति अनुकूलता से देखनेवाले होते हैं, अर्थात् सबके साथ अनुकूलता-सम्पादन में समर्थ होते हैं। ५. **मितासश्च**=प्रत्येक कार्य में बड़े मपे-तुले कार्योंवाले होते

हैं। ६. **सम्मितासोः**=सम्यक्तया मपे-तुले आहार-विहारवाले होते हैं तथा ७. **सभरसो**=सबके साथ मिलकर खानेवाले होते हैं। ऐसे ये **मरुतः**=मितराविणः=कम बोलनेवाले प्राणसाधक **अद्य**=आज **नः अस्मिन् यज्ञे**=हमारे इस यज्ञ में **उ**=निश्चय में **सु**=उत्तमता में **एतन**=आएँ, प्राप्त हों।

भावार्थ—इस जीवनयज्ञ में हमारा सम्पर्क 'ईदृक्षास, एतादृक्षास, प्रतिसदृक्षास, मित, सम्मित व सभरस्' मरुतों से होगा तो हम भी इस प्रकार के जीवनवाले बन पाएँगे।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—चातुर्मास्या मरुतः। **छन्दः**—स्वराडार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्वतवान्-प्रघासी

स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च।
क्रीडी च शाकी चोज्जेषी॥८५॥

१. यह प्राणसाधक **स्वतवाँश्च**=(यः स्वं तौति वर्धयति) आत्मशक्ति को बढ़ाता है और (स्वं स्वकीयं तवो बलं यस्य) अपने बलवाला होता है, यह आत्मरक्षा के लिए औरों पर निर्भर नहीं करता। २. **प्रघासी च**=इस शक्ति-सम्पादन के लिए (प्रकृष्टा घासा भोज्यानि विद्यन्ते यस्य) उत्तम सात्त्विक शाक, वनस्पति भोजनों को ही खानेवाला बनता है। ३. **सान्तपनश्च**=(सम्यक् शत्रून् तापयति) शक्तिसम्पन्न होकर यह शत्रुओं को तप्त करता है। अथवा उत्तम तप करनेवाला होता है। ४. इस प्रकार तपस्वी बनकर यह **गृहमेधी**=(गृहे मेधः सङ्गमो यस्य) गृह में उत्तम सङ्गमवाला होता है, अर्थात् घर को बड़ा उत्तम बना पाता है। ५. **क्रीडी च** =यह संसार में होनेवाले ऊँच-नीच को क्रीड़ा के स्वभाव में लेनेवाला होता है, उनसे घबराता नहीं। ६. वस्तुतः इसी कारण **शाकी च**=ये कर्म उसकी शक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। ७. शक्तिशाली बनकर यह **उज्जेषी च**=सदा उत्कृष्ट विजय पानेवाला होता है। यह विजय उसके सदाचार का प्रमाण है, और यह विजय ही उसे परमात्मा को प्राप्त करानेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा बल बढ़ेगा और अन्त में हम विजयी बनेंगे।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृच्छक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

अनुकूलता

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्।
एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु॥८६॥

१. **इन्द्रम्**=इन्द्र के, **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली विद्वान् प्रजाएँ तथा **मरुतः**=रणाङ्गण में देश के लिए प्राण दे देनेवाले (म्रियन्ते) सैनिक **अनुवर्त्मानः**=अनुकूल मार्गवाले **अभवन्**=होते हैं। अथर्व के शब्दों में 'तं सभा च समितिश्च सेना च' जो राजा प्रजा का अनुरञ्जन करता है, सभा-समिति के सदस्य तथा सैनिक उसके अनुकूल होते हैं। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में सभा-समिति के सदस्यों को 'दैवीर्विशः' शब्द से स्मरण किया है और सैनिकों को 'मरुतः' शब्द से। राजा के लिए यहाँ 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग है। राजा ने जितेन्द्रिय—इन्द्रियों का अधिष्ठाता होना है। 'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'=यह जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में स्थापित कर सकता है। ३. इस **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय राजा को **यथा**=जैसे **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ तथा **मरुतः**=सैनिक **अनुवर्त्मानः**=अनुकूल मार्गवाले

अभवन्=होते हैं, **एवम्**=इसी प्रकार **इमं यजमानम्**=इस प्राणसाधना के द्वारा यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को **दैवीः च विशः**=दिव्य गुणोंवाले विद्वान् पुरुष तथा **मानुषीः च**=सामान्य व्यवहारी पुरुष भी **अनुवर्त्मानो भवन्तु**=अनुकूल मार्गवाले हों, अर्थात् इसके प्रति सभी का प्रेम होता है, चाहे विद्वान् हों, चाहे सामान्य व्यक्ति।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा यज्ञिय वृत्ति का विकास करें। जितनी-जितनी हमारी वृत्ति यज्ञिय होगी उतनी-उतनी हमें लोकानुकूलता प्राप्त होगी।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

समुद्रिय सदन प्रवेश

इमꣳस्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳसदनमाविशस्व ॥८७॥

१. सब प्रकार की वासनाओं को समाप्त करके तथा यज्ञिय वृत्ति को उत्पन्न करके 'सप्त ऋषयः' को चाहिए कि वे प्रभु की इस वेदवाणी का श्रवण करें। वेदवाणी 'गौ' है। उसका स्तन-पान करना ही ज्ञान प्राप्त करना है। **इमम्**=इस **ऊर्जस्वन्तम्**=उत्तम बल व प्राणशक्ति को देनेवाले **स्तनम्**=स्तन को तू **धय**=पी। 'स्तन-पान करने' का अभिप्राय वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करना है। २. यह वेदज्ञान **अपां प्रपीनम्**=कर्मों का वर्धन करनेवाला है। (प्रपीनं=पूर्णम्) इसमें विविध कर्मों का उपदेश दिया गया है। ३. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सरिरस्य मध्ये**=(इमे वै लोकाः सरिरम्) इन लोकों में अथवा (सरिर=गति) इस सारी सांसारिक क्रिया के बीच में, यज्ञादि कार्यों के मध्य में—**उत्सम्**=इस वेदवाणीरूप ज्ञान के चश्मे का **जुषस्व**=सेवन कर। ४. यह ज्ञान का उत्स=(स्रोत) **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाला है। वेद माधुर्य के उपदेश से पूर्ण है। वेद के अनुसार जीव की प्रार्थना है कि **'भूयासं मधुसन्दृशः'**=मैं मिठास-ही-मिठास हो जाऊँ, 'वाचा वदामि मधुमत्'=वाणी से मधुपूर्ण शब्दों को ही बोलूँ। इस प्रकार माधुर्य से परिपूर्ण होकर ५. **अर्वन्**=घोड़े की भाँति अपने कर्त्तव्य-मार्ग को मापनेवाले जीव! अथवा अपने को ब्रह्मरूप लक्ष्य के वेधन के लिए प्रणवरूप धनुष का तीर (arrow=अर्वन्) बनानेवाले जीव! तू **समुद्रियम्**=सदा आनन्दमय (समुद्र) प्रभु-सम्बन्धी **सदनम्**=गृह में **आविशस्व**=प्रविष्ट हो। प्रभु तेरा गृह हैं। तूने अन्ततः अपने घर में ही तो पहुँचना है, इस यात्रा में भटक नहीं जाना।

भावार्थ—१. हम वेदवाणीरूप गौ का दूध पीएँ। यह हमें शक्ति देगा। यह हमें हमारे कर्त्तव्यों का बोध देगा। २. माधुर्यमय ज्ञान के स्रोत का सेवन करते हुए हम उस प्रभु में प्रवेश करनेवाले बनें, वे प्रभु तो हमारे 'आनन्दमय सदन' है।

ऋषिः—गृत्समदः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

घृतम्

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥८८॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रभुरूप सदन' में प्रवेश का उल्लेख है। उसी प्रवेश के लिए प्रयत्न करता हुआ 'गृत्समद' ऋषि कहता है कि **घृतं मिमिक्षे**=मैं घृत का सेचन करना चाहता हूँ (मेढुमिच्छति, मिह सेचने)। घृत की दो भावनाएँ हैं (क) **क्षरण**=मल को दूर

करना। (ख) तथा **दीप्ति**=ज्ञान को दीप्त करना। मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए शारीरिक मल के क्षरण के द्वारा शरीर के स्वास्थ्य का साधन करता हूँ और अपने मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला बनता हूँ। २. **घृतम् अस्य योनिः**=यह मलक्षरण-जनित स्वास्थ्य तथा ज्ञान की दीप्ति ही इस प्रभु के प्रकाश का उत्पत्ति स्थान है। स्वास्थ्य व ज्ञान ही हममें प्रभु के प्रकाश को प्रकट करते हैं। ३. **घृते श्रितः**=वे प्रभु इस स्वास्थ्य व ज्ञान-दीप्ति में ही आश्रित हैं। अथवा स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति होने पर ही प्रभु सेवित (श्रि सेवायाम्) होते हैं। ४. **उ**=और **घृतम्**=यह स्वास्थ्य दीप्ति व ज्ञान-दीप्ति ही **अस्य**=इस प्रभु का **धाम**=धाम है, निवास है। ५. अतः हे जीव! तू **अनुष्वधम्**=अन्न की अनुकूलता में **आवह**=इस स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति को धारण कर। 'स्वधा' वह अन्न है, जिसका मूलतत्त्व 'स्व' का धारण है, जिसमें स्वाद आदि को मापक नहीं बनाया गया। उस अन्न का सेवन हमें स्वस्थ भी बनाएगा और ज्ञानदीप्त भी। ६. इस प्रकार यह अन्न हमें प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर ले-चलेगा, अतः इस अन्न से स्वास्थ्य व ज्ञान का वहन करके **मादयस्व**=तू आनन्द का अनुभव कर। ७. हे **वृषभ**=अपने अन्दर स्वास्थ्य व ज्ञान का सेचन करनेवाले, अतएव शक्तिशाली जीव! तू **स्वाहाकृतम्**=स्वाहाकार के द्वारा आहुति दिये गये **हव्यम्**=अदन करने योग्य सात्त्विक पदार्थों को ही **वक्षि**=वहन करता है व चाहता है, अर्थात् तेरा भोजन अत्यन्त सात्त्विक है। इस सात्त्विक भोजन से ही तूने उस स्वास्थ व ज्ञान को सिद्ध किया है जो 'घृत' कहलाता है और प्रभु के प्रकाश का कारण है।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए अपने स्वास्थ्य व ज्ञान को बढ़ाएँ और प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करनेवाले हों। प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करके हम 'गृणाति माद्यति'=स्तुति करें, प्रसन्न हों और इस मन्त्र के ऋषि 'गृत्समद' बनें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

मधुमान् ऊर्मिः

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ२॥ऽउदारदुपाᳬशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥८९॥

१. प्रभु को प्राप्त करके हम सब देवों को प्राप्त कर लेते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'वामदेव'=सुन्दर, दिव्य गुणोंवाले होते हैं। **समुद्रात्**=आनन्दमय प्रभु से **मधुमान्**=माधुर्यवाली **ऊर्मिः**=लहर **उदारत्**=(ऊर्ध्वं आप्नोति) उत्कृष्टता से हमें प्राप्त होती है, अर्थात् हमारा जीवन तरंगित हृदयवाला होता है। हमारे जीवन में उल्लास-ही-उल्लास होता है। २. **उप अंशुना**=उस समीपस्थ प्रभु की ज्ञान-किरणों से यह उपासक **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **समानट्**=(सम् आनट्) सम्यक्तया प्राप्त करनेवाला होता है। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह भौतिक वस्तुओं के पीछे भागता नहीं फिरता, उनके प्रलोभन से यह ऊपर उठ जाता है। यही वस्तुतः 'अमृतत्व' है। ३. **घृतस्य**=उस ज्ञान की दीप्तिवाले प्रभु का **यत्**=जो **गुह्यम्**=गुह्यं भवम्=हृदयरूप गुहा में होनेवाला, अर्थात् हृदय को प्रिय **नाम**=नाम **अस्ति**=है, वह **देवानाम् जिह्वा**=इन देवों की जिह्वा पर सदा निहित होता है। ये अपनी जिह्वा से सदा प्रभु के नाम का स्मरण करते हैं। प्रभु का स्मरण करते हुए सब कर्मों को करते हैं ४. इसीलिए **अमृतस्य नाभिः**=अमृत=मोक्ष का अपने में बन्धन करनेवाले होते हैं (नह बन्धने)। प्रभु का स्मरण व जीवन-संग्राम को जारी रखना, इसे जीवन-सूत्र बनाकर ये मोक्ष को सिद्ध करते

हैं। इनकी जिह्वा पर प्रभु-नाम होता है, हाथों में कर्म। इस समन्वय के कारण इनके कर्म पवित्र होते हैं और इनकी मोक्ष-प्राप्ति का कारण बनते हैं।

भावार्थ—१. प्रभु के प्रकाश में हृदय उल्लासमय होता है। २. प्रभु की समीपता के परिणामस्वरूप ज्ञान की किरणों से द्योतित हृदयवाले असङ्गशस्त्र से इस संसार-वृक्ष को काट पाते हैं। ३. प्रभु का नाम हमारी जिह्वा पर हो, हाथों से कर्म करें, तभी हम मोक्ष प्राप्त कर पाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

चतुःशृङ्गः=गौरः

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।

उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौरऽएतत्॥९०॥

१. वामदेव कहता है कि **वयम्**=हम सब **घृतस्य**=उस ज्ञानदीप्त प्रभु के **नाम**=(प्रिय, गुह्य) नाम का **प्रब्रवाम**=प्रकर्षेण उच्चारण करें। २. **अस्मिन् यज्ञे**=अपने इस जीवन-यज्ञ में **नमोभिः**=नमस् के द्वारा, नम्रता-धारण के द्वारा, **धारयामा**=उस प्रभु को धारण करें। नम्रता हमें प्रभु के अधिक समीप ले-जानेवाली हो। ३. **उप ब्रह्मा**=सदा हमारे समीप रहनेवाला हृदयस्थ प्रजापति, चारों वेदों का निधानभूत, ज्ञानपुञ्ज प्रभु **शस्यमानम्**=शंसन किये जाते हुए उस नाम को **शृणवत्**=सुने, अर्थात् प्रभु हमारी जिह्वा से उच्चरित होते हुए अपने नाम को ही सुने। इस जिह्वा से व्यर्थ के शब्दों व अपशब्दों का कभी उच्चारण न हो। ४. **चतुःशृङ्गः** =चारों वेद जिसके सीङ्गों के समान हैं। सीङ्ग जैसे शत्रुओं को दूर करने के साधन बनते हैं, उसी प्रकार ये वेद भी ज्ञान के द्वारा इसकी वासनाओं को दूर करनेवाले होते हैं। अतएव यह **गौरः**=(वेदविद्यावाचि रमते—द०, गौरवर्णः—उ०) वेदविद्या में रमण करनेवाला शुद्ध हृदय पुरुष **एतत्**=उसके नाम का **अवमीद्**=उद्गिरण करता है, श्वास-प्रश्वास के साथ वायुमण्डल में इस नाम की ध्वनि को ही प्रसारित करता है।

भावार्थ—१. हम निरन्तर प्रभु-नाम स्मरण करें। हमारी वाणी सदा प्रभु के नाम का उच्चारण करे, वह प्रभु हमसे नाम को ही उच्चारण किया जाता हुआ सुने। २. हम 'चतुःशृङ्ग-गौर' बनें। हमारे श्वास-प्रश्वास के साथ प्रभु के नाम का जप हो।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

महादेवः

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽअस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२॥ऽआविवेश॥९१॥

१. इस मन्त्र के ऋषि वामदेव के **चत्वारि शृङ्गाः**=चारों वेद शृङ्गस्थानीय होते हैं, उस वेदज्ञान से यह अपने शत्रुओं को दूर करनेवाला होता है। २. शत्रुओं को दूर करनेवाले **अस्य**=इसके **त्रयः पादाः** =तीन विक्रम, क़दम होते हैं। यह पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में तथा द्युलोक से स्वर्ज्योति में पहुँचनेवाला होता है। अथवा यह स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है, 'भूः, भुवः, स्वः' ये ही इसके तीन क़दम हो जाते हैं। ३. **द्वे शीर्षे**=इसके दो मस्तिष्क होते हैं, अर्थात् यह दो बातों को सदा सोचता है (क) प्रकृति का प्रयोग कैसे करना है। (ख) और जीव के साथ कैसे वर्तना है। प्रकृति के प्रयोग में यह 'मित' बनता है, जीवों के साथ व्यवहार में यह 'मधुर'

होता है। ४. **सप्त हस्तासः अस्य** =इसके गायत्र्यादि सात छन्द ही हाथ बन जाते हैं, अर्थात् उन छन्दों में प्रतिपादित कर्मों को ही यह हाथों से सदा करनेवाला बनता है। ५. **त्रिधा बद्धः**=यह 'काय, वाणी व मन' तीन स्थानों पर बँधा होता है। शरीर, वाणी तथा मन का संयम करता है। इन तीनों का दमन करनेवाला ही यह 'त्रिदण्डी' कहलाता है। ६. इस दमन व संयम के परिणामरूप यह **वृषभः**=अत्यन्त शक्तिशाली होता है। ७. 'शक्ति का गर्व न हो जाए' इसी लिए **रोरवीति** =निरन्तर प्रभु के नाम का उच्चारण करता है। ८. पवित्र बनता हुआ यह **महोदेवः** =महनीय देव बन जाता है। ९. परन्तु ऐसा बनकर यह मनुष्यों से दूर नहीं भाग खड़ा होता। **मर्त्यान् आविवेश**=मनुष्यसमाज में ही प्रवेश करता है, मनुष्यों में ही रहता है। उनके अज्ञान व दुःखों के दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—हम मन्त्र वर्णित साधना करते हुए 'महोदेव' बनें, लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

इन्द्र-सूर्य और वेन

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्रऽएकः सूर्यऽएकञ्जजान वेनादेकꣳस्वधया निष्टतक्षुः ॥९२॥

१. प्रभु **त्रिधा हितम्**=तीन प्रकार से हमारे हृदयों में निहित होते हैं। जिस समय हम 'शारीरिक स्वास्थ्य, मानस-नैर्मल्य व बौद्धिक ज्ञान-दीप्ति' को धारण करते हैं तब अपने में प्रभु को स्थापित करनेवाले होते हैं। अथवा 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' का समन्वय होने पर वे प्रभु हममें निवास करते हैं। उस त्रिधा हित प्रभु को, २. तथा **पणिभिः**=(पण् स्तुतौ) स्तुति करनेवाले उपासकों से **गुह्यमानम्**=(गुह्=to hug, to embrace) आलिङ्गन किये जाते हुए प्रभु को, ३. **देवासः**=देववृत्तिवाले लोग, मानस में दैवी सम्पत्ति का विकास करनेवाले लोग **गवि**=वेदवाणी में **घृतम्**=ज्ञान के पुञ्ज, प्रकाशमय प्रभु को **अन्वविन्दन्**=आत्मस्वरूप के दर्शन के साथ देखते व प्राप्त करते हैं। ४. मन्त्र के प्रारम्भ में 'त्रिधा हितम्' शब्दों से प्रभु को 'त्रिधा हित'=ज्ञान-कर्म व भक्ति से प्राप्य कहा है। इनमें में **एकम्**=एक अर्थात् ज्ञान को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय, इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति **जजान**=उत्पन्न करता है। जितेन्द्रिय ही ज्ञानी बन पाता है। ५. **एकम्**=एक को अर्थात् कर्म को **सूर्यः**=सूर्य **जजान**=उत्पन्न करता है। सूर्य निरन्तर चल रहा है 'सरति इति सूर्यः'। निरन्तर चलने से ही वह चमकता भी है। इसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील होता है वह भी सूर्य के व्रत में चलता हुआ सूर्य की भाँति ही चमकता है। इस क्रियाशील में किसी प्रकार की मलिनताएँ उत्पन्न नहीं होतीं। यह प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला होता है। ६. **वेनात्**=(वेनतिः कान्तिकर्मा, कान्तिः=इच्छा) उस प्रभु की प्राप्ति की प्रबल कामना करनेवाले में **एकम्**=एक को, अर्थात् भक्ति की भावना को **स्वधया**=उस अन्न के सेवन से जोकि यज्ञों में विनियुक्त होकर यज्ञशेष के रूप में सेवन किया जा रहा है **निष्टतक्षुः**=नितरां निर्मित करते हैं। अभिप्राय यह है कि भक्ति की भावना तब विकसित होती है। (क) जब हृदय में प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो और (ख) स्वधा का सेवन हो। उस अन्न का ही प्रयोग किया जाए जो यज्ञों में विनियुक्त होकर अब यज्ञशेष के रूप में हमारे पास है। यही यज्ञशेष अमृत है। इस अमृत के सेवन करनेवाले देव ही प्रभु को पाया करते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र' बनकर ज्ञान का सम्पादन करें, सूर्य-शिष्य बनकर कर्मठ बनें

तथा वेन बनकर स्वधा का सेवन करते हुए भक्ति की भावना को जागरित करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। इसपर चलते हुए ही हम प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

हिरण्यय वेतस

एताऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्यऽआसाम्॥९३॥

१. **एताः**=ये ज्ञान की धाराएँ **हृद्यात्**=हृदयदेश में निवास करनेवाले **समुद्रात्**=(स-मुद्) उस आनन्दमय प्रभु से **अर्षन्ति**=(उद् गच्छन्ति, rush out) उद्गत होती हैं। जिस समय गत मन्त्र की भावना के अनुसार हम प्रभु का आलिङ्गन कर पाते हैं उस समय इस हृदय में आविर्भूत आनन्दमय प्रभु से हमारे अन्दर ज्ञान का प्रकाश होता है। २. यह ज्ञान का प्रकाश **शतव्रजा**=(शतेन व्रजति) सैकड़ों मार्गों से जानेवाले, अर्थात् सैकड़ों शक्लों में हममें प्रकट होनेवाले **रिपुणा**=काम-क्रोधरूप शत्रु से **नावचक्षे**=(न अपवदितुं शक्यः) नष्ट नहीं किया जा सकता। जब तक ज्ञान क्षीण-सा होता है तब तक काम उसे समाप्त कर देता है, परन्तु ज्योंही ज्ञान प्रबल हुआ, तब यह काम, क्रोधरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालता है। ज्ञानबिन्दु कामाग्नि में भस्मीभूत कर दिया जाता है और ज्ञान-जलधारा कामाग्नि को बुझा देती है। ३.इस कामाग्नि के बुझ जाने पर **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराओं को **अभिचाकशीमि**=मैं अपने सब ओर देखता हूँ— मेरे हृदय में ज्ञान-ही-ज्ञान होता है। ४. **आसाम् मध्ये**=इन ज्ञान की धाराओं के बीच में वह **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय **वेतसः**=(कमनीयः-द०) अति सुन्दर प्रभु हैं। इन ज्ञान-वाणियों में प्रभु का प्रतिपादन है, जिसे कामाग्नि को शान्त करनेवाला ज्ञानी ही समझ पाता है। ५. प्रभु को 'हिरण्यय वेतस्' के रूप में देखनेवाला यह ऋषि स्वयं 'वामदेव' बनता है। प्रभु 'वाम' हैं,'देव' हैं दिव्य गुण-सम्पन्न हैं। उनका उपासक भी वैसा ही होकर 'वामदेव' हो जाता है।

भावार्थ—१. हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान की धाराएँ उद्गत होती हैं। २. ये कामाग्नि से बुझाई नहीं जा सकतीं। ३. कामाग्नि की शान्ति से ज्ञान की धाराएँ चारों ओर प्रवाहित होती हैं। ४. इन ज्ञान-धाराओं के मध्य में वह कान्त, ज्योतिर्मय रह रहा है, इनसे उस प्रभु का ज्ञान हो जाता है।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान व वासना विनाश

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एतेऽअर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगाऽइव क्षिपणोरीषमाणाः॥९४॥

१. **अन्तर्हृदा**=हृदय के अन्दर से **मनसा पूयमानाः**=मन से पवित्र की जाती हुई **धेनाः**=ज्ञान की वाणियाँ **सरितः न**=नदियों के समान **सम्यक् स्रवन्ति**=उत्तमता से प्रवाहित होती हैं। जब हृदय निर्मल होता है तब प्रभु के प्रकाश में यह जगमगा उठता है। विचार के द्वारा ये वाणियाँ हमारे जीवन को पवित्र करनेवाली होती हैं। २. **एते**=ये **घृतस्य**=ज्ञान की **ऊर्मयः**=तरंगे **अर्षन्ति**=उद्गत होती हैं और **क्षिपणोः**=व्याध से **मृगाः इव**=मृगों के समान **ईषमाणाः**=सब बुराइयाँ इस ज्ञानी से दूर भागनेवाली होती हैं। ज्ञान का परिणाम

वासनादहन ही तो है। ज्ञान हुआ और वासना गई।

भावार्थ—हमारे हृदय में ज्ञान की वाणियाँ नदियों के समान प्रवाहित हों। ये मनन द्वारा हमें पवित्र बनानेवाली हों। व्याध से मृगों के समान वासनाएँ हमसे भयभीत होकर दूर भाग जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।।

अरुषो न वाजी

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धाराऽअरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ॥९५॥

१. **यह्वाः**=महान् **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ इस प्रकार मेरे हृदय में **पतयन्ति**=गति करती हैं **इव**=जैसे **सिन्धोः**=समुद्र की **वातप्रमियः**=(वातेन प्रमीयन्ते कश्यन्ति) वायु से छिन्न-भिन्न की जानेवाली **शूघनासः**=शीघ्र गमनवाली (शु क्षिप्रं घनं गमनं येषां, हन्=गति) लहरें **प्राध्वने**=(प्रगतोऽध्वनः=प्राध्वनो विषमप्रदेशः) विषम-प्रदेश में गिरती हैं। ज्ञान की धाराएँ मेरे हृदय-समुद्र को निरन्तर तरंगित करनेवाली होती हैं। २. **अरुषः न**=यह ज्ञानी पुरुष (न रुषः अरोषणः) जाति आदि से उत्कृष्ट अरोषण घोड़े की भाँति होता है। उस घोड़े की भाँतिं यह भी **वाजी**=शक्तिशाली होता है। ३. **काष्ठाः भिन्दन्**=(काष्ठा=आज्यन्त) संग्राम-प्रदेशों का यह विदारण करनेवाला होता है, अर्थात् संग्राम में शत्रुओं का विदारण करके यह अवश्य विजयशील बनता है। ४. इस प्रकार अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करके यह **ऊर्मिभिः पिन्वमानः**=ज्ञान की लहरों से प्रजाओं को सींचता हुआ गति करता है। इसकी जीवन-यात्रा का क्रम यह होता है— यह (क) हृदय-शोधन से ज्ञान प्राप्त करता है। (ख) अरोषण-क्रोधशून्य व शक्तिशाली होता है। (ग) इन्द्रिय-संग्राम में इन्द्रियों को विषयों से बचाता है। (घ) और अपने ज्ञान-जल से औरों को भी सींचता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनकर अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करें, दूसरों को भी ज्ञान प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्ः। स्वरः—धैवतः।।

ज्ञानी-क्रियाशील

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासोऽअग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥९६॥

१. **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की वाणियाँ (क) **समनेव योषाः**=समान मनवाली स्त्रियों के समान हैं। जैसे पत्नी यज्ञार्थ पुरुष के साथ सङ्गत होकर उसे अशुभ से निवृत्त करती और शुभ में लगाती है, इसी प्रकार ये ज्ञान की वाणी भी 'अग्नि' के लिए योषा बनती है। यह उसका अशुभ से अमिश्रण करती तथा शुभ के साथ मिश्रण करती है। (ख) **कल्याण्यः**=पाप से पृथक् व पुण्य से सङ्गत करके ये कल्याण करनेवाली हैं। (ग) **स्मयमानासः**=ये हमें सदा विकसित पुण्य की भाँति प्रसन्न करनेवाली हैं। (घ) **समिधः**=ये अग्नि=जीव को ज्ञान-दीप्त करनेवाली है। (इन्ध्=दीप्तौ) २. **नसन्त**=(नस हरणे) ये ज्ञान की धाराएँ सब मलिनताओं का हरण करती हैं और इस अग्नि के जीवन को दीप्त कर देती हैं। ३. **ताः जुषाणः**=इन ज्ञान-वाणियों का प्रेमपूर्वक सेवन करता हुआ यह **जातवेदाः**=उत्पन्न विज्ञानवाला अग्नि **हर्यति**=(हर्य गतौ) गतिशील होता है। ज्ञानी बनकर कर्मनिष्ठ होता है।

उपनिषद् के शब्दों में **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** यह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ पुरुष क्रियावाला बनता है। ज्ञान उसे अधिक क्रियाशील बनानेवाला होता है।

भावार्थ—अग्नि को वे ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं जो उसका हित चाहती हुई उसे अशुभ से पृथक् और शुभ से संयुक्त करती हैं। उसका कल्याण करती हुई उसके मनःप्रसाद का कारण बनती हैं। उसे ज्ञान-दीप्त करके क्रियाशील बनाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सोमाभिषव-व यज्ञ (ज्ञानोत्पादन व रक्षण)

कन्याऽइव वहतुमेतवाऽउऽअञ्ज्यञ्जानाऽअभि चाकशीमि।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धाराऽअभि तत्पवन्ते॥९७॥

१. जैसे **कन्याः**=कुमारियाँ **अञ्जि**=अपने कमनीय रूप को **अञ्जानाः**=प्रकट करती हुई **वहतुम्**=पति को **उ एतवै**=निश्चय से प्राप्त होने के लिए होती हैं, इसी प्रकार ये ज्ञान की वाणियाँ भी अपने प्रकाशमय रूप को प्रकट करती हुई मेरी ओर आती हैं और **अभिचाकशीमि**=मैं इन्हें अपने चारों ओर देखता हूँ। मैं सदा इन ज्ञान की वाणियों से ही घिरा होता हूँ। २. ये **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की वाणियाँ **तत् अभि**=उस व्यक्ति की ओर **पवन्ते**=गतिवाली होती हैं **यत्र**=जिस व्यक्ति के जीवन में **सोमः सूयते**=सोम का=वीर्य शक्ति का अभिषव किया जाता है, अर्थात् जो सात्त्विक आहार के सेवन से अपने में सोम का उत्पादन करता है और **यत्र यज्ञः**=जिसके जीवन में यज्ञात्मक कर्मों का प्रचलन होता है। एवं, ज्ञान की वाणियों की प्राप्ति के लिए सोम का उत्पादन व यज्ञमय-जीवन का होना आवश्यक है। सोम की सुरक्षा न होने पर बुद्धिमान्द्य से ज्ञान-प्राप्ति सम्भव ही नहीं है और यज्ञों के अभाव में लोभ की वृद्धि होकर उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—१. मैं अपने चारों ओर उस ज्ञान को देखूँ जो मुझमें विद्यमान सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला बनता है। २. इस ज्ञान के उत्पादन के लिए मैं सोम की रक्षा करूँ, और ३. उत्पन्न ज्ञान की रक्षा के लिए यज्ञात्मक जीवनवाला होऊँ।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

गव्य आजि

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते॥९८॥

१. **सुष्टुतिं अभि अर्षत**=तुम उत्तम स्तुति को प्राप्त करनेवाले बनो। प्रभु की उत्तम स्तुति वही है जो श्रव्य न होकर दृश्य है, जिसमें मनुष्य प्राणियों के हित में तत्पर रहता है। २. **गव्यम् आजिम्**=गो-सम्बन्धी संग्राम को प्राप्त होओ। 'गाव इन्द्रियाणि' इन्द्रियों के संग्राम से अभिप्राय यह है कि ये प्रमाथी इन्द्रियाँ सहसा हमारे मनों का हरण करनेवाली होती हैं। हम इन्हें जीतकर मन को स्वायत्त कर सकें। 'मन को इन्द्रियाँ हर ले-जाती हैं' तो हमारा पराजय हो जाता है। हम मन को स्वाधीन कर पाते हैं, तो इन्द्रियों का पराजय व हमारा विजय होता है। ३. **अस्मासु**=हममें स्थित हुए-हुए तुम **भद्रा द्रविणानि**=शुभ धनों को, सुपथ से कमाये गये द्रविण को धारण करो। प्रभु को भूल जाने पर हम अन्याय मार्गों से धनार्जन प्रारम्भ करते हैं। ४. **देवताः**=हे विद्वानो! **नः**=सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे जन्म के

साथ ही उत्पन्न किये गये इस **यज्ञम्**=यज्ञ को **नयत**=सारे जींवन में प्रणीत करनेवाले बनो। यह यज्ञ तुम्हारे जीवन में से कभी विच्छिन्न न हो जाए। ५. ऐसा करने पर **घृतस्य धाराः**=ये ज्ञान की वाणियाँ, जो **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्यवाली हैं, वे **पवन्ते**=तुम्हें प्राप्त होती हैं। संक्षेप में तुम्हें ज्ञान प्राप्त होता है और तुम्हारा जीवन माधुर्यवाला होता है।

भावार्थ—हम स्तुति करें, इन्द्रिय-संग्राम को जीतें, सुपथ से धनार्जन करें, यज्ञशील हों, माधुर्यमयी ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—यज्ञपुरुषः। छन्दः—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रभु के धाम में

धाम॑न्ते॒ विश्वं॒ भुव॑न॒मधि॑ श्रि॒तम॒न्तः स॑मु॒द्रे हृ॒द्य॒न्तरायु॑षि।
अ॒पामनी॑के समि॒थे यऽआभृ॑त॒स्तम॑श्याम॒ मधु॑मन्तं तऽऊ॒र्मिम्॥९९॥

१. हे प्रभो! **ते धामन्**=आपके तेज में **विश्वं भुवनम्**=यह सारा ब्रह्माण्ड **अधिश्रितम्**=अधिश्रित है। वस्तुतः प्रभु ही सर्वाधार हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **आभृतः**=धारण किये जाते हैं। कहाँ? (क) **समुद्रे हृदि अन्तः**=(स+मुद्) प्रसन्नतापूर्ण हृदय के अन्दर। (ख) **आयुषि अन्तः**=(एति इति आयुः) क्रियाशील जीवनवाले व्यक्ति के अन्दर। (ग) **अपाम्**=कर्मों के **अनीके**=बल में। क्रियाशीलता के द्वारा उत्पन्न होनेवाली शक्ति से युक्त पुरुष में। जो भी क्रियाशील होगा वह शक्तिशाली बनेगा और शक्ति-सम्पादन करके वह प्रभु का प्रिय बनेगा। (घ) **समिथे**=संग्राम में। वे प्रभु के अन्दर निवास करते हैं जो इन्द्रियों के साथ संग्राम करके जितेन्द्रिय बनते हैं। एवं, प्रभु की प्राप्ति के लिए 'मानस-प्रसाद, क्रियाशीलता, शक्ति-सम्पादन व जितेन्द्रियता' प्रमुख साधन हैं। ३. **तम्**=उस प्रभु को हम **अश्याम**=प्राप्त करें। वस्तुतः मानव-जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही होना चाहिए। मनुष्य योनि के अतिरिक्त किसी और योनि में हम प्रभु को प्राप्त कर ही नहीं सकते। ४. इस प्रभु को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है। यह 'यज्ञ-पुरुष' भी कहलाता है, क्योंकि यह वह पुरुष बना है, जिसने प्रभु के साथ यज=सङ्गतीकरण किया है। ५. उस प्रभु के साथ मेल करके वामदेव कहता है कि मैं **ते**=तेरी **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यपूर्ण **ऊर्मिम्**=ज्ञान तरङ्ग को प्राप्त करूँ। प्रभु को प्राप्त करने पर प्रभु का प्रकाश तो अन्दर प्रवाहित होगा ही।

भावार्थ—१. सारे ब्रह्माण्ड का आधार जो प्रभु है वह प्रसन्न हृदय में, क्रियाशील जीवन में, कर्मों की शक्ति में तथा वासनाओं से किये जानेवाले संग्राम में विजेता में निवास करता है। २. उस प्रभु का निवास-स्थान बनकर मैं ज्ञान की माधुर्यमयी तरङ्गोंवाला बन पाऊँ।

एवं, यह सत्रहवाँ अध्याय 'प्रभु को धारण करने की भावना' पर समाप्त होता है। इस प्रभु को धारण कर लेने पर मैं सब अच्छी बातों को धारण करनेवाला बनता हूँ। क्या सांसारिक उत्तम वस्तुएँ क्या अन्न, फल, धन आदि, क्या भौतिक शरीर से सम्बद्ध शक्ति आदि, मानस सम्बद्ध संकल्पादि और बुद्धि के ज्ञानादि इन सबको मैं प्राप्त करनेवाला बनता हूँ। 'प्रभु को प्राप्त कर लेने पर मैं सारे ब्रह्माण्ड को ही पा लेता हूँ', बस, यही वर्णन अठारहवें अध्याय में विस्तार से प्रारम्भ होता है—

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥

पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

श्री विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड

श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदी

पं० तुलसीरामजी

श्री रामनाथ वेदालङ्कार
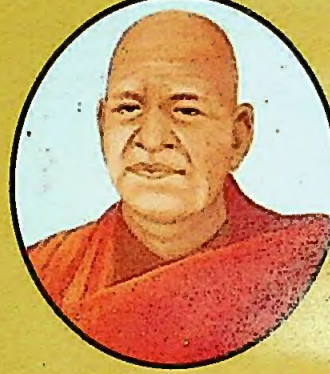
स्वामी वेदानन्द सरस्वती

श्री आर्यमुनि

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती
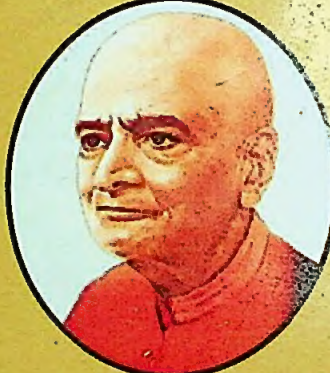
स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

पं० अयोध्याप्रसाद

पं० भगवतदत्त

पं० शिवशङ्कर शर्मा 'काव्यतीर्थ'

म०प० युधिष्ठिर मीमांसक
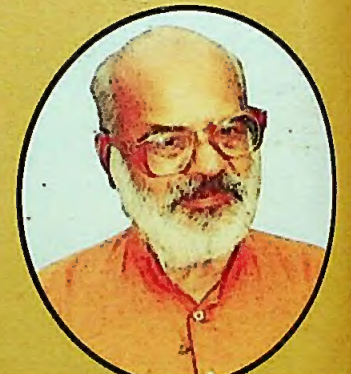
स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती

स्नातक बनने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से उन्होंने गुरुकुल में ही अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। वह सन् 1946 में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ से सेवा निवृत्त हुए और अपनी बहिन श्रीमती वेदकुमारी (धर्मपत्नी स्व० श्री भीमसेन विद्यालंकार) के यहां लाहौर चले गए। भारत स्वतन्त्र होने पर देश-विभाजन के बाद वह पुनः दिल्ली आए और अपने लघु भ्राता श्री हरिमोहन के पास चूनामण्डी पहाड़गंज में रहने लगे। यहीं पर अपने छोटे से अध्ययन कक्ष में न्यूनतम सुविधाओं के बीच सर्दी, गर्मी, बरसात की परवाह न करते हुए कठोर तपस्या से वेदभाष्य के इस बृहत् कार्य को अकेले अपने दम पर पूरा किया।

श्रीयुत हरिशरण अत्यन्त विनम्र विद्वान् थे। अपने विशाल पाण्डित्य का उन्हें रत्ती भर अभिमान न था। जहां कहीं जिस किसी से भी उन्हें कुछ नया ज्ञान प्राप्त होता उसे बड़े उदार हृदय से वह स्वीकार कर लेते। वेद-प्रवचन व स्वाध्याय ही उनका व्यसन था। किशोरावस्था से ही वह नियमित रूप से आसन प्राणायाम तथा दण्ड, बैठक आदि व्यायाम करते थे। इस कारण उनका शरीर अत्यन्त सुडौल और बलशाली था। उन्हें तैरने व भ्रमण करने का भी खूब शौक था। युवावस्था में वह हाकी और बालीबाल के अच्छे खिलाड़ी रहे थे।

जीवन के अन्तिम चरण में वह अपने भतीजे सुधीरकुमार (सुपुत्र डॉ० हरिप्रकाश) के पास कविनगर गाजियाबाद में रहे। निधन से एक दो वर्ष पूर्व वह वार्द्धक्य जनित स्मृति लोप के रोग से आक्रान्त अवश्य हो गए थे परन्तु उन दिनों भी उनका वेद पाठ का क्रम नियमित रूप से चलता रहा। दो सप्ताह में एक बार वह चारों वेदों का पारायण पूरा कर लेते। वेदों का यह विलक्षण भाष्यकार एक दो दिन तक मामूली सा अस्वस्थ रहने के बाद 3 जुलाई 1991 को वेदमाता की गोद में ही चिर निद्रा में लीन हो गया।

—अजय भल्ला

श्री घूडमल प्रहलादकुमार अ

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है "हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।"

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी 011-55845599, 9313784272